

॥ वन्दे श्री गुरु तारणम् ॥

आचार्य प्रवर श्रीमद् जिन तारण तरण मण्डलाचार्य महाराज द्वारा रचित

तारण तरण श्री श्रावकाचार जी

अध्यात्म जागरण टीका



स्वामी ज्ञानानंद

॥ नमामि गुरु तारणम् ॥

आचार्य प्रवर श्रीमद् जिन तारण तरण मण्डलाचार्य महाराज द्वारा रचित

श्री श्रावकाचार जी

अध्यात्म जागरण टीका

अध्यात्म शिरोमणी पूज्य श्री ज्ञानानंद जी महाराज



मूल्य ६०/-

: संपादक :

अध्यात्म रत्न प.पू.श्री बसन्त जी महाराज

: प्राप्ति स्थल :

ब्रह्मानंद आश्रम संत तारण तरण मार्ग पिपरिया
(होशंगाबाद) म.प्र.

: प्रकाशक :

स्व.महात्मा गोकुलचंद तारण साहित्य प्रकाशन
समिति, जबलपुर (म.प्र.)

प्रकाशकीय

धन्य हैं, मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर वे अनंत आत्मायें, जिन्हें निज स्वभाव सत्ता की अनुभूति हुई, संसार से विरक्ति का भाव हुआ। ऐसी पवित्र आत्माओं का जीवन धन्य हुआ ही है साथ ही वे संसार के भवभ्रमण में उलझी आत्माओं के लिये ज्ञान-ध्यान, साधना सहित प्रेम, दया, करुणा का मंगलमय संदेश प्रदान करती हैं, उन्हीं के पदचिन्हों पर चलकर अनंत आत्मायें मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर होती हैं।

विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में हुए महान अध्यात्मवादी वीतरागी संत, आचार्य प्रवर श्रीमद् जिन तारण तरण मण्डलाचार्य जी महाराज स्वयं के तारणहार बने और संसार के सभी जीवों को तरने के लिये नौका समान, सम्यक्ज्ञान से परिपूर्ण चौदह अनमोल ग्रंथों की रचना की। इन चौदह ग्रंथों में परम पूज्य गुरुदेव तारण स्वामी की प्रयुक्त भाषा शैली प्राकृत एवं संस्कृत से सुसज्जित मिश्रित, शांति रस से ओतप्रोत, पद्यमय संगीत की अनुपम धुनों से युक्त सरल भाषा का सुन्दरतम रूप है।

वर्तमान के व्यस्ततम जीवन में दुरूह ग्रंथों का अध्ययन कठिन है, धर्ममार्ग के पथिक गुरुभाई सहज भाषा में ज्ञानार्जन कर मुक्तिमार्ग की ओर अग्रसर हो सकें, ऐसी परिस्थितियों का संतों को आभास है। इन्हीं संतजनों ने स्वयं संसार शरीर भोगों को तिलांजलि देकर अपना जीवन कल्याण किया इसके साथ ही उनकी भावनायें उन जीवों पर करुणा की हैं, जो ज्ञान के अभाव में संसार के क्षणिक सुखाभास को सुख मान रहे हैं।

सकल तारण समाज एवं जैन जगत के गाँव-गाँव, नगरों-महानगरों में परम पूज्य गुरुदेव के चौदह अनमोल ग्रंथों में निहित पावन अमृत वचनों का सार तत्व-तारण स्वामी का शुभ संदेश-तू स्वयं भगवान है, की सिंह गर्जना करने वाले परम श्रद्धेय आत्म साधनारत, अध्यात्म शिरोमणि पूज्य श्री ज्ञानानन्द जी महाराज का यह जयघोष विगत २० वर्षों से साधक संघ-श्री संघ के साधकों एवं आदरणीय ब्रह्मचारिणी बहिनों के माध्यम से जन-जन को धर्म की ओर आकृष्ट कर रहा है। अध्यात्म साहित्य प्रकाशन से आत्म कल्याण की भावना

और शास्त्र स्वाध्याय की प्रवृत्ति में दिन दूनी- रात चौगुनी अभिवृद्धि हो रही है।

महात्मा श्री गोकुलचंद जी परम पूज्य श्री गुरु महाराज के प्रति पूर्ण समर्पित थे। अपने जीवन के अंतिम वर्षों में आपने श्री संघ के भ्रमण कार्यक्रमों में अप्रतिम योगदान देकर अपने जीवन को साधनामय बनाते हुए श्री सेमरखेड़ी जी तीर्थक्षेत्र पर समाधि को प्राप्त हुए। उनकी पवित्र भावनानुसार इस समिति के माध्यम से पूज्य श्री ज्ञानानन्द जी महाराज द्वारा अनुवादित श्री पंडितपूजा ग्रंथ की भाव प्रवण अध्यात्म सूर्य टीका तथा अनुपम कृति अध्यात्म किरण (१००८ प्रश्नोत्तर) का प्रकाशन कराया जा चुका है।

वर्ष १९९२ में पूज्य श्री ने परम पूज्य श्री गुरु महाराज के आचारमत के अनुपम ग्रंथ श्री तारण तरण श्रावकाचार जी की सुन्दरतम टीका लिखी थी, आज उस टीका ग्रंथ के प्रकाशन का सौभाग्य इस समिति को प्राप्त हो रहा है। हम पूज्य श्री के प्रति श्रद्धान्वित हैं, साथ ही बहुत-बहुत आभारी हैं अध्यात्म रत्न बा.ब्र. पूज्य श्री बसन्तजी महाराज के, जिन्होंने अथक परिश्रम पूर्वक इस ग्रंथ का सुन्दरतम संपादन करके यह अनमोल निधि जन-जन के हितार्थ प्रदान की है।

भगवान महावीर स्वामी के पश्चात् सर्वप्रथम शुद्धात्मा का स्वरूप आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव ने स्पष्ट किया, श्री अमृतचन्द्राचार्य जी ने उस आत्ममंदिर का शिखर बनाया और उसमें अनमोल चौदह अध्यात्म ग्रंथों का सृजन कर स्वर्ण मंडित कलश चढ़ाया परम पूज्य श्रीमद् जिन तारण तरण देव ने। उन अध्यात्म ग्रंथों का अमृत रस पीकर, आत्मा का साक्षात्कार कराने वाले इन ग्रंथों की भावप्रवण टीकायें लिखकर जन-जन तक सहज सरल प्रवाहमान प्रांजल भाषा में पहुंचाने का कठिनतम कार्य किया है- अध्यात्म शिरोमणि पूज्य श्री ज्ञानानन्द जी महाराज ने। पूज्य श्री का यह उपकार तारण समाज व जैन जगत के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा। सभी आत्मायें इसका स्वाध्याय कर अपने जीवन को धर्म साधना मय बनायें यही भावना है।

विनीत

अध्यक्ष/मंत्री

स्व. महात्मा गोकुलचंद तारण साहित्य प्रकाशन समिति

दिनांक- ५.२.२००१

जबलपुर (म. प्र.)

□ जागरण गीत □

जागो हे भगवान आत्मा, जागो हे भगवान ॥

मोह नींद में क्यों सो रहे हो ।

अपनी सत्ता क्यों खो रहे हो ॥

तुम हो सिद्ध समान आत्मा, जागो हे भगवान ॥१॥

नर भव में यह मौका मिला है ।

सब शुभ योग सौभाग्य खिला है ॥

क्यों हो रहे हैरान आत्मा, जागो हे भगवान ॥२॥

इस शरीर से तुम हो न्यारे ।

चेतन अनन्त चतुष्टय धारे ॥

तोड़ो मोह अज्ञान आत्मा, जागो हे भगवान ॥३॥

पर के पीछे तुम मर रहे हो ।

पाप परिग्रह सब कर रहे हो ॥

भुगतो नरक निदान आत्मा, जागो हे भगवान ॥४॥

तुम हो शुद्ध बुद्ध अविनाशी ।

चेतन अमल सहज सुखराशी ॥

कर लो भेद विज्ञान आत्मा, जागो हे भगवान ॥५॥

आयु तक का सब नाता है ।

मोह यह तुमको भरमाता है ।

देख लो सब जग छान आत्मा, जागो हे भगवान ॥६॥

कर्म प्रधान विश्व करि राखा ।

जो जस करहिं सो तस फल चाखा ।

करो धरम पुण्य दान आत्मा, जागो हे भगवान ॥७॥

तारण तरण हैं तुम्हे जगा रहे ।

मुक्ति मार्ग पर तुम्हें लगा रहे ॥

पाओ पद निर्वाण आत्मा, जागो हे भगवान ॥८॥

□

आचारमत : अनमोल रत्न

देव स्वरूप-

देव जिनेश्वर ज्ञान मय, चौदह प्राण संजोत ।

चार चतुष्टय युक्त वह, मानत शिव सुख होत ॥

देवालय यह देह है, देव निजातम शुद्ध ।

परम पूज्य परमेश्वर वह, कहें जिनेश्वर शुद्ध ॥

दर्शन ज्ञान संयुक्त यह, चरण वीर्य मय आप ।

निराकार है देव शुभ, देह दिवालय माप ॥

रत्नत्रय महिमा-

कह्यो तत्त्व श्रद्धान को, सम्यक् दर्शन सार ।

तत्त्व निजातम स्वयं है, अर्थ तिअर्थ विचार ॥

ज्ञान नेत्र हैं भव्य के, वस्तु स्वरूप दिखाय ।

जिनवाणी में भक्ति अति, भेदज्ञान बल पाय ॥

थिर हो शुभ चरित्र में, शुद्ध तत्त्व पहिचान ।

ओंकार अनुभव करो, शाश्वत शिवसुख मान ॥

सम्यक् दर्शन शुद्ध यह, सम्यक् ज्ञान चरित्र ।

कर श्रद्धा अज्ञान ज, सम्यक् वन्त पवित्र ॥

सत्य धर्म-

द्रव्यार्थिक नय शुद्ध कर, चेतन लक्षण वन्त ।

कर्म मुक्त कर जीव को, वही धर्म शिव पंथ ॥

धर्म आत्म गुण है सदा, रत्नत्रय मय जान ।

कर्म विवर्जित जीव को, करे ताहि पहिचान ॥

धर्म वही उत्तम कह्यो, जो खंडे मिथ्यात ।

शुद्ध तत्त्व चेतन तनो, करै प्रकाश सुहात ॥

समाजरत्न स्व.पू.श्री जयसागर जी महाराज कृत 'आचारमत' से
साभार .

सम्पादकीय

भारतीय संस्कृति के आध्यात्मिक क्षितिज पर विक्रम संवत् १५०५ की मिति अगहन सुदी सप्तमी को एक महान् क्रांतिकारी ज्ञान रवि के रूप में आध्यात्मिक शुद्धात्मवादी संत श्रीमद् जिन तारण तरण मण्डलाचार्य जी महाराज का उदय हुआ। बचपन से ही पूर्व संस्कार संयुक्त होने से विलक्षण प्रतिभा संपन्न श्री जिन तारण तरण, पुण्य संपृक्त अपनी बाल सुलभ चेष्टाओं के द्वारा सभी को सुखद अनुभव कराते हुए दूज के चन्द्रमा की भाँति वृद्धि को प्राप्त होने लगे। वे जब पाँच वर्ष के थे तब राज्य में क्रांति, कोषालय में आग लगना तथा तारण स्वामी द्वारा पुनः कागजात तैयार करवा देना उनके “**बाल्यकालादति प्राज्ञ**” होने का बोध कराता है। कागजात तैयार कराने का कारण यह कि उनके पिता श्री गद्दाशाह जी पुष्पावती नगरी के राजा के यहाँ कोषाधीश पद पर कार्यरत थे।

“**मिथ्याविली वर्ष ग्यारह**” श्री छद्मस्थ वाणी जी ग्रंथ के इस सूत्रानुसार (१/१७) उन्हें ग्यारह वर्ष की बालवय में आत्म स्वरूप के अनुभव प्रमाण बोध पूर्वक मिथ्यात्व का विलय और सम्यक्त्व की प्रगटता हुई, जैसा कि सम्यक्त्व का महात्म्य आचार्य प्रणीत ग्रंथों में उपलब्ध होता है कि सम्यक्त्व रूपी अनुभव संपन्न सूर्य के उदय होने पर मिथ्यादर्शन रूपी रात्रि विलय को प्राप्त होती है, सम्यक्त्व के प्रकाश में मिथ्यात्व आदि विकार टिकते नहीं हैं। आत्म अनुभव के जाग्रत होने पर अनादि कालीन अज्ञान अंधकार का अभाव हो जाता है तथा संसार, शरीर, भोगों से सहज वैराग्य होता है। यह सब श्री तारण स्वामी के जीवन में हुआ और आत्मबल की वृद्धि होने के साथ-साथ वैराग्य भाव की वृद्धि भी होने लगी इसी के परिणाम स्वरूप उन्होंने इक्कीस वर्ष की किशोरावस्था में बाल ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने का संकल्प कर लिया और सेमरखेड़ी वन, जो विदिशा जिले में सिरोंज के निकट स्थित है, की गुफाओं में आत्म साधना करने लगे।

माँ की ममता और पिता का प्यार भी उनकी आध्यात्मिक गति को बाधा नहीं पहुँचा सका और निरंतर वृद्धिगत होते हुए वैराग्य के परिणाम स्वरूप श्री तारण स्वामी ने तीस वर्ष की युवावस्था में सप्तम ब्रह्मचर्य प्रतिमा के व्रतों को पालन करने की दीक्षा ग्रहण की।

श्री गुरु तारण स्वामी की संयम साधना और आध्यात्मिक क्रान्ति के बारे में उल्लेख करते हुए सिद्धांतशास्त्री स्व. पं. श्री फूलचंद जी ने ज्ञान समुच्चय सार ग्रंथ की भूमिका में लिखा है कि “जैसा कि हम पहले बतला आए हैं अपने जन्म समय से लेकर पिछले तीस वर्ष स्वामी जी को शिक्षा और दूसरे प्रकार अपनी आवश्यक तैयारी में लगे। इस बीच उन्होंने यह भी अच्छी तरह जान लिया कि मूल संघ कुंद-कुंद आम्नाय के भट्टारक भी किस गलत मार्ग से समाज पर अपना वर्चस्व स्थापित करते हैं। उसमें उन्हें मार्ग विरुद्ध क्रियाकाण्ड की भी प्रतीति हुई अतः उन्होंने ऐसे मार्ग पर चलने का निर्णय लिया जिस पर चलकर भट्टारकों के पूजा आदि संबंधी क्रियाकाण्ड की अयथार्थता को समाज हृदयंगम कर सके; किन्तु इसके लिए उनकी अब तक जितनी तैयारी हुई थी उसे उन्होंने पर्याप्त नहीं समझा। उन्होंने अनुभव किया कि जब तक मैं अपने वर्तमान जीवन को संयम से पुष्ट नहीं करता, तब तक समाज को दिशादान करना संभव नहीं है। यही कारण है कि तीस वर्ष की उम्र में सर्वप्रथम वे स्वयं को व्रती बनाने के लिए अग्रसर हुए।”

उनकी आत्म साधना पूर्वक निरंतर वृद्धिगत होती हुई वीतरागता, सेमरखेड़ी के निर्जन वन की पंचगुफाओं में ममल स्वभाव की साधना उन्हें एक ओर अपने आत्मकल्याण और मुक्त होने के लक्ष्य की ओर अग्रसर होने में प्रबल साधन बन रही थी, वहीं दूसरी ओर उनके सातिशय पुण्य के योग से सत्य धर्म, अध्यात्म मार्ग की प्रभावना हो रही थी और लाखों जिज्ञासु आपके अनुयायी बन रहे थे, जिसमें जाति-पांति का कोई भेदभाव नहीं था। इस मार्ग को स्वीकार करने का आधार था—**सात व्यसन का त्याग और अठारह क्रियाओं का पालन करना**।

अनेक भव्य जीवों का जागरण, निष्पक्ष भाव से हो रही धर्म प्रभावना, आध्यात्मिक क्रांति का रूप धारण कर रही थी। यह सब, भट्टारक और धर्म के ठेकेदारों को रुचिकर नहीं लगा फलतः योजनाबद्ध ढंग से श्री तारण स्वामी को जहर पिलाया गया और बेतवा नदी में डुबाया गया किन्तु इन घटनाओं से भी वे विचलित नहीं हुए बल्कि यह सब होने के पश्चात् तारण पंथ का अस्तित्व पूर्ण रूपेण व्यक्त और व्यवस्थित हो गया तथा वट वृक्ष की तरह विराट् स्वरूप धारण कर लिया। प्रभावना आदि का विशेष योग होते हुए भी श्री गुरु तारण स्वामी का बाह्य राग और प्रपंचों से कोई संबंध नहीं था।

उनकी वीतराग भावना इतनी उत्कृष्ट होती गई कि साठ वर्ष की उम्र में उन्होंने निर्ग्रन्थ दिगम्बर जिन दीक्षा धारण कर ली। श्री गुरुदेव १५१ मण्डलों के प्रमुख आचार्य होने से मण्डलाचार्य पद से अलंकृत हुए। उनके श्री संघ में ७ निर्ग्रन्थ मुनिराज (साधु), और ३६ आर्यिकायें अपनी आत्म साधना में रत थीं, जिनके नाम इस प्रकार हैं।

तारण तरण श्री संघ के ७ साधु -

१. श्री हेमनन्दि जी महाराज	२. श्री चंद्रगुप्त जी महाराज
३. श्री समंतभद्र जी महाराज	४. श्री चित्रगुप्त जी महाराज
५. श्री समाधि गुप्त जी महाराज	६. श्री जयकीर्ति जी महाराज
७. श्री भुवनन्द जी महाराज	

३६ आर्यिका माताजी के नाम -

१. कमल श्री	२. चरन श्री	३. करन श्री	४. हंस श्री
५. सुवन श्री	६. औकास श्री	७. दिप्ति श्री	८. स्वयं दिप्ति श्री
९. अभय श्री	१०. स्वर्क श्री	११. सर्वार्थ श्री	१२. विक्त श्री
१३. आनन्द श्री	१४. समय श्री	१५. हिय उत्पन्न श्री	१६. हिय रमन श्री
१७. अलष श्री	१८. अगम श्री	१९. सहयार श्री	२०. उवन श्री
२१. रमन श्री	२२. उत्पन्न श्री	२३. षिपन श्री	२४. ममल श्री
२५. विन्द श्री	२६. समय श्री	२७. सुन्न सुनन्द श्री	२८. हियार श्री
२९. जान श्री	३०. श्रेणि श्री	३१. जैन श्री	३२. लवन श्री
३३. लीन श्री	३४. भद्र श्री	३५. उवन श्री	३६. पय उवन श्री

इस प्रकार श्री गुरु तारण तरण मंडलाचार्य जी महाराज के श्री संघ में ७ साधु, ३६ आर्यिका माताजी के साथ-साथ २३१ ब्रह्मचारिणी (सुवनी) बहिनें तथा ६० ब्रह्मचारी व्रती श्रावक एवं १८ क्रियाओं का पालन करने वाले सद्ग्रहस्थ श्रावक लाखों की संख्या में थे। उनके शिष्यों की कुल संख्या ४३४५३३१ थी। यह संपूर्ण विवरण श्री नाममाला ग्रंथ में उपलब्ध है।

श्री गुरुदेव तारण स्वामी साधु पद पर ६ वर्ष, ५ माह, १५ दिन तक प्रतिष्ठित रहे, पश्चात् विक्रम संवत् १५७२ की ज्येष्ठ वदी छठ को समाधि धारण कर सर्वार्थ सिद्धि को प्राप्त हुए।

उन्होंने पाँच मतों में चौदह ग्रंथों की रचना की जो इस प्रकार हैं -

विचार मत में -	श्री मालारोहण, पण्डितपूजा, कमलबत्तीसी जी।
आचार मत में -	श्री श्रावकाचार जी।

सार मत में -	श्री ज्ञान समुच्चय सार, उपदेश शुद्ध सार, त्रिभंगी सार जी।
ममलमत में -	श्री चौबीस ठाणा, ममल पाहुड़ जी।
केवल मत में -	श्री खातिका विशेष, सिद्ध स्वभाव, सुन्न स्वभाव, छद्मस्थवाणी तथा नाममाला ग्रंथ हैं।

इन पाँच मतों में विचारमत में-साध्य, आचारमत में-साधन, सारमत में-साधना, ममलमत में-सम्हाल (सावधानी) और केवल मत में-सिद्धि का मार्ग प्रशस्त किया है। इसके लिये आधार दिया है क्रमशः भेदज्ञान, तत्त्वनिर्णय, वस्तुस्वरूप, द्रव्य दृष्टि और ममलस्वभाव का, जिनसे उपरोक्त साध्य आदि की सिद्धि होती है।

यह अध्यात्म ज्ञान मार्ग अपने शुद्धात्म स्वरूप के आश्रय से ही प्रशस्त होता है। इसमें पर पर्याय, कर्मादि संयोग, शरीर या बाह्य क्रियाकाण्ड यहाँ तक कि परमात्मा भी पर हैं, इनकी तरफ दृष्टि भी इस मार्ग में बाधा है, इसलिये श्री जिन तारण तरण मण्डलाचार्य जी महाराज पर की समस्त पराधीनता के लिये वज्रपात थे। वे समस्त बंधनों से परे होकर चले तथा वीतराग जिन धर्म के अनाद्यनन्त सिद्धांत वस्तु स्वातंत्र्य और पुरुषार्थ से मुक्ति की प्राप्ति का, स्वयं परमात्मा होने के विधान का शंखनाद किया। उनका जीवन गौरवपूर्ण था, वे छल-प्रपंच से बहुत दूर सत्य निष्ठ थे, भय का उनके जीवन में कहीं नाम-निशान भी नहीं था। उनके द्वारा की गई अध्यात्म क्रांति उनकी वीतरागता, निस्पृहता, निर्भयता और जन-जन को धर्म और पूजा के नाम पर फैल रहे आडम्बर, जड़वाद, पाखण्डवाद से मुक्त कर सत्य अध्यात्म धर्म में स्थिर कर देने की भावना का परिणाम थी।

उनकी विशुद्ध आध्यात्मिक परंपरा में ज्ञान मार्ग पर निरंतर अग्रणी, आत्म साधना के सतत् प्रहरी, अध्यात्म शिरोमणि पूज्य श्री ज्ञानानन्द जी महाराज अहर्निश अपने आत्म चिंतन साधना में रत रहते हुए हम सभी भव्यात्माओं के आत्म कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं, यह हमारा महान सौभाग्य है। श्री गुरु तारण तरण मण्डलाचार्य जी महाराज द्वारा विरचित चौदह ग्रंथों में से पूज्य श्री द्वारा अनूदित श्री मालारोहण ग्रंथ की अध्यात्म दर्शन टीका, श्री पण्डित पूजा ग्रंथ की अध्यात्म सूर्य टीका और श्री कमलबत्तीसी ग्रंथ की अध्यात्म कमल टीका का प्रकाशन हुआ, साथ ही अध्यात्म अमृत (चौदह ग्रंथ जयमाल एवं भजन), अध्यात्म आराधना, अध्यात्म भावना तथा

चौपड़ा (महाराष्ट्र) से अध्यात्म धर्म (धम्म आयरन फूलना-सार्थ) का प्रकाशन हुआ, जिससे समाज में स्वाध्याय की रुचि और भावनायें जाग्रत हुई हैं। स्वाध्याय का एक व्यवस्थित क्रम बना है। इसके साथ ही देश के कोने-कोने में दिगम्बर-श्वेताम्बर जैन तथा जैनेतर बंधु भी लगन पूर्वक इन ग्रंथों का स्वाध्याय मनन कर अपने आपको सौभाग्यशाली समझ रहे हैं। इस साहित्य से देश के लोगों में श्री गुरुदेव को और उनकी वाणी को जानने की जिज्ञासायें प्रबल हुई हैं जो हमारे लिए प्रसन्नता और गौरव का विषय है।

पूज्य श्री महाराज जी ने सन् १९९१-९२ में मौन साधना कर विशेष अनुभव रत्न उपलब्ध किये थे, यह टीकायें भी उसी साधना के अंतर्गत सहज ही लिपिबद्ध हो गईं, जो आज हमारे लिये मार्गदर्शक सिद्ध हो रही हैं। सहस्राब्दि वर्ष २००० में तीन बत्तीसी जी के प्रकाशन के पश्चात् नई शताब्दि वर्ष २००१ के नवप्रभात के प्रारम्भ में पूज्य श्री ज्ञानानन्द जी महाराज द्वारा अनूदित श्री त्रिभंगीसार जी ग्रंथ की अध्यात्म प्रबोध टीका आपको स्वाध्याय हेतु उपलब्ध कराते हुए अत्यंत प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। श्री गुरु तारण स्वामी द्वारा विरचित श्री श्रावकाचार जी ग्रंथ ४६२ गाथाओं में निबद्ध, आचार मत का ग्रंथ है। द्वादशांग वाणी के बारह अंगों में भी आचारांग नाम का एक अंग है, जिसमें चर्या आचरण संबंधी उल्लेख है, तदनुसार ही 'कथितं जिनेन्द्रैः' को प्रमाण करके श्री गुरु ने अनेकों रहस्य स्पष्ट किये हैं; और हमारे महान सौभाग्य से पूज्य श्री महाराज जी ने इस ग्रंथ की अध्यात्म जागरण टीका करके हम सभी भव्यात्माओं पर परम उपकार किया है। टीका ग्रंथ में गाथाओं के हार्द को स्पष्ट कर पूज्य श्री ने यह ग्रंथ सभी के लिये सहज सरल बना दिया है।

इस ग्रंथ में प्रथम चौदह गाथाओं में सच्चे देव गुरु शास्त्र का स्वरूप बताते हुए उनकी भक्ति पूर्वक वंदना करके ग्रंथ कहने की प्रतिज्ञा की है कि अव्रत सम्यक्दृष्टि के लिये श्रावकाचार ग्रंथ कहूंगा। आगे स्पष्ट किया है कि सम्यक्दृष्टि श्रावक संसार, शरीर, भोगों से विरक्त रहता है, उसके जीवन में संसार में परिभ्रमण कराने वाले कारणों का त्याग हो जाता है। सम्यक्दर्शन के पच्चीस दोषों से रहित सम्यक्दृष्टि श्रावक निर्मल सम्यक्त्व का धारी होता है।

इस प्रकार सम्यक्दृष्टि का विशेष कथन करते हुए कहा है कि आत्मानुभवी सम्यक् श्रद्धानी ही धर्म के सत् स्वरूप को समझता है। इसे स्पष्ट करते हुए धर्म और अधर्म के लक्षणों का विवेचन किया है। श्री गुरु कहते हैं कि अपनी आत्मा का चैतन्य लक्षण स्वभाव धर्म है, यही संसार से पार लगाने वाला है। इसके विपरीत अधर्म है जिसके पांच लक्षण हैं- चार विकथा, सात व्यसन, आठ मद, आर्त-रौद्र ध्यान, अनंतानुबंधी कषाय, इनमें रत होकर जीव पाप कर्मों का बंध करके संसार में जन्म-मरण करता है। अन्य विषयों के अंतर्गत इस ग्रंथ और टीका में धर्म ध्यान के चार भेद, जिनागम के तीन लिंग, त्रिविध आत्मा, सम्यक्दृष्टि की विशेषता, त्रेपन क्रियाओं का वर्णन, जघन्य श्रावक की अठारह क्रियाओं का विशद् विश्लेषण, तीन पात्र और चार दान की महिमा का वर्णन स्याद्वाद पद्धति से किया गया है।

सम्यक्दृष्टि श्रावक दैनिक चर्या में षट् आवश्यक कर्मों का पालन करता है, यह षट् कर्म का विवेचन श्री जिन तारण स्वामी के मौलिक चिंतन और विशेषताओं के साथ स्पष्ट हुआ है, जो अन्य श्रावकाचारों में नहीं मिलता। यहाँ षट् कर्म के दो भेद किये हैं- शुद्ध षट् कर्म और अशुद्ध षट् कर्म, इनके पालनकर्ता, उसका परिणाम आदि विषय क्रम मनन करने योग्य है। इसी प्रसंग में शुद्ध षट्कर्म के अंतर्गत एक मोक्षमार्गी तारण पंथी श्रावक किस प्रकार देवपूजा करता है? यह स्पष्ट किया है। इस विधि में पचहत्तर गुणों का विवेचन गाथा ३२३ से ३६६ तक है, जो देवपूजा के संबंध में समस्त मिथ्या भ्रांतियों को ध्वस्त करने वाला है। इसमें देवपूजा का स्वरूप सहज ही स्पष्ट हो गया है।

'श्रावक चर्या' इस ग्रंथ का मूल प्रतिपाद्य विषय है; इसलिये अव्रती श्रावक की चर्या का विशद् विवेचन करके व्रती श्रावक की चर्या के अंतर्गत दर्शन आदि ग्यारह प्रतिमाओं का अपूर्व साधना मय स्वरूप विश्लेषित किया गया है। ग्यारह प्रतिमा और पांच अणुव्रतों का क्या संबंध है? यह भी श्री गुरु ने करुणा करके समझाया है। ग्रंथ के अंतिम चरण में साधु पद में होने वाली वीतराग दशा, साधु चर्या का स्वरूप बताकर यह निर्णय दिया है कि सम्यक्दर्शन होने पर ही धर्म का प्रारंभ होता है। सम्यक्दृष्टि अव्रती श्रावक ही व्रती और महाव्रती होकर विकारों का त्याग करके धर्म शुक्ल ध्यान में लीन

होकर केवलज्ञानी होता हुआ, सिद्धि मुक्ति को प्राप्त करता है। इस प्रकार संक्षेप में ग्रंथ की विषय वस्तु का उल्लेख किया है, विशेष आनंद की उपलब्धि तो ग्रंथ का स्वाध्याय, मनन करने पर ही होगी।

इस श्रावकाचार की विशेषता यह है कि “सार्धं न्यान मयं ध्रुवं” अर्थात् ज्ञानमयी ध्रुव स्वभाव की श्रद्धा, साधना को श्रावक चर्या का आधार बनाया है, जिसका अभिप्राय है कि द्रव्यानुयोग के आश्रय पूर्वक चरणानुयोग का विधान दिया है।

इसी ग्रंथ में स्वयं श्री गुरु ने कहा है कि-

जस्य संमिक्त हीनस्य, उग्रं तव व्रत संजुतं ।

संजम क्रिया अकार्जं च, मूल बिना वृक्षं जथा ॥ २०८ ॥

जिस जीव को सम्यक्दर्शन नहीं है अर्थात् सम्यक्त्व से रहित जीव घोर व्रत आदि को धारण करे; किन्तु उसकी संयम की समस्त क्रियायें अकार्यकारी हैं, उसका आचरण ऐसा ही है जैसे जड़ के बिना वृक्ष।

यही कारण है कि श्री गुरु महाराज ने अव्रती सम्यक्दृष्टि के लिये यह ग्रंथ कहने की प्रतिज्ञा की है; क्योंकि सम्यक्दर्शन ज्ञान पूर्वक होने वाला आचरण ही सम्यक्चारित्र नाम पाता है। आत्म श्रद्धान अनुभव से रहित मात्र ऊपरी क्रियायें मोक्षमार्ग में कार्यकारी नहीं हैं। शुभ-अशुभ क्रिया मात्र पुण्य-पाप बंध की कारण होती हैं, उससे धर्म का संबंध नहीं है। ‘धर्म च आत्म धर्म’ इसी ग्रंथ के इस सूत्रानुसार धर्म तो मात्र आत्म धर्म ही है, अन्य कुछ भी धर्म नहीं है। सम्यक्त्वी श्रावक ऐसे आत्म धर्म, सत्य धर्म का श्रद्धानी अनुभवी साधक होता है, यही धर्ममार्ग है।

आध्यात्मिक संत अध्यात्म शिरोमणि पूज्य श्री ज्ञानानन्द जी महाराज ने इस ग्रंथ की अध्यात्म जागरण टीका में अव्रती और व्रती श्रावक की चर्या के संबंध में ग्रंथ की गाथाओं के अभिप्राय और हार्द को अपनी सहज सरल सुबोध भाषा में स्पष्ट कर हम भव्य आत्माओं के मोक्षमार्ग को प्रशस्त किया है। टीका में आये हुए कुछ अनुभूति पूर्ण अनमोल रत्न यहाँ चिन्तन मनन हेतु प्रस्तुत हैं-

परिवार के कारण-मोह, शरीर के कारण-राग, धन के कारण-द्वेष होता है, यही

संसार है। चार गति चौरासी लाख योनियों का परिभ्रमण, जन्म-मरण का चक्र ही संसार है, जहां भय और दुःख ही दुःख भरा है।

(गाथांश-१५)

क्षमा धर्म का नाश करने वाला क्रोध ही है। क्रोध का मूल आधार-बुरा लगना है, अपनी मनचाही बात न होने से क्रोध आता है, कोई इच्छानुसार न चले तो क्रोध आता है, कोई नुकसान हो जाये, कोई अपमान कर दे तो क्रोध आ जाता है। बहिर्दृष्टि होने से ही क्रोध आता है और जब तक क्रोध की तीव्रता रहती है तब तक धर्म का जागरण नहीं हो सकता, कुछ भी देखने में बुरा लगता है तब तक सम्यक्दर्शन नहीं हो सकता।

(गाथांश-२५)

जिसमें निराकुलता निश्चितता रहे, सुख होवे वह धर्म है और जिसमें आकुलता, भय, चिन्ता हो, दुःख होवे वह सब अधर्म है। यही जीवन का प्रमुख विषय है, जिस पर वर्तमान और भविष्य निर्भर है, अगर सत्य धर्म उपलब्ध हो जाये तो वर्तमान जीवन सुख, शांति, आनंदमय रहे और भविष्य में परमानंद मयी मुक्ति की प्राप्ति हो।

(गाथांश-९७)

निज शुद्धात्मा को छोड़कर अन्य अचेतन द्रव्य में रत्नत्रय नहीं रहता है, रत्नत्रय अर्थात् सुख, शांति, आनंद; इसलिये रत्नत्रय मयी आत्मा को निश्चय से मोक्ष का कारण जानो, यही सत्य धर्म है।

(गाथांश-१०६)

मिथ्यात्व से जन्म-मरण होता है, मोह-राग से कर्म बंध होता है। जब तक अपने सत् स्वरूप शुद्ध तत्व निज शुद्धात्मा का श्रद्धान अनुभूति नहीं होती तब तक यह अहंकार-ममकार तो होते ही हैं। मिथ्यात्व अज्ञान दशा में कितने ही तप करो, अनेक शास्त्र पढ़ो परंतु उससे तपमद, ज्ञानमद ही बढ़ता है, आत्म कल्याण नहीं होता।

(गाथांश-१५०)

द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म आदि पुद्गल द्रव्यों में अपनी कल्पना करना संकल्प है और ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में भेदज्ञान होना विकल्प है ऐसा शुद्ध नय आत्म स्वभाव को प्रगट करता है। आत्मा पांच प्रकार से अनेक रूप दिखाई देता है-

१. अनादिकाल से कर्म पुद्गल के संबंध से बंधा हुआ, कर्म पुद्गल के स्पर्श

वाला दिखाई देता है। २. कर्म के निमित्त से होने वाली नर-नारक आदि पर्यायों में भिन्न-भिन्न स्वरूप दिखाई देता है। ३. शक्ति के अविभाग प्रतिच्छेद (अंश) घटते भी हैं, बढ़ते भी हैं, यह वस्तु स्वभाव है इसलिये वह नित्य-नियत एक रूप दिखाई नहीं देता है। ४. दर्शन ज्ञान आदि अनेक गुणों से विशेष रूप दिखाई देता है। ५. कर्म के निमित्त से होने वाले मोह, राग-द्वेष आदि परिणामों कर सहित वह सुख-दुःख रूप दिखाई देता है।
(गाथांश-१६९)

निर्विकल्प होना ही ममल स्वभाव में रहना है, वीतरागी ही निर्विकल्प हो सकता है। जहाँ मोह, राग-द्वेष है वहाँ वीतरागता है ही नहीं। मोह, राग-द्वेष के अभाव को ही वीतरागता कहते हैं यही ममल स्वभाव धर्म है।

विशेष सूत्र- १. भेदज्ञान के अभ्यास से एकत्वपना मिटता है। २. तत्त्वनिर्णय के अभ्यास से अपनत्वपना मिटता है। ३. पाप-पुण्य के विकल्प प्रक्षालन से कर्तृत्वपना मिटता है। ४. तत्समय की योग्यता के निर्णय से चाह मिटती है। ५. सर्वज्ञ की सर्वज्ञता, क्रमबद्ध पर्याय के निर्णय से लगाव मिटता है तभी वीतरागता आती है, निर्विकल्प दशा होती है, वही ममल स्वभाव में रहना धर्म है।

(गाथांश-१७३)

सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान होना पुरुषार्थ का जागना है और सम्यक्चारित्र पुरुषार्थ करना है। दर्शनोपयोग का अपने स्वरूप को देखना और उस मय होना ही सम्यक्चारित्र है और यह व्यवहार चारित्र की शुद्धि होने पर ही होता है। द्रव्य संयम बगैर भाव संयम नहीं होता, श्रद्धान ज्ञान अलग बात है, चारित्र में निश्चय-व्यवहार का समन्वय आवश्यक है तभी सम्यक्चारित्र होता है।

(गाथांश-३५५)

इस प्रकार के अनेकों रहस्य पूज्य श्री ने इस टीका ग्रंथ में स्पष्ट किये हैं। अन्वयार्थ, विशेषार्थ, सम्यक्दृष्टि श्रावक की स्थिति, ज्ञानी साधक की चर्या, साधना के मार्ग में आगे बढ़ने का उपाय तथा साधक, जिज्ञासु के मन में सहज ही उत्पन्न होने वाले प्रश्नों का अपनी भाषा में समाधान करके गूढ़ रहस्यों को सरलता पूर्वक समझाया है। इस

प्रकार की रचनायें, टीकायें स्वाध्यायी मुमुक्षु भव्य आत्माओं के लिए विशेष उपलब्धि है। इन टीका ग्रंथों में क्या है? यह रहस्य तो इनके स्वाध्याय चिंतन-मनन पूर्वक ही जाना जा सकता है। सिद्धांत, सत्य किसी मत पक्ष से बंधा नहीं होता, वह त्रैकालिक सत्य, एकरूप सार्वभौम होता है, जिसका निष्पक्ष दृष्टि से चिंतन करके ही उसे समझा जा सकता है। सामूहिक रूप से इन ग्रंथों का स्वाध्याय मनन करना तथा अपनी दृष्टि आत्मोन्मुखी बनाना, यही इन टीकाओं का यथार्थ सदुपयोग है।

पूज्य श्री द्वारा अनूदित यह टीकायें आत्मार्थी जीवों के लिये विशेष देन है और उनका परम उपकार है कि इस विषम पंचम काल में हम सभी भव्यात्माओं के लिए सत्य वस्तु स्वरूप समझने और आत्म कल्याण करने का मार्ग प्रशस्त किया है।

श्री श्रावकाचार जी ग्रंथ की प्रस्तुत “अध्यात्म जागरण टीका” का स्वाध्याय चिंतन-मनन करके सभी जीव सत्य धर्म और शुद्ध दृष्टि प्राप्त कर श्रावक की व्रती चर्या मय जीवन बनायें तथा सिद्धि मुक्ति के मार्ग पर चलकर इस दुर्लभ मनुष्य भव को सफल सार्थक करें यही पवित्र भावना है।

श्री तारण तरण अध्यात्म प्रचार योजना केन्द्र

ब्र. बसन्त

६१, मंगलवारा, भोपाल (म. प्र.)

दिनांक - ५.२.२००१

धर्म चर्चा का विषय नहीं, अनुभूति का विषय है। भेदज्ञान के द्वारा जानकर जो इसका ध्यान करता है उसको प्रत्यक्ष अनुभूति में आता है कि यह शरीर आदि पुद्गल भिन्न है और मैं चैतन्य लक्षण जीव आत्मा भिन्न हूँ तथा यह कर्म भी मुझसे भिन्न हैं, मैं तो सिद्ध स्वरूपी परम ब्रह्म परमात्मा हूँ।

श्री संघ के बढ़ते चरण . . .

आध्यात्मिक क्रांति के जनक आचार्य प्रवर श्रीमद् जिन तारण तरण मण्डलाचार्य जी महाराज जन-जन में अध्यात्म चेतना के प्राणों का संचार करने वाले वीतरागी संत थे। निष्पक्ष भाव से सत्य धर्म का स्वरूप बताने वाले, अध्यात्म की अलख जगाने वाले ऐसे निस्पृह संत विरले ही होते हैं, उनके द्वारा सृजित चौदह ग्रंथ युगों-युगों तक जग जीवों का मार्गदर्शन करते रहेंगे। पूज्य गुरुदेव की वाणी में संसार के मानव मात्र के लिए आत्म कल्याण करने, मुक्ति को प्राप्त करने का मंगलमय संदेश है, उन्होंने अपने ग्रंथों में वीतराग धर्म जिन सिद्धांत का अनुभव प्रमाण कथन किया है। उनकी मंगलमय वाणी आत्म साधना की अनुभूतियों से ओतप्रोत जिनवाणी का सार है।

पूज्य गुरुदेव की वाणी को जन-जन में प्रचार करने हेतु गुरुदेव के प्रति समर्पित साधक श्रीसंघ, अध्यात्म शिरोमणि आध्यात्मिक संत पूज्य श्री ज्ञानानंद जी महाराज के मार्गदर्शन में अपनी आत्म साधना के मार्ग पर चलते हुए विभिन्न आयामों के माध्यम से सद्गुरु की वाणी को संपूर्ण देश में प्रचार-प्रसार करने में संलग्न है। साधक श्री संघ द्वारा निस्पृहवृत्ति पूर्वक अखिल भारतीय तारण समाज एवं संपूर्ण देश में किये जा रहे अध्यात्म धर्म प्रभावना कार्यों से समाज में अपूर्व जागरण, धर्म निष्ठा, गुरुभक्ति, आम्नाय के प्रति समर्पण की भावना और संगठन निर्मित हुआ है, वहीं दूसरी ओर देश के कोने-कोने में गुरुवाणी की प्रभावना का योग बना है।

इस महान कार्य का शुभारंभ करते हुए सन् १९८० से १९८४ के बीच साधकों ने समाज के विभिन्न अंचलों में अनेक समूहों में भ्रमण कर सामाजिक जागरण और धर्म प्रभावना का बीजारोपण किया था। इसके साथ ही अध्यात्म क्रांति का सूत्रपात तब हुआ जब सन् १९८४ में बरेली (म.प्र.) में आयोजित श्री मालारोहण शिविर में दिनांक ७ फरवरी १९८४, बसंत पंचमी को पूज्य श्री ज्ञानानन्द जी महाराज की सप्तम प्रतिमा की दीक्षा हुई तथा अनेक भव्य आत्माओं ने ब्रह्मचर्य व्रत लेकर प्रभावना में सहयोग करने का संकल्प किया। इसी वर्ष पूज्य ब्र. श्री सुशीला बहिन जी बीना ने भी सातवीं प्रतिमा की दीक्षा ग्रहण की। यह क्रम शनैः-शनैः वृद्धि को प्राप्त होने लगा और सन् १९८५ में पू. ब्र. श्री बसंतजी महाराज एवं स्व. पू. ब्र. श्री सहजानन्द जी महाराज (बाबाजी) ने जन जागरण अभियान के अंतर्गत समाज के प्रत्येक नगर और गाँव-गाँव जाकर सामाजिक जागरण और धर्म प्रभावना की, इससे अनेक उपलब्धियाँ हुईं। इसी वर्ष पिपरिया में ब्रह्मानन्द आश्रम की स्थापना हुई।

इन सभी व्यवस्थित कार्यों के होने से प्रभावना की विशेष कड़ियाँ जुड़ने लगीं, इसी क्रम में एक विशिष्ट उपलब्धि के रूप में चिर प्रतीक्षित श्री गुरुदेव तारण तरण स्वामी जी द्वारा विरचित चौदह

ग्रंथों के मूल पाठ का संपादन श्री निसई जी तीर्थक्षेत्र पर सन् १९८६ में सम्पन्न हुआ। इस कार्य हेतु ब्र. श्री बसंत जी द्वारा महाराष्ट्र से विक्रम संवत् १९८५ से १६०० तक की लगभग २० हस्तलिखित चौदह ग्रंथों की पाण्डुलिपियाँ फैजपुर (महाराष्ट्र) से लाई गई थीं, पश्चात् संवत् १९७२ की ममलपाहुड़ और तीन बत्तीसी की दुर्लभ प्रति भी प्राप्त हुई थी, यह सभी प्रतियाँ निसई जी में सुरक्षित हैं। इसके अलावा संपादन कार्य हेतु अन्य अनेक स्थानों से चौदह ग्रंथों की हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ मंगाई गई थीं, जो संपादन के पश्चात् ससम्मान यथास्थान लौटा दी गईं। आत्मसाधना के साथ-साथ सन् १९८८ में भ्रमण तथा सन् १९८९ में राष्ट्रीय स्तर पर तारण तरण अध्यात्म ध्वज प्रवर्तन का सम्पूर्ण समाज में मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र प्रांत में भ्रमण और गाँव-गाँव, नगर-नगर में पालकी जी महोत्सव, सामाजिक संगठन, धर्म प्रभावना के अनेकों शुभ कार्य संपन्न हुए। इसी वर्ष ध्वज प्रवर्तन के अवसर पर सिलवानी में बा.ब्र. श्री सरला जी ने एवं बीना में बा.ब्र. श्री उषा जी ने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया।

सन् १९९० में भी भ्रमण और प्रभावना की निरन्तरता बनी रही। धर्म की महिमा प्रभावना मात्र चर्चा और बाह्य औपचारिकताओं से नहीं होती, इसके लिये धर्म के आचरण की विशेषता होती है। इसी भावना से सन् १९९१ में जबलपुर में ४९ दिवसीय पाठ, वेदी प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर पू. ब्र. श्री स्वरूपानन्द जी महाराज ने सातवीं प्रतिमा की दीक्षा ग्रहण की और आत्म कल्याण के मार्ग में अग्रसर हुए। श्री गुरु महाराज की वाणी की प्रभावना के निमित्त सन् १९९१ से १९९६ तक पूज्य ब्र. श्री बसंतजी महाराज ने सम्पूर्ण देश में भ्रमण कर भारतवर्ष में दिगम्बर-श्वेताम्बर, जैन-अजैन सभी वर्गों में गुरुवाणी का शंखनाद किया, जिससे सम्पूर्ण भारतवर्ष में तारण समाज की पहिचान बनी।

श्री संघ के बढ़ते चरण निरंतर गतिमान होते गए तथा सन् १९९६ में ही गंजबासौदा में “तारण की जीवन ज्योति” का प्रभावना पूर्ण वांचन, श्री संघ की स्थापना एवं दिनांक ७.१.१९९६ रविवार को ब्र. श्री आत्मानन्द जी की सातवीं प्रतिमा की दीक्षा, ब्र. मुन्नी बहिन जी का ब्रह्मचर्य व्रत तथा अन्य भव्य जीवों द्वारा व्रत नियम संयम लिये गए, पश्चात् लगभग २०० श्रावक-श्राविकाओं का संघ पदयात्रा पूर्वक श्री सेमरखेड़ी जी पहुँचा, वह अभूतपूर्व प्रभावना का अवसर था। इसी वर्ष होशंगाबाद में ब्र. बसंतजी एवं ब्र. आत्मानन्द जी के वर्षावास समापन अवसर पर बा.ब्र. नंदश्री (रचना) ने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का संकल्प कर अपना जीवन धर्म के लिये समर्पित किया।

श्री गुरु महाराज की आम्नाय और आत्म कल्याण की भावना से समर्पित साधक श्री संघ का सन् १९९७ में देश व्यापी अध्यात्म चक्र भ्रमण कार्यक्रम संपन्न हुआ। भ्रमण और प्रभावना की

विशेष श्रृंखला में सन् १९९८ में अखिल भारतीय तारण समाज के स्थानों पर “संस्कार शिविरों” के आयोजन से सामाजिक परिवेश में अपूर्व क्रांतिकारी परिवर्तन, संगठन, प्रभावना एवं संस्कार जागरण हुआ। संस्कार शिविर श्रृंखला के भोपाल में प्रभावना पूर्ण समापन के पश्चात् श्री संघ का वर्षावास श्री सेमरखेड़ी जी तीर्थ क्षेत्र पर हुआ। इसमें चौदह ग्रंथों का ४९ दिवसीय वाचन समारोह तथा तारण की जीवन ज्योति का वाचन हुआ। इस महा महोत्सव के समापन अवसर पर दिनांक ५.९.९८ अनंत चतुर्दशी को पूज्य श्री ज्ञानानन्द जी महाराज ने दसवीं अनुमति त्याग प्रतिमा की दीक्षा धारण की तथा बाल ब्र. श्री शांतानन्द जी ने एवं स्व. ब्र. श्री सहजानन्द महाराज (बाबाजी) ने सप्तम ब्रह्मचर्य प्रतिमा की दीक्षा ग्रहण की, इसके साथ ही अन्य १०० भव्य जीवों ने व्रत, नियम, संयम लिये, जागरण का वह अपूर्व अवसर चिर स्मरणीय रहेगा। इसी वर्ष महात्मा गोकुलचंद तारण साहित्य प्रकाशन समिति की स्थापना हुई।

प्रभावना की इन विभिन्न श्रृंखलाओं के बीच पूज्य श्री के सान्निध्य में ब्र. श्री नेमी जी की प्रेरणा से बा.ब्र. श्री बसंत जी महाराज द्वारा- बरेली, सिलवानी, गंजबासौदा, जबलपुर, सेमरखेड़ी जी में चौदह ग्रंथों के ४९ दिवसीय पाठ किये गए, जिससे गुरुवाणी की महिमा प्रभावना में वृद्धि हुई तथा साधकों के वर्षों से विभिन्न स्थानों पर हो रहे वर्षावास से अनेक उपलब्धियाँ सहज ही हो रही हैं।

वर्ष १९९९ भी श्री संघ के बढ़ते चरण में एक सोपान के रूप में सहयोगी बना। इस वर्ष तारण तरण अध्यात्म क्रांति जन जागरण अभियान के अंतर्गत सभी साधक बंधु एवं ब्रह्मचारिणी बहिनों ने नगर-नगर, गाँव-गाँव भ्रमण कर सम्पूर्ण समाज में अध्यात्म और गुरुवाणी की अलख जगाई, जिससे सामाजिक, धार्मिक सभी कार्य सहज ही बने और विशेष प्रभावना हुई।

साहित्य प्रकाशन व प्रभावना की कड़ी में यह वर्ष विशेष साधक सिद्ध हुआ। वैसे तो साहित्य के क्षेत्र में ब्रह्मानन्द आश्रम पिपरिया से विगत वर्षों में साहित्य प्रकाशन होता रहा तथा ३१ मार्च १९९९ को भोपाल में श्री तारण तरण अध्यात्म प्रचार योजना केन्द्र की स्थापना हुई और तीव्र गति से साहित्य प्रकाशन हो रहा है, इस क्रम में पूज्य श्री गुरु महाराज के ग्रंथों की- पूज्य श्री द्वारा की गई तीन बत्तीसी श्री मालारोहण, पंडितपूजा, कमलबत्तीसी जी की टीका, अध्यात्म अमृत (चौदह ग्रंथ जयमाल एवं भजन), अध्यात्म किरण (जैनागम १००८ प्रश्नोत्तर) तथा पूज्य ब्र. श्री बसंतजी महाराज द्वारा सृजित अध्यात्म आराधना देव गुरु शास्त्र पूजा, अध्यात्म भावना का हजारों की संख्या में प्रकाशन हो चुका है। चौपड़ा (महाराष्ट्र) से अध्यात्म धर्म-धर्माचरण फूलना सार्थ का प्रकाशन भी इसी श्रृंखला की एक कड़ी है। अत्यंत प्रसन्नता है कि सन् २००० इस शताब्दी का समापन हम श्री तारण तरण श्रावकाचार जी और श्री त्रिभंगीसार जी ग्रंथ के प्रकाशन के साथ कर रहे

हैं, यह सत् साहित्य देश के कोने-कोने में अध्यात्म धर्म की धूम मचा रहा है।

साहित्य प्रकाशन प्रभावना के साथ-साथ आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि सन् १९९९ से २००० के बीच जियागंज, कलकत्ता, भीलवाड़ा, अजमेर, भोपाल, बीना, छिन्दवाड़ा आदि स्थानों पर अध्यात्म रत्न बा. ब्र. पूज्य बसंत जी के मधुर स्वरों में- भजन, फूलना, मालारोहण, तत्त्वार्थ सूत्र, देव गुरु शास्त्र पूजा, चौदह ग्रंथ जयमाल, बारह भावना, बाहुबली वैराग्य (आल्हा गायन शैली) आदि अनेकों कैसेट बनाए गए, जो सम्पूर्ण देश में प्रभावना के साधन बने हैं।

जून माह सन् २००० में तारण तरण श्री संघ की चारों तीर्थ क्षेत्रों की तीर्थ वंदना यात्रा सैकड़ों साधर्मी गुरु भाइयों के साथ अत्यंत प्रभावना पूर्वक सम्पन्न हुई जो चिर स्मरणीय रहेगी। इसी वर्ष सिरोंज की वेदी प्रतिष्ठा में दिनांक ११.१२.२००० को ब्र. श्री परमानन्द जी सातवीं प्रतिमा धारण कर संयम के मार्ग में अग्रसर हुए।

नई शताब्दी का शुभारम्भ आदरणीय ब्र. श्री नेमी जी की दीक्षा से हुआ, उन्होंने श्री सेमरखेड़ी जी तीर्थक्षेत्र पर बसंत विराग महोत्सव में तिलक के अवसर पर दिनांक ३१.१.२००१ को सप्तम ब्रह्मचर्य प्रतिमा की दीक्षा ग्रहण की।

श्री गुरु महाराज की प्रभावना का शुभ योग बना है और यह सब प्रभावना सहज ही हो रही है, मनुष्य भव आत्मसाधना, आत्मकल्याण के लिए मिला है, इसमें भेदज्ञान, तत्त्व निर्णय का अभ्यास ही कल्याणकारी है, स्वयं गुरु महाराज ने हमें अध्यात्म मार्ग में दृढ़ होने की प्रेरणा दी है, क्योंकि यही धर्म साधना का आधार है इसी से आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है, इसलिए अंत में यही निवेदन है कि-

दो बातन को याद रखो, जो चाहो कल्याण।

तत्त्व निर्णय को हृदय धर, करो भेदविज्ञान॥

इस धर्म साहित्य का स्वाध्याय चिंतन मनन कर सभी जीव अपने जीवन को सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र्य मय बनाकर आत्म कल्याण का पथ प्रशस्त करें, यही शुभ भावना है।

गंजबासौदा

दिनांक - १९.३.२००१

ब्र. आत्मानन्द

संयोजक

तारण तरण श्री संघ

निश्चय नय के अभिप्राय अनुसार आत्मा का आत्मा में आत्मा के लिये तन्मय होना ही निश्चय सम्यक्चारित्र्य है, ऐसे चारित्र्यशील योगी को ही निर्वाण की प्राप्ति होती है।

अपनी बात

सन् १९८४ बसंत पंचमी पर दीक्षा के बाद ज्ञान ध्यान साधना स्वाध्याय आदि चलता रहा, सन् १९८६ में तीर्थक्षेत्र श्री निसई जी महारगढ़ में अध्यात्म वाणी जी का संपादन हुआ, जिसमें विक्रम संवत् १९७२-१९८९ की हस्तलिखित चौदह ग्रंथों की प्रतियों से मिलान कर संशोधन किया गया, उस समय इन ग्रंथों को पढ़ने समझने का विशेष अवसर प्राप्त हुआ तथा उसी समय से ऐसी भावना हुई कि गुरु ग्रंथों की विशिष्ट टीकायें होना चाहिये।

इसी बीच श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार की श्री पं. सदासुखदास जी द्वारा की गई टीका के स्वाध्याय करने का योग बना, टीका पढ़ते-पढ़ते पुनः ऐसे भाव आये कि श्री गुरु महाराज के श्रावकाचार की भी ऐसी टीका होना चाहिये। ब्र. नेमी जी से चर्चा हुई, उन्होंने टीका लिखने के लिये प्रोत्साहन दिया और सहज में टीका लिखने का योग बन गया।

विशेष योग्यता और पढ़े लिखे न होने के कारण बहुत सावधानी रखते हुए आगम ग्रंथों के आधार से टीका लिखने का प्रयास किया है।

श्री गुरु महाराज की अध्यात्म दृष्टि साधना का अनुभव तथा वर्तमान समय में धर्म के नाम पर होने वाले बाह्य आडम्बर क्रियाकौंड से हटकर सत्य धर्म साधना, अध्यात्म दृष्टि, **सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र्याणि मोक्षमार्गः** का वास्तविक स्वरूप क्या है? वह इस श्रावकाचार ग्रंथ में निश्चय-व्यवहार के समन्वय पूर्वक प्रतिपादित किया है।

अपनी बुद्धि और पात्रानुसार बहुत सावधानी से टीका करने का प्रयास किया है फिर भी भूल और गलतियाँ होना स्वाभाविक है, पहला प्रयास है। विज्ञान ज्ञानी साधक भूल सुधार कर पढ़ेंगे, जो गलतियाँ हों उससे अवगत करावेंगे तथा श्री गुरु महाराज के अनुभव का लाभ लेते हुए अपने जीवन में सत्य धर्म और संयम का बीजारोपण कर मुक्तिमार्ग प्रशस्त करेंगे ऐसी पवित्र भावना है, गलतियों के लिये क्षमाप्रार्थी हूँ।

श्री तारण तरण श्रावकाचार

विषय वस्तु : गागर में सागर

१. देव गुरु शास्त्र को उनके स्वरूप सहित नमस्कार -

गाथा १ से १४ तक

२. अव्रत सम्यक्दृष्टि द्वारा वस्तु स्वरूप का चिन्तन-

गाथा १५ से ४६ तक

३. आत्मा के तीन रूप और उनका स्वरूप-

गाथा ४७ से १९४ तक

बहिरात्मा का स्वरूप-

गाथा ५० से १६७ तक

अन्तरात्मा का स्वरूप-

गाथा १६८ से १९४ तक

४. अन्तरात्मा के तीन लिंग और त्रेपन क्रियाओं का वर्णन-

गाथा १९५ से ४६० तक

अ. जघन्यलिंग अव्रत सम्यक्दृष्टि का आचरण,
अठारह क्रियाओं का पालन-

गाथा १९५ से ३७५ तक

ब. मध्यमलिंग व्रती सम्यक्दृष्टि का आचरण,
ग्यारह प्रतिमा, पाँच अणुव्रत-

गाथा ३७८ से ४४४ तक

स. उत्तमलिंग महाव्रती रत्नत्रय के
साधक साधु का आचरण-

गाथा ४४५ से ४६० तक

५. ग्रन्थ रचना का उद्देश्य-

गाथा ४६१ से ४६२ तक

❏ ❏ विस्तृत विषयानुक्रम ❏ ❏

क्र.	विषय	पृष्ठ	गाथा
	जयमाल	१६	
	मंगलाचरण .		
१.	देव का स्वरूप और नमस्कार	१	१-७
२.	गुरु का स्वरूप और नमस्कार	८	८-१०
३.	जिनवाणी का स्वरूप और नमस्कार	९	११-१३
४.	अव्रत सम्यक्दृष्टि के लिये श्रावकाचार का कथन : प्रतिज्ञा	१०	१४
	वैराग्य भावना चिन्तन .		
५.	संसार का स्वरूप	११	१५
६.	शरीर का स्वरूप	१२	१६
७.	भोगों का स्वरूप	१५	१७
८.	संसार भ्रमण का कारण - तीन मिथ्यात्व	१९	१८-२२
९.	चार कषाय - लोभ , क्रोध , मान , माया	२३	२३-२७
१०.	तीन मूढता - लोक मूढता, देव मूढता, पाखंड मूढता	२६	२८
११.	दुःख के कारण - शंकादि आठ दोष , आठ मद आदि	२६	२९
१२.	मिथ्यात्व की महिमा	२७	३०
१३.	वैराग्य भावना	२८	३१
१४.	सप्त प्रकृति का क्षय	२८	३२
१५.	सम्यक्त्व का उदय	२९	३३
१६.	सम्यक्दृष्टि की श्रद्धा	३१	३४-४६
	आत्मा के तीन रूप और उनका स्वरूप .		
१७.	आत्मा तीन प्रकार कहा गया है	४३	४७
१८.	परमात्मा का स्वरूप	४४	४८
१९.	अन्तरात्मा का स्वरूप	४४	४९
२०.	बहिरात्मा का स्वरूप	४५	५०
२१.	बहिरात्मा की विशेषता	४६	५१
२२.	कुदेव और मिथ्या देव की मान्यता	४७	५२-५९
२३.	अदेव की पूजा भक्ति	४९	६०-६४
२४.	सद्गुरु का स्वरूप	५३	६५-७४

क्र.	विषय	पृष्ठ	गाथा
२५.	कुगुरु की मान्यता और उसका फल	५९	७५-९०
२६.	कुगुरु के बन्धन से कुधर्म का सेवन	६६	९१, ९२
२७.	अधर्म को धर्म मानना संसार का कारण	६७	९३-९७
	अधर्म के लक्षण.		
२८.	विकथा	७२	९८, ९९
२९.	स्त्री कथा	७२	१००
३०.	राज कथा	७३	१०१, १०२
३१.	भोजन (भय कथा)	७३	१०३
३२.	चोर कथा	७३	१०४-१०६
३३.	सात व्यसन, विकथा और व्यसन का संबंध	७७	१०७
३४.	जुआँ खेलना क्या है ?	७७	१०८
३५.	मांस भक्षण क्या है ?	७८	१०९-११२
३६.	मद्य पान किसे कहते हैं ?	७९	११३-११७
३७.	वेश्यागमन क्या है ?	८२	११८
३८.	शिकार खेलना क्या होता है ?		११९-१२८
३९.	चोरी करना क्या है ?	८७	१२९-१३४
४०.	पर स्त्री रमण क्या है ?	९०	१३५-१४२
४१.	आठ मद	९२	१४३, १४४
४२.	आठ मद के नाम और उनका स्वरूप (जाति , कुल , रूप , अधिकार , ज्ञान , तप , बल , विद्या)	९३	१४५-१५०
४३.	अनन्तानुबंधी कषाय	९६	१५१
४४.	लोभ किसे कहते हैं ?	९७	१५२-१५४
४५.	मान क्या है ?	९८	१५५-१६०
४६.	माया कैसी होती है ?	१००	१६१-१६५
४७.	क्रोध क्या है ?	१०१	१६६
४८.	अधर्म विवेचन की अंतिम गाथा	१०२	१६७
	शुद्ध धर्म क्या है जो अन्तरात्मा को होता है .		
४९.	शुद्ध धर्म का वर्णन	१०३	१६८, १६९
५०.	धर्म ध्यान क्या है ?	१०८	१७०, १७१
५१.	उत्तम क्षमा	१०९	१७२
५२.	ममल धर्म	१११	१७३
५३.	उत्तम धर्म	११३	१७४
५४.	धर्म का क्या प्रयोजन है ?	११४	१७५, १७६

क्र.	विषय	पृष्ठ	गाथा
५५.	धर्म ध्यान के चार भेद	११५	१७७
५६.	पदस्थ ध्यान का स्वरूप	११५	१७७-१८२
५७.	पिंडस्थ ध्यान का स्वरूप	११८	१८३, १८४
५८.	रूपस्थ ध्यान का स्वरूप	१२०	१८५-१८७
५९.	रूपातीत ध्यान का स्वरूप	१२२	१८८, १८९
६०.	सम्यक्दृष्टि की विशेषता	१२३	१९०-१९४
	अन्तरात्मा सम्यक्दृष्टि के तीन लिंग और त्रेपन क्रिया.		
६१.	तीन लिंग - उत्तम, मध्यम, जघन्य	१३०	१९५
६२.	उत्तम जिनरूपी, मध्यम मति श्रुत वाला श्रावक, जघन्य तत्त्व श्रद्धानी	१३०	१९६
६३.	सम्यक्दर्शन की विशेषता से ही यह तीन लिंग कहे हैं	१३१	१९७
६४.	जघन्य अव्रती - अठारह क्रियाओं का पालन करने वाला है	१३२	१९८
६५.	अठारह क्रियाओं के नाम- धर्म की सच्ची श्रद्धा, आठ मूलगुण, चार दान, रत्नत्रय की साधना रात्रि भोजन त्याग, पानी छानकर पीना	१३२	१९९, २००
६६.	पैतीस क्रिया - (ग्यारह प्रतिमा, बारह व्रत, बारह तप)	१३२	२०१
६७.	सच्ची श्रद्धा, अटल विश्वास होना, पाँच सम्यक्त्व का स्वरूप	१३४	२०२
६८.	अठारह क्रियाओं में प्रथम सम्यक्त्व का स्वरूप	१३५	२०३-२२४
६९.	अष्ट मूल गुण : पाँच उदम्बर, तीन मकार	१४९	२२५-२३४
७०.	रत्नत्रय की साधना .	१५३	२३५
७१.	सम्यक्दर्शन का स्वरूप , तीन मूढता आदि पच्चीस दोषों से रहित .	१५४	२३६-२४९
७२.	सम्यक्ज्ञान और स्वरूपाचरण चारित्र का अभ्यास	१५९	२५०-२५५
७३.	तीन पात्रों को चार प्रकार का दान देना	१६२	२५६
७४.	उत्तम पात्र - निर्ग्रन्थ वीतरागी साधु	१६२	२५७-२५९
७५.	मध्यम पात्र - देशव्रती श्रावक	१६३	२६०-२६३
७६.	जघन्य पात्र - अव्रत सम्यक्दृष्टि श्रावक	१६४	२६४-२६६
७७.	पात्र दान का फल और सम्यक्त्व की महिमा	१६६	२६७

क्र.	विषय	पृष्ठ	गाथा
७८.	अट्ठावन लाख योनियों से छूट जाना	१६६	२६८
७९.	पात्र दान से दुःखों का अभाव	१६६	२६९
८०.	चार प्रकार का दान और दान की महिमा (ज्ञानदान, आहारदान, औषधिदान, अभयदान)	१६७	२७०-२७२
८१.	पात्रदान की महिमा, विशेषता	१६८	२७३
८२.	पात्र और कुपात्र दान का विचार	१६८	२७४
८३.	कुपात्र की पहिचान	१६८	२७५
८४.	कुपात्र दान का फल	१६८	२७६
८५.	पात्र और कुपात्र दान फल का भेद	१६८	२७७
८६.	पात्र दान की भावना का फल	१६८	२७८-२८३
८७.	कुपात्र दान की भावना का फल	१७०	२८४, २८५
८८.	पात्र दान की शुद्धता का परिणाम	१७१	२८६-२८९
८९.	मिथ्यादृष्टि का दान, पात्र ग्रहण नहीं करता	१७२	२९०-२९५
९०.	मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की महिमा और विशेषता	१७३	२९६
९१.	रात्रि भोजन त्याग का स्वरूप	१७४	२९७-३०३
९२.	पानी छानकर पीना	१७६	३०४-३०६
	गृहस्थ श्रावक के षट्कर्म.		
९३.	षट्कर्म शुद्ध और अशुद्ध के भेद से दो प्रकार के होते हैं	१७७	३०७
९४.	शुद्ध और अशुद्ध षट्कर्म की मान्यता तथा उसका परिणाम	१७७	३०८, ३०९
	अशुद्ध षट्कर्म.		
९५.	अदेव पूजा	१७९	३१०, ३११
९६.	कुगुरु की मान्यता	१८१	३१२, ३१३
९७.	अशुद्ध स्वाध्याय का स्वरूप	१८२	३१४
९८.	अशुद्ध संयम का स्वरूप	१८२	३१५
९९.	अशुद्ध तप का स्वरूप	१८२	३१६
१००.	अशुद्ध दान का स्वरूप	१८३	३१७
१०१.	अशुद्ध षट्कर्म का परिणाम	१८३	३१८, ३१९
	शुद्ध षट्कर्म.		
१०२.	शुद्ध षट्कर्म का स्वरूप	१८४	३२०
१०३.	शुद्ध षट्कर्म के नाम (देवपूजा, गुरु उपासना,	१८४	३२१, ३२२

क्र.	विषय	पृष्ठ	गाथा
	शास्त्र स्वाध्याय, संयम, तप, दान)		
१०४.	देव और देव पूजा का स्वरूप कथन	१८५	३२३-३३९
१०५.	पंच परमेष्ठी पद की आराधना	१९५	३४०-३४५
१०६.	श्रुत पूजा का स्वरूप	२००	३४६
१०७.	चार अनुयोग	२००	३४७
१०८.	प्रथमानुयोग का स्वरूप	२००	३४८, ३४९
१०९.	करणानुयोग का स्वरूप	२०१	३५०-३५३
११०.	चरणानुयोग का स्वरूप	२०२	३५४, ३५५
१११.	द्रव्यानुयोग का स्वरूप	२०३	३५६, ३५७
११२.	चारों अनुयोगों को जानने का फल	२०३	३५८
११३.	श्रेष्ठ सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की आराधना	२०४	३५९-३६४
११४.	पचहत्तर गुणों से देव पूजा की सम्पन्नता	२०७	३६५, ३६६
११५.	गुरु उपासना का स्वरूप	२०८	३६७, ३६८
११६.	स्वाध्याय का स्वरूप	२०८	३६९, ३७०
११७.	संयम का स्वरूप	२०९	३७१, ३७२
११८.	तप का स्वरूप	२१०	३७३
११९.	दान का स्वरूप	२१०	३७४
१२०.	शुद्ध षट्कर्म पालन का परिणाम	२११	३७५-३७७
	मध्यम लिंग देशव्रती सम्यक्दृष्टि श्रावक.		
१२१.	ग्यारह प्रतिमा और पांच अणुव्रत का पालन करने से व्रती श्रावक होता है	२१२	३७८
१२२.	ग्यारह प्रतिमाओं के नाम	२१३	३७९, ३८०
१२३.	पांच अणुव्रतों के नाम	२१४	३८१
१२४.	दर्शन प्रतिमा का स्वरूप (पच्चीस दोष रहित)	२१४	३८२
१२५.	तीन मूढता रहित	२१५	३८३-३८५
१२६.	छह अनायतन रहित	२१५	३८६-३८८
१२७.	आठ मद और आठ शंकादि दोष रहित	२१६	३८९
१२८.	तीन कुज्ञान रहित	२१६	३९०
१२९.	शुद्ध सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र से संयुक्त होने की महिमा	२१७	३९१-३९७
१३०.	सम्यक्दर्शन से रहित व्रत तप संयम तथा अनेक पाठ पढ़ना, अनेक क्रिया करना, दान देना व्यर्थ है	२१९	३९८, ३९९

क्र.	विषय	पृष्ठ	गाथा
१३१.	शुद्ध दृष्टि का जागरण ही सार्थक कार्यकारी है	२२०	४००-४०४
१३२.	व्रत प्रतिमा का स्वरूप	२२२	४०५
१३३.	सामायिक प्रतिमा का स्वरूप	२३१	४०६, ४०७
१३४.	प्रोषधोपवास प्रतिमा का स्वरूप	२३३	४०८-४१४
१३५.	सचित्त प्रतिमा का स्वरूप	२३४	४१५-४१७
१३६.	अनुराग भक्ति प्रतिमा का स्वरूप	२३५	४१८, ४१९
१३७.	ब्रह्मचर्य प्रतिमा का स्वरूप	२३६	४२०-४२५
१३८.	आरम्भ त्याग प्रतिमा का स्वरूप	२३८	४२६-४३१
१३९.	परिग्रह त्याग प्रतिमा का स्वरूप	२४०	४३२
१४०.	अनुमति त्याग प्रतिमा का स्वरूप	२४०	४३३
१४१.	उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा का स्वरूप	२४१	४३४, ४३५
१४२.	ग्यारह प्रतिमा जिन नाम कही	२४२	४३६
१४३.	पंच अणुव्रत के नाम, उनकी पूर्णता	२४३	४३७
१४४.	अहिंसाणुव्रत का स्वरूप	२४३	४३८
१४५.	सत्याणुव्रत का स्वरूप	२४४	४३९
१४६.	अचौर्याणुव्रत का स्वरूप	२४४	४४०
१४७.	ब्रह्मचर्याणुव्रत का स्वरूप	२४४	४४१, ४४२
१४८.	परिग्रह प्रमाण अणुव्रत का स्वरूप	२४५	४४३
१४९.	अणुव्रतों का पालन करने वाला उत्कृष्ट श्रावक होता है	२४५	४४४
	उत्तम लिंग निर्ग्रन्थ वीतरागी साधु.		
१५०.	रत्नत्रय से संयुक्त वीतरागी साधु	२४५	४४५
१५१.	महाव्रती साधु पूर्ण त्रेपन क्रियाओं का पालन करने वाला होता है	२४६	४४६
१५२.	ध्यान योग की साधना	२४६	४४७
१५३.	साधु संयमी होता है	२४८	४४८
१५४.	साधु महाव्रती होता है	२४८	४४९
१५५.	साधु धर्म ध्यान से संयुक्त जिन वचनों का प्रकाश करने वाला होता है	२४८	४५०
१५६.	साधु तीन मिथ्यात्व, तीन कुज्ञान और राग-द्वेषआदि से मुक्त होता है	२४८	४५१
१५७.	साधु स्वयं तरने वाला और भव्य जीवों को तारने वाला होता है	२५०	४५२

क्र.	विषय	पृष्ठ	गाथा
१५८.	मन और भावों की शुद्धता	२५०	४५३
१५९.	रत्नत्रय की साधना से मनः पर्यय ज्ञान की प्राप्ति	२५०	४५४
१६०.	साधु अरिहंत पद का साधक होता है	२५०	४५५, ४५६
१६१.	अरिहंत सर्वज्ञ पद, केवलज्ञान की प्राप्ति	२५१	४५७, ४५८
१६२.	शाश्वत अविनाशी सिद्ध ध्रुव पद की सिद्धि	२५३	४५९
१६३.	शुद्ध सम्यक्त्व सहित जो जीव परमेष्ठी पद की साधना करेंगे वे कर्मों को क्षय करके मोक्षगामी होंगे।	२५३	४६०
१६४.	तीन प्रकार के पात्रों का स्वरूप कहा, जो भव्य जीव अपने ज्ञानमयी ध्रुव स्वभाव की साधना करेंगे वह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष स्वरूप परमेष्ठी पद को प्राप्त करेंगे।	२५३	४६१
१६५.	आनन्द परमानन्द की प्राप्ति हो, मुक्ति मार्ग पर चलकर अविनाशी शाश्वत सिद्ध पद मिले इसी एक उद्देश्य से जिन तारण ने इस श्रावकाचार ग्रंथ की रचना की है।	२५४	४६२
१६६.	ध्रुव तत्व वंदना और सम्यक्दृष्टि का विवेक	२५५	
१६७.	व्रत परिचय (अणुव्रत और महाव्रत)	२५६	
१६८.	पदवी सतक्षरी – तारण पंथ अर्थात् मोक्षमार्ग की आध्यात्मिक साधना पद्धति का विधान	२५७	
१६९.	साधक की स्थिति	२५८	
१७०.	रत्नत्रय सिद्धांत सूत्र	२५९-२६८	
१७१.	आध्यात्मिक भजन	२६९-२८६	
१७२.	तारण की जीवन ज्योति : संक्षिप्त परिचय	२८७-२९८	

मन के अन्दर ही भगवान् पूर्णानन्द का नाथ विराजमान है। वह सर्वोत्कृष्ट आश्चर्यकारी है। वह सर्वोत्कृष्ट परमेष्ठी है। अपरिमित, अमर्यादित, ज्ञान दर्शन आदि अनन्त शक्तियों का पिंड सर्वोत्कृष्ट आत्मा है। ऐसे महिमामय निज तत्व को जो दृष्टि स्वीकार करती है वह शुद्ध दृष्टि है।

कल्याण

ध्रुव तत्व शुद्धातम हूँ मैं, इसका ज्ञान श्रद्धान किया।
त्रिकाली पर्याय क्रमबद्ध, इसको भी स्वीकार लिया ॥
ज्ञायक ज्ञान स्वाभावी चेतन, खुद आतम भगवान है।
ममल स्वभाव में लीन रहो, बस इसमें ही कल्याण है ॥

वस्तु स्वरूप सामने देखो, शुद्ध तत्व का ध्यान धरो।
पर पर्याय तरफ मत देखो, कर्मोदय से नहीं डरो ॥
ध्रुव तत्व की धूम मचाओ, पाना पद निर्वाण है।
ममल स्वभाव में लीन रहो, बस इसमें ही कल्याण है ॥

सिद्धोहं सिद्ध रूपोहं का, शंखनाद जयकार करो।
अभय स्वस्थ मस्त होकर के, साधु पद महाव्रत धरो ॥
अब संसार तरफ मत देखो, सब ही तो श्मशान है।
ममल स्वभाव में लीन रहो, बस इसमें ही कल्याण है ॥

ज्ञेय मात्र सब ही भ्रांति है, भावक भाव भ्रम जाल हैं।
पर्यायी अस्तित्व मानना, यही तो सब जंजाल है ॥
निज सत्ता स्वरूप को देखो, कैसा सिद्ध समान है।
ममल स्वभाव में लीन रहो, बस इसमें ही कल्याण है ॥

छहों खंड चक्रवर्ती राजा, तीर्थकर महावीर हुए।
कौन बचा है यहां बताओ, राम कृष्ण भी सभी हुए ॥
अजर अमर अविनाशी चेतन, ज्ञायक ज्ञान महान है।
ममल स्वभाव में लीन रहो, बस इसमें ही कल्याण है ॥

श्री श्रावकाचार जी

जयमाला

१. देवों के जो देव परम जिन, परमात्म कहलाते हैं ।
नमन सदा हम करते उनको, जो सत्मार्ग बताते हैं ॥
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण ही, मुक्ति का आधार है ।
सावधान अपने में रहना, यही श्रावकाचार है ॥
२. भेदज्ञान से स्व-पर जाना, वह अव्रत सम दृष्टि है ।
पाप विषय कषाय में रत है, अभी जगत में गृहस्थी है ॥
अन्याय अनीति अभक्ष्य का त्यागी, वह नर जग सरदार है ।
सावधान अपने में रहना, यही श्रावकाचार है ॥
३. जो पच्चीस मलों का त्यागी, शुद्ध सम्यक्त्वी होता है ।
अठदश क्रिया का पालन करता, विषय-कर्ममल धोता है ॥
सप्त भयों से मुक्त हो गया, निःशंकित सदा उदार है ।
सावधान अपने में रहना, यही श्रावकाचार है ॥
४. श्रद्धा विवेकक्रिया का पालक, वह श्रावक कहलाता है ।
द्वादशांग का सार जानता, धर्म-कर्म बतलाता है ॥
उपाध्याय पदवी का धारी, रहा न मायाचार है ।
सावधान अपने में रहना, यही श्रावकाचार है ॥
५. धर्मध्यान व्रत संयम करता, मक्ति का अभिलाषी है ।
दृष्टि में शुद्धात्म दिखता, अभी जगत का वासी है ॥
परमार्थ में रुचि लगी है, खलता अब घरद्वार है ।
सावधान अपने में रहना, यही श्रावकाचार है ॥
६. षट् आवश्यक शुद्ध पालता, मुक्ति के जो कारण हैं ।
व्यर्थ आडम्बर छूट गया सब, उसके सद्गुरु तारण हैं ॥

सहजानंद में रत रहता है, शुद्ध आचार-विचार है ।
सावधान अपने में रहना, यही श्रावकाचार है ॥

७. ज्ञानानंद स्वभाव का रुचिया, अब व्रत प्रतिमा धरता है ।
पंच अणुव्रत ग्यारह प्रतिमा, निजहित पालन करता है ॥
ख्याति लाभ पूजादि चाह का, जहाँ न अंश विकार है ।
सावधान अपने में रहना, यही श्रावकाचार है ॥
८. शक्ति अनुसार मार्ग पर चलता, निस्पृह जगत उदासी है ।
अपने में आनन्दित रहता, वह शिवपुर का वासी है ॥
ब्रह्मचर्य रत रहता हरदम, सम्यक् ही व्यवहार है ।
सावधान अपने में रहना, यही श्रावकाचार है ॥
९. निश्चय व व्यवहार शाश्वत, दोनों का ही ज्ञाता है ।
त्रेपन क्रियाओं का पालक, आचार्य पदवी पाता है ॥
निश्चय धर्म शुद्ध आत्म ही, जिसका एक आधार है ।
सावधान अपने में रहना, यही श्रावकाचार है ॥
१०. धर्म ध्यान में रत रहता है, अनुमति उद्दिष्ट का त्यागी है ।
निश्चय नय की साधना करता, शुद्धात्म अनुरागी है ॥
साधू पद धारण करने को, अन्तर में तैयार है ।
सावधान अपने में रहना, यही श्रावकाचार है ॥

दोहा

सम्यक्दृष्टि ज्ञानी का, सम्यक् हो व्यवहार ।
कथनी करनी एक सी, जिनवाणी अनुसार ॥
तारण स्वामी रचित यह, ग्रन्थ श्रावकाचार ।
सही सही पालन करो, हो जाओ भव पार ॥

अध्यात्म का शंखनाद

प्रथम युग चेतना के प्रणेता, जन - जन में अध्यात्म और स्वतंत्रता का शंखनाद कर भारतीय जनमानस के लिये आत्मकल्याण का सर्वश्रेष्ठ पथ प्रशस्त करने वाले शुद्धात्मवादी वीतरागी संत आचार्य प्रवर श्रीमद् जिन तारण तरण मण्डलाचार्य जी महाराज सोलहवीं सदी में हुए महान आध्यात्मिक क्रांतिकारी संत थे। विक्रम संवत् १५०५ की मिति मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमी को पिताश्री गढ़ाशाह जी, माताश्री वीरश्री देवी के घर जन्म लेकर उन्होंने भारतीय वसुन्धरा को पवित्र किया। ११ वर्ष की अवस्था में आत्मबोध सम्यक्दर्शन सहित अपने आत्मकल्याण का पथ प्रारंभ किया, पश्चात् २१ वर्ष की उम्र में ब्रह्मचर्य व्रत, ३० वर्ष की उम्र में ब्रह्मचर्य प्रतिमा एवं ६० वर्ष की आयु में निर्बिध दिगम्बर जिन दीक्षा धारण कर जिनशासन की आचार्य परंपरा को सुशोभित किया।

उनका जीवन ग्रंथों की गाथा मात्र नहीं है बल्कि ज्ञान और संयम की प्रयोगशाला एवं चारित्र्यमय प्रकाश स्तंभ है। उनके द्वारा विरचित चौदह ग्रंथ युगों - युगों तक आत्मार्षी जिज्ञासु साधकों के लिये आत्म साधना का पथ प्रशस्त करते रहेंगे।

सोलहवीं शताब्दी का समय, धर्म और देवपूजा के नाम पर बाह्य आडम्बर, क्रियाकांड और प्रपंच के अंधकार से पूर्ण था, भट्टारक रागपूर्ण क्रियाओं को धर्म कहते थे, जड़पूजा को देवपूजा सिद्ध कर रहे थे, सत्य धर्म का लोप करके वीतराग धर्म को हास की ओर ले जा रहे थे, ऐसे समय में श्रीजिन तारण स्वामी ने सूर्य की तरह उदित होकर आध्यात्मिक क्रांति कर जनमानस को आत्मकल्याण का यथार्थ मार्ग बताया कि वीतरागी तीर्थकर भगवंतों की शुद्धात्मनाय में वीतरागता और स्वाश्रय की प्रमुखता है। जिनेन्द्र के मत में द्रव्य की स्वतंत्रता, पुरुषार्थ से मुक्ति की प्राप्ति की देशना है। एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य का कुछ करता नहीं है, एक ही द्रव्य की एक पर्याय, दूसरी पर्याय की कर्ता नहीं है, पराधीनता और पराश्रितपने से

कल्याण होने वाला नहीं है। अपने चैतन्य लक्षण स्वभाव की पहिचान करना ही धर्म है। आत्मधर्म ही सत्य धर्म है। यही धर्म, समस्त कर्म बन्धनों से मुक्त करने वाला है क्योंकि शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से चैतन्य लक्षण रूप आत्मधर्म समस्त कर्मों से रहित है इसलिये शुद्ध स्वभाव, धर्म के आश्रय से ही आत्मकल्याण मुक्ति होती है। यह जिनवाणी का मर्म, सत्य वस्तुस्वरूप तीर्थकर भगवंतों की दिव्य देशना का साव है। जब इतना सूक्ष्म और यथार्थ निर्णय अनाद्यन्त सिद्धांत मुक्ति का आधार हमें भगवान ने बतलाया है; फिर जैन दर्शन में किसी की पराधीनता, परतंत्रता, परावलंबपने का स्थान ही कहाँ है? अपने आत्मस्वरूप के श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रूप रत्नत्रय की एकता ही शाश्वत मोक्षमार्ग है। ऐसी सत्य वस्तुस्वरूप की देशना सुनकर लाखों भव्य जीव जाति-पांति के बन्धनों से परे होकर अपने कल्याण के मार्ग में अबसर होने लगे। इसको सहन नहीं कर पाने के कारण भट्टारकीय प्रपंच ने षडयंत्र का रूप धारण किया और श्रीजिन तारण स्वामी को जहर दिया गया, बेतवा नदी में डुबाया गया जहां तीन बार अलग-अलग स्थानों पर डुबाने से तीन टापू बन गये, अंत में इस आध्यात्मिक क्रांति ने तारण पंथ का रूप धारण कर लिया।

तारण पंथ अर्थात् संसार से तरने का मार्ग और वह रत्नत्रय सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य की एकता रूप। यह मोक्षमार्ग ही तारणपंथ है। तारणपंथ कोई चहारदीवारी, मत या सम्प्रदाय नहीं है। संसार सागर से तरने का मार्ग ही तारणपंथ है। ऐसा महिमामय आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त कर श्रीगुरुदेव ने हम सभी जीवों पर अनन्त-अनन्त उपकार किया है। भारत कृतज्ञ है कि उसकी गोदी में ऐसा महानतम नक्षत्र ककणा और ज्ञान का संदेश लेकर आया तथा अपनी महानता से भारत को महान बना गया। जैन जगत भी धन्य-धन्य है कि जन-जन में सम भाव, स्नेह, ककणा, समता और संयम का कीर्तिमान उपस्थित करने वाले संत आचार्य श्रीजिन तारण स्वामी अपने आपमें अनूठे महापुरुष हुए। उनका चारित्र्य इतना भव्य था, उनकी वाणी अध्यात्म रस से ओतप्रोत

और इतनी सशक्त थी कि वर्षों से अध्यात्म अमृत वसमय आत्मोन्नति का पथ प्रशस्त करती आ रही है और करती रहेगी।

श्रीगुरु महाराज के चौदह ग्रंथों में से अध्यात्म शिरोमणी पूज्यश्री स्वामी ज्ञानानंदजी महाराज ने श्री मालारोहण जी, पंडितपूजा जी, कमलबत्तीसी जी, श्रावकाचार जी, त्रिभंगीसार जी, उपदेशशुद्धसार जी ग्रंथ की टीकायें, चौदह ग्रंथ जयमाल आदि सृजित कर सभी भव्य जीवों पर महान उपकार किया है जिसे शब्दों की सीमाओं में बांधा जाना संभव नहीं है। अध्यात्मरत्न बाल ब्र. पूज्य श्री बसन्त जी महाराज ने देव गुरु शास्त्र पूजा, अध्यात्म आराधना षट् आवश्यक कर्म भाव पूजा, रत्नत्रय आराधना, बारह भावना हमें प्रदान कर हमारी भाव पूजा के मार्ग को प्रशस्त किया है।

पूज्य गुरुदेव की मंगलमय जनकल्याणकारी वाणी को जन-जन में पहुंचाने के लिये तारण तरण श्रीसंघ कृत संकल्पित है। इस हेतु भ्रमण तथा शिविर कार्यक्रम एवं श्री तारण तरण अध्यात्म प्रचार योजना केन्द्र भोपाल, ब्रह्मानन्द आश्रम पिपरिया, महात्मा गोकुलचन्द समैया तारण साहित्य प्रकाशन समिति जबलपुर आदि स्थानों से तथा अन्य दान दाताओं के सहयोग से साहित्य प्रकाशन कर संपूर्ण देश में प्रचार-प्रसार करके गुरुवाणी की अलख जगाई जा रही है। हमारा एक ही उद्देश्य है- "गुरुवाणी को घर-घर में पहुंचाना है" इसके लिये विभिन्न आयामों से गुरुवाणी का प्रचार-प्रसार करने की भावना है। यह सब निःस्वार्थ भाव से सहज ही हो रहा है।

सभी जीव इन टीका ग्रंथों का स्वाध्याय मनन करके सत्य धर्म की समझ जगाकर अपने आत्मकल्याण का पथ प्रशस्त करें यही पवित्र भावना है।

बीना

दिनांक-३.५.२०००

बाल ब्र. उषा जैन एम. ए.

संयोजिका

तारण तरण श्रीसंघ

अध्यात्म जागरण : एक अनुपम उपलब्धि

परम वीतरागी तीर्थंकर भगवान श्री महावीर स्वामी की वीतरागता सम्पन्न शुद्धाम्नाय में जिनवाणी के जिस परम श्रुतलेखन का सूत्रपात आचार्य द्वय पूज्यवर भूतबली पुष्पदंत जी महाराज ने किया था, आगम की इस शाखा का उद्योतन करने वाले इन आचार्य भगवन्तों के साथ ही, प्रखर अध्यात्म शैली के श्रुत विभाग का सृजन करने वाले महान आचार्य श्री कुन्द-कुन्द देव, अमृतचन्द्राचार्य देव, आचार्य योगीन्दुदेव आदि ज्ञानी महापुरुषों ने वीर प्रभु से प्राप्त अनाद्यनन्त ज्ञानमार्ग, आध्यात्मिक साधना, वीतराग धर्म की अक्षुण्ण परम्परा को, स्वयं उस मार्ग पर चलते हुए प्रकाशित किया था।

इन महापुरुषों ने आत्मानुभव से जाना कि आत्मा स्वभाव से शुद्ध ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यमय परमात्म स्वरूप है। यह आत्मा रागद्वेषादि भाव कर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म एवं शरीरादि नो कर्म से भिन्न है। इसी रत्नत्रयमयी आत्म समाधि के द्वारा अपने को बंधन रहित मुक्त करके परमानंद में स्थापित किया जाता है। ज्ञान गरिमामय इस आचार्य परम्परा में परम पूज्य जिन शासन धर्म प्रभावक, जैन दर्शन के प्रखर अनुभवी, सर्वार्थ सिद्धि में विराजित शुद्धात्मवादी रत्नत्रय विभूषित परम वीतरागी आचार्य प्रवर श्रीमद् जिन तारण तरण मण्डलाचार्य जी महाराज का नाम अग्रगण्य है, जो यथा नाम तथा गुण के अनुरूप शोभायमान हो रहा है। श्री गुरु महाराज ने अपनी आत्म साधना के अंतर्गत पांच मतों में चौदह ग्रंथों की रचना की है।

परम पूज्य गुरुदेव द्वारा रचित यह श्री तारण तरण श्रावकाचार जी ग्रंथ आचार मत का ग्रंथ है। अव्रती सम्यक्दृष्टि की चर्या, देशव्रती श्रावक का आचरण इस ग्रंथ का मूल प्रतिपाद्य विषय है। ग्रंथ के अंत में साधु पद अरिहन्त एवं सिद्ध पद का संक्षिप्त स्वरूप बतलाया गया है। आचार्य तारण स्वामी जी द्वारा रचित ग्रंथों में से श्री मालारोहण जी, पंडितपूजा जी, कमलबत्तीसी जी, त्रिभंगीसार जी, उपदेश शुद्धसार जी ग्रंथों की भावप्रवण टीकायें वर्तमान समय के ज्ञानयोगी, अध्यात्म शिरोमणी पूज्य श्री ज्ञानानन्द जी महाराज द्वारा की गई हैं। इसी श्रृंखला में पूज्य श्री द्वारा अनूदित श्री तारण तरण श्रावकाचार जी ग्रंथ की अध्यात्म जागरण टीका अध्यात्म

भाव पूर्ण सिद्धांत साधना सम्पन्न, वस्तु स्वरूप का यथार्थ परिज्ञान कराने वाली अपने आपमें अद्वितीय टीका है। श्री गुरुदेव जिन तारण स्वामी ने यह ग्रंथ मोक्षमार्ग बनाने के लिये, कर्मों को क्षय करने और एक मात्र मुक्ति को प्राप्त करने के लक्ष्य से लिखा है। जैसा कि ४६२ वीं गाथा में उन्होंने स्वयं कहा है-

“एकोदेस उवदेसं च, जिन तारण मुक्ति पथं श्रुतं”

ग्रंथ के भाव के अनुरूप यह कृति अध्यात्म जागरण टीका एक ऐसी अनुपम कृति है, जिसमें टीकाकार ने अब्रती श्रावक की अवस्था से मोक्ष तक का मार्ग किस प्रकार बनता है, इसका साधना परक अनुभवगम्य मार्मिक अंशों का विषय बार निरूपण किया है; इसलिये यह टीका ग्रंथ अध्यात्म के रुचिवान भव्य जीवों के लिये परम हितकारी है। इस ग्रंथ में श्रावक के लिये षट्कर्मों का विशिष्ट मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया गया है, यह विवेचन अभी तक किसी भी श्रावकाचार में पढ़ने को नहीं मिला। इस विषय के अंतर्गत आवश्यक षट्कर्मों को शुद्ध और अशुद्ध- दो प्रकार से भेद करके समझाकर मुमुक्षुजनों के लिये आत्महित का पथ प्रशस्त कर दिया है।

श्रावक के प्रथम आवश्यक कर्म देवपूजा के संबंध में तारण पंथी मोक्षमार्गी श्रावक द्वारा पचहत्तर गुणों पूर्वक की जाने वाली देवपूजा का अलौकिक स्वरूप ४३ गाथाओं में बताया गया है, जिससे यह स्पष्ट हो गया है कि श्री जिनेन्द्र भगवान की कही हुई वे छह क्रियायें ही यथार्थ हैं जो शुद्धात्मा की ओर ले जावें, जिनागम परम पूज्य आचार्य ऋषियों के द्वारा निर्मापित है, इसका मूल स्रोत तीर्थंकर परमात्मा का उपदेश है।

सच्चे गुरु ही सन्मार्ग दर्शक होते हैं इसलिये सच्चे गुरु और कुगुरु का स्वरूप बताते हुए कुगुरु से बचने की प्रेरणा देते हुए लिखा है कि जो जिनेन्द्र परमात्मा के वचनों का लोप करके अर्थ का अनर्थ कर उपदेश करते हैं, वीतराग विज्ञानमयी धर्म को न तो वे स्वयं पालते हैं, न दूसरों को उस मार्ग पर ले जाते हैं, वे कुगुरु पाषाण नौका के समान हैं, जो स्वयं डूबते हैं और बैठने वालों को भी डुबाते हैं।

शुद्ध षट्कर्म में जो देवपूजा का स्वरूप बतलाया है वह कितना विशेष है और लोग पूजा के नाम पर आज जिस मार्ग में बेतहासे भागे जा रहे हैं वह समझने योग्य है, जो देवों के अधिपति सौ इन्द्रों से भी पूज्य हैं वह देव हैं। व्यवहार से अरिहन्त सर्वज्ञ परमात्मा जो वीतरागी हितोपदेशी हैं वे सच्चे देव हैं और निश्चय से आत्मा

का शुद्ध स्वरूप है, ऐसा निज शुद्धात्म तत्त्व ही सच्चा देव है, जो इष्ट और प्रयोजनीय है। टीकाकार ने उन षट्कर्मों की क्रियाओं को शुद्धात्मा की साधना में हेतु और परम्परा से मोक्ष का कारण बने, यह अनुपम बात लिखकर टीका ग्रंथ को सजीवता प्रदान कर दी है। आगे स्पष्ट किया है कि जिन सिद्धांत जैन दर्शन में कोई परमात्मा किसी का कुछ नहीं करता, वस्तु का स्वतंत्र परिणमन, पुरुषार्थ से मुक्ति की प्राप्ति, कर्तृत्व का अभाव, ज्ञातृत्व शक्ति का जागरण जैन आगम का मूल आधार है।

जैन दर्शन में अनेकों श्रावकाचार प्रचलित हैं उन सबके मध्य तारण तरण श्रावकाचार ग्रंथ जाज्वल्यमान मणिरत्न की तरह शोभा को प्राप्त है।

आत्मा के पांच पद-अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु यह देव के पांच गुण पांच परमेष्ठी हैं, जो अपने आत्म स्वरूप में शक्ति रूप से विद्यमान हैं, जो पूज्यता की अपेक्षा से प्रसिद्ध हैं। इन पांच पदों की प्रगटता के लिये ग्रंथ में आत्म साधना की प्रमुखता से उपाध्याय, आचार्य, साधु, अरिहन्त और सिद्ध पदवी का दुर्लभ विश्लेषण किया गया है जो जैनागम में अद्वितीय प्रसंग है।

गुरुदेव तारण स्वामी इस सहस्राब्दी में हुए साधना ज्ञान और प्रभावना के क्षेत्र में वीतरागी व्यक्तित्व से सम्पन्न अनूठे संत थे। इस ग्रंथ में एक ओर सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र में दृढ़ता पूर्वक प्रवृत्ति करने की आत्मीय भावना पूर्ण प्रेरणा श्री गुरु महाराज के वात्सल्य भाव को व्यक्त करती है, तो दूसरी ओर धर्माचरण में शिथिलता, अतिचारपूर्ण चर्या का उन्मूलन करने हेतु सैद्धांतिक निर्णय की दृढ़ता पूज्य गुरुदेव के आध्यात्मिक अनुशासन का प्रतीक है, यह विशेषता विरले ही ज्ञानी सद्गुरुओं में होती है।

इस टीका ग्रंथ का सभी आत्मारथी जिज्ञासु भव्य जीव गहराई से अध्ययन, मनन कर अंतर में विद्यमान अपने आत्मदेव का दर्शन कर परम्परा से मोक्ष को प्राप्त होवें, इस पावन भावना सहित पूज्य गुरुदेव एवं पूज्य श्री के चरणों में नमन कर विराम लेता हूँ।

पं. राजेन्द्रकुमार जैन

संयोजक

अखिल भारतीय तारण तरण जैन

विद्वत् परिषद्, अमरपाटन (म.प्र.)

दिनांक-८.२.२००१

धर्म दिवाकर : चिंतन सूत्र

१. हे भव्य ! तू भेदज्ञान के बल से आत्मज्ञान प्राप्त करके उसी में रमण कर, ऐसा करने से ध्यान में प्रीति होगी और तेरे परिणाम सिद्धि अर्थात् सफलता को प्राप्त होंगे ।

२. धर्म या मोक्षमार्ग कहीं बाहर नहीं है, आत्मा में ही है व आत्मीक अनुभव से ही वह प्राप्त होता है यही जिन सिद्धांत है ।

३. अपने मन की चंचलता और राग-द्वेष, मोह की प्रबलता तथा संकल्प- विकल्प मन में बने रहना इत्यादि मात्र मन के दोषों के कारण ही यह प्राणी संसार में जन्म-मरण कर रहा है ।

४. आत्मानन्द प्राप्त होने पर संसार भ्रमण का कारण जो दर्शनमोहनीय कर्म तथा संकल्प-विकल्प, मिथ्यात्व, कुज्ञान आदि जितने भी कारण हैं वे सब दूर हो जाते हैं ।

५. आत्म प्रकाश की स्वाभाविक दृष्टि का यह महात्म्य है कि उसके प्रकाश में इष्ट स्वभाव जाग्रत हो जाता है अर्थात् उसकी स्वाभाविक परिणति इष्ट कहिये कल्याण रूप हो जाती है; जबकि आत्म प्रकाश के अभाव में मनुष्य की समस्त परिणतियां चाहे वे पापरूप हों या पुण्यरूप सभी शुभाशुभ बंध करके संसार भ्रमण के कारण स्वरूप रहती हैं ।

६. शास्त्र ज्ञान मात्र से मुक्ति नहीं मिलती, शास्त्र ज्ञान से जब वैराग्य भावनायें जाग्रत होकर आत्मानन्द झलकने लगता है तब ज्ञान, भेदज्ञान कहलाता है, यही भेदज्ञान मुक्ति प्रदायक होता है ।

७. नाशवान संसार की चिंताओं को छोड़कर आत्म कल्याण की चिंता करो, आत्म कल्याण का मार्ग एक मात्र आत्म ध्यान ही है ।

८. जिस ज्ञानी पुरुष को श्री अरिहंत का उपदेश हृदयंगम हो जाता है, वह उस उपदेश रूपी सरोवर में मग्न हो जाता है और स्वयं की आत्मा को उपदेश रूप बना लेता है तथा अपनी ही आत्मा में उत्पन्न हुए उपदेश रूपी सरोवर में रमण करता है, वह ज्ञानी आनंद का भोग करता हुआ मुक्ति को प्राप्त कर लेता है ।

शिवराजपुर (सतना)

दिनांक- २९ जनवरी २००१

संकलन

बाल ब्र. शांतानन्द

चरणानुयोग-

सम्यक् आचरण की सम्यक् प्रेरणा

श्रीमद् जिन तारण स्वामी जी के द्वारा उपदिष्ट पञ्चमतों में आचार मत की सम्यक् व्याख्या श्री श्रावकाचार ग्रंथ में विस्तार पूर्वक की गई है । सांसारिक जीवन में आत्मानुशासन, इन्द्रिय निग्रह और सदाचार- संसार से पूर्ण निवृत्ति या अनगार साधना का प्रथम सोपान है । श्रावक का साधक जीवन श्रावकाचार से ही प्रारंभ होता है ।

श्री गुरुदेव ने श्री श्रावकाचार जी ग्रंथ में दो प्रकार के चारित्र की चर्चा विशेष रूप से की है- १. भावात्मक २. क्रियात्मक । जैसे- जल छानने की विधि के पूर्व आचार्य श्री अपने परिणामों (भावों) को छानकर विशुद्ध करने की साधक को प्रेरणा प्रदान करते हैं । जल छानकर पान करना शारीरिक स्वास्थ्य और व्यवहार चारित्र के लिये आवश्यक है, जिससे संयम और स्वास्थ्य की रक्षा होती है, इसी प्रकार परिणामों की विशुद्धता से अध्यात्म की अन्तर्मुखी यात्रा का मार्ग प्रशस्त होता है । श्रावक से साधक बनने के उपायों को प्रस्तुत ग्रंथ में सरलता के साथ स्पष्ट किया गया है ।

ग्रंथ के यशस्वी टीकाकार अध्यात्म शिरोमणी पूज्य श्री ज्ञानानन्द जी महाराज वयोवृद्ध और ज्ञानवृद्ध के साथ ही तपोनिष्ठ भी हैं । उनके द्वारा स्वान्तः सुखाय के लिये किये गए इस कार्य से प्रत्येक जीव की आध्यात्मिक यात्रा का मार्ग सम्यक् रूपेण प्रशस्त हो यही मंगल भावना है ।

ग्रंथ के कुशल संपादन और सुंदर प्रकाशन में अध्यात्म रत्न बाल ब्र. श्री बसन्त जी का मनोयोग पूर्ण सतत् प्रयत्न प्रशंसनीय है ।

राजेन्द्र सुमन

संपादक- तारण ज्योति

(मासिक)

खिंगोड़ी, (छिन्दवाड़ा) म. प्र.

दिनांक १४.३.२००१

ॐ नमः सिद्धं

तारण तरण श्रावकाचार**अध्यात्म जागरण-टीका****मंगलाचरण****चेतना लक्षणं आनन्द कन्दनं, वन्दनं वन्दनं वन्दनं वन्दनं ॥**

शुद्धातम हो सिद्ध स्वरूपी ।

ज्ञान दर्शन मयी हो अरूपी ॥

शुद्ध ज्ञानमयं चैयानन्दनं, वन्दनं वन्दनं वन्दनं वन्दनं.....

द्रव्य नो भाव कर्मों से न्यारे ।

मात्र ज्ञायक हो इष्ट हमारे ॥

सुसमय चिन्मयं निर्मलानन्दनं, वन्दनं वन्दनं वन्दनं वन्दनं.....

पंच परमेष्ठी तुमको ही ध्याते ।

तुम ही तारण तरण हो कहाते ॥

शाश्वतं जिनवरं ब्रह्मानन्दनं, वन्दनं वन्दनं वन्दनं वन्दनं.....

दोहा**ध्रुव शुद्ध निज आत्मा, ममलह ममल स्वभाव ।****अनुभव मे' आवे तभी, मिटते सभी विभाव ॥****पूर्ण शुद्ध हूँ सिद्ध सम, यह प्रतीति है धर्म ।****सद्गुरु को वन्दन करूँ, मिटे सभी भव भर्म ॥****मंगलाचरण****देव देवं नमस्कृतं, लोकालोक प्रकासकं ।****त्रिलोकं भुवनार्थं जोति, उवंकारं च विन्दते ॥ १ ॥**

अन्वयार्थ- (उवंकारं च विन्दते) ऊँकार स्वरूप पंच परमेष्ठी जिसका अनुभव करते हैं (लोकालोक प्रकासकं) जो लोकालोक को प्रकाशित करने वाला (त्रिलोकं भुवनार्थं जोति) तीन लोक में ज्ञानमयी सूर्य समान ज्योति है (देव देवं नमस्कृतं) ऐसे देवों के देव निज शुद्धात्म तत्व को नमस्कार करता हूँ ।

विशेषार्थ- ॐ शुद्ध सत्ता चैतन्य ज्योति परम ब्रह्म परमात्म स्वरूप को कहते

हैं, ॐकार उन्हें कहते हैं जिन्होंने उस सत्ता स्वरूप को उपलब्ध कर लिया है या करने वाले हैं; क्योंकि उन्होंने उस सत्तास्वरूप को जान लिया है, इसमें पंच परमेष्ठी अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु आते हैं जो उस सत्तास्वरूप का वेदन-अनुभव करते हैं ।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि शुद्ध सत्तास्वरूप चैतन्य तत्व निज शुद्धात्मा को तो चतुर्थ, पंचम गुणस्थानवर्ती सम्यक्दृष्टि व्रती-अव्रती श्रावक ने भी जान लिया है, वह भी उसका अनुभव करते हैं, फिर यहाँ पंच परमेष्ठी को ही क्यों लिया, उनको भी क्यों नहीं लिया ?

उसका समाधान करते हैं कि चौथे पाँचवें गुणस्थानवर्ती श्रावक ने भी शुद्ध सत्ता निज चैतन्य तत्व को जान लिया है, अनुभव में आ गया है पर वह निरन्तर अनुभव नहीं करते और न कर सकते हैं क्योंकि अभी वे अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान कषाय के आवरण से युक्त हैं तथा मोह-राग का सद्भाव है, कर्म संयोगी दशा में रह रहे हैं, पाप परिग्रह में लगे हैं इसलिये वह अपने शुद्धात्म स्वरूप का निरन्तर अनुभव नहीं करते । जो वीतरागी निर्ग्रन्थ महाव्रती छटे-सातवें गुणस्थानवर्ती साधु हैं, वही इसका अनुभव करते हैं, उस श्रेणी में उपाध्याय आचार्य आते हैं । अरिहन्त और सिद्ध तो स्वयं परमात्मा हैं वह तो निरन्तर उसी मय हैं ।

अब वह शुद्ध सत्ता स्वरूप कैसा है ? लोकालोक को प्रकाशित करने वाला अर्थात् देखने जानने वाला है । केवलज्ञान की एक समय की पर्याय में समस्त लोकालोक प्रत्यक्ष जानने में आता है, यह उसकी शक्ति है । और कैसा है ? तीन लोक में ज्ञानमयी सूर्य समान प्रकाशमान ज्योति पुंज है अर्थात् ज्ञानमयी जीव तत्व ही ऐसी शक्ति है जिसके कारण जगत के छहों द्रव्य देखने जानने में आते हैं और तीनों लोक का परिणमन भी उसी की सत्ता शक्ति से चलता है ।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि इससे तो तीन लोक का परिणमनकर्ता जीव तत्व कहो या परमात्मा कहो एक शक्ति ही हो गई, इससे तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता हो गया तथा अन्यमती का एक सत्ता कर्तावाद का पोषण हो गया ?

उसका समाधान करते हैं कि इस तत्व को समझने के लिये जगत के स्वरूप को जानना होगा । छह द्रव्यों के समूह को विश्व या जगत कहते हैं । वह छह द्रव्य-जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल हैं । जिनमें एक चेतन और पाँच अचेतन हैं तथा पुद्गल-स्पर्श रस गंध वर्ण वाला रूपी पदार्थ है और अन्य पाँच

अरूपी हैं तथा जीव अनंत, पुद्गल अनंतानंत, धर्म एक, अधर्म एक, आकाश एक और काल असंख्यात कालाणु हैं। इसमें विशेष बात जो समझने की है वह यह है कि जीव के विभाव परिणमन से पुद्गल परमाणु स्कन्ध रूप तथा कर्म वर्णारूप होता है, ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है और छहों द्रव्य का एक क्षेत्रावगाह संयोग संबंध अनादिकाल से है। जीव में तथा पुद्गल में ही स्वभाव-विभाव रूप परिणमन करने की शक्ति है बाकी चार द्रव्य तो अपने स्वभावमय त्रिकाल शुद्ध ही हैं।

अब कहो कि यह जीव के विभाव रूप परिणमन के कारण ही तीन लोक का परिणमन चल रहा है या अपने आप चल रहा है ?

इसमें एक विशेष महत्वपूर्ण समझने की ध्यान में रखने की बात यह है कि जगत में जो अनंत जीव हैं, यह अनादि से विभाव रूप ही हैं इन्हें अपने स्वभाव का, स्वसत्ता शक्ति का पता ही नहीं है। जिन्हें अपने स्वभाव सत्ता शक्ति का पता लग जाता है वह स्वयं सिद्ध हो जाते हैं। उनका संसार का जन्म-मरण का चक्र छूट जाता है। यहां जीव तत्व की शक्ति अपेक्षा बात की जा रही है कि जीव की शक्ति से ही तीन लोक ज्योतिर्मय प्रकाशित हो रहा है।

ऐसा जीव तत्व निज शुद्धात्मा जो देवों का देव अर्थात् सौ इन्द्र, देवता गण जिसकी सेवा नमस्कार वंदना करते हैं। जब केवलज्ञान होता है तो सौ इन्द्र और तीन लोक से वन्दनीय तीर्थकर परमात्मा होते हैं और जो जीव जाग जाता है, जिसे अपने सत्ता स्वरूप का बोध हो जाता है, उसकी भी वन्दना सेवा भक्ति तीन लोक और देवता भी करते हैं; तो ऐसे जीव तत्व निज शुद्धात्म स्वरूप को मैं नमस्कार करता हूँ क्योंकि यही मुझे इष्ट और प्रयोजनीय है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि यह तो श्री तारण स्वामी ने लौकिक व्यवहार के विरुद्ध कार्य किया क्योंकि जिस देव, गुरु, शास्त्र के माध्यम से उन्हें अपने सत्ता स्वरूप का बोध हुआ था, पहले उन्हें नमस्कार करना चाहिये फिर जो अपना इष्ट था उसकी साधना आराधना करते ?

उसका समाधान है कि जैसे कोई पथिक अपने स्वस्थान का मार्ग भूलकर भटक रहा हो और कोई सज्जन पुरुष उसे उसके स्थान का मार्ग बता दे और वह पथिक उस मार्ग पर चलकर अपने गन्तव्य स्थान को पहुँच जावे तो वह क्या करता है ? सबसे पहले तो वह स्वस्थान के लक्ष्य और मार्ग का स्मरण रखता है और सावधानी पूर्वक अपने गन्तव्य की ओर चलता है। कभी-कभी मार्ग बताने वाले का

भी स्मरण कर लेता है। उसका बहुमान-सम्मान करता है परन्तु मुख्यता तो अपने लक्ष्य की ही रखता है। इसी प्रकार मुक्तिमार्ग के पथिक साधक अपने लक्ष्य, अपने इष्ट का ही ध्यान रखते हैं और इस मार्ग पर चलने की सावधानी निरन्तर वर्तते हैं। मुक्ति का मार्ग क्या है ? इसे तत्त्वार्थ सूत्र में आचार्य उमास्वामी ने बताया है- जो जैन दर्शन का मूल आधार है- **सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः**। निज शुद्धात्म तत्व की अनुभूति सम्यक्दर्शन, निज सत्ता शक्ति का ज्ञान सम्यक्ज्ञान और निज स्वभाव में रमणता, स्थिरता ही सम्यक्चारित्र है और यही मुक्ति का मार्ग है; तो जो अध्यात्म का साधक है जिसे अपने शुद्धात्म तत्व की अनुभूति हो गई है, वह तो अपने इष्ट निज शुद्धात्म स्वरूप की ही साधना-आराधना वन्दना भक्ति करेगा। उसका लक्ष्य और इष्ट तो वही एक है और उसी के निरन्तर स्मरण ध्यान करने से वह अपने गन्तव्य को प्राप्त करेगा; इसलिये पहले तो वह अपने इष्ट का ही स्मरण वन्दन नमस्कार करेगा। श्री तारण स्वामी ने व्यवहार की अवहेलना नहीं की, जिनके माध्यम से अपने लक्ष्य, इष्ट को पाया उनका भी स्मरण किया है। वन्दना नमस्कार किया है, हमेशा बहुमान किया है लेकिन अपना लक्ष्य निश्चय रत्नत्रयमयी निज शुद्धात्मा ही रखा है। आगे छठवीं गाथा में भगवान महावीर को नमस्कार किया है। सातवीं गाथा में समस्त केवली और अनन्त सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार किया है। उनका लक्ष्य निश्चय प्रधान निज शुद्धात्मा ही रहा है और इसी अपेक्षा से निश्चय प्रधान रखते हुए उन्होंने इस ग्रन्थ में कथन किया है। अध्यात्म साधक, समस्त आचार्य परम्परा श्री कुन्दकुन्द देव, योगीन्दुदेव, अमृतचन्द्राचार्य आदि के अनुसार ही वह उस मार्ग पर चले हैं और वैसा ही कथन किया है क्योंकि तारण स्वामी को ग्यारह वर्ष की अवस्था में ही निज शुद्धात्मानुभूति, निश्चय सम्यक्दर्शन हो गया था और इसी क्रम में बढ़ते हुए वीतरागी मार्ग पर चले। बीस वर्ष की आयु में ब्रह्मचर्य व्रत और तीस वर्ष की आयु में ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण की और आगे चलकर छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती वीतरागी साधु पद और आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए।

इसी क्रम में यह चौदह ग्रन्थों की रचना की जिसमें स्व का लक्ष्य प्रमुख रखा है। साधक कैसा होता है, साधक के मार्ग में क्या और कैसी बाधाएँ आती हैं, साधना का क्रम और मार्ग क्या है ? यह स्वयं के जीवन में अनुभव करते हुए अनुभव प्रमाण कथन किया है। इस श्रावकाचार ग्रन्थ में आगे बड़ी अपूर्व बातें आयेंगी, जो आगम शैली के ग्रन्थों में कहीं नहीं मिलेंगी।

आगे मंगलाचरण की दूसरी गाथा कहते हैं-

उवं ह्रियं श्रियं चिन्ते, सुद्ध सद्भाव पूरितं ।

संपूर्णं सुयं रूपं, रूपातीत विंद संजुतं ॥ २ ॥

अन्वयार्थ- (सुद्ध सद्भाव पूरितं) शुद्ध स्वभाव से भरा हुआ (संपूर्ण सुयं रूपं) अपने स्वरूप में परिपूर्ण (रूपातीत विंद संजुतं) रूपातीत दशा में भाव मोक्ष में लीन (उवं ह्रियं श्रियं चिन्ते) ऐसे ॐ ह्रीं श्रीं स्वरूप का चिन्तन करता हूँ।

विशेषार्थ- शुद्ध निश्चय नय के साधक परम वीतरागी सन्त अपने निज शुद्धात्म स्वरूप का अनुभवन करते हुए यहाँ उसका वर्णन कर रहे हैं जो अपने शुद्ध स्वभाव से भरा हुआ है अर्थात् त्रिकाल शुद्ध है, अपने स्वरूप में परिपूर्ण है अर्थात् जिसमें कहीं से कोई कमी नहीं है। जिसे पर के अवलम्बन की आवश्यकता नहीं है, जब वह अपने स्वरूपमय रूपातीत दशा में होता है तो भाव मोक्ष अर्थात् परमानंद में लीन रहता है। ऐसा ॐ शुद्ध सत्ता चैतन्य तत्त्व, ह्रीं केवलज्ञानमयी सर्वज्ञस्वभावी परमगुरु तीर्थंकर, श्रीं अर्थात् शोभनीक, मंगलीक, जय-जयवन्त, कल्याणकारी महासुखकारी, मोक्षलक्ष्मी स्वरूप निज शुद्धात्मा जयवन्त हो, यही चिन्तन करने योग्य है, मैं इसी का चिन्तन आराधन करता हूँ।

इसी क्रम में और गहरे डूबते हुए आगे कहते हैं-

नमामि सततं भक्तं, अनादि आदि सुद्धये ।

प्रतिपूर्णं तिअर्थं सुद्धं, पंचदिप्ति नमामिहं ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ- (पंचदिप्ति नमामिहं) पंच ज्ञानमयी ज्योति को नमस्कार करता हूँ (अनादि आदि सुद्धये) जो आत्मा अनादि से शुद्ध है (प्रतिपूर्णं तिअर्थं सुद्धं) जो द्रव्य गुण पर्याय से पूर्ण शुद्ध है (नमामि सततं भक्तं) हमेशा भक्ति पूर्वक उसको नमस्कार करता हूँ।

विशेषार्थ- यहां बड़ी अपूर्व बात कह रहे हैं कि जो पंच ज्ञानमयी अर्थात् जिसमें पाँचों ज्ञान-मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय, केवलज्ञान वर्तमान में प्रत्यक्ष हैं; कहीं से लाना नहीं है, कहीं से आना नहीं है इसी समय अभी मौजूद हैं, उस शुद्ध तत्त्व को मैं नमस्कार करता हूँ। जो आत्मा अनादिकाल से शुद्ध है, जो कभी अशुद्ध हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं तथा जो द्रव्य गुण पर्याय से पूर्ण शुद्ध है, ऐसा निज शुद्धात्म तत्त्व उसे मैं हमेशा बारम्बार श्रद्धा भक्ति पूर्वक नमस्कार करता हूँ। यह है सम्यक्दृष्टि ज्ञानी का

लक्ष्य, उसकी दृष्टि जो वर्तमान में कर्म संयोग, अशुद्ध दशा में रहता हुआ भी अपने को परिपूर्ण शुद्ध केवलज्ञानमयी देखता है। जैसा अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार कलश में कहा है :-

नमः समय साराय, स्वानुभूत्या चकासते ।

धित्स्वभावाय भावाय, सर्वभावांतरच्छिदे ॥

समय अर्थात् जीव नामक पदार्थ उसमें सार जो द्रव्य कर्म, भावकर्म, नो कर्म रहित शुद्ध आत्मा उसे मेरा नमस्कार हो। शुद्ध सत्ता स्वरूप वस्तु है, जिसका स्वभाव चेतना गुण रूप है अर्थात् अपने को अपने से ही जानता है, प्रगट करता है, स्वतः अन्य सर्व जीवाजीव चराचर पदार्थों को सर्व क्षेत्र काल संबंधी सर्व विशेषणों के साथ एक ही समय में जानने वाला है। इस प्रकार के विशेषणों से शुद्ध आत्मा को ही इष्टदेव सिद्ध करके नमस्कार किया है।

भावार्थ- यहाँ मंगल के लिये शुद्ध आत्मा को नमस्कार किया है, यदि कोई यह प्रश्न करे कि किसी इष्टदेव का नाम लेकर नमस्कार क्यों नहीं किया ? तो उसका समाधान इस प्रकार है- वास्तव में इष्ट देव का सामान्य स्वरूप सर्व कर्म रहित सर्वज्ञ वीतरागी शुद्ध आत्मा ही है इसलिये इस अध्यात्म ग्रन्थ में 'समयसार' कहने से इसमें इष्टदेव का समावेश हो गया। स्वाद्धादी जैनों को तो सर्वज्ञ वीतरागी शुद्ध आत्मा ही इष्ट है, फिर चाहे भले ही इष्टदेव कहो, परमात्मा कहो, परमज्योति कहो, परमेश्वर, परब्रह्म, शिव, निरजंन, निष्कलंक, निराबाध, सिद्ध, सत्यात्मा, चिदानंद, सर्वज्ञ वीतराग, अर्हत, जिन, आप्त, भगवान, समयसार इत्यादि हजारों नामों से कहो, स्याद्धादी को कोई विरोध नहीं है। (समयसार कलश)

इस प्रकार शुद्ध अध्यात्मवादी सन्तों की दृष्टि तो अपने पर रहती है। इसी क्रम में आगे और कहते हैं-

परमिस्टी परंजोति, आचरणं नंत चतुस्तयं ।

न्यानं पंच मयं सुद्धं, देव देवं नमामिहं ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ- (परमिस्टी परंजोति) परम इष्ट परमज्योति (आचरणं नंत चतुस्तयं) जिसका आचरण अनंत चतुष्टय में हो रहा है तथा जो (न्यानं पंच मयं सुद्धं) पंच ज्ञानमयी शुद्ध है (देव देवं नमामिहं) ऐसे देवों के देव शुद्धात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ।

विशेषार्थ- परमइष्ट, परमज्योति स्वरूप शुद्धात्मा जो अनंत चतुष्टय अर्थात् अनंत दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त बल जिसकी निज सत्ता शक्ति है, जो निरन्तर उसमें ही रमण कर रहा है, जो पंच ज्ञानमयी शुद्ध है अर्थात् जिसमें पाँचों ज्ञान हमेशा वर्तते हैं। जिसका भाव, ज्ञान स्वभाव ही है ऐसे देवों के देव शुद्धात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि शुद्धात्मा कोई भिन्न स्वतंत्र सत्ता है जो त्रिकाल शुद्ध पंच ज्ञानमयी देवों का देव है, तो या तो यह तीर्थकर केवली परमात्मा हो सकते हैं या सिद्ध परमात्मा हो सकते हैं, क्या यह शुद्ध आत्मा कोई स्वतंत्र शक्ति है, क्योंकि वर्तमान में जो जीव है वह तो अज्ञानी मिथ्यादृष्टि मोही, रागी-द्वेषी कर्म संयोगी दशा में बड़ा असहाय पराधीन है फिर यह निज शुद्धात्मा या शुद्ध आत्मा क्या है ?

इसका समाधान यह है कि वर्तमान में जो संसारी जीव अज्ञानी मिथ्यादृष्टि मोही रागी-द्वेषी कर्माधीन है, निश्चय से यही सिद्ध के समान शुद्ध ध्रुव अविनाशी परम ब्रह्म परमात्म स्वरूप है, यह अपने ऐसे निज शुद्ध सत्ता स्वरूप को भूलकर भटक रहा है और संसारी अज्ञानी मिथ्यादृष्टि मोही रागी-द्वेषी कर्माधीन बना हुआ है।

अब यहाँ जब यह जीव ऐसे अपने निज सत्ता स्वरूप का बोध करे और इसी की साधना, आराधना में रत रहे तो यह सब कर्मादि से मुक्त होकर स्वयं देवों का देव अरिहन्त सिद्ध परमात्मा हो जाता है। जिन जीवों ने ऐसी अपनी निज सत्ता शक्ति का श्रद्धान अनुभवन किया वही अरिहन्त सिद्ध परमात्मा हो गये तथा उन्हीं को परमात्मा आदि विभिन्न नामों से कहते हैं, यह शुद्ध आत्मा जीव की स्वसत्ता शक्ति ही है अलग से कोई स्वतंत्र सत्ता शक्ति नहीं है।

यहाँ प्रश्नकर्ता पुनः प्रश्न करता है कि यह बात तो समझ में नहीं आई कि संसारी जीव की स्वसत्ता शक्ति ही परम ब्रह्म परमात्मा सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा देवों का देव अनन्त चतुष्टय का धारी पंच ज्ञानमयी भगवान् आत्मा स्वयं है, अगर यह ऐसा है तो फिर इसे संसारी अज्ञानी कर्माधीन किसने बनाया-क्यों बना ? यदि कोई स्वतंत्र सत्ता परमात्मा अलग से नहीं है तो फिर इसको ऐसा करने वाले और इनसे छूटने का उपाय बताने वाले देव गुरु शास्त्र कहाँ से आये और यह जो भी जीव परमात्मा बने यह कहाँ से कैसे बने ?

इसका समाधान करते हैं कि भाई ! यह परमतत्व की बात है, यह अध्यात्म की

जड़ है और इसको सत्यता से जान लेने पर ही धर्म का प्रारम्भ होता है अर्थात् जीवन में सुख शांति आती है, इस संसार और कर्म बन्धन से छूटने का मार्ग बनता है। जरा शान्त होकर सुनो, समझो, अनुभव में लो तो समझ में आ सकती है वैसे यह बहुत गूढ़ रहस्य है। मात्र शब्दों से न समझाया जा सकता है, न शब्दों से समझ में आ सकता। प्रश्नकर्ता कहता है कि बताइये, समझाइये हम शान्त होकर समझने की कोशिश करेंगे और अपने अनुभव से प्रमाण करेंगे।

तो पहले जीव की स्वतंत्र सत्ता की चर्चा करते हैं कि अनन्त जीव अलग-अलग हैं। सबकी सत्ता स्वतंत्र है या किसी एक सत्ता के आधीन है ? अब इसमें सबसे पहले जीव है और वह कैसा है, इसकी चर्चा करते हैं, यह बताओ कि वर्तमान में हम जो यह शरीर मनुष्य भव में हैं इसमें कितने द्रव्य हैं ? इसमें दो द्रव्य हैं- जीव और पुद्गल या चेतन और अचेतन। वह कैसे ? यह शरीर पुद्गल अचेतन है और इसके भीतर एक चैतन्य शक्ति जीव द्रव्य है। यह कैसे जानने में आया ? जब जीव इस शरीर में से निकल जाता है, तब यह शरीर निष्क्रिय निष्प्राण मुर्दा हो जाता है जिसे श्मशान में जला आते हैं तब यह प्रत्यक्ष अनुभव में आता है कि यह शरीर अलग है और चैतन्य शक्ति जीव आत्मा अलग है। जब जीव इस शरीर से निकल जाता है तब इस शरीर में क्या फर्क पड़ता है ? शरीर में ऊपरी तौर से कोई फर्क नहीं पड़ता, जैसे का तैसा रहता है। मात्र चैतन्य शक्ति निकल जाने से निष्प्राण हो जाता है।

अब यह बताओ कि वह जो चैतन्य शक्ति जीवात्मा इस शरीर में से निकल जाता है क्या वह देखने जानने में आता है ?

नहीं, देखने में तो नहीं आता परन्तु जानने में आ जाता है कि वह चैतन्य शक्ति निकल गई।

किसके जानने में आता है- चेतन के या अचेतन के ?

चेतन के जानने में आता है- अचेतन क्या जाने।

अब यह बताइये कि वह चैतन्य तत्त्व जीव आत्मा कहाँ गया ?

इस शरीर से निकलकर किसी दूसरे भव में दूसरे शरीर में चला गया।

यह बात कैसे और कहाँ से जानने में आई ?

यह बात देव गुरु और शास्त्र के माध्यम से जानने में आई क्योंकि इसका प्रत्यक्ष तो हमको अनुभव नहीं है।

यह देव गुरु शास्त्र कौन हैं और कहां से आये ?

सच्चे ज्ञानी गुरुओं द्वारा लिखी हुई शब्द रचना को शास्त्र कहते हैं तथा जिन्होंने सच्चे देव या परमगुरु की बात सुनकर शुद्धात्मा की सच्ची श्रद्धा कर ली, जिन्हें भेदज्ञान निज शुद्धात्मानुभूति हो गई तथा जो वीतरागी हो गये वह गुरु कहलाते हैं तथा सच्चे देव परमगुरु आप्त वह कहलाते हैं जो केवलज्ञानी वीतरागी सर्वज्ञ हितोपदेशी सशरीरी होते हैं तथा अशरीरी अविकारी निष्कलंक पूर्ण शुद्ध सिद्ध परमात्मा होते हैं ।

सच्चा गुरु जैसा तुमने बताया यह कोई मनुष्य होता है या जीव आत्मा होता है ?

मनुष्य भव में जो मनुष्य हैं इनमें से ही कोई विरला मनुष्य होता है ।

तो कोई विरला मनुष्य शरीर गुरु होता है या उसके अन्दर जो चैतन्य तत्व जीव आत्मा है, इसका स्वबोध जागता है ज्ञान का विकास होता है तो वह गुरु होता है ?

जिसको स्वबोध जागता है, ज्ञान का विकास होता है वह गुरु होता है ।

तो वह कौन होता है; शरीर या जीव आत्मा ?

जीव आत्मा ।

अब यह बताओ जो सच्चे देव परमगुरु आप्त कहलाते हैं जो सशरीरी केवलज्ञानी वीतरागी सर्वज्ञ हितोपदेशी होते हैं वह कौन होते हैं ?

मनुष्य भव में ही कोई जीव आत्मा होते हैं ।

जो अशरीरी अविकारी निष्कलंक पूर्ण शुद्ध सिद्ध परमात्मा होते हैं वह कौन होते हैं ?

वह भी जीव आत्मा-चैतन्य तत्व ही होते हैं ।

यह ज्ञानी गुरु सच्चे देव सर्वज्ञ परमात्मा और पूर्ण शुद्ध मुक्त सिद्ध परमात्मा कौन हुए ?

मनुष्य भव में से ही कोई-कोई जीव आत्मा ।

यह ज्ञानी शुद्ध मुक्त होने की शक्ति जीव आत्मा में स्वयं है या किसी के करने कराने से हुई ?

नहीं, यह शक्ति तो स्वयं ही जीव आत्मा में है ।

कोई ज्ञानी गुरु हुआ, कोई केवलज्ञानी सर्वज्ञ परमात्मा हुआ, कोई सिद्ध

परमात्मा हुआ, यह अलग-अलग जीव आत्मा हुए या एक ही जीव आत्मा हुआ ?

कहने और देखने में तो यह अलग-अलग जीव आत्मा हुए, पर ---

हाँ-हाँ कहो, स्पष्ट कहो, यहाँ डरने संकोच करने की क्या बात है जब तत्व को समझने का प्रयास कर रहे हैं तो इसमें भय संकोच कैसा ? विवाद थोड़े ही करना है, समझना है बोलो क्या बात है ?

यहाँ दो बातें हैं- जैन दर्शन तो कहता है कि अनन्त जीव हैं और सब जीव स्वसत्ता शक्ति से स्वतंत्र हैं, स्वयं ही आत्मा से परमात्मा होते हैं तथा वैदिक हिन्दू दर्शन तथा अन्य दर्शन यह कहते हैं कि परमात्मा एक है और यह सब जीव उसके अंश हैं उसने ही पैदा किये हैं और इन सबका कर्ता-धर्ता वह परमात्मा है, जब जिसको जैसा करना चाहता है वही करता है, जीव की स्वतंत्र सत्ता शक्ति अलग से कुछ नहीं है तो इस कारण यह भेदभाव कुछ समझ में नहीं आता ।

ठीक है हम इसको भी समझने की कोशिश करेंगे क्योंकि मन में जरा सी भी कोई शंका हो तो चित्त में बात नहीं बैठती । उस शंका के कारण मन बार-बार अस्थिर झुंझ-उधर होता रहता है । जब तक मन की शंका का समाधान न हो तब तक आगे बात करना-सुनना व्यर्थ है । अब हम इस पर ही चर्चा करेंगे ।

अब यह बताओ कि इस शरीर से भिन्न चैतन्य शक्ति जीव आत्मा है, यह तो समझ में आ गई है ?

हाँ, यह तो बिल्कुल स्पष्ट समझ में आ गई है ।

अब यह बताओ कि वह जीव आत्मा सब शरीरों में एक ही है कि अलग-अलग है ?

वैसे तो सब शरीरों में अलग-अलग ही जीव आत्मायें हैं क्योंकि कभी कोई मरता है तो अकेला मरता है, दूसरा या सब एक साथ नहीं मरते तथा यहाँ वर्तमान में भी कोई सुखी-दुःखी, गरीब-निर्धन, कोई धनवान, कोई रोगी-निरोगी, कोई छोटा-बड़ा, कोई मोटा-दुबला होता है । इससे तो यही पता लगता है कि सब जीव अलग-अलग हैं ।

और यह पशु-पक्षी हैं, छोटे-बड़े जीव जन्तु हैं इनमें भी जीव आत्मा है या नहीं है ?

इन सबमें भी चेतन शक्ति जीव आत्मा है, क्योंकि यह भी मरते-जीते हैं ।

तो यह भी सब अलग-अलग जीव आत्मा हैं या एक ही हैं ?

नहीं, यह सब भिन्न अलग-अलग जीव आत्मा हैं ।

तो अब यह बताओ कि यह सब भिन्न अलग-अलग जीव आत्मा ऐसे क्यों हैं, अर्थात् मनुष्य भव में भी यह नाना विभिन्नतायें और पशु-पक्षी आदि जीव भी ऐसे क्यों हैं ?

कहते हैं यह सब अपने-अपने कर्मों के अनुसार होते हैं।

इसका क्या मतलब है, स्पष्ट बताओ ?

ऐसा कहते हैं और देखने में भी आता है कि जो जीव जैसे अच्छे-बुरे, पाप-पुण्य कर्म करता है, उसी अनुसार उसका फल भोगता है। इस संसार में चारगति, चौरासी लाख योनियाँ हैं और उनमें अनन्त जीव अनादिकाल से भ्रमण कर रहे हैं।

तो अब यह बताओ कि यह अनन्त जीव अनादिकाल से ऐसा परिभ्रमण क्यों कर रहे हैं ? अगर एक ईश्वर के अंश होते तो सबको एक समान एक सा ही होना चाहिये था, सबको एक साथ जीना-मरना, सुखी-दुःखी होना चाहिये था, फिर यह विभिन्नतायें क्यों हैं ?

कहते हैं यह सब उस परमात्मा की लीला है।

पर लीला का मतलब तो यह होता है कि एक व्यक्ति अनेक रूप धारण करे, अनेक प्रकार के स्वांग करे; लेकिन एक समय में एक प्रकार का ही रूप और स्वांग कैसे कर सकता है, यह एक समय में ही अनन्त रूप और अनन्त स्वांग और अलग-अलग दशाओं में परिणमन होना कैसे सम्भव है ? तथा एक जीव से दूसरे जीव की प्रकृति परिस्थिति कर्मोदय सब अलग-अलग ही होते हैं। इस कारण यह किसी भी युक्ति आगम प्रमाण से ठीक नहीं बैठता है ?

तो अब आप ही बताओ कि यह सब क्या है और कैसा है, यह भेदभाव मान्यता कैसे मिटे, इसे समझाओ ?

देखो भैया, संसार तो अनादि अनन्त है और अनन्त जीव हैं। सबकी बुद्धि होनहार कर्मोदय परिस्थिति भी भिन्न-भिन्न हैं तो सबको एक करना तो असम्भव है। हाँ, जो भव्य जीव समझना चाहे वह सत्य को समझकर अपना भला कर सकता है। यहां किसी को समझाया नहीं जा सकता, परन्तु जो समझना चाहे, सुधरना चाहे वह समझ सकता है, सुधर सकता है, ऐसा शुभ योग वर्तमान में मिला है। मनुष्य भव है, बुद्धि है, विवेक है, सद्गुरु और सत्शास्त्र के माध्यम से अपना भला कर सकता है।

तो आप इस संबंध में, जो अपना विषय चल रहा है इसे तो बताइये ?

देखो भैया, इसे हम संक्षेप में बता रहे हैं कि वास्तविकता क्या है। विशेष जानने के लिये स्वयं ही चिन्तन मनन अध्ययन करना। तो सर्वप्रथम शरीर की और जीव की भिन्नता भासित हो गई कि यह शरीर अलग है और जीव आत्मा अलग है और यह जीव आत्मा ही परमात्मा होता है। यह सभी दर्शनों में कहा है, कथन पद्धति भिन्न-भिन्न है। बात एक ही है और धर्म का मूल आधार भी यही है कि इस जीव की दृष्टि पर से हटकर अपनी तरफ होवे, अपने आत्मकल्याण का लक्ष्य बनावे तो जीवन में सुख शांति आवे और राग-द्वेष, पापादि विषय-कषाय, मोह के छूटने पर कर्म बन्ध और जन्म-मरण से छुटकारा हो जावे। सिद्धांत यह है कि प्रत्येक जीव स्वतंत्र है और यही आत्मा से परमात्मा होता है। प्रत्येक जीवात्मा में परमात्म शक्ति विद्यमान है। यह निज सत्ता शक्ति का श्रद्धान, ज्ञान, आचरण करे तो परमात्मा हो जावे। संसार की परम्परा में सभी एक मत हैं कि जो जीव जैसे कर्म करता है, उस अनुसार वह सुख-दुःख भोगता है। चारगति चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करता है तथा जीव के सत्ता स्वरूप को भी सबने एक सा ही माना है। जीव, अरूपी, निराकार, अजर-अमर, अविनाशी चैतन्य लक्षण वाला ज्ञान और आनन्द मयी सुख स्वभावी है। यह बात सभी दर्शन स्वीकार करते हैं। शरीर की रचना जन्म-मरण, कर्मफल भोगना सबमें एक समान है। शब्दों की भिन्नता से अज्ञानियों ने मत-मतान्तर भेदभाव पैदा कर दिये हैं। जीव को जाति सम्प्रदाय के बंधनों में उलझा दिया। ज्ञानी को तो कभी भेदभाव होता ही नहीं है। जो अध्यात्मवादी हैं अर्थात् आत्मकल्याण के इच्छुक हैं उन्हें तो कोई भेदभाव नहीं है। सत्य और परमतत्त्व तो एक ही है परन्तु संसारी, अज्ञानी जीवों के अनेक मत और भेदभाव हैं। यहाँ अपने समझने की बात समझें, सत्य को स्वीकार करें तो अपना भला होवे।

आपकी चर्चा से तो सब बात ही स्पष्ट हो गई, कोई भेदभाव की बात ही नहीं रही। अब जो भेदभाव माने उसकी वह जाने परन्तु आत्म कल्याण का मार्ग तो सबका एक ही है कि अपने सत्स्वरूप की श्रद्धा करे, ज्ञान करे और तदनुसार आचरण करे तो प्रत्येक जीव आत्मा परमात्मा हो सकता है।

इसी अभिप्राय को लेकर तारण स्वामी ने प्रत्येक मानव मात्र को आत्म कल्याण करने के लिये प्रेरित किया, उन्होंने सब जाति-पांति के बन्धनों को तोड़कर मानव मात्र को धर्म का वास्तविक स्वरूप बताया और इसी की साधना आराधना में रत

रहकर वह स्वयं मुक्ति मार्ग पर चले ।

इसी क्रम में आगे भी इसको और स्पष्ट करते हैं-

अनंत दर्शनं न्यानं, वीर्जं नंत अमूर्तयं ।

विस्व लोकं सुयं रूपं, नमामिहं ध्रुव सास्वतं ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ- (नमामिहं ध्रुव सास्वतं) मैं उस ध्रुव शाश्वत शुद्धात्म तत्व को नमस्कार करता हूँ (विस्व लोकं सुयं रूपं) जो समस्त विश्व में स्व रूपवान है (अनंत दर्शनं न्यानं) अनन्त दर्शन अनन्त ज्ञान (वीर्जं नंत अमूर्तयं) अनन्त वीर्य अनन्त सुखमयी अमूर्तीक है ।

विशेषार्थ- ध्रुव अर्थात् त्रिकाली, शाश्वत अर्थात् अनादि अनन्त काल तक रहने वाला समस्त विश्व लोक में स्वरूपवान अर्थात् जो हमेशा अपने स्वरूप में ही रहता है । जो अनादि से अचेतन पुद्गल के साथ रहता हुआ भी जिसका एक प्रदेश भी अचेतन-पुद्गल रूप नहीं हुआ । जिसने ज्ञानमयी स्वसत्ता को कभी छोड़ा नहीं है । जो अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त वीर्यमयी अमूर्तीक है, ऐसे शुद्धात्म तत्व अर्थात् निज के सत्स्वरूप को मैं नमस्कार करता हूँ । यह है ज्ञानी साधक की अपने इष्ट की आराधना । वर्तमान कर्म संयोग में रहता हुआ भी अपने सत्स्वरूप को ऐसा देखता है और उसी की सतत् वन्दना भक्ति करता है क्योंकि कहा है- यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी । जो जैसी भावना करता है, उसको वैसा ही फल मिलता है ।

बंधा मिला है बंधे को, छूटे कौन उपाय ।

कर सेवा निर्बंध की, पल में लेय छुड़ाय ॥

इसी क्रम में तारण स्वामी ने उन भगवान महावीर को नमस्कार किया है जिन्होंने ऐसे अपने सत्स्वरूप को पा लिया, उसी मय हो गये ।

नमस्कृतं महावीरं, केवलं दिस्टि दिस्टितं ।

विकृत रूपं अरूपं च, सिद्ध सिद्धं नमामिहं ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ- (नमस्कृतं महावीरं) महावीर भगवान को नमस्कार करता हूँ (केवलं दिस्टि दिस्टितं) जो केवल दर्शन में देख रहे हैं (विकृत रूपं अरूपं च) अपने अरूपी स्वरूप को प्रत्यक्ष व्यक्त रूप में (सिद्ध सिद्धं नमामिहं) इसी से अपने सिद्ध स्वरूप को सिद्ध कर लिया, पा लिया है, मैं ऐसे सिद्ध स्वरूप को

नमस्कार करता हूँ ।

विशेषार्थ- मैं भगवान महावीर को नमस्कार करता हूँ । किसे ? क्या राजा सिद्धार्थ के बेटे महावीर को ? नहीं । तो क्या जिस शरीर का नाम महावीर था उसे ? नहीं, जो केवलज्ञान, केवलदर्शन में अपने अरूपी, शाश्वत, अविनाशी, सिद्ध स्वरूप को प्रत्यक्ष व्यक्त रूप में देख रहे हैं अर्थात् जो ज्ञानानंद स्वभावमय ही हैं । तारण स्वामी यहाँ उसे नमस्कार कर रहे हैं जो जीव का शुद्ध स्वरूप है, क्यों कर रहे हैं ? इसलिये कि यह उन्हें भी इष्ट प्रयोजनीय है । वह भी वैसे ही होना चाहते हैं इसलिये उस स्वरूप को नमस्कार कर रहे हैं ।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि इससे तो यही सिद्ध हुआ कि पर के निमित्त, पर के आश्रयपने से ही स्व का बोध होता है । पर के अवलम्बन से ही धर्म और मोक्ष की प्राप्ति होती है ?

उसका समाधान करते हैं कि यहाँ तो समझ में ही विपरीतपना हो गया । किस अभिप्राय अपेक्षा से क्या बात कही जा रही है इसको भी ध्यान में रखना चाहिये; क्योंकि जैनागम में चार अनुयोग और निश्चय-व्यवहार नय की अपेक्षा कथन है, उसका ज्ञान होना आवश्यक है इस ज्ञान के बिना तत्व के निर्णय, वस्तु स्वरूप को नहीं समझा जा सकता । यहाँ तारण स्वामी को मूल में तो अपना स्वलक्ष्य ही है और अपने सत्स्वरूप की साधना-आराधना में ही रत हैं । धर्म और मोक्ष की उपलब्धि स्व के लक्ष्य से ही होती है । जब तक पर का लक्ष्य, पर का अवलम्बन रहेगा, तब तक तीन काल में भी धर्म और मोक्ष नहीं मिल सकता । यहाँ तो जिन्होंने अपने उस सत्स्वरूप को उपलब्ध कर लिया है । अपने में उस सत्स्वरूप का बहुमान जगाने के लिये उनका स्मरण और नमस्कार किया है कि देखो उन्होंने भी इस मार्ग से, इस प्रकार ऐसे अपने सत्स्वरूप को पा लिया, तुम भी पुरुषार्थ करो, इस अभिप्राय से स्मरण और नमस्कार किया है तथा व्यवहार में अपनी कृतज्ञता प्रगट की है ; क्योंकि तारण स्वामी, भगवान महावीर स्वामी के समवशरण के प्रत्यक्षदर्शी रहे हैं । भगवान महावीर की दिव्य ध्वनि में जो धर्म का स्वरूप आया, इसे तारण स्वामी ने सुना समझा है और धर्म की महिमा अतिशय को प्रत्यक्ष देखा है, इस उपकार को चुकाने के लिये नमस्कार किया है । धर्म की उपलब्धि स्व का बोध सम्यक्दर्शन, पर के आश्रय पर के अवलम्बन से कभी नहीं होता । वह तो स्व के आश्रय, स्व के अवलम्बन से ही होता है । निमित्त का बहुमान, स्वीकारता ही ज्ञानी की पहिचान है ।

इसी क्रम में इसी अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये आगे की गाथा कहते हैं -
केवली नंत रूपी च, सिद्ध चक्र गनं नमः ।

बोच्छामि त्रिविधि पात्रं च, केवल दिस्टि जिनागमं ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ- (केवली नंत रूपी च) अनन्त चतुष्टय स्वरूप को प्राप्त केवलज्ञानी तथा (सिद्ध चक्र गनं नमः) सिद्धों के समूह को मैं नमस्कार करता हूँ (केवल दिस्टि जिनागमं) केवलज्ञानी भगवान के अनुसार जिनागम में वर्णित (बोच्छामि त्रिविधि पात्रं च) तीन प्रकार के पात्रों को कहता हूँ।

विशेषार्थ- अनन्त केवली और उस रूपधारी अर्थात् निर्ग्रन्थ दिगम्बर, वीतरागी साधु और सिद्धों का समूह अर्थात् अनन्त सिद्ध परमात्मा वीतराग मार्ग, जिनागम में वन्दन योग्य कहे गये हैं क्योंकि साधुपद से ही वीतरागता प्रारंभ होती है। साधु पद से ही अरिहन्त, सिद्ध पद होता है। साधु पद में आचार्य, उपाध्याय, साधु यह तीन गुरु कहलाते हैं। अरिहन्त और सिद्ध देव कहलाते हैं। अरिहन्त सशरीरी होते हैं उन्हें परमगुरु भी कहते हैं, देव भी कहते हैं तथा उनकी दिव्य ध्वनि, वाणी को ही जिनवाणी कहते हैं। इसी को शब्दों में गुंथित करने को शास्त्र कहते हैं।

सिद्ध परमात्मा अशरीरी परम देव होते हैं क्योंकि यही जीव का वास्तविक सत्स्वरूप है, जो जीव ऐसे अपने सिद्ध स्वरूप की श्रद्धा करता है उसको ही सम्यक्दर्शन होता है। व्यवहार में यह तीन माध्यम हैं- केवली परमात्म देव, वीतरागी साधु गुरु तथा जिनवाणी शास्त्र, जिनके द्वारा हमें अपने स्वरूप को जानने, धर्म मार्ग पर चलने की प्रेरणा मिलती है। सिद्ध परमात्मा परम देव, श्रद्धा और आराधना के माध्यम हैं।

निश्चय से सिद्ध के समान शुद्ध बुद्ध अविनाशी परमानंदमयी मेरा सत्स्वरूप है, ऐसी प्रतीति और अनुभूति ही सम्यक्दर्शन है; इसलिये निश्चय में अपनी स्व श्रद्धा होवे और मुझे भी इसी प्रकार वीतरागी बनना है, मुक्त होना है यह लक्ष्य होवे तो यह हमारे लिये माध्यम, सहयोगी, उपकारी हैं तथा इस भावना से नमस्कार करना सार्थक है। तारण स्वामी ने निश्चय अपना निज शुद्धात्म तत्व ही सच्चा देव है, वही इष्ट है, इस अभिप्राय से पहले अपने शुद्धात्म तत्व को नमस्कार किया और व्यवहार में जिन्होंने उस सत्स्वरूप को पा लिया है, उन्हें नमस्कार किया है।

इसी क्रम में गुरु का स्वरूप बताते हुए उन्हें नमस्कार किया है -

साधऊ साधु लोकेन, ग्रंथ चेल विमुक्तयं ।

रत्नत्रयं मयं सुद्धं, लोकालोकेन लोकितां ॥ ८ ॥

संमिक्तं सुद्ध ध्रुवं दिस्टा, सुद्ध तत्त्व प्रकासकं ।

ध्यानं च धर्म सुकलं च, न्यानेन न्यान लंकृतं ॥ ९ ॥

आरति रौद्र परित्याजं, मिथ्या त्रिति न दिस्टिते ।

सुद्ध धर्म प्रकासी भूतं, गुरं त्रैलोक वंदितं ॥ १० ॥

अन्वयार्थ- (लोकालोकेन लोकितां) जो लोकालोक को देखने जानने वाला है (रत्नत्रयं मयं सुद्धं) रत्नत्रयमयी शुद्ध है (साधऊ साधु लोकेन) साधु ऐसे निज शुद्धात्म तत्व को देखता और साधता है (ग्रंथ चेल विमुक्तयं) समस्त पाप परिग्रह और वस्त्रादि के बंधनों से मुक्त होकर (संमिक्तं सुद्ध ध्रुवं दिस्टा) सम्यक्त्व से शुद्ध अपने ध्रुव स्वभाव को देखता है (सुद्ध तत्त्व प्रकासकं) शुद्ध तत्व का प्रकाश करता है (ध्यानं च धर्म सुकलं च) धर्म और शुक्ल ध्यान को धारण करता है (न्यानेन न्यान लंकृतं) ज्ञान विज्ञान की साधना में लीन रहता है (आरति रौद्र परित्याजं) आर्त रौद्र ध्यान जिसके छूट गये हैं (मिथ्या त्रिति न दिस्टिते) तीनों मिथ्यात्व भी जिसको दिखाई नहीं देते (सुद्ध धर्म प्रकासी भूतं) जो शुद्ध धर्म अर्थात् अपने शुद्ध स्वभाव के प्रकाशन में ही रत रहता है (गुरं त्रैलोक वंदितं) ऐसा गुरु तीन लोक में वन्दनीय है।

विशेषार्थ- जो लोकालोक को देखने जानने वाला है अर्थात् ज्ञान स्वभावी जीव तत्व, जो रत्नत्रयमयी अर्थात् सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मयी शुद्ध है। समस्त पाप परिग्रह और वस्त्रादि के बंधनों से मुक्त होकर साधु ऐसे निज शुद्धात्म तत्व को देखता और साधता है। यहाँ साधु किसे कहते हैं, यह बताया जा रहा है कि जो जीव आत्मा मनुष्य भव में निज शुद्धात्म तत्व के आश्रय अर्थात् सम्यक्दर्शन होने पर समस्त पाप-परिग्रह, पाँच पाप-हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह तथा चौबीस परिग्रह (दस बाह्य और चौदह अंतरंग) और समस्त वस्त्रादि के बन्धनों से मुक्त होकर वीतरागी, निर्ग्रन्थ दिगम्बर, महाव्रती साधु होते हैं, वे अपने रत्नत्रयमयी शुद्धात्म तत्व को साधते हैं। सम्यक्त्व से शुद्ध अपने ध्रुव स्वभाव को ही देखते हैं, शुद्ध तत्व का ही प्रकाश करते हैं अर्थात् हमेशा आत्मा की ही चर्चा करते हैं तथा ज्ञान, ध्यान में ही रत रहते हैं। आर्त-रौद्र ध्यान जिनके विला गये हैं,

धर्म और शुक्ल ध्यान की साधना में ही लीन रहते हैं, तीनों मिथ्यात्व का अंश भी उनमें नहीं दिखता। शुद्ध धर्म के प्रकाशन में प्रयत्नशील हैं अर्थात् अपने शुद्ध स्वभाव की स्थिरता, लीनता का ही पुरुषार्थ करते रहते हैं। ऐसे गुरु अर्थात् जो स्वयं तरते और अन्य जीवों के मार्गदर्शक हैं वे तीन लोक में वन्दनीय हैं, कहा भी है -

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूं पांय ।

बलिहारी गुरु आपकी, गोविन्द दियो बताय ॥

तारण स्वामी ने भी कहा है -

जो बिन सुने सयानो होय, तो गुरु सेवा करे न कोय ॥ सुन्न स्वभाव-८

सच्चे गुरु ही आप तरें और पर को तारने वाले हैं, सद्गुरु का सत्संग जिस जीव को मिल जाये उसका कल्याण निश्चित ही है। अपना अन्तरात्मा ही अपना मार्गदर्शक और मुक्ति का साधक है, वही सच्चा गुरु है जो हमेशा साथ रहता है, शुभाशुभ प्रवृत्ति से बचाता, सावधान करता रहता है। अन्तरात्मा का जागरण ही सद्गुरु का मिलना है।

आगे इसी क्रम में सरस्वती अर्थात् निर्मल बुद्धि को नमस्कार किया है-

सरस्वती सास्वती दिस्टं, कमलासने कंठ स्थितं ।

उवं ह्रियं श्रियं सुद्धं, तिअर्थं प्रति पूर्णितं ॥ ११ ॥

कुन्यानं त्रि विनिर्मुक्तं, मिथ्या छाया न दिस्टते ।

सर्वन्यं मुष वानी च, बुद्धि प्रकास सास्वती नमः ॥ १२ ॥

कुन्यानं तिमिरं पूर्णं, अंजनं न्यान भेषजं ।

केवल दिस्टि सुभावं च, जिन कंठं सास्वती नमः ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ- (सरस्वती सास्वती दिस्टं) सरस्वती अर्थात् निर्मल बुद्धि, विशुद्धमति अपने शाश्वत ध्रुव स्वभाव को देखती है, जो कैसा है (उवं ह्रियं श्रियं सुद्धं) ॐ ह्रीं श्रीं स्वरूप से शुद्ध है (तिअर्थं प्रति पूर्णितं) द्रव्य गुण पर्याय से पूर्ण है (कमलासने कंठ स्थितं) कमलासन पर कंठ में स्थित है।

(कुन्यानं त्रि विनिर्मुक्तं) तीनों कुज्ञान से बिल्कुल मुक्त है (मिथ्या छाया न दिस्टते) जहाँ मिथ्यात्व की छाया भी दिखाई नहीं देती (सर्वन्यं मुष वानी च) सर्वज्ञ अर्थात् केवलज्ञानी तीर्थकर की दिव्य ध्वनि वाणी से (बुद्धि प्रकास सास्वती) जिस

बुद्धि रूप सरस्वती का प्रकाश हुआ है।

(कुन्यानं तिमिरं पूर्णं) कुज्ञान रूपी अन्धकार से भरे हुए नेत्रों में जो (अंजनं न्यान भेषजं) ज्ञानांजन शलाका औषधि लगाकर (केवल दिस्टि सुभावं च) केवली के समान अपने स्वभाव को दिखाती है (जिन कंठं सास्वती नमः) जिन अर्थात् जिनेन्द्र देव अथवा सम्यक्दृष्टि के कंठ में विराजमान सरस्वती को नमस्कार करता हूँ।

विशेषार्थ- कमलासन पर कंठ में स्थित सरस्वती अर्थात् सुबुद्धि। व्यवहार में तीर्थकर के मुख कमल से निकली दिव्य ध्वनि रूप वाणी को गणधरों ने गूँथा, शब्दों द्वारा विस्तार किया और शास्त्र रूप लिखा उसे जिनवाणी या सरस्वती कहते हैं, जिसमें धर्म का वास्तविक स्वरूप बताया जाता है। जिसके स्वाध्याय, मनन-चिन्तन करने से अज्ञान रूप अन्धकार क्षय हो जाता है, इसे व्यवहार से नमस्कार करते हैं। तारण स्वामी यहाँ निश्चय नय से उस सुबुद्धि रूपी सरस्वती को नमस्कार कर रहे हैं, जिसके द्वारा भेदज्ञान होने पर अपना शाश्वत ॐ ह्रीं श्रीं से शुद्ध, द्रव्य गुण पर्याय से पूर्ण, कुज्ञान और मिथ्यात्वादि से मुक्त, सर्वज्ञ स्वभावी, केवलज्ञानमयी, अपना ध्रुव स्वभाव दिखाई देता है। ऐसी सुबुद्धि के जागरण होने पर जीव का संसार टिकता ही नहीं है। संसार, शरीर, भोगों से विरक्ति, अरुचि हो जाती है, अपने ममल ध्रुव ज्ञानानन्द स्वभाव की रुचि जाग जाती है, अतीन्द्रिय आनन्द और मुक्ति का ही एक मात्र लक्ष्य रहता है। जिसका स्व का अध्ययन, मनन, चिन्तन ही चलता रहता है, जो निरन्तर भीतर बोलती रहती है, जो स्व-पर का, हित-अहित का विवेक कराती है, वही सुबुद्धि रूपी सरस्वती जिनवाणी वन्दनीय नमस्कार करने योग्य है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि सच्चे देव में निश्चय से निज शुद्धात्म तत्व को नमस्कार किया और व्यवहार में जिन्होंने उस शुद्धात्म तत्व को उपलब्ध कर लिया है उन्हें नमस्कार किया यह तो ठीक तथा सच्चे गुरु में निश्चय से अन्तरात्मा का जागरण और व्यवहार से वीतरागी साधु को नमस्कार किया, यह भी ठीक था; लेकिन यह सरस्वती जिनवाणी में तो एक मात्र सत्शास्त्र ही आते हैं, यह सुबुद्धि कहाँ से आ गई और इससे क्या प्रयोजन सिद्ध होता है, यह कुछ समझ में नहीं आया ?

इसका समाधान करते हैं कि पहले तो यह समझो कि बुद्धि किसे कहते हैं ? मति, श्रुतज्ञान की पर्याय को बुद्धि कहते हैं। इसमें कुमति कुश्रुत की पर्याय कुबुद्धि

कहलाती है और सुमति-सुश्रुतज्ञान की पर्याय सुबुद्धि कहलाती है। मिथ्यात्व सहित जो ज्ञान है वह कुज्ञान है और सम्यक्त्व सहित जो ज्ञान है वह सुज्ञान है। अब यहाँ बाहर में सत्शास्त्र का स्वाध्याय किया, प्रवचन सुने, यहाँ तक कि साक्षात् तीर्थकर के समवशरण में उनकी दिव्यध्वनि सुनी, पर क्या हुआ ?

देशनालब्धि हो गई।

भाई ! देशना लब्धि भी किसको कहते हैं, जो बात हमने सुनी वह बात समझ में आ जावे, चित्त में बैठ जावे उसका नाम देशना लब्धि है अर्थात् अपने समझने की पात्रता, बाहर के यह सुनने-पढ़ने से कुछ नहीं होता। तो यहाँ जिसकी सुबुद्धि हो गई बस उसे ही जिनवाणी सरस्वती का सब रहस्य समझ में आ गया, फिर उसकी सुबुद्धि ही उसे सब कुछ बताती है। तारण स्वामी अध्यात्मवादी साधक थे, उन्होंने अपने जीवन में स्वयं का अनुभव किया और आगम को अनुभव प्रमाण सिद्ध किया; क्योंकि आगम में किस अपेक्षा क्या लिखा गया है और लिखने वाले ने वर्तमान देश, काल, परिस्थिति, भाषा के अनुसार क्या लिखा है, उसका अभिप्राय क्या है ? जब तक यह स्वयं के अनुभव में न आवे, तब तक कार्यकारी सार्थक नहीं है। यहाँ तो तारण स्वामी ने अपूर्व रहस्य उद्घाटित किये हैं, जो एकान्तवादी हठाग्रह और साम्प्रदायिक दुराग्रह को छोड़कर देखो समझो तो समझ में आवें, जीवन का परम रहस्य अपूर्व आनंद उपलब्ध होवे।

यहाँ एक प्रश्न और है कि यह मति, श्रुतज्ञान की पर्याय बुद्धि कहलाती है और इसमें कुज्ञान-सुज्ञान की अपेक्षा कुबुद्धि-सुबुद्धि हो जाती है, तो यहाँ यह किसी को बहुत ज्ञान है, किसी को कम ज्ञान है, किसी की स्मरण शक्ति तीव्र विशेष है, किसी की मंद है यह क्या है ?

यह ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की विशेषता है, जिसके ज्ञानावरणीय कर्म का उघाड़ क्षयोपशम ज्यादा है उसे बाहर में बहुत ज्ञान है, बहुत स्मरण शक्ति है, सब बातें कंठाग्र हो जाती हैं और जिसके ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम नहीं है उसे कितना ही पढ़ते, स्मरण करते, स्मरण नहीं रहता। यह क्षायोपशमिक ज्ञान कहलाता है जो कभी भी छूट सकता है। बुद्धि तो मति, श्रुतज्ञान की पर्याय है, जो हमेशा जीव के साथ रहती है, इसमें यही विशेषता है कि यह पाँच इन्द्रिय और मन की विशेषता से कम-ज्यादा होती है। असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक तो होती ही नहीं है, सैनी पंचेन्द्रिय को होती है, उसमें भी कर्मफल चेतना, कर्मचेतना की विशेषता

रहती है। इस प्रकार सच्चे देव, सच्चे गुरु और सत्शास्त्र का स्वरूप बताकर निश्चय को प्रधान रखते हुए व्यवहार भी निभाया है।

इसी क्रम में पुनः देव, गुरु, शास्त्र की वन्दना कर शास्त्र लिखने का अभिप्राय कहते हैं -

देवं गुरुं श्रुतं वन्दे, न्यानेन न्यानं लंकृतं।

बोच्छामि श्रावगाचारं, अविरतं संमिकं दिष्टितं ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ- (न्यानेन न्यानं लंकृतं) जो ज्ञान ही ज्ञान से शोभायमान अर्थात् मात्र ज्ञानमयी है (देवं गुरुं श्रुतं वन्दे) ऐसे शुद्धात्मतत्त्व देव, गुरु और शास्त्र को नमस्कार करता हूँ (अविरतं संमिकं दिष्टितं) अत्रत सम्यक्दृष्टि के लिये (बोच्छामि श्रावगाचारं) श्रावकाचार कहता हूँ।

विशेषार्थ- यहाँ ज्ञान ही ज्ञान से शोभायमान अर्थात् शुद्धात्म तत्त्व को तीन रूपों में अर्थात् देव शुद्धात्मा, गुरु अन्तरात्मा और शास्त्र सुबुद्धि का पुनः स्मरण करते हुए वन्दना की है और अत्रत सम्यक्दृष्टि के लिये श्रावकाचार लिखने का अभिप्राय व्यक्त किया है; अर्थात् जिसे अपने तत्त्व की श्रद्धा और निज शुद्धात्मानुभूति हो गई, उसे आगे बढ़ने के लिये प्रेरित करते हुए श्रावकाचार अर्थात् श्रावक के आचरण का त्रेपन क्रियाओं का वर्णन करते हैं कि निश्चय से तो जो निज शुद्धात्मानुभूति की लीनता रमणता, स्थिरता की साधना करता है और व्यवहार में त्रेपन क्रियाओं का पालन करता है वह अत्रती से व्रती और महाव्रती होता हुआ, अपने सिद्ध पद को पाता है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि यह अत्रत सम्यक्दृष्टि के लिये श्रावकाचार कहने का प्रयोजन रखा है तो जो सम्यक्दृष्टि हो गया हो अर्थात् जिसे निज शुद्धात्मानुभूति हो गई हो, वही इस श्रावकाचार को पढ़े और वही यह त्रेपन क्रियाओं का पालन करे, जिससे अत्रती से व्रती, महाव्रती होता हुआ अपने सिद्ध पद को पावे, सामान्य संसारी जीव के लिये तो यह कोई उपयोगी कार्यकारी नहीं है ?

उसका समाधान करते हैं कि बात तो यथार्थ सत्य है; क्योंकि जिसे भेदज्ञान, सम्यक्दर्शन हो गया है, वही तो आत्मा से परमात्मा बनेगा, जिसे अपने स्व स्वरूप का बोध ही नहीं है कि मैं जीव हूँ, तो उसे धर्म की उपलब्धि कैसे होगी और मुक्ति का मार्ग कैसे बनेगा। जीवन में सुख शान्ति चाहते हैं, जन्म-मरण के चक्र से छूटना चाहते हैं, संसार में दुःख और दुर्गति नहीं भोगना चाहते तो इसके लिये धर्म का

आश्रय तो लेना ही पड़ेगा।

अब यहाँ तारण स्वामी की महानता की विशेष बात जो इस ग्रन्थ के प्रारंभ में लिखी है, बड़ी अपूर्व बात है। सम्यक्दृष्टि कौन है, कौन नहीं है, यह बात तो स्वयं जाने या सर्वज्ञ जाने, दूसरा तो जान ही नहीं सकता और संसारी कर्म संयोग, गृहस्थ दशा में मोहादि की प्रबलता होने के कारण जीव को भी संशय विभ्रम हो जाता है कि ऐसी दशा में कैसे सम्यक्दृष्टि हूँ, ना मालूम सम्यक्दृष्टि हुआ भी या नहीं हुआ। इस शंका, संशय भ्रम के निवारणार्थ, तारण स्वामी उस जीव की दशा का वर्णन करते हैं कि जिसे सम्यक्दर्शन, निज शुद्धात्मानुभूति हो गई, उसकी कैसी दशा होती है, उसकी श्रद्धा लक्ष्य और दृष्टि कैसी होती है, इस अन्तरंग परिणति का अपूर्व वर्णन किया है। जो सभी जीवों को सुनने, समझने, पढ़ने, चिन्तन करने की आवश्यकता है। यहाँ पहले सम्यक्दृष्टि कैसा होता है, उसकी अन्तरंग दशा का वर्णन किया है, फिर बहिरात्मा अज्ञानी कैसा होता है उसका वर्णन किया है, आगे फिर अन्तरात्मा ज्ञानी कैसा होता है उसका वर्णन किया गया है और उसके बाद फिर अव्रती का आचरण कैसा होता है, व्रती का आचरण क्या है और महाव्रती कैसा होता है, यह बहुत ही अपूर्व वर्णन किया है, जो सामान्यतः अन्य श्रावकाचार में मिलना दुर्लभ है। तारण स्वामी ने जैन दर्शन के मर्म को भगवान महावीर के स्याद्वादी अनेकान्त मार्ग का निश्चय-व्यवहार के समन्वय पूर्वक वर्णन किया है, जो सभी जीवों को पठनीय, मननीय, आचरणीय है। सामान्य गृहस्थ, अव्रत सम्यक्दृष्टि की अन्तरंग दशा, भावना और श्रद्धान तथा लक्ष्य क्या होता है, इसका वर्णन प्रारंभ करते हैं -

संसार का स्वरूप क्या है, इसे सम्यक्दृष्टि कैसा मानता है -

संसारे भय दुष्यानि, वैरागं जेन चिंतये।

अनृतं असत्यं जानंते, असरनं दुष भाजनं ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ- (संसारे भय दुष्यानि) संसार में भय और दुःख ही दुःख हैं (वैरागं जेन चिंतये) उस मुमुक्षु द्वारा वैराग्य भाव का चिन्तन चलता है (असरनं दुष भाजनं) संसार अशरण तथा दुःखों का घर है (अनृतं असत्यं जानंते) नाशवान और झूठा है, ऐसा जानते हैं।

विशेषार्थ- यहाँ सम्यक्दृष्टि की अंतरंग दशा, भावना कैसी होती है, यह बताया जा रहा है कि उसे संसार में भय और दुःख ही दुःख लगता है और इससे छूटने का हमेशा विचार चलता रहता है। यहाँ संसार अर्थात् निश्चय से 'संसरति संसारः'

अपने स्वभाव से खिसक जाना, विभाव परिणमन करना फिर उसे अच्छा नहीं लगता; क्योंकि विभाव परिणमन चलने से भय, चिन्ता और दुःख होता है। व्यवहार में संसार का अर्थ है- धन, शरीर, परिवार। यह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि को तो सुख रूप और इष्ट लगते हैं; परंतु सम्यक्दृष्टि ज्ञानी को यह दुःखदाई, अनिष्ट कर लगते हैं, वह उन्हें अपने भी नहीं मानता, एकत्वपना भी टूट चुका है, लेकिन इन्हीं संयोगों में रहना पड़ रहा है।

धन, शरीर, परिवार

धन- संसार में जीव का कर्मोदायिक पाप-पुण्य रूप परिणमन चलता है, जिससे धनादि का हानि-लाभ होता है। आवश्यकतानुसार न होने से खेद खिन्नता, चिन्ता रहती है। धन का अभाव, धन की चाह पाप कराती है। धन के अभाव में चिन्ता, परेशानी रहती है, धन की बहुलता में विषय-कषायों की प्रवृत्ति बढ़ती है। नाम यश आदि की चाह बढ़ती है, परिग्रह का फैलाव अधिक होने से हमेशा आकुलता बनी रहती है। रोटी, कपड़ा और मकान यह जीवन की आवश्यकतायें हैं, इनका अभाव दुःखी रखता है, सद्भाव भयभीत चिन्तित रखता है। संसार में जीने के लिये धन आवश्यक है; क्योंकि धन के बिना संसार का कोई काम नहीं होता, संसार में धन सबसे महत्वपूर्ण वस्तु है और यही सारे पाप, अनर्थ, अत्याचार, अन्याय, भ्रष्टाचार कराने वाला है।

शरीर- जब तक जीव संसार में है तब तक शरीर का संयोग तो रहता ही है क्योंकि अशरीरी सिद्ध परमात्मा होते हैं। सशरीरी, कर्मसंयोगी संसारी होते हैं। शरीर ही मैं हूँ, ऐसी मान्यता तो मिथ्यात्व है, लेकिन शरीर मेरा है यह मान्यता भी अज्ञान है, इसी से जीवन में अशान्ति और दुःख होता है, वीतरागी होने के पूर्व तक शरीर का संबंध और राग का सद्भाव रहता है। शरीर स्वस्थ रहे, रोगादि न हो, इसकी चिन्ता रहती है, खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, रहने आदि की चिन्ता लगी रहती है, पाँचों इन्द्रियों के विषय-भोग, अशान्त उद्विग्न करते रहते हैं, मन की कल्पनायें, चाह तो निरन्तर ही लगी रहती है। शरीर का बचपन, जवानी, बुढ़ापा रूप परिणमन चलता है। शरीर की असक्तता, शिथिलता, बुढ़ापा, बीमारी, कुरूपता, अंग-भंग हीनता आदि हमेशा ही दुःखी और भयभीत रखती हैं। विषय, पाप आदि सब शरीर से ही होते हैं। जब तक शरीर का लगाव-आसक्ति रहती है, तब तक जीव निरन्तर ही भयभीत, भ्रमित, अशांत, परेशान दुःखी रहता है।

परिवार- यह सब अनर्थों की जड़ है, जीव की दुर्गति का कारण परिवार ही

है। परिवार के पीछे ही पाप, अन्याय, परिग्रह आदि करना पड़ते हैं और मोह ही संसार का राजा है, मोह ही सब कर्मों का राजा है, मोह में फँसा जीव पागल, अन्धा होता है, दुःख का एक मात्र कारण मोह है।

परिवार के कारण-मोह, शरीर के कारण-राग, धन के कारण-द्वेष होता है यही संसार है।

चार गति चौरासी लाख योनियों का परिभ्रमण, जन्म-मरण का चक्र ही संसार है, जहाँ भय और दुःख ही दुःख भरा है। मिथ्यादृष्टि तो मूर्च्छित, बेहोश है, उसे तो इसका कुछ पता ही नहीं है, वह तो इसी में सुख की आशा से डूबता-मरता रहता है। सम्यक्दृष्टि इससे छूटने का वैराग्य भावना का चिन्तन करता है परन्तु कर्मों की बलवत्ता के कारण छूट नहीं पाता, फिर भी निरन्तर इसके स्वरूप का विचार करता रहता है, संसार नाशवान और झूठा है, ऐसा जानता है। संसार नाशवान है अर्थात् परिवर्तनशील है, क्षणभंगुर है, इसका परिणामन प्रति समय चलता और बदलता रहता है। यहाँ स्थिर, स्थायी, अविनाशी कोई भी कुछ भी नहीं है, धन, शरीर, परिवार का भी परिणामन परिवर्तन होता रहता है। यहाँ का संयोग संबंध सब नाशवान, झूठा है। जैसे- वृक्ष पर पक्षी रैन बसेरा करते हैं, प्रातः सब अलग-अलग उड़ जाते हैं, वैसे ही इस पर्याय में मनुष्य भव और यह परिवार के संयोग में जब तक जिसकी, जितनी आयु है उतने समय तक रहता है, और फिर अपने कर्मों के अनुसार अपने ठिकाने चला जाता है। यहाँ न एक जीव से दूसरे जीव का कोई संबंध है, न परिवार का ठिकाना है, न शरीर स्थायी है और न धनादि ही स्थिर और स्थायी है। पाप-पुण्य के उदयानुसार धनादि का परिणामन होता रहता है, सब स्वार्थ का संसार है। सम्यक्दृष्टि इस बात को जानता है। मिथ्यादृष्टि इसके धोखे में ही फँसा रहता है। यहाँ संसार में कोई शरण नहीं है अर्थात् कोई शरण देने वाला रक्षा करने वाला नहीं है।

दल-बल देवी देवता, माता-पिता परिवार।

मरती बिरिया जीव को, कोई न राखनहार ॥

संसार में इस जीव का सहायी, साथी, रक्षक कोई नहीं है, यह जीव अपनी अज्ञानता से पर को अपना मानता है और स्वयं दुःखी रहता है। अब यह मौका इस संसार के बन्धन और जन्म-मरण से छूटने का मिल गया है, अपने शुद्धात्म स्वरूप के चिन्तन, मनन, आराधन में लगे रहकर इन सबसे छूटना है, ऐसी वैराग्य भावना का चिन्तन सम्यक्दृष्टि ज्ञानी करता रहता है।

संसार के साथ शरीर के स्वरूप का भी विचार करता है कि यह शरीर कितना अपवित्र मलमूत्र का घर है, इसी बात को इस गाथा में कहते हैं -

असत्यं असास्वतं दिस्टा, संसारे दुष भीरुहं।

सरीरं अनृतं दिस्टा, असुच अमेव पूरितं ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ- (संसारे दुष भीरुहं) संसार के दुःखों से भयभीत होकर (असत्यं असास्वतं दिस्टा) इसको असत्य झूठा अशाश्वत क्षणभंगुर नाशवान देखता है (असुच अमेव पूरितं) अशुचि अपवित्र मल मूत्रादि से भरा हुआ (सरीरं अनृतं दिस्टा) यह शरीर अनित्य है ऐसा विचार करता है।

विशेषार्थ- सम्यक्दृष्टि ज्ञानी संसार के दुःखों से भयभीत होकर इसको असत्य, क्षणभंगुर, नाशवान ही देखता है, इससे छूटने का ही विचार करता है।

चक्र वर्ती की सम्पदा, इन्द्र सरीखे भोग।

काक बीट सम लखत हैं, सम्यक्दृष्टि लोग ॥

सिंह पींजरा में दियो, जोर चले कहु नाहिं।

छटपटात नित रहत है, पड़ो पींजरा माहिं ॥

यह है अत्रत सम्यक्दृष्टि जीव की दशा, जहाँ संसारी जीव इसी में सुख की कल्पनायें करता रहता है, वहाँ सम्यक्दृष्टि जीव निरन्तर छूटने के लिये छटपटाता रहता है। संसारी जीव को जहाँ सुन्दर, स्वस्थ शरीर मिल जाये तो वह इतना मगन हो जाता है कि फिर उसे आगे-पीछे की कुछ सुध नहीं रहती, इस क्षणिक सुख, पुण्य की विष्टा को ही आनंद मानता है। सामान्य जन से जब व्यवहार में पूछा जाता है कि सब कुशल-आनंद में हो, तो वह बड़े प्रसन्न होकर कहता है कि हाँ भगवान की दया है, आपका आशीर्वाद है, खूब आनंद में हैं, सब बात का आनंद है। वहीं सम्यक्दृष्टि को यह सब संसारी अनुकूलता जहर जैसी लगती है वह तो अपने अतीन्द्रिय आनंद-निजानन्द में मगन रहना चाहता है, उसे तो किसी को देखना, बोलना, मिलना भी अच्छा नहीं लगता।

जा सम्यक्दृग धारी की, मोहि रीति लगत है अटापटी।

बाहर नारकी कृत दुःख भोगत, भीतर समरस गटागटी।

रमत अनेक सुरनि पे नित, छूटन की है छटापटी ॥

यह मनुष्य शरीर पाकर संसारी प्राणी कितना विषयान्ध हो जाता है, वहीं सम्यक्दृष्टि जीव, इस शरीर की अपवित्रता, नाशवानपने का विचार करता रहता है

कि देखो, यह शरीर कितनी अपवित्र गन्दी वस्तुओं का बना और भरा हुआ है, यह हड्डी का ढाँचा, मांस और खून से भरा हुआ पुतला है, जिसमें से नवद्वारों से मल निकलता रहता है।

शरीर की रचना-

१. यह शरीर दुर्गन्ध और ऐसी ही वस्तुओं से भरा हुआ है। दुर्गन्ध स्वेद-मूत्रादि पदार्थ निकलते रहते हैं, यह शरीर विष्टा से व्याप्त तृण की झोंपड़ी के समान है।

२. इस मनुष्य के शरीर में तीन सौ हड्डियाँ दुर्गन्ध मज्जा धातु से भरी हैं, इसमें तीन सौ संधियाँ हैं।

३. शरीर में नौ सौ स्नायु, सात सौ शिरा और पाँच सौ मांसपेशियाँ हैं।

४. शिराओं के चार जाल, सोलह कंडरा, छह शिराओं के मूल, शरीर में दो मांस रज्जु (आतें) हैं।

५. शरीर में सात त्वचा, सात कालेयक, अस्सी लाख कोटि रोम हैं।

६. पक्वाशय और आमाशय में सोलह आतें और शरीर में दुर्गन्ध मल के सात आशय हैं।

७. देह में तीन स्थूल, एक सौ सात मर्म स्थान, नौ व्रण मुख हैं, जिनसे नित्य दुर्गन्ध निकलती है।

८. शरीर में मस्तिष्क एक अंजुली प्रमाण है, मेद और ओज (शुक्र) दोनों स्व अंजुली प्रमाण समझना चाहिये।

९. वसा धातु शरीर में तीन अंजुली प्रमाण है, पित्त छह अंजुली प्रमाण और कफ भी इतना ही है और रुधिर आधा आढ़क प्रमाण है।

१०. मूत्र का एक आढ़क, विष्टा छह प्रस्थ प्रमाण, नख की संख्या बीस, दाँत की संख्या बत्तीस यह प्रमाण स्वभाव से ही होते हैं।

११. जैसा व्रण कीटाणुओं से भरा होता है, वैसा ही शरीर भी सर्वत्र कृमियों से भरा है और शरीर पाँच वायुओं से घिरा रहता है।

१२. पूर्वोक्त प्रकार से शरीरांगोपांग अशुभ पुद्गल परमाणु से निर्मित हैं, इसमें कोई भी अवयव पवित्र नहीं है।

१३. मख्खी के पंख के समान पतली त्वचा से शरीर ढँका है, यह त्वचा न होती तो इस दुर्गन्ध युक्त शरीर को कोई भी स्पर्श न करता।

नाक का मल, थूक, पित्त, कफ, वमन, जिह्वा का मल, दन्त मल और लाला

(रस) यह मल मुख में और मूत्र विष्टा और वीर्य यह उदर में उत्पन्न होते हैं। शरीर के सम्पूर्ण रोम रंध्रों से चर्मकार के सचिक्कण पदार्थ के समान स्वेद निकलता है, इससे युकालिक्षा और चर्मयूका उत्पन्न होती है। जैसे- विष्टा से भरे हुए घड़े के चारों तरफ से दुर्गन्ध निकलता है, कृमियों से भरा हुआ व्रण सड़कर गलता है, उसी प्रकार इस शरीर से सदैव दुर्गन्ध मल मूत्रादिक पदार्थ निकलते रहते हैं।

जितनी गन्दी अपावन चीजें, बस्ती में न वन में।

वे सब भरी हुई हैं सारी, पुद्गल पिण्ड इस तन में॥

हाड़ का पिंजरा बना, खूँ इसकी रग-रग में भरा।

मैल बदबूदार आठों पहर, जारी वरमला॥

है नहीं ये जिस्म, बल्कि है गिलाजत का घड़ा।

साफ ऊपर से किया, चन्दन लगाया क्या हुआ॥

जो न होती इसके ऊपर, चाम की चादर मढ़ी।

तब तो इसको काग-कुत्ते, नोचते हर-हर घड़ी॥

शरीर क्षणिक, नाशवान है, जब तक की आयु है, तब तक ही रहने वाला है। आयु समाप्त होते ही यह गल जायेगा, जल जायेगा। आयु का कोई पता नहीं है, अगली स्वास आये, न आये। बचपन, जवानी, बुढ़ापा रूप तो इसका परिवर्तन हो ही रहा है, यह अनेक रोगों का घर है, पाँच इन्द्रिय और मन के कारण यह नाटक घर बना हुआ है, पाँच इन्द्रियों की विषयाशक्ति और मन की चाह के कारण यह जीव दुःखी हो रहा है।

पंचेन्द्रिय के विषयों में फँस, जीवन होत दुधारो।

हाथी, मछली, भ्रमर, पतंगा, हिरन जात है मारो॥

स्पर्शन इन्द्रिय के वशीभूत-हाथी। रसना इन्द्रिय के वशीभूत-मछली। घ्राण इन्द्रिय के वशीभूत-भौरा। चक्षु इन्द्रिय के वशीभूत-पतंगा और कर्ण इन्द्रिय के वशीभूत-हिरण मारा जाता है फिर जो पाँचों इन्द्रिय के वशीभूत हैं उनका क्या होगा? तथा पाँचों इन्द्रियों का राजा मन, जिसके कारण यह मानव, दानव बना हुआ है, क्योंकि कहा है- **मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः।** जो मन के आधीन है वह मनुष्य है, जिसने मन को जीत लिया वह मानव है, वही भगवान बनेगा। इस शरीर संयोग के कारण ही इस जीव की दुर्दशा हो रही है और जब तक इस शरीर की आसक्ति लगाव रहेगा, तब तक निरन्तर चिंतित, दुःखी, भयभीत रहेगा। जो जीव

अपना आत्मकल्याण करना चाहते हैं, मुक्ति मार्ग पर चलना चाहते हैं, उन्हें संसार, शरीर भोगों से विरक्त होना अत्यन्त आवश्यक है। सम्यक्दर्शन होने के बाद भी जब तक इस शरीर की विषयाशक्ति और पाप-परिग्रह नहीं छूटते, तब तक जीव सुख शान्ति में नहीं रह सकता, आनंद तो संयम तप करने, वीतरागी होने पर ही आता है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि इस संसारी जीवन में जो पुण्यादि की अनुकूलता से सुख शान्ति आनंद मिलता है, इसमें और सम्यक्दर्शन होने, मुक्ति मार्ग पर चलने, संयम तप करने वीतरागी बनने पर जो सुख शान्ति आनंद होता है उसमें क्या अंतर है? क्योंकि हमें तो ऐसा लगता है कि जो संसार में सुख है, पुण्यादि की अनुकूलता में जो शान्ति आनंद है, वह खाना पीना छोड़ने, भूखे रहने, व्रत संयम लेने, त्यागी साधु होने वालों को तो हो ही नहीं सकता क्योंकि हम देखते हैं कि संसार में जो वैभवशाली हैं, जिनके पुण्य का अच्छा उदय है, वह हमेशा प्रसन्न, स्वस्थ, सुखी आनंद में दिखाई देते हैं और व्रत नियम संयम तप त्याग करने वाले, त्यागी, साधु हमेशा उदास-मायूस, दुःखी, खेद, खिन्न अस्वस्थ दिखाई देते हैं। जितनी कषाय, ईर्ष्या, द्वेष संसारी जीवों में नहीं होती, उससे ज्यादा त्यागी, साधुओं में दिखाई देती है, यह सब क्या है?

इसका समाधान करते हैं कि सुख शांति आनंद किसे कहते हैं, उसकी परिभाषा क्या है, पहले इसे समझ लो, तो फिर सब बात अपने आप समझ में आ जायेगी। सुख अर्थात् जहाँ कोई आकुलता विकल्प न हो, दुःख के अभाव को सुख कहते हैं। शांति अर्थात् जहाँ कोई शल्य, चिन्ता न हो, चिन्ता के अभाव को शांति कहते हैं। आनंद अर्थात् जहाँ कोई भय, चाह न हो, भय के अभाव को आनंद कहते हैं। संसार में जो सुख शांति आनंद दिखाई देते हैं यह वास्तविक स्थायी नहीं हैं, यह तो मात्र मन की संतुष्टि होने से ऐसा लगने लगता है, अनुकूल परिस्थिति में सुख और प्रतिकूल परिस्थिति में दुःख; तो यह सुख तो पराधीन परिस्थिति के आधीन हुआ। जैसे कोई बाहर से शान्त बिल्कुल फुरसत में बैठा हो और उसके अंतर में शल्य, विकल्प चल रहे हों तो क्या वह सुख शांति में है? नहीं है। इसी प्रकार कोई भोजन कर रहा हो और सब प्रकार के अच्छे स्वादिष्ट व्यंजन बने हों परन्तु कहीं जाने की शल्य लगी हो, भीतर किसी प्रकार के विकल्प चल रहे हों, कोई चिन्ता हो तो क्या उसे भोजन में आनंद आयेगा? नहीं। बाहर खूब पुण्य का वैभव है, सब

प्रकार की अनुकूलता है और भीतर किसी प्रकार का भय हो, तो क्या वह सुखी आनंद में है? नहीं है। तो अब विचार करो कि संसार में जो सुख शांति आनंद दिखाई देते हैं, क्या वह वास्तविक सत्य है, मात्र मन की संतुष्टि और अपने को देखने का धोखा है, यह तो उस व्यक्ति से पूछा जाये कि क्या वास्तव में तुम सुखी हो, तो सब संसार रोता, दुःखी ही नजर आयेगा, क्योंकि कहा है-

दाम बिना निर्धन दुःखी, तृष्णा वश धनवान् ।

कहूँ न सुख संसार में, सब जग देखो छान ॥

इस प्रकार संसार में कहीं सुख है ही नहीं, सुख तो अपने में अपनी आत्मा में है, आत्मा ही सुख स्वभावी ज्ञानानंदमयी है। पर में सुख की कल्पना तो अज्ञान मिथ्यात्व दशा है, जिसमें संसारी जीव निरंतर लगा हुआ है। सम्यक्दर्शन अर्थात् आत्म श्रद्धान, आत्मानुभूति होने पर जो सुख, शांति, आनंद होता है, वह वास्तविक सत्य होता है, वह पराधीन इन्द्रियों का सुख नहीं होता, स्वाधीन अतीन्द्रिय सुख होता है, जो हमेशा रहता है तथा सम्यक्दर्शन होने के पश्चात् सम्यक्ज्ञान, संयम-तप होने से शांति और सम्यक्चारित्र वीतराग होने पर आनंद आता है; और मुक्ति में इसी की परिपूर्णता, परम सुख, परम शांति, परमानंद होता है। सम्यक्दर्शन रहित कोई त्याग, वैराग्य, संयम आदि करे, त्यागी साधु हो जावे तो भी उसे सच्चा सुख, शान्ति, आनंद मिलने वाला नहीं है, वह तो शुभ क्रियाओं में लगकर पुण्य बन्ध करेगा, उससे क्या मिलने वाला है? क्योंकि कहा है -

आतम को हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये ।

आकुलता शिव मांहि न ताते, शिवमग लाग्यो चाहिये ॥

बाहर की क्रिया से सुख-दुःख का कोई संबंध नहीं है, अन्तरंग परिणति में जो आकुलता विकल्प है वही दुःख है, शल्य-चिन्ता है वही अशान्ति है तथा भय, चाह आदि है, वही घबराहट, बेचैन दशा है और जहाँ यह नहीं हैं, वहीं सुख शांति आनन्द है। सम्यक्दृष्टि जीव तो हर समय, हर दशा में सुखी, प्रसन्न रहता है, उसकी दशा तो-

गेही पे ग्रह में न रचे, ज्यों जल से भिन्न कमल है ।

नगर नारि को प्यार यथा, कादे में हेम अमल है ॥

बाहर में कैसा रहता है, क्या करता है, यह ज्ञानी की अपूर्व दशा है, जो सहज शब्दों से या बाहर से जानने में नहीं आती। सम्यक्दृष्टि संयम तप करे,

त्यागी-साधु होवे, तो वह तो दूर से ही खिलता कमल जैसा प्रसन्न, हंसमुख दिखाई देगा, उसका चेहरा चमकता हुआ प्रफुल्लित रहेगा। कषाय, राग-द्वेष, ईर्ष्या, बैर-विरोध सम्यक्दृष्टि त्यागी साधु के जीवन में हो ही नहीं सकते। जिन्हें सम्यक्दर्शन नहीं हुआ और जो बाहर से संयम तप कर रहे हैं, त्यागी साधु बने हैं, उनकी दशा कैसी भी कुछ भी हो सकती है। यहाँ तो सम्यक्दृष्टि ज्ञानी की बात बताई जा रही है, उसकी दशा का वर्णन किया जा रहा है कि वह संसार शरीर भोगों को कैसा मानता है।

आगे भोगों के स्वरूप का कथन करते हैं -

भोगं दुषं अती दुस्टा, अनर्थ अर्थ लोपितं।

संसारं स्रवते जीवा, दारुणं दुष भाजनं ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ- (भोगं दुषं अती दुस्टा) भोग दुःखदाई अति दुष्ट हैं (अनर्थ अर्थ लोपितं) अनर्थ करने वाले, अर्थ, प्रयोजन आत्मा के हित का लोप करने वाले हैं (संसारं स्रवते जीवा) इन्हीं के कारण यह जीव चार गति चौरासी लाख योनि रूप संसार में परिभ्रमण करता है तथा (दारुणं दुष भाजनं) दारुण दुःख, अति भयानक कष्ट भोगता है।

विशेषार्थ- भोग अर्थात् पाँचों इन्द्रियों के विषय, कान से अच्छे मधुर प्रिय शब्द और स्वर सुनना, आँखों से सुन्दर मनोहर पदार्थों को देखना, नाक से सुगंधित वस्तु को सूँघना, मुख से स्वादिष्ट प्रिय पदार्थों को खाना तथा बोलना, शरीर से चलना-फिरना, अच्छे वस्त्रादि पहिनना, सुन्दर वस्तुओं का भोग करना यह विषय कहलाते हैं और इनको भोगने की लालसा-वासना मन में होती है। यह विषय जितने भोगने में आते हैं, उतनी ही कामना-वासना बढ़ती जाती है, इनकी कभी पूर्ति और तृप्ति नहीं होती। जो चीज एक बार भोगने में आ जाती है, उसकी और बार-बार भोगने की इच्छा होती है। एक बार जो भी विषय भोगने में आ जाते हैं उनको बार-बार भोगने की चाह पैदा हो जाती है, अच्छे-अच्छे नये-नये पदार्थ भोगने की चाह निरन्तर बढ़ती जाती है। जैसे-अग्नि में तेल या घी डालो तो अग्नि और प्रज्वलित होती है, वैसे ही जितने विषय-भोग भोगने में आते हैं, उनको भोगने की वासना, चाह निरन्तर बढ़ती जाती है। एक विषय भोगा, उसी समय उससे अच्छा दूसरा विषय भोगने की इच्छा पैदा हो जाती है और यह कामना-वासना, इच्छा, चाह-दाह पैदा करती है, इच्छित वस्तु न मिलने पर बड़ी आकुलता वेदना होती है फिर और कुछ सुहाता नहीं

है, निरन्तर उसी के विकल्प चलते हैं, प्राप्त करने के लिये बड़ी-बड़ी योजनायें बनती हैं। इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति नहीं होने तक खाना, पीना, सोना छूट जाता है, रात-दिन उसी के विकल्प चलते हैं, बड़ी आकुलता, पीड़ा, वेदना, दुःख होता है। इस प्रकार यह विषय भोगों के दुःख बहुत ही दुष्ट खतरनाक होते हैं, यह मरने भी नहीं देते, जीने भी नहीं देते, रात-दिन चिंतित दुःखी रखते हैं, यह महान अनर्थकारी हैं।

विषय भोगों की आदत ही व्यसन कहलाती है। किसी भी विषय की लत पड़ जाती है, वह फिर सहज में नहीं छूटती, यह अनर्थ कराती है। धर्म का, आत्म हित का लोप करने वाली है। विषयों की चाह, धन और धर्म दोनों को नष्ट करने वाली है, जीते जी संसार में दुःख दुर्गति और वेदना भी कराती है, मरने पर नरक और निगोद के दुःख भोगना पड़ते हैं। इससे ही चारों गति रूप संसार में भ्रमण करना पड़ता है, जहाँ दारुण दुःख, अति भयानक कष्ट भोगना पड़ते हैं। चारों गति में कैसे दुःख हैं, इसका वर्णन करते हैं-

१. तिर्यग्गति- सर्वप्रथम तो यह जीव निगोद में है रहता है, जहाँ एक क्षुद्र शरीर में असंख्यात निगोदिया जीव रहते हैं। जो एक स्वास में अठारह बार जन्मते-मरते रहते हैं और इस प्रकार ऐसे ही अनन्त काल तक रहना पड़ता है। वहाँ से निकलकर स्थावर काय-पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति में असंख्यात समय, अनन्त काल तक वेदना दुःख भोगते हुए रहना पड़ता है। पृथ्वीकाय की आयु बाईस हजार वर्ष होती है, जिसमें अन्तर्मुहूर्त में १२०२४ बार जन्म-मरण करना पड़ता है, इसी प्रकार वनस्पतिकाय की आयु दस हजार वर्ष होती है, जिसमें अन्तर्मुहूर्त में १८०३६ बार जन्म-मरण करना पड़ता है। जलकाय की आयु सात हजार वर्ष होती है, इसमें भी अन्तर्मुहूर्त में १२०२४ बार जन्म-मरण होता है। वायुकाय की आयु तीन हजार वर्ष होती है, जिसमें अन्तर्मुहूर्त में १२०२४ बार जन्म-मरण होता है। अग्निकाय की आयु तीन दिन की होती है, इसमें भी अन्तर्मुहूर्त में १२०२४ बार जन्म-मरण होता है। इससे निकलकर त्रस पर्याय बहुत दुर्लभ है, जिसमें दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय यह विकलत्रय कहलाते हैं, जो हमेशा विकल, दुःखी और भयभीत रहते हैं। दो इन्द्रिय की आयु-१२ वर्ष, तीन इन्द्रिय की आयु-४९ दिन और चार इन्द्रिय की आयु ६ माह होती है, यह लट, केंचुआ, इल्ली, चींटी, मछली, मच्छर आदि नाना प्रकार के होते हैं जिनकी दुर्दशा, दुर्गति प्रत्यक्ष आँखों के सामने

देखने में आती है। जो हमेशा विकल अर्थात् विकल्पो में दुःखी रहते हैं, वह विकलत्रय होते हैं। **“विकलस्य विकलत्रय”** (तारण स्वामी) पंचेन्द्रिय तिर्यच में सैनी-असैनी दोनों प्रकार के होते हैं, इन सब के दुःख प्रत्यक्ष देखने में आते हैं। चूहे को बिल्ली मारती है, बिल्ली को कुत्ता मारता है, कुत्ता को भेड़िया मारता है, भेड़िया को शेर मारता है, इसी प्रकार एक पशु दूसरे पशु का घात करता है। चिड़िया छोटे-छोटे कीड़े मकोड़े खाती है, मकड़ी, मख्खी-मच्छर खाती है तथा शीत-उष्ण, ताड़न, बध-बन्धन के दुःख प्रत्यक्ष देखने में आते हैं। इस प्रकार के यह दुःख, यह जीव इस तिर्यच गति में भोगता है, यहाँ से निकलता है तो अति संक्लेश भाव से मरने के कारण नरक में चला जाता है और वहाँ जो दुःख भोगता है वह आगे वर्णन करते हैं।

२. नरक गति- नरक में जाने का कारण और वहाँ के दुःखों का वर्णन करते हैं। पाप कर्म के उदय से यह जीव नरक में जन्म लेता है। जो प्राणियों का घात करता है, झूठ बोलता है, दूसरों का धन हरता है, परनारियों को बुरी निगाह से देखता है, परिग्रह में आसक्त रहता है। बहुत क्रोधी, मानी, कपटी और लालची होता है, कठोर वचन बोलता है। दूसरों की चुगली करता है, रात-दिन धन संचय में लगा रहता है, साधुओं की निन्दा करता है, नीच और खोटी बुद्धि वाला है, कृतघ्नी है, बात-बात पर शोक तथा दुःख करना जिसका स्वभाव है, वह जीव नरक गति जाता है। वहाँ पाँच प्रकार के दुःख सहता है - १. असुर कुमारों द्वारा दिया गया दुःख। २. शारीरिक दुःख। ३. मानसिक दुःख। ४. क्षेत्र से उत्पन्न होने वाला शीत-उष्ण आदि का दुःख। ५. परस्पर में दिया गया दुःख। यह सब निरन्तर भोगना पड़ते हैं।

छहठाला में कहा है-

तहाँ भूमि परसत दुःख इसो, बीछू सहस डसैं नहीं तिसो ।
तहाँ राध श्रोणित वाहिनी, कृमि कुल कलित देह दाहिनी ॥
सेमर तरु दल जुत असि पत्र, असि ज्यों देह विदारैं तत्र ।
मेरु समान लोह गलि जाय, ऐसी शीत उष्णता थाय ॥
तिल-तिल करैं देह के खण्ड, असुर भिड़ावें दुष्ट प्रचंड ।
सिंधु नीर तैं प्यास न जाय, तो पण एक न बूंद लहाय ॥
तीन लोक को नाज जु खाय, मिटै न भूख कणा न लहाय ।
ये दुःख बहु सागर लौं सहे, करम जोग तैं नरगति लहे ॥

इस प्रकार के दुःख नरकगति में यह जीव भोगता है, नरक में सात स्थान होते

हैं, जिन्हें सात नरक कहते हैं- रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूम प्रभा, तम प्रभा, महातम प्रभा, यह सात नरकों के नाम हैं। जिनमें पहले नरक से पाँचवें नरक तक उष्ण वेदना होती है, छठे और सातवें में शीत वेदना होती है। पहले नरक की जघन्य आयु दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट आयु एक सागर की होती है। दूसरे नरक की उत्कृष्ट आयु तीन सागर, तीसरे नरक की सात सागर, चौथे की दस सागर, पाँचवें की सत्रह सागर, छठवें की बाईस सागर और सातवें की तैंतीस सागर की आयु होती है। पिछले नरकों में जो उत्कृष्ट आयु है यही अगले नरकों की जघन्य आयु होती है। जैसे- पहले नरक की उत्कृष्ट आयु एक सागर की है, यही आयु दूसरे नरक की जघन्य आयु होती है। नारकियों की जितनी आयु होती है, उतने समय तक उन्हें वहाँ रहना और दुःख भोगना पड़ते हैं, वहाँ अकाल मरण नहीं होता। नारकी सब नपुंसक ही होते हैं, वहाँ स्त्री-पुरुष का कोई भेद नहीं होता, वैक्रियक शरीर होता है। वहाँ के बिलों की संख्या- पहले नरक में ३० लाख बिल, दूसरे नरक में २५ लाख बिल, तीसरे नरक में १५ लाख बिल, चौथे नरक में २० लाख बिल, पाँचवें नरक में ३ लाख बिल, छठे में पाँच कम एक लाख बिल और सातवें में पाँच बिल, ऐसे ८४ लाख बिल होते हैं जिनमें यह पैदा होते और वहाँ से नीचे की ओर गिरते हैं। नारकियों को क्रूर सिंह व्याघ्रादि अनेक प्रकार के रूप धारण करने की विक्रिया होती है। नारकियों का शरीर वैक्रियक होने पर भी उनके शरीर के वैक्रियक पुद्गल मल-मूत्र, कफ, वमन, सड़ा हुआ माँस, हाड़ और चमड़ी वाले औदारिक शरीर से भी अत्यन्त दुर्गन्धित अशुभ होते हैं।

तीसरे नरक तक अम्ब, अम्बरीष जाति के असुर कुमार देव जाकर नारकी जीवों को दुःख देते हैं, नारकी आयु पर्यन्त भूख-प्यास की वेदना सहते हैं; क्योंकि वहाँ खाने-पीने को कुछ है ही नहीं, इस प्रकार यह संक्षेप में नरक गति के दुःखों का वर्णन किया।

३. मनुष्य गति- (शरीर उत्पत्ति) मनुष्य शरीर की उत्पत्ति गर्भ में रज और वीर्य से होती है, यह दोनों ही अपवित्र हैं। माता के उदर में वीर्य का प्रवेश होने पर दस दिन पर्यन्त उसकी (वीर्य की) कललदशा होती है। जैसे- ताम्र और चाँदी का रस मिलाने पर जो अवस्था होती है वही अवस्था माता के रज के संयोग से वीर्य की होती है, उसको कलल अवस्था कहते हैं, इसके अनन्तर दस दिन पर्यन्त उसकी कलुष अवस्था होती है, तदनन्तर दस दिन पर्यन्तर स्थिरता आती है, यह तीन अवस्थायें प्रथम मास में होती हैं।

दूसरे महिने में वीर्य की अवस्था बुलबुले जैसी हो जाती है, पुनः एक मास में वह घट्ट बन जाता है, चतुर्थ मास में उसको मांसपेशी की आकृति प्राप्त होती है। पाँचवें मास में मांसपेशी रूप पिंड में पाँच पुंलव अर्थात् अंकुर उत्पन्न होते हैं, इनमें से नीचे के दो अंकुरों से दो पैर, ऊपर के दो अंकुरों से दो हाथ और बीच के अंकुर से मस्तक की रचना होती है तथा आँख, कान, आदि उपांगों की भी रचना होती है। इस प्रकार गर्भस्थ बालक के आंगोपांगों का, अवयवों का निर्माण होता है। छठवें मास में उन अवयवों पर चर्म और रोम की उत्पत्ति होती है, हाथ-पैर में नख उत्पन्न होते हैं। सातवें मास में कमल नाल उत्पन्न होता है, माता के द्वारा भक्षण किये हुए आहार के रस को ग्रहण करता है। आठवें मास में उस गर्भ में हलन-चलन, बलन होने लगता है। नवमें-दसमें महिने में बालक गर्भ से बाहर आता है अर्थात् बच्चे का जन्म होता है। आमाशय और पक्वाशय के मध्य, जाल के समान मांस और रक्त से लिप्त हुआ, वह गर्भ में नव मास पर्यन्त रहता है। इस प्रकार नौ मास तक इतना कष्ट भोगता है, जिसका वर्णन करना अशक्य है। बालपने में क्या दशा रहती है, यह तो प्रत्यक्ष देखने में आता है, ज्ञान न होने से किस प्रकार दुःख तकलीफ होने पर कह नहीं सकता, बता नहीं सकता और किसी को अशुभ, पाप कर्म का उदय होवे तो क्या होता है, यह तो जगत में प्रत्यक्ष ही है। माता-पिता आदि का मर जाना या किसी प्रकार का शरीर अंग-भंग हो जाना, गरीबी आदि की दशा में पराधीन-पराश्रित रहना पड़ता है। जवानी के जोश में होश नहीं रहता, विषयादि सेवन में लग जाता है। पापादि करने में तल्लीन रहता है, घर-परिवार की जिम्मेदारी, दुनियाँदारी के जाल में ऐसा फँस जाता है कि फिर अपना तो कोई होश रहता ही नहीं है। हित-अहित का विवेक खो जाता है, मोह का साम्राज्य बढ़ता है, तब अपनी सब सुध-बुध खोकर उसी में पागल-अन्धा हो जाता है। आवश्यकतायें जिम्मेदारियाँ बढ़ती हैं, फिर रात-दिन चिन्तित भयभीत रहता है, आगे पीछे के संकल्प-विकल्पों में उलझा रात-दिन दुःखी रहता है, रोग और बुढ़ापा आने पर तो हालत ही बिगड़ जाती है। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि मनुष्य तो निरन्तर चिन्तित और दुःखी ही रहता है।

रूप को न खोज रह्यो, ज्यों तुषार दह्यो ।

भयो पतझार किधो, रही डार सूनी सी ॥

कूबरी भई है कटि, दूबरी भई है देह ।

ऊबरी इतेक आयु, सेर माँहि पूनी सी ॥

जौवन ने विदा लीनी, जरा ने जुहार कीनी ।

हानी भई सुधि बुधि, सवे बाम ऊनी सी ॥

तेज घट्यो ताव घट्यो, जीवन को चाव घट्यो ।

और सब घट्यो, एक तिस्ना दिन दूनी सी ॥

वृद्धावस्था में यह हालत हो जाती है कि कोई बात पूछने वाला, बात करने वाला भी नहीं मिलता। मोह-लोभ बढ़ जाता है, किसी को खाने-पीने की इच्छा बढ़ जाती है और खाया हुआ हजम नहीं होता। कफ, खाँसी आदि अनेक परेशानियाँ होने लगती हैं।

४. देवगति—जहाँ ऋद्धि आदि के योग से शारीरिक सुख के सब साधन सहज में उपलब्ध हों उसे देवगति कहते हैं। देवगति पुण्य के उदय, संयम, तप करने से प्राप्त होती है।

सरागसंयम संयमासंयमाकामनिर्जरा बालतपांसि दैवस्य ॥

(तत्त्वार्थ सूत्र-६/२०)

देवगति में वैक्रियक शरीर होता है, वहाँ गर्भजन्म नहीं होता, उप्पाद शय्या पर जन्म होता है। नरक में बिलों में जन्म होता है। मनुष्य और तिर्य्यच गति में गर्भ और संमूर्च्छन जन्म होता है।

देवों के चार भेद हैं— १. भवनवासी, २. व्यन्तर, ३. ज्योतिषी, ४. वैमानिक।

चार प्रकार के देवों में सामान्य दस भेद हैं —

१. इन्द्र, २. सामानिक, ३. त्रायस्त्रिंश, ४. पारिषद, ५. आत्मरक्ष, ६. लोकपाल, ७. अनीक, ८. प्रकीर्णक, ९. आभियोग्य, १०. किल्बिषिक।

भवनवासी देवों के दस भेद—

१. असुर कुमार, २. नाग कुमार, ३. विद्युत कुमार, ४. सुपर्ण कुमार, ५. अग्नि कुमार, ६. वात कुमार, ७. स्तनित कुमार, ८. उदधि कुमार, ९. द्वीप कुमार, १०. दिक् कुमार।

व्यन्तर देवों के आठ भेद होते हैं —

१. किन्नर, २. किंपुरुष, ३. महोरघ, ४. गंधर्व, ५. यक्ष, ६. राक्षस, ७. भूत, ८. पिशाच।

पहले नरक रत्नप्रभा की पृथ्वी के तीन भाग हैं —

१. खर भाग, २. पंक भाग, ३. अब्बहुल भाग। पहले और दूसरे भाग में व्यन्तर और भवनवासी देवों के निवास हैं, तीसरे अब्बहुल भाग में प्रथम नरक के

नारकी रहते हैं। यह व्यन्तर और भवनवासी देव मध्यलोक की पृथ्वी के वृक्ष, कोटर, श्मशान और सूने घरों में भी रहते हैं। इनकी आयु कम से कम दस हजार वर्ष और अधिक से अधिक एक सागर होती है।

ज्योतिषी देवों के पाँच भेद-

१. सूर्य, २. चन्द्रमा, ३. ग्रह, ४. नक्षत्र, ५. प्रकीर्णक (तारे)। यह आकाश के मध्य भाग में रहते हैं, इनके विमान होते हैं, इनकी आयु एक पल्य होती है। भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी इन तीन निकायों में मिथ्यादृष्टि जीव ही होते हैं।

वैमानिक देव- इनमें कल्पवासी देवों के सोलह स्वर्ग होते हैं। आगे नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमान हैं। जगत में तीन लोक कहलाते हैं- अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक। अधोलोक में- सात नरक। मध्यलोक में- नन्दीश्वर द्वीप, भरत क्षेत्र आदि मनुष्य और तिर्यचों के रहने के स्थान हैं। ऊर्ध्वलोक में- वैमानिक देवों के सोलह स्वर्ग, नवग्रैवेयक, नवअनुदिश, पाँच अनुत्तर और इनके अन्त में सिद्ध शिला है, जहाँ सिद्ध मुक्त जीव रहते हैं, यहीं तक लोकाकाश है, इससे आगे आलोकाकाश है। यहाँ ऊर्ध्व लोक का वर्णन चल रहा है।

कल्पवासी सोलह स्वर्ग के नाम - १. सौधर्म, २. ईशान, ३. सानत्कुमार, ४. माहेन्द्र, ५. ब्रह्म, ६. ब्रह्मोत्तर, ७. लान्तव, ८. कापिष्ठ, ९. शुक्र, १०. महाशुक्र, ११. सतार, १२. सहस्रार, १३. आनत, १४. प्राणत, १५. आरण, १६. अच्युत।

सोलह स्वर्ग के देव कल्पवासी देव कहलाते हैं, इनके सोलह स्वर्ग विमान होते हैं, यहाँ मिथ्यादृष्टि और सम्यक्दृष्टि दोनों ही प्रकार के जीव होते हैं, यहाँ की आयु दो सागर से लेकर बाईस सागर तक होती है, यहाँ तक देव और देवी दोनों प्रकार के जीव होते हैं, स्वर्गों में कोई नपुंसक नहीं होता। यहाँ सब पीत, पद्म, शुक्ल लेश्या वाले होते हैं। इससे आगे कल्पातीत देव विमान होते हैं।

नव ग्रैवेयक के नाम - १. सुदर्शन, २. अमोघ, ३. सुप्रबुद्ध, ४. यशोधर, ५. सुभद्र, ६. विशाल, ७. सुमन, ८. सोमन, ९. प्रीतिकर।

नवग्रैवेयक में शुक्ललेश्या होती है, यहाँ तक मिथ्यादृष्टि जीव भी जाते हैं, इनकी आयु २२ सागर से ३१ सागर तक होती है।

नवअनुदिश के नाम- १. आदित्य, २. अर्चि, ३. अर्चिमाली, ४. वेरोचन, ५. प्रभास, ६. अर्चिप्रभ, ७. अर्चि मध्य, ८. अर्चिरावर्त, ९. अर्चिर्विशिष्ट।

यहाँ परम शुक्ल लेश्या होती है, यहाँ सम्यक्दृष्टि जीव ही जन्म लेते हैं, इनकी आयु ३१ सागर से ३२ सागर तक होती है।

पाँच अनुत्तर के नाम - १. विजय २. वैजयन्त ३. जयन्त ४. अपराजित ५. सर्वार्थ सिद्धि।

यहाँ परम शुक्ल लेश्या होती है, यहाँ एक भवावतारी सम्यक्दृष्टि जीव ही आते हैं, यहाँ की आयु ३३ सागर होती है। यहाँ से जाने के बाद मनुष्य भव से जीव सीधे मोक्ष जाते हैं।

देव, नारकी, तिर्यच यह कोई भी सीधे मोक्ष नहीं जा सकते, एक मात्र मनुष्य भव ही ऐसा है, जहाँ से जीव सीधे मोक्ष जा सकते हैं, जाते हैं।

पवित्र वैक्रियक शरीर के धारी देव कभी भी मनुष्यों के अपवित्र औदारिक शरीर के साथ काम सेवन नहीं करते। देवों के मांस, मदिरा आदि का सेवन नहीं होता। देवों को कंठ से झरने वाला अमृत का आहार होता है। कल्पवृक्षों से उनकी सब इच्छाओं की पूर्ति होती है। देवों में संतति की उत्पत्ति गर्भ द्वारा नहीं होती तथा उनका शरीर वीर्य और दूसरी धातुओं से बना हुआ नहीं होता। उनका वैक्रियक शरीर होता है और किसी भी रूप होने की विक्रिया होती है। केवल मन की काम भोग रूप वासना तृप्त करने के लिये वह यह उपाय करते हैं। नीचे के देवों की वासना तीव्र होती है तथा मानसिक दुःख से दुःखी रहते हैं। हमेशा दूसरे देवों की ऋद्धि, समृद्धि देखकर झुरते रहते हैं और मृत्यु से पूर्व छह माह पहले माला मुरझा जाने से बहुत विकल्पित दुःखी होते हैं। देवगति में सब देव एक समान नहीं होते, वहाँ भी ऊँच-नीच का भेदभाव और पुण्य-पाप के उदयानुसार सारी व्यवस्था होती है। इस प्रकार संसारी, मिथ्यादृष्टि जीव कहीं भी सुखी नहीं रहता और कहीं भी सुखी नहीं हो सकता; क्योंकि जिसकी दृष्टि बाहर पर की तरफ पराधीन है, वह कैसे सुखी हो सकता है, कहा भी है- " पराधीन सपनेहु सुख नाही "।

सुख तो एक मात्र अपने निज स्वभाव में है, अपने आत्मस्वरूप का श्रद्धान सम्यक्दर्शन ही सुख का मूल आधार है इसलिये सद्गुरु इस मनुष्य भव में जीवों को जगाते हैं, अपना आत्महित करने सुखी होने का मार्ग बताते हैं -

जे त्रिभुवन में जीव अनंत, सुख चाहें दुख तैं भयवन्त।

तातैं दुःखहारी सुखकार, कहैं सीख गुरु करुणाधार ॥

ताहि सुनो भवि मन थिर आन, जो चाहो अपनो कल्याण ॥

संसार में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव रूप पंच परावर्तन चलता है, इस पंच परावर्तन रूप संसार में काल अपना विशेष महत्व रखता है। इस काल चक्र का छह कालों से युक्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के द्वारा भरत और ऐरावत क्षेत्र में जीवों के आयु, काय, बुद्धि की वृद्धि-हानि होती रहती है। बीस कोड़ाकोड़ी सागर का एक कल्पकाल होता है, उसके दो भेद हैं- १. उत्सर्पिणी- जिसमें जीवों के ज्ञानादि की वृद्धि होती है। २. अवसर्पिणी- जिसमें जीवों के ज्ञानादि का हास होता है। भरत-ऐरावत क्षेत्र में काल चक्र का परिवर्तन-

क्रम	काल का नाम	समय	मनुष्यों की आयु		ऊँचाई		आहार
			प्रारंभ में	अन्त में	प्रारंभ में	अन्त में	
१.	सुषमा- सुषमा	४ कोड़ा कोड़ी सागर	३ पल्य	२ पल्य	३ कोस	२ कोस	चौथे दिन बेर बराबर
२.	सुषमा	३ को. को. सा.	२ पल्य	१ पल्य	२ कोस	१ कोस	एक दिन अंतर बहेड़ा बराबर
३.	सुषमा- दुषमा	२ कोड़ा कोड़ी सागर	१ पल्य	१ कोटी	१ कोस	५०० धनुष	एक दिन के अंतर आंवला बराबर
४.	दुषमा- सुषमा	४२ हजार वर्ष कम १ को. को. सा.	१ कोटी	१२० वर्ष	५०० धनुष	७ हाथ	रोज एक बार
५.	दुषमा	२१ हजार वर्ष	१२० वर्ष	२० वर्ष	७ हाथ	२ हाथ	कई बार
६.	दुषमा- दुषमा	२१ हजार वर्ष	२० वर्ष	१५ वर्ष	२ हाथ	१ हाथ	अतिप्रचुर वृत्ति, मनुष्य नग्न, मछली आदि का आहार, मुनि श्रावकों का अभाव, धर्म का नाश

असंख्यात अवसर्पिणी बीत जाने के बाद एक हुंडावसर्पिणी काल आता है, इस समय हुंडावसर्पिणी का पांचवां काल चल रहा है। सम्यक्दृष्टि जीव इन सब बातों का विचार कर इनसे छूटने की वैराग्य भावना भाता है। संयम, तप के मार्ग पर आगे बढ़ता है, जबकि संसारी मिथ्यादृष्टि जीव इसी चक्र में घूमता रहता है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि ऐसे दुःख रूप भयानक संसार में यह जीव अनादि से क्यों भ्रमण कर रहा है ? इसके उत्तर में श्री जिन तारण स्वामी स्वयं आगे उसका वर्णन करते हैं -

अनादि भ्रमते जीवा, संसार सरन संगते ।

मिथ्या त्रिति संपूर्ण, संमिक्तं सुद्ध लोपनं ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ- (मिथ्या त्रिति संपूर्ण) तीन मिथ्यात्व अर्थात् मिथ्यात्व, सम्यक्

मिथ्यात्व, सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व से परिपूर्ण है (संमिक्तं सुद्ध लोपनं) शुद्ध सम्यक्त्व अर्थात् अपने शुद्धात्म स्वरूप को भूला हुआ है (संसार सरन संगते) संसार अर्थात् धन, शरीर, परिवार, विषयादि के आश्रय लगा हुआ है, रंजायमान हो रहा है, इससे (अनादि भ्रमते जीवा) अनादिकाल से यह जीव भ्रमण कर रहा है।

विशेषार्थ- संसार अर्थात् चार गति, चौरासी लाख योनियों में यह जीव दुःख भोगता हुआ अनादिकाल से क्यों भ्रमण कर रहा है ? यह प्रश्न पूछने पर श्री गुरु तारण स्वामी अपूर्व समाधान कर रहे हैं- जैन दर्शन का मर्म, जीव के संसार में भ्रमण का मूल कारण, अपने सत्स्वरूप का विस्मरण और यह शरीर ही मैं हूँ, यह शरीरादि मेरे हैं तथा मैं इनका कर्ता हूँ, ऐसी तीन प्रकार की मिथ्या मान्यता ही संसार परिभ्रमण का कारण है। यहाँ जैन दर्शन के मर्म को समझने के लिये गहराई में उतरना होगा, अनादि से जीव का और कर्म का संयोग है अर्थात् मिले हुए हैं, कैसे मिले हुए हैं ? जैसे -स्वर्ण और पाषाण।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि स्वर्ण और पाषाण तो पुद्गल, रूपी पदार्थ हैं मिल सकते हैं; परंतु जीव चेतन और अरूपी, कर्म पुद्गल अचेतन और रूपी, यह कैसे मिले ? इसका समाधान है कि जीव भी द्रव्य है और पुद्गल भी द्रव्य है और द्रव्य का एक विशेष गुण है, द्रवित होना अर्थात् एक दूसरे में मिल जाना, यद्यपि अपनी सत्ता स्वरूप से सदा भिन्न रहते हैं, परंतु मिलने की शक्ति होने के कारण जीव चेतन अरूपी होता हुआ भी द्रव्य होने के कारण कर्म पुद्गल रूपी द्रव्य में मिला हुआ है। यहाँ और विशेष महत्वपूर्ण बात समझने की है कि कर्मों में सबसे प्रबल सबका राजा मोहनीय कर्म है और उसके दो भेद हैं- दर्शन मोहनीय, चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृति हैं- मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व, यह जीव के दर्शन गुण का घात करती हैं और जीव इन तीनों में पूरा का पूरा डूबा है। डूबा है अर्थात् लिप्त एकमेक हो रहा है और अपने शुद्धात्म स्वरूप को भूला है, लोप कर दिया है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि जीव और पुद्गल द्रव्य होने के कारण मिले हैं ; परंतु यह कर्म तो पुद्गल की अशुद्ध दशा है, कर्म कोई द्रव्य तो नहीं है तथा पुद्गल परमाणु, जीव की अशुद्धता, विभाव परिणमन के निमित्त से कर्मरूप होते हैं और जीव का विभाव परिणमन कर्मोदय के निमित्त से होता है, ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, तो यह बताइये कि यह पुद्गल कर्म रूप कैसे हुआ और जीव अशुद्ध,

विभावरूप परिणमित कैसे हुआ ? तथा इनमें पहले कौन हुआ और कैसे हुआ ?

उसका समाधान करते हैं कि ऐसा अनादि से है । कैसे अनादि से ? जैसे- वृक्ष और बीज । वह कहाँ से आया, कैसे हुआ ? यह अनादि की प्राकृतिक स्वतंत्र व्यवस्था है, इसी सिद्धांत से पूरे विश्व का परिणमन स्वतंत्र है, यहाँ कोई किसी का कर्ता नहीं है, सब अपने आप तत्समय की योग्यतानुसार हो रहा है ।

ठीक है, यह अनादि से है और सब तत्समय की योग्यतानुसार हो रहा है तो फिर अब क्या होगा ?

अब इस बात को समझ लो कि मैं परमात्म स्वरूप हूँ और यह सब माया है । माया कहो या कर्म कहो एक ही बात है और इससे छूटने का भाव हो तब बात बने; क्योंकि अभी एक समस्या और है कि यह संसार में विमोहित हो रहा है । श्री तारण स्वामी कहते हैं- **संसार सरन संगते**, संसार की शरण में रंजायमान हो रहा है अर्थात् इसी के चक्कर में घूम रहा है । इसी को पं. दौलतराम जी ने छहढाला में कहा है ।

मोह महामद पियो अनादि, भूल आपको भरमत वादि ॥

जैसे जाति का बंदर और ऊपर से शराब पिये हो फिर देखो कितनी उछल कूद, उठापटक करता है । इसी प्रकार यह जीव मिथ्यात्व से अंधा हो रहा है और साथ में लगा है मोह, माया का प्रपंच, अब छूटे तो कैसे छूटे ?

और फँसा है कैसे चक्कर में, इन सब बातों को सुनो तब पता लगे, तारण स्वामी तो यहाँ जड़ खोदकर बता रहे हैं, संसार भ्रमण का कारण पूछा है तो पूरी बात सुनो, क्योंकि जीव कितने गहरे में फँसा है, डूबा है । जब तक पूरी बात सुनेंगे, समझेंगे नहीं, तब तक काम चलने वाला नहीं है और ऐसे सहज में छुटकारा होने वाला भी नहीं है ।

यह मिथ्यात्व के साथ ही मिथ्या देव, गुरु, धर्म के चक्कर में फँसा है, मिथ्यात्व माया में विमोहित हो रहा है, शरीरादि अचेतन से राग कर रहा है, इससे संसार में भ्रम रहा है, इसी बात को आगे गाथा में कहते हैं -

मिथ्या देव गुरुं धर्मं, मिथ्या माया विमोहितं ।

अनृतं अचेत रागं च, संसारे भ्रमनं सदा ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ- (मिथ्या देव गुरुं धर्मं) मिथ्या देव, गुरु, धर्म के चक्कर में फँसा है (मिथ्या माया विमोहितं) मिथ्या माया में मोहित हो रहा है (अनृतं अचेत रागं च)

और क्षणभंगुर नाशवान जो शरीरादि हैं इनमें राग कर रहा है (संसारे भ्रमनं सदा) इससे हमेशा संसार में भ्रमण कर रहा है और करेगा ।

विशेषार्थ- एक कहावत है- गुरवेल और नीम चढ़ी, गुरवेल वैसे ही कड़वी होती है और नीम पर चढ़ी हो तो ज्यादा कड़वी हो जाती है । इसी प्रकार जीव अनादि से मिथ्यात्व में तो फँसा ही है और ऊपर से मिथ्यादेव गुरु धर्म का ही आश्रय मिला, जो संसार में भटकने की पाप-पुण्य की ही चर्चा करते हैं । कभी सच्चे देव गुरु धर्म का सत्संग नहीं मिला, जो धर्म का वास्तविक स्वरूप बताते, आत्मा का श्रद्धान भेदज्ञान कराते ।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि यह बात तो समझ में नहीं आई; क्योंकि कई बार भगवान के समवशरण में भी गये, भगवान की दिव्य ध्वनि सुनी और वर्तमान में जैन कुल में वीतरागी देव गुरु धर्म के सानिध्य में हैं, आत्मा की भी चर्चा सुन रहे हैं फिर यह कैसे हो सकता है ?

उसका समाधान करते हैं कि भगवान के समवशरण में गये पर देखा किसे ? दिव्यध्वनि सुनी, परंतु भगवान की सुनी या अपने भीतर जो भरी थी उसे ही सुनते रहे ? क्योंकि-

जो जाणदि अरहंतं, दव्वत्त गुणत्त पज्जयत्तेहि ।

सो जाणदि अप्पाणं, मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥

(प्रवचन सार गाथा - ८०)

जो अरिहन्त को द्रव्यत्व, गुणत्व और पर्यायत्व से जानता है वह आत्मा को जानता है और उसका मोह नाश को प्राप्त होता है ।

इसलिये जिसे जीवादि तत्वों का श्रद्धान नहीं है उसे अरिहन्तादि का भी सच्चा श्रद्धान नहीं है । बाहर से शरीर की पूजा वंदना भक्ति स्तुति से कोई लाभ नहीं है ।

यही समयसार जी में कहा है-

तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होति केवलिणो ।

केवलि गुणो थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि ॥ २९ ॥

वह स्तवन निश्चय में योग्य नहीं है क्योंकि शरीर के गुण केवली के गुण नहीं होते, जो केवली के गुणों की स्तुति करता है वह परमार्थ से केवली की स्तुति करता है । वर्तमान में जैन कुल में आये हैं, वीतरागी देव, गुरु, धर्म का योग मिला है, पर हमारी दशा क्या हो रही है, क्या हम जैन हैं ? निश्चय से जिसने अपने को जान

लिया, वह जैन है। व्यवहार में जिसने इन्द्रियों को जीत लिया, वह जैन है। हमारे आचरण क्या हैं, यह स्वयं देखें तथा वीतरागी देव, गुरु, धर्म का योग मिला, पर हमारी मान्यता और श्रद्धा क्या है, तथा हम क्या हैं? जरा स्वयं को देखें। ऊपर से बाहर से पुण्य के उदय से सब शुभ योग मिले और ऐसे कई बार मिले होंगे; परन्तु क्या हमने सच्चे देव, गुरु, धर्म के स्वरूप को समझकर कभी सच्ची श्रद्धा की है? जैसे अन्य, अपने देव गुरु धर्म की श्रद्धा भक्ति करते हैं, वैसे ही हम भी करते हैं, तो क्या भेद हुआ? क्योंकि हमारी मान्यता, श्रद्धान ही उल्टा विपरीत है, तो क्या होगा? यहाँ तो कहते हैं कि सच्चे देव गुरु धर्म का एक बार भी सत्संग हो जाये तो बेड़ा पार हो जाये, कहा है—

**जिन वयनं उवएसं, केई पुरिसस्य मनिरयन वित्थरनं ।
मनुवा पंषि अनेयं, चंचु आक्रिनि लेवि सं उडियं ॥**

उपदेशसुद्धसार गाथा-४

जिनेन्द्र भगवान के वचन रूप उपदेशरत्न को मणिरत्न की भाँति कोई विरले पुरुष विस्तार को प्राप्त कर पाते हैं। भगवान के समवशरण में मनुष्य रूपी पक्षी तो अनेक होते हैं किन्तु कोई विरले भव्य जीव जिनेन्द्र भगवान के वचनोपदेश रूपी मणिरत्न को कर्णरूपी चोंच में लेकर उड़ जाते हैं अर्थात् जो जीव भगवान की वाणी को ग्रहण कर लेते हैं यही सत्संग की सार्थकता है।

सत्संग उसे कहते हैं, जब हमारी दृष्टि पलट जाये, अपने ब्रह्म स्वरूप की सुरत हो जाये और संसार से विरक्तता आ जाये, यह है सत्संग की महिमा। सत्य की स्वीकारता, सत्य की श्रद्धा ही सच्चे देव गुरु धर्म का मिलना है और यह अभी तक इस जीव को हुआ नहीं है तथा मिथ्या माया में मोहित हो रहा है। माया के तीन रूप हैं— कंचन, कामिनी और कीर्ति। इनके चक्कर में संसारी प्राणी भ्रमित हो रहा है, और यह सब झूठी मन की भ्रमना छल है। न यह कुछ साथ आती है और न साथ जाती है और न इससे किसी का भला होता है, मात्र छल धोखा है जिसमें अज्ञानी प्राणी मोहित हो रहा है और इसकी चाह में व्याकुल हो रहा है। यह माया ही इस जीव को मोहित किये हुए है, यही अपने ब्रह्म स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होने दे रही है। यह जीव क्षणभंगुर नाशवान शरीरादि अचेतन पदार्थों में राग कर रहा है, इससे अनादि से संसार में भ्रमण कर रहा है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि यह अनादि से ही मिथ्यात्व माया, मोह आदि लगे हैं,

तो इसमें जीव क्या करे ?

इसका समाधान करते हैं कि यह अनादि से तो लगे हैं परन्तु अब तुम्हें यह मनुष्य भव और विवेक बुद्धि मिली है, अब तुम वस्तु स्वरूप को समझो, भेदज्ञान करो, अपने सत्स्वरूप को पहिचानो तो इन सब झंझटों से छूट जाओगे और आनंदमय मुक्त हो जाओगे।

परन्तु अज्ञानी प्राणी क्या करता है? वह वस्तु स्वरूप का विचार चिन्तन तो नहीं करता और उल्टा चिन्तन करता है। कैसा क्या करता है? इस बात को आगे गाथा में कहते हैं—

अनृतं विनासी चिंते, असत्यं उत्साहं कृतं ।

अन्यानी मिथ्या सद्भावं, सुद्ध बुद्धं न चिंतए ॥ २० ॥

अन्वयार्थ- (अनृतं विनासी चिंते) अशाश्वत और विनाशीक संयोग का चिन्तन करता है (असत्यं उत्साहं कृतं) असत्य झूठी बातों और झूठी क्रिया में बड़ा उत्साह करता, उत्साहित रहता है (अन्यानी मिथ्या सद्भावं) अज्ञानी इन्हीं झूठे कार्यों में, भावों में लगा रहता है (सुद्ध बुद्धं न चिंतए) अपने शुद्ध-बुद्ध, अविनाशी शुद्धात्म स्वरूप का चिन्तन नहीं करता।

विशेषार्थ- यहाँ जीव के संसार भ्रमण का क्या कारण है? यह प्रश्न पूछे जाने पर सद्गुरु तारण स्वामी उसका विवेचन कर रहे हैं कि मूल कारण तो मिथ्यात्व है, इसके साथ संसार शरीर भोगों में रंजायमान होना, मिथ्या देव, गुरु, धर्म का सेवन करना, मिथ्या माया में मोहित रहना और क्षणभंगुर नाशवान शरीरादि अचेतन पदार्थों में राग करना। यहाँ इसी बात को खुलासा कर रहे हैं कि जीव इन सबमें लगा है तथा इन्हीं अशाश्वत, विनाशीक पदार्थों का चिन्तन करता है, इन्हीं के झूठे प्रपंचों में अति उत्साहित रहता है तथा इन्हीं की चर्चा और इन्हीं के भाव करने में लगा रहता है। अपने शुद्ध-बुद्ध, अविनाशी चैतन्य तत्व भगवान आत्मा का तो चिन्तन करता ही नहीं है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि जब अपने शुद्ध-बुद्ध अविनाशी चैतन्य तत्व भगवान आत्मा का ही पता नहीं है, कभी उसे जाना नहीं, अनुभव नहीं किया तो उसका चिन्तन कैसे करें? जो जानने में आया जिससे संबंध है, उसी का चिन्तन चलता है वैसे ही भाव होते हैं, इसमें कोई क्या करे? इसका समाधान समयसार जी में आया है—

सुद परिचिदाणुभूदा सव्वस्सवि कामभोग बंध कहा ।

एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण, सुलहो विहत्तस्स ॥ ४ ॥

सर्वलोक को कामभोग संबंधी बंध की कथा तो सुनने में आ गई है, परिचय में आ गई है और अनुभव में भी आ गई है इसलिये यह सुलभ है; किन्तु भिन्न आत्मा का एकत्व होना कभी न तो सुना है, न परिचय में आया है और न अनुभव में आया है इसलिये एक मात्र वही सुलभ नहीं है। और भी आगे कहा है -

तं एयत्त विहत्तं, दाएहं अप्पणो सविहवेण ।

जदि दाएज्ज पमाणं, चुक्किज्ज छलं ण घेत्तव्वं ॥ ५ ॥

उस एकत्व विभक्त आत्मा को मैं आत्मा के निज वैभव से दिखाता हूँ, यदि मैं दिखाऊँ तो प्रमाण (स्वीकार) करना और यदि कहीं चूक जाऊँ तो छल ग्रहण नहीं करना।

यहाँ यही तो समझना है कि हम चाहते क्या हैं? अगर आत्मकल्याण करना चाहते हैं, सुख शांति आनंद में रहना चाहते हैं तो जिसके आश्रय से वह मिलने वाला है, उस ओर का प्रयास पुरुषार्थ करें, इसके लिये चार बातें ध्यान में रखें, इनका अभ्यास करें, तो अवश्य काम बनेगा- १. आगम का सेवन, २. युक्ति का अवलम्बन, ३. पर और अपर गुरु का उपदेश, ४. स्व संवेदन।

हम क्या कर रहे हैं, इस बात को तारण स्वामी अगली गाथा में कहते हैं -

मिथ्या दर्सनं न्यानं, चरनं मिथ्या उच्यते ।

अनृतं राग संपूर्णं, संसारे दुष वीर्जयं ॥ २१ ॥

मिथ्या संजम हृदयं चिंते, मिथ्या तप ग्रहनं सदा ।

अनंतानंत संसारे, भ्रमते अनादि कालयं ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ- (अनृतं राग संपूर्णं) झूठे राग में फँसकर (संसारे दुष वीर्जयं) संसार के दुःख का बीज बो रहे हैं (मिथ्या दर्सनं न्यानं) मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान (चरनं मिथ्या उच्यते) और मिथ्याचारित्र को धर्म कहते हैं।

(मिथ्या संजम हृदयं चिंते) मिथ्या संयम का हृदय में चिन्तन करते हैं (मिथ्या तप ग्रहनं सदा) मिथ्या तप को सदा ग्रहण करते हैं इससे (अनंतानंत संसारे) अनन्तानंत संसार में (भ्रमते अनादि कालयं) अनादि काल से भ्रमण कर रहे हैं और करते रहेंगे।

विशेषार्थ- यहाँ संसार भ्रमण का कारण क्या है? यह बताया जा रहा है कि जीव झूठे राग में फँसकर संसार में दुःख का बीज बोता है। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र में लगा रहता है। मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्र क्या है?

ऐसे मिथ्यादृग ज्ञान चर्ण वश, भ्रमत भरत दुःख जन्म-मरण ।

तातैं इनको तजिये सुजान, सुन तिन संक्षेप कहूँ बखान ॥

जीवादि प्रयोजनभूत तत्व, सरधें तिनमाहिं विपर्ययत्व ।

चेतन को है उपयोग रूप, बिन मूरति चिन्मूरति अनूप ॥

पुद्गल नभ धर्म अधर्म काल, इनतैं न्यारी है जीव चाल ।

ताको न जान विपरीत मान, करि करै देह में निज पिछान ॥

मैं सुखी दुःखी मैं रंक राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव ।

मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीन ॥

तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाशमान ।

रागादि प्रगट ये दुःख देन, तिनही को सेवत गिनत चैन ॥

शुभ अशुभ बंध के फल मंझार, रति अरति करे निजपद विसार ।

रोके न चाह निज शक्ति खोय, शिव रूप निराकुलता न जोय ॥

याही प्रतीति जुत कछुक ज्ञान, सो दुःख दायक अज्ञान जान ।

इन जुत विषयनि में जो प्रवृत्त, ताको जानो मिथ्या चरित्र ॥

इस प्रकार धर्म के विपरीत आचरण कर संसार का ही कारण बनाता है तथा संयम तप के नाम पर मिथ्या संयम, मिथ्या तप करता है। संयम पाँच इन्द्रिय और मन को वश में करना तथा पाँच स्थावर और त्रस जीवों की रक्षा करना है, सो यह तो करता नहीं और अपनी मनमानी से बाह्य आचरण उल्टा सीधा करता है जिससे निराकुलता के बजाय आकुलता और विकल्प का कारण बनाता है, स्वयं परेशान रहता है और दूसरों को परेशान करता है।

तप का वास्तविक स्वरूप- **‘इच्छा निरोधः तपः’** इच्छाओं के निरोध को तप कहते हैं। तप के बारह भेद हैं- छह बाह्य तप- १. अनशन, २. उनोदर, ३. वृत्ति परिसंख्यान, ४. रसपरित्याग, ५. विविक्त सय्यासन, ६. कायक्लेश।

छह अन्तरंग तप- १. प्रायश्चित्त, २. विनय, ३. वैयावृत्य, ४. स्वाध्याय, ५. व्युत्सर्ग, ६. ध्यान।

‘तपसा निर्जरा च’ तप से कर्मों की निर्जरा होती है सो यह तो करता नहीं,

अपनी मनमानी मिथ्या आडम्बर करता है, स्वयं संक्लेशित रहता है तथा दूसरों के लिये संक्लेश का कारण बनता है इससे अनन्तानंत संसार में अनन्त काल तक परिभ्रमण करता है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि अन्यमती में तो नाना भेष बनाते हैं और मिथ्या आडम्बर करते हैं, भक्ष्य-अभक्ष्य का विवेक नहीं रखते, पंचाग्नि तप करते हैं और नाना प्रकार का ढोंग रचते हैं, परंतु अपने यहाँ तो ऐसा कुछ नहीं करते, भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार रखते हैं, सही तप भी करते हैं फिर यह मिथ्या संयम मिथ्या तप क्यों कहा है ?

उसका समाधान करते हैं कि पहली बात तो यह है कि सम्यक्त्व से हीन अर्थात् अपनी आत्मश्रद्धा से रहित जो भी संयम तप है वह सब मिथ्या संयम, मिथ्यातप ही है क्योंकि वह सब संसार के ही कारण हैं, भले ही ऐसे संयम तप से पुण्य बन्ध होवे सद्गति होवे, देवगति चला जावे पर उससे लाभ क्या है ? ऐसे तो -

मुनि व्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो ।

पै निज आतम ज्ञान बिना, सुख लेश न पायो ॥

दूसरी बात मन और इन्द्रियों के वश करने को संयम कहते हैं सो यह मन और इन्द्रिय तो वश में करता नहीं और खाने-पीने की शुद्धि, बाह्य आडम्बर करता है, इन्हीं को संयम कहता है तथा तप, इच्छा के निरोध करने को कहते हैं, सो इच्छा का निरोध तो करता नहीं और तप के नाम पर नाना प्रकार के फैलाव फैलाता है। वैसे प्रतिदिन सामान्य भोजन करता है, परंतु व्रत के दिन नाना प्रकार के व्यंजन बनाता है। जबकि संयम तप करने वाले को तो सहज, सरल, आर्किचन्य निस्पृह होना चाहिये, जो कुछ जैसा अपने नियम के अनुकूल मिल जाये उसमें ही सन्तोष और तृप्त रहना चाहिये परन्तु वर्तमान में क्या हो रहा है, यह सब देख ही रहे हैं, इस प्रकार यह मिथ्या संयम, मिथ्या तप में लगा जीव संसार भ्रमण ही करता है। अब मिथ्यात्व के साथ चार अनन्तानुबंधी कषायों में लगे रहने से अनन्त कर्मों का अनुबन्ध करता है, उसका स्वरूप कहते हैं -

मिथ्या दिस्टि च संगेन, कसायं रमते सदा ।

लोभं क्रोधं मयं मान, गृहितं अनंत बंधनं ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ- (मिथ्या दिस्टि च संगेन) मिथ्यात्वमय दृष्टि के संग से (कसायं रमते सदा) कषायों में हमेशा रमण करता है (लोभं क्रोधं मयं मानं) लोभ, क्रोध, माया, मान के (गृहितं अनंत बंधनं) अनन्तानुबंधी बंधन में लगे रहने से अनन्त कर्मों

का बन्ध होता है।

विशेषार्थ- यहाँ संसार भ्रमण का मूल कारण मिथ्यात्व तो है ही उसके साथ अनन्तानुबंधी चार कषाय लोभ, क्रोध, मान, माया भी लगी रहती हैं, इन्हीं से अनन्त कर्मों का बन्ध होता है। यहाँ विशेष बात समझने की है कि पहले मोहनीय कर्म के दो भेद बताये थे, पहले दर्शन मोहनीय जिसके तीन भेद- मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व, सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व। दूसरे चारित्र मोहनीय के पच्चीस भेद होते हैं, जिन्हें कषाय कहते हैं। कषाय चार होती हैं- क्रोध, मान, माया, लोभ इनकी तीव्रता मंदता के चार भेद हैं, अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन $8 \times 8 = 64$, नौ नौ कषाय होती हैं- हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसक वेद, यह सब पच्चीस हैं। अब इन पच्चीस कषायों को दो भेदों में बाँटा है, जिन्हें राग-द्वेष कहते हैं। राग के अंतर्गत तेरह कषाय आती हैं, माया और लोभ की चौकड़ी तथा हास्य, रति और तीनों वेद। द्वेष के अंतर्गत बारह कषाय क्रोध और मान की चौकड़ी तथा अरति, भय, शोक, जुगुप्सा। अब यहाँ समझने का विषय है कि मिथ्यात्व के साथ यह अनन्तानुबंधी चार कषाय हमेशा रहती ही हैं।

जो जीव को कर्मों से कसे बांधे उसे कषाय कहते हैं।

अब विशेष बात जो हमेशा स्मरण रखना है-

१. संसार में जीव को दुःखी करने वाला-मोह है।

२. संसार में जीव को रूलाने वाला भ्रमण कराने वाला - मिथ्यात्व है।

३. संसार में जीव को कर्म बन्ध का कारण- कषाय या राग -द्वेष है।

तीन मिथ्यात्व और चार अनन्तानुबंधी कषाय के छूटने पर ही जीव को अपने स्वरूप का भान, सम्यक्दर्शन होता है, जब तक यह नहीं टूटती-छूटती तब तक जीव को संसार में ही भ्रमण करना पड़ेगा।

अब आगे चार कषायों में पहले लोभ का स्वरूप कहते हैं -

लोभं कृतं असत्यस्या, असास्वतं दिस्टते सदा ।

अनृतं कृत आनंदं, अधर्म संसार भाजनं ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ- (लोभं कृतं असत्यस्या) लोभ करना बिल्कुल झूठा है, अधर्म है (असास्वतं दिस्टते सदा) लोभ करने वाला हमेशा क्षणभंगुर, नाशवान पदार्थों को ही देखता है (अनृतं कृत आनंदं) और इन्हीं सब नाशवान पदार्थों को इकट्ठा करने,

बनवाने में आनंद मानता है (अधर्म संसार भाजनं) यही अधर्म, पाप, संसार का पात्र बनाता है।

विशेषार्थ- यहाँ चार कषायों में पहले लोभ कषाय का वर्णन चल रहा है। कषाय करने वाला कैसा होता है उसका एक सूत्र है—

क्रोधी अन्धा होता है, मानी बहारा होता है।

लोभी नकटा होता है, मायाचारी गूंगा होता है ॥

पापों की माँ—माया और पापों का बाप—लोभ होता है। लोभ तृष्णा को कहते हैं, संग्रह करने की वृत्ति लोभ है। मानसिक अशान्ति, चिन्ता, भय और दुःख का कारण लोभ है। लोभ करने वाले को किसी से प्रेम स्नेह नहीं होता। लोभ का मूल आधार धन, वैभव, परिग्रह है। लोभी को हित-अहित, पाप-पुण्य का कोई विचार, विवेक नहीं होता। धन संग्रह करना ही उसका एक मात्र लक्ष्य होता है। लोभ के कारण ही परिवार में कलह अशान्ति होती है। अनीति अन्याय, भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी सब धन और लोभ के कारण होती है। लोभी न खाता है, न सोता है, हमेशा भयभीत रहता है। लोभी कभी व्रत धारण नहीं कर सकता। क्रोध और मान तो बाहर से दिखाई देते हैं, पकड़ में आ जाते हैं, परन्तु लोभ और माया बाहर से दिखाई नहीं देते, सहजता से पकड़ में नहीं आते। नरक में ले जाने का एक मात्र कारण लोभ ही है। बाहर में धन-वैभव परिग्रह होवे न होवे, यह पाप-पुण्य के उदयाधीन है, पर लोभ की प्रवृत्ति, लोभ कषाय तो अन्तरंग परिणति है जो भीतर ही भीतर काम करती रहती है, लोभी को किसी का विश्वास नहीं होता। पुत्र, पत्नि, भाई तक का विश्वास नहीं करता। धन की बहुत पकड़ होती है। लोभी को निरन्तर रौद्र ध्यान चलता रहता है। लोभी को बाहरी फैलाव धन-वैभव, परिग्रह ही दिखता है और इनके इकट्ठा करने, होने में ही आनंद मानता है। उसे अपने सत्स्वरूप आत्मा की तो कोई खबर ही नहीं होती, अधर्म में पापों में लगा हुआ संसार का पात्र बनता है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि कषायों में तो क्रोध, मान, माया, लोभ का क्रम है, यहाँ तारण स्वामी ने लोभ को पहले क्यों रखा ?

उसका समाधान है कि यहाँ तारण स्वामी ने जीव की परिणति और कषाय के मूल आधार को पकड़ा है; क्योंकि लोभ से ही क्रोध, मान, माया होते हैं और यह जीव के साथ दसवें गुणस्थान तक रहता है, लोभ ही पाप का बाप, पापों की जड़ है,

लोभ से ही संसार का सब चक्र चलता है। लोभ का प्राण धन है और यही संसार का प्राण है। धन और धर्म की अत्यन्त विपरीतता है, जिसे धन इष्ट और प्रिय होगा, उसे धर्म उपलब्ध हो ही नहीं सकता। पुण्य-पाप की जड़ धन है, धर्म से तो इसका कोई संबंध है ही नहीं, धर्म मार्ग का सबसे बड़ा बाधक कारण धन है। जिन्हें धर्म मार्ग पर चलना था, मुक्त होना था, उन्होंने इस पाप-परिग्रह का त्याग किया तभी मुक्त हो सके। बड़े-बड़े राजा, महाराजा, तीर्थंकर, चक्रवर्ती इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। आगे लोभ से ही क्रोध होता है, और वह आत्मा धर्म रत्न को जलाता है, इसका वर्णन करते हैं—

कोहाग्नि प्रजुलते जीवा, मिथ्यातं घृत तेलयं।

कोहाग्नि प्रकोपनं कृत्वा, धर्म रत्नं च दग्धये ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ- (कोहाग्नि प्रजुलते जीवा) जब जीव क्रोध की अग्नि में जलता है (मिथ्यातं घृत तेलयं) मिथ्यात्व, घी और तेल का काम करता है (कोहाग्नि प्रकोपनं कृत्वा) इससे क्रोधाग्नि बहुत बढ़ जाती है, उसका प्रकोप अति प्रबल हो जाता है (धर्म रत्नं च दग्धये) जिससे धर्म रत्न भस्म हो जाता है।

विशेषार्थ- यहाँ संसार भ्रमण के कारण मिथ्यात्व के साथ अनन्तानुबंधी कषाय का वर्णन चल रहा है, यहाँ क्रोध का स्वरूप बताया जा रहा है कि जब जीव को अनन्तानुबंधी क्रोध उत्पन्न होता है तो उसमें मिथ्यात्व घी और तेल का काम करता है, इस क्रोधाग्नि में जीव अन्धा हो जाता है, फिर उसे अपने-पराये का, अच्छे-बुरे का कोई होश नहीं रहता। क्रोध की तीव्रता में बड़ा अनर्थ कर डालता है, परघात, अपघात तक की स्थिति बन जाती है। मिथ्यात्व सहित अनन्तानुबंधी क्रोध का उदाहरण द्वीपायन मुनि थे, जिन्होंने पूरी द्वारिका को और स्वयं को भी उसी में भस्म कर दिया। क्रोधी जीव को हानि-लाभ का, भले-बुरे का, छोटे-बड़े का, घर-बाहर का कोई होश नहीं रहता। क्रोध के आवेश में जीव क्या से क्या नहीं कर डालता, यह प्रत्यक्ष संसार में देखने में आता है, अपना क्या होगा, इसका तो उसे होश ही नहीं रहता।

क्षमा धर्म का नाश करने वाला क्रोध ही है। क्रोध का मूल आधार बुरा लगना है। अपनी मनचाही बात न होने से क्रोध आता है, कोई इच्छानुसार न चले तो क्रोध आता है, कोई नुकसान हो जाये कोई अपमान कर दे तो एकदम

क्रोध आ जाता है। बहिर्दृष्टि होने से ही क्रोध आता है और जब तक क्रोध की तीव्रता रहती है तब तक धर्म का जागरण हो ही नहीं सकता।

कुछ भी सुनने में बुरा लगता है तब तक सम्यक्दर्शन नहीं हो सकता। आगे इसी के साथ मान का वर्णन करते हैं -

मानं अनृतं रागं , माया विनास दिस्टते ।

असास्वतं भाव त्रिधन्ते, अधर्मं नरयं पतं ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ- (मानं अनृतं रागं) मान कषाय में अशुभ राग अर्थात् शरीरादि और (माया विनास दिस्टते) विनाशीक माया पर पदार्थ ही दिखाई देते हैं (असास्वतं भाव त्रिधन्ते) अशाश्वत भाव अर्थात् संसारी भाव बढ़ जाते हैं (अधर्मं नरयं पतं) और यह अधर्म नरक में ले जाता है।

विशेषार्थ- मान, अहंकार घमण्ड को कहते हैं और यह संसारी जीव को आठ प्रकार का होता है- जाति मद, कुल मद, रूप मद, बल मद, धन मद, ज्ञान मद, तप मद, ऋद्धि मद। **मान महा विष रूप करहिं नीच गति जगत में**, मान कषाय वाले को किसी की हित की बात भी अच्छी नहीं लगती वह किसी की बात सुनना ही नहीं चाहता, अपनी सुनाना चाहता है। अपने सामने किसी को कुछ नहीं समझता। माता-पिता, गुरुजनों तक का अनादर करता है, अपने आपको ही सबसे श्रेष्ठ अकल मंद मानता है, अपनी बात सबसे मनवाना चाहता है, अगर उसकी मर्जी के खिलाफ कुछ होता है तो वह नाराज हो जाता है, असहयोग करता है। मान कषाय वाला सबसे ईर्ष्या, बैर, विरोध रखता है। क्रोधी से मानी तीव्र कषाय वाला होता है। क्रोध कषाय वाला तो जिससे कोई लड़ाई झगड़ा विरोध हो, उसी से क्रोध करता है। मान कषाय वाला तो सभी से रुष्ट रहता है, उसे कोई अच्छा ही नहीं लगता। जो कोई उसकी खुशामद, चापलूसी करे, हों में हों मिलाये, बस उसी से संतुष्ट प्रसन्न रहता है। मान कषाय वाले को अपने से अच्छा होशियार तो कोई दिखाई ही नहीं देता। मान कषाय के साथ मायाचारी और सारे पाप लगे रहते हैं, इसका ज्वलंत उदाहरण- रावण है, जिसने अपनी मान कषाय के पीछे अपने वंश को भी मिटा डाला और स्वयं भी दुर्गति में चला गया।

मान कषाय वाले की दृष्टि हमेशा शरीर और पर पदार्थ पर ही रहती है और इसके हमेशा खोटे भाव चलते रहते हैं, जिससे नरक में जाता है, इसी क्रम में माया

कषाय के स्वरूप का भी वर्णन करते हैं -

जदि मिथ्या माया संपूर्ण, लोक मूढ रतो सदा ।

लोक मूढस्य जीवस्य , संसारे दुष दारुनं ॥ २७ ॥

अन्वयार्थ- (जदि मिथ्या माया संपूर्ण) जो मिथ्यात्व मायादि कषाय से पूरा भरा हुआ है (लोक मूढ रतो सदा) वह हमेशा लोक मूढता में रत रहता है (लोक मूढस्य जीवस्य) और लोक मूढता वाले जीव (संसारे दुष दारुनं) संसार में हमेशा घोर दुःख भोगते हैं।

विशेषार्थ- यहाँ माया कषाय का स्वरूप बताया जा रहा है कि जो मिथ्यात्व सहित इन अनन्तानुबन्धी कषायों में फँसा है, वह लोक मूढता में ही रत रहता है। मायाचारी का तात्पर्य छल, कपट बेईमानी करना है, माया कषाय वाला कंचन, कामिनी और कीर्ति के जाल में फँसा होता है। इनको प्राप्त करने के लिये ही छल कपट बेईमानी करता है और इनकी प्राप्ति के लिये ही लोकमूढता अर्थात् लोगों की देखादेखी जैसा सब संसारी अज्ञानी जीव करते हैं, वैसा ही यह भी करता है, मानता है। यह माया कषाय इतनी सूक्ष्म होती है कि सहज पकड़ में नहीं आती, इसका सूक्ष्म रूप, चाह, रुचि इच्छा है और यह जगत में पर पदार्थ को देखने से ही पैदा होती है। माया का इतना सूक्ष्म रूप है और फिर जहाँ अनन्तानुबन्धी माया होवे वहाँ कहना ही क्या है ? धन और यश के पीछे ही तो मनुष्य पागल रहता है, धन क्यों कमाता है, परिवार क्यों पालता है ? मेरा नाम रहेगा। इस नाम और यश की चाह में दुनियां भर के कुकर्म करता है और खुद नरक निगोद में चला जाता है। नाम, दाम, काम यह तीनों ही संसार का फैलाव करने वाले हैं और इनके पीछे ही यह जीव नाना कर्म करता है, संसार में इन्हीं के लिये क्या-क्या नहीं हो रहा, यह सब प्रत्यक्ष देखने में आ रहा है। साथ क्या जाना है, काम क्या आना है ? इसका तो अज्ञानी जीव को कोई विचार ही नहीं आता। इनके पीछे ही लोक मूढता में फँसकर मिथ्या देव, गुरु, धर्म का सेवन करता है, कुदेवादि की मान्यता पूजा भक्ति करता है और लौकिक व्यवहार में ही लगा रहता है। इसका परिणाम क्या होगा ? कुछ सोचना ही नहीं है। समाज का, संसार का, अन्य जीवों का क्या होगा, इसका विचार नहीं करता और न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य से जैसे-तैसे अपना काम बनाना चाहता है, धन और यश चाहता है, मेरा नाम अमर रहे इसके लिये संकल्प-विकल्प करता

है; जबकि संसार में किसी का नाम अमर हुआ ही नहीं, जो धर्म मार्ग पर चले जिन्होंने आत्म कल्याण किया, भगवान बने वही अमर हो गये, शेष सब तो मरते ही फिर रहे हैं। इस प्रकार यह जीव इन कषायों के वशीभूत लोक मूढ़ता आदि में फँस जाता है, जिससे अनन्त संसार में ही परिभ्रमण करता है।

लोक मूढ़ता आदि क्या है, उनका स्वरूप कहते हैं -

लोक मूढ़ रतो जेन , देव मूढस्य दिस्टिते ।

पाषंडी मूढ़ संगानि , निगोयं पतितं पुनः ॥ २८ ॥

अन्वयार्थ- (लोक मूढ़ रतो जेन) जो जीव लोक मूढ़ता में रत हैं (देव मूढस्य दिस्टिते) वह देव मूढ़ताओं को भी देखते हैं, उनमें ही लगे रहते हैं (पाषंडी मूढ़ संगानि) पाषंडी मूढ़ों की संगति करके, पाषंडी मूढ़ताओं के संग लगकर (निगोयं पतितं पुनः) पुनः निगोद में चले जाते हैं।

विशेषार्थ- मूढ़ता तीन होती हैं- लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता, पाषंडी मूढ़ता। मूढ़ता का अर्थ मूर्खता है, यहाँ पहले इनका स्वरूप बताते हैं।

१. लोक मूढ़ता- संसारी लोगों की देखादेखी विवेक रहित क्रिया आचरण व्यवहार करना लोकमूढ़ता है। जैसे- व्यवहार बाह्य क्रिया कांड को ही धर्म मानना, नदी आदि में स्नान करने को धर्म मानना, इसकी उसकी पूजा मान्यता करना धर्म है ऐसा मानना। लक्ष्मी जी की पूजा करने से धन मिलता है, दुकान, दरवाजे आदि के पैर पड़ना, चाहे जहाँ, चाहे जिसके सामने अपना मस्तक झुका देना। धन यश आदि की कामना से लौकिक रुढ़ियों को मानना और अपने वंश, समाज परम्परा में चली आ रही मान्यता, रुढ़ियों को बिना विवेक के मानना यह सब लोक मूढ़ता है।

२. देव मूढ़ता- किसी भी लौकिक कामना, धन, यश, जय, पुत्रादि की भावना से पूजा, पाठ, स्तुति, वंदना आदि करना देव मूढ़ता है। देव, कुदेव, अदेव का कोई विवेक विचार न करते हुए, सबकी मान्यता करना। सच्चे देव तो सर्वज्ञ, वीतरागी, हितोपदेशी होते हैं। वह न तो किसी को कुछ देते हैं, न किसी से कुछ लेते हैं, वह तो वास्तविक धर्म का स्वरूप, आत्म कल्याण की बात मुक्ति का मार्ग बताते हैं, उनका तो सम्मान बहुमान ही किया जाता है। किसी प्रकार की कोई भी कल्पना करके किसी भी प्रकार के आकार आदि स्वरूप की पूजा आदि करना सब देव मूढ़ता है; क्योंकि पूजा अर्थात् कुछ भी चढ़ाना, किसी न किसी कामना के अभिप्राय से ही

किया जाता है यही सब देव मूढ़ता है।

३. पाषंडी मूढ़ता- ढोंगी, छल छिद्र करने वाले पाप, कषायों में प्रवृत्त पाषंडियों की मान्यता, पूजा, वन्दना करना पाषंडी मूढ़ता है। धोखा देने वाले मायाचारी करने वाले, धनादि ठगने वाले, यह सब पाषंडी होते हैं, इनकी संगति करना, मान्यता करना, पतन का कारण है। मूर्खों की संगति और मूर्खता दोनों ही दुर्गति के कारण हैं। जो जीव इन तीन मूढ़ताओं में फँसे होते हैं, वह निगोद ही जाते हैं; क्योंकि सत्पुरुष ज्ञानी, साधुओं का सत्संग ही जीव को कल्याणकारी है और कुसंग ही पतन का कारण है। संसार भ्रमण की कारणभूत यह तीन मूढ़तायें हैं। जो जीव इन मिथ्यात्व कषाय मूढ़ता आदि में फँसे हैं, वह संसार में नरक निगोद आदि के ही दुःख भोगते हैं। संसार भ्रमण के कारण पच्चीस दोष और हैं जिनका वर्णन करते हैं -

अनायतन मद अस्टं च, संकादि अस्ट दूषनं ।

मलं संपूर्ण जानंते, सेवनं दुष दारुनं ॥ २९ ॥

अन्वयार्थ- (अनायतन मद अस्टं च) छह अनायतन और आठ मद (संकादि अस्ट दूषनं) शंका आदि आठ दोष (मलं संपूर्ण जानंते) तीन मूढ़ताओं सहित पच्चीस मलों को सम्यक्दृष्टि जानता है (सेवनं दुष दारुनं) कि इनके सेवन करने से ही दारुण दुःख भोगना पड़ते हैं।

विशेषार्थ- यहाँ संसार भ्रमण के कारणों का वर्णन चल रहा है, सम्यक्दृष्टि इन सबको जानता है और इन सबसे बचता है। यहाँ पच्चीस मल क्या हैं? इनका वर्णन करते हैं- शंकादि आठ दोष, आठ मद, छह अनायतन, तीन मूढ़ता - यह पच्चीस मल हैं।

शंकादि आठ दोष- इनका संक्षेप में स्वरूप लिखते हैं।

१. शंका- धर्म में शंका करना (मैं जीव आत्मा हूँ या शरीर हूँ) तत्वों में श्रद्धान न होना (किसने देखा है, ऐसा है अथवा नहीं) शंका करने वाला हमेशा सप्त भयों से भयभीत रहता है।

१. इह लोक भय- इस लोक में मेरा क्या होगा, अंतिम समय कौन मेरी सेवा, रक्षा करेंगे, मेरी बुराई, हानि आदि न होवे।

२. पर लोक भय- पर लोक में नरक, पशुगति न चला जाऊँ, वहाँ मेरा क्या होगा ?

३. वेदना भय- कोई बीमारी आदि हो जायेगी तो क्या करूंगा ?

४. अरक्षा भय- मेरी रक्षा सेवा संभाल कौन करेगा ?

५. अगुप्ति भय- मेरा धनादि कोई न ले जाये वरना फिर क्या करूँगा ?

६. मरण भय- मैं मर न जाऊँ ऐसा हमेशा भय बना रहना ।

७. अकस्मात् भय- कोई अकस्मात् आपत्ति मेरे ऊपर न आ जाये ? मिथ्यादृष्टि को यह शंका और सात भय हमेशा लगे रहते हैं, इसलिये वह हमेशा भयभीत दुःखी रहता है । सम्यक्दृष्टि को कोई शंका भय नहीं होते वह निःशंकित, निर्भय रहता है ।

२. कांक्षा- भोगों की कामना इच्छा, ऐसा और कर लेता, ऐसा और भोग लेता, हमेशा इन्हीं विचारों में आकुलित रहता है । सम्यक्दृष्टि को संसारी भोग तो विषधर जैसे लगते हैं, वह निःकांक्षित रहता है ।

३. विचिकित्सा - मिथ्यादृष्टि सबसे घृणा करता है, उसे कोई भी कुछ भी अच्छा नहीं लगता । सम्यक्दृष्टि को सबसे प्रेम होता है, स्नेह से सेवा करता है, किसी से ग्लानि नहीं करता निर्विचिकित्सक अंग पालता है ।

४. मूढ़ दृष्टि - मिथ्यादृष्टि हमेशा मूढ़ताओं में लगा रहता है, उसकी दृष्टि में सब मूर्ख नजर आते हैं, उसे कोई ज्ञानी, धर्मी दिखाई नहीं देता । जबकि सम्यक्दृष्टि ज्ञानी, धर्मी जीवों का सत्संग सेवा करता है, वह किसी मूढ़ता में नहीं फँसता इसलिये अमूढ़ दृष्टि है, ज्ञानी है ।

५. अनुपगूहन- मिथ्यादृष्टि दूसरों की निन्दा बुराई करता है, अपनी प्रशंसा करता है, उसे सब में दोष दिखाई देते हैं, अपने में कोई दोष दिखता ही नहीं है । सम्यक्दृष्टि पर के दोष नहीं, अपने दोष देखता है, अपनी ही निन्दा करता है, दोष मिटाता है, पर की प्रशंसा करता है, इस प्रकार उपगूहन अंग का पालन करता है ।

६. अस्थितिकरण- मिथ्यादृष्टि स्वयं तो धर्म पालता नहीं और दूसरों को भी पालने नहीं देता, विराधना, आलोचना करता है । जबकि सम्यक्दृष्टि स्वयं तो धर्म मार्ग पर चलता ही है और अन्य जीवों को भी धर्म मार्ग में लगाता है, धर्म में स्थिर करता है, सहयोग देता है, समर्थन करता है, वह स्थितिकरण अंग पालता है ।

७. अवात्सल्य- मिथ्यादृष्टि सबसे ईर्ष्या द्वेष रखता, बैर-विरोध करता है, आपस में न प्रेम से रहता है न रहने देता है । जबकि सम्यक्दृष्टि सबसे मैत्री प्रेम वात्सल्य रखता है, सबके सुख-दुःख में सहयोगी परोपकारी दयालु होता है, वह वात्सल्य अंग पालता है ।

८. अप्रभावना- धर्म कार्यों में बाधा डालना, आलोचना करना, किसी को आगे न बढ़ने न देना, पुरानी रूढ़ियाँ, मुखियापन बताना, किसी भी प्रकार धर्म प्रभावना न होने देना । जबकि सम्यक्दृष्टि, धर्म प्रभावना में पूरे तन-मन-धन से सहयोग करता है । प्रचार-प्रसार में आगे रहता है, धर्मी जीवों को आगे बढ़ाता है, हर प्रकार से धर्म प्रभावना करता ही रहता है, वह प्रभावना अंग का पालन करता है ।

आठ मद- १. जाति मद- मैं उच्च जाति का हूँ ।

२. कुल मद- मेरा कुटुम्ब, खानदान बहुत बड़ा है, मेरे कुल में ऐसे-ऐसे लोग हो गये ।

३. बल मद- मैं बड़ा बलशाली हूँ मेरा मुकाबला कौन कर सकता है ।

४. धन मद- मेरे पास इतना धन है, चाहे जिसको ठिकाने लगवा दूँगा ।

५. तप मद- मैं इतना बड़ा तपस्वी हूँ मैंने इतना घोर तप किया है ।

६. ज्ञान मद- मैं इतना ज्ञानवान हूँ मैंने इतने ग्रन्थ पढ़े हैं मेरे आगे कौन कहाँ लगता है ?

७. रूप मद- मैं इतना रूपवान स्वस्थ सुन्दर हूँ ।

८. ऋद्धि मद- मैंने इतना कला कौशल सीखा है, मैं हर बात में, हर काम में परिपूर्ण हूँ, मेरे आगे कौन क्या बतायेगा ?

छह अनायतन- कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र और तीनों के भक्त इनकी संगति करना ।

तीन मूढ़ता- लोक मूढ़ता, देव मूढ़ता, पाषंडी मूढ़ता ।

यह पच्चीस मल हैं, इनके सेवन करने से दारुण दुःख भोगना पड़ते हैं, सम्यक्दृष्टि इन सबका स्वरूप जानता है, इनका सेवन संगति कभी नहीं करता । मिथ्यादृष्टि इनमें ही रत रहता है, अपने शुद्धात्म स्वरूप को नहीं जानता, इस बात को आगे गाथा में कहते हैं-

मिथ्या मति रतो जेन, दोसं अनंतानंतयं ।

सुद्ध दिस्टि न जानंते, असुद्धं सुद्ध लोपनं ॥ ३० ॥

अन्वयार्थ- (मिथ्या मति रतो जेन) जो जीव मिथ्या मति में रत है (दोसं अनंतानंतयं) वह अनन्तानंत दोष, कर्मों का बन्ध करता है (सुद्ध दिस्टि न जानंते) शुद्ध दृष्टि, अपने शुद्धात्म स्वरूप को नहीं जानता (असुद्धं सुद्ध लोपनं) अशुद्ध दृष्टि होने से शुद्ध दृष्टि का लोप करता है बिला देता है ।

विशेषार्थ- यहाँ मिथ्यामति जीव की दशा को बताया जा रहा है कि जो मिथ्या मति में रत है वह अनन्तानन्त कर्मों का बन्ध करता है क्योंकि मिथ्यात्व ही सबसे बड़ा दोष, सबसे बड़ा पाप है, इसके कारण ही सारे पाप और कर्म बन्ध होते हैं।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि पहले बताया था कि मिथ्यात्व के कारण जीव संसार में भ्रमण करता है, दुःख भोगता है, कर्म बन्ध का कारण तो कषाय, राग-द्वेष है, कषाय से ही पाप होते हैं फिर इसे सबसे बड़ा पाप, कर्म बन्ध का कारण क्यों कहा गया है ?

इसका समाधान करते हैं कि तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वामी ने कहा है- **मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥** मिथ्यादर्शन, अविरत, प्रमाद, कषाय और योग यह बन्ध के हेतु हैं। यहाँ समझना यह है कि मूल आधार तो मिथ्यात्व ही है; क्योंकि मिथ्यात्व के साथ चार अनन्तानुबन्धी कषाय भी लगी हैं और मिथ्यात्व के साथ उनका भी अभाव हो जाता है। मिथ्यात्व के बाद जो कषायादि के कारण कर्म बन्ध होता है, वह इतना घातक संसार भ्रमण का कारण नहीं रहता। शरीर में एकत्वपना ही सारे पाप-विषय-कषाय आदि का कारण है। जहाँ शरीर से भिन्नत्व भासित हुआ, अपने शुद्धात्म स्वरूप की अनुभूति हुई कि फिर संसार की तो मौत ही आ गई, फिर वह अधिक समय टिकता ही नहीं है इसलिये मिथ्यात्व को सबसे बड़ा पाप, अनन्तानन्त कर्मों के बन्ध का कारण और संसार भ्रमण का कारण कहा है। इसके कारण ही अपने शुद्धात्म स्वरूप के दर्शन नहीं होते, शुद्धात्म तत्व जानने में नहीं आता, इसकी अशुद्धता के कारण शुद्धता का अर्थात् शुद्धात्मा का लोप हो गया है, छिप गया है।

अब यहाँ प्रश्न आया कि इसके लिये हम क्या करें कि यह मिथ्यात्व छूट जाये ? इसका समाधान श्री गुरु तारण स्वामी आगे दो गाथाओं में करते हैं-

वैराग भावनं कृत्वा, मिथ्या तिक्त त्रि भेदयं ।

कसायं तिक्त चत्वारि, तिक्तते सुद्ध दिस्टतं ॥ ३१ ॥

मिथ्या समय मिथ्या च, समय प्रकृति मिथ्ययं ।

कसायं चतु अनंतानं, तिक्तते सुद्ध दिस्टतं ॥ ३२ ॥

अन्वयार्थ- (वैराग भावनं कृत्वा) वैराग्य भावना करके (मिथ्या तिक्त त्रि भेदयं) तीन प्रकार के मिथ्यात्व को छोड़ो (कसायं तिक्त चत्वारि) चार प्रकार की कषायों को छोड़ो (तिक्तते सुद्ध दिस्टतं) इनके छोड़ने पर शुद्ध दृष्टि अर्थात्

शुद्धात्मानुभूति हो जाती है।

(मिथ्या समय मिथ्या च) मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और (समय प्रकृति मिथ्ययं) सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व का (कसायं चतु अनंतानं) चार अनन्तानुबन्धी कषाय, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ (तिक्तते सुद्ध दिस्टतं) इनके छूटते ही शुद्ध दृष्टि, सम्यक्दर्शन हो जाता है।

विशेषार्थ- यहाँ तारण स्वामी अपूर्व बात बता रहे हैं, जो वास्तव में अनुभवी ज्ञानी साधक ही बता सकते हैं। यहाँ इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं कि संसार भ्रमण का मूल कारण मिथ्यात्व है और उसके साथ चार अनन्तानुबन्धी कषाय हैं, तो इसके लिये क्या करें कि यह मिथ्यात्व छूट जाये ?

श्री तारण स्वामी यहाँ अपूर्व बात कह रहे हैं कि वैराग्य भावना करो, इस सूत्र में सारा रहस्य भर दिया है कि तुम छूटने की भावना तो करो, क्या तुम्हें यह संसार दुःख रूप लग रहा है ? क्या चार गतियों का दुःख समझ में आया है ? क्या यह धन, शरीर, परिवार दुःख रूप लग रहे हैं ? क्या यह संसार, शरीर, भोग बुरे लग रहे हैं ? जैसे कोई दर्द होवे और डॉक्टर के पास जायें उसे बतावें और वह कहे कि इसका जल्दी इलाज करो, कैंसर होने की संभावना है तो उसे सुनकर कैसी घबराहट, बेचैनी मच जाती है। उसका इलाज कराने के लिये बंबई दौड़ जाते हैं, फिर घर की, दुकान की, परिवार की, धन की, किसी की कोई परवाह नहीं करते। बस एक ही भावना रहती है कि कैसे और कितने जल्दी अच्छे हो जायें, इस रोग से छूट जायें। क्या ऐसी घबराहट बेचैनी यह सद्गुरु की बात सुनकर लग रही है, इससे छूटने की छटपटाहट है ? छोड़ना चाहते हो, तो वैराग्य भावना करो और यह तीन मिथ्यात्व छोड़ो, इनके छूटने पर ही तो सम्यक्दर्शन होगा। यह संसार का परिभ्रमण मिटेगा, यह नरक तिर्यच गति के दुःख और यह सब जन्म-मरण के दुःख तभी मिटेंगे, बनो वीतरागी अब क्या देखते हो ? मन समझाने, मात्र कोरी चर्चा करने से काम चलने वाला नहीं है। यह मिथ्यात्व रूपी हाथी को भगाने के लिये सिंह रूपी सम्यक्दर्शन चाहिये और वैराग्य भावना करो, भेदज्ञान करो तो अभी सम्यक्दर्शन हो सकता है; लेकिन भीतर इतनी छटपटाहट होवे, तब बात है।

तीन मिथ्यात्व क्या हैं, इसका स्वरूप बताते हैं-

१. मिथ्यात्व- यह शरीरादि ही मैं हूँ, ऐसी मान्यता का नाम ही मिथ्यात्व है। इन शरीरादि से भिन्न मैं एक अखंड अविनाशी शुद्ध बुद्ध ज्ञायक स्वभावी भगवान

आत्मा हूँ, ऐसा न मानना ही मिथ्यात्व है और यह अगृहीत अर्थात् अनादिकाल से लगा है। यह नाम रूप शरीरादि संयोग ही मैं हूँ, इनसे भिन्न चैतन्य तत्व जीवात्मा मैं हूँ ऐसा नहीं मानना ही मिथ्यात्व है। तत्त्वार्थ का अश्रद्धान अर्थात् प्रयोजनभूत जीव तत्व का श्रद्धान न होना ही मिथ्यात्व है।

२. सम्यक् मिथ्यात्व- यह शरीर भी मैं हूँ और जीव आत्मा भी मैं हूँ ऐसा मिला-जुला श्रद्धान ही सम्यक्मिथ्यात्व है। शरीर और मैं एक साथ ही पैदा हुए और दोनों एक साथ ही मरेंगे, एक के बिना दूसरा रहता ही नहीं है, दोनों के मिले रहने पर ही सब काम होते हैं, ऐसी मान्यता ही सम्यक् मिथ्यात्व है।

३. सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व- मैं जीव आत्मा तो हूँ, पर यह शरीरादि का कर्ता मैं ही हूँ, मैं न करूँ तो कुछ हो ही नहीं सकता, इसका नाम सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व है। यह अशुद्ध पर्याय भी मेरी है और मैं भी अशुद्ध हूँ, मेरे ऊपर कर्मों का आवरण चढ़ा है। कर्मों की जब तक सहूलियत न मिले तब तक कुछ हो ही नहीं सकता, ऐसी मान्यता का नाम सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व है। अशुद्ध दशा में अपने आपको शुद्ध मानना गलत है, निमित्त और व्यवहार के बिना कैसे काम चलेगा ऐसी मान्यता सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व है। इसके चल, मल, अगाढ़ तीन दोष भी होते हैं।

चार अनन्तानुबंधी कषाय उनके नाम और स्वरूप-

१. अनन्तानुबंधी लोभ- अनन्त अनुबंध करने को अनन्तानुबंधी कहते हैं। लोभ-तृष्णा, चाह को कहते हैं। जिसके रहते किसी वस्तु की सीमा की चाह न रहे वह अनन्तानुबंधी लोभ है। असीम चाह, असीम तृष्णा, कितना ही कुछ भी होवे, लेकिन उससे तृप्ति न होवे, सन्तोष का न होना ही अनन्तानुबंधी लोभ है, इसके सद्भाव में ही क्रोध, मान, माया, अधिक प्रबल होते हैं। अनन्तानुबंधी लोभ डामर के समान न मिटने वाला होता है।

२. अनन्तानुबंधी क्रोध- जो क्रोध अपने आप शान्त न हो, प्रतिद्वंदी विरोधी को देखते ही चाहे जब भड़क उठे, बदला लेने की भावना निरन्तर बनी रहे, किसी के अपराध को बदला लिये बगैर माफ न कर सके, जिसके हमेशा रौद्र ध्यान चलते रहें, रौद्र रूप बना रहे, यह अनन्तानुबंधी क्रोध है, जो पत्थर की लकीर के समान न मिटने वाला होता है।

३. अनन्तानुबंधी मान- जो झुकना न जाने, जो हमेशा दूसरों की निन्दा

आलोचना करता रहे। बैर-विरोध रखना जिसका स्वभाव हो, जिसे किसी की बात अच्छी न लगे, जो अपने आपको सबसे श्रेष्ठ माने, हमेशा अपने आपमें फूला रहे, जिसके चेहरे पर कठोरता बनी रहे, यह अनन्तानुबंधी मान है, जो पत्थर के खम्भे के समान होता है।

४. अनन्तानुबंधी माया- छल-कपट, बेईमानी, मायाचारी करना जिसका स्वभाव हो, निष्प्रयोजन खुशामदी बातें करना, इसको उसको उलझाकर मजा देखना, नाम, दाम, काम के प्रति तीव्र आसक्त रहना, जनरंजन राग का विशेषपना, लौकिक मूढ़ता, रूढ़ियों का तीव्र पक्षपाती, अपने मन में सदा प्रपंच दंद-फंद रचते रहना, यह अनन्तानुबंधी माया है जो बाँस की जड़ के समान तीव्र टेढ़ी-मेढ़ी होती है।

इन तीन मिथ्यात्व और चार अनन्तानुबंधी कषाय के छोड़ने, छूटने पर ही सम्यक्दर्शन निज शुद्धात्मानुभूति होती है, जिससे संसार का भवभ्रमण जन्म-मरण का चक्र मिटता है। जीव सुख, शांति, आनंद में रहता है, मुक्ति का मार्ग बनता है, सिद्ध पद, परमानन्द की उपलब्धि होती है।

यहाँ प्रश्न कर्ता पुनः प्रश्न करता है कि गुरुदेव ! यह तीन मिथ्यात्व और चार अनन्तानुबंधी कषाय के छोड़ने पर छूटने पर सम्यक्दर्शन होता है या सम्यक्दर्शन होने पर यह छूटते हैं, इसका क्रम क्या है ?

यह महत्वपूर्ण प्रश्न है, जिसका समाधान श्री जिन तारण स्वामी करते हैं-

सप्त प्रकृति विच्छिदो जत्र, सुद्ध दिस्टि च दिस्टिते ।

श्रावकं अविरतं जेन, संसार दुष परान्मुषं ॥ ३३ ॥

अन्वयार्थ-(सप्त प्रकृति विच्छिदो जत्र) जिस समय सातों प्रकृति का विच्छेद-क्षय, क्षयोपशम, उपशम होता है (सुद्ध दिस्टि च दिस्टिते) उसी समय शुद्धदृष्टि दिखाई देने लगती है अर्थात् निज शुद्धात्मानुभूति, अपने शुद्ध ध्रुव स्वभाव का दर्शन हो जाता है (श्रावकं अविरतं जेन) वही जीव अविरत श्रावक अर्थात् सम्यक्दृष्टि हो जाता है (संसार दुष परान्मुषं) संसार के दुःखों से छूट जाता है, परांगमुष अर्थात् संसार से विमुख हो जाता है।

विशेषार्थ- यहाँ उस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं जो शिष्य ने किया था कि मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों के छूटने पर सम्यक्दर्शन होता है या सम्यक्दर्शन होने पर यह सात प्रकृतियाँ छूटती हैं ?

श्री तारण स्वामी यहाँ जैन दर्शन का मर्म बता रहे हैं कि जिस समय सातों प्रकृतियों का विच्छेद यह बहुत महत्वपूर्ण शब्द है, विच्छेद अर्थात् अलग होना, संधि होना, जिसे क्षय, उपशम, क्षयोपशम भी कहते हैं, जिस समय यह होता है, उसी समय सम्यक्दर्शन दिखाई देने लगता है अर्थात् अपना शुद्ध स्वरूप दिखाई दे जाता है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि इसका क्या प्रयोजन हुआ, यह क्यों नहीं कहते कि सात प्रकृतियों का क्षय, उपशम, क्षयोपशम होने पर ही सम्यक्दर्शन होता है ?

इसका समाधान करते हैं कि ऐसा नहीं है, यह मिथ्यात्व आदि पुद्गल कर्म वर्गणायें हैं, जीव चेतना स्वरूपी है, यह दोनों द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं, दोनों की सत्ता शक्ति स्वतंत्र है। जीव-जीवमय है, पुद्गल-पुद्गलमय है। जीव जिस समय अपने शुद्ध स्वरूप को देखता है, उसे ही सम्यक्दर्शन कहते हैं। सात प्रकृतियों के क्षय, उपशम, क्षयोपशम मात्र का नाम सम्यक्दर्शन नहीं है; परन्तु ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध है कि जिस समय जीव अपने स्वरूप को देखता है, उसी समय इन सात प्रकृतियों का भी उपशम आदि होता ही है। जैसे- रात्रि का विलय और सूर्य का उदय, अब इसमें कौन आगे, कौन पीछे है, कौन पहले, कौन बाद में ? जैसे- एक समय में यह होता है, वैसे ही एक समय में सम्यक्त्व होता है, मिथ्यात्व विलाता है, कहने में तो कोई भी आगे पीछे कहने में आयेगा क्योंकि एक समय में एक ही बात कही जाती है। यहाँ जीव और पुद्गल का निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, कर्ता-कर्म संबंध नहीं है, यदि कर्ता कर्म सम्बन्ध मानेंगे तो द्रव्य की स्वतंत्रता समाप्त हो जायेगी, एक द्रव्य का दूसरा द्रव्य कर्ता बन जायेगा जो सिद्धान्त विरुद्ध है।

यहाँ प्रश्न कर्ता पुनः प्रश्न करता है कि यह एक समय में कैसे और क्यों हुआ क्योंकि जब दो द्रव्य स्वतंत्र और भिन्न हैं फिर दोनों का ऐसा परिणमन एक समय में क्यों हुआ ?

इसका समाधान करते हैं कि इस बात को समझने के लिये जैनदर्शन का मूल आधार जो पाँच समवाय हैं, उसे जानना बहुत जरूरी है क्योंकि उसके जाने बिना यह बात समझ में ही नहीं आयेगी।

यहाँ प्रश्न कर्ता कहता है कि यह पाँच समवाय क्या हैं इन्हें संक्षेप में समझाइये ? समवाय अर्थात् बराबरी की स्वतंत्र शक्ति और वह पाँच हैं।

स्वभाव, निमित्त, पुरुषार्थ, काल लब्धि और नियति।

इन पाँचों के एक साथ एक समय में एक से होने पर ही कार्य होता है। अब इनका भिन्न-भिन्न स्वरूप इस प्रकार है -

१. **स्वभाव**- द्रव्य की शक्ति, जो कार्यरूप से परिणत हो।

२. **निमित्त**- सामने वाली शक्ति, जो कार्य होते समय उपस्थित रहे।

३. **पुरुषार्थ**- उपादान की शक्ति।

४. **काललब्धि**- तत्समय की योग्यता अर्थात् उसी समय होना है।

५. **नियति**- सब निश्चित है, जिस समय जो होना है वह निश्चित है। पाँच समवाय के इकट्ठे हुए बिना कोई कार्य नहीं होता। जैसे- किसी मकान के दरवाजे पर पाँच ताले लगे हों और पाँचों की चाबी अलग-अलग व्यक्तियों के पास हों तो जब तक पाँचों व्यक्ति एक साथ एक समय में इकट्ठे नहीं होते तब तक दरवाजा नहीं खुल सकता। इसी प्रकार जगत के प्रत्येक कार्य में यह पाँच समवाय सक्रिय हैं, इनके बिना कोई कार्य नहीं होता। जैनदर्शन का स्याद्वाद तो इसी पाँच समवाय के आधार पर टिका है, जो इसे नहीं जानता-मानता, वह तत्त्व का निर्णय, वस्तु स्वरूप समझ ही नहीं सकता। कहने में एक समवाय की प्रधानता से बात कही जाती है परन्तु साथ में चार समवाय भी गौण रहते हैं, यदि उन्हें भुला दिया तो एकान्तवाद हो जाता है, फिर अनेकान्त रह नहीं सकता। यह जगत की प्राकृतिक स्वतंत्र व्यवस्था के पाँच आधार हैं, जिसके अनुसार पूरे विश्व का परिणमन चल रहा है। जो ऐसा प्रश्न करता है कि ऐसा क्यों हुआ, ऐसा नहीं ऐसा होना था, उसे अभी वस्तु स्वरूप का ज्ञान नहीं है, पाँच समवाय की खबर नहीं है, वह अभी अज्ञानी है।

अब प्रश्न कर्ता कहता है कि इस बात से तो यह सब समस्या सुलझ गई परन्तु अब एक प्रश्न और है कि यह सम्यक्दर्शन जीव को कब और कैसे होता है, क्या इसका भी कोई विधान है ? क्योंकि चाहते तो सभी जीव हैं कि हमें सम्यक्दर्शन हो जाये, हम मुक्त हो जायें यह संसार के दुःखों में तो कोई रहना ही नहीं चाहता, पर कोई विरला जीव ही छूट पाता है, इसका क्या कारण है ?

इसका समाधान करते हैं कि अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल शेष रहने पर काललब्धि आने पर सम्यक्दर्शन होता है और काललब्धि पाँच लब्धियों की पूर्णता होने पर आती है।

यह अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल और पाँच लब्धियाँ क्या हैं इनका संक्षेप में

स्वरूप बताईये ?

पंच परावर्तन रूप संसार का परिणमन चल रहा है, वह पंच परावर्तन हैं- द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव। यह पंच परावर्तन और चार गति, यही पूरा संसार का चक्र है और इसी में यह जीव अनादि से परिभ्रमण कर रहा है। परावर्तन का वर्णन तो बड़ा विशद और सूक्ष्म है, जो त्रिलोक प्रज्ञप्ति में स्वाध्याय करने से पता लगेगा। संक्षेप में यह है कि पुद्गल द्रव्य अनन्तान्त परमाणु हैं। अब जीव से जितने पुद्गल परमाणु का संयोग हुआ, उन परमाणुओं को एक-एक क्रम से पुनः भोगता है और जब वह पूरे होते हैं, तब वह पुद्गल द्रव्य परावर्तन कहलाता है। इसी प्रकार जितने जीवों से संबंध हुआ, उसी क्रम से वह चलता है तथा ऐसे ही क्षेत्र- भरत ऐरावत आदि, काल- उत्सर्पिणी अवसर्पिणी रूप, भाव- औदयिक आदि, भव- चारों गति। इन सबका पूरा भ्रमण एक-एक परावर्तन कहलाता है। अब इसमें पुद्गल द्रव्य का अर्द्धपरावर्तन काल शेष रहने पर अर्थात् इस जीव को संसार में थोड़े समय ही रहना है, इसकी मुक्ति का समय आ गया, तब काललब्धि आने पर सम्यक्दर्शन अर्थात् निज शुद्धात्मानुभूति होती है। काललब्धि, पंचलब्धि में करणलब्धि के अन्त समय में आती है, यह पाँच लब्धियाँ इस प्रकार हैं- क्षयोपशम लब्धि, विशुद्धि लब्धि, देशना लब्धि, प्रायोग्य लब्धि और करण लब्धि, अब इनका स्वरूप कहते हैं-

१. क्षयोपशम लब्धि- सब कर्मों का क्षयोपशम होना, मनुष्य भव आदि शुभ योग की प्राप्ति होना।

२. विशुद्धि लब्धि- कषायों की मंदता, भावों की निर्मलता।

३. देशना लब्धि- धर्म के स्वरूप को सुनने समझने और धारण करने की योग्यता।

४. प्रायोग्य लब्धि- पूर्व बद्ध कर्मों का अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण रह जाना। यह थोड़ा सूक्ष्म विषय है, सामान्यतः यह समझ में नहीं आता परन्तु जिसके होने पर धर्म मार्ग पर चलने, धर्म साधना करने आत्म कल्याण करने, व्रत, नियम, संयम के भाव होने लगते हैं, यह बाहर से इसकी पहिचान है।

५. करण लब्धि- परिणाम, भावों की पकड़ और संभाल होने लगना। इसके तीन भेद हैं- अधः करण, अपूर्वकरण, अनिवृत्ति करण।

अधःकरण-निम्न स्तर के सामान्य परिणाम होना। अपूर्व करण- विशुद्ध

भाव जो इसके पूर्व कभी न हुए हों। अनिवृत्ति करण- शुभ-अशुभ दोनों भावों से बचने छूटने और अपने शुद्ध स्वभाव की तीव्र लगन होना और ऐसे ही समय में काललब्धि आती है तथा अपने स्वरूप का दर्शन, निर्विकल्प दशा हो जाती है, यही सम्यक्दर्शन है।

यहाँ प्रश्न यह है कि अर्द्ध पुद्गल परावर्तन काल और प्रायोग्य लब्धि के अंतर्गत अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर के भीतर कर्मों का सत्ता में रह जाना, इसमें क्या भेद है ?

अर्द्ध पुद्गल परावर्तन काल में काल की अपेक्षा बात है कि अब इस जीव का थोड़े काल का ही संसार में भ्रमण रह गया, अब यह मुक्त होने वाला है तथा अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर के भीतर कर्मों का शेष रह जाना अर्थात् अब कर्मों की सत्ता भी थोड़ी रह गई क्योंकि कर्मों की सत्ता ज्यादा तीव्र होवे तो भी जीव कुछ नहीं कर सकता। कर्मों का क्षय होने पर ही जीव की मुक्ति होती है, ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध है।

अब यहाँ जिस जीव को अपने स्वरूप का श्रद्धान अनुभूति हुई, वही सम्यक्दृष्टि अव्रती श्रावक कहलाता है और वह संसार के दुःखों से परान्मुख हो जाता है फिर वह संसार के दुःख भोगता नहीं है। आत्मीय आनंद में मगन रहता है, एक तरह से तो वह संसार के दुःखों से मुक्त हो ही गया क्योंकि अब दो चार दस भव में मुक्त हो जायेगा। अब कोई भी शक्ति कर्मों की सत्ता उसे संसार में नहीं रोक सकती, उसका तो पूरा जीवन ही बदल जाता है, उसकी दृष्टि उसका लक्ष्य ही बदल जाता है, अपूर्व स्थिति हो जाती है, जो बाहर से तो एकदम देखने में नहीं आती परन्तु अन्तरंग परिणति क्या होती है, सम्यक्दृष्टि जीव कैसा होता है, उसकी दृष्टि और लक्ष्य क्या होता है, इसका वर्णन करते हैं-

संमिक दिस्टिनो जीवा, सुद्ध तत्त्व प्रकासकं।

परिणामं सुद्ध संमिक्तं, मिथ्या दिस्टि परान्मुषं ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थ-(संमिक दिस्टिनो जीवा) सम्यक्दृष्टि वाला जीव (सुद्ध तत्त्व प्रकासकं) शुद्ध तत्त्व का प्रकाश करता है अर्थात् शुद्ध तत्त्व का अनुभव करता है, उसे जानता है (परिणामं सुद्ध संमिक्तं) परिणामों में शुद्ध सम्यक्त्व ही होता है अर्थात् आत्मा का ही विचार चिन्तन चलता है (मिथ्या दिस्टि परान्मुषं) मिथ्यादृष्टि

से विमुख हो गया है, छूट गया है।

विशेषार्थ- यहां सम्यक्दृष्टि जीव कैसा होता है, उसकी दृष्टि और लक्ष्य क्या होता है, इसका वर्णन चल रहा है। सम्यक्दृष्टि जीव शुद्ध तत्व का प्रकाश करता है। अब यहाँ तत्व किसे कहते हैं इसे समझना है। सार वस्तु या शुद्ध द्रव्य को तत्व कहते हैं, रहस्य को भी तत्व कहते हैं। जो तत्व को जानता है, तत्व में भी शुद्ध तत्व को जानता है, यह शुद्ध तत्व क्या है? सारभूत तो निज शुद्धात्मा है, सम्यक्दृष्टि अपने शुद्ध आत्म तत्व को जानता है, वह कैसा है? ब्रह्म स्वरूपी निरंजन चेतन लक्षण, मात्र ज्ञान स्वभावी है। यह ब्रह्म स्वरूप तारण स्वामी की विशेष उपलब्धि है, क्योंकि ब्रह्म अनादि अनंत है, सिद्ध सादि अनन्त है। जो त्रिकाल शुद्ध ध्रुव अविनाशी चैतन्य लक्षण वाला ब्रह्म स्वरूपी अर्थात् परमात्म स्वरूप है, वह मेरा सत्स्वरूप शुद्धात्म तत्व है, ऐसा जानता है और व्यवहार में सात तत्वों का यथार्थ निर्णय करता है। यह सात तत्व क्या हैं और इनका स्वरूप क्या है, यह लिखते हैं, तत्त्वार्थसूत्र में आया है— **तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यक्दर्शनं।**

जीवाजीवास्रव बन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वं। (१/२, ३)

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष यह सात तत्व हैं—

१. जीव तत्व— जिसमें चेतना ज्ञान—दर्शन शक्ति है, जो मात्र ज्ञायक स्वभावी है जो अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त बल का भण्डार है, जिसमें परम सुख, परमशान्ति, परम आनन्द रूप रत्नत्रय भरे हैं, जो केवलज्ञानमयी है, वह जीव तत्व है।

२. अजीव तत्व— जिसमें ज्ञान—दर्शन चेतना नहीं है, जो अचेतन है, जिसके पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल यह पाँच भेद हैं, वह अजीव तत्व है।

३. आस्रव तत्व— जीव का अजीव की तरफ देखने से जो कर्मों का आना होता है, वह आस्रव तत्व है।

४. बन्ध तत्व— जीव का अजीव की तरफ देखकर राग—द्वेष करना इससे कर्मों का बन्ध होता है, वह बन्ध तत्व है।

५. संवर तत्व— जीव का अपने शुद्ध स्वरूप की तरफ देखना पर की तरफ न देखना, इससे कर्मों का आना रुकता है, वह संवर तत्व है।

६. निर्जरा तत्व— जीव का अपने शुद्ध स्वभाव में रहने से बन्धे हुए कर्मों का क्षय होता है, वह निर्जरा तत्व है।

७. मोक्ष तत्व— जीव और अजीव का अपने शुद्ध स्वभाव मय रहना मोक्ष तत्व है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि यह आपने जीवादि तत्वों की परिभाषा बताई, ऐसा तो कोई नहीं बताता, वहाँ तो सामान्य परिभाषा ही बताई जाती है फिर इसमें यह अन्तर क्या है?

इसका समाधान करते हैं कि पहले तो सम्यक्दृष्टि ऐसे शुद्ध तत्व को जानता है, उस अपेक्षा यह परिभाषा है। दूसरी जैनदर्शन में तत्व, द्रव्य, पदार्थ, अस्तिकाय इन चार भेदों से जीवादि के स्वरूप का वर्णन किया है, तो एक सामान्य परिभाषा में तो सब गड़बड़ हो जाता है, फिर तत्व, द्रव्य, पदार्थ, अस्तिकाय में क्या भेद है? यह जीवादि को चार भेद रूप क्यों कहा? यह समझने, विचार करने, चिन्तन में लेने की बात है क्योंकि तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यक्दर्शनं कहा है। इस बात को तारण स्वामी ने न्यान समुच्चय सार ग्रंथ की गाथा क्रं. ७६५ से ८३२ तक खूब खुलासा किया है। यहाँ तत्व की अपेक्षा परिभाषा बताई है। यह तत्व की भूल से ही जैन धर्म में पर की पूजा, वन्दना, भक्ति, पराश्रितपना आ गया है। सम्यक्दृष्टि के भावों में तो शुद्ध सम्यक्त्व अर्थात् अपना निज शुद्धात्म तत्व ही आता है। वह उसी की साधना—आराधना करता है। वह मिथ्यादृष्टिपने से विपरीत हो गया है अर्थात् अब पर से मेरा भला होगा, कोई दूसरा मेरा इष्ट परमात्मा है, ऐसी मान्यता छूट गई है। अब तो वह अपने निज शुद्धात्म तत्व को ही अपना इष्ट परमात्मा मानता है, अपने ही आश्रय से अपना भला होगा, ऐसा मानता है।

और सम्यक्दृष्टि क्या मानता है, क्या करता है? इसे आगे की गाथा में कहते हैं—

संमिक देव गुरं भक्तं, संमिक धर्म समाचरेत्।

संमिक तत्त्व वेदंते, मिथ्या त्रिविध मुक्तयं ॥ ३५ ॥

अन्वयार्थ— (संमिक देव गुरं भक्तं) सच्चे देव, गुरु की भक्ति करता है (संमिक धर्म समाचरेत्) सच्चे धर्म का ही आचरण पालन करता है (संमिक तत्त्व वेदंते) सच्चे तत्व का ही अनुभव करता है (मिथ्या त्रिविध मुक्तयं) तीनों प्रकार के मिथ्या देव, गुरु, धर्म से मुक्त हो गया, छूट गया है।

विशेषार्थ— यहाँ सम्यक्दृष्टि कैसा होता है, उसकी दृष्टि और लक्ष्य क्या होता

है तथा वह क्या करता है इसका वर्णन चल रहा है। सम्यक्दृष्टि सच्चे देव, गुरु, धर्म की भक्ति करता है। सच्चा देव कौन है ? निज शुद्धात्मा। सच्चा गुरु कौन है ? निज अन्त्रात्मा, वीतराग परिणति। इनकी भक्ति करता है अर्थात् इन्हीं के स्मरण-ध्यान में लगा रहता है। व्यवहार में सच्चे देव सर्वज्ञ वीतरागी हितोपदेशी, केवलज्ञानी सशरीरी और अशरीरी सिद्ध परमात्मा तथा वीतराग निर्ग्रन्थ दिगम्बर ज्ञानी साधु की भक्ति करता है। सच्चे धर्म का पालन करता है, सच्चा धर्म क्या है ? अपना शुद्ध स्वभाव ही सच्चा धर्म है, इसका पालन करता है। व्यवहार में अहिंसा परमोधर्म का पालन करता है, दशलक्षण रूप धर्म का आचरण करता है। सच्चे तत्व का अनुभव करता है अर्थात् सत्संग, स्वाध्याय द्वारा तत्व का सही निर्णय करता है। मिथ्या देव, गुरु, धर्म के चक्कर से छूट गया, मुक्त हो गया है अर्थात् अब वह इनकी मान्यता, वन्दना, भक्ति नहीं करता।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि सम्यक्दृष्टि, मिथ्यादेव, गुरु धर्म के चक्कर से छूट गया है अब इनकी मान्यता, वन्दना, भक्ति नहीं करता तो फिर विराधना, विरोध तो करता है, आलोचना तो करता है कि ऐसे हैं यह सब बताता है या नहीं ?

उसका समाधान करते हैं कि सम्यक्दृष्टि ज्ञानी को किसी की विराधना, विरोध आलोचना करने की क्या जरूरत है ? वह तो सत्य का उपासक है, उसने सत्य वस्तु स्वरूप को जाना है, वह तो उसकी साधना आराधना करता है। पर के प्रपंच में पर की तरफ देखने की जरूरत ही क्या है। जो जैसा है, वह उसके लिये है, जो जैसा करेगा उसका परिणाम वह भोगेगा। जगत तो अनादि अनंत है, जगत में अनन्त जीव हैं और सबका परिणामन अपनी पात्रता, तत्समय की योग्यतानुसार चल रहा है और चलेगा, उसे बदल भी कौन सकता है। सम्यक्दृष्टि ज्ञानी ने वस्तु स्वरूप जाना और वह वहाँ से हट गया। कहने बताने में आयेगा तो वह सत्य वस्तु स्वरूप बतायेगा, कोई माने या न माने, वह किसी का बैर-विरोध, आलोचना नहीं करता।

यहाँ पुनः प्रश्न है कि फिर तारण स्वामी ने कुदेवादि का विरोध क्यों किया ?

उसका समाधान है कि तारण स्वामी ने सच्चे देव, सच्चे गुरु, सच्चे धर्म का स्वरूप बताया है, वहीं मिथ्या देव, मिथ्या गुरु, मिथ्या धर्म का स्वरूप बताया है पर उन्होंने किसी की विराधना विरोध नहीं किया। किसी को यह नहीं कहा यह गलत है, यह सही है, उन्होंने तो स्वरूप बताया है कि अब देख लो, समझलो, फिर

जिसे जो मानना हो मानो। उन्होंने यहाँ अभी सम्यक्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि की परिभाषा बतलाई; परन्तु यह नहीं कहा कि तुम मिथ्यादृष्टि हो या हम सम्यक्दृष्टि हैं, उन्होंने तो यह बताया है कि जो यथार्थ वस्तु स्वरूप है वह ऐसा है, अब हम स्वयं अपने को देख लें, अपने देव गुरु धर्म की मान्यता को देख लें। तारण स्वामी ने आज तक किसी के विरोध में एक शब्द नहीं कहा, व्यक्तिगत आलोचना नहीं की।

मालारोहण ग्रंथ की पाँचवीं गाथा में स्पष्ट कहा है -

शल्यं त्रियं चित्त निरोध नित्वं, जिन उक्त वानी ह्रिदै चेतयत्वं ।

मिथ्यात देवं गुरु धर्म दूरं, सुद्धं सरूपं तत्त्वार्थ सार्ध ॥

परन्तु इतना अवश्य है कि जिसने सत्य को जाना, सत्य को उपलब्ध किया वह तो सत्य वस्तु स्वरूप ही कहेगा, कोई माने अथवा न माने, इसके लिये प्रत्येक जीव स्वतंत्र है।

यहाँ सम्यक्दृष्टि कैसा होता है, उसकी मान्यता और साधना क्या है ? इसका विवेचन चल रहा है, इसी क्रम में आगे उसका और वर्णन करते हैं -

संमिक दर्शनं सुद्धं, न्यानं आचरन संजुतं ।

सार्द्धं त्रिति संपूर्णं, कुन्यानं त्रिविधि मुक्तयं ॥ ३६ ॥

अन्वयार्थ- (संमिक दर्शनं सुद्धं) सम्यक्दर्शन शुद्ध होने पर (न्यानं आचरन संजुतं) ज्ञान और चारित्र भी सम्यक् हो जाते हैं (सार्द्धं त्रिति संपूर्णं) सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों की पूर्णता ही मोक्ष है और तीनों की साधना ही मोक्षमार्ग है (कुन्यानं त्रिविधि मुक्तयं) तीनों प्रकार के कुज्ञान से मुक्त हो जाता है, छूट जाता है।

विशेषार्थ- यहाँ शुद्ध सम्यक्दर्शन होते ही, ज्ञान भी सम्यक्ज्ञान और चारित्र भी सम्यक्चारित्र हो जाता है यह बतलाया जा रहा है। यहाँ कोई प्रश्न करे कि सम्यक्दर्शन होते ही ज्ञान, सम्यक्ज्ञान और चारित्र सम्यक्चारित्र कैसे हो जाता है ? क्योंकि अभी तो वह मोह, राग-द्वेषादि अज्ञानमय है तथा पापादि विषय-कषायों में लगा है तो यह सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र कैसे हुआ ?

उसका समाधान करते हैं कि जब तक जीव मिथ्यात्व सहित था तब तक कितने ही ग्रन्थों का पठन करने वाला, यहाँ तक कि ग्यारह अंग और नौ पूर्व का जानने वाला भी मिथ्यात्व सहित मिथ्याज्ञानी है और श्रावक के व्रत, संयम और साधु के अट्टाईस मूलगुण का निरतिचार पालन करना भी मिथ्यात्व सहित,

मिथ्याचारित्र है ; क्योंकि इससे मुक्ति का मार्ग नहीं बनता और न आत्मा में सुख शांति होती है तथा सम्यक्दर्शन निज शुद्धात्मानुभूति होते ही भले ही वह कितना ही मूढ़ अज्ञानी हो अनपढ़ हो, कुछ भी न जानता हो, मोह, राग-द्वेष में लिप्त हो फिर भी वह उतने समय सम्यक्ज्ञानी है और बाहर में भले ही वह पापों में विषय-कषायों में लिप्त हो, पर वह उतने समय सम्यक्चारित्र वाला है; क्योंकि उसने अपने शुद्ध शुद्धात्म स्वरूप को देख लिया है, जान लिया है, मान लिया है। एक समय का स्वरूपाचरण हो गया है और मोक्षमार्ग में यही सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र कार्यकारी है। इसी से आत्मा में सुख शांति आनंद की उपलब्धि होती है।

अब यहाँ एक बात जो महत्वपूर्ण समझने की है वह यह कि सम्यक्दर्शन में भले ही उपशम सम्यक्त्व होवे, उसमें और सिद्ध परमात्मा के सम्यक्त्व में कोई भेद नहीं है, श्रद्धा दोनों की एक सी अपने ध्रुव तत्व की बराबर होती है। ज्ञान और चारित्र में क्रमशः विकास होता है क्योंकि इनके बाधक कारण ज्ञानावरणीय, मोहनीय अभी मौजूद हैं तथा बाहर के ज्ञान और चारित्र को सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र नहीं कहते। यह कर्मों के क्षयोपशम से होता है, उस भूमिका, पात्रतानुसार बाहर में वैसा आचरण अपने आप होता है, न होवे ऐसा तो होता नहीं है, हो ही नहीं सकता। इसी बात को आगे की गाथा में कहते हैं-

संमिक संजमं दिस्टा, संमिक तप सार्द्धयं ।

परिनै प्रमानं सुद्धं, असुद्धं सर्व तिक्तयं ॥३७॥

अन्वयार्थ- (संमिक संजमं दिस्टा) सम्यक् संयम देखने में आता है (संमिक तप सार्द्धयं) सम्यक् तप की साधना करता है (परिनै प्रमानं सुद्धं) उसका परिणमन प्रामाणिक शुद्ध होता है (असुद्धं सर्व तिक्तयं) सर्व अशुद्ध परिणमन को छोड़ देता है।

विशेषार्थ- सम्यक्दर्शन सहित ज्ञान, सम्यक्ज्ञान और चारित्र तो सम्यक्चारित्र हो ही जाता है। सम्यक्दर्शन सहित संयम भी सम्यक् संयम होता है और तप भी सम्यक् तप होता है। उस सम्यक्दृष्टि का सब परिणमन प्रामाणिक शुद्ध होता है अर्थात् जिस भूमिका, गुणस्थान में होता है उस रूप ही सारा परिणमन होता है, वह स्वच्छन्दता-मनमानी नहीं करता, लौकिक सामाजिक रुढ़ियों का बंधा नहीं होता। देश, काल, परिस्थिति के अनुसार निराकुल, निर्विकल्प रहने का नाम ही संयम तप है। बाह्य आडम्बर को ओढ़ता नहीं है, सहजता में निराकुल, निशल्य, निश्चित,

निर्भय, निर्द्वंद आनंद में रहना ही एकमात्र लक्ष्य है और इसके लिये जैसी अनुकूलता परिस्थिति देखता है, अपनी पात्रतानुसार वैसा परिणमन करता है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि ऐसा तो सभी कहते हैं और करते हैं परन्तु देखने में तो सब विपरीत आता है। संयम, तप, साधना के नाम पर और अधिक विकल्प आकुलता में ही रहते हैं, कषाय करते हैं तथा दूसरों को भी आकुलता-विकल्प के कारण बनते हैं फिर यह सब क्या है ?

इसका समाधान करते हैं कि यहाँ सम्यक्दृष्टि की दशा का वर्णन चल रहा है यह बात ध्यान में रखना है। यहाँ यह बताया जा रहा है कि सम्यक्दृष्टि ज्ञानी ऐसा होता है, उसका एक मात्र लक्ष्य निराकुल, निर्विकल्प आत्मीय आनंद में रहने का होता है। वह संकल्प-विकल्प के कारणों से बचता है सब बन्धनों से दूर रहता है, क्योंकि जिसे एक बार अमृत रस पीने को मिल जाये, फिर क्या वह जहर पियेगा ? मजबूरी, कर्मोदायिक परिस्थिति में रहना और करना पड़ता है; परन्तु वह तो फिर संसार में एक समय के लिये भी नहीं रहना चाहता, सब बन्धनों से छूटने का नाम ही मुक्ति है। जो पाप परिग्रह रूप ग्रन्थियाँ खोल देता है उसे ही निर्ग्रन्थ साधु कहते हैं और जो सब कर्म बन्धनों से मुक्त हो जाता है वह सिद्ध परमात्मा कहलाता है। यहाँ सम्यक्दृष्टि की बात समझना है और अपने को देखना है, इसके अतिरिक्त कौन क्या कर रहा है, कैसा रह रहा है, उसकी वह जाने; क्योंकि यह तो संसार है। यहाँ धर्म के नाम पर जीव क्या-क्या नहीं कर रहे, क्या-क्या नहीं हो रहा, यह सब प्रत्यक्ष ही है तो फिर बिचारे संयम-तप के नाम पर जो कुछ कर रहे हैं, उसका परिणाम तो वह भोग रहे हैं और भोगेंगे।

यहाँ तारण स्वामी सम्यक्दृष्टि की बात कर रहे हैं, अपनी ओर देखने के लिये कह रहे हैं। इसी क्रम में सम्यक्दृष्टि को और क्या होता है, इसे आगे कहते हैं -

षट् कर्म संमिक्तं सुद्धं, संमिक्तं अर्थ सास्वतं ।

संमिक्तं ध्रुवं सार्द्धं, संमिक्तं प्रति पूर्णितं ॥ ३८ ॥

अन्वयार्थ- (षट् कर्म संमिक्तं सुद्धं) शुद्ध षट्कर्म भी सम्यक्दृष्टि को होते हैं (संमिक्त अर्थ सास्वतं) सम्यक्त्व ही प्रयोजनवान शाश्वत है (संमिक्तं ध्रुवं सार्द्धं) सम्यक्त्वी ही शुद्ध ध्रुव स्वभाव की साधना करता है (संमिक्तं प्रति पूर्णितं) सम्यक्त्व ही यथार्थ परिपूर्ण होता है।

विशेषार्थ- सम्यक्दर्शन की बड़ी अपूर्व महिमा है। सम्यक्दृष्टि को ही शुद्ध षट्कर्म होते हैं, षट्कर्म अर्थात् गृहस्थ श्रावक के आवश्यक छह कर्तव्य-देवपूजा, गुरुभक्ति, शास्त्र स्वाध्याय, संयम, तप और दान।

मुनियों के भी छह नित्य कर्म हैं- प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, संस्तुति, वन्दना, सामायिक, कायोत्सर्ग। यह षट्कर्म भी सम्यक्दर्शन होने पर ही शुद्ध होते हैं। सम्यक्दर्शन ही प्रयोजनवान शाश्वत है, सम्यक्त्वी ही अपने शुद्ध ध्रुव स्वभाव की साधना करता है, यथार्थ में सम्यक्दर्शन ही महत्वपूर्ण है।

सम्यक्त्व अर्थात् आत्म श्रद्धान बिना, बाहर में कितना भी कुछ भी करता रहे, होता रहे जीव को कभी सुख शान्ति मिलने वाली नहीं, मुक्ति होने वाली नहीं। मिथ्यादृष्टि जीव हर समय, हर दशा में भले ही वह चक्रवर्ती इन्द्र भी क्यों न होवे, आकुल-व्याकुल और दुःखी ही रहता है।

सम्यक्दृष्टि जीव किसी दशा में कैसा ही रहे, हमेशा सुख साता में रहता है; क्योंकि उसे इस शरीरादि कर्मों से भिन्न अपने एक अखंड अविनाशी ध्रुव तत्व शुद्धात्मा का श्रद्धान अनुभव हो गया है, यही महत्वपूर्ण, प्रयोजनवान शाश्वत सत्य है, ऐसा सम्यक्दृष्टि जीव अपने आपको कैसा जानता, मानता है, इस बात को आगे गाथा में कहते हैं-

संमिक देव उपाद्यंते, राग दोष विमुक्तयं ।

अरूपं सास्वतं सुद्धं , सुयं आनंद रूपयं ॥ ३९ ॥

अन्वयार्थ- (संमिक देव उपाद्यंते) सच्चे देव की उपासना करता है (राग दोष विमुक्तयं) जो राग द्वेष से विमुक्त है (अरूपं सास्वतं सुद्धं) जो अरूपी है, शाश्वत है, शुद्ध है (सुयं आनंद रूपयं) वह आनंद स्वरूपी में स्वयं हूँ।

विशेषार्थ- सम्यक्दृष्टि सच्चे देव की उपासना करता है, वह सच्चा देव कैसा है, कौन है ?

**आतम ही है देव निरंजन, आतम ही सद्गुरु भाई ।
आतम शास्त्र धर्म आतम ही, तीर्थ आत्म ही सुखदाई ॥
आत्म मनन ही है रत्नत्रय, पूरित अवगाहन सुख धाम ।
ऐसे देव शास्त्र सद्गुरुवर, धर्म तीर्थ को सतत् प्रणाम ॥**

(तारण त्रिवेणी-चंचल जी)

**सुद्धप्पा अरु जिणवरहं, भेउ म किं पि वियाणि ।
मोक्खहं कारण जोइया, णिच्छइ एउ विजाणि ॥**

(योगसार गाथा- २०)

शुद्धात्मा और जिन भगवान में कुछ भी भेद न समझो मोक्ष का कारण एकमात्र यही है, ऐसा निश्चय से जानो। जो राग-द्वेष से विमुक्त, छूटा हुआ है अर्थात् जिसके स्वभाव में राग-द्वेष है ही नहीं, जो अरूपी है, शुद्ध है, आनंद स्वरूपी है, ऐसा शुद्धात्म तत्व सच्चा देव मैं ही हूँ, ऐसे अपने निज शुद्ध स्वभाव की उपासना, साधना करता है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि यह तो स्वच्छन्दीपना हो गया इससे तो जगत में देव, गुरु, धर्म की मर्यादा मान्यता ही समाप्त हो जायेगी तथा वर्तमान में जो राग-द्वेष में लिप्त, अशुद्ध है और अपने को ही शुद्ध सिद्ध परमात्मा, परमदेव माने तो यह कैसा ज्ञानी, सम्यक्दृष्टि है ?

इसका समाधान करते हैं कि जैसे हम कोई सोने का आभूषण लेकर स्वर्णकार के पास जायें और उससे कहें कि इसे बेचना है तो वह क्या देखता है और किसकी कीमत करता है ? भले ही अपना आभूषण दस तोले का हो, कितना ही सुन्दर अच्छा बना हो परन्तु वह उसमें शुद्ध सोने को देखता है और उसकी कीमत करता है। मैल सहित होने पर भी वह शुद्ध सोने की कीमत आँकता है, इसी प्रकार सम्यक्दृष्टि कैसी ही दशा में होवे, उसकी दृष्टि में तो अपना शुद्ध स्वरूप ध्रुव तत्व ही झलकता है, वह उसी की उपासना करता है; क्योंकि उसके आश्रय ही उसकी मुक्ति होने वाली है। इसी बात को समयसार गाथा १४ में कहा है -

जो पस्सदि अप्पाणं, अबद्ध पुडुं अणणयं णियदं ।

अविसेसमसंजुत्तं, तं सुद्ध णयं वियाणीहि ॥

जो अपनी आत्मा को बन्ध रहित और पर के स्पर्श से रहित, अन्यत्व रहित, चलाचलता रहित, विशेष रहित, अन्य के संयोग रहित, ऐसे पाँच भाव रूप से देखता है, उसे शुद्ध निश्चयनय जानो।

आगे इसी बात को और स्पष्ट किया है-

जो पस्सदि अप्पाणं, अबद्ध पुडुं अणणमविसेसं ।

अपदेस सन्त मज्झं, पस्सदि जिण सासणं सव्वं ॥ १५ ॥

जो अपनी आत्मा को अबद्ध स्पृष्ट, अनन्य, अविशेष, नियत और असंयुक्त

देखता है वह सर्व जिन शासन को देखता है। जो जिन शासन बाह्य द्रव्य श्रुत और आभ्यन्तर ज्ञान रूप भावश्रुत वाला है। जैसे- स्वर्णकार शुद्ध स्वर्ण को प्राप्त करने के लिये आभूषण को गलाता है, इसी प्रकार सम्यक्दृष्टि इस शुद्ध तत्व के ध्यान में लीन होकर इन राग-द्वेषादि कर्म पापों को क्षय करता है।

अहमिको खलु सुद्धो, णिम्ममओ णाण दंसण समगो ।

तम्मिह ठिओ तच्चित्तो, सव्वे एदे खयं णेमि ॥७३॥

ज्ञानी विचार करता है कि निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममतारहित हूँ, ज्ञानदर्शन से पूर्ण हूँ, उस स्वभाव में रहता हुआ, उसमें लीन होता हुआ मैं इन सर्व रागादि दोषों को क्षय को प्राप्त कराता हूँ।

यह जैन दर्शन का मर्म है, जिसको जानने पर ही मुक्ति होती है। अनादि से जीव ने पराश्रितपने के कारण ही संसार के दुःख भोगे हैं। जो जीव ऐसे अपने शुद्ध तत्व का आश्रय करता है वही सम्यक्दृष्टि है। वह अपने आपको और कैसा जानता, मानता है, इसे आगे गाथा में कहते हैं-

देव देवाधिदेवं च, नंत चतुस्तै संजुतं ।

उवंकारं च वेदंते, तिस्तितं सास्वतं ध्रुवं ॥ ४० ॥

उवंकारस्य ऊर्धस्य, ऊर्ध सद्भाव तिस्तितं ।

उवं ह्रियं श्रियं वन्दे, त्रिविधि अर्थं च संजुतं ॥ ४१ ॥

देवं च न्यान रूपेन, परमिस्ती च संजुतं ।

सो अहं देह मध्येषु, यो जानाति स पंडिता ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थ- (देव देवाधिदेवं च) देवो के देव, सौ इन्द्रोत्तर पूज्य परम देव जो (नंत चतुस्तै संजुतं) अनन्त चतुष्टय सहित हैं (उवंकारं च वेदंते) जो ओंकार स्वरूप का ही अनुभव करते हैं (तिस्तितं सास्वतं ध्रुवं) जो हमेशा अपने शाश्वत ध्रुव स्वभाव मय ही रहते हैं।

(उवंकारस्य ऊर्धस्य) पंच परमेष्ठियों में श्रेष्ठ सिद्ध परमात्मा (ऊर्ध सद्भाव तिस्तितं) जो हमेशा सिद्ध स्वभाव में रहते हैं (उवं ह्रियं श्रियं वन्दे) ऐसे उवंकार ह्रियंकार श्रियंकार स्वरूप की मैं वंदना करता हूँ (त्रिविधि अर्थं च संजुतं) जो रत्नत्रय, सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र में लीन हैं।

(देवं च न्यान रूपेन) देव जो मात्र ज्ञान स्वरूप है (परमिस्ती च संजुतं) जो परमेष्ठी मयी है (सो अहं देह मध्येषु) ऐसा देवों का देव अरिहंत परमात्मा, सबसे श्रेष्ठ निरंजन अशरीरी ब्रह्म स्वरूप सिद्ध परमात्मा जिसकी सब स्तुति वंदना करते हैं, ऐसा मैं शुद्धात्म तत्व इस देह के मध्य में हूँ (यो जानाति स पंडिता) ऐसा जानने वाला ही पंडित ज्ञानी सम्यक्दृष्टि है।

विशेषार्थ- यहाँ अत्यंत महत्वपूर्ण बात बताई जा रही है कि सम्यक्दृष्टि क्या जानता मानता है, उसकी श्रद्धा का क्या लक्ष्य है। देवदेवाधि देव तीर्थंकर अरिहन्त सर्वज्ञ परमात्मा जो अनन्त चतुष्टय सहित हैं, जो हमेशा अपने शाश्वत ध्रुव स्वभाव में रहते हैं, ओंकार स्वरूप का वेदन करते हैं तथा इनसे आगे जो अपने सिद्ध स्वभावमय ही रहते हैं जिनकी सम्पूर्ण जगत के जीव स्तुति वन्दना करते हैं ऐसे सिद्ध परमात्मा हैं, ऐसे देव जो मात्र ज्ञान स्वरूप ही हैं, परम इष्ट, परमेष्ठी सहित हैं, वह मैं शुद्धात्म तत्व इस देह में विराजमान हूँ, ऐसा जो जानता है वही सम्यक्दृष्टि ज्ञानी पंडित है।

बड़ी अपूर्व बात है, ऐसा सुनना ही बहुत कठिन है, ऐसा मानना और जानना तो बड़े गजब की बात है, यह लोहे के नहीं, फौलाद के चने हैं, जिनको हजम करना सामान्य जीव के वश की बात नहीं है, यह तो एक मात्र सम्यक्दृष्टि की बात है और यह उसकी दृष्टि श्रद्धा का विषय है। ऐसा उसने अपनी अनुभूति में लिया है कि मैं अरिहन्त सिद्ध के समान परमदेव परमात्मा मैं स्वयं हूँ ऐसा जो जानता है, वह पंडित है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि फिर ठीक है यह पंडित जी को उठाकर ही वेदी में बिठा दो, यह देव, गुरु, शास्त्र और उनकी पूजा भक्ति करने से क्या लाभ है ? इनकी ही पूजा भक्ति करो, फिर यह मंदिर जाने और यह कुछ भी व्रत संयम आदि करने से क्या प्रयोजन है ? जब देवों के देव परमदेव परमात्मा स्वयं ही हैं तो अब और क्या करना है ? तथा सब पापादि अन्याय, अत्याचार करते रहो और कहो कि मैं भी शुद्धात्मा, परमात्मा हूँ, जब सब जीव आत्मा परमात्म स्वरूप हैं तो अब और क्या करना है ?

इसका समाधान करते हैं कि यह ऐसे कहने मानने की बात नहीं है परन्तु जिसे सम्यक्दर्शन निज शुद्धात्मानुभूति हो जाती है, उसकी मान्यता दृष्टि और लक्ष्य में यही होता है, यह जरा कठिन बात तो है, परन्तु है अटल सत्य क्योंकि ऐसी स्वीकारता, श्रद्धा के बगैर सम्यक्दृष्टि भी नहीं होता। यह मात्र पढ़ने से तोता रटन्त

हो जाने का नाम पंडित नहीं है और न इससे कुछ भला होने वाला है तथा यह बाह्य में कितने ही व्रत, नियम, संयम करते रहो इनसे कुछ भी होने वाला नहीं है। जब तक शुद्धात्मानुभूति नहीं होती तब तक तीन काल भी आत्मकल्याण, मुक्ति होने वाली नहीं है और न ही कभी जीवन में सुख शान्ति आने वाली है। यह तो वस्तु स्वरूप धर्म के मर्म को समझने की बात है। अनादि से इस जीव ने पर की तरफ देखा है, पर के आश्रय सब कुछ किया है, पर आज तक भला नहीं हुआ। अरे ! यहाँ मन्दिर में पूजा भक्ति करने से क्या होता है ? साक्षात् समवशरण में तीर्थकर परमात्मा की पूजा भक्ति की तब भी कुछ भला नहीं हुआ; क्योंकि अपनी तरफ लक्ष्य गया ही नहीं, निज कारण परमात्मा की तरफ दृष्टि जावे तो कार्य बने, धर्म की उपलब्धि होवे।

यहाँ यह बात तारण स्वामी ही नहीं कह रहे, इस बात को तो भगवान महावीर ने कहा है, तीर्थकरों ने कहा है और कुन्दकुन्दाचार्य, योगीन्दुदेव, अमृतचन्द्राचार्य आदि सभी आचार्यों ने यही कहा है। सबने यही बात बताई है। देखो, सुनो, पढ़ो तब समझ में आवे। आचार्यों ने कहा है वह सुनो—

सिद्धोऽहं सिद्ध रूपोऽहं, गुणैः सिद्ध समो महान ।
त्रिलोकाग्र निवासी, चारूपोऽसंख्य प्रदेशवान् ॥१५०॥
शुद्धोऽहं विशुद्धोऽहं, निःकर्माऽहं भवातिगः ।
मनोवाक्काय दूरोऽहं, चात्यक्षोऽहं गतः क्रियः ॥१५१॥
अमूर्तो ज्ञान रूपोऽहं, अनन्त गुण तन्मयः ।
अनन्त दर्शनोऽनन्त, वीर्योऽनन्त सुखात्मकः ॥१५२॥
अनन्त ज्ञान नेत्रोऽहमनन्त महिमाऽऽश्रयः ।
सर्व वित्सर्वदर्शी चाहमनन्त चतुष्टयः ॥१५३॥
परमात्मा प्रसिद्धोऽहं बुद्धोऽहं स्वधिदात्मकः ।
परमानन्द भोक्ताऽहं विगताऽखिल बन्धनः ॥१५४॥
एकोऽहं निर्ममत्वोऽहमुदासीनोऽमूर्जितः ।
निर्विकल्पोऽहमात्मज्ञोऽहं दृक्केवल लोचनः ॥१५५॥
उपयोगमयोऽहं च कल्पनातीत वैभवः ।
स्वसंवेदन संज्ञान गम्योऽहं योग गोचरः ॥१५६॥
सर्वज्ञः सर्ववेत्ताऽहं सर्वदर्शी सनातनः ।
जन्म मृत्यु जरातीतोऽहं सिद्धाष्ट गुणात्मकः ॥१५७॥

त्यक्ताष्ट कर्म कायोऽहं जगज्ज्येष्ठोऽहमञ्जसा ।

जिनोऽहं परमार्थेन ध्येयो वंद्यो महात्मवान् ॥१५८॥

(श्रीमद् सकल कीर्ति गणी रचित समाधि मरणोत्साह दीपक से)

मैं सिद्ध हूँ, सिद्ध रूप हूँ, मैं गुणों से सिद्ध के समान हूँ, महान हूँ, त्रिलोक के अग्रभाग पर निवास करनेवाला हूँ, अरूपी हूँ, असंख्यात प्रदेशी हूँ।

मैं शुद्ध हूँ, मैं निष्कर्मा हूँ, मैं भवातीत हूँ, संसार को पार कर चुका हूँ, मैं मन, वचन, काय से दूर हूँ, मैं अतीन्द्रिय हूँ, इन्द्रियों से परे हूँ, मैं क्रिया रहित निष्क्रिय हूँ। मैं अमूर्त हूँ, ज्ञानरूप अनन्त गुणात्मक हूँ, मैं अनन्त दर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्त सुख का धारक हूँ। मैं अनन्त ज्ञानरूप नेत्र का धारक हूँ, मैं अनन्त महिमा का आश्रय हूँ, आधार हूँ, मैं सर्ववित् हूँ, सर्वदर्शी हूँ, अनन्त चतुष्टय का धारक हूँ। मैं परमात्मा हूँ, मैं प्रसिद्ध हूँ, मैं बुद्ध हूँ, मैं स्वचैतन्यात्मक हूँ, मैं परमानन्द हूँ, मैं सर्वप्रकार के कर्मबन्धनों से रहित हूँ। मैं एक हूँ, अखंड हूँ, निर्ममत्वरूप हूँ, मैं उदासीन हूँ, मैं ऊर्जस्वी हूँ, मैं निर्विकल्प हूँ, आत्मज्ञ हूँ, केवलदर्शन और केवलज्ञान रूप दो नेत्रों का धारक हूँ। मैं ज्ञान दर्शन रूप उपयोगमय हूँ, मैं कल्पनातीत वैभव का धारक हूँ, मैं स्वसंवेदन गम्य हूँ, मैं सम्यक्ज्ञान गम्य हूँ, मैं कल्पनागोचर हूँ, मैं सर्वज्ञ हूँ, सर्ववेत्ता हूँ, सर्वदर्शी हूँ, सनातन हूँ, मैं जन्म जरा और मृत्यु से रहित हूँ, मैं सिद्धों के अष्ट गुणों का धारक हूँ। मैं अष्ट कर्मरूप काय से, कार्माण शरीर से और सर्वकर्मों से रहित हूँ, मैं निश्चयतः जगज्ज्येष्ठ हूँ, मैं जिन हूँ, परमार्थ से मैं ही स्वयं ध्यान करने योग्य हूँ, वन्दना करने के योग्य हूँ और अतिशय माहात्म्य का धारक हूँ।

इसी बात को योगीन्दुदेव योगसार ग्रन्थ में कहते हैं—

अरहन्तु वि सो सिद्ध फुडु, सो आयरिउ वियाणि ।

सो उवझायउ सो जि मुणि, निच्छइ अप्पा जाणि ॥१०४॥

सो सिउ संकरु विणहु सो, सो रुद वि सो बुद्ध ।

सो जिणु ईसरु बंभु सो, सो अणंतु सो सिद्ध ॥१०५॥

एव हि लक्खण लक्खियउ, जो परु णिक्कलु देउ ।

देहहं मज्झहिं सो वसइ, तासु ण विज्जइ भेउ ॥१०६॥

निश्चय नय से आत्मा ही अर्हन्त है, वही निश्चय से सिद्ध है और वही आचार्य है और उसे ही उपाध्याय तथा मुनि समझना चाहिये। वही शिव है, वही शंकर है,

वही विष्णु है, वही रुद्र है, वही बुद्ध है, वही जिन है, वही ईश्वर है, वही ब्रह्मा है, वही अनन्त है और सिद्ध भी उसे ही कहना चाहिये। इन लक्षणों से युक्त परम निष्कल देव जो देह में निवास करता है, उसमें और इनमें कोई भेद नहीं है।

परमात्म प्रकाश में आचार्य योगीन्दुदेव इसी बात को कहते हैं-

अप्यिं अप्पु मुणंतु जिउ सम्मादिडि हवेइ ।

सम्माइडिउ जीवडउ लहु कम्मइं मुच्चेइ ॥७६॥

अपने को अपने से जानता हुआ यह जीव सम्यक्दृष्टि होता है और सम्यक्दृष्टि जीव शीघ्र ही कर्मों से छूट जाता है। आगे इसी बात को और स्पष्ट करते हैं-

एहु जु अप्पा सो परमप्पा, कम्म विसेसें जायउ जप्पा ।

जामइ जाणइं अप्पे अप्पा, तामइ सो जि देउ परमप्पा ॥१७४॥

यह प्रत्यक्षभूत स्वसंवेदन ज्ञानकर प्रत्यक्ष जो आत्मा वही शुद्ध निश्चयनय कर अनन्त चतुष्टय स्वरूप क्षुधा आदि अठारह दोष रहित निर्दोष परमात्मा है, वह व्यवहार नय कर अनादि कर्मबन्ध के विशेष से पराधीन हुआ दूसरे का जप करता है, परन्तु जिस समय वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानकर अपने को जानता है, उस समय यह आत्मा ही परमात्म देव है।

निज शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न हुआ जो परम आनंद उसके अनुभव में क्रीड़ा करने से देव कहा जाता है, यही आराधने योग्य है। जो आत्मदेव शुद्ध निश्चय नय कर भगवान् केवली के समान है, ऐसा परमदेव शक्ति रूप से देह में है, जो देह में न होवे तो केवलज्ञान के समय कैसे प्रगट होवे।

जो परमप्पा णाणमउ सो हउं देउ अणंतु ।

जो हउं सो परमप्पु परू एहउ भावि णिभंतु ॥ १७५ ॥

जो परमात्मा ज्ञान स्वरूप है, वह मैं ही हूँ, जो कि अविनाशी देव स्वरूप हूँ। वही उत्कृष्ट परमात्मा है, इस प्रकार निस्संदेह भावना कर।

सम्यक्दृष्टि ज्ञानी इसी प्रकार सिद्ध परमात्मा के समान अपने आत्मस्वरूप का चिन्तन करता है, ऐसा जानता मानता है, अगर इसमें जरा भी शंका संशय करता है तो सम्यक्दृष्टि नहीं हो सकता। सम्यक्दर्शन की बड़ी अपूर्व महिमा है-

मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी, या बिन ज्ञान चरित्रा ।

सम्यक्ता न लहे सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा ॥

इस सत्य को स्वीकार कर इसी में समा जायें, यही मनुष्यभव की सार्थकता है। इसी क्रम में आगे गाथा कहते हैं-

कर्म अस्ट विनिर्मुक्तं, मुक्ति स्थानेषु तिष्ठते ।

सो अहं देह मध्येषु, यो जानाति स पंडिता ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थ- (कर्म अस्ट विनिर्मुक्तं) आठों कर्मों से रहित सिद्ध परमात्मा (मुक्ति स्थानेषु तिष्ठते) जो मुक्ति स्थान, सिद्ध क्षेत्र में विराजते हैं (सो अहं देह मध्येषु) वहीं मैं सिद्ध परमात्मा इस देह में विराजमान हूँ (यो जानाति स पंडिता) जो तत्त्व ज्ञानी ऐसा जानता है, वही पंडित है।

अष्टकर्म क्षय कर जीती जिनने, जन्म मरण की पीड़ा ।

सिद्ध क्षेत्र में करते ऐसे, सिद्ध जिनेश्वर क्रीड़ा ॥

मैं भी तो हूँ सिद्ध प्रभु, यह तन मेरा मन्दिर है ।

जो जाने यह मर्म वही नर, पंडित प्रज्ञाधर है ॥ (चंचल जी)

विशेषार्थ- यहाँ अव्रत सम्यक्दृष्टि ज्ञानी वस्तु स्वरूप का कैसा चिन्तन करता है। संसार, शरीर, भोगों को कैसा मानता है और अपने आपको कैसा जानता मानता है, इसका वर्णन चल रहा है।

आठों कर्मों से रहित सिद्ध परमात्मा, जो सिद्ध क्षेत्र मुक्ति में विराजमान हैं, ऐसा ही मैं इस देह में विराजमान हूँ, ऐसा जानने वाला ही पंडित है। बड़ी अपूर्व बात है, जो अष्ट कर्मों से रहित सिद्ध परमात्मा सिद्ध क्षेत्र मुक्ति में विराजमान हैं, ऐसा ही मैं अर्थात् सिद्ध के समान ध्रुव अविनाशी शाश्वत परम ब्रह्म परमात्म स्वरूप इस देह देवालय में विराजमान हूँ। द्रव्यार्थिक नय से सभी जीव आत्मायें समान गुणधारी शुद्ध हैं, यद्यपि प्रदेशों की अपेक्षा या व्यक्तिपने की अपेक्षा हर एक आत्म द्रव्य की सत्ता भिन्न-भिन्न रूप है तथापि गुण व स्वभाव शक्ति अपेक्षा सब एक रूप हैं। ऐसा सम्यक्दृष्टि ज्ञानी देखता-जानता है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि यह बात ठीक है परन्तु जो ज्ञानी सम्यक्दृष्टि साधु पद में विराजमान है, वह ऐसा जाने माने, अनुभव करे यह बात तो जँचती है, समझ में आती है परन्तु पापादि में रत विषय-कषायों में लिप्त अव्रती श्रावक ऐसा जाने-माने कहे यह बात तो जँचती नहीं उचित भी नहीं है, इससे तो धर्म का अवमूल्यन होता है, क्योंकि जब तक वैसा आचरण न हो, तब तक ऐसा कहना

शोभा नहीं देता ।

इसका समाधान करते हैं कि यह श्रद्धा और ज्ञान का विषय है, यहाँ चारित्र की बात नहीं है । सम्यक्दर्शन तो मात्र श्रद्धा, दृष्टि का विषय है, जब तक यह सही न हो तब तक ज्ञान और चारित्र भी कोई कार्यकारी नहीं है । श्रद्धान दृष्टि के सही होते ही, ज्ञान और चारित्र भी सही हो जाते हैं, उनका क्रमिक विकास होता है । यहाँ सम्यक्दर्शन की प्रमुखता है और उसी अपेक्षा यह वर्णन चल रहा है कि वह ऐसा जानता मानता है, यह उसकी अन्तरंग परिणति श्रद्धा की बात है । आचरण में तो जैसी पात्रता गुणस्थान बढ़ेगा वैसा आयेगा, यहाँ तो निर्णय करने, स्वीकार करने की बात है, क्योंकि जब तक ऐसा निर्णय, ऐसी स्वीकारता न होगी तब तक सम्यक्दर्शन भी नहीं हो सकता । धर्म का मुक्ति का मूल आधार तो सम्यक्दर्शन है । साधु पद से तो वह ऐसा अनुभव करने लगता है, यहाँ अनुभव करने की प्रमुखता है, कहने की बात नहीं है । यहाँ तो जिसे एक समय का उपशम सम्यक्त्व हुआ है, जो अग्रती है, परन्तु उसकी श्रद्धा ज्ञान में यह बात आ गई है, वह सम्यक्दृष्टि है । इसी बात को आचार्य देवसेन तत्त्वसार में कहते हैं—

मल रहिओ णाणमओ, णिवसइ सिद्धि ए जारिसो सिद्धा ।

तारिसओ देहस्थो, परमो बंभो मुणेयव्वो ॥२६॥

जैसा कर्म मल से रहित ज्ञानमय सिद्धात्मा सिद्ध लोक में निवास करता है वैसा ही परम ब्रह्म स्वरूप अपना आत्मा देह में स्थित जानना चाहिये । इसी बात को आगे और स्पष्ट करते हैं—

णो कम्म कम्मरहिओ, केवलणाणाइ गुण समिद्धो जो ।

सोहं सिद्धो सुद्धो, णिच्चो एक्को णिरालंबो ॥२७॥

जो सिद्ध जीव शरीरादि नो कर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म तथा राग-द्वेषादि भाव कर्म से रहित है, केवलज्ञानादि अनन्त गुणों से समृद्ध है, वही मैं सिद्ध हूँ, शुद्ध हूँ, नित्य हूँ, एक स्वरूप हूँ और निरालंब हूँ । आगे और यही बात कहते हैं—

सिद्धोहं सुद्धोहं, अणंतणाणाइ समिद्धोहं ।

देह पमाणो णिच्चो, असंखदेसो अमुत्तो य ॥२८॥

मैं सिद्ध हूँ, शुद्ध हूँ, अनन्त ज्ञानादि से समृद्ध हूँ, देह प्रमाण हूँ, मैं नित्य हूँ, असंख्य प्रदेशी और अमूर्त हूँ ।

यह सम्यक्दर्शन का विषय है, जब तक ऐसी श्रद्धा न होगी तब तक किसके आश्रय क्या करेगा । मिथ्यादृष्टि तो पर के आश्रय संसार में जन्म-मरण करता चला आ रहा है । जिसने स्व का आश्रय किया वह सम्यक्दृष्टि है और वही इस संसार के दुःख तथा जन्म-मरण से छूटता है । यहाँ जो सम्यक्दृष्टि है, वह तो ऐसा जानता, मानता ही है तथा जिसे सम्यक्दृष्टि होना है, सम्यक्दर्शन को इष्ट हितकारी मानता है उसे भी ऐसा श्रद्धान करना, मानना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि पर के आश्रय से कभी भला होने वाला नहीं है ।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि ऐसा मानने से स्वच्छन्दी निश्चयाभाषी एकान्तवादी न हो जायेंगे ?

उसका समाधान करते हैं कि अभी तक पर का आश्रय किया उससे क्या मिला ? तथा जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य होता है यह तो अनाद्यनिधन सिद्धांत है । जब तक कारण ही विपरीत रहेगा तो कार्य भी विपरीत होगा और जब कारण सही होगा तो कार्य भी सही होगा । अपने को संसार का अभाव करना है, मुक्त होना है तो इसका जो सच्चा कारण है उसका आश्रय न करेंगे तो सच्चा कार्य भी कैसे होगा ।

इसी बात को सद्गुरु तारण स्वामी ने न्यानसमुच्चयसार में स्पष्ट किया है —

कारणं कार्यं सिद्धं च, जं कारणं कार्यं उद्यमं ।

स कारणं कार्यं सिद्धं च, कारणं कार्यं सदा बुधैः ॥८०॥

कारणं दर्शनं न्यानं, चरनं सुद्ध तपं ध्रुवं ।

सुद्धात्मा चेतना नित्यं, कार्यं परमात्मा ध्रुवं ॥८१॥

कारण से कार्य की सिद्धि होती है, जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य का उद्यम होता है, यदि कारण सही है तो कार्य भी सही होता है, ऐसा ही कारण-कार्य संबंध है । कारण शुद्ध दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप होगा तो कार्य भी अपने शुद्धात्मा परमात्मपद की प्राप्ति होगी ।

निश्चयाभासी की स्वच्छन्दता क्या है, मोक्षमार्ग प्रकाशक में पं. टोडरमल जी कहते हैं —

मोक्षमार्ग में तो रागादिक मिटाने का श्रद्धान, ज्ञान, आचरण करना है । वह तो विचार ही नहीं है, अपने शुद्ध अनुभवन में ही अपने को सम्यक्दृष्टि मानकर अन्य सब साधनों का निषेध करता है । शास्त्राभ्यास करना निरर्थक बतलाता है ।

द्रव्यार्थिक के तथा गुणस्थान मार्गणा त्रिलोकादिक के विचार को विकल्प ठहराता है, तपश्चरण करने को वृथा क्लेश करना मानता है, व्रतादिक धारण करने को बन्धन में पड़ना ठहराता है, पूजादि कार्यों को शुभास्रव जानकर हेय प्ररूपित करता है, इत्यादि सर्व साधनों को उठाकर प्रमादी होकर परिणमित होता है, यह निश्चयाभासी की स्वच्छन्दता है।

(केवल निश्चयाभास के अवलम्बी जीव की प्रवृत्ति : मोक्षमार्ग प्रकाशक)

एक शुद्धात्मा को जानने से ज्ञानी हो जाते हैं, अन्य कुछ भी नहीं चाहिये। ऐसा जानकर कभी एकान्त में बैठकर ध्यान मुद्रा धारण करके मैं सर्व कर्मोपाधि रहित सिद्ध समान आत्मा हूँ, इत्यादि विचार से संतुष्ट होता है; परन्तु यह विश्लेषण किस प्रकार सम्भव है, ऐसा विचार नहीं है अथवा अचेतन, अखण्ड, अनुपमादि विश्लेषण द्वारा आत्मा को ध्याता है सो यह विशेषण अन्य द्रव्यों में भी संभवित हैं तथा यह विशेषण किस अपेक्षा से हैं सो विचार नहीं है तथा कदाचित् सोते-बैठते जिस-तिस अवस्था में ऐसा विचार रखकर अपने को ज्ञानी मानता है तथा ज्ञानी के आस्रव बन्ध नहीं है, ऐसा आगम में कहा है इसलिये कदाचित् विषय-कषाय रूप होता है, वहाँ बन्ध होने का भय नहीं है। स्वच्छन्द हुआ रागादि रूप प्रवर्तता है।

यदि अपना अभिप्राय गलत होगा तो अपना ही अहित होगा, संसार के दुःखों से छूटना तो दूर रहा और नरक निगोद में जाना पड़ेगा। स्वच्छन्दी, निश्चयाभासी कैसा होता है, इस बात को मोक्षमार्ग प्रकाशक में पंडित टोडरमल जी ने जैसा बताया है उस अनुसार देख लो अपनी प्रवृत्ति क्या है ? क्योंकि यहाँ तो अपनी-अपनी देखने अपनी-अपनी संभालने की बात है।

संसार में तो अनन्त जीवों का परिणमन चल ही रहा है, मोक्षमार्ग में तो एकाकी जीव आत्मा का प्रवेश है, वहाँ साथ चलता ही नहीं है। जब तक साथ है तब तक संसार है, बन्धन है। सब बन्धनों के छूटने का नाम ही मुक्ति है। यहाँ तो नर की बात है -

**संसार दुष्यं जे नर विरक्तं, ते समय सुद्धं जिन उक्त दिस्टं ।
मिथ्यात मय मोह रागादि षंडं, ते सुद्ध दिस्टी तत्त्वार्थ सार्धं ॥**

मालारोहण जी गाथा- ४

इसी क्रम में सम्यक्दृष्टि और कैसा मानता है, वह कहते हैं-

परमानंद सा दिस्टा, मुक्ति स्थानेषु तिस्तिते ।

सो अहं देह मध्येषु, सर्वन्यं सास्वतं ध्रुवं ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ- (परमानंद सा दिस्टा) परमानंद का अनुभव करने वाले, हमेशा परम आनंद में लीन रहने वाले सिद्ध परमात्मा हैं (मुक्ति स्थानेषु तिस्तिते) मुक्ति स्थान सिद्ध शिला पर विराजमान हैं (सो अहं देह मध्येषु) वैसे ही सिद्ध समान में इस देह में विराजमान हूँ (सर्वन्यं सास्वतं ध्रुवं) सर्वज्ञ हूँ, शाश्वत हूँ, ध्रुव हूँ।

विशेषार्थ- बड़ी अपूर्व बात है जो परमानंद में हमेशा लीन हैं अर्थात् परम आनंदमयी हैं, सिद्ध परमात्मा जो लोकाग्र में सिद्ध शिला पर विराजमान हैं, ऐसा ही मैं इस देह में विराजमान हूँ, सर्वज्ञ हूँ, शाश्वत हूँ, ध्रुव हूँ। यह किस दृष्टि से देखा जा रहा है ? शुद्ध निश्चय नय द्रव्य दृष्टि से देखा जा रहा है, क्योंकि वर्तमान में अशुद्ध पर्याय, कर्म संयोगी है। पर्याय में आनंद भी नहीं है, जबकि सिद्ध भगवान की पर्याय में परम आनंद चल रहा है। वह परम आनंद जिसके आश्रय प्रगट होना है, उस शुद्ध द्रव्य शुद्धात्म तत्व को देखा जा रहा है और अपने को वैसा माना जा रहा है।

अब यहाँ कोई प्रश्न करे कि बस यही तो समस्या है, जब पर्याय अशुद्ध है तो द्रव्य कैसे शुद्ध होगा ? द्रव्य की ही पर्याय होती है, कहीं अलग से तो नहीं आती। अशुद्ध द्रव्य है तभी तो पर्याय अशुद्ध है फिर यह मान्यता कैसे सम्यक् हो सकती है ?

इसका समाधान करते हैं कि यही अपूर्व रहस्य है, जैन दर्शन का मर्म समझने के लिये बड़ी सूक्ष्म सुबुद्धि चाहिये। अब यहाँ पहले द्रव्य को समझना पड़ेगा कि द्रव्य क्या है ? द्रव्य किसे कहते हैं ? इसका स्वरूप क्या है, तभी यह बात समझने में आयेगी। देखो, अनाद्यनिधन वस्तु जिसका कभी नाश न हो ऐसी सत् वस्तु को द्रव्य कहते हैं। जैसा तत्त्वार्थसूत्र में कहा है-

सत् द्रव्य लक्षणम् । उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत् । गुण पर्याय वत् द्रव्यम् ।

उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यपना जिसमें है वह सत् है तथा गुण, पर्याय सहित ही द्रव्य होता है। उत्पाद व्यय पर्याय का होता है, ध्रौव्य तत्व अपने में त्रिकाल शुद्ध परिपूर्ण रहता है तथा गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं। गुणों के परिणमन को पर्याय कहते हैं। यह छह द्रव्य हैं- जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और

काल, इनके समूह को ही विश्व कहते हैं। इनमें चार द्रव्य-धर्म, अधर्म, आकाश और काल तो द्रव्य, गुण, पर्याय तीनों से त्रिकाल शुद्ध हैं। जीव और पुद्गल दो द्रव्य ऐसे हैं, जो द्रव्य गुण से शुद्ध होते हुए भी पर्याय से अशुद्ध हैं।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि द्रव्य-गुण से शुद्ध हैं तो पर्याय से अशुद्ध कैसे हैं ? इसी बात को समझना है यह समझ में आ जावे तो सारी समस्या सुलझ जावे। देखो, यह बिजली के बल्व पर लाल कागज लगा है तो इसका प्रकाश कैसा होगा ? लाल होगा। क्यों ? क्योंकि उस पर लाल कागज लगा है, अगर लाल कागज न होवे तो प्रकाश कैसा है ? सफेद है, शुद्ध है। इसी प्रकार द्रव्य के गुणों पर कर्मों का आवरण होने से पर्याय अशुद्ध है।

अब यहाँ फिर प्रश्न हो सकता है कि गुणों पर कर्मों का आवरण कैसे है ? तो उसका समाधान है कि जब जीव विभाव परिणमन करता है, तब कर्मों का आस्रव बन्ध होता है और वह गुणों पर छा जाता है। जैसे- सूर्य का प्रकाश पानी पर पड़ने से उसमें से भाप बनती है और वह उड़कर सूर्य के ऊपर छा जाती है जो बादल कहलाते हैं, जिनसे फिर पानी बरसता है तो जैसे बिजली का प्रकाश और उसकी शक्ति शुद्ध है पर लाल कागज लगने से पर्याय अशुद्ध हो गई। सूर्य का प्रकाश, सूर्य की शक्ति अपने में परिपूर्ण शुद्ध है पर बादल छा जाने से उसकी पर्याय प्रकाशत्वपने में अन्तर आ जाता है इसी प्रकार जीव द्रव्य भी अपने गुणों सहित त्रिकाल शुद्ध है, कर्मों का आवरण होने से पर्याय अशुद्ध है। ज्ञानी सम्यक्दृष्टि पर्याय से भिन्न अपने द्रव्य और गुणों को त्रिकाल शुद्ध देखता और जानता- मानता है, यही भेदविज्ञान की महिमा है। इसी बात को अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार कलश में कहा है -

भेद विज्ञानतः सिद्धाः, सिद्धा ये किल केचन् ।

अस्यैवाभावतो बद्धा, बद्धा ये किल केचन् ॥५/१३१॥

भेद विज्ञान से ही सिद्ध होते हैं और कोई भी जीव सिद्ध हो सकता है। संसार में जो जीव कर्मों से बंधे हैं वह भेदविज्ञान के अभाव के कारण बंधे हैं।

जो जीव भेदविज्ञान का पुरुषार्थ करे वह भेदविज्ञान की महिमा से ही सम्यक्दृष्टि और परम्परा सिद्ध हो सकता है। यहाँ से धर्म का प्रारम्भ होता है। हम यहाँ-वहाँ की बातों से, यहाँ-वहाँ की क्रियाओं में उलझकर अपने समय का और जीवन का दुरुपयोग करते हैं; इसीलिये इतने सब शुभयोग पाते हुए संसार में भटक

रहे हैं और दुःखी अशान्त हो रहे हैं। पं. बनारसीदास जी ने समयसार नाटक में कहा है-

भेदविज्ञान जग्यो जिनको घट, शीतल चित्त भयो जिमि चन्दन ।

केलि करें शिव मारग में जग माहि, जिनेश्वर के लघु नन्दन ॥

सत्य स्वरूप प्रगट्यो जिनके, मिट्यो मिथ्यात अवदात निकन्दन ।

शान्त दशा तिनकी पहिचान, करें कर जोर बनारसी वन्दन ॥

प्रमुख बात धर्म के मर्म को समझकर भेदविज्ञान का पुरुषार्थ करें तो सब सहज में हो सकता है। जिनको भेदविज्ञान के द्वारा सम्यक्दर्शन हो गया, उनकी दशा का वर्णन सद्गुरुदेव तारण स्वामी कर रहे हैं।

इसी क्रम में और आगे कहते हैं-

दर्शन न्यान संजुक्तं, चरनं वीर्ज अनन्तयं ।

मय मूर्ति न्यान संसुद्धं, देह देवलि तिष्ठते ॥ ४५ ॥

अन्वयार्थ- (दर्शन न्यान संजुक्तं) दर्शन ज्ञान सहित (चरनं वीर्ज अनन्तयं) अनन्त वीर्य का धारी, चारित्रमयी (मय मूर्ति न्यान संसुद्धं) ज्ञानमयी मूर्ति, परम शुद्ध, अरिहंत परमात्मा (देह देवलि तिष्ठते) इस देह देवालय में ही विराजमान है।

विशेषार्थ- यहाँ अरिहंत परमात्मा को देह देवालय में देखा जा रहा है, जो अनन्त वीर्य के धारी, सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्रमयी हैं। ज्ञानमयी मूर्ति परम शुद्ध हैं, जो केवल ज्ञानमय ही हैं वही अरिहंत परमात्मा इस देह देवालय में विराजमान हैं बाहर नहीं हैं, जो बाहर हैं, पर हैं, वह अपने लिये अपने में, अपने अरिहंत परमात्मा हैं, मेरा उनसे कोई सम्बन्ध नहीं है और न वह मेरा कुछ भला-बुरा कर सकते। मेरा अपना देव अरिहंत परमात्मा तो मैं स्वयं हूँ।

इसी बात को योगीन्दुदेव योगसार में कहते हैं-

तिथिहिं देवलि देउ णवि, इम सुइ केवलि वुत्तु ।

देहा देवलि देउ जिणु, एहउ जाणि णिरुत्तु ॥ ४२ ॥

श्रुतकेवली ने कहा है कि तीर्थों में, देवालयों में देव नहीं है, जिनदेव तो देह देवालय में विराजमान है, इसे निश्चय समझो।

देहा देवलि देउ जिणु, जणु देवलिहिं णिएइ ।

हासउ महु पडिहाइं इहु, सिद्धे भिक्ख भमेई ॥ ४३ ॥

जिनदेव देह देवालय में विराजमान है परन्तु जीव (ईंट पत्थरों के) देवालयों में उनके दर्शन करता है, यह मुझे कितना हास्यास्पद मालूम होता है। यह बात ऐसी ही है, जैसे कोई मनुष्य सिद्ध हो जाने पर भिक्षा के लिये भ्रमण करे।

मूढा देवलि देउ णवि, णवि सिलि लिप्पइ चित्ति ।

देहा देवलि देउ जिणु, सो बुज्झहि समचित्ति ॥ ४४ ॥

हे मूढ ! देव किसी देवालय में विराजमान नहीं है, इसी प्रकार किसी पत्थर लेप अथवा चित्र में भी देव विराजमान नहीं है। जिनदेव तो देह देवालय में रहते हैं, इस बात को तू समचित्त से समझ।

तित्थइ देउलि देउ जिणु, सव्वु वि कोइ भणेई ।

देहा देउलि जो मुणइ, सो बुहु को वि हवेइ ॥ ४५ ॥

सब कोई कहते हैं कि जिनदेव तीर्थ में और देवालय में विद्यमान है परन्तु जो जिनदेव को देह देवालय में विराजमान समझता है, ऐसा पंडित कोई विरला ही होता है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि ऐसी मान्यता से तो फिर यह देव, गुरु, शास्त्र तीर्थ, मन्दिर आदि का कोई महत्व ही नहीं रहा, इनकी पूजा, वन्दना, भक्ति करने की क्या जरूरत है ? तीर्थ यात्रा, मंदिर आदि जाने की क्या जरूरत है ? जब स्वयं देह देवालय में देव विराजमान है और वह मैं स्वयं हूँ तो अब रह ही क्या गया ? फिर यह कुछ भी करने की क्या जरूरत है ?

उसका समाधान करते हैं कि बात तो यथार्थ सत्य यही है, जो ऐसा स्वीकार करता है, जिसकी अनुभूति में अपना शुद्धात्म तत्व आ गया उसके लिये तो फिर कुछ है ही नहीं और जिसे ऐसा स्वीकार नहीं है, जिसका लक्ष्य अभी बाहर पर की तरफ है, वह कितना ही कुछ भी करता रहे, पर उससे क्या होता है ? क्या उसका आत्म कल्याण हो सकता है, मुक्ति का मार्ग बन सकता है ? कभी नहीं। एक मात्र अपने निज शुद्धात्म तत्व के आश्रय ही धर्म और धर्म की साधना तथा मुक्ति की प्राप्ति होती है।

हम अपनी अज्ञानता मिथ्या मान्यता से बंधे हैं, वस्तु का सत्स्वरूप सुनने, समझने में जाति-पांति, सम्प्रदाय बाधक और बन्धन बना हुआ है। सत्य को समझने और उपलब्ध करने के लिये अपनी संकीर्ण मनोभावना और उपचार धर्म (पूजा उपासना पद्धति) के बन्धन को तोड़ना पड़ेगा तभी सत्य धर्म उपलब्ध कर

सकते हैं। जिन्होंने सत्य का साक्षात्कार किया है उनकी दृष्टि, श्रद्धान क्या होता है, वह अपने आपको कैसा जानते, मानते हैं इसका वर्णन किया जा रहा है। हमें भी सत्य को उपलब्ध करना है तो ऐसा श्रद्धान किये बिना काम चलने वाला नहीं है।

सत्य को उपलब्ध सम्यक्दृष्टि का अंतर श्रद्धान कैसा होता है, इसका वर्णन आगे की गाथा में करते हैं-

अरिहंत देव तिस्टंते, हींकारेन सास्वतं ।

उवं ऊर्ध्वं सद्भावं, निर्वाणं सास्वतं पदं ॥ ४६ ॥

अन्वयार्थ-(निर्वाणं सास्वतं पदं) निर्वाण, अनाद्यनिधन शाश्वत पद है (उवं ऊर्ध्वं सद्भावं) जिसमें ब्रह्म स्वरूप सिद्ध परमात्मा हमेशा रहते हैं (हींकारेन सास्वतं) तीर्थकर स्वरूप निज शुद्धात्मा भी शाश्वत है (अरिहंत देव तिस्टंते) जो अरिहंत देव स्वरूप इस देह में विराजमान हैं।

विशेषार्थ- गजब की बात है, निर्वाण शाश्वत पद है- जिसमें ब्रह्म स्वरूप शुद्धात्मा हमेशा रहते हैं, वही मेरा स्वरूप शाश्वत है अर्थात् मैं ही निर्वाण स्वरूप हूँ, जो अरिहन्त देव तीर्थकर स्वरूप इस देह में विराजमान हूँ। मैं स्वयं निर्वाण स्वरूप हूँ, मुझे निर्वाण भी नहीं चाहिये।

इसी बात को कुन्दकुन्दाचार्य नियमसार में कहते हैं-

णिदंडो णिदंडो णिम्ममो णिक्कलो णिरालंबो ।

णीरागो णिदोसो णिम्मूढो णिभयो अप्पा ॥ ४३ ॥

आत्मा निर्दंड, निर्द्वंद्व, निर्मम, निःशरीर, निरालंब, नीराग, निर्दोष, निर्मूढ और निर्भय है।

णिगंथो णीरागो णिस्सल्लो सयल दोस णिम्मूक्को ।

णिक्कामो णिक्कोहो णिम्माणो णिम्मदो अप्पा ॥ ४४ ॥

आत्मा निर्ग्रन्थ, नीराग, निःशल्य, सर्वदोष विमुक्त, निष्काम, निःक्रोध, निर्मान और निर्मद है।

जारिसिया सिद्धप्पा भव मल्लिय जीव तारिसा होति ।

जरमरण जम्म मुक्का अट्टगुणा लंकि या जेण ॥ ४७ ॥

जैसे सिद्धात्मा हैं, वेसे ही भवलीन संसारी जीव हैं, जिससे वे संसारी जीव सिद्ध आत्माओं की भाँति जन्म, जरा, मरण से रहित और आठ गुणों से अलंकृत हैं।

असरीरा अविणासा अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा ।

जह लोयग्गे सिद्धा तह जीवा संसिदी णेया ॥ ४८ ॥

जिस प्रकार लोकाग्र में सिद्ध भगवान अशरीरी अविनाशी अतीन्द्रिय निर्मल और विशुद्धात्मा हैं, उसी प्रकार संसार में सर्व जीव जानना ।

यहाँ शुद्ध भाव अधिकार में कुन्दकुन्दाचार्य देव जो बात कह रहे हैं वही श्री तारण स्वामी इस गाथा में कह रहे हैं और एक बड़ी अपूर्व बात यह है कि मैं अकेला ऐसा नहीं हूँ, संसार में जितने जीव आत्मा हैं वह भी निश्चय से ऐसे ही हैं ऐसा सम्यक्दृष्टि जानता है ।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि अभी तक तो अपनी ही बात थी, अब सब संसारी जीव भी ऐसे हैं तो फिर धर्म कर्म की क्या जरूरत है ? यह दया, दान, पुण्य, धर्म करने से क्या लाभ है ? सब भगवान ही भगवान हैं तो संसार में क्या रह गया । फिर कहाँ का सुख, कहाँ का दुःख, किसका जन्म, किसका मरण और किसको क्या लेना देना ? फिर अब क्या करना है ?

इसका समाधान करते हैं कि यही तो समझना है, करना तो कुछ है ही नहीं । न जीव कुछ करता है, न कर सकता है बस अपने सत्स्वरूप को भूला है सो कर्ता बन कर मरता है । यहाँ यही बात तो बताई जा रही है कि जो सम्यक्दृष्टि ज्ञानी होता है, वह अपने सत्स्वरूप को ऐसा जान लेता है फिर करने का और कुछ नहीं करने का कोई प्रश्न ही नहीं है । अज्ञानी जीव कर्ता बनकर मरता है और पाप-पुण्य के चक्कर में भ्रमता रहता है, अपने सत्स्वरूप को जान ले तो फिर करने धरने की बात ही खत्म हो जाये । सत्य को उपलब्ध करने वाला तो भगवान बनता है, मुक्त हो जाता है ।

जो निगोद में सो ही मुझमें, सो ही मोक्ष मंझार ।

निश्चय भेद कछु भी नाहिं, भेद गिने संसार ॥

हमारी अज्ञानता और मिथ्या मान्यता के कारण ही यह सब हो रहा है, जहाँ ऐसे अपने सत्स्वरूप की श्रद्धा, अनुभूति हुई कि बेड़ा पार है ।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि फिर ऐसा सत्श्रद्धान होता क्यों नहीं है ?

उसका समाधान करते हैं कि भाई ! तू ऐसा सत्श्रद्धान करना ही नहीं चाहता, जब सत्य वस्तु स्वरूप सुनने में ही भय लगता है तो स्वीकार करना, श्रद्धान करना तो बड़ा मुश्किल है ।

यहाँ फिर प्रश्न है कि आत्मा स्वभाव से स्वयं परमात्मा है फिर यह ऐसा क्यों हो रहा है, इसका कारण क्या है ?

इसका उत्तर सदगुरु तारण स्वामी यहाँ दे रहे हैं-

आत्मा त्रिविधि प्रोक्तं च, परु अंतरु बहिरप्पयं ।

परिणामं जं च तिस्टंते, तस्यास्ति गुण संजुतं ॥ ४७ ॥

अन्वयार्थ- (आत्मा त्रिविधि प्रोक्तं च) आत्मा तीन प्रकार कहा गया है (परु अंतरु बहिरप्पयं) परमात्मा, अन्तरात्मा और बहिरात्मा (परिणामं जं च तिस्टंते) जो जैसे परिणामों में ठहरा हुआ है (तस्यास्ति गुण संजुतं) वह उस समय उस गुण सहित है ।

विशेषार्थ- यहाँ उस प्रश्न का उत्तर दिया जा रहा है कि जीव को संसार का सब स्वरूप दिखाई दे रहा है, जानने में आ रहा है और वह इस दुःख से छूटना चाहता है परन्तु उसे अपने सत्स्वरूप का श्रद्धान शुद्धात्मानुभूति क्यों नहीं होती ? यह ऐसा क्यों हो रहा है, इसका क्या कारण है ?

सदगुरु तारण स्वामी यहाँ इसका मूलाधार बता रहे हैं कि यह जीव आत्मा तीन प्रकार का कहा गया है- परमात्मा, अन्तरात्मा और बहिरात्मा । जो जीव जैसे परिणामों (भावों) में ठहरा हुआ है, वह उस समय उस गुण सहित है अर्थात् उस रूप है ।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि यह आत्मा तीन प्रकार का कैसे कहा गया है, जीव आत्मा तो एक ही प्रकार का होता है । अरस, अरूपी, ज्ञान-दर्शन चेतना वाला ज्ञान स्वभावी ही आत्मा है । भिन्न-भिन्न जीवों की अपेक्षा दो प्रकार से कहते हैं-संसारी और मुक्त । उसमें संसारी अपेक्षा चारगति और पांच इन्द्रिय आदि भेद हैं, पर यह एक आत्मा को तीन प्रकार कहने का क्या तात्पर्य है ?

उसका समाधान करते हैं कि यही तो रहस्यपूर्ण बात है । कहने में किस अपेक्षा क्या कहा जा रहा है इसका जानना बहुत जरूरी है । इसीलिये वक्ता से श्रोता के लक्षण दीर्घ कहे हैं । जीव आत्मा के वास्तविक स्वरूप और मर्म को समझने के लिये यह जैन दर्शन का मूल आधार है । यहाँ आत्मा के तीन प्रकार बताये हैं कि जिस समय यह जीव जैसे परिणामों मय होता है, उस समय वह वैसा है । यहाँ एक जीव की शक्ति अपेक्षा यह भेद कहे हैं कि यह परमात्म शक्ति वाला जीव वर्तमान

में बहिरात्मा बना हुआ है। अपने सत्स्वरूप को जानले तो अन्तरात्मा हो जाये और अपने शुद्धस्वभावमय हो जाये तो परमात्मा हो जाये। यह अनादि से मिथ्या मान्यता, मिथ्यात्व सहित होने के कारण अपने आपको भूला हुआ है और अभी भी अपने सत्स्वरूप को जानने का प्रयास, पुरुषार्थ नहीं कर रहा है, संसारी माया मोह में ही लिप्त तन्मय हो रहा है इसलिये अपने सत्स्वरूप का श्रद्धानुशुद्धात्मानुभूति नहीं हो रही है। विपरीत कारणों में लगा है इसीलिये बहिरात्मा है, अनुकूल कारणों में लग जाये तो अन्तरात्मा हो जाये, अपने में लीन स्थिर हो जाये तो परमात्मा हो जाये। वैसे स्वभाव से परमात्म शक्ति स्वरूप तो है ही। इसी बात को श्री तारण स्वामी ने न्यान समुच्चयसार जी में बहुत स्पष्ट कहा है—

ममात्मा ममलं सुद्धं, ममात्मा सुद्धात्मनं ।

देहस्थोपि अदेही च , ममात्मा परमात्मं ध्रुवं ॥ ४४ ॥

अब यहाँ किन परिणामों से कैसा होता है उसका वर्णन करते हैं—
प्रथम, परमात्मा का स्वरूप कहते हैं—

आत्मा परमात्म तुल्यं च, विकल्प चित्त न क्रीयते ।

सुद्ध भाव स्थिरी भूतं, आत्मनं परमात्मनं ॥ ४८ ॥

अन्वयार्थ- (आत्मा परमात्म तुल्यं च) आत्मा, परमात्मा के बराबर है जब (विकल्प चित्त न क्रीयते) चित्त में कोई विकल्प न करता हो (सुद्ध भाव स्थिरी भूतं) शुद्ध स्वभाव में हमेशा के लिये स्थिर हो जाये तब (आत्मनं परमात्मनं) आत्मा ही परमात्मा है।

विशेषार्थ- यहाँ परमात्मा के स्वरूप का वर्णन किया जा रहा है, बड़ी अपूर्व बात कही जा रही है, क्योंकि जिस समय जैसे भावों में आत्मा है, उस समय वह वैसा है; तो यहाँ यह बताया जा रहा है कि जिस समय चित्त में कोई विकल्प न कर रहा हो अर्थात् निर्विकल्प दशा में हो, उस समय आत्मा परमात्मा के समान है, जो हमेशा के लिये अपने शुद्धस्वभाव में स्थिर हो जाये वह आत्मा ही परमात्मा है।

यहाँ दो बातें महत्वपूर्ण समझने की हैं कि जब चित्त में कोई विकल्प न करता हो तो आत्मा परमात्मा के बराबर है— तो संसार में मिथ्यात्व दशा में कभी एक समय के लिये भी जीव विकल्प शून्य होता ही नहीं है सम्यक्दर्शन होने पर निर्विकल्प दशा बनती है। जब चेतना निर्विकल्प दशा में है, उस समय वह परमात्मा के समान

अर्थात् परमानन्दमय है और जब अपने शुद्धस्वभाव में पूर्ण स्थिर हो जाये तो परमात्मा है, परमानन्द मय है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि इससे क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ?

उसका समाधान करते हैं, यहाँ यह प्रयोजन सिद्ध हुआ कि पंच परमेष्ठी को नमस्कार करते हैं तो उसमें अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु आते हैं, तो यहाँ साधु आदि को नमस्कार करने का उद्देश्य यही है कि—जिस समय वह निर्विकल्प दशा में है तब परमात्मा के बराबर है इसलिये नमस्कार करते हैं। बाहर का कोई भेष, व्रत, संयम आदि वंदनीय नहीं है, आत्मा की वह शुद्ध परिणति ही वंदनीय है और निर्विकल्प दशा, वीतरागी साधु होने पर ही होती है। इसी बात को देवसेनाचार्य तत्त्वसार में कहते हैं—

जो अप्पाणंझायदि, संवेयण चेयणाई उवजुत्तो ।

सो हबइ वीयराओ, णिम्मल रयणत्तओ साहु ॥ ४४ ॥

जो स्व संवेदन चेतनादि से युक्त साधु आत्मा को ध्याता है वह निर्मल रत्नत्रय का धारक वीतराग हो जाता है।

दंसण णाण चरित्तं, जोई तस्सेह णिच्छयं भणइ ।

जो झायदि अप्पाणं, सचेयणं सुद्ध भावइ ॥ ४५ ॥

जो योगी सचेतन और शुद्धभाव में स्थित आत्मा को ध्याता है उसको इस लोक में निश्चय दर्शन, ज्ञान, चारित्र कहते हैं। निश्चय से वर्तमान में भी यह आत्मा परमात्मा है, स्वानुभूति से इसकी सिद्धि होती है।

आगे अन्तरात्मा किसे कहते हैं उसके स्वरूप का वर्णन आगे की गाथा में है—

विन्यानं जेवि जानंते, अप्पा पर परषये ।

परिचये अप्प सद्भावं, अंतर आत्मा परषये ॥ ४९ ॥

अन्वयार्थ- (विन्यानं जेवि जानंते) जो कोई भेदविज्ञान जानता है (अप्पा पर परषये) आत्मा और पर को पहिचानता है (परिचये अप्प सद्भावं) जिसे अपने आत्म स्वभाव का परिचय, अनुभूति हो गई (अंतर आत्मा परषये) वही अंतर आत्मा कहलाता है।

विशेषार्थ- यहाँ अंतरात्मा किसे कहते हैं उसका स्वरूप बताया जा रहा है। जो जीव भेदविज्ञान जानता है अर्थात् इस शरीरादि से भिन्न मैं एक अखंड, अविनाशी

चैतन्य तत्व भगवान् आत्मा हूँ, यह शरीरादि मैं नहीं और यह मेरे नहीं। इस प्रकार आत्मा और पर को पहिचानता है अर्थात् आत्मा और कर्मों के स्वरूप को पहिचानता है कि मैं सिद्ध के समान ध्रुव अविनाशी, परमब्रह्म परमात्म स्वरूप हूँ और यह शरीरादि पुद्गल द्रव्य का सब परिणमन कर्म उदयाधीन चल रहा है। कर्म, अचेतन पुद्गल अजीव तत्व हैं, मैं चेतन जीव तत्व हूँ, दोनों का भिन्न-भिन्न स्वरूप पहिचानता है तथा जिसे आत्म स्वभाव का परिचय शुद्धात्मानुभूति हो गई है वह अन्तरात्मा है, उसे ही सम्यक्दृष्टि ज्ञानी कहते हैं।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि भेदविज्ञान जानने का उपाय क्या है ?

उसका समाधान करते हैं कि जैसे-संसार में किसी को डाक्टर बनना होता है तो वह विज्ञान का अध्ययन करता है, उसका अभ्यास करता है, तब डाक्टर बनता है। इसी प्रकार जिसे संसार के दुःखों से छूटना हो, मुक्त होना हो, परमात्मा बनना हो, तो उसे भेद विज्ञान जीव-अजीव की भिन्नता जानना होगी। बाहर पर में नहीं, अपने इस शरीर में भेदज्ञान के द्वारा निर्णय करना होगा कि यह शरीर भिन्न है और इसमें मैं जीव आत्मा चेतन तत्व भिन्न हूँ। यह भेदविज्ञान आध्यात्मिक शास्त्रों के स्वाध्याय और ज्ञानी सत्पुरुषों की सत्संगति से प्राप्त होता है और इसे स्वयं के जीवन में प्रयोग करना पड़ता है।

इसी बात को अमृतचन्द्राचार्य जी ने समयसार कलश में कहा है-

**अयि कथमपि मृत्वा तत्त्व कौतूहली सन्,
अनुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम् ।
प्रथमं विलसन्तं स्वं समालोक्ययेन,
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वं मोहम् ॥२३॥**

हे भाई ! तू किसी प्रकार महाकष्ट से अथवा मरकर भी तत्वों का कौतूहली होकर इस शरीरादि मूर्तद्रव्य का एक मुहूर्त (दो घड़ी) पड़ौसी होकर आत्मानुभव कर कि जिससे अपने आत्मा के विलासरूप, सर्व पर द्रव्यों से भिन्न देखकर, इस शरीरादि मूर्तिक पुद्गल द्रव्य के साथ एकत्व के मोह को शीघ्र ही छोड़ देगा।

विशेष - यदि यह आत्मा दो घड़ी पुद्गल द्रव्य से भिन्न अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव करे (उसमें लीन हो) परीषह के आने पर भी डिगे नहीं तो घातियाकर्म का नाश करके केवलज्ञान उत्पन्न करके मोक्ष को प्राप्त हो। आत्मानुभव की ऐसी महिमा है तब मिथ्यात्व का नाश करके सम्यक्दर्शन की प्राप्ति होना तो सुगम है।

यहाँ फिर प्रश्न है कि आत्मा और पर को पहिचानने का क्या प्रयोजन है ?

उसका समाधान हैं कि जो भेदज्ञानी है, वह अपने को और पर को दोनों को पहिचानता है, तभी तो भिन्नता भासित होती है। जगत में दो द्रव्य सक्रिय हैं- एक चेतन, एक अचेतन, अथवा जीव-पुद्गल या आत्मा और कर्म, यह शरीरादि पौद्गलिक पदार्थ जगत सब कर्मोदायिक पुद्गल की रचना है। इसमें चेतन तत्व जीव ज्ञान स्वभावी देखने जानने वाला है। स्वभाव सत्ता शक्ति अपेक्षा जीव और पुद्गल एक-एक द्रव्य है, पर संख्या की अपेक्षा अनन्त हैं, तो भेदज्ञानी शरीरादि पुद्गल को तो पर जानता ही है; क्योंकि वह रूप, रस, गंध, वर्ण वाला अचेतन द्रव्य है तथा अपने से भिन्न अन्य जो जीव हैं, वह भी पर ही हैं क्योंकि एक जीव का दूसरे जीव से कोई सम्बन्ध नहीं है। उसकी सत्ता शक्ति स्वतंत्र भिन्न है, कर्म बन्धोदय आदि भी भिन्न है। एक शुद्ध सत्तामात्र स्वतंत्र जीव आत्मा मैं हूँ और बाकी जो कुछ है वह सब पर ही है। ऐसा जानना ही भेदविज्ञान का जानना सच्चा है और इसी से सम्यक्दर्शन अन्तरात्मपना होता है।

जो अपने को नहीं जानता और पर प्रपंच में लगा है वह बहिरात्मा है। जो अपने को जानता है और पर को भी जानता है अपने में लगा है, वह अन्तरात्मा है। जो अपने में ही लीन हैं, वह सिद्ध परमात्मा हैं तथा जो अपने में तो लीन हैं पर जिन्हें तीनों लोकालोक का ज्ञान है, वह अरिहन्त सर्वज्ञ परमात्मा हैं। सम्यक्दृष्टि ज्ञानी को ही अन्तरात्मा कहते हैं। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी को बहिरात्मा कहते हैं। अब यहाँ बहिरात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हैं-

बहिरप्पा पद्गलं दिस्टा, रचनं अनन्त भावना ।

परपंचं जेन तिस्टंते, बहिरप्पा संसार स्थितं ॥ ५० ॥

अन्वयार्थ- (बहिरप्पा पद्गलं दिस्टा) बहिरात्मा पुद्गल को ही देखता है (रचनं अनन्त भावना) अनन्त भावों को रचता रहता है अर्थात् नाना प्रकार की कल्पनायें किया करता है (परपंचं जेन तिस्टंते) जो जीव प्रपंच में ही लगा रहता है (बहिरप्पा संसार स्थितं) ऐसा बहिरात्मा संसार में ही स्थित रहता है।

विशेषार्थ- यहाँ बहिरात्मा का स्वरूप बता रहे हैं कि बहिरात्मा कैसा होता है। बहिरात्मा हमेशा पुद्गल को ही देखता है अर्थात् शरीर, स्त्री, पुत्र, परिवार, धन, वैभव, महल, मकानादि बाह्य पदार्थों को ही देखता है तथा इनको ही बनाने करने

की अनन्त भावना नाना कल्पनायें करता रहता है, इन्हीं के लिये मायाचारी, झूठ, बेईमानी, छलकपट, पापादि प्रपंच में लगा रहता है। उसे संसार, पर पदार्थ, व्यवहारादि ही दिखता है और उसी में संलग्न रहता है। उसे अपने आत्म स्वरूप की खबर ही नहीं है, ऐसा बहिरात्मा हमेशा संसार में ही स्थित रहता है अर्थात् चारगति चौरासी लाख योनियों के चक्कर लगाता रहता है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि जब जीव अरस, अरूपी, ज्ञान चेतना वाला है, मात्र ज्ञाता दृष्टा है फिर वह ऐसा क्यों हो रहा है इनमें क्यों लगा रहता है ?

उसका समाधान करते हैं कि यही तो समझना है कि जीव अरस, अरूपी, ज्ञान चेतना वाला मात्र ज्ञाता दृष्टा है; पर वह अपने को ऐसा जानता मानता कब है ? वह तो अपने आपको नाम रूप शरीरादि ही मान रहा है और सब संसार का कर्ता-धर्ता बना है। शरीर पांच इंद्रियों और उनके विषय भोगों में ही लिप्त तन्मय हो रहा है और इनके निमित्त स्त्री, धन, पुत्र, परिवार, महल, मकानादि वैभव, परिग्रह की संभाल रक्षा और विस्तार करने में लगा है। इन सबसे भिन्न मैं जीव आत्मा हूँ, इसकी तो खबर ही नहीं है, अपने आपको भूला हुआ है इसीलिये बहिरात्मा है।

इसी बात को देवसेनाचार्य तत्त्वसार में कहते हैं-

मुक्खो विणासरूवो, चेयण परिवज्जओ सया देहो ।

तस्य ममत्ति कुणंतो, बहिरप्पा होइ सो जीवो ॥ ४८ ॥

शरीर सदा काल जड़ है, विनासरूप है, चेतना से रहित है, जो उसकी ममता करता है वह बहिरात्मा है। निज आत्म तत्व से बाहरी विषय में जिसका आत्मा अर्थात् चित्त संलग्न हो वह बहिरात्मा कहलाता है।

इसी बात को स्वामी कार्तिकेय, कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहते हैं-

मिच्छन्त परिणदप्पा, तिव्व कसाएण सुट्ठु आविड्डो ।

जीवं देहं एककं, मण्णंतो होदि बहिरप्पा ॥ १९३ ॥

जो जीव मिथ्यात्व कर्म के उदयरूप परिणत हो, तीव्र कषाय से अच्छी तरह आविष्ट हो और जीव तथा देह को एक मानता हो वह बहिरात्मा है।

बहिरात्मा का स्वरूप रत्नकरण्ड श्रावकाचार में पं. सदासुखदास जी कहते हैं-

जिनमें जाके बाह्य शरीरादिक पुद्गल की पर्यायनि में आत्मबुद्धि है सो बहिरात्मा है। जाकी चेतना मोहनिद्रा करि अस्त हो गई, पर्याय ही कूं अपना स्वरूप

जाने है, इन्द्रिय द्वारनिकरि निरन्तर प्रवर्तन करे है, अपना स्वरूप की सत्यार्थ पहिचान जाके नहीं है, देह ही कूं आत्मा माने है, देवपर्याय में आपकूं देव, नरक पर्याय में आपकूं नारकी, तिर्यच पर्याय में आपकूं तिर्यच, मनुष्य पर्याय में आपकूं मनुष्यजाति पर्याय के व्यवहार में तन्मय होय रहा है। पर्याय तो कर्म कृत पुद्गलमय प्रत्यक्ष ज्ञानरूप आत्मा से भिन्न दीखे है तो हूँ, कर्म जनित उदय में आपाधारि पर्याय में तन्मय हो रहता है। मैं गोरा हूँ, साँवला हूँ, अन्यवर्ण हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं राजा हूँ, मैं सेवक हूँ, मैं निर्बल हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं शूद्र हूँ, मैं मारने वाला हूँ, जिवावने वाला हूँ, धनाढ्य हूँ, दातार हूँ, त्यागी हूँ, गृहस्थी हूँ, मुनि हूँ, तपस्वी हूँ, दीन हूँ, अनाथ हूँ, समर्थ हूँ, असमर्थ हूँ, कर्ता हूँ, अकर्ता हूँ, बलवान हूँ, कुरूप हूँ, स्त्री हूँ, पुरुष हूँ, नपुंसक हूँ, पण्डित हूँ, मूर्ख हूँ इत्यादिक कर्म के उदय जनित पर पुद्गलनि की विनाशीक पर्यायनि में आत्म बुद्धि जाके होय सो बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि है। जो शरीर में आत्मबुद्धि है सो इहाँ हूँ शरीर का संबन्धी जो स्त्री-पुत्र, मित्र-शत्रु इत्यादिक तिनमें राग-द्वेष, मोह-क्लेशादि उपजाय आर्त-रौद्र परिणाम से मरण कराय संसार में अनन्त काल जन्म-मरण करावे है तथा पुद्गल की पर्याय में आत्मबुद्धि है सो पुद्गल में जड़ रूप एकेन्द्रिय योनि में अनन्त काल भ्रमण करावे है। तातैं अब बहिरात्म बुद्धि कूं छांड़ि अन्तरात्मपना अवलंबनकरि परमात्मपना पावने में यत्न करा।

बहिरात्मा अपने परमात्म स्वरूप को छोड़े बैठा है और क्या कर रहा है यह आगे कहते हैं-

बहिरप्पा परपंच अर्थ च, तिक्कते जे विचषणा ।

अप्पा परमप्पयं तुल्यं, देव देवं नमस्कृतं ॥ ५१ ॥

अन्वयार्थ- (अप्पा परमप्पयं तुल्यं) आत्मा परमात्मा के समान है (देव देवं नमस्कृतं) जो देवों के देव इन्द्रों द्वारा वन्दनीय है (तिक्कते जे विचषणा) ऐसी विलक्षण अनुपम अमूल्य निधि चिन्तामणि रत्न को छोड़कर (बहिरप्पा परपंच अर्थ च) बहिरात्मा संसारी प्रपंच के प्रयोजन में लगा हुआ है।

विशेषार्थ- यहाँ बहिरात्मा अपने सच्चे देव परमात्म स्वरूप को छोड़कर क्या कर रहा है यह बता रहे हैं कि अपना आत्मा ही परमात्मा है, जो देवों के देव इन्द्रों द्वारा नमस्कृत्य, वन्दनीय है, तीन लोक का नाथ अनन्त चतुष्टय का धारी रत्नत्रय

स्वरूप भगवान आत्मा है। ऐसे विलक्षण अमूल्य चिन्तामणि रत्न को छोड़कर बहिरात्मा संसार के प्रपंच के अर्थ लगा है अर्थात् संसार के कार्यों में दत्त-चित्त है, अपने आत्मस्वरूप को भूला है और धन, पुत्र, परिवार, मकान, जमीन-जायदाद, दुनियादारी के प्रपंच में लगा है। उन्हीं को संभालने बनाने करने में लगा है, अपनी कोई सुध-बुध ही नहीं है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि जब शरीर, धन, पुत्र, परिवार आदि का संयोग है तो इनकी व्यवस्था संभाल करे या न करे? जब तक शरीर संयोग है, संसार में है तब तक रोटी, कपड़ा और मकान तो चाहिये और इसके लिये कोई न कोई उद्यम व्यापार आदि करना आवश्यक है और इसके लिये यह दुनियादारी के प्रपंच करना ही पड़ते हैं। यह न करें तो कैसे काम चलेगा, इसके लिये क्या किया जाये?

इसका समाधान करते हैं कि यहाँ करने या नहीं करने की बात नहीं है। वह तो जो जिस भूमिका, जैसे कर्मोदय संयोग में है, वह तो सब करना ही पड़ता है, वैसा ही सब होता है। यहाँ तो यह समझना है कि इन सबको ही इष्ट, उपादेय हितकारी और अपना सब कुछ समझकर कर रहा है, इन सबसे भिन्न में जीव आत्मा हूँ, इसकी तो खबर ही नहीं और सबका कर्ता बना है यही बहिरात्मपना है, जो संसार का मूल आधार है—

धरम न जानत बखानत भरमरूप,

ठौर ठौर ठानत लराई पच्छपात की।

भूल्यो अभिमान में न पाँउ धरे धरनी में,

हिरदे में करनी विचारे उतपात की ॥

फिरे डौवाडोल सौं करम के कलोलिन में,

हवै रही अवस्था सु बघूले कैसे पात की।

जाकी छाती ताती कारी कुटिल कुवाती भारी,

ऐसो ब्रह्मघाती है मिथ्याती महापातकी ॥ (समयसार नाटक)

अर्थ— जो वस्तु स्वभाव से अनभिज्ञ है, जिसका कथन मिथ्यात्वमय है और एकान्त का पक्ष लेकर जगह-जगह लड़ाई करता है। अपने मिथ्यात्व ज्ञान के अहंकार में भूलकर (धरती पर पाँव नहीं टिकाता और चित्त में उपद्रव ही सोचता है) कर्म के झकोरों से संसार में डौवाडोल हुआ फिरता है अर्थात् विश्राम नहीं पाता सो ऐसी दशा हो रही है, जैसे— वधरुले (आंधी) में पत्ता उड़ता फिरता है। जो हृदय में क्रोध

से तप्त रहता है, लोभ से मलिन रहता है, माया से कुटिल रहता है, मान से बड़े कुबोल बोलता है। ऐसा आत्मघाती और महापापी मिथ्यात्वी बहिरात्मा होता है।

संसारी कार्य करने का विरोध नहीं है, पर अज्ञानी कर्ता और जिम्मेदार बनकर करता है, इससे स्वयं दुःखी, चिन्तित भयभीत रहता है। नाना प्रकार के कर्म पापादि करके स्वयं अनन्त कर्मों का बन्ध कर दुर्गति में जाता है। यहाँ समझना यह है कि हमें जो यह अवसर मिला है—

यह मानुष पर्याय, सुकुल सुनिवो जिनवाणी।

इह विधि गये न मिले, सुमणि ज्यों उदधि समानी ॥

इसका सदुपयोग करें, भेदज्ञान, तत्त्व अभ्यास, शास्त्र स्वाध्याय, सत्संग का पुरुषार्थ कर वस्तु स्वरूप समझें कि इस शरीरादि से भिन्न, मैं एक अखंड, अविनाशी, चैतन्य तत्त्व भगवान आत्मा हूँ। यह जो कर्मोदायिक संयोग है, जो भी परिणामन चल रहा है इसका मैं कर्ता नहीं हूँ। कार्य करने में कोई आपत्ति नहीं है पर सेठ और मुनीम की अपेक्षा है, जैसे— सेठ कुछ नहीं करता हुआ भी मालिक जिम्मेदार है और मुनीम सब कुछ करता हुआ भी मालिक नहीं है, बंधा नहीं है। धर्म मिलकियत नहीं; मालकियत छुड़ाता है और इसी से यह जीव सुखी आनंद मय होता हुआ मुक्त हो सकता है।

यह बहिरात्मा इसी संसारी व्यामोह प्रपंच में फंसा हुआ कुदेवादि की मान्यता करता है इसका वर्णन करते हैं—

कुदेवं प्रोक्तं जेन, रागादि दोस संजुतं।

कुन्यानं त्रिति संपूर्ण, न्यानं चैव न दिस्टते ॥ ५२ ॥

अन्वयार्थ— (कुदेवं प्रोक्तं जेन) कुदेव उनको कहते हैं (रागादि दोस संजुतं) जो रागादि दोषों सहित होते हैं (कुन्यानं त्रिति संपूर्ण) तीनों कुज्ञान—कुमति, कुश्रुत, कुअवधि से पूर्ण होते हैं (न्यानं चैव न दिस्टते) उनमें ज्ञान का अंश भी दिखलाई नहीं देता।

विशेषार्थ— यहाँ यह बताया जा रहा है कि बहिरात्मा संसारी व्यामोह प्रपंच में फंसा हुआ सच्चे देव, अपने आत्म स्वरूप को तो जानता ही नहीं है। अपनी अमूल्य निधि चिन्तामणि रत्न निज शुद्धात्मा को छोड़ बैठा है, भूला हुआ है और संसारी कामना की पूर्ति हेतु कुदेवादि की मान्यता पूजा भक्ति करता है। कुदेव किन्हें कहते

हैं, वह कैसे होते हैं, उनका स्वरूप बताया जा रहा है- जो रागादि दोषों से संयुक्त, तीन कुज्ञान से परिपूर्ण, वैक्रियक शरीर के धारी देव- भूत, पिशाच, यक्ष, व्यन्तर आदि भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी देव हैं, यह सब कुदेव हैं क्योंकि इनमें सम्यक्ज्ञान का अंश भी नहीं होता है, यह सब मिथ्यादृष्टि ही होते हैं तथा वैमानिक देव इन्द्रादि भी पूर्णज्ञानी सच्चे देव नहीं होते। इनमें कोई सम्यक्दृष्टि भी होवे तो देवगति में सब असंयमी चतुर्थ गुणस्थानवर्ती होते हैं। जहाँ संयम भी नहीं होता, इन्हें किसी भी लौकिक कामना से पूजना मानना, गृहीत और अगृहीत मिथ्यात्व का पोषण करना है जो दुर्गति का कारण है।

यह कुदेव और कैसे होते हैं ? इसको कहते हैं-

माया मोह ममत्तस्य, असुह भाव रतो सदा ।

तत्र देवं न जानंते, जत्र रागादि संजुतं ॥ ५३ ॥

अन्वयार्थ- (माया मोह ममत्तस्य) जो माया, मोह और ममता में लीन हैं (असुह भाव रतो सदा) सदा अशुभ भावों में ही रत रहते हैं (जत्र रागादि संजुतं) जहाँ तक रागादि सहित जो हैं (तत्र देवं न जानंते) वहाँ तक किसी को देव मत जानो।

विशेषार्थ- कुदेव कैसे होते हैं यह बताया जा रहा है कि जो माया मोह और ममता में लीन हैं अर्थात् वैक्रियक शरीर द्वारा नाना प्रकार मायाचारी शरीरादि की रचना करते हैं, मोह और ममता में लीन रहते हैं तथा हमेशा अशुभ भावों में ही रत रहते हैं, ऐसे भूत पिशाच व्यन्तर आदि सभी देव कुदेव हैं तथा जहाँ तक जो भी राग-द्वेष आदि से संयुक्त हैं वे सब कुदेव हैं, उन्हें देव नहीं मानना चाहिये; क्योंकि सच्चा देव निश्चय से तो निज शुद्धात्म तत्व ही है और व्यवहार में जो वीतरागी, सर्वज्ञ, हितोपदेशी अरिहन्त परमात्मा हैं, वही सच्चे देव हैं। अन्य किसी को भी सच्चा देव मानना संसार का ही कारण है। कुदेव की और क्या विशेषता होती है इसे अगली गाथा में कहते हैं-

आरति रौद्रं च सद्भावं, माया क्रोधं च संजुतं ।

कर्मना असुह भावस्य, कुदेवं अनृतं परं ॥ ५४ ॥

अन्वयार्थ- (आरति रौद्रं च सद्भावं) जिनका आर्त और रौद्र रूप रहना स्वभाव ही है (माया क्रोधं च संजुतं) जो हमेशा मायाचारी में लगे रहते हैं, क्रोधी होते हैं

(कर्मना असुह भावस्य) क्रिया और भावों से जो हमेशा अशुभ में ही प्रवर्तन करते हैं (कुदेवं अनृतं परं) यह सब झूठे कुदेव ही हैं।

विशेषार्थ- यहाँ कुदेवों का वर्णन चल रहा है कि कुदेव किसे कहते हैं ? कुदेव कैसे होते हैं ? जिनका आर्त और रौद्र रूप स्वभाव ही है। जो हमेशा मायाचारी में लगे रहते हैं, क्रोधी होते हैं, जो क्रिया से भी अशुभ प्रवर्तन करते हैं तथा जिनके हमेशा खोटे भाव ही रहते हैं यह सब झूठे कुदेव हैं। भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी यह तीनों मिथ्यादृष्टि ही होते हैं और मिथ्यादृष्टि हमेशा आर्त-रौद्र ध्यान और अशुभ भावों में ही रत रहते हैं यह सब झूठे कुदेव हैं।

इन कुदेवों की जो मान्यता पूजा भक्ति करता है, उसका क्या होता है इसको कहते हैं-

अनंत दोष संजुक्तं, सुद्ध भाव न दिष्टते ।

कुदेवं रौद्र आरूढं, आराध्यं नरयं पतं ॥ ५५ ॥

कुदेवं जेन पूजंते, वन्दना भक्ति तत्परा ।

ते नरा दुष साहंते, संसारे दुष भीरुहं ॥ ५६ ॥

कुदेवं जेन मानंते, स्थानं जेवि जायते ।

ते नरा भयभीतस्य, संसारे दुष दारुनं ॥ ५७ ॥

अन्वयार्थ- (अनंत दोष संजुक्तं) जो अनंत दोषों सहित हैं (सुद्ध भाव न दिष्टते) जिनके कभी शुद्ध भाव नहीं दिखते (कुदेवं रौद्र आरूढं) जो रौद्र रूप ही धारण किये रहते हैं वे सब कुदेव हैं (आराध्यं नरयं पतं) इनकी आराधना करने से नरक में पतन होता है।

(कुदेवं जेन पूजंते) कुदेवों की जो जीव पूजा करते हैं (वन्दना भक्ति तत्परा) वन्दना भक्ति में तत्पर रहते हैं (ते नरा दुष साहंते) वे मनुष्य दुःख भोगते हैं (संसारे दुष भीरुहं) संसार में दुःखी और भयभीत रहते हैं।

(कुदेवं जेन मानंते) कुदेवों को जो जीव मानते हैं (स्थानं जेवि जायते) उनके स्थानों पर जाते हैं (ते नरा भयभीतस्य) वे मनुष्य बहुत भय से भयभीत रहते हैं (संसारे दुष दारुनं) संसार में दारुण दुःख भोगते हैं।

विशेषार्थ- यहाँ कुदेवों का स्वरूप और उनके मानने वालों की दशा का

वर्णन किया जा रहा है। जो अनन्त दोषों सहित हैं, जिनके कभी शुद्ध भाव होते ही नहीं हैं। जो रौद्र भयानक विकराल रूप धारण किये रहते हैं वे सब कुदेव हैं। इनकी आराधना करने से नरक में पतन होता है। जो जीव कुदेवों की पूजा करते हैं उनकी वन्दना भक्ति में लगे रहते हैं वे मनुष्य दुःख भोगते हैं, संसार में दुःखी और भयभीत रहते हैं। जो जीव कुदेवों को मानते हैं उनके स्थानों पर जाते हैं, वे मनुष्य बहुत भय से भयभीत रहते हैं, संसार में दारुण दुःख भोगते हैं। इसी बात को रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है—

वरोपलिप्सयाशावान्, राग द्वेष मलीमसाः ।

देवता यदुपासीत्, देवता मूढमुच्यते ॥ २३ ॥

अर्थ— अपने वांछित होय ताकूँ वर कहिये। वर की वांछा करके आशावान हुआ संता जो रागद्वेष करि मलीन देवता कूँ सेवन करै सो देवमूढता कहिए है।

विशेष— संसारी जीव हैं ते इस लोक में राज्य-सम्पदा, स्त्री-पुत्र, आभरण, वस्त्र, वाहन, धन, ऐश्वर्यनि की वांछा सहित निरन्तर वर्त्तें हैं। इनकी प्राप्ति के अर्थि रागी-द्वेषी, मोही, देवन का सेवन करें सो देवमूढता है। जाते राज्य सुख संपदादिक सो सातावेदनीय का उदय तें होय है। सो साता वेदनीय कर्म कूँ कोऊ देने को समर्थ है नाही तथा लाभ है सो लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम तै होय है। अर भोग सामग्री, उपभोग सामग्री का प्राप्त होना सो भोगोपभोग नामक अन्तराय कर्म के क्षयोपशम तै होय है। अर अपने भावनि कर बांधे कर्मनि कूँ कोऊ देवी देवता देने को तथा हरने कूँ समर्थ है नाही।

बहुरि कुल की वृद्धि के अर्थि कुल देवी कूँ पूजिये है अर पूजते-पूजते हूँ कुल का विध्वंस देखिये है। अर लक्ष्मी के अर्थि लक्ष्मी देवी कूँ तथा रुपया, मोहरनिकूँ पूजते हूँ दरिद्र होते देखिये है तथा शीतला का स्तवन पूजन करते हूँ सन्तान का मरण होते देखिये है। पितरनिकूँ मानते हूँ रागादिक बधै है तथा व्यन्तर क्षेत्रपालादिकनि कूँ अपना सहाइ माने है सो मिथ्यात्व का उदय का प्रभाव है।

प्रथम तो भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी इन तीन प्रकार के देवनि में मिथ्यादृष्टि ही उपजे है। सम्यक्दृष्टि का भवनत्रिक देवनि में उत्पाद ही नाही। अर स्त्रीपना पावें ही नाही। सो पद्मावती, चक्रेश्वरी तो भवनवासी अर स्त्री पर्याय में अर क्षेत्रपालादिक यक्ष वे व्यन्तर, इनमें सम्यक्दृष्टि का उत्पाद कैसे होय ? इनमें तो नियम तै मिथ्यादृष्टि ही उपजे हैं। ऐसा हजारोंबार परमागम कहे है।

(पंडित सदासुखदास टीका)

इस प्रकार बहिरात्मा, संसार के प्रपंच के अर्थ कुदेवादि की मान्यता वंदना पूजा भक्ति करता हुआ स्वयं दुःखी भयभीत रहता है और नरक निगोद के दुःख भोगता है तथा बहिरात्मा मिथ्यादेव, अदेवों की पूजा भक्ति करता है और नरक निगोद आदि में जाता है।

मिथ्यादेव, अदेव क्या हैं ? और इसकी मान्यता से क्या होता है ? यह कहते हैं—

मिथ्या देवं च प्रोक्तं च, न्यानं कुन्यान दिस्टते ।

दुरबुद्धि मुक्ति मार्गस्य, विस्वासं नरयं पतं ॥ ५८ ॥

जस्स देव उपाद्यंते, क्रियते लोकमूढयं ।

तत्र देवं च भक्तं च, विस्वासं दुर्गति भाजनं ॥ ५९ ॥

अन्वयार्थ— (मिथ्या देवं च प्रोक्तं च) अब मिथ्या देव अर्थात् कल्पित देवों का स्वरूप कहते हैं (न्यानं कुन्यान दिस्टते) जहाँ ज्ञान कुज्ञान कुछ नहीं दिखता (दुरबुद्धि मुक्ति मार्गस्य) दुरबुद्धि जीव उन्हें मोक्षमार्गी कहते हैं, वीतरागी देव कहते हैं (विस्वासं नरयं पतं) इनका विश्वास करने वाले जीव का नरक में पतन होता है।

(जस्स देव उपाद्यंते) जो देव बनाये जाते हैं (क्रियते लोकमूढयं) लोकमूढता से कराये जाते हैं (तत्र देवं च भक्तं च) ऐसे देवों का और उनके भक्तों का (विस्वासं दुर्गति भाजनं) विश्वास करना दुर्गति का पात्र बनाता है।

विशेषार्थ— यहां बहिरात्मा जीव की दशा का वर्णन चल रहा है कि वह अपने आपको तो जानता ही नहीं है और यह शरीरादि ही मैं हूँ ऐसा मानता है और फिर संसारी प्रपंच के अर्थ क्या-क्या करता है, क्या मानता है ? बड़ी ही विचित्र दशा है। संसारी प्रयोजन के अर्थ कुदेवों की पूजा भक्ति मान्यता करता है तथा जो कल्पना करके अचेतन जड़ पत्थर आदि के अदेव मिथ्यादेव बनाये जाते हैं, उनकी पूजा भक्ति करता है। अपने को मोक्षमार्गी मानता है। (उन्हें वीतरागी देव कहता है) क्योंकि लोकमूढता वश फंसा है, उनके बनवाने वाले, स्थापना करने वालों ने ऐसा जाल फैलाया हुआ है। संसारी प्रलोभन दिये हैं और जीवों को फंसाये हैं।

“इससे क्या होता है ? यह आगे गाथा में कहते हैं—

अदेवं देव प्रोक्तं च, अंधं अंधेन दिस्टते ।

मार्गं किं प्रवेसं च, अंधं कूपं पतंति ये ॥ ६० ॥

अदेवं जेन दिस्टंते, मानते मूढ संगते ।

ते नरा तीव्र दुष्यानि, नरयं तिरयं च पतं ॥ ६१ ॥

अन्वयार्थ- (अदेवं देव प्रोक्तं च) जो अदेवों को देव कहते हैं अर्थात् जिनमें कोई देवत्वपना तो दूर चेतनपना भी नहीं है। जो जड़ पत्थर के बनाये गये हैं उनको देव कहता है, मानता है वह तो ऐसा है जैसे (अंधं अंधेन दिस्टते) कोई अंधा अंधे को देखे (मार्ग किं प्रवेसं च) और उससे मार्ग पूछे कि यह रास्ता कौन सा है (अंध कूपं पतंति ये) वह उसे हाथ पकड़कर ले जाये और दोनों अंधे कुएँ में गिर पड़ें।

इसी प्रकार (अदेवं जेन दिस्टंते) जो जीव अदेवों को देखता है दर्शन करता है (मानते मूढ संगते) और मूर्खों की संगति से उनकी मान्यता करता है (ते नरा तीव्र दुष्यानि) वह मनुष्य तीव्र दुःखों को भोगता हुआ (नरयं तिरयं च पतं) नरक और तिर्यचगति में चला जाता है।

चैतन्यता से हीन जो, अज्ञान जड़ स्वयमेव है।

उनको बना आराध्य ये नर, कह रहे ये देव हैं ॥

अन्धों को अन्धेराज ही यदि, स्वयं पथ दिखलायेंगे।

तो है सुनिश्चित वे पथिक जा, कूप में गिर जायेंगे ॥

जिन मूढ पुरुषों पर, कुसंगति का अकाट्य प्रभाव है।

जिनके हृदय में राज्य करता, भेदज्ञान अभाव है ॥

वे देव सी करते अदेवों की, सतत् आराधना।

नर्क स्थली या तिर्यच गति पा, दुःख वे सहते घना ॥ (चंचलजी)

विशेषार्थ- यहाँ अदेवों की मान्यता कैसी है, इसका उदाहरण देकर बताया जा रहा है कि एक अंधा दूसरे अंधे से मार्ग पूछे और वह अंधा उसका हाथ पकड़कर मार्ग बताने चले और दोनों अंधे कुएँ में गिर पड़ें। यही दशा संसारी बहिरात्मा जीव की हो रही है कि वह तो वस्तु स्वरूप जानता नहीं है, धर्म-कर्म का कोई विवेक नहीं है और अन्य अन्धों का अनुकरण करता है।

मूर्खों की संगति से अदेवों की पूजा मान्यता करता है, इससे संसार में दुःख भोगता हुआ नरक और तिर्यच गति में चला जाता है। यहाँ सद्गुरु अदेवों के दर्शन करने को भी बहिरात्मपना बता रहे हैं। जो उनकी मान्यता वन्दना पूजा करते हैं वह तो दुर्गति का ही कारण बनाते हैं, यहाँ तो अदेवों का दर्शन करना, मान्यता करना,

मूर्खों की संगति पतन का कारण है। अदेवों को देव कहने और उनकी मान्यता करने का क्या परिणाम होता है यह आगे की गाथा में कहते हैं -

अनादि काल भ्रमनं च, अदेवं देव उच्यते ।

अनृतं अचेत दिस्टंते, दुर्गति गमनं च संजुतं ॥ ६२ ॥

अनृतं असत्य मानं च, विनासं जत्र प्रवर्तते ।

ते नरा थावरं दुषं, इन्द्री इत्यादि भाजनं ॥ ६३ ॥

मिथ्यादेव अदेवं च, मिथ्या दिस्टी च मानते ।

मिथ्यातं मूढ दिस्टी च, पतितं संसार भाजनं ॥ ६४ ॥

अन्वयार्थ- (अदेवं देव उच्यते) जो अदेवों को देव कहते हैं (अनादि काल भ्रमनं च) उनका अनादिकाल तक संसार में ही भ्रमण होता है (अनृतं अचेत दिस्टंते) जो ऐसे झूठे अचेतन अदेवों को देव मानकर दर्शन करते हैं (दुर्गति गमनं च संजुतं) वे संसार में तो भ्रमण करेंगे ही पर दुर्गतियों में ही गमन होगा और उन्हीं से संयुक्त रहेंगे।

(अनृतं असत्य मानं च) जो झूठे मिथ्या और अचेतन अदेवों को देव मानते हैं (विनासं जत्र प्रवर्तते) वह विनाश की ओर ही प्रवर्तते हैं अर्थात् विनाश की ओर ही चले जाते हैं (ते नरा थावरं दुषं) ऐसे मनुष्य स्थावर काय का दुःख भोगते हैं (इन्द्री इत्यादि भाजनं) जहाँ मात्र स्पर्शन इन्द्रिय होती है, अत्यन्त पराधीन रहते और बहुत वेदना पाते हैं।

(मिथ्यादेव अदेवं च) ऐसे कल्पित मिथ्यादेव और अदेवों को (मिथ्या दिस्टी च मानते) मिथ्यादृष्टि ही मानते हैं (मिथ्यातं मूढ दिस्टी च) ऐसे मिथ्यात विपरीत मान्यता में फंसा हुआ मिथ्यादृष्टि जीव जो बहिरात्मा है वह (पतितं संसार भाजनं) संसार रूपी कूप में पड़ा रहता है।

विशेषार्थ- यहाँ अदेवों को देव कहने और उनकी मान्यता करने का क्या परिणाम होता है यह बताया जा रहा है। जो अदेवों को देव कहते हैं झूठे, अचेतन, जड़, पत्थर आदि के दर्शन करते हैं। बहिरात्मा संसारी मायामोह में फंसा लोकमूढ़ता के वश मूर्खों की संगति में अदेवों को देव मानकर पूजता है। जैसे-चाकू, मूसल, चूल्हा, देहली, तलवार, कलम, दावात, वही आदि को देव मानकर पूजा मान्यता

करता है। इससे संसार में तो भ्रमण करेगा ही परंतु दुर्गतियों में जाना पड़ेगा।

मिथ्या को सच मान लेना बड़ा भारी अज्ञान है। इसी से प्राणी का नाश होता है। जैसे-कोई रस्सी को सर्प माने तो वृथा भयभीत हो दुःख उठावे। ऐसे ही मिथ्यादेवों को कुदेवों को तथा अदेवों को देव माने उसका इस जन्म में भी नाश होगा, धर्म से वंचित रहेगा तथा परलोक में दुर्गति के महान दुःख प्राप्त होंगे। मिथ्यात्व की तीव्रता से स्थावर काय में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति होना पड़ता है, जहाँ अनन्त काल तक रहना पड़ता है; अतएव जो स्थावरों के कष्टों में आत्मा को नहीं डालना चाहते उनको भूलकर भी अदेवों की भक्ति नहीं करना चाहिये।

ऐसे कल्पित मिथ्यादेव, अदेवों को मिथ्यादृष्टि ही मानते हैं और इस मिथ्यात्व और मूढदृष्टि होने से संसार में डूबे हुए उसके पात्र बने रहते हैं। इसी बात को ब्र. शीतलप्रसाद जी ने श्रावकाचार टीका में कहा है-

अनंत संसार के भ्रमण का कारण मिथ्यात्व है। जो संसार में आसक्त है वही संसार में भ्रमण करता है। जो शरीर का रागी है, विषय भोगों का लोलुपी है, वह रात-दिन विषय की तृष्णा में फंसा हुआ विषय सामग्री मिलने पर हर्ष व वियोग होने पर विषाद किया करता है। वह इन्द्रिय सुख को ही अमृत समझता है। जैसे-मृग, मृगतृष्णा में चमकती हुई रेत को भ्रम से जल समझकर आकुल-व्याकुल होता है। प्यास बुझाने के स्थान पर और बढ़ा लेता है। इसी प्रकार यह मूढ प्राणी आत्माधीन अतीन्द्रिय सुख को न पहिचान कर इन्द्रिय सुखों में तन्मय होकर, दुःख भोगता हुआ, तृष्णा की दाह बढ़ा लेता है। यह मूर्ख प्राणी दुःख, आकुलता व बंध के कारणभूत इन्द्रिय सुख को सुख मानकर उसी की प्राप्ति के लिये नाना प्रकार उपाय करता है। बहुत से मिथ्या उपाय भी करता है। उन ही मिथ्या उपायों में कुदेवों का व अदेवों का पूजन है। इस भक्ति में अपनी शक्ति को व अपने धन को व्यर्थ खोता है और बहुत पाप का संचय करता है। नरक, निगोद, पशु गति में व दीन-हीन मनुष्य गति में व कांतिहीन क्षुद्र देवों में पैदा होकर अनेक शारीरिक और मानसिक दुःख उठाता है। जैसे-अंधकूप में गिर जाने से निकलना बड़ा कठिन है, उसी प्रकार भयानक संसार में पतन होने से इससे निकलने का साधन जो सम्यक्दर्शन है, इसका पाना कठिन है। ऐसा जानकर कुदेवों की व अदेवों की भक्ति कभी नहीं करना चाहिये।

इसी बात को पंचाध्यायी में पं. राजमल्ल जी कहते हैं-

अदेवे देव बुद्धिः स्यादधर्मे धर्म धीरिह।

अगुरौ गुरु बुद्धिर्या ख्याता देवादि मूढता ॥ ५९५ ॥

कुदेवाराधनं कुर्यादैहिक श्रेयसे कुधीः।

मृषा लोकोपचारात्वाद श्रेया लोक मूढता ॥ ५९६ ॥

अस्ति श्रद्धान मेकेषां लोक मूढ वशादिह।

धनधान्य प्रदानूनं सम्यगाराधि ताम्बिका ॥ ५९७ ॥

अपरेऽपि यथाकामं देवानिच्छन्ति दुर्धियः।

सदोषानपि निर्दोषानिव प्रज्ञापराधतः ॥ ५९८ ॥

नोक्तस्तेषां समुद्देशः प्रसंगादपि संगतः।

लब्धवर्णो न कुर्याद्वै निःसारं ग्रन्थ विस्तरम् ॥ ५९९ ॥

अधर्मस्तु कुदेवानां यावानाराधनोद्यमः।

तैः प्रणीतेषु धर्मेषु चेष्टा वाक्काय चेतसाम् ॥ ६०० ॥

जीव को जो अदेव में देवबुद्धि, अधर्म में धर्मबुद्धि और अगुरु में गुरु बुद्धि होती है वह देवादि मूढता कही जाती है। मिथ्यादृष्टि जीव दैहिक सुख के लिये कुदेव की आराधना करता है, यह झूठा लोकाचार है; अतः लोकमूढता अकल्याणकारी मानी गई है। लोकमूढता वश किन्हीं पुरुषों का ऐसा श्रद्धान है कि अम्बिका की अच्छी तरह आराधना करने पर वह धन-धान्य देती है। इसी तरह अन्य मिथ्यादृष्टि जीव भी अज्ञानवश सदोष देवों को भी निर्दोष देवों के समान इच्छानुसार मानते हैं। प्रसंगानुसार सुसंगत होते हुए भी उनका निर्देश यहां पर नहीं किया है; क्योंकि जिसे चार अक्षर का ज्ञान है वह निष्प्रयोजन ग्रन्थ का विस्तार नहीं करता। कुदेवों की आराधना के लिये जितना भी उद्यम है, वह और उनके द्वारा कहे गये धर्म में- वचन, काय और मन की प्रवृत्ति यह सब अधर्म है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि वर्तमान में तो सच्चे देव तीर्थकर अरिहन्त परमात्मा हैं नहीं और सिद्ध परमात्मा अशरीरी होते हैं फिर हम देवपूजा करने के लिये क्या करें? क्योंकि देवपूजा करने से हमारे भावों में शुभता रहती है तथा पुण्य बन्ध भी होता है। इसके लिये फिर क्या करें? हम कुदेवादि को तो मानते नहीं, सच्चे वीतरागी देव को ही मानते हैं। उनकी ही मूर्ति बनाकर पूजते हैं फिर इसमें क्या दोष है?

इसका समाधान करते हैं कि देव का अर्थ है इष्टपुरुष परमात्मा, जिनका आदर्श मानकर हम जीवन जियें। यहाँ वैदिक आदि दर्शन देव को विश्व को रचने

वाला, रक्षा करने वाला, संहार करने वाला और सब जीवों के दुःख-सुख मुक्ति आदि का नियन्ता मानते हैं; इसीलिये वह उनकी पूजा प्रार्थना करते हैं। उनके यहाँ भगवान परमात्मा अवतार लेकर समय-समय पर प्रगट होते हैं और वर्तमान समय में अधर्म का उन्मूलन, दुष्टों का संहार और धर्म की स्थापना करते हैं ऐसी उनकी मान्यता है।

जैन दर्शन प्रत्येक जीव की स्वतंत्र सत्ता मानता है। सबमें परमात्म शक्ति है। प्रत्येक जीव आत्मा ही अपनी शक्ति जाग्रत कर परमात्मा होता है। कोई परमात्मा स्वतंत्र शक्ति जगत की नियन्ता कर्ता नहीं है। जगत का परिणमन स्वतंत्र है। अपने क्रम से स्वयं अपने आप चल रहा है और देव भी वीतरागी, हितोपदेशी, सर्वज्ञ, अरिहंत परमात्मा को माना गया है। पूर्ण शुद्ध सच्चे देव तो सिद्ध परमात्मा हैं, जो सर्व कर्म मलों से मुक्त, अशरीरी, अपने परमानंदमय हैं और यही प्रत्येक जीव आत्मा का अपना निज स्वभाव है तथा जैन दर्शन में एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं करता सबकी स्वतंत्र सत्ता है। पर के आश्रय, परावलंबन से कभी धर्म होता ही नहीं है। अपनी स्वयं की शक्ति जाग्रत करें, अपने सत्स्वरूप का श्रद्धान, ज्ञान तथा तद्रूप आचरण करें तो स्वयं परमात्मा हो सकते हैं। अपने ही शुभाशुभ भावों से पुण्य-पाप बन्ध होता है तथा अपने ही सदाचार संयम, दस धर्मों का पालन करने से जीवन में समता शान्ति आती है, सद्गति और मुक्ति का मार्ग बनता है, आत्म शक्ति जाग्रत होती है आत्मा परमात्मा बनता है।

विषय, कषाय, पापादि अन्याय अत्याचार करने से आत्मा का पतन होता है। दुःख भय चिन्ता रहती है और नरकादि दुर्गतियों के दुःख भोगना पड़ते हैं। वीतरागी देव हमारे आदर्श मार्गदर्शक हैं। इष्ट सच्चा देव तो अपना निज शुद्धात्मतत्त्व ही है। उसके ही श्रद्धान से धर्म का प्रारंभ होता है। अब स्वयं निर्णय करें कि देवपूजा करने का क्या औचित्य है; क्योंकि पूजा का अर्थ कुछ न कुछ चढ़ाना है और उसके मूल में कुछ न कुछ कामना, वासना होती है तो जब वीतरागी देव न कुछ लेते हैं और न किसी का भला-बुरा करते हैं तो किसी प्रकार की मूर्ति बनाकर पूजन करने का क्या प्रयोजन है? इसी से तो हमारी आत्म शक्ति हीन होती है, पराधीनता आती है तथा मिथ्यात्व आदि ही बढ़ता है।

देव की स्तुति आराधना उनके गुणों की प्राप्ति के लिये की जाये तो उससे आत्मशक्ति जागती है, भावना शुभ होती है। जैसा तत्त्वार्थ सूत्र का मंगलाचरण है-

**मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्म भूभूताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वंदे तद्गुण लब्धये ॥**

इस सम्बंध में विरधीलाल सेठी जयपुर वालों ने बहुत स्पष्ट लिखा है-

अन्य धर्मों वाले महानुभाव जो संसार की कर्ता-धर्ता, ईश्वर जैसी शक्ति में विश्वास करते हैं वे उस शक्ति से प्रार्थना भी करते हैं; परंतु जैन धर्म के अनुसार तो ऐसी कोई शक्ति ही नहीं है जो कुछ दे सके। हमारी आत्मा में ही इतनी शक्ति है कि हम उसे जगाकर अपने ही पुरुषार्थ से परमात्मा बन सकते हैं, इसके लिये संकल्प पूर्वक भावना करने का ही महत्व है। किसी दूसरी शक्ति से प्रार्थना करने का आशय है कि हमें अपनी शक्ति में विश्वास नहीं है, हममें हीनता की भावना है। ऐसी स्थिति में तीर्थंकरों की प्रार्थना से हमारे अंतर की सुप्त शक्ति कभी नहीं जाग सकती। वह तो अपनी आत्म शक्ति में विश्वास रखकर उसे जगाने की बार-बार भावना करने पर ही जाग सकती है; परन्तु भक्ति के नाम पर हमने तीर्थंकरों को अलौकिक बना दिया और उससे हममें हीनता की धारणा पैदा हो गई, हम अपनी आत्म शक्ति के प्रति श्रद्धाहीन हो गए।

ईश्वरवादी धर्मों का मार्ग भक्ति और समर्पण का है कि वे अपने को नगण्य मानकर सब कुछ ईश्वर के भरोसे छोड़ देते हैं; परन्तु जैन धर्म का मार्ग ठीक इसके विपरीत है, वह पुरुषार्थ का मार्ग है, वह कहता है कि कोई हाथ नहीं जो तुम्हें ऊँचा उठा सके, तुम्हें अपने ही पुरुषार्थ के बल पर आगे बढ़ना होगा। जैसा करोगे वैसा फल भी भोगोगे, तुम्हारे पापों को कोई माफ नहीं कर सकता। इस मार्ग में ईश्वरवादी जैसी भक्ति और प्रार्थना का कोई स्थान नहीं है। इस प्रकार जैन तीर्थंकरों ने तो ईश्वर कर्तृत्व के विरुद्ध क्रांति की थी; परन्तु उनके अनुयायियों ने कर्तृत्व उन तीर्थंकरों में ही थोप दिया। वे उनसे प्रार्थनायें करके तरह-तरह की मांगें करने लगे, पाप की माफी मांगने लगे, इस विचार के साथ कि ईमानदारी का जीवन न होने पर भी केवल भक्ति से ही उनके पाप माफ हो जायेंगे। अधिकांश हिन्दी के पूजा-पाठ में यही लेने-देने का भाव भरा है। उदाहरण के लिये- पूजा के अन्त में प्रार्थना की जाती है-

**सुख देना दुख मेटना, यही तुम्हारी बान ।
मो गरीब की वीनती, सुन लीजे भगवान ॥**

आलोचना पाठ में पढ़ते हैं कि-

**द्रोपदी को घीर बढ़ायो, सीता प्रति कमल रचायो ।
अंजन से किये अकामी, दुःख मेटो अन्तरायामी ॥**

पार्श्वनाथ स्तोत्र में प्रार्थना की गई है कि-

**दरिद्रीन को द्रव्य के दान देने, अपुत्रीन को तू भले पुत्र कीने ।
महासंकटों से निकारे विधाता, सवै संपदा सर्व को देही दाता ॥**

इसी प्रकार-**नाथ मोहि जैसे बने वैसे तारो, मोरी करनी कछु न विचारो ।**

उपरोक्त से प्रगट होता है कि जैन तीर्थंकरों को उनके अनुयायियों ने कर्ता-धर्ता ईश्वर का रूप दे दिया है। (जैन मूर्तिपूजा में व्याप्त विकृतियाँ)

इस प्रकार की अनेक बातें हैं, अनेक कारण हैं, जिनसे हम वास्तविक धर्म को भूल बैठे हैं और विपरीत मान्यता लोकमूढ़ता आदि दोषों में फंस गये हैं। यह देवपूजा भी इसी प्रकार की मान्यता है। हम विवेक से काम लें, वस्तु स्वरूप को समझें, सत्य-असत्य का निर्णय करें और सही धर्म मार्ग पर चलकर आत्म कल्याण करें, मानव जीवन को सफल बनायें। छहढाला में कहा है-

**दौल समझ सुन चेत सयाने, काल वृथा मत खोवे ।
यह नरभव फिर मिलन कठिन है, जो सम्यक् नहीं होवे ॥**

यहां कोई प्रश्न करे कि ऐसी स्थिति में हम क्या करें, जबकि चारों तरफ से सामाजिक, व्यवहारिक, साम्प्रदायिक, सांसारिक बंधनों में जकड़े हुए हैं, न चाहते हुए भी करना पड़ता है, इनसे छूटने का उपाय क्या है ?

इसका समाधान है- सदगुरु की शरण, सत्संग और पुरुषार्थ करो तो छूट सकते हो।

यहां फिर प्रश्न है कि गुरु में भी सदगुरु, कुगुरु आदि का झगड़ा है ?

उसका समाधान है कि हां गुरु में भी सदगुरु, कुगुरु, अगुरु आदि होते हैं। इनके स्वरूप को जानो, उनसे बचो और सदगुरु का शरण गहो तो इन बन्धनों से छूट सकते हो।

फिर प्रश्न है कि इनका स्वरूप क्या है ?

सर्वप्रथम यहां सदगुरु कैसा होता है उसके स्वरूप का वर्णन तारण स्वामी आगे कर रहे हैं, उसके बाद कुगुरु का स्वरूप बतायेंगे।

संमिक गुरु उपाद्यंते, संमिक्तं सास्वतं ध्रुवं ।

लोकालोकं च तत्त्वार्थं, लोकिंतं लोकलोकितं ॥ ६५ ॥

ऊर्ध्व आर्ध मध्यं च, न्यान दिस्टि समाचरेत् ।

सुद्ध तत्त्व स्थिरी भूतं, न्यानेन न्यान लंकृतं ॥ ६६ ॥

सुद्ध धर्म च सद्भावं, सुद्ध तत्त्व प्रकासकं ।

सुद्धात्मा चेतना रूपं, रत्नत्रयं लंकृतं ॥ ६७ ॥

अन्वयार्थ- (संमिक गुरु उपाद्यंते) सच्चे गुरु उपासना करते हैं (संमिक्तं सास्वतं ध्रुवं) सम्यक् अर्थात् निज शुद्धात्मा की जो शाश्वत है ध्रुव है (लोकालोकं च तत्त्वार्थं) लोकालोक में जो एकमात्र प्रयोजनभूत तत्व है (लोकिंतं लोकलोकितं) जो समस्त लोक को देखता जानता है।

(ऊर्ध्व आर्ध मध्यं च) तीनों लोक और तीनों काल में (न्यान दिस्टि समाचरेत्) जो ज्ञानदृष्टि सम्यक् ज्ञान का ही व्यवहार आचरण करते हैं (सुद्ध तत्त्व स्थिरी भूतं) शुद्ध आत्मीक तत्व में निश्चल रमण करते हुए (न्यानेन न्यान लंकृतं) ज्ञान ही ज्ञानमय शोभायमान रहते हैं।

(सुद्ध धर्म च सद्भावं) निज शुद्धात्म भाव जो अपना स्वभाव है (सुद्ध तत्त्व प्रकासकं) उस शुद्ध तत्व का ही अनुभव करते हैं (सुद्धात्मा चेतना रूपं) शुद्धात्मा जो चैतन्य स्वरूपी है (रत्नत्रयं लंकृतं) तथा रत्नत्रय से अलंकृत हैं अर्थात् सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान सम्यक्चारित्रमयी है। ऐसे निज शुद्धात्म तत्व की ही साधना आराधना उपासना करते हैं।

विशेषार्थ- यहाँ सच्चे गुरु के स्वरूप का वर्णन चल रहा है। गुरु अर्थात् मार्गदर्शक। गुरु पद वह बीच की कड़ी है जो स्वयं आत्मा से परमात्मा बनने की ओर बढ़ रहा हो तथा जीवों को अपने परमात्म स्वरूप का ज्ञान करावे। परमात्मा बनने मुक्त होने की विधि बतावे।

व्यवहार में ज्ञान देने वाले को गुरु कहते हैं। जिससे कुछ सीखते हैं उसे भी गुरु कहते हैं। परमार्थ में सच्चा गुरु वह है जो स्वयं मुक्ति मार्ग पर चल रहा हो और अन्य भव्य जीवों को मुक्ति का सम्यक्मार्ग बतावे। जिसकी कथनी करनी एक हो। निश्चय और व्यवहार में सम्यक् आचरण हो, जो स्वयं ऊपर उठ चुका हो, पाप परिग्रह विषय कषाय से हट गया हो। संसारी प्रपंच से मुक्त हो गया हो जो किसी प्रकार के सामाजिक, व्यवहारिक, सांसारिक, राजनैतिक बन्धन में न बंधा हो, साम्प्रदायिकता से ऊपर उठ गया हो। जिसका जाति-पांति का भेदभाव मिट गया हो, जिसका सब जीवों के प्रति

समता भाव हो। जिसके अन्तर में समस्त जग जीवों के प्रति करुणा बहती हो तथा जो अपने आत्मीय आनंद में निमग्न रहता है। जिसका चेहरा खिलता हुआ कमल जैसा प्रफुल्लित दिखाई देवे। जो वीतरागी हितोपदेशी और समभावी हो वह सच्चा गुरु होता है। वह क्या करता है? यह सद्गुरु तारण स्वामी बता रहे हैं कि वह अपने निज शुद्धात्मा जो शाश्वत है, ध्रुव है, लोकालोक में सारभूत तत्व है। जो सबको देखने-जानने वाला है तीन लोक तीन काल में हमेशा ज्ञानमयी ही रहता है। जो अपने में ही रमण करता है, लीन रहता है, ज्ञान ही ज्ञान से शोभायमान है। जिसका शुद्ध स्वभाव त्रिकाली है जो हमेशा अपने में ही रहता है, वह शुद्धात्मा जो चैतन्य स्वरूपी रत्नत्रयमयी है। ऐसे निज शुद्धात्मा की साधना, आराधना, उपासना में ही रत रहते हैं ऐसे सद्गुरु होते हैं।

इसी बात को रत्नकरण्ड श्रावकाचार में समन्तभद्राचार्य कहते हैं-

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।

ज्ञानध्यान तपो युक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥ १० ॥

जो पांच इन्द्रियों के विषयों की आशा-वांछा से रहित, छह काय के जीवों के घात करने वाले आरम्भ से रहित, अन्तरंग-बहिरंग समस्त परिग्रह से रहित हो तथा ज्ञान, ध्यान और तप में लीन रहता है। ऐसा तपस्वी सच्चा गुरु ही प्रशंसनीय है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि जो अपने ज्ञान ध्यान में लीन रहते हैं। शुद्धात्मा की ही साधना आराधना उपासना में रत रहते हैं। उनसे हमारा क्या संबन्ध है, उनसे हमें क्या लाभ मिला?

इसका समाधान सद्गुरु तारण स्वामी आगे की गाथाओं में करते हैं-

न्यानेन न्यानमालंब्यं, कुन्यानं त्रिविधि मुक्तयं।

मिथ्या माया न दिस्टंते, संमिक्तं सुद्ध दिस्टितं ॥ ६८ ॥

संसारे तारनं चिंते, भव्य लोकैक तारकं।

धर्मस्य अप्प सद्भावं, प्रोक्तं च जिन उक्तयं ॥ ६९ ॥

अन्वयार्थ- (न्यानेन न्यानमालंब्यं) ज्ञान ही ज्ञान का जिनको अवलम्बन है अर्थात् ध्यान में अपने ज्ञानानंद स्वभाव में लीन रहते हैं तथा ज्ञान में अपने आत्म स्वरूप का चिन्तन करते हैं (कुन्यानं त्रिविधि मुक्तयं) तीनों प्रकार के कुज्ञान से

मुक्त हो गये हैं (मिथ्या माया न दिस्टंते) अब मिथ्या माया दिखते ही नहीं हैं (संमिक्तं सुद्ध दिस्टितं) शुद्ध सम्यक्त्व ही अर्थात् अपना निज शुद्धात्मा ही देखते हैं वही दिखता है।

(संसारे तारनं चिंते) संसार से तरने, मुक्त होने का विचार करते हैं (भव्य लोकैक तारकं) और संसारी प्रत्येक भव्य जीव के तारणहार हैं (धर्मस्य अप्प सद्भावं) धर्म तो आत्मा का शुद्ध स्वभाव ही है (प्रोक्तं च जिन उक्तयं) जैसा जिनेन्द्र परमात्मा ने कहा वैसा कहते हैं।

विशेषार्थ- यहाँ पहले तो सद्गुरु किसे कहते हैं? कौन होते हैं? उनका स्वरूप बताया जा रहा है। जो ज्ञान, ध्यान, तप, साधना में ही लीन रहते हैं जो धर्म का उपदेश देते हैं। साधु तो बहुत होते हैं, गुरु बहुत थोड़े होते हैं। जिनके अंतर में संसार के दुःखों की पीड़ा लगती है, वह तो स्वयं उससे छूट ही रहे हैं और जगत के भव्य जीव भी क्यों न इससे मुक्त हो जायें, ऐसी करुणा उनके अन्तर में बहती है और जैसा जिनेन्द्र परमात्मा ने कहा है वैसे शुद्ध आत्म धर्म का उपदेश जगत के जीवों को देते हैं वह सद्गुरु कहलाते हैं।

जिसे ज्ञान ही ज्ञान का अवलम्बन है, अन्तर में ज्ञान स्वभावी आत्मा और बाहर में जिनवाणी का स्वाध्याय, मनन, चिन्तन, मात्र इतना ही कार्य है। जो तीनों कुज्ञानों से मुक्त हो गया अर्थात् कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ज्ञान छूट गये, अब तो सुमति, सुश्रुत और सुअवधि का आधार है। जिसकी तीनों शल्ये मिथ्या, माया, निदान भी बिला गई हैं। मिथ्यात्वादि से तो छूट ही चुका है। जिसे अपना शुद्धात्म स्वरूप हमेशा दिखाई देता रहता है। इसके साथ संसार के दुःखों का भी विचार चलता रहता है कि देखो इस जीव ने अपनी जरा सी भूल की, इसने अपने आत्म स्वभाव को नहीं जाना जो सच्चा धर्म है, इसके कारण कैसे जन्म-मरण के दुःख भोगे। चारों गति नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव गति में कैसे-कैसे दुःख भोगे और हमेशा भयभीत चिन्तित रहा। यह संसारी प्राणी भी इस सच्चे धर्म अपने आत्म स्वभाव को जाने बिना कैसे दुःखी हो रहे हैं। यह भी अपने आत्म स्वभाव को जान लें तो सब सुखी हो जायें, मुक्त हो जायें। देखो जिनेन्द्र परमात्मा ने कहा है कि अपना शुद्ध स्वभाव ही धर्म है। बाहर में कोई क्रिया धर्म नहीं है। यह सभी भव्य जीव अपने स्वरूप का बोध कर लें। इसके लिये सभी भव्य जीवों को अपने आत्म स्वरूप की महिमा बताते हैं, संसार के दुःख बताते हैं, परमात्म स्वरूप का बोध कराते हैं। स्वयं

तरते हैं और दूसरों को तारते हैं इसलिये सद्गुरु तारण तरण कहलाते हैं।

ऐसे सद्गुरु का सुयोग इस जीव को मिल जाये तो बेड़ा पार हो जाये। सद्गुरु मुख्य रूप से तो अपने ज्ञान-ध्यान, आत्म साधना में लीन रहते हैं। उन्हें तो केवलज्ञान और सिद्ध पद ही इष्ट रहता है। आचार्य, उपाध्याय और साधु यह तीन गुरु कहलाते हैं। अरिहन्त, परमगुरु कहलाते हैं।

शुद्धात्म स्वरूप का साधक सद्गुरु अपनी साधना में लीन आगे बढ़ता है। उससे क्या होता है ? यह कहते हैं-

न्यानं त्रितिय उत्पन्नं, ऋजु विपुलं च दिस्टते ।

मनपर्जयं च चत्वारि, केवलं सिद्धि साधकं ॥ ७० ॥

रत्नत्रयं सुभावं च, रूपातीत ध्यान संजुतं ।

सक्तस्य विक्त रूपेन, केवलं पदमं ध्रुवं ॥ ७१ ॥

अन्वयार्थ- (न्यानं त्रितिय उत्पन्नं) सद्गुरु जो अपनी साधना में लीन रहते हैं, उन्हें तीसरा ज्ञान अवधि ज्ञान उत्पन्न हो जाता है (ऋजु विपुलं च दिस्टते) और रिजुमति विपुलमति भी दिखने लगता है (मनपर्जयं च चत्वारि) यह मनः पर्यय चौथा ज्ञान है (केवलं सिद्धि साधकं) केवलज्ञान की सिद्धि की साधना तो चल ही रही है।

(रत्नत्रयं सुभावं च) रत्नत्रयमयी स्वभाव है ही (रूपातीत ध्यान संजुतं) जब रूपातीत ध्यान में लीन होते हैं तब (सक्तस्य विक्त रूपेन) अपनी शक्ति प्रगट रूप में दिखने लगती है (केवलं पदमं ध्रुवं) जो केवलज्ञान मयी पद स्वरूप शुद्ध प्रकाशं शुद्धात्म तत्वं और ध्रुव है।

विशेषार्थ- यहाँ सद्गुरु जो अपनी शुद्धात्म साधना में लीन रहते हैं, उन्हें तीसरा ज्ञान अवधिज्ञान उत्पन्न हो जाता है और चौथा मनःपर्यय ज्ञान रिजुमति, विपुलमति भी दिखने लगता है। केवलज्ञान की सिद्धि की साधना तो कर ही रहे हैं।

ज्ञान पाँच होते हैं। जैसा तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है-

मति श्रुतावधि मनःपर्यय केवलानि ज्ञानम् ॥ ९ ॥

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान यह पाँच ज्ञान होते हैं।

१. मतिज्ञान- पाँच इन्द्रियों और मन के द्वारा अपनी शक्ति के अनुसार जो ज्ञान होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं।

२. श्रुतज्ञान- मतिज्ञान के द्वारा जाने हुए पदार्थ को विशेष रूप से जानना श्रुतज्ञान है।

३. अवधिज्ञान- जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा सहित इन्द्रिय अथवा मन की सहायता के बिना रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

४. मनःपर्ययज्ञान- जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा सहित इन्द्रिय अथवा मन की सहायता के बिना ही दूसरे पुरुष के मन में स्थित रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है उसे मनःपर्यय ज्ञान कहते हैं।

५. केवलज्ञान- समस्त द्रव्य और उनकी सर्व पर्यायों को एक साथ प्रत्यक्ष जानने वाले ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं।

प्रत्येक संसारी जीव को मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो होते ही हैं। मिथ्यात्व के कारण वह कुमति, कुश्रुत कहलाते हैं और किसी संसारी जीव को अवधिज्ञान भी हो सकता है, वह कुअवधिज्ञान कहलाता है। सम्यक्दर्शन होने पर सुमति, सुश्रुत, सुअवधि कहलाते हैं।

मनःपर्यय और केवलज्ञान सम्यक्दृष्टि साधु को ही होते हैं। इस प्रकार ज्ञान के आठ भेद होते हैं- कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय और केवलज्ञान।

देव और नारकियों को जन्म से ही मति, श्रुत, अवधिज्ञान होता है पर मिथ्यात्व सहित होने से कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ही कहलाता है। सामान्य मनुष्य और तिर्यचों को मति श्रुतज्ञान तो होता ही है, अवधिज्ञान भी हो सकता है।

अवधिज्ञान की विशेषता- स्वयं की और पर की अगले पिछले जन्मों की बातों को जान लेना यह विशेषता रहती है। मनः पर्ययज्ञान में- अगले पिछले जन्मों की बातों के ज्ञान के साथ किसी के भी मन की बात जान लेने की विशेष क्षमता होती है। केवलज्ञान में तीन लोक, तीन काल की सर्व द्रव्यों की सर्व पर्यायें प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं।

सद्गुरु अपने स्वरूप की साधना करते हैं तो मति श्रुतज्ञान के साथ उन्हें अवधि और मनःपर्यय ज्ञान भी प्रगट हो जाते हैं। चार ज्ञान तक के धारी आचार्य उपाध्याय और साधु होते हैं। गणधर भी इसी श्रेणी में आते हैं और यह सब छटे,

सातवें गुणस्थानवर्ती होते हैं और यह सब गुरु कहलाते हैं। सद्गुरु रत्नत्रय से युक्त तो होते ही हैं अर्थात् सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र से युक्त होकर अपने रत्नत्रयमयी स्वभाव का ध्यान करते हैं और जब रूपातीत ध्यान में लीन होते हैं तो अपनी शक्ति जो केवलज्ञानमयी ध्रुव तत्त्व शुद्धं प्रकाशं शुद्धात्म तत्त्व है वह प्रत्यक्ष व्यक्त स्वरूप अनुभव में आती है।

इसी प्रकार ज्ञान ध्यान की साधना में रत रहने से कर्म अपने आप छूटते, गलते, विलाते जाते हैं, आत्म ज्ञान बढ़ता जाता है। सम्यक्दर्शन की प्रखरता होती है, अपने ज्ञानानन्द स्वभाव में निरन्तर आनन्द मगन रहते हैं।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि अपने स्वभाव की साधना से कर्म कैसे गलते विलाते हैं ?

इसका समाधान करते हैं कि कर्म कैसे बंधते हैं यह समझलो तो फिर कर्म कैसे गलते, विलाते हैं, यह अपने आप समझ में आ जायेगा। तो देखो, जब जीव पर की तरफ देखता है तो कर्मों का आस्रव होता है अर्थात् कर्म वर्णणायें आती हैं तथा जीव जब राग-द्वेष करता है, तो वह बंध जाती हैं। बंध चार प्रकार का होता है, योग से अर्थात् मन वचन काय का हलन-चलन और जीव के विभाव परिणमन से प्रकृति और प्रदेश बन्ध होता है तथा कषाय- क्रोध, मान, माया, लोभ, अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन तथा नो कषाय हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद इनसे स्थिति और अनुभाग बन्ध होता है।

अब यहाँ कोई पूछे कि जीव और पुद्गल दोनों भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं और एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं करता, सब द्रव्य अपने-अपने में पूर्ण स्वतंत्र हैं फिर यह कैसे होता है, यह तो सिद्धान्त विरुद्ध हो गया ? तो उससे कहते हैं कि भाई ! यह सिद्धान्त विरुद्ध नहीं है। ऐसा जीव और पुद्गल का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। इसी के कारण यह जगत का परिणमन चलता है, अन्यथा सब संसार ही बिला जाये। हाँ, यह बात अवश्य समझना है और वह सत्य है कि जीव का परिणमन जीव में होता है। पुद्गल का परिणमन पुद्गल में होता है, वह दोनों अपने द्रव्य, गुण, पर्याय, सत्ता शक्ति से त्रिकाल भिन्न ही रहते हैं। एक क्षेत्रावगाह रहते हुए भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श भी नहीं करता यह स्वतंत्र सत्ता है परन्तु एक दूसरे का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। जैसे-सूर्य के प्रकाश ताप से पानी भाप बनकर उड़ता है और बादल बन जाता है, इसी प्रकार पुद्गल कर्मवर्गणा जीव के विभाव परिणमन से कर्म रूप बंध जाती हैं।

जीव के भावों के निमित्त से कर्म बंधते हैं और कर्मों के उदय के निमित्त से जीव के भाव होते हैं, ऐसा ही अनादि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

अब, जब जीव ने अपने सत्स्वरूप को पहिचाना, भेदज्ञान के द्वारा वस्तु स्वरूप और इस निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को जाना तथा फिर उसने अपने स्वभाव में रहने का पुरुषार्थ किया तो आस्रव-बंध रुक गया, संवर हो गया और पूर्व बद्ध कर्मों की निर्जरा होने लगी क्योंकि कर्मों का स्वभाव गलने विलाने का है, प्रति समय उनका निर्झरण होता रहता है। इस बात को कमलबत्तीसी जी में श्री तारण स्वामी ने बताया है।

कम्म सहावं षिपनं, उत्पत्ति षिपिय दिस्ति सभावं ।

चेयन रुव संजुतं, गलियं विलियं ति कम्म बंधानं ॥

(कमल बत्तीसी गाथा-६)

कर्मों का स्वभाव षिपने, क्षय होने का है। इनकी उत्पत्ति और क्षय जीव की दृष्टि के सद्भाव पर है, यदि जीव की दृष्टि बाहर पर में है तो कर्मों की उत्पत्ति होती है और जीव की दृष्टि अपने स्वभाव पर है तो कर्मों का क्षय होता है। जीव अपने चैतन्य स्वरूप शुद्ध स्वभाव में लीन हो जाये तो तीनों प्रकार के बंधे हुए कर्म गल जाते हैं बिला जाते हैं।

यह सिद्धान्त करणानुयोग के ग्रन्थ गोम्मटसार, धवल-महाधवल का सार है। कर्म तीन प्रकार के होते हैं- द्रव्य कर्म, भाव कर्म और नो कर्म।

द्रव्य कर्म- ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, नाम, आयु, गोत्र और वेदनीय यह आठ होते हैं।

भाव कर्म- मोह, राग-द्वेष रूप जीव के विभाव परिणमन को कहते हैं।

नो कर्म- शरीरादि पुद्गल की रचना नो कर्म कहलाती है। जब सद्गुरु अपने ध्यान में लीन होते हैं तो इन कर्मों में आग लग जाती है। इनकी असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। यह जीव के पुरुषार्थ की शक्ति है। आत्मा तो अनन्त चतुष्टय का धारी परमब्रह्म परमात्म स्वरूप है, अपनी सत्ता शक्ति को भूला है। स्वयं का ही विस्मरण हो गया इससे संसार में यह दुर्दशा हो रही है। इन सब बातों की जानकारी सद्गुरु द्वारा ही होती है और जिस जीव की होनहार अच्छी होती है, उसका कल्याण हो जाता है, सद्गुरु निमित्त कहलाते हैं। सद्गुरु के भीतर तो करुणा बहती है वह तो समस्त जगत का कल्याण चाहते हैं। सब जीवों को सुखी

आनन्दमय ही देखना चाहते हैं उन्हें किसी से कोई भेद भाव होता ही नहीं है।

इस प्रकार जब सद्गुरु अपने आत्म स्वरूप के ध्यान में लीन होते हैं तो उनके समस्त कर्म गलते बिलाते हैं, इसी बात को आगे गाथा में कहते हैं—

कर्म त्रि विनिर्मुक्तं, व्रत तप संजम संजुतं ।

सुद्ध तत्त्वं च आराध्यं, दिष्टतं संमिक दर्शनं ॥ ७२ ॥

अन्वयार्थ- (सुद्ध तत्त्वं च आराध्यं) सद्गुरु शुद्ध तत्त्व, शुद्धात्म स्वरूप की ही आराधना करते हैं (दिष्टतं संमिक दर्शनं) जैसा सम्यक्दर्शन में आया था वैसा देखते हैं (व्रत तप संजम संजुतं) व्रत तप और संयम में लीन रहते हैं (कर्म त्रि विनिर्मुक्तं) इससे तीनों प्रकार के कर्म अपने आप छूटते जाते हैं।

विशेषार्थ- सद्गुरु शुद्ध तत्त्व की आराधना करते हैं। जैसा सम्यक्दर्शन में अपने शुद्धात्म स्वरूप का अनुभव किया था उसे ही देखते हैं। व्रत, तप, संयम में लीन रहते हैं, इससे तीनों कर्मों—द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नो कर्मों से मुक्त होते जाते हैं।

इसी बात को पंचाध्यायी में गाथा ६२१ से ६३६ में स्पष्ट किया है —

अरहंत और सिद्धों से नीचे जो अल्पज्ञ हैं और उसी रूप अर्थात् दिगम्बरत्व, वीतरागत्व, हितोपदेशित्व को धारण करने वाले हैं वे गुरु हैं, क्योंकि इनमें न्यायानुसार गुरु का लक्षण पाया जाता है। यह उनसे भिन्न और कोई दूसरी अवस्था को धारण करने वाले नहीं हैं। इनमें अवस्था विशेष पाई जाती है। यह बात युक्ति अनुभव और आगम से सिद्ध है; क्योंकि उनमें शेष संसारी जीवों से कोई विशेष अतिशय देखा जाता है। भावि नैगमनय की अपेक्षा से जो होने वाला है वह उस पर्याय से युक्त की तरह कहा जाता है क्योंकि उसमें नियम से भाव की व्याप्ति पाई जाती है इसलिये ऐसा कहना युक्ति युक्त है। उनमें दर्शन मोहनीय कर्म की उपशान्ति अर्थात् उपशम, क्षय, क्षयोपशम हो जाने से सम्यक्दर्शन भी पाया जाता है और चारित्रावरण कर्म का एकदेश क्षय (क्षयोपशम) हो जाने से सम्यक्चारित्र भी पाया जाता है इसीलिये उनमें स्वभाव से ही शुद्धता सिद्ध होती है और इसकी पुष्टि करने वाला हेतु भी पाया जाता है; क्योंकि उनके मोहनीय कर्म का उदय नहीं है, वहाँ मोहनीय कर्म का कार्य भी नहीं पाया जाता है। उनकी यह शुद्धता नियम से संवर, निर्जरा का कारण है और क्रम से मोक्ष दिलाने वाली है। यह बात सुप्रसिद्ध है अथवा वह शुद्धत्व ही नियम से स्वयं निर्जरा आदि तीन रूप है; क्योंकि शुद्ध भावों से

अविनाभाव रखने वाला द्रव्य इन तीन रूप ही होता है। आशय यह है कि आत्मा का जो शुद्ध भाव निर्जरा आदि का कारण है वही परम पूज्य है और उससे युक्त आत्मा ही परमगुरु है। न्यायानुसार गुरुपने का कारण केवल दोषों का नाश हो जाना ही है। जो निर्दोष है वही जगत का साक्षी है और वही मोक्षमार्ग का नेता है, अन्य नहीं। मुनि की यह छद्मस्थता भी गुरुपने का नाश करने के लिये समर्थ नहीं है; क्योंकि रागादि अशुद्ध भावों का कारण एक मोह कर्म माना गया है।

यहाँ प्रश्न है कि छद्मस्थ गुरुओं में दोनों आवरण कर्म और वीर्य का नाश करने वाला अन्तराय कर्म नियम से है इसलिये उनमें शुद्धता कैसे हो सकती है ?

उसका समाधान करते हैं कि यह बात ठीक है किन्तु इतनी विशेषता है कि उक्त तीनों कर्मों का बन्ध, सत्व, उदय और क्षय मोहनीय कर्म के साथ अविनाभावी है। खुलासा इस प्रकार है कि मोहनीय का बन्ध होने पर उसके साथ-साथ ज्ञानावरणादि कर्म का बन्ध होता है। मोहनीय के सत्व रहते इनका सत्व रहता है। मोहनीय का पाक होते समय इनका पाक होता है और मोहनीय के क्षय होने पर इनका क्षय होता है। यदि कोई ऐसी आशंका करे कि छद्मस्थ अवस्था में ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय होने के पहले ही मोहनीय का क्षय हो जाता है सो ऐसी आशंका करना ठीक नहीं है; क्योंकि मोहनीय का एकदेश क्षय होने से इनका एकदेश क्षय होता है और मोहनीय का सर्वथा क्षय होने से इनका भी सर्वथा क्षय हो जाता है। सम्यक्दृष्टि के समस्त कर्मों की निर्जरा होती है, यह बात असिद्ध भी नहीं है क्योंकि दर्शन मोहनीय के उदय के अभाव होने पर वहाँ से लेकर वह उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी होने लगती है; इसलिये छद्मस्थ गुरुओं के यद्यपि वर्तमान में तीनों कर्मों का सद्भाव कहा गया है तथापि राग-द्वेष और मोह का अभाव हो जाने से उनमें गुरुपना माना गया है।

यहाँ देव के स्वरूप आदि का निर्देश करके गुरु के स्वरूप का विचार किया गया है।

जो संसारी अवस्था से उठ रहा है किन्तु देवत्व को नहीं प्राप्त हुआ है उसकी गुरु संज्ञा है। यह संसारी जीव की देवत्व से कड़ी जोड़ता है इसलिये आदर्श के समान होने से गुरु इस संज्ञा को प्राप्त होता है। इसमें उन सब गुणों का विकास प्रारंभिक अवस्था में प्रयोग रूप से देखा जाता है जो विशेष रूप से देव में पाये जाते हैं। वे गुण मुख्यतया दिगम्बरत्व, हितोपदेशित्व और वीतरागत्व हैं। यद्यपि इन गुणों

का बीजारोपण सम्यक्दृष्टि के हो ही जाता है परन्तु यह इनको प्रयोग में लाने लगता है। इसे देखकर यह स्पष्ट ज्ञान होता है कि यह स्वातन्त्र्य पथ का अद्वितीय पथिक है। इसके इन गुणों के साथ समता, शान्ति, क्षमा, ज्ञान, आत्मीक शक्ति, आत्मीक सुख आदि दूसरे गुणों का भी विकास होने लगता है; क्योंकि इन गुणों का मुख्य प्रतिबन्धक कर्म मोहनीय माना गया है। इसके दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय इन दोनों प्रकार के मोहनीय कर्म का उपशम, क्षयोपशम या क्षय हो जाता है।

इस प्रकार सद्गुरु की यह विशेषतायें होती हैं। ऐसे गुरु ही स्वयं तरते हैं और भव्य जीवों को तारते हैं। वही गुरु तारण तरण हैं, इसी बात को आगे दो गाथाओं में कहते हैं-

तस्य गुनं गुरुस्चैव, तारनं तारकं पुनः ।

मान्यते सुद्ध दिष्टि च, संसारे तारनं सदा ॥ ७३ ॥

जावत् सुद्ध गुरं मान्ये, तावत् गत विभ्रमं ।

सल्यं निकंदनं जेन , तस्मै श्री गुरवे नमः ॥ ७४ ॥

अन्वयार्थ- (तस्य गुनं गुरुस्चैव) ऐसे गुणों के धारी जो सद्गुरु होते हैं (तारनं तारकं पुनः) वह स्वयं तरते हैं और अन्य भव्य जीवों को तारते हैं (मान्यते सुद्ध दिष्टि च) जिनकी मान्यता में सम्यक्दर्शन ही (संसारे तारनं सदा) हमेशा संसार से तारने वाला है।

(जावत् सुद्ध गुरं मान्ये) जो कोई ऐसे सच्चे गुरु को मानते हैं (तावत् गत विभ्रमं) उनका विभ्रम-बहिरात्मपना बिला जाता है (सल्यं निकंदनं जेन) उनकी शल्यें भी छूट जाती हैं (तस्मै श्री गुरवे नमः) ऐसे श्री सद्गुरु को बारम्बार नमस्कार है।

विशेषार्थ- यहां उस प्रश्न का समापन है जो बहिरात्मा संसार के व्यामोह में फंसा कुदेव, अदेव आदि की पूजा करता है। मिथ्या मान्यता और मिथ्यात्व के जाल में फंसा अपना अनन्त संसार बढ़ाता है, दुर्गतियों का कारण बनाता है। उससे छूटने का क्या उपाय है? इसका उत्तर था सद्गुरु की शरण गहें, उनका सत्संग करें तो इस माया जाल से छूट सकते हैं।

सद्गुरु कैसे होते हैं? यह पूछे जाने पर यहां सद्गुरु का स्वरूप बताया है कि जो अपने रत्नत्रय स्वरूप निज शद्धात्मा की साधना में लीन रहते हैं। संसारी प्रपंच, विषय-कषाय, मोह, राग-द्वेष छोड़कर जो निज आत्म स्वभाव में संलग्न रहते हैं,

जिन्हें संसार के दुःखों की पीड़ा का अनुभव है तथा जिन्हें संसारी जीवों के प्रति करुणा बहती है और निज आत्म स्वभाव ही सच्चा धर्म है इसका सदुपदेश देते हैं। सम्यक्दर्शन, निजशुद्धात्म स्वरूप की महिमा बताते हैं। सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता मात्र मोक्ष का मार्ग है इसके बिना कभी त्रिकाल मुक्ति हो नहीं सकती। जो सत्य का स्वयं पालन करते हैं और सब जीवों को इसी का उपदेश देते हैं। जो स्वयं संसार से मुक्त हो ही रहे हैं और भव्य जीवों को भी उसी मुक्ति मार्ग पर लगा रहे हैं वही सद्गुरु तारण तरण होते हैं, श्री ममलपाहुड़ जी ग्रंथ के गुरु दिष्ट गाथा में कहा है-

गुरु उवएसिउ गुपित रुइ, गुपित न्यान सहकार ।

तारन तरन समर्थ मुनि, गुरु संसार निवार ॥ १ ॥

संसय सल्य विमुक्कु गुरु, भय विलय अभय जिन उत्तु ।

अभय न्यान सुइ गुपित रुई, न्यान विन्यान संजुत्तु ॥ २ ॥

गुरु जाग्रत करता है। गुप्त आत्मा को अपने गुप्त ज्ञान से मिलाता है जो सद्गुरु (मुनि) स्वयं तर रहा है, वही दूसरों को तारने में समर्थ होता है। गुरु ही इस भव संसार जन्म-मरण के चक्कर, दुर्गतियों के दुःखों का निवारण करता है; क्योंकि उसके ज्ञान में, अनुभव में सब है, उस सत्य को बताता है।

गुरु स्वयं संशय और शल्यों से मुक्त होता है। आत्म स्वरूप का जागरण होने से उसके भय विला गये हैं। अभय होकर ज्ञान स्वरूपी अपने अरूपी गुप्त आत्मा को भेद विज्ञान से प्रत्यक्ष अनुभूति में ले लिया है तथा उसी में लीन रहते हैं। ऐसे सद्गुरु के शरण और सत्संग से इस जीव का कल्याण होता है। बहिरात्मा से अन्तरात्मा होता हुआ परमात्मा बनता है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि यदि सद्गुरु के योग और सत्संग से जीव का कल्याण होता है तो भगवान आदिनाथ के समवशरण में मारीचि का क्यों नहीं हुआ तथा भगवान महावीर के समवशरण में हम जैसे बहुत से जीव थे फिर हमारा कल्याण क्यों नहीं हुआ?

उसका समाधान करते हैं कि भाई! सत्संग किया ही नहीं तो कल्याण कैसे होगा? सत्संग का अर्थ है सत्य का संग। जिस आत्म स्वरूप का उन्होंने उपदेश दिया जो अनाद्यनिधन सत्य शाश्वत है। उस परमब्रह्म परमात्म स्वरूप निज आत्मा की ओर तो देखा ही नहीं तो सत्संग कहाँ हुआ? तथा सद्गुरु को भी पहिचाना

कब ? क्योंकि-

जो जाणदि अरहंतं, दव्वत्त गुणत्त पज्जयत्तेहि ।

सो जाणदि अप्पाणं, मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥

(प्रवचनसार गाथा-८०)

जो अरिहंत को द्रव्यत्व, गुणत्व, पर्यायत्व से जानता है वह अपनी आत्मा को जानता है और उसका मोह नाश को प्राप्त होता है ।

सत्संग और सद्गुरु का समागम तो तब कहलायेगा जब हम जाग जायें, अपनी ओर दृष्टि हो जाये और संसार से विरक्तता आ जाये उसका नाम सद्गुरु का सत्संग है । हम न जागें अपनी ओर न देखें, जो बताया जा रहा है उसे स्वीकार न करें, तो अनंत काल बीत गया और अनंत काल बीत जायेगा । अनन्त सद्गुरु मिले और चले गये, और चले जायेंगे । बात अपनी है अपनी ओर देखें ।

यथार्थ में तो अपना अन्तरात्मा ही अपना सच्चा सद्गुरु है । जो हमेशा साथ में है उसकी ओर देखें, उसकी सुनें तो अभी बेड़ा पार हो जाये, बाहर पर का तो निमित्त कहने में आता है । सत्य तो स्वयं अपना सत्स्वरूप है । इसका सत्संग करें तो अभी कल्याण हो जाये । बाहर तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने के कारण कहने में आता है तथा जैसा कारण निमित्त होता है वैसा ही कार्य भी होता है यह सब व्यवहार की बातें हैं । हम वर्तमान में जिस दशा, जिस भूमिका में बैठे हैं वहां स्वयं अपने आपको देखें और स्वयं का निर्णय करें यही कार्यकारी है ।

अब यहां पुनः प्रश्न है कि सद्गुरु का स्वरूप तो बता दिया अब कुगुरु का स्वरूप और बताइये; क्योंकि धोखा तो यहीं हो जाता है । अभी हम अज्ञानी हैं, किसी भी प्रलोभन किसी के भी जाल में फंस जाते हैं, यह सब जानने पर कम से कम सतर्क सावधान तो रहेंगे ?

समाधान- जब तक पर पुद्गलादि संसार की तरफ दृष्टि रहेगी तब तक फंसने की तो हमेशा ही संभावना है । सतर्कता सावधानी वरतो तो फिर कहना ही क्या है ? विवेक का जागरण ही मुक्ति का प्रथम सोपान है । इतना जानकर, समझकर इस पर विचार चिन्तन करने लगे क्योंकि सत्य-असत्य का, सच्चे-झूठे का, हित-अहित का निर्णय करना ही मूल्यवान है । यही तो मानवता की निशानी है और इसी से सब कुछ होना है । सम्यक्दर्शन, धर्म, संयम, साधना और मुक्ति सब इसी पर आधारित है ।

सद्गुरु तारण स्वामी अब आगे कुगुरु का स्वरूप बता रहे हैं -

कुगुरुस्य गुरुं प्रोक्तं, मिथ्या रागादि संजुतं ।

कुन्यानं प्रोक्तं लोके, कुलिङ्गी असुह भावना ॥ ७५ ॥

अन्वयार्थ- (मिथ्या रागादि संजुतं) मिथ्यात्व, राग-द्वेष सहित हैं (कुन्यानं प्रोक्तं लोके) संसार में सब लोगों को कुज्ञान का अधर्म का उपदेश देते हैं (कुलिङ्गी असुह भावना) कुलिङ्ग को धारण कर झूठा भेष बनाकर अशुभ भावों में रत रहते हैं (कुगुरुस्य गुरुं प्रोक्तं) ऐसे कुगुरु अपने आपको गुरु कहते हैं ।

विशेषार्थ- यहाँ कुगुरु का स्वरूप बताया जा रहा है कि जो गुरु नहीं है, जिनमें गुरुपना नहीं है, जो मिथ्यात्व और राग-द्वेष में लीन रहते हैं, संसारी जीवों को कुज्ञान और अधर्म की बातें कहते हैं । झूठा भेष बनाकर अशुभ भावों में रत रहते हैं और अपने आपको गुरु बताते हैं, वह सब कुगुरु हैं । उपदेश देने वाले को, धर्म मार्ग पर चलने वालों को संसारी जीव गुरु कहते हैं । लौकिक कामनाओं की सिद्धि के लिये मंत्र-तंत्र आदि पूजा आडम्बर फैलाने वालों को भी लोग गुरु कहते हैं । पर गुरु का वास्तविक स्वरूप क्या है ? गुरु की क्या महिमा है ? संसारी जीव के लिये गुरु कितना महत्वपूर्ण है ? इन बातों का कोई विचार विवेक न करते हुए किसी भी नाम रूप भेषधारी को गुरु मानना, उसकी बातों में लगना, उस पर विश्वास करना सबसे बड़ा धोखा है, जो जीव को संसार में पतन का कारण है । जो अपने आपको गुरु बताते हैं, गुरु कहलवाते हैं, गुरु बनते हैं । अपने ज्ञान की या संयम तप की या अपनी प्रभावना सिद्धि आदि की महंता बताते हैं सबसे बड़े कुगुरु वही हैं; फिर वह चाहे कोई भी भेष रूप धारी हो ।

गुरु का शाब्दिक अर्थ है भारी या बड़ा, जिसमें भारीपन, गम्भीरता हो बड़ापन-बड़प्पन हो, विवेक हो ऐसे सच्चे ज्ञानी को ही गुरु कहते हैं ।

मोक्षमार्ग प्रकाशक में इसी बात को कहा है-

जो जीव विषय-कषायादि अधर्म रूप तो परिणमित होते हैं और मानादिक से अपने को धर्मात्मा मनवाते हैं । धर्मात्मा के योग्य क्रिया नमस्कारादि कराते हैं अथवा किंचित् धर्म का कोई अंग धारण करके बड़े धर्मात्मा कहलाते हैं । बड़े धर्मात्मा योग्य क्रिया कराते हैं । इस प्रकार धर्म का आश्रय करके अपने को बड़ा मनवाते हैं, उन सबको कुगुरु जानना । धर्म पद्धति में तो विषय-कषायादि छूटने पर जैसे धर्म को धारण करे, वैसा ही अपना पद मानना योग्य है ।

कुगुरु कैसे होते हैं इसको और आगे बताते हैं-

कुगुरुं राग संबंधं, मिथ्या दिस्ती च दिस्तिंतं ।

राग दोष मयं मिथ्या, इन्द्री इत्यादि सेवनं ॥ ७६ ॥

मिथ्या समय मिथ्यं च, प्रकृति मिथ्या प्रकासये ।

सुद्ध दिस्ती न जानंते, कुगुरु संग विवर्जितं ॥ ७७ ॥

अन्वयार्थ- (कुगुरुं राग संबंधं) कुगुरु राग के सम्बन्ध से (मिथ्या दिस्ती च दिस्तिंतं) मिथ्यादृष्टि रहते हैं और शरीरादि पर को ही देखते हैं (राग दोष मयं मिथ्या) हमेशा राग-द्वेषमय मिथ्या भावों में लगे रहते हैं (इन्द्री इत्यादि सेवनं) पांचों इन्द्रिय के विषयों के सेवन में रत रहते हैं।

(मिथ्या समय मिथ्यं च) मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व (प्रकृति मिथ्या प्रकासये) तथा प्रकृति मिथ्यात्व का ही पोषण करते हैं (सुद्ध दिस्ती न जानंते) शुद्ध दृष्टि को जानते ही नहीं हैं अर्थात् जिन्हें अपने आत्म स्वरूप की खबर ही नहीं है (कुगुरु संग विवर्जितं) ऐसे कुगुरुओं का संग वर्जित है, नहीं करना चाहिये, दूर से ही छोड़ देना चाहिये।

विशेषार्थ- यहां कुगुरु का स्वरूप बतलाया जा रहा है कि कुगुरु कैसे होते हैं। कुगुरु राग के संबंध से अर्थात् शरीराशक्ति के कारण मिथ्यादृष्टि रहते हैं। शरीरादि पर को ही देखते हैं। शरीर की देखभाल संभाल खाने-पीने में ही लगे रहते हैं अर्थात् नाना प्रकार के व्यंजन पौष्टिक पदार्थ, रस, मलाई आदि खाने के लिये ही लालायित रहते हैं। हमेशा राग-द्वेष मय मिथ्या भावों में लगे रहते हैं। कषाय का वातावरण बैर-विरोध, ईर्ष्या, द्वेष करना-कराना ही जिनका काम रहता है। जो पांचों इन्द्रियों के विषयों के सेवन में ही रत रहते हैं।

ऐसे कुगुरु मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व का ही पोषण करते हैं अर्थात् इन्हीं भावों में स्वयं लगे रहते हैं तथा दूसरों को भी इन्हीं में उलझाये रहते हैं। इनका ही उपदेश देते हैं, जो शुद्धदृष्टि को जानते ही नहीं हैं अर्थात् जिन्हें अपने आत्म स्वरूप की खबर ही नहीं है। जो सम्यक्दर्शन की बात करना, सुनना भी पसंद नहीं करते, व्यर्थ चर्चा में लगे रहते हैं। ऐसे कुगुरुओं का संग वर्जित है अर्थात् ऐसे कुगुरु का संग नहीं करना चाहिये, वैसा योग होवे तो दूर से ही छोड़ देना चाहिये इसी बात को कुन्दकुन्दाचार्य दर्शन पाहुड़ में कहते हैं कि धर्म का मूल

सम्यक्दर्शन है ; इसलिये जो सम्यक्दर्शन से रहित हो उनकी वन्दना नहीं करना चाहिये।

दंसण मूलो धम्मो, उवइड्डो जिणवरेहिं सिस्साणं ।

तं सोऊण सकण्णे, दंसण हीणो ण वंदिच्चो ॥ २ ॥

जिनवर सर्वज्ञ देव ने अपने शिष्यों को उपदेश दिया है कि सम्यक्दर्शन ही धर्म का मूल है। बिना सम्यक्दर्शन अर्थात् निजशुद्धात्मानुभूति के धर्म होता ही नहीं है; इसलिये हे विज्ञ पुरुषो ! दर्शन हीन की वन्दना नहीं करना चाहिये, उनकी वंदना मत करो। क्योंकि-

दंसण भट्टा भट्टा, दंसण भट्टस्स णत्थि णिच्चाणं ।

सिज्झंति चरियभट्टा, दंसण भट्टा ण सिज्झंति ॥ ३ ॥

जो पुरुष दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे भ्रष्ट हैं। जो दर्शन से भ्रष्ट हैं उनको निर्वाण नहीं होता; क्योंकि जो चारित्र से भ्रष्ट हैं वह तो कभी सुलट सकते हैं और मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं, पर जो दर्शन से भ्रष्ट हैं वह कभी नहीं मुक्त हो सकते बगैर सम्यक्दर्शन के यह बाह्य वेष, साधुपद आदि कोई कार्यकारी नहीं है। इसलिये-

सम्मत्त सलिल पवहो, णिच्चं हियए पवट्टए जस्स ।

कम्मं वालुय वरणं, बन्धुच्चिय णासए तस्स ॥ ७ ॥

जिस पुरुष के हृदय में सम्यक्त्व रूपी जल का प्रवाह निरंतर प्रवर्तमान है उसके कर्म रूपी रज का आवरण नहीं लगता तथा पूर्वकाल में जो कर्मबंध हुआ हो वह भी नाश को प्राप्त होता है; इसलिये अपना भला चाहते हैं तो-

जे दंसणेसु भट्टा, णाणे भट्टा चरित्त भट्टा य ।

एदे भट्ट वि भट्टा, सेसंपि जणं विणासंति ॥ ८ ॥

जो दर्शन से भ्रष्ट हैं, ज्ञान से भ्रष्ट हैं, चारित्र से भ्रष्ट हैं वे जीव भ्रष्ट से भी भ्रष्ट हैं। उनका संग मत करो, क्योंकि वह अपना तो अहित आत्म घात कर ही रहे हैं; पर जो जीव उनका उपदेश मानते हैं, संग करते हैं, उनका भी पतन, नाश हो जाता है। इस प्रकार कुगुरु का संग कदापि नहीं करना चाहिये, होवे तो छोड़ देना चाहिये। कुगुरु क्या करते हैं ? इस बात को आगे कहते हैं-

कुगुरुं कुन्यानं प्रोक्तं, सत्यं त्रि दोष संजुतं ।

कसायं बर्धनं नित्यं, लोक मूढस्य मोहितं ॥ ७८ ॥

इन्द्रियानां मनोनाथा, पसरंतं प्रवर्तते ।
 विसयं विषम दिस्टं च, ममतं मिथ्या भूतयं ॥ ७९ ॥
 अनृतं उत्साहं कृत्वा, अभावं असुहं परं ।
 माया अनृत असत्यस्य, कुगुरुं संसार स्थितं ॥ ८० ॥
 आलापं असुहं वाक्यं, आरति रौद्र संजुतं ।
 क्रोध लोभ अनंतानं, कुलिङ्गी कुगुरुं भवेत् ॥ ८१ ॥

अन्वयार्थ- (कुगुरुं कुन्यानं प्रोक्तं) कुगुरु कुज्ञानमयी झूठी-सच्ची अनर्गल बातें कहता है (सत्यं त्रि दोष संजुतं) और तीन शक्तियों-माया, मिथ्या, निदान के दोष सहित होता है (कसायं बर्धनं नित्यं) हमेशा कषाय के वातावरण को ही बढ़ाता रहता है (लोक मूढस्य मोहितं) लोकमूढता में स्वयं मोहित रहता है तथा मूढ लोगों को मोहित करता रहता है अर्थात् इधर-उधर की बातों में भ्रमाता रहता है ।

(इन्द्रियानां मनोनाथा) मन, इन्द्रियों का राजा होता है (पसरंतं प्रवर्तते) वह हमेशा फैलता और दौड़ता रहता है (विसयं विषम दिस्टं च) व्यसन और विषयों को ही देखता है (ममतं मिथ्या भूतयं) ममत्व का मिथ्या भूत लगा रहता है ।

(अनृतं उत्साहं कृत्वा) क्षणभंगुर, नाशवान पौद्गलिक जड़ पदार्थों के बनवाने, करवाने में बड़ा उत्साहित रहता है (अभावं असुहं परं) पर के प्रति हमेशा अशुभ भाव करता रहता है (माया अनृत असत्यस्य) माया-संसारी पदार्थ तो सब नाशवान झूठे हैं लेकिन (कुगुरुं संसार स्थितं) कुगुरु इन्हीं संसारी पदार्थों में लिप्त रहकर संसार में स्थित रहता है ।

(आलापं असुहं वाक्यं) अशुभ झूठे कुबोल बोलता है (आरति रौद्र संजुतं) आर्त, रौद्र ध्यान में लगा रहता है, इन्हीं में लीन रहता है (क्रोध लोभ अनंतानं) अनन्तानुबन्धी क्रोध, लोभ, माया और मान चारों कषायें उसके सिर पर चढ़ी रहती हैं (कुलिङ्गी कुगुरुं भवेत्) ऐसा कुलिङ्गी, झूठा वेषधारी कुगुरु होता है ।

विशेषार्थ- यहाँ कुगुरु कैसे होते हैं, और क्या करते हैं, यह बताया जा रहा है । कुगुरु, धर्म के विपरीत झूठी-सच्ची कुज्ञानमयी बातें कहता है । मिथ्या, माया, निदान इन तीन शक्तियों के दोष सहित होता है । अब क्या होगा ? ऐसा न हो जाये ? ऐसा करो तो ऐसा हो जायेगा । इन्हीं शक्तियों में निरंतर लगा रहता है । लोगों को

लड़ाना, बैर-विरोध पैदा करना, सामाजिक वातावरण को दूषित करना, आपस में मन मुटाव पैदा करना, इधर की उधर लगाना, इन्हीं बातों में लगा लोगों को उलझाता रहता है । स्वयं लोक मूढ़ता में रत रहता है और लोकमूढ़ता का ही पोषण करके लोगों को फंसाता रहता है ।

इन कुगुरुओं का जाल संसार में फैला है । इनका कोई वेष, रूप नहीं होता । जो संसार के गर्त में डालें, संसारी व्यवहार का उपदेश देवें, पाप विषय कषायों में फंसावें वह कुगुरु होते हैं और संसार में इस जीव को इन पांच कुगुरुओं का संग मिला हुआ है, वे हैं- १. माता, २. पिता, ३. पत्नि, ४. मित्रबन्धु, ५. धर्म के गुरु, इनसे जो बचे छूटे और सद्गुरु का सत्संग करे वही मुक्त हो सकता है ।

मन, इन्द्रियों का नाथ होता है, वह हमेशा फैलता और दौड़ता रहता है । व्यसन और विषयों को ही देखता है । कुगुरु मन के आधीन होता है, मन का संचालन माया और मोह के द्वारा होता है । इसको ममता का मिथ्याभूत लगा रहता है इसलिये सबको अपना मानता है । मन वाले प्राणियों के मन ही मुख्य होता है । मन की प्रेरणा से इन्द्रियाँ काम करती हैं । यह मन ऐसा चंचल या अनर्थ काम करने वाला है कि बड़े-बड़े कठिन इन्द्रियों के विषयों की तरफ अपनी दृष्टि डालता है । उनको प्राप्त करने की व उनको भोगने की चाहना किया करता है । यदि इस चंचल घोड़े (मन) पर संयम रूपी लगाम न हो, तब तो यह कहाँ-कहाँ जाता है, क्या-क्या चाहता है, इसकी कोई मर्यादा सीमा नहीं है ।

वृहत् सामायिक पाठ में श्री अमितगति आचार्य मन का चारित्र कहते हैं-

भजसि दिविजयोषा, यासि पाताल भंग ।

भ्रमसि धरणिष्ठं, लिप्स्यसे स्वांत लक्ष्मीम् ॥

अभिलषसि विशुद्धां, व्यापिनी कीर्तिकांतां ।

प्रशम मुख सुखाब्धि, गाहसे त्वं न जातु ॥२८॥

हे मन ! तू देवियों को भोगना चाहता है, कभी पाताल में जाता है, कभी सारी पृथ्वी पर घूमता है, मनमानी लक्ष्मी चाहता है, जगत व्यापिनी निर्मल कीर्ति चाहता है, तू चाह की दाह में ही जला करता है किन्तु सुख शान्तिमय निज आत्म स्वरूप अमृत समुद्र में कभी भी गोता नहीं लगाता है ।

संसारी नाशवान क्षणभंगुर पौद्गलिक पदार्थों को बनवाने, करवाने में बड़ा उत्साहित रहता है । मंदिर, तीर्थ, क्षेत्र, धर्मशाला आदि धर्म के नाम पर पापारम्भ

करता है। पर के प्रति हमेशा अशुभ भाव करता रहता है। किसी का भला विचारता है, किसी का बुरा विचारता है। जो सेवा सत्कार आदि करता है, उसे आशीर्वाद देता है। जो सेवा सत्कार, सम्मान आदि नहीं करता, उसके प्रति अशुभ भाव करता है। माया, संसारी पदार्थ धन, वैभव, पद, प्रतिष्ठा, नाम आदि तो सब नाशवान झूठे हैं, सब मिट जाने वाले हैं लेकिन कुगुरु इन्हीं संसारी प्रपंचों में स्थित लिप्त रहता है।

अशुभ झूठे कुबोल बोलता है। कटुक कठोर अपशब्द बोलता है। आर्त-रौद्र ध्यान में लीन रहता है। उसे निरन्तर आर्त भाव-इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग, पीड़ा चिन्तवन, निदान बंध रूप परिणाम चलते रहते हैं तथा रौद्र भाव-हिंसानंदी, मृषानंदी, चौर्यानंदी, परिग्रहानंदी रूप परिणाम चलते रहते हैं। क्रोध, लोभ, माया, मान रूप चारों कषायों सिर पर चढ़ी रहती हैं, इन्हीं में लिप्त रहता है। ऐसा कुलिंगी, झूठा वेषधारी कुगुरु होता है। इसी बात को भाव पाहुड़ में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है-

अयसाण भायणेण य किं ते णग्गेण पावमलिणेण ।

पेसुण्णहासमच्छरमाया बहुलेण सवणेण ॥६९॥

हे मुने ! तेरे ऐसे नग्नपने से तथा मुनिपने से क्या साध्य है ? कैसा है-पैशून्य अर्थात् दूसरे के दोष कहने का स्वभाव, हास्य अर्थात् दूसरे की हंसी करना, मत्सर अर्थात् अपने बराबर वाले से ईर्ष्या रखकर दूसरे को नीचा करने की बुद्धि, माया अर्थात् कुटिल परिणाम यह भाव उसमें प्रचुरता से पाये जाते हैं, इसीलिये पाप से मलिन है और अयश अर्थात् अपकीर्ति का भाजन है। धर्म की हंसी कराने वाला है। आगे इसी को और कहते हैं-

धम्मम्मि णिप्पवासो दोसा वासो य उच्छुफुल्लसमो ।

णिप्फलणिग्गुणयारो णडसवणो णग्गरुवेण ॥७१॥

धर्म अर्थात् अपना स्वभाव तथा दस लक्षण स्वरूप में जिसका वास नहीं है। वह जीव दोषों का आवास है अथवा जिसमें दोष रहते हैं, वह इक्षु के फूल समान है। जिसमें न तो कुछ फल ही लगते हैं और न उसमें गंधादिक गुण ही पाये जाते हैं; इसलिये ऐसा मुनि तो नग्न रूप धारण करके नटश्रमण अर्थात् नाचने वाले भाँड़ के स्वाँग के समान है। आगे इसी को और कहते हैं-

जे राय संगजुत्ता जिणभावण रहिय दव्वणिगंथा ।

ण लहंति ते समाहिं बोहिं जिणसासणे विमले ॥७२॥

जो मुनि राग अर्थात् अभ्यंतर पर द्रव्यों से प्रीति वही हुआ संग अर्थात् परिग्रह उससे मुक्त हैं और जिन भावना अर्थात् शुद्ध स्वरूप की भावना से रहित हैं, वे द्रव्य निर्ग्रथ हैं, तो भी निर्मल जिन शासन में जो समाधि अर्थात् धर्म शुक्ल ध्यान और बोधि अर्थात् सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र स्वरूप मोक्षमार्ग को नहीं पाते हैं।

ऐसे वेषधारी ही कुगुरु होते हैं जो स्वयं संसार में परिभ्रमण करते हैं तथा अन्य जीवों को भी पतन के कारण होते हैं। इनके संग से कितना अहित होता है, इसको उदाहरण सहित आगे कहते हैं-

कुगुरुं पारधी संजुक्तं, संसारे वन आश्रयं ।

लोक मूढस्य जीवस्य, अधर्मं पासि बंधनं ॥ ८२ ॥

आरंडते वनं जीवा, वृष डाल पारधी करं ।

विस्वासं अहं बंधे, लोक मूढस्य किं पस्यते ॥ ८३ ॥

कुगुरुं अधर्मं पस्यंतो, अदेवं कृत ताडकी ।

विकहा राग दंड जालं, पास विस्वास मूढयं ॥ ८४ ॥

वनं जीवा गणं रुदनं, अहं बंधंति जन्मयं ।

अगुरुं लोक मूढस्य, बंधते जन्म जन्मयं ॥ ८५ ॥

अन्वयार्थ- (कुगुरुं पारधी संजुक्तं) कुगुरु पारधी शिकारी के समान होते हैं (संसारे वन आश्रयं) संसार वन में आश्रय निवास करने वाले (लोक मूढस्य जीवस्य) लोकमूढ़ता वाले जीवों को (अधर्म पासि बंधनं) अधर्म रूपी जाल में फाँसकर बांध लेते हैं।

(आरंडते वनं जीवा) घोर भयानक संसार रूपी वन में जीव (वृष डाल पारधी करं) कुगुरु रूपी पारधी के द्वारा चारों तरफ फैलाये गये अधर्म रूपी जाल में (विस्वासं अहं बंधे) विश्वास करके खुद बंध जाते हैं (लोक मूढस्य किं पस्यते) लोक मूढ़ता वाला जीव कुछ नहीं देखता है।

(कुगुरुं अधर्मं पस्यंतो) कुगुरु अधर्म बताते हैं (अदेवं कृत ताडकी) अदेवों-कुदेवों के भय बताकर जीवों को भयभीत करते हैं (विकहा राग दंड जालं) झूठी कथायें मनगढ़ंत बातें बताकर कि ऐसी मान्यता करने से उसका ऐसा हो गया, उसने ऐसा नहीं माना तो उसका ऐसा अहित हो गया। ऐसे राग का और दंड का

जाल फैलाते हैं (पास विस्वास मूढयं) इनका विश्वास करके मूढ लोग फंस जाते हैं।
(वनं जीवा गणं रुदनं) वन के जीव हिरन आदि जाल में फंसने के बाद रुदन करते हैं (अहं बंधंति जन्मयं) अब हमारी मौत आ गई, हम इस जन्म में नहीं छूट सकते (अगुरुं लोक मूढस्य) अगुरु खोटे गुरु के जाल में फंसे लोकमूढता वाले जीव (बंधते जन्म जन्मयं) जन्म जन्मान्तर के लिये बंध जाते हैं।

विशेषार्थ- कुगुरु का स्वरूप क्या है, उनका संग कितना दुःखदायी होता है यहां इसका उदाहरण दिया जा रहा है कि जैसे- पारधी शिकारी, हिंसक होते हैं। जो नाना वेष बनाये हमेशा अपने साथ जाल और शिकार का सामान लिये रहते हैं तथा चारों तरफ शिकार के लिये नाना प्रकार के जाल फैलाये रहते हैं। वह भी जंगल में और उसके आस-पास ही रहते हैं और हमेशा शिकार की खोज में ही घूमते रहते हैं। इसी प्रकार इन कुगुरुओं की भी एक जमात होती है। इनके साथी अनुयायी भी इस प्रकार संसारी जीवों को अधर्म रूपी जाल में फंसाने के लिये चारों तरफ घूमते रहते हैं। इस भयानक घोर संसार रूपी वन से निकलने के लिये जीव छटपटाते हैं और इन कुगुरुओं के जाल में फंस जाते हैं। यह ऐसा विश्वास दिलाते हैं, इतना छल छिद्र मायाचारी फैलाते हैं कि लोग इनके जाल में फंस जाते हैं ऐसी झूठी कपोल-कल्पित बातें गढ़ते हैं कि अमुक जगह अमुक देव गड़े थे, उनसे स्वप्न दिया। वहाँ ऐसी मूर्ति निकली उसमें ऐसे चमत्कार हैं। उसकी मान्यता करने से फलों का यह हो गया, किसी को धन मिल गया, किसी को पुत्र पैदा हो गया, किसी का रोग दूर हो गया, उसने ऐसी मान्यता की थी तो उसका ऐसा काम हो गया, उसने विराधना की तो उसे ऐसा दंड मिला, पुत्र मर गया, धन चला गया आदि नाना प्रकार के प्रलोभन और भय दिखाकर कुदेव, अदेव आदि की पूजा मान्यता में फंसा लेते हैं। संसारी जीव इनके विश्वास में फंस जाते हैं। जंगल में फंसे हुए हिरन आदि तो एक जन्म के लिये ही रुदन करते हैं परंतु इन कुगुरु, अगुरुओं के जाल में फंसे जीव तो जन्म-जन्मान्तर तक रोते रहते हैं; क्योंकि उनका फिर इस संसार रूपी वन से निकलना मुश्किल हो जाता है।

पारधी के पाल में फंसकर पशुओं को एक जन्म में ही रुदन कर-करके दुःख उठाना पड़ते हैं परन्तु जो कुगुरु रूपी पारधी के जाल में फंस जाते हैं, वे जन्म-जन्म में दुःख उठाते हैं। मूढ प्राणी संसार शरीर भोगों का लोलुपी होते हुए कुगुरु के अधर्ममय उपदेश का और कुगुरु का विश्वास कर लेते हैं। अनेक कुदेवों

को व अदेवों को पूजते हैं, मन में भय रखते हैं कि यदि इनको न मानेंगे तो यह हमसे नाराज होकर हमारा अनिष्ट कर देंगे। इस तरह कुदेव, कुगुरु, कुधर्म को मानते हुए विकथाओं के राग में फंसे रहते हैं।

‘विकथा अधर्म मूलस्य’ विकथा अधर्म की जड़ है, जिसमें मूढ प्राणी फंसे रहते हैं। झूठी-सच्ची कपोल कल्पित मनगढ़न्त इधर-उधर की सुनी सनाई बातें करना, राजकथा, चोरकथा, स्त्रीकथा, भोजन कथा में अपना समय बरबाद करना, कथा कहानी पढ़ना इनसे भय और भ्रम पैदा होता है। यह जीवन को अशान्त उद्विग्न और भयभीत बना देती हैं। इनमें फंसे जीव हमेशा भयभीत रहते हैं। विकथाओं का विश्वास करने से मिथ्यात्व का पोषण होता है, घोर पाप बन्ध होता है, जिससे मरकर दुर्गति में जाना पड़ता है। कुगुरुओं के जाल में फंसा जीव इसी प्रकार के नाना कष्ट भोगता दुर्गतियों में रूलता रहता है, यहाँ भी नाना प्रकार के दुःख भोगता है, हमेशा चिन्तित भयभीत रहता है और आगे क्या होता है ? वह आगे कहते हैं-

अगुरस्य गुरुं मान्ये, मूढ दिष्टि च संगता ।

ते नरा नरयं जांति, सुद्ध दिष्टी कदाचना ॥ ८६ ॥

अनृतं अचेतं प्रोक्तं, जिन द्रोही वचन लोपनं ।

विस्वासं मूढ जीवस्य, निगोयं जायते ध्रुवं ॥ ८७ ॥

अन्वयार्थ- (अगुरस्य गुरुं मान्ये) कुगुरुओं को गुरु मानने वाले (मूढ दिष्टि च संगता) और मूढ मिथ्यादृष्टियों की संगति करने वाले (ते नरा नरयं जांति) जो मनुष्य हैं वह नरक ही जाते हैं (सुद्ध दिष्टी कदाचना) उन्हें कभी भी सम्यक्दर्शन आत्म श्रद्धान नहीं होता।

(अनृतं अचेतं प्रोक्तं) जो अचेतन अर्थात् मूर्ति आदि की पूजा उपासना करने और बाह्य क्रिया करने को धर्म कहते हैं, उपदेश देते हैं (जिन द्रोही वचन लोपनं) वह जिनद्रोही जिनेन्द्र के वचनों का लोपन करने वाले हैं (विस्वासं मूढ जीवस्य) ऐसे मूढ जीवों का विश्वास करने से (निगोयं जायते ध्रुवं) निश्चय ही निगोद जाना पड़ता है।

विशेषार्थ- यहाँ कुगुरु की मान्यता संगति करने का क्या परिणाम होता है, यह बताया जा रहा है। जो ऐसे कुगुरुओं को, जो पारधी जैसे हैं, गुरु मानते हैं। ऐसे

मूढ़ मिथ्यादृष्टियों की संगति करते हैं, वे जीव नरक जाते हैं। उन्हें शुद्धदृष्टि आत्म श्रद्धान नहीं होता तथा जो अचेतन मूर्ति आदि की पूजा वन्दना भक्ति करने और बाह्य क्रिया करने को धर्म कहते हैं, वे जिनद्रोही जिनेन्द्र के वचनों का लोप करने वाले हैं; क्योंकि जिनेन्द्र परमात्मा ने तो शुद्धात्म स्वरूप को धर्म कहा है—

एगो मे सासदो अप्पा, णाण दंसण लक्खणो ।

सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोग लक्खणा ॥

॥ नियमसार गाथा-१०२ ॥

निश्चय कर मेरा आत्मा एक अविनाशी है, ज्ञान दर्शन लक्षण का धारी है। मेरे आत्मीक भाव के सिवाय अन्य सर्व भाव मुझसे बाहर हैं तथा सर्व ही भाव संयोग लक्षण हैं। इसके अतिरिक्त—

अरहंत सिद्ध चेदिय, पवयण गणणाण भत्ति संपण्णो ।

बंधदि पुण्णं बहुसो, णहु सो कम्मक्खयं कुणदि ॥

॥ पंचास्तिकाय - १६६ ॥

देव शास्त्र गुरु धर्म में, करता भक्ति महान ।

पुण्य बंध बहुविधि करे, नहीं कर्म क्षय जान ॥

तो जो धर्म के वास्तविक स्वरूप का लोप करते हैं, ऐसे मूढ़ जीवों का विश्वास करने से निश्चित ही निगोद में जाना पड़ता है। जिनेन्द्र भगवान ने जैसा अनेकान्त स्वरूप वस्तु को बताया है, शुद्धोपयोग को धर्म बताया है। संसार शरीर भोगों से वैराग्य सिखाया है। अहिंसा पालने को मुख्य कर्तव्य बताया है। वीतरागता ही इष्ट हितकारी है इत्यादि श्री जिन का जो उपदेश है, उस उपदेश का लोप करके जैन गुरु नाम धराकर जो ऐसे विपरीत, राग-द्वेष वर्धक, मिथ्यात्व पोषक उपदेश देना श्री जिनेन्द्र भगवान के साथ मानो द्रोह करना है, उनकी विराधना करना है। ऐसे मूढ़ कुगुरुओं के कथन पर जो विश्वास करते हैं उनके अनुसार चलते हैं, वे जीव नरक निगोद जाते हैं। वहाँ से निकलना बहुत दुर्लभ होता है। मकान, मठ, खेत, बाग आदि रखते हुए उनकी व्यवस्था और संभाल करते हुए तथा गद्दी तकिये पर शयन करते हुए राग वर्द्धक कथा वार्तालाप करते हुए पालकी आदि पर चढ़कर चलते हुए भी अपने को दिगम्बर जैन का गुरु मानकर लोगों से उसी समान भक्ति पूजा वन्दना करवाना, अपने को आचार्य समझना, अपने आडंबर के लिये लोगों को धर्म के नाम पर लूटना, धन पैसा इकट्ठा करना, खान-पान में मनमानी करना आदि क्रियायें श्री जिन वचनों का उल्लंघन करने वाली हैं।

जिनवाणी में परिग्रह को पाप कहा है। आरम्भ-परिग्रह रहित परम वैराग्यवान, इन्द्रिय विजयी, शुद्धात्म रमी को जिन साधु कहा है। जो अपने को जैन साधु मानकर जिन आज्ञा लोप कर विपरीत कहते, मानते व चलते हैं, भक्तों को भी यही विश्वास कराते हैं ऐसे जिन द्रोही, मिथ्यावादी कुगुरु पाषाण की नौका के समान स्वयं भी भव सागर में डूबते हैं, नरक निगोद जाते हैं तथा जो इनका विश्वास करते हैं, वह जीव भी भव संसार में डूबते, नरक निगोद जाते हैं; इसलिये ऐसे कुगुरुओं को नहीं मानना चाहिये। किसी भी लाज, भय, आशा, स्नेह, व्यवहारिकता से मानना दुर्गति का कारण है, इसी बात को आगे कहते हैं—

दर्सन भृष्ट गुरुस्चैव, अदर्सनं प्रोक्तं सदा ।

मानते मिथ्या दिस्ती च, न मानते सुद्ध दिस्तिंतं ॥ ८८ ॥

कुगुरुं संगते जेन, मानते भय लाजयं ।

आसा स्नेह लोभं च, मानते दुर्गति भाजनं ॥ ८९ ॥

कुगुरुं प्रोक्तं जेन, वचनं तस्य विस्वासतं ।

विस्वासं जेन कर्तव्यं, ते नरा दुष भाजनं ॥ ९० ॥

अन्वयार्थ- (दर्सन भृष्ट गुरुस्चैव) सम्यक्दर्शन से भ्रष्ट गुरु को ही (अदर्सनं प्रोक्तं सदा) हमेशा मिथ्यादृष्टि कहा है (मानते मिथ्या दिस्ती च) ऐसे मिथ्यादृष्टि कुगुरुओं को मिथ्यादृष्टि ही मानते हैं (न मानते सुद्ध दिस्तिंतं) सम्यक्दृष्टि कभी नहीं मानते।

(कुगुरुं संगते जेन) जो जीव कुगुरु की संगति करते हैं (मानते भय लाजयं) तथा किसी लाज या भय से मानते हैं (आसा स्नेह लोभं च) अथवा किसी आशा स्नेह लोभ के वशीभूत होकर मानते हैं (मानते दुर्गति भाजनं) वे मनुष्य दुर्गति के पात्र होते हैं अर्थात् दुर्गतियों में रुलते रहते हैं।

(कुगुरुं प्रोक्तं जेन) जो जीव, कुगुरुओं ने जो कहा है (वचनं तस्य विस्वासतं) उनके वचनों पर विश्वास करते हैं (विस्वासं जेन कर्तव्यं) उसका विश्वास करना अपना कर्तव्य मानते हैं (ते नरा दुष भाजनं) वे मनुष्य दुर्गति के पात्र बनते हैं अर्थात् दुर्गति में जाते हैं।

विशेषार्थ- जो जिन आज्ञा का उल्लंघन करके, और का और जाने, माने तथा उपदेश करे अर्थात् अचेतन अदेवादि की पूजा उपासना व बाह्य क्रिया को धर्म

कहे, उसका जिन वचनों पर श्रद्धान न होने से वह व्यवहार से भी रहित है। निश्चय सम्यक्दर्शन तो उसके पास हो ही नहीं सकता। ऐसे कुगुरु सदा ही मिथ्यादर्शन से लिप्त रहते हैं। उनको जिन वचनों का भय नहीं रहता वे मनमानी करते और स्वच्छन्दता वरतते हैं। सम्यक्दर्शन से रहित भ्रष्ट गुरुओं को मिथ्यादृष्टि ही मानते हैं, सम्यक्दृष्टि कभी नहीं मानते। जो जीव कुगुरुओं की संगति करते हैं तथा किसी लाज या भय से मानते हैं अथवा किसी आशा, स्नेह, लोभ के वशीभूत होकर मानते हैं, वे मनुष्य दुर्गति के पात्र होते हैं अर्थात् दुर्गतियों में ही रूलते हैं। इसी बात को रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है—

भयाशा स्नेह लोभाच्च , कुदेवागम लिंगिनाम् ।

प्रणामं विनयं चैव, न कुर्यु शुद्ध दृष्टयः ॥ ३० ॥

सम्यक्दृष्टि किसी भी भय, आशा, स्नेह, लोभ से कभी भी किसी कुदेव, कुशास्त्र व कुगुरु को प्रणाम, विनय नहीं करता। जिन कुगुरुओं का स्वरूप ऊपर कहा गया है, वे सब मोक्षमार्ग के सच्चे स्वरूप के न स्वयं श्रद्धावान हैं और न उसको यथार्थ कहते हैं; किन्तु एकांत, विपरीत, विनय, संशय, अज्ञान रूप कुनय मिथ्यात्व के पोषक उनके वचन होते हैं। वे वचन विश्वास करने योग्य नहीं हैं। जो कोई मूढ़ मनुष्य कुगुरु को कुगुरु जानते— मानते हुए भी किसी के भय से कोई लाज से, या किसी आशा से व किसी के स्नेहवश या लोभ के कारण उनकी भक्ति करते हैं, उनको मानते हैं, उनकी संगति करते हैं या उनके वचनों पर विश्वास करते हैं, वे मानव मिथ्यात्व की पुष्टि या अनुमोदना के दोषी होते हुए, घोर पाप बांधकर नरक निगोद पशुगति आदि में जाकर कष्ट पाते हैं। जो जीव कुगुरुओं ने जो कहा है उनके वचनों पर विश्वास करते हैं। उनका विश्वास करके उनके कथनानुसार अपना कर्तव्य मानते हैं, वे मनुष्य दुर्गति के पात्र बनते हैं, क्योंकि कुगुरु बाह्य क्रियाकांड पूजादि या बाह्य आचरण, खान-पान, रहन-सहन को ही धर्म बताते हैं। साम्प्रदायिक द्वेष फैलाते हैं। जाति-पांति का विरोध और आपस में मन मुटाव तथा मनुष्यों में धर्म के नाम पर भेदभाव पैदा करते हैं। राग-द्वेष का वातावरण बनाते रहते हैं। जो इनकी बातों में लगते हैं, इनके कथनानुसार आचरण करते हैं, वह वर्तमान में भी भयभीत अशान्त रहते हैं और भविष्य में दुर्गति में जाते हैं।

सामान्यतः साधु को ही गुरु कहते हैं और मानते हैं। इनमें कुवेषधारी जटाजूट, लाल, पीले वस्त्रधारी आदि तो प्रत्यक्ष ही असाधु, कुगुरु हैं पर जो जिनलिंग धारण

करके वीतराग मार्ग के पथिक बनते हैं बाह्य में नग्न दिगम्बर रहते हैं; पर मिथ्यात्व और विपरीत आचरण होने से वह भी कुगुरु हैं। जो कुदेवादि की मान्यता पूजादि को धर्म कहते हैं। यंत्र-तंत्र, गण्डा, ताबीज आदि देते हैं, बताते हैं। धनादि संग्रह करते हैं, साम्प्रदायिक द्वेष फैलाते हैं वे सब कुगुरु हैं। इसी बात को अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार कलश में कहा है—

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बंधो न मे स्या ।

दित्युत्तानोत्पुलक वदना रागिणोऽप्या चरन्तु ॥

आलम्बन्तां समिति परतां ते यतोऽद्यापि पापा ।

आत्मानात्मावगम विरहात्सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः ॥ १३७ ॥

जो रागी होते हुए भी ऐसा माने कि मैं तो सम्यक्दृष्टि हूँ, मुझे तो कभी बंध हो ही नहीं सकता और घमण्ड में रहे, चाहे जैसा आचरण करे अथवा बाहर से ईर्ष्या आदि पांच समिति को भी पाले तो भी वह पापी ही है। सम्यक्त्व से खाली है, क्योंकि उसको आत्मा-अनात्मा का सम्यक् भेदज्ञान नहीं हुआ है।

मोक्षमार्गी स्वाद्धादी होता है। जो ज्ञान और क्रिया दोनों के साथ यथासम्भव मैत्री, समन्वय रखता हुआ चलता है।

स्याद्वाद कौशल सुनिश्चल संयमाभ्यां,

यो भावयत्य हरहः स्वमिहोप युक्तः ।

ज्ञान क्रियानय परस्पर तीव्र मैत्री,

पात्रीकृतः श्रयति भूमि मिमांस एकः ॥ २६७ ॥

जो स्याद्वाद में चतुर है व संयम में निश्चल है और उपयोगवान होकर निरन्तर आत्मा की भावना करता है, वह ज्ञान दृष्टि और क्रियादृष्टि इनमें परस्पर मैत्री रखता हुआ इस मोक्षमार्ग की भूमि को आश्रय करने वाला है।

इसी बात को श्री तारण स्वामी ने पंडित पूजा की ३२ वीं गाथा में कहा है—

एतत् संमिक्त पूजस्या, पूजा पूज्य समाचरेत ।

मुक्ति श्रियं पथं सुद्धं, विवहार निश्चय सास्वतं ॥ ३२ ॥

सच्ची पूजा क्या है ? सच्ची पूजा वह है जहाँ पूज्य के समान पूजक का आचरण हो। मुक्ति का मार्ग क्या है ? मुक्ति का श्रेष्ठ मार्ग वह है जो शुद्ध व्यवहार और निश्चय से शाश्वत है, जहाँ दोनों की परस्पर मैत्री है। यही बात पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में कहते हैं—

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।

येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २१२ ॥

जितने अंश परिणामों में सम्यक्दर्शन है, उतने अंश में बंध नहीं होता है । जितने अंश रागभाव है, उतने अंश बंध होता है । इस बात को सम्यक्त्वी भले प्रकार जानता है, उसी प्रकार आचरण करता है, रागादि के निमित्तों से बचता है । वीतरागमय रहने का पुरुषार्थ करता है । जो स्वयं ऐसा है, ऐसा रहे, ऐसा कहे-वही सच्चा गुरु है । इसके विपरीत सब कुगुरु हैं । मूढ़ लोग ऐसे कुगुरु को गुरु मानकर ठगाये जाते हैं । सम्यक्दृष्टि कभी भी कुगुरुओं को गुरु नहीं मानते ।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि ठीक है कुगुरु की मान्यता वन्दना भक्ति नहीं करना चाहिये, उनकी बात नहीं मानना चाहिये, उनकी बातों का विश्वास नहीं करना चाहिये, परन्तु अभी हम गृहस्थ, संसारी व्यवहार में बैठे हैं तो लौकिक व्यवहार में नमस्कार आदि करना चाहिये या नहीं ? तथा आहारदान आदि देना चाहिये या नहीं ?

उसका समाधान करते हैं कि लौकिक व्यवहार धार्मिक व्यवहार से भिन्न है । धार्मिक व्यवहार में सम्यक्त्वी धर्म पद्धति से व्यवहार करेगा; परन्तु लौकिक व्यवहार में लौकिक रीति से व्यवहार करेगा । लौकिक व्यवहार को लौकिक मानते हुए व लोक में प्रचलित लौकिक विनय करते हुए सम्यक्त्वी को श्रद्धान में कोई दोष नहीं आता । जैसे- राजा, हाकिम, अपने से बड़े सेठ आदि के पास जाते हुए या किसी त्यागी, साधु आदि को देखकर यथा योग्य विनय नमस्कार आदि करना, यह तो व्यवहार विनय है । इससे लौकिक व्यवहार भी ठीक रहता है तथा विनम्रता आती है । लौकिक विनय करने से धार्मिक श्रद्धान में बाधा नहीं आती । व्यवहार में कटुता और द्वेष न फैले, इसकी संभाल सम्यक्त्वी रखता है । परस्पर प्रेम, मैत्री, सद्भावना विनय जो लोक प्रसिद्ध है, उसके करने से सबसे प्रेम मैत्री रहती है और सबको सुखदाई हितकारी होती है । जहाँ धर्म की दृष्टि से कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र व कुधर्म की विनय का भाव आयेगा उसको वह नहीं करेगा । किसी भय, आशा, स्नेह, लाज, लोभ वश भी विनय नहीं करेगा । इतनी दृढ़ता और विवेक आवश्यक है ।

गृहस्थ श्रावक को आहारदान आदि तो निरन्तर ही देना चाहिये परन्तु पात्र, कुपात्र, अपात्र की पहिचान कर लेना चाहिये । किसी भूखे को, असहाय को, वह किसी भी जाति, सम्प्रदाय का हो करुणा पूर्वक आहारदान आदि देना पुण्य बन्ध का कारण, गृहस्थ का कर्तव्य है; परन्तु जो कुगुरु हैं जो जाल फैलाते हैं, कुदेवादि

की मान्यता पूजा दर्शन आदि की बात करते हैं, नियम कराते हैं । या किसी लौकिक मूढ़ता में फंसाते हैं । उनके जाल में फंसना कुदेव अदेव आदि की पूजा, मान्यता, दर्शन आदि का नियम लेना और गुरु मानकर आहारदान आदि देना घोर मिथ्यात्व के बंध और नरक निगोद जाने का कारण हैं; क्योंकि कुदेव अदेवादि की पूजा मान्यता ग्रहीत मिथ्यात्व है । ढोंगी साधु भ्रष्ट आचरण करने वाले को दानादि देना पापबंध का कारण है; इसलिये बड़े विवेक से काम करना चाहिये, जिसमें अपनी श्रद्धा विचलित न हो, किसी कुमार्ग में न फंस जायें । लौकिक प्रलोभन आत्मा का घात करने वाला है क्योंकि कुगुरु-कुधर्म, अधर्म का पोषण करने वाले होते हैं । जो इनकी बातों में लगते हैं, इनकी आराधना भक्ति करते हैं, वह संसार में रुलते नाना दुःख भोगते हैं । इसी बात को आगे गाथा में कहते हैं-

कुगुरुं ग्रंथ संजुक्तं, कुधर्मं प्रोक्तं सदा ।

असत्य सहितो हिंसा, उत्साहं तस्य क्रीयते ॥ ११ ॥

ते धर्म कुमति मिथ्यातं, अन्यानं राग बंधनं ।

आराध्यं जेन केनापि , संसारे दुष कारनं ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ- (कुगुरुं ग्रंथ संजुक्तं) कुगुरु बन्धन सहित होते हैं अर्थात् चौबीस प्रकार के परिग्रह में बंधे होते हैं (कुधर्मं प्रोक्तं सदा) वे हमेशा कुधर्म की ही चर्चा करते हैं, उसी में रत रहते हैं (असत्य सहितो हिंसा) हिंसा, झूठ आदि सहित होते हैं (उत्साहं तस्य क्रीयते) और उत्साह पूर्वक यही सब करते रहते हैं ।

(ते धर्म कुमति मिथ्यातं) वे कुमति मिथ्यात्व आदि को ही धर्म कहते हैं तथा इसी को धर्म मानते हैं (अन्यानं राग बंधनं) अज्ञान और राग के बन्धन में बंधे रहते हैं (आराध्यं जेन केनापि) जो कोई भी ऐसे कुगुरुओं की, कुधर्म की आराधना करता है या करेगा (संसारे दुष कारनं) वह संसार में दुःख भोगेगा और दुर्गतियों में जायेगा ।

विशेषार्थ- जो परिग्रहधारी कुगुरु हैं वह हमेशा कुधर्म को ही धर्म कहते हैं । परिग्रह चौबीस प्रकार का होता है- दस बाह्य का और चौदह अन्तरंग का ।

दस बाह्य परिग्रह- क्षेत्र (तीर्थ, मन्दिर, मठ, जमीन आदि), मकान, चांदी, सोना, धन, धान्य, दासी, दास, वस्त्र और बर्तन ।

चौदह अंतरंग परिग्रह- मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद ।

इस प्रकार चौबीस प्रकार के परिग्रह में लिप्त साधु कुगुरु होते हैं। वह हमेशा हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह रूप पांचों पापों में लगे रहते हैं यही कुधर्म कहा है और इसमें वह बड़े उत्साह पूर्वक लगे रहते हैं और इसी को धर्म कहते हैं। तीर्थ, मन्दिर, मठ आदि बनवाना, जमीन-जायदाद आदि परिग्रह इकट्ठा करना, धर्म के नाम पर धन जोड़ना, पुण्य को धर्म कहना। भगवान्, परमात्मा, गुरु आदि का नाम लेकर समाज को गुमराह करना, धर्म से विमुख करना और अपनी मनमानी चलाना, कुमति मिथ्यात्व, अज्ञान, रागादि को धर्म कहना और लौकिक व्यवहार मूढ़ मान्यताओं में बंधे रहना तथा इन्हीं बन्धनों में और सबको बांधना, फंसाना यही इनका काम है। जो कोई भी जीव ऐसे कुगुरुओं की आराधना, वन्दना, भक्ति करता है, वह कुधर्म के जाल में फंसकर संसार में नाना प्रकार के दुःख भोगता है और दुर्गति में जाता है।

कुगुरु स्वयं तो संसार में रूलता और नरक निगोद आदि दुर्गतियों में जाता है परंतु जो जीव इनकी आराधना, वन्दना भक्ति करते हैं, इनकी संगति करते हैं, इनकी बात पर विश्वास करते हैं, वह भी संसार में रूलते दुर्गति जाते हैं।

हिंसा का परिणाम आचार्य कुन्दकुन्द भावपाहुड में कहते हैं-

पाणिवहेहि महाजस चउरासी लख जोणि मज्झमि ।

उप्पजंत मरंतो पत्तोसि णिरंतरं दुक्खं ॥ १३५ ॥

जिनमत के उपदेश के बिना जीवों की हिंसा से यह जीव चौरासी लाख योनियों में उत्पन्न होता है और मरता है। हिंसा से कर्म बन्ध होता है। कर्म बन्ध के उदय से उत्पत्ति मरण रूप संसार होता है। इस प्रकार जन्म-मरण के दुःख सहता है।

मिथ्यात्व सहित साधु दुर्गति जाता है-

कुच्छिय धम्ममि रओ कुच्छिय पासंडि भत्ति संजुत्तो ।

कुच्छिय तवं कुणंतो कुच्छिय गइभायणो होइ ॥ १४० ॥

जो कुत्सित अर्थात् निंद्य मिथ्याधर्म में रत है, जो पाखंडी निंद्य भेषियों की भक्ति संयुक्त है। जो निंद्य मिथ्याधर्म पालता है, मिथ्यादृष्टियों की भक्ति करता है और मिथ्या अज्ञान तप करता है, वह दुर्गति ही पाता है।

ते च्चिय भणामि हं जे सयल कलासील संजम गुणेहिं ।

बहुदोसाणावासो सुमलिण चित्तो ण सावयसमो सो ॥ १५५ ॥

जो सम्यक्दृष्टि हैं, शील (उत्तर गुण) और संयम (मूलगुण) सहित हैं वह मुनि हैं। जो मिथ्यादृष्टि है अर्थात् जिसका चित्त मिथ्यात्व से मलिन है और जिसमें

क्रोधादि विकार रूप बहुत दोष पाये जाते हैं, वह तो मुनि का वेष धारण करता है, तो भी श्रावक के समान नहीं है। श्रावक सम्यक्दृष्टि हो और गृहस्थाचार के पाप सहित हो तो भी उसके बराबर वह केवल वेषधारी साधु-मुनि नहीं है।

जे धीर वीर पुरिसा खमदम खग्गेण विप्फुरंतेण ।

दुज्जयपबल बलुद्धरकसायभड णिज्जिया जेहिं ॥ १५६ ॥

युद्ध में जीतने वाले शूरवीर तो लोक में बहुत हैं; परन्तु कषायों को जीतने वाले विरले हैं। वे मुनि श्रेष्ठ हैं और वे ही शूरवीरों में प्रधान हैं, जो सम्यक्दृष्टि होकर, कषायों को जीतकर, चारित्रवान् होते हैं वे ही मोक्ष पाते हैं।

कुगुरु अधर्म को धर्म कहता है, अज्ञान को ज्ञान कहता है। अचेतन अदेवादि की वन्दना करता है। शरीर की क्रिया को धर्म कहता है। यह सब संसार के ही कारण अधर्म हैं। इसी बात को आगे कहते हैं-

अधर्मं धर्मं प्रोक्तं च, अन्यानं न्यान उच्यते ।

अचेतं असास्वतं वंदे, अधर्मं संसार भाजनं ॥ १३ ॥

कुगुरुं अधर्मं प्रोक्तं च, कुलिंगी अधर्मं संचितं ।

मानते अभव्य जीवस्य, संसारे दुष कारनं ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ- (अधर्मं धर्मं प्रोक्तं च) अधर्म, जो धर्म है ही नहीं उसे धर्म बताता है (अन्यानं न्यान उच्यते) अज्ञान को ज्ञान कहता है (अचेतं असास्वतं वंदे) अचेतन और अशाश्वत की वंदना करता है (अधर्मं संसार भाजनं) यह सब अधर्म संसार का ही पात्र बनाता है।

(कुगुरुं अधर्मं प्रोक्तं च) कुगुरु अधर्म की ही चर्चा करता है, अधर्म को ही धर्म कहता है (कुलिंगी अधर्मं संचितं) कुलिंगी अधर्म को ही संचित करता अर्थात् अधर्म का ही पालन करता है (मानते अभव्य जीवस्य) अभव्य जीव ही इनकी मान्यता श्रद्धान् करते हैं (संसारे दुष कारनं) यह संसार में रूलाने वाले दुःख के कारण हैं।

विशेषार्थ- यहाँ बहिरात्मा के स्वरूप का वर्णन चल रहा है कि बहिरात्मा संसाराशक्त शरीरादि संयोगों को चाहने वाला कुदेवादि की मान्यता पूजा करता है तथा कुगुरुओं के जाल में फंसकर संसार में चारगति चौरासी लाख योनियों के जन्म-मरण का दुःख भोगता है। कुगुरु कैसे होते हैं यहाँ उनका स्वरूप बताया

जा रहा है। कुगुरु अधर्म को धर्म बताता है। हिंसादि पाप हैं और वह हिंसा की क्रिया को धर्म कहता है। परिग्रह भी पाप है, वह आरंभ परिग्रह को धर्म बताता है, अदेव कुदेवादि की पूजा भक्ति को धर्म बताता है, बाह्य शुभाचरण संयम तप को धर्म कहता है। पाप और पुण्य दोनों कर्म हैं, कर्म को ही धर्म बताना यही तो अधर्म है। धर्म तो एकमात्र अपना चेतन लक्षण शुद्ध स्वभावी आत्मा ही है। इसकी साधना आराधना ही धर्म की साधना आराधना है, इसके विपरीत जो कुछ भी है वह तो कर्म, अधर्म ही है।

अज्ञान को ज्ञान कहता है, जो जैसा है नहीं उसे वैसा जानना ही अज्ञान है। संसार में सुख है ही नहीं, संसार अनादि अनन्त होते हुए भी क्षणभंगुर नाशवान, परिणामनशील है, इसमें सब वस्तुयें अनित्य हैं, संसार को सुखरूप मानना, जो अपना है ही नहीं उसे अपना मानना यही तो अज्ञान है। मैं एक अखण्ड अविनाशी चेतनतत्त्व ज्ञानानंद स्वभावी भगवान् आत्मा हूँ, यह शरीरादि में नहीं यह मेरे नहीं, ऐसा जानना मानना ही सम्यक्ज्ञान है, इसके विपरीत जो कुछ है वह सब अज्ञान है।

इसी बात को अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार कलश में कहा है—

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम् ।

परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ॥ ६२ ॥

आत्मा ज्ञान स्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है, वह ज्ञान के अतिरिक्त अन्य क्या करे ? आत्मा परभाव का कर्ता है, ऐसा मानना तथा कहना सो व्यवहारी जीवों का मोह अज्ञान है।

इसी बात को कुन्दकुन्दाचार्य समयसार में कहते हैं—

व्यवहारेण दु आदा करेदि घडपडरथाणि दव्याणि ।

करणाणि य कम्माणि य णो कम्माणीह विविहाणि ॥ ९८ ॥

व्यवहार से अर्थात् व्यवहारी जन मानते हैं कि जगत में आत्मा घट, पट, रथ इत्यादि वस्तुओं को और इंद्रियों को अनेक प्रकार के क्रोधादि तथा द्रव्य कर्मों को और शरीरादि नो कर्मों को करता है, ऐसी मान्यता ही व्यामोह भ्रांति अथवा अज्ञान है।

अज्ञानी जीव कैसे होते हैं वह कहते हैं—

अज्ञानात्मृग तृष्णिकां जलधिया धावन्ति पातुं मृगाः,

अज्ञानात्तमसि द्रवन्ति भुजगाध्यासेन रज्जौ जनाः ।

**अज्ञानाच्च विकल्प चक्र करणाद्वातोत्तरंगाब्धिवत्,
शुद्ध ज्ञानमया अपि स्वयममी कर्त्री भवन्त्याकुलाः ॥**

॥ समयसार कलश ५८ ॥

अज्ञान के कारण मृग मरीचिका में जल की बुद्धि होने से हिरण उसे पीने को दौड़ते हैं, अज्ञान के कारण ही अन्धकार में पड़ी हुई रस्सी में सर्प का अध्यास होने से लोग भय से भागते हैं। इसी प्रकार अज्ञान के कारण यह जीव पवन से तरंगित समुद्र की भांति विकल्पों के समूह को करने से, यद्यपि वे स्वयं शुद्ध ज्ञानमय हैं तथापि आकुलित होते हुए अपने आप कर्ता होते हैं। इसी प्रकार कुगुरु स्वयं अज्ञानी हैं अर्थात् उन्हें सत्य वस्तु स्वरूप का ज्ञान ही नहीं है, वह स्वयं अज्ञानमय हैं इसीलिये वह अनित्य और असत्य वस्तु को नित्य और सत्य कहते हैं, एकांत पक्ष का समर्थन करते हैं। अचेतन अदेवादि की वन्दना भक्ति करते हैं अशाश्वत, नाशवान् शरीरादि की क्रिया, बाह्य वेष, बाह्य आचरण को वन्दनीय इष्ट मानते हैं, यह सब अधर्म में रत होने के कारण संसार को बढ़ाने वाला है।

कुगुरु अधर्म को धर्म कहता है, कुलिंगी अधर्म में ही रत रहता है। यहाँ बहुत महत्वपूर्ण बात समझने की है कि कुगुरु अधर्म को धर्म कहता है। कैसा होता है ? क्या करता है ? यह वर्णन तो सब पूर्व में आ गया है। यहाँ विशेष बात जो समझने की है वह यह है कि कुलिंगी अधर्म में ही रत रहता है। अब यहाँ कुगुरु और कुलिंगी में क्या भेद है यह समझना है।

गुरु— जो कुछ सिखाता है, बताता है, उपदेश देता है उसे गुरु कहते हैं। जो सम्यक्ज्ञानी होता है जिसे वस्तु स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है, जिसे सत्य का निज शुद्धात्मा, परमात्मा का दर्शन अनुभूति हो गई है वही सद्गुरु है। शेष जो भी हैं वे सब कुगुरु ही हैं, क्योंकि जिसे स्वयं बोध नहीं है, वह पर को क्या बोध कराये, वैसे सामान्यतः साधु को ही गुरु कहते हैं। इसमें जाति सम्प्रदाय की अपेक्षा नाना वेषधारी साधु होते हैं। कोई नग्न दिगम्बर मुनि होते हैं, कोई सफेद वस्त्रधारी साधु मुनि होते हैं। कोई भगवा वस्त्रधारी जटाधारी नाना वेष के होते हैं।

ज्ञानी सद्गुरु— किसी जाति सम्प्रदाय वेष से बंधा नहीं होता, वह अपनी स्थिति परिस्थिति के अनुसार रहता है। ज्ञानी का जीवन प्रामाणिक होता है, उसकी कथनी—करनी एक होती है। जैसी पात्रता होती है उस रूप उसका आचरण होता है, वैसा ही कथन करता है। उसे लौकिक प्रभावना जनरंजन राग नहीं होता, वह

करुणा बुद्धि से जीवों को सही धर्म का स्वरूप बताता है और सम्यक् आचरण करने की प्रेरणा देता है।

कुगुरु- इसके विपरीत कुगुरु होता है। जिसका पूर्व में वर्णन आ ही चुका है। लौकिक प्रभावना जनरंजन धन संग्रह आदि कार्य धर्म के नाम पर कुगुरु ही करते हैं। कुलिंगी धार्मिक आचरण करने, धर्म मार्ग पर चलने के लिये जो कोई भी रूप वेष बनाता है। नग्न रहे, वस्त्र पहने, जटा जूट रखे, परन्तु जो धर्म के विपरीत आचरण करता है, अधर्म में रत रहता है, वह कुलिंगी है; तथा जो सच्चा ज्ञानी है, धर्म का यथार्थ स्वरूप समझता है और सम्यक् आचरण करता है, वह सुलिंगी है; क्योंकि धर्म मार्ग पर चलने के लिये संसारी प्रपंच माया, मोह, पाप, परिग्रह से छूटने के लिये बाह्य में संयम, नियम, त्याग, वैराग्य आदि तो करना ही पड़ते हैं क्योंकि द्रव्य संयम होने पर ही भाव संयम होता है; इसीलिये त्याग वैराग्य मय जीवन आवश्यक है और उसमें बाह्य वेष का परिवर्तन भी आवश्यक है। बगैर साधु त्यागी हुए धर्म मार्ग पर चल भी नहीं सकते। अब इसमें जो सच्चा होता है, वह सुलिंगी मोक्षमार्गी है, जो झूठा है वह संसारी है और धार्मिक वेष बनाकर स्वयं का पतन आत्मघात करता है, दुर्गतियों का कारण बनाता है, धर्म को बदनाम करता है। इसी बात को आचार्य कुन्दकुन्द लिंग पाहुड़ में कहते हैं-

धम्मेण होइ लिंगं ण लिंगमत्तेण धम्मसंपत्ती ।

जाणेहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कायव्वो ॥ २ ॥

धर्म सहित तो लिंग होता है परन्तु लिंग मात्र से धर्म की प्राप्ति नहीं होती; इसलिये हे भव्य जीव ! तू भाव रूप धर्म को जान और केवल लिंग (बाह्य भेष) से ही तेरा क्या कार्य होता है, अर्थात् कुछ भी नहीं होता है।

आगे कहते हैं कि जो जिनलिंग, निर्ग्रन्थ, दिगम्बर रूप को ग्रहणकर कुक्रिया करके हंसी कराते हैं वे जीव पाप बुद्धि हैं-

जो पावमोहिदमदी लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाणं ।

उवहसदि लिंगिभावं लिंगिमिय णारदो लिंगी ॥ ३ ॥

जो जिनवरेन्द्र अर्थात् तीर्थंकर देव के लिंग नग्न दिगम्बर रूप को ग्रहण करके लिंगीपने के भाव को हास्य मात्र समझता है, वह लिंगी अर्थात् भेषी जिसकी बुद्धि पाप से मोहित है, वह नारद जैसा है तथा अन्य साधु मुनियों को लजाने, बदनाम करने वाला है।

सम्मूहदि रक्खेदि य अट्टं झाएदि बहुपयत्तेण ।

सो पाव मोहिदमदी तिरिक्ख जोणी ण सो समणो ॥ ५ ॥

जो निर्ग्रन्थ लिंग धारण करके अर्थात् नग्न दिगम्बर साधु होकर परिग्रह को संग्रह रूप करता है अथवा उसकी वांछा चिंतवन ममत्व करता है और उस परिग्रह की रक्षा करता है उसका बहुत यत्न करता है। उसके लिये आर्त ध्यान निरन्तर ध्याता है, वह पाप से मोहित बुद्धि वाला है, वह तिर्यचगति जायेगा। वह अज्ञानी साधु भी नहीं है।

भाव शुद्धि के बिना गृहस्थ पद छोड़कर साधु हो जाये तो नरक जाता है-

जो जोडेदि विवाहं किसि कम्मवणिज्जजीवघादं च ।

वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगि रूवेण ॥ ९ ॥

गृहस्थ पद छोड़कर शुभ भाव के बिना लिंगी (साधु, त्यागी) हुआ था, इसके भाव की वासना मिटी नहीं, तब लिंगी का रूप धारण करके भी गृहस्थी के कार्य करने लगा। आप विवाह नहीं करता है तो भी गृहस्थों के सम्बन्ध कराकर विवाह कराता है; तथा खेती व्यापार जीव हिंसा आप करता है और गृहस्थों को कराता है तब पापी होकर नरक जाता है। ऐसे भेष धारण से तो गृहस्थ ही भला था, पद का पाप तो नहीं लगता।

आगे कहते हैं कि जो लिंग धारण करके लिंग योग्य कार्य करता हुआ दुःखी रहता है। उन कार्यों का आदर नहीं करता, वह भी नरक जाता है।

दंसण णाण चरित्ते तव संजम णियम णिच्चकम्ममि ।

पीडयदि वट्टमाणो पावदि लिंगी णरयवासं ॥ ११ ॥

जो लिंग धारण करके इन क्रियाओं को करता हुआ बाध्यमान होकर पीड़ा पाता है, दुःखी होता है, वह लिंगी नरकवास को पाता है। वे क्रियायें क्या हैं ? प्रथम तो दर्शन, ज्ञान, चारित्र में इनका निश्चय-व्यवहार रूप धारण करना। तप, अनशनादिक बारह प्रकार के तप शक्ति अनुसार करना। संयम, इन्द्रियों को और मन को वश में करना तथा जीवों की रक्षा करना। नियम अर्थात् नित्य कुछ त्याग करना और नित्य कर्म आवश्यक आदि क्रियाओं को नियत समय पर नित्य करना यह लिंग के योग्य साधु की क्रियायें हैं। जो इन क्रियाओं को नहीं करता है या करता हुआ खेद-खिन्न दुःखी होता है वह नरक जाता है। लिंग तीन प्रकार के कहे गए हैं- साधु, श्रावक, आर्यिका या अग्रती सम्यक्दृष्टि। इसमें वीतरागता

वैराग्य की प्रधानता होती है। जो कोई सा भी भेष (लिंग) धारण कर उसके विपरीत आचरण करता है वह कुलिंगी है। धर्म के विपरीत आचरण करने से नरक जाता है।

नशा, व्यसन, हिंसादि पाप करने वाला तो प्रगट में ही कुलिंगी है परंतु जो वीतरागी मार्ग का पथिक बनकर अपने पद के विपरीत आचरण करता है वह भी कुलिंगी नरकगामी है। इनकी मान्यता करने वाले अभव्य जीव ही होते हैं; क्योंकि इनकी मान्यता, वन्दना, भक्ति करने से अनन्त संसार में रूलना पड़ता है और नाना दुःख भोगना पड़ते हैं।

अभव्य जीव किसे कहते हैं ? इसे भावपाहुड में कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं-

ण मुयइ पयडि अभव्वो सुट्ठु वि आयणिणरुण जिणधम्मं ।

गुडदुद्ध पि पिबता ण पणया णिविसा होति ॥ १३८ ॥

अभव्य जीव भले प्रकार जिन धर्म को सुनकर भी अपनी प्रकृति को नहीं छोड़ता है। यहाँ दृष्टान्त है कि सर्प, गुड सहित दूध को पीते रहने पर भी विष रहित नहीं होता। इसी प्रकार अभव्य जीव अनेकान्त तत्त्व स्वरूप को सुनते हुए भी मिथ्यात्व स्वरूप भाव नहीं बदलता। मिथ्यात्व से जिसकी बुद्धि, दुर्बुद्धि हो रही है उसे सत्य वस्तु स्वरूप नहीं रुचता, एकान्त पक्ष से अपनी मनमानी करता है, यह अभव्य जीव के चिन्ह हैं। यथार्थ तो सर्वज्ञ ही जानते हैं।

कुगुरु की संगति से और अपनी ऐसी दशा होने से यह जीव अनन्त संसार में रूलता है और नाना प्रकार के दुःख भोगता है; इसलिये इन कुगुरु और कुलिंगियों से सावधान रहकर अपना आत्महित करने के लिये विवेक से काम लेना चाहिये।

कुगुरु के जाल में फंसा बहिरात्मा जीव अधर्म का सेवन करता है; क्योंकि कुगुरु अधर्म का ही पोषण करते हैं और उसका ही उपदेश देते हैं।

अब अधर्म किसे कहते हैं ? अधर्म क्या है ? इसके स्वरूप का वर्णन करते हैं-

१. आर्त-रौद्र ध्यान में लगे रहना यही सबसे बड़ा अधर्म है-

अधर्म लक्षणस्चैव, अनृतं अचेतं श्रुतं ।

उत्साहं सहितो हिंसा, हिंसानंदी जिनागमं ॥ ९५ ॥

हिंसानंदी अनृतानंदी, स्तेयानंद अबंभयं ।

रौद्र ध्यानं च संपूर्णं, अधर्मं दुष दारुणं ॥ ९६ ॥

आरति रौद्र संजुक्तं, ते धर्म अधर्म संजुतं ।

रागादि मिश्र संपूर्णं, अधर्म संसार भाजनं ॥ ९७ ॥

अन्वयार्थ- (अधर्म लक्षणस्चैव) अधर्म का लक्षण बताते हैं (अनृतं अचेतं श्रुतं) अप्रामाणिक असत्य शास्त्रों का पढ़ना सुनना (उत्साहं सहितो हिंसा) उत्साह सहित हिंसादि पाप करना (हिंसानंदी जिनागमं) हिंसा में आनंद मानना ही जिनागम में अधर्म बताया गया है।

(हिंसानंदी अनृतानंदी) हिंसा में आनंद मानना, झूठ बोलने में आनंद मानना (स्तेयानंद अबंभयं) चोरी करने में आनंद मानना और अब्रह्म कुशील सेवन में आनंद मानना (रौद्र ध्यानं च संपूर्णं) यह सब रौद्र ध्यान हैं (अधर्म दुष दारुणं) यही सबसे बड़ा अधर्म दारुण दुःख देने वाला है।

(आरति रौद्र संजुक्तं) जो जीव आर्त-रौद्र ध्यानों में लीन रहते हैं, हमेशा इन्हीं भावों में बहते रहते हैं (ते धर्म अधर्म संजुतं) वे जीव आत्मा अधर्म में लीन रहते हैं (रागादि मिश्र संपूर्णं) इससे राग-द्वेष मोह आदि मलों में पूर्णतया डूबे रहते हैं (अधर्म संसार भाजनं) यही अधर्म संसार में रूलाने वाला संसार का पात्र बनाने वाला है।

विशेषार्थ- यहाँ अधर्म का लक्षण बताया जा रहा है कि अधर्म किसे कहते हैं ? जो धारण किया जाता है, जीवन के आचरण में आता है उसे धर्म कहते हैं। सत् वस्तु स्वरूप की धारणा ही सत्धर्म है। सत्धर्म की धारणा से जीवन में सुख शान्ति आनंद की उपलब्धि होती है। असत् धर्म कुधर्म या अधर्म की धारणा से जीवन दुःखमय, अशान्त, भय, चिंता से भरा हुआ होता है। जगत का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है। संसार में कहीं सुख नहीं है क्योंकि पर वस्तु, पुद्गल आदि में सुख की मान्यता ही अज्ञानता अधर्म है।

सुख स्वभावी तो यह जीव आत्मा स्वयं है परन्तु अपने निज स्वभाव को भूला हुआ पर में सुख की कल्पना करता है। जैसे- कुत्ता हड्डी चूसता है और उसमें रसादि सुख की कल्पना करता है। स्वयं के मुख से निकलते खून को हड्डी में से निकलता हुआ मानता है वह अज्ञानी पशु है। इसी प्रकार प्रत्येक मानव भी पर में सुख की कल्पना करता हुआ पर में लगा हुआ है। धनादि में सुख मानता है। शरीर के विषय भोगों में सुख मानता है और उसके लिये नाना प्रकार के कुकर्मों में हिंसादि पापों में लगा हुआ स्वयं दुःखी रहता है यही अधर्म है।

**जिसमें निराकुलता निश्चिन्तता रहे सुख होवे, वह धर्म है।
जिसमें आकुलता भय चिन्ता हो दुःख होवे, वह सब अधर्म है।**

यही जीवन का प्रमुख विषय है, जिस पर वर्तमान और भविष्य निर्भर है। अगर सत्धर्म उपलब्ध हो जावे तो वर्तमान जीवन सुख शान्ति आनंदमय रहे और भविष्य में परमानंद मुक्ति की प्राप्ति हो। अधर्म का आश्रय होने से वर्तमान जीवन दुःखी अशांत भयभीत चिन्तित रहता है और भविष्य भी अंधकारमय है।

सद्गुरु तारण स्वामी यहाँ अधर्म का लक्षण बता रहे हैं कि यह जीव कुगुरुओं के जाल में फंसकर अधर्म का सेवन करता है। अधर्म क्या है? उसका स्वरूप बताया जा रहा है। कुगुरुओं द्वारा लिखे अप्रामाणिक असत्य शास्त्रों को पढ़ना सुनना और इससे हिंसादि कार्यों में उत्साह पूर्वक लगे रहना जबकि हिंसा में आनंद मानना ही जिनागम में अधर्म बताया गया है।

चित्त के किसी एक वस्तु या विषय पर एकाग्र होने को ध्यान कहते हैं। संसारी जीव के साथ आर्त-रौद्र ध्यान संस्कारित अपने आप होते रहते हैं। हिंसा करने में आनंद मानना, झूठ बोलने में आनंद मानना, चोरी करने में आनंद मानना, अब्रह्म कुशीलादि के सेवन में आनंद मानना और इनके भावों में बहना यही रौद्र ध्यान है और यह नरक गति का कारण है तथा आर्त ध्यान-इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, पीड़ा चिन्तवन और निदान बंध इन्हीं योग संयोग में अथवा इनके भावों में बहना और हमेशा दुःखी रहना यह आर्त ध्यान तिर्यच गति के बन्ध का कारण है।

**बुरे कामों में, बुरे भावों में लगे रहना, कठोर दुष्ट प्रवृत्ति रौद्र ध्यान है।
हमेशा दुःखी शोक भय आर्त परिणामों में रहना आर्त ध्यान है।**

आर्त-रौद्र के भावों में बहना संसार में दुर्गति का कारण है और इससे मोह, राग-द्वेष आदि बढ़ते हैं। यह जीव आत्मा इनमें डूबा संसार के दारुण दुःख भोगता है यह सब अधर्म है। धर्म तो एक मात्र निज चैतन्य सत्ता स्वरूप शुद्ध स्वभाव यही अपना सच्चा धर्म है। इसके श्रद्धान ज्ञान और आचरण से ही जीवन में सुख शान्ति आनंद होता है। इसके विपरीत जो कुछ भी है वह सब अधर्म, कुधर्म ही है, जो संसार का कारण दारुण दुःख देने वाला है।

इसी बात को आचार्य योगीन्दुदेव परमात्म प्रकाश में कहते हैं-

जं णिय बोहहं बाहिरउ णाणु वि कज्जु ण तेण।

दुक्खहं कारणु जेण तउ, जीवहं होइ खणेण ॥ ७५ ॥

जो आत्म ज्ञान से रहित शास्त्र आदि का ज्ञान भी है, उस ज्ञान से कुछ काम नहीं; क्योंकि वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान रहित तप शीघ्र ही जीव को दुःख का कारण होता है। निदान बंध आदि तीन शल्यों को आदि ले समस्त विषयाभिलाष रूप मनोरथों के विकल्प जाल रूपी अग्नि की ज्वालाओं से रहित जो निज सम्यक्ज्ञान है, उससे रहित बाह्य पदार्थों का शास्त्र द्वारा ज्ञान है, उससे कुछ काम नहीं होता। कार्य तो एक निज आत्मा के जानने से होता है।

यहाँ प्रश्न किया कि निदान बंध रहित आत्म ज्ञान बतलाया यह निदान बंध किसे कहते हैं?

समाधान- जो देखे सुने और भोगे हुए इन्द्रियों के भोगों में जिसका चित्त रंग रहा है, ऐसा अज्ञानी जीव रूप लावण्य सौभाग्य का अभिलाषी, वासुदेव चक्रवर्ती पद के भोगों की वांछा करे, दान, पूजा, तपश्चरणादि कर भोगों की अभिलाषा करे, वह निदान बंध है, यह बड़ी शल्य अर्थात् कांटा है। इस शल्य से रहित जो आत्म ज्ञान उसके बिना शब्द शास्त्रादिक ज्ञान मोक्ष का कारण नहीं है; क्योंकि वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान रहित तप भी दुःख का कारण है इसलिये अज्ञानियों का तप और श्रुत यद्यपि पुण्य का कारण है तो भी मोक्ष का कारण नहीं है।

धर्म, मोक्ष का हेतु मोक्ष देने वाला होता है। अधर्म, कुधर्म संसार में दुर्गति कराने वाला दारुण दुःख देने वाला होता है। इसी बात को मोक्षमार्ग प्रकाशक में कहा है-

यहाँ हिंसादि पाप उत्पन्न हो व विषय कषायों की वृद्धि हो वहाँ धर्म माने सो कुधर्म जानना। यज्ञादिक क्रियाओं में महाहिंसादिक उत्पन्न करें, बड़े जीवों का घात करें और इन्द्रियों के विषय पोषण करें। उन जीवों में दुष्ट बुद्धि करके रौद्र ध्यानी हो तीव्र लोभ से औरों का बुरा करके अपना कोई प्रयोजन साधना चाहे और ऐसे कार्य करके वहाँ धर्म माने सो कुधर्म है तथा तीर्थों में व अन्यत्र स्नानादि कार्य करे वहाँ छोटे-बड़े बहुत से जीवों की हिंसा होती है। शरीर को चैन मिलता है इसलिये विषय पोषण होता है और कामादिक बढ़ते हैं। कुतूहलादिक से वहाँ कषाय भाव बढ़ता है और धर्म मानता है सो यह कुधर्म है।

प्रत्येक वस्तु या जीव आत्मा का जो निज शुद्ध स्वभाव है वही प्रत्येक जीव का अपना धर्म है। धर्म में कोई भेद नहीं होता। जैसे- सत्य एक होता है वैसे ही धर्म भी एक होता है और वह प्रत्येक जीव का अपना स्वतंत्र होता है। धर्म में भेद करना

ही संसार है। पर के धर्म से किसी का भला नहीं होता, स्वधर्म से ही सबका भला होता है। निज शुद्ध स्वभाव के श्रद्धान ज्ञान आचरण के विपरीत और जो कुछ भी है, वह सब शुभाशुभ कर्म, अधर्म ही है, जो संसार का कारण है।

श्री तारण स्वामी ने यहाँ अधर्म के लक्षण में सबसे पहले आर्त-रौद्र ध्यान को बताया, आगे विकथायें भी अधर्म हैं, इस बात को कहते हैं-

२. विकथा, व्यर्थ चर्चा करना अधर्म है-

विकहा राग संबंधं, विसयं कषायं सदा ।

अनृतं राग आनंदं, ते धर्म अधर्म उच्यते ॥ ९८ ॥

विकहा प्रमानं असुहं च, नंदितं असुह भावना ।

ममतं काम रूपेण, कथितं वर्ण विसेषितं ॥ ९९ ॥

अन्वयार्थ- (विकहा राग संबंधं) विकथा, व्यर्थ चर्चा का राग से सम्बन्ध होता है (विसयं कषायं सदा) हमेशा विषय-कषायों में रत रहता है (अनृतं राग आनंदं) व्यर्थ चर्चा करने वाला झूठे राग में आनंद मानता है (ते धर्म अधर्म उच्यते) वह धर्म को अधर्म कहता है, आत्मा की बात उसे रुचती नहीं है।

(विकहा प्रमानं असुहं च) विकथा करने वाले के परिणाम हमेशा अशुभ रहते हैं (नंदितं असुह भावना) अशुभ भावना में ही आनंदित रहता है (ममतं काम रूपेण) ममत्व, मायाचारी, काम-भोग, रूपरंग की (कथितं वर्ण विसेषितं) चर्चा में कथायें बड़ी विशेषता से वर्णन करता है।

विशेषार्थ- विकथा, व्यर्थ चर्चा को कहते हैं। यह चार होती हैं- राजकथा, चोरकथा, स्त्रीकथा, भोजनकथा। जिनसे कुछ लेना देना नहीं, कुछ होना नहीं, निष्प्रयोजन ही जिससे अपने जीवन और समय का दुरुपयोग होता है। अज्ञानी संसाराशक्त बहिरात्मा जीव इन्हीं व्यर्थ चर्चाओं में लगा रहता है। विकथाओं का राग से सम्बन्ध होता है। इन चर्चाओं को करने वाले हमेशा विषय-कषायों में रत रहते हैं, झूठे राग में आनंद मानते हैं। व्यक्तियों को खुश करने जनरंजन राग में ही बहिरात्मा जीव आनंद मानता है। मन की सन्तुष्टि, प्रसन्नता, मन को रंजायमान करने में लगा रहता है। वह धर्म को अधर्म कहता है, अधर्म को धर्म कहता है। आत्मा की चर्चा उसे अच्छी नहीं लगती। कहाँ आत्मा-आत्मा लगा रखी है, यह सब व्यर्थ बकवास है ऐसा कहता है, पहले अपनी क्रिया आचरण देखो यह व्यर्थ आत्मा की

चर्चा करने से क्या लाभ है? बाह्य आचरण सत्कर्म करना ही धर्म है वह ऐसा कहता है।

विकथा करने वाले के परिणाम अशुभ रहते हैं, वह अशुभ भावना करने में ही आनंद मानता है, आनंदित रहता है। काम-भोग, रूप-रंग, ममत्व भाव, मायाचारी की चर्चायें बड़ी विशेषता से वर्णन करता है। नये-नये नाटक, उपन्यास लिखता है। श्रृंगार रस की कामभाव बढ़ाने वाली नई-नई कथायें कहता है और हमेशा विषय-कषाय में लगा रहता है। इन विकथाओं के कहने सुनने, इन्हीं चर्चाओं में लगे रहने का क्या परिणाम होता है वह आगे कहते हैं-

स्त्री कथा करने वाला नरक जाता है-

स्त्रियं काम रूपेण, कथितं वर्ण विसेषितं ।

ते नरा नरयं जांति, धर्म रत्नं विलोपितं ॥ १०० ॥

अन्वयार्थ- (स्त्रियं काम रूपेण) स्त्रियों की, काम की रूप की चर्चा (कथितं वर्ण विसेषितं) नाना प्रकार से बड़ी विशेषता से वर्णन करता है (ते नरा नरयं जांति) वह मनुष्य नरक जाता है (धर्म रत्नं विलोपितं) धर्म रत्न का लोप करके; क्योंकि इन चर्चाओं से आत्मा की कोई सुध नहीं रहती परिणाम बड़े अशुभ निकृष्ट होते हैं, इससे नरक जाता है।

विशेषार्थ- यहाँ विकथा का वर्णन चल रहा है। विकथा अधर्म की जड़ है। अधर्म में रत जीव हमेशा दुःखी चिंतित भयभीत रहता है और नरक, निगोदादि दुर्गतियों में जाता है। यहाँ विकथा में स्त्रीकथा का वर्णन चल रहा है कि जो जीव स्त्रियों की, काम भोग की, रूपरंग की, श्रृंगार रस की कथाओं में रत रहता है, नाना प्रकार से बड़ी विशेषता से वर्णन करता है, वह उसमें ही तन्मय लीन रहता है फिर उसे अपने आत्म स्वरूप, धर्म की कोई सुध-बुध नहीं रहती। वह सब लोप हो जाती है और वह इन्हीं निकृष्ट अशुभ भावों में रत रहने के कारण नरक जाता है। रावण इसी स्त्री कामभाव के पीछे सीताजी का अपहरण करके ले गया। जिसके कारण अपना राजपाट खोया, पूरा वंश नष्ट हुआ, अपमान सहन किया और नरक गया।

स्त्रीकथा आत्म स्वरूप को भुलाने वाली, धर्म रत्न को लोप करने वाली नरक ले जाने वाली है, इसलिये इन विकथाओं से हमेशा बचते रहना चाहिये। जिसे

अपना आत्महित करना है, मुक्त होना है उसे निष्प्रयोजन व्यर्थ चर्चायें तो कभी करना ही नहीं चाहिये। शान्त मौन रहना ही श्रेष्ठ हितकारी है।

आगे राजकथा का वर्णन करते हैं-

राज्यं राग उत्पाद्यन्ते, ममतं गारव स्थितं।

रौद्र ध्यानं च आराध्यं, राज्यं वर्न विसेषितं ॥ १०१॥

अन्वयार्थ- (राज्यं राग उत्पाद्यन्ते) राजकथा करने से राग पैदा हो जाता है (ममतं गारव स्थितं) ममत्व और अहंकार बढ़ जाता है (रौद्र ध्यानं च आराध्यं) रौद्र ध्यान लड़ने, मरने-मारने के भाव चलने लगते हैं, उसी में आनंद आने लगता है (राज्यं वर्न विसेषितं) राज्य वैभव आदि का विशेषता से वर्णन करने से रौद्र ध्यान बढ़ता है, जिससे नरक जाना पड़ता है।

विशेषार्थ- विकथाओं में प्रमुख अनिष्टकारी स्त्रीकथा है। इसके बाद राजकथा होती है, जो अनिष्टकारी राग पैदा करती है। ममत्व और अहंकार को बढ़ाती है। हिंसा रूप लड़ने, मारने-मरने के रौद्र परिणाम चलने लगते हैं। राज्य से संबन्धित हर प्रकार के वातावरण देश-विदेश के समाचार और वर्तमान परिस्थिति के अनुसार नाना प्रकार के रौद्र ध्यान रूप परिणाम चलते हैं। इसमें छल, फरेब, मायाचारी, भ्रष्टाचार, अनीति, अन्याय आदि के नये-नये समाचार कहने सुनने में आते हैं। जिससे जीवन में बड़ी अशान्ति विषमता पैदा होती है। आजकल रेडियो सुनना, अखबार पढ़ना, सिनेमा आदि देखना सब इसी के अंतर्गत आते हैं। इनसे परिणामों में बड़ी निकृष्टता भयभीतपना आता है, यह सब अधर्म है, दुःख और दुर्गति के ही कारण हैं, आत्म कल्याण का प्रमुख बाधक कारण है और धर्म का घात करने वाला है।

राजकथा से और क्या होता है वह आगे कहते हैं-

हिंसानंदी च राज्यं च, अनृतानंद असास्वतं।

कथितं असुह भावेन, संसारे भ्रमनं सदा ॥ १०२ ॥

भयस्य भयभीतस्य, अनृतं दुष भाजनं।

भावं विकलितं जांति, धर्म रत्नं न सूझते ॥ १०३ ॥

अन्वयार्थ- (हिंसानंदी च राज्यं च) राज्य में, देश में, युद्ध हो रहा हो

लड़ाई-झगड़े चल रहे हों (अनृतानंद असास्वतं) लूटमार द्वंद-फंद हो रहे हों (कथितं असुह भावेन) इनके कहने सुनने से तीव्र अशुभ भाव होते हैं (संसारे भ्रमनं सदा) जिससे हमेशा संसार में भ्रमण करना पड़ता है।

(भयस्य भयभीतस्य) लड़ाई, झगड़े, मारपीट, विदेशी आक्रमण आदि की चर्चा सुनकर बहुत भय से भयभीत हो जाते हैं (अनृतं दुष भाजनं) अब क्या होगा, यह तो बड़े दुःख के कारण बन गये (भावं विकलितं जांति) ऐसे भाव से निरंतर विकल्पित रहते हैं (धर्म रत्नं न सूझते) फिर वहाँ अपने आत्म स्वरूप की कोई सुध नहीं रहती यह राजकथा कहने सुनने का परिणाम है।

विशेषार्थ- राजकथा बड़ी ही खतरनाक होती है। लड़ाई-झगड़े युद्धादि हो रहे हों तो वहाँ हिंसा के भाव चलते हैं। राजनीति की उलट-पुलट चल रही हो तो वहाँ छल, कपट, बेईमानी के भाव चलते हैं। अपने को कुछ लेना-देना नहीं है, कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु राजकथा कहने सुनने से अशुभ भाव होने ही लगते हैं। जिससे हमेशा संसार में भ्रमण करना पड़ता है। लड़ाई-झगड़े, हिंसा आदि मारपीट विदेशी आक्रमण आदि की चर्चा सुनकर सब जीव भय से भयभीत हो जाते हैं, घबराहट मच जाती है, अब क्या होगा ? यह तो बड़े दुःख के पहाड़ टूट पड़े। अब हमारी रक्षा कौन करेगा ? ऐसे में कैसे बचेंगे, अब क्या करें ? आदि नाना प्रकार के विकल्प, चिन्ता, भय के भाव चलने लगते हैं, जिससे अपने आत्म स्वरूप की कोई सुध ही नहीं रहती। मैं एक अखंड अविनाशी चैतन्य तत्व भगवान आत्मा हूँ, मेरा कोई नहीं है, कुछ नहीं है। जो होना है वह सब क्रमबद्ध निश्चित है यह सब भूल जाते हैं और इन्हीं भावों में विकल्पित होते रहते हैं। हिंसा, छल, बेईमानी आदि के नाना प्रकार के रौद्र ध्यान चलते रहते हैं जिससे दुर्गति का बन्ध हो जाता है और संसार में भ्रमण करना पड़ता है, निष्प्रयोजन व्यर्थ चर्चा विकथा करने का यह परिणाम है।

आगे चोर कथा के स्वरूप का वर्णन करते हैं-

चौरस्य उत्पाद्यते भावं, अनर्थं सो संगीयते।

असुद्ध परिणाम तिष्ठते, धर्म भाव न दिष्टते ॥ १०४ ॥

चौरस्य भावनं दिष्टा, आरति रौद्र संजुतं।

स्तेयानंद आनंदं, संसारे दुष दारुनं ॥ १०५ ॥

अन्वयार्थ- (चौरस्य उत्पाद्यते भावं) चोरों की कथा कहने, सुनने से वैसे भाव

पैदा होने लगते हैं (अनर्थ सो संगीयते) जो बड़े अनर्थकारी और दुष्ट होते हैं (असुद्ध परिणाम तिस्टंते) अशुद्ध भावों में ठहरने पर (धर्म भाव न दिस्टते) धर्म भाव दिखाई नहीं देता ।

(चौरस्य भावनं दिस्टा) चोरी की भावना करने से (आरति रौद्र संजुतं) आर्त रौद्र ध्यानों में लीन हो जाते हैं (स्तेयानंद आनंदं) और ऐसे चोरी करने के भावों में आनंदित हो गये, आनंद मानने लगे (संसारे दुष दारुनं) यही संसार के दारुण दुःख भोगने का कारण है ।

विशेषार्थ- विकथा अधर्म ही है और इनका परिणाम क्या होता है, इसका वर्णन चल रहा है । विकथा कोई क्रिया नहीं, मात्र चर्चा है । जिससे भावों में अशुभता निकृष्टता आती है । संक्लेश परिणाम होते हैं । आर्त-रौद्र ध्यानरूप भाव चलते हैं जिससे नरक निगोदादि जाना पड़ता है । यहाँ चोर कथा का स्वरूप बताया जा रहा है कि जब चोरों की चोरी करने की कथा कहते सुनते हैं तो वैसे भाव पैदा होने लगते हैं जो बड़े अनर्थकारी और दुष्ट होते हैं और उन्हीं अशुद्ध भावों में ठहरने पर फिर धर्म भाव, अपना आत्म स्वरूप दिखाई नहीं देता; क्योंकि जब तक यह आर्त-रौद्र रूप भाव चलते हैं, तब तक जीव को अपनी सुध-बुध नहीं रहती ।

स्त्री कथा कहने सुनने से अब्रह्मानंद के भाव चलते हैं, भोजन कथा कहने सुनने से विषयानंद के भाव चलते हैं । राजकथा कहने सुनने से हिंसानंद, अनृतानंद के भाव चलते हैं, चोर कथा कहने सुनने से चौर्यानंद के भाव चलते हैं ।

जब ऐसे भाव चलते हैं तब उपयोग इन्हीं में लिप्त तन्मय हो जाता है, भयभीत होने लगता है, अशान्त होने लगता है, घबराहट मच जाती है क्योंकि यह विभावों का तूफान बहुत तीव्र होता है । ऐसे में अपने स्वभाव की खबर ही नहीं रहती, धर्म भाव दिखाई ही नहीं देता । संसारी जीव के साथ यही तो समस्या है और यह बड़ा गुप्त रहस्य है, जिसे सुलझाना सहज नहीं है । बुद्धि पूर्वक व्यर्थ चर्चा करने का परिणाम क्या होता है, इसका वर्णन चल रहा है । बुद्धिपूर्वक क्रिया कितनी घातक बाधक होती है, वह वर्णन आगे आयेगा । बुद्धि पूर्वक पर की तरफ देखने मात्र से कैसे भाव होने लगते हैं, इसे कहते हैं-

घर परिवार की तरफ देखने से मोह माया के भाव चलने लगते हैं । शरीर की तरफ देखने से विषय विकार के भाव होने लगते हैं । धन वैभव की

तरफ दृष्टि हो तो पाप परिग्रह करने धरने के भाव होने लगते हैं । देश की तरफ देखो तो राजनीति द्वंद-फंद, लड़ने-मरने के भाव होने लगते हैं । अपनी तरफ देखो तो समता शान्ति आनंद में रहो ।

यह जीवन में स्वयं के अनुभव की बातें हैं; क्योंकि इन्हीं के कारण तो यह जीव संसार में फंसा कर्मों से बंधा पराधीन हो रहा है । इनसे बचने छूटने का पुरुषार्थ ही ज्ञानी का आचरण है और यही मुक्ति का मार्ग, सुख-शान्ति, आनंद में रहने का कारण है । जैसे कारण में रहो, वैसा कार्य होता है । इसी बात को प्रशमरति प्रकरण में उमास्वामी देव कहते हैं-

आक्षेपणी विक्षेपणी विमार्गवाधन समर्थ विन्यासा ।

श्रोतृजन श्रोत्र मनः प्रसाद जननी यथा जननी ॥ १८२ ॥

संवेदनी च निर्वेदनी च धर्म्या कथां सदा कुर्यात् ।

स्त्रीभक्त चौरजन पद कथाश्च दूरात्परित्याज्याः ॥ १८३ ॥

उन्मार्ग का उच्छेद करने में समर्थ रचना वाली और श्रोताजनों के कानों और मन को माता की तरह आनंद देने वाली आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी धर्म कथा सदैव करनी चाहिये तथा स्त्रीकथा, भोजनकथा, राजकथा, चोरकथा को दूर से ही छोड़ देना चाहिये ।

जो कथा जीवों को धर्म की ओर अभिमुख करती है उसे आक्षेपणी कहते हैं । जो कथा जीवों को काम भोग से विमुख करती है उसे विक्षेपणी कहते हैं । जो कथा जीवों को संसार से भयभीत करती है उसे संवेदनी कहते हैं तथा संसार शरीर भोगों से वैराग्य उत्पन्न कराती है उसे निर्वेदनी कहते हैं । जैसे-नरक गति में सर्दी-गर्मी का बड़ा कष्ट है । एक क्षण के लिये भी उस कष्ट से छुटकारा नहीं होता, कम से कम दस हजार वर्ष तक और अधिक से अधिक तैंतीस सागर तक वहाँ का कष्ट भोगना पड़ता है । तिर्यच गति में भी सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास और अतिभार के दुःख के साथ सवारी में जुतना, डंडे वगैरह से पीटा जाना, नासिका वगैरह का छेदा जाना आदि का दुःख भोगना पड़ता है ।

मनुष्य गति में भी काना, लँगड़ा, बौना, नासमझ, बहरा, अंधा, कुबड़ा और कुरूप होने के सिवाय ज्वर, कोढ़, यक्ष्मा, खांसी, दस्त तथा हृदय के रोगों का कष्ट भी उठाना पड़ता है तथा प्रियजन का वियोग अप्रियजन का संयोग, इच्छित वस्तुओं का न मिलना, गरीबी, अभागापन, मन की खेद-खिन्नता और बध-बंधन आदि के

अनेक दुःखों को भी भोगना पड़ते हैं।

देवगति में अन्य देवों का उत्कर्ष और अपना अपकर्ष देखकर दुःख होता है तथा बलवान देव की आज्ञा में अन्य अल्प पुण्य वाले देव हाथी, बैल, घोड़ा और मयूर आदि का रूप धारण करके सवारी के काम में लाये जाते हैं तथा जब स्वर्ग से च्युत होने में छह माह बाकी रह जाते हैं तो अवधिज्ञान से अपने गन्दे और भद्दे जन्म स्थान को जानकर वे बड़े दुःखी होते हैं। इस प्रकार की संवेदनी कथा से यह जीव चतुर्गति रूप संसार से विरक्त होकर मोक्ष में लगता है तथा वर्तमान मनुष्य भव में स्त्री आदि से रति करने वाला मोह के उदय से उसी तरह सुख मानता है, जैसे-खाज का रोगी खाज को खुजाने में सुख मानता है; अतः मनुष्य को इन काम भोगों से विरक्त होकर मोक्ष प्राप्ति की साधना करनी चाहिये।

इस प्रकार इन धर्म युक्त कथाओं को करना चाहिये क्योंकि कथायें कुमार्ग का नाश करने में समर्थ होती हैं। जैसे-माता सुखकर हितकारी कथायें उपदेश देकर बालक के मन को प्रसन्न करती है। उसी प्रकार यह कथायें सुनने वालों के कान और मन को आनंदित करती हैं और स्त्रीकथा, भोजनकथा, राजकथा, चोरकथा को दूर से ही छोड़ देना चाहिये। स्त्रियों के रूप, यौवन, लावण्य, वेषभूषा तथा चाल-ढाल की चर्चा करने को स्त्रीकथा कहते हैं। दाल, भात, शाक, खांड, खाजा आदि भोजन की चर्चा को भोजनकथा कहते हैं। चोर अमुक प्रकार से गड्ढे खोदते हैं, ताले खोलते हैं, दूसरों को उगते हैं इत्यादि चर्चा को चोरकथा कहते हैं। अमुक देश में यह होता है, अमुक देश में यह होता है, अमुक देश में यह हो रहा है, अमुक जगह यह हो रहा है, आजकल यह चल रहा है, ऐसा होने वाला है ऐसी चर्चा को देशकथा, राजकथा कहते हैं।

इन विकथाओं से परिणामों में विकृति आती है। भय, चिन्ता व्याप्त रहती है। आर्त-रौद्र ध्यान चलते हैं। अब क्या होगा ? ऐसे संक्लेश भाव रहते हैं। जिससे वर्तमान जीवन भी दुःखमय रहता है और भविष्य भी दुःखमय बनता है ; इसलिये इन कथाओं को वचनों से कहना तो दूर, मन से भी नहीं सोचना चाहिये।

दूसरों के गुण-दोषों के प्रगट करने में मन के लगे रहने से कर्म बन्ध होता है, यह विकथायें कहना सुनना तो अधर्म पाप कर्म बन्ध और दुर्गति का कारण है ही तथा जिनेन्द्र के वचनों का लोपन करना, व्रत धारण करके विपरीत आचरण करना, धर्म के विरुद्ध कहना भी चोरी है। इसे आगे कहते हैं-

चोरी कृत व्रतधारी च, जिन उक्तं पद लोपनं।

असास्वतं अनृतं प्रोक्तं, धर्म रत्न विलोपितं ॥ १०६ ॥

अन्वयार्थ- (चोरी कृत व्रतधारी च) व्रतधारी होकर और चोरी करना (जिन उक्तं पद लोपनं) जिनेन्द्र के वचनों का और पद का लोप करना विपरीत कहना, विपरीत आचरण करना (असास्वतं अनृतं प्रोक्तं) इधर-उधर की झूठी मान्यतायें, आचरण जो शाश्वत और सत्य नहीं हैं, मिथ्या हैं, झूठे हैं उन्हें कहना और करना (धर्म रत्न विलोपितं) धर्म रत्न अपने आत्म स्वभाव को लोप करना चुराना है।

विशेषार्थ- यहाँ यह बताया जा रहा है कि विकथाओं को कहना सुनना अधर्म है। इससे जीव दुर्गति जाता है, संसार के दुःख भोगता है। उसमें चोर कथा के अन्तर्गत चोरी करने के परिणाम से संसार में दारुण दुःख भोगना पड़ते हैं; क्योंकि उससे आर्त-रौद्र ध्यान चलता है जो महा दुःखदायी होता है।

यहाँ प्रश्न है कि जिन्होंने अणुव्रत, महाव्रत धारण कर लिये हैं जो व्रतधारी हो गये हैं, उन्हें तो फिर चोरी हिंसादि पाप नहीं लगते ? उसके उत्तर में श्री तारण स्वामी कह रहे हैं कि जिन्होंने व्रत धारण कर लिये हैं, जो अणुव्रती श्रावक, महाव्रती साधु हो गये हैं परंतु यदि वह जिनेन्द्र के वचनों का लोप करते हैं। अपने पद के विपरीत आचरण करते हैं तो वह भी चोर हैं, ऐसे कुदेव-अदेवादि की पूजा मान्यता करना और शारीरिक आचरण, व्रत, संयम, खान-पान की शुद्धि आदि को धर्म कहना और धर्म मानकर उन्हीं में लगे रहना, अपने धर्म रत्न का लोप करना, आत्म स्वभाव को चुराना, आत्मा का घात करना, महा हिंसा और पाप है; क्योंकि सत्य वस्तु स्वरूप को कहना, वैसा ही श्रद्धान करना मानना कि मैं एक अखंड अविनाशी चैतन्य तत्व भगवान आत्मा हूँ, यह शरीरादि में नहीं मेरे नहीं, मेरा शुद्ध स्वभाव शुद्धात्म स्वरूप यही मेरा सच्चा धर्म है। इसी की साधना, आराधना धर्म की साधना आराधना है और इसी से जीवन में सुख शान्ति आनंद और मुक्ति की प्राप्ति होती है। इसके अतिरिक्त यह दया, दान, संयम, तप, पूजा, भक्ति आदि बाह्य आचरण सब पुण्य-पाप, शुभ-अशुभ कर्म संसार के कारण अधर्म ही हैं। इनसे कभी भी तीन काल धर्म नहीं हो सकता। जैसे-पानी के विलोने से कभी मक्खन नहीं निकल सकता, नमक को खाते-खाते कभी मिश्री का स्वाद नहीं आ सकता। ऐसे ही यह बाह्य आचरण शारीरिक क्रिया करते हुए कभी भी तीन काल धर्म नहीं हो सकता।

जिनेन्द्र परमात्मा ने तो अपना इष्ट निज शुद्धात्मा ही कहा है। अपना चैतन्य लक्षण शुद्ध स्वभाव ही धर्म कहा है और धर्म तो श्रद्धान अनुभूति का विषय है। जो स्वयं में स्वयं को स्वयं से होता है।

इसी बात को नेमिचन्द्राचार्य ने द्रव्य संग्रह में कहा है—

सम्मदंसण णाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे ।

ववहारा णिच्छयदो तत्तिमइओ णिओ अप्पा ॥ ३९ ॥

रणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुयत्तु अण्णदवियम्हि ।

तह्मा तत्तिम इओ होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा ॥ ४० ॥

व्यवहार नय से सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों के समुदाय को मोक्ष का कारण जानो और निश्चय से सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनों स्वरूप जो निज आत्मा है वही मोक्ष का कारण है।

निज शुद्धात्मा को छोड़कर अन्य अचेतन द्रव्य में रत्नत्रय नहीं रहता है। रत्नत्रय अर्थात् सुख शान्ति आनंद। इस कारण रत्नत्रय मय आत्मा को ही निश्चय से मोक्ष का कारण जानो यही सत्य धर्म है।

जिनेन्द्र के वचनों का लोप करना और अपनी मनमानी करना यह चोरी ही है, महान पाप है। जिस धर्मरत्न से आत्म कल्याण होता है उसको इसने चुरा लिया, छिपा लिया अधर्म में फंस गया और धर्म का चोर बन गया।

महाव्रती साधु होकर परिग्रह रखना, रुपया पैसा रखना, खेती कराना, लेन-देन करना, वस्त्रादि रखना, पालकी आदि पर चढ़ना यह सब क्रिया मुनिधर्म को लोप करने वाली है, ऐसी क्रियाओं को करते हुए अपने को साधु पद में कहना, मुनिधर्म को लोप करके धर्म की चोरी करना है। इसी प्रकार श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाओं में जो-जो आचरण जिस-जिस प्रतिमा योग्य है उसको भले प्रकार न पालकर और का और पालना व अपने को व्रती श्रावक मानना, धर्मरत्न को चुराना अर्थात् अपना आत्मघात करना है; क्योंकि सौभाग्य से ऐसा शुभयोग मिला और उसे भी अज्ञान मिथ्यात्व अधर्म और कुगुरुओं के जाल में फंसकर कुदेव-अदेवादि की पूजा भक्ति में ही गंवा दिया अपना आत्महित नहीं किया, सत्य वस्तु स्वरूप धर्म को नहीं जाना तो फिर इस मनुष्य भव को पाने का लाभ ही क्या मिला ?

यहाँ कोई प्रश्न करे कि हम सत्य वस्तु स्वरूप समझना और सत्य धर्म को उपलब्ध करना चाहते हैं और इसीलिये यह बाह्य में नियम-संयम व्रतादि पालते हैं

फिर इसमें भूल कहाँ है जो हम भटक जाते हैं या सत्य धर्म निज शुद्धात्मानुभूति नहीं कर पाते इसका कारण क्या है ?

इसका समाधान करते हैं कि इसमें हमारी मानसिक अस्थिरता, धर्म के संबंध में उतावलीपन करना है, जबकि यह हमारे जीवन का विशेष महत्वपूर्ण विषय है। धर्म के निर्णय पर ही हमारा वर्तमान जीवन और भविष्य आधारित है। इसके लिये हमें साम्प्रदायिक जाति-पांति के बंधन को तोड़ना होगा, विवेक बुद्धि से काम लेना होगा, दृढ़ता और गंभीरता आवश्यक है। जैसे- हम किसी वस्तु को खरीदना चाहते हैं, बाजार जाते हैं तो दस दुकान पर तपास कर अच्छा और सही मूल्य देखकर खरीदते हैं। वहाँ जाति-पांति का विचार नहीं करते और न इस बंधन में रहते कि इसी दुकान से लेंगे चाहे जैसे मिले। उधार वाला तो बंधा होता है, जैसी जो कुछ मिले वह मजबूर है; परंतु नगद वाला बंधा नहीं होता, हमें भी मनुष्य भव बुद्धि विवेक मिला है इसमें भी इन साम्प्रदायिक बन्धनों में बंधे रहे तो सत्य वस्तु स्वरूप प्राप्त नहीं कर सकते। यह तो हमारे विवेक बुद्धि और पुरुषार्थ की बात है कि सत्य की खोज करें, ज्ञानी सद्गुरुओं की खोज करें, सत्संग करें और स्वयं के विवेक से सत्य को उपलब्ध करें।

यहाँ एक बात का और विशेष ध्यान रखना है कि निज शुद्धात्मानुभूति कब होती है, सम्यक्दर्शन कब और कैसे होता है, इसके विकल्प में न फंसें, वह तो हमारी पात्रता काललब्धि आने पर स्वयमेव होगा लेकिन सत्य वस्तु स्वरूप को समझ तो लेवें कि वास्तव में सत्यधर्म क्या है ? क्योंकि जब मान्यता ही विपरीत होगी, आचरण ही उल्टा होगा तो सत्य की उपलब्धि भी नहीं होगी। बाजार में दो रुपये का घड़ा ठोक बजाकर देखकर लेते हैं और धर्म के सम्बन्ध में कोई विवेक नहीं रखते हैं। जो वंश परम्परा या साम्प्रदायिक आचरण चल रहा है उसे ही धर्म मानकर करते रहते हैं, यही तो सबसे बड़ा धोखा है। धर्म के लिये बड़ी जागरूकता हिम्मत और विवेक की आवश्यकता है। अनेकों ज्ञानी महापुरुषों ने इस सत्य धर्म को अपना जीवन समर्पित करके स्वयं का कल्याण करते हुए हमारा मार्गदर्शन किया। हम भी विवेक बुद्धि से काम लें, समझने की कोशिश करें, चाहे जिसकी बातों में न लगे, तो सब सहज में सुलभ हो सकता है।

यहाँ विशेष महत्वपूर्ण बात जो निर्णय करने की है वह यह है कि अशुभ भाव और अशुभ क्रिया संसारी आरंभ, परिग्रह, विषयादि, यह सब पाप अशुभ

कर्म संसार में रूलाने वाले दुःख देने वाले नरक और तिर्य्य गति ले जाने वाले हैं तथा शुभ भाव और शुभ क्रिया दया, दान, व्रत, नियम, संयम, पूजन, भजन आदि पुण्य शुभकर्म संसार में संसारी सुख देवगति, मनुष्य गति के कारण हैं। यह दोनों पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ कर्म संसार के ही कारण हैं, यह कोई भी धर्म नहीं है, अधर्म ही है।

धर्म तो एकमात्र चैतन्यमयी शुद्ध स्वभाव ही अपना सत्य धर्म है। पर का शुद्ध स्वभाव उसका अपना धर्म है। उससे भी न मेरा कोई संबंध है और न उससे मेरा भला होने वाला। जैसे- एक चेतन जीव द्रव्य है और पुद्गल अचेतन द्रव्य है तो एक जीव से पुद्गल तो भिन्न है ही, परंतु दूसरा चेतन जीव भी अचेतनवत् भिन्न है। ऐसे ही वस्तु स्वभाव तो धर्म है परन्तु मेरा चैतन्य लक्षण निज शुद्ध स्वभाव ही मेरा धर्म है। शेष सभी पर द्रव्य, पर जीव के शुद्ध स्वभाव भी मेरे लिये अचेतनवत् भिन्न हैं। ऐसा निर्णय, ऐसी स्वीकारता ही धर्म की सच्ची स्वीकारता है। इसी से कल्याण होता है, यह है जैन दर्शन का मूल आधार, स्वतंत्रता की घोषणा, जिनेन्द्र परमात्मा की देशना। जो इसे स्वीकार करता है, इस अनुसार चलता है वह जिनेन्द्र का उपासक, धर्म श्रद्धानी, व्रतधारी, मोक्षमार्गी है। जो इसके विपरीत है वह चोर है, व्रतधारी हो या महाव्रतधारी हो परन्तु उससे आत्म कल्याण होने वाला नहीं है। वह संसार में ही रूलता रहेगा। धर्म को धर्म जानो, कर्म को कर्म मानो, यही सत्य की स्वीकारता कल्याण का कारण है।

इसलिये संसार में पर वस्तु की चोरी आदि पाप तो दुःख और दुर्गति के कारण हैं ही, उन्हें छोड़कर यदि धर्म के नाम पर चोरी करते हैं तो यह तो आत्मा का ही घात करना है। धर्म रत्न का लोप करने से अनन्त संसार में भटकना पड़ेगा। पापों का परित्याग कर सही धर्म मार्ग पर चलें तो कल्याण होगा।

अधर्म में आर्त-रौद्र ध्यान, चार विकथा तो मूल आधार हैं। सात व्यसनों में रत रहना तो अधर्म में ही रत रहना है। इसी बात को आगे कहते हैं-

३. सात व्यसनों का सेवन करना अधर्म है-

विकहा अधर्म मूलस्य, विसनं अधर्म संचितं।

जे नरा भावं तिस्टंते, दुष दारुनं पुनः पुनः ॥१०७॥

अन्वयार्थ- (विकहा अधर्म मूलस्य) विकथा अधर्म की जड़ है (विसनं अधर्म

संचितं) व्यसन तो अधर्म में ही रत रहना है (जे नरा भावं तिस्टंते) जो मनुष्य इनके भावों में लगे रहते हैं अर्थात् विकथा और व्यसनो में ही रत रहते हैं (दुष दारुनं पुनः पुनः) वे बार-बार दारुण दुःख भोगते हैं।

विशेषार्थ- यहाँ अधर्म का वर्णन चल रहा है। संसाराशक्त बहिरात्मा कुदेवादि की मान्यता पूजा, कुगुरु की वंदना भक्ति करता है और अधर्म में रत रहता है; इसलिये अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। स्वभाव से सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा परमब्रह्म परमात्मा है परंतु अपने आपको भूला हुआ पुद्गल शरीरादि को ही देख रहा है और इनके पीछे ही यह कुकर्म करके स्वयं संसार में रूल रहा है, दुःख भोग रहा है। यहाँ अधर्म की जड़ विकथा है यह बताया जा रहा है और इसके साथ सात व्यसन तो अधर्म में ही रत रहना है। चार विकथाओं का पूर्व में वर्णन आ चुका है।

व्यसन- बुरी आदत या लत को व्यसन कहते हैं। किसी चीज का नशा लग जाना, बार-बार उसे ही करने के भाव होना तथा वैसी क्रिया करना व्यसन कहलाता है। व्यसन सात होते हैं- १. जुआँ खेलना, २. माँस खाना, ३. शराब पीना, ४. वेश्या सेवन करना, ५. शिकार खेलना, ६. चोरी करना, ७. परस्त्री रमण करना।

जुआँ खेलना माँस मद, वेश्या व्यसन शिकार।

चोरी परस्त्री रमण, सातों व्यसन निवार ॥

यह व्यसन महा दुःखदाई होते हैं। वर्तमान जीवन को नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं और भविष्य में दुर्गति दुःख दाता होते हैं। जिन बुरी आदतों में मनुष्य आसक्त हो जावे तथा जिनके सेवन से इस लोक में धन हानि, यश हानि, शरीर हानि और धर्म हानि उठाना पड़े तथा तीव्र पाप बांध कर नरक आदि के दुःख उठाना पड़े तथा एक बार नहीं, बार-बार दुःखों को भोगने वाली पर्यायों में जन्म-मरण करना पड़े ऐसे विकथा और व्यसनो से आत्म कल्याणार्थी को दूर रहना चाहिये, बचना चाहिये।

इन सात व्यसनो के सेवन करने से क्या दुर्दशा दुर्गति होती है ? उसका क्रमशः वर्णन करते हैं-

जुआँ व्यसन का परिणाम कहते हैं-

जूआ असुद्ध भावस्य, जोइतं अनृतं सुतं।

परिणय आरति संजुक्तं, जूआ नरस्य भाजनं ॥ १०८ ॥

अन्वयार्थ- (जूआ असुद्ध भावस्य) अशुद्ध भावों को जुआँ कहते हैं (जोइतं

अनृतं सुतं) मिथ्या शास्त्रों को पढ़ना जिससे अशुद्ध भाव हो वह भी जुआं है (परिणय आरति संजुक्तं) आर्त भावों में लगे रहना और उन्हीं का बार-बार विचार करना भी जुआं है (जूआ नरस्य भाजनं) जुआं नरक का पात्र बनाता है।

विशेषार्थ- यहाँ व्यसन के प्रकरण में जुआं खेलना व्यसन के स्वरूप का वर्णन चल रहा है। ताश, चौपड़, शतरंज या अन्य खेल जिनमें धनादि का दांव लगाकर हार-जीत का खेल खेला जाता है उसे जुआँ खेलना कहते हैं। इससे वर्तमान जीवन दुःखमय बनता है और भविष्य में नरक जाना पड़ता है। यह तो त्याज्य है ही क्योंकि इससे परिणामों में निकृष्टता रहती है। यहाँ तारण स्वामी कहते हैं कि जो बाहर में तो जुआं नहीं खेलते परन्तु अशुद्ध भावों में रमण करते हैं यह भी जुआं खेलना है क्योंकि जीव के शुद्ध भावों से मुक्ति और अशुद्ध भावों से संसार मिलता है इसलिये जीव का सबसे बड़ा जुआं तो यही है। बाहर में जुआं खेलना तो प्रत्यक्ष ही अशुद्ध भाव रूप निंदनीय त्याज्य है। खोटे शास्त्र, कथा, कहानी, उपन्यास आदि पढ़ना भी भावों को अशुद्ध करने वाला व्यसन जुआं ही है।

आर्त भाव-इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग, पीड़ा चिन्तवन, निदान बंध इन भावों में लगे रहना, दुःखी शोकमय खेद-खिन्न रहना भी जुआं जैसा ही है। यह भाव ही नरक का पात्र बनाते हैं, क्रिया और भाव यही तो कर्मबन्ध के कारण हैं।

‘जुआं खेलने वाले पुरुष को क्रोध मान माया लोभ यह चारों कषाय तीव्र होती हैं, जिससे जीव अधिक पाप को प्राप्त होता है। उस पाप के कारण यह जीव जन्म, जरा, मरण रूपी तरंगों वाले दुःख रूप सलिल से भरे हुए और चतुर्गति गमन रूप आवर्ती (भावों) से संयुक्त ऐसे संसार समुद्र में परिभ्रमण करता है। उस संसार में जुआं खेलने के फल से यह जीव शरण रहित होकर छेदन-भेदन, कर्तन आदि के अनन्त दुःख को पाता है। जुआं खेलने से अन्धा हुआ मनुष्य इष्ट मित्र को कुछ नहीं गिनता है। न गुरु को, न माता को और न पिता को ही कुछ समझता है किन्तु स्वच्छन्द होकर पापमयी बहुत से अकार्यों को करता है। जुआं खेलने वाला पुरुष स्वजन में, परजन में, स्वदेश में, परदेश में, सभी जगह निर्लज्ज हो जाता है। जुआं खेलने वाले का विश्वास उसकी माता तक भी नहीं करती है। इस लोक में अग्नि, विष, चोर और सर्प तो अल्प दुःख देते हैं; किन्तु जुआं खेलना मनुष्य के हजारों लाखों भवों में दुःख को उत्पन्न करता है। आँखों से रहित मनुष्य यद्यपि देख नहीं सकता है तथापि शेष इन्द्रियों से तो जानता है परंतु जुआं खेलने में अंधा हुआ मनुष्य

संपूर्ण इन्द्रियों वाला होकर भी किसी के द्वारा कुछ नहीं जानता है। वह झूठी शपथ करता है, झूठ बोलता है, अति दुष्ट वचन कहता है और क्रोधान्ध होकर पास में खड़ी हुई बहिन, माता और बालक को भी मारने लगता है। जुआँसी मनुष्य निरन्तर चिन्तातुर रहता है। जुआं खेलने में उक्त अनेक भयानक दोष जान करके दर्शन गुण को धारण करने वाले उत्तम पुरुष को जुआं का हमेशा के लिये त्याग करना चाहिये।’

(वसुनन्दि श्रावकाचार गाथा ६० से ६९ तक)

आगे मांस भक्षण के दोष कहते हैं-

मांसं रौद्र ध्यानस्य, संमूर्च्छन जत्र तिष्ठते ।

जलं कंद मूलस्य, साकं संमूर्च्छनस्तथा ॥ १०९ ॥

स्वादं विचलितं जेन, संमूर्च्छनं तस्य उच्यते ।

जे नरा तस्य भुक्तं च, तिर्यचं नरय स्थितं ॥ ११० ॥

विदल संधान बंधानं, अनुरागं जस्य गीयते ।

मनस्य भावनं कृत्वा, मांसं तस्य न सुद्धये ॥ १११ ॥

फलं संपूर्ण भुक्तं च, संमूर्च्छन त्रस विभ्रमं ।

जीवस्य उत्पन्नं दिष्टा, हिंसानंदी मांस दूषनं ॥ ११२ ॥

अन्वयार्थ- (मांसं रौद्र ध्यानस्य) रौद्र ध्यानों का होना और उनमें ही लगे रहना मांस खाना है (संमूर्च्छन जत्र तिष्ठते) जहाँ संमूर्च्छन जीव रहते, ठहरते हैं (जलं कंद मूलस्य) ऐसे जल और कंद मूलों को (साकं संमूर्च्छनस्तथा) तथा साक भाजी को जिसमें संमूर्च्छन जीवों की उत्पत्ति होती है उसे खाना मांस खाने के समान है।

(स्वादं विचलितं जेन) जिन खाद्य पदार्थों, भोजन, फल व रसादि का स्वाद बिगड़ जावे (संमूर्च्छनं तस्य उच्यते) उनमें संमूर्च्छन व त्रस जीव पैदा होने लगते हैं ऐसा कहते हैं (जे नरा तस्य भुक्तं च) जो मनुष्य ऐसे स्वाद बिगड़े खाद्य पदार्थों को खाता है (तिर्यचं नरय स्थितं) उसे तिर्यच और नरक गति जाना पड़ता है।

(विदल संधान बंधानं) द्विदल, दो दाल वाली वस्तु दूध-दही के साथ अचार मुरब्बा आदि (अनुरागं जस्य गीयते) जो इन वस्तुओं को बड़ी रुचि राग पूर्वक खाते हैं (मनस्य भावनं कृत्वा) मन से खाने की भावना करते हैं (मांसं तस्य न सुद्धये) वह

मांसाहार के त्यागी होते हुए भी उन्होंने मांस खाना छोड़ा नहीं है।

(फलं संपूर्णं भुक्तं च) जो साबुत फल को बिना देखे शोधे खाता है (संमूर्च्छन त्रस विभ्रमं) उसमें संमूर्च्छन त्रस जीवों के होने का संशय रहता है (जीवस्य उत्पन्नं दिस्टा) क्योंकि फलों में संमूर्च्छन और त्रस जीवों को पैदा होते देखा जाता है (हिंसानंदी मांस दूषणं) उनका सेवन करना तथा हिंसा में आनंद मानना यह सब मांस खाने के दोष कहे गये हैं।

विशेषार्थ- सप्त व्यसन में दूसरा व्यसन मांस खाना है। किसी भी प्राणी के शरीर का घात करके अथवा मरे हुए शरीर का मांस खाना यह महानिंद्य कर्म महान हिंसा का कारण नरक ले जाने वाला है। मांस खाने वाला रौद्र ध्यानी, कठोर, दुष्ट चित्त वाला होता है। मांस में अनन्त संमूर्च्छन और त्रस जीवों की उत्पत्ति होती है, उसके खाने से अनन्त जीवों का घात होता है और महान हिंसा का दोष लगता है। यहाँ तारण स्वामी कहते हैं कि जो बाहर से मांसाहार के त्यागी हैं परन्तु जिनके रौद्र ध्यानों का सद्भाव चल रहा है वह मांसाहारी ही हैं, उन्हें वही मांस खाने के दोष से अनन्त अशुभ कर्मों का बन्ध होता है तथा जो मांसाहार के त्यागी हैं परन्तु जल, कंदमूल, शाक भाजी, जिनमें संमूर्च्छन जीवों की उत्पत्ति होती रहती है तथा जिस वस्तु का स्वाद बिगड़ जावे, उसमें भी संमूर्च्छन जीवों की उत्पत्ति होती है, जो मनुष्य इनको खाते हैं वह मांसाहारी ही हैं। वे नरक तिर्यच गति ही जाते हैं। यहाँ मांस खाने का त्याग कर देने मात्र से मांसाहार का त्यागी नहीं हुआ; क्योंकि जिन चीजों में संमूर्च्छन और त्रस जीवों की उत्पत्ति होती है, उनका सेवन करना खाना भी मांस खाना है। जैसे- पानी, इसमें संमूर्च्छन और त्रस जीव रहते ही हैं तो इसको बिना छाने, शुद्ध प्रासुक किये बिना पीना मांस दूषण है। ऐसे ही कंदमूल- आलू, मूली, अदरक, घुड़याँ, प्याज आदि जिनमें निरंतर ही संमूर्च्छन जीवों की उत्पत्ति होती रहती है इन्हें खाना भी मांसाहार है; तथा शाक भाजी, फूल गोभी आदि जिनमें संमूर्च्छन जीवों की उत्पत्ति होती है तथा त्रस जीव भी रहते हैं इनका सेवन करना खाना भी मांसाहार है तथा दो दाल वाली वस्तु दूध-दही आदि में मिलाकर खाना, अचार मुरब्बा आदि जिनमें संमूर्च्छन जीव पैदा होते हैं, रहते हैं, त्रस जीव भी पैदा हो जाते हैं, इनको खाना तथा ऐसी चीजों को मन से खाने के भाव करना भी मांसाहार का दूषण है तथा साबुत फलों को खाना क्योंकि फलों में तो संमूर्च्छन ही नहीं, त्रस जीवों को पैदा होते देखा जाता है तो जो फलों को भी बनाकर शोधकर

देखकर नहीं खाते वह भी मांसाहारी हैं तथा हिंसा में आनंद मानना भी मांस का दूषण है इसलिये जो जीव अपना आत्म कल्याण करना चाहते हैं, संसार के दुःख नरक निगोद आदि दुर्गतियों से बचना चाहते हैं उन्हें इन विकथाओं का, व्यसनो का, उनके अतिचार सहित सर्वथा त्याग कर देना चाहिये तथा हमेशा अपने भावों की संभाल रखना चाहिये; क्योंकि परिणाम ही कर्म हैं। भावों से ही कर्म बंधते हैं और इसी से यह जीव संसार में रुलता है।

मांस के दोषों को बचाने के लिये यह बात बहुत जरूरी है कि जिस किसी वस्तु में संमूर्च्छन त्रस जन्तु पैदा हों उसको नहीं खाना चाहिये। हर एक भोजन जो बना हुआ ताजा होगा वह अपने स्वाद में रहेगा। बासी होने पर रस चलित हो जायेगा, जो फल सड़ जावे, गल जावे वह रस चलित होगा, जो घी या तेल अपने असली स्वाद में न होगा वह रस चलित होगा, ऐसे पदार्थों को खाना श्रावक को उचित नहीं है।

किसी भी फल को तोड़कर देखकर खाना उचित है क्योंकि उसके भीतर त्रस जीव पैदा होने की संभावना है। बादाम, सुपारी, जामफल, आम आदि के भीतर कभी-कभी कीड़ा निकल आते हैं। अच्छी तरह से देखे बिना कोई फल या वस्तु नहीं खाना चाहिये, जो बिना देखे खाते-पीते हैं वह हिंसा की परवाह नहीं करते वे हिंसा में आनंद मानते हैं, उनको मांस का दोष आता है। प्रयोजन यह है कि जिस चीज में संमूर्च्छन, त्रस जीवों की उत्पत्ति हो गई है व होने की संभावना हो उस वस्तु को दयावान मांसाहार त्यागी को नहीं खाना चाहिये। शुद्ध रसोई खान-पान करने से ही श्रावक यथार्थ में मांस के सर्व दोषों से बच सकता है।

विकथा वचन की क्रिया होती है, जिससे भाव बिगड़ते हैं। व्यसन शारीरिक क्रिया होती है इससे भी भाव बिगड़ते हैं। मन, वचन, काय की क्रिया से आस्रव होता है और जीव के भाव से बन्ध होता है अतः जो आस्रव बन्ध से बचना चाहते हैं उन्हें द्रव्य संयम अर्थात् मन, वचन, काय की क्रिया को संयम मय करना होगा तभी भाव संयम होगा और आस्रव बन्ध रुकेगा।

आगे मद्य पान के दोषों का वर्णन करते हैं-

मद्यं ममत्वं भावेन, राज्यं आरूढं चिंतनं ।

भाषा सुद्धि न जानंते, मद्यं तस्य विसंचितं ॥ ११३ ॥

अनृतं असत्य भावं च, कार्याकार्यं न सूझये ।
 ते नरा मद्यपा होंति, संसारे भ्रमनं सदा ॥ ११४ ॥
 जिन उक्तं न सार्धन्ते, मिथ्या रागादि भावना ।
 अनृतं नृत जानंति, ममतं मान भूतयं ॥ ११५ ॥
 सुद्ध तत्त्वं न वेदंते, असुद्धं सुद्ध गीयते ।
 मद्यं ममत भावस्य, मद्य दोषं जथा बुधैः ॥ ११६ ॥
 जिन उक्तं सुद्ध तत्त्वार्थं, जेन सार्धं अव्रतं व्रती ।
 अन्यानी मिथ्या ममतस्य, मद्ये आरूढ ते सदा ॥ ११७ ॥

अन्वयार्थ- (मद्यं ममत भावेन) ममत भाव ही मद्यपान, शराब पीना है (राज्यं आरूढ चिंतनं) मैं सबका मालिक जिम्मेदार हूँ, सब मेरे अधिकार में है, ऐसा चिंतन, इन्हीं विचारों में संलग्न रहना (भाषा सुद्धि न जानंते) जिसके बोलने का कोई ठिकाना नहीं रहता, चाहे जो कहता है (मद्यं तस्य विसंचितं) उसी को शराबी कहा जाता है ।

(अनृतं असत्य भावं च) जो मिथ्या और असत्य भावों में लगा रहता है (कार्याकार्यं न सूझये) जिसे कोई कार्य-अकार्य नहीं सूझता, क्या अच्छा है, क्या बुरा है, क्या उचित है, क्या अनुचित है ? जिसको इसकी सुध नहीं रहती, बेभूल है (ते नरा मद्यपा होंति) वह मनुष्य शराब पिये हुए है, शराबी है (संसारे भ्रमनं सदा) ऐसा शराबी अज्ञानी प्राणी सदा संसार में ही भ्रमण करता है ।

(जिन उक्तं न सार्धन्ते) जिनेन्द्र भगवान ने क्या कहा है, इसका वह श्रद्धान नहीं करता है, अपने आत्म स्वरूप की तरफ नहीं देखता (मिथ्या रागादि भावना) मिथ्यात्व राग-द्वेषादि के भावों में लगा रहता है (अनृतं नृत जानंति) क्या शाश्वत है, क्या अशाश्वत है ? नाशवान क्षणभंगुर को अविनाशी शाश्वत जानता है (ममतं मान भूतयं) ममत का और मान का भूत उसके सिर पर चढ़ा रहता है ।

(सुद्ध तत्त्वं न वेदंते) शुद्धतत्व अपने शुद्धात्म स्वरूप का अनुभव अनुभूति नहीं करता (असुद्धं सुद्ध गीयते) अशुद्ध को ही शुद्ध कहता है, जो कुछ हूँ यही मैं हूँ अर्थात् यह शरीरादि रूपधारी ही मैं हूँ (मद्यं ममत भावस्य) ममत भाव की शराब पिये रहता है (मद्य दोषं जथा बुधैः) ज्ञानी जनों ने इसे ही मद्य का दोष कहा है ।

(जिन उक्तं सुद्ध तत्त्वार्थं) जिनेन्द्र परमात्मा ने जो शुद्ध तत्त्वार्थ अर्थात् शुद्धात्म स्वरूप को ही इष्ट और उपादेय कहा है (जेन सार्धं अव्रतं व्रती) उसका, जो व्रती हो या अव्रती हो, श्रद्धान और आराधन नहीं करता है (अन्यानी मिथ्या ममतस्य) वह अज्ञानी मिथ्या मोह ममत में (मद्ये आरूढ ते सदा) हमेशा शराब के नशे में उन्मत्त रहता है ।

विशेषार्थ- यहाँ व्यसनों के प्रकरण में मद्यदोष शराब पीने का वर्णन चल रहा है, संसारी व्यवहार में गुड़, महुआ, मुनक्का, अंगूर आदि को सड़ा-गलाकर जो मादक पदार्थ तैयार किया जाता है उसको शराब कहते हैं । इसके पीने से मनुष्य बेसुध, मदहोश, बाबला रहता है, उसे अपनी या किसी की कोई खबर नहीं रहती । संसार में अज्ञानी जीव गम या थकावट मिटाने के लिये नशा करते हैं । भांग, गांजा, अफीम, तम्बाकू, बीड़ी, चाय आदि भी इसी व्यसन के अंतर्गत आते हैं । शराब आदि नशीले पदार्थों का सेवन करने से मनुष्य की क्या दशा होती है, इसका वर्णन वसुनन्दि श्रावकाचार में गाथा ७० से ७९ तक किया है वह लिखते हैं-

मद्यपान से मनुष्य उन्मत्त होकर अनेक निंदनीय कार्यों को करता है और इसीलिये इस लोक और परलोक में अनन्त दुःखों को भोगता मद्यपायी उन्मत्त मनुष्य लोक मर्यादा का उल्लंघन कर बेसुध होकर चौराहे में गिर पड़ता है और इस प्रकार पड़े हुए उसके लार बहते हुए मुख को कुत्ते जीभ से चाटते हैं । उस बेसुध पड़े हुए मद्यपायी के पास जो कुछ द्रव्य होता है उसे दूसरे लोग हर ले जाते हैं, पुनः कुछ होश में आकर गिरता पड़ता बकता जाता है कि जिस बदमाश ने मेरा द्रव्य चुराया है, मैं तलवार से उसका सिर काटूंगा इस प्रकार कुपित वह गरजता हुआ अपने घर जाकर लकड़ी लेकर बर्तनों को फोड़ने लगता है । वह अपने ही पुत्र को, बहिन को और अन्य भी सबको लात मारने लगता है और नहीं बोलने योग्य वचनों को बकता है । मद्यपान से प्रबल उन्मत्त हुआ वह भले-बुरे को नहीं जानता तथा और भी अनेक निर्लज्ज कार्यों को करके बहुत पाप का बंध करता है । इस पाप से वह जन्म, जरा, मरण रूप संसार में अनन्त दुःख को पाता है । इस तरह मद्यपान में अनेक प्रकार के दोषों को जान करके मन, वचन, काय तथा कृत, कारित, अनुमोदना से उसका त्याग करना चाहिये ।

यह तो संसार में मद्यपान का परिणाम है । यहाँ श्री तारण स्वामी कहते हैं कि जिसने व्यवहार में मद्य त्याग कर दिया है परन्तु जो मोह ममत भाव में रत है वह

शराबी है। 'मोह महामद पियो अनादि, भूल आपको भ्रमरत वादि' मैं सबका मालिक जिम्मेदार हूँ, सब मेरे अधिकार में है। ऐसे अहं के नशे में उन्मत्त रहता है तथा जिसके बोलने का कोई ठिकाना नहीं है, भाषा शुद्धि ही नहीं जानता, चाहे जो बकता है, उसे वास्तव में शराबी कहते हैं। जो मिथ्या असत्य भावों में लगा रहता है, जिसे कार्य-अकार्य का विवेक नहीं है, क्या उचित है ? क्या अनुचित है ? जिसे अपनी सुध नहीं है, बेभूल है, वह मनुष्य शराबी है। ऐसा शराबी अज्ञानी प्राणी हमेशा संसार में भ्रमण करता है। जिनेन्द्र परमात्मा ने क्या कहा है ? जिनवाणी में क्या कहा है ? इसका कोई श्रद्धान नहीं करता। अपने आत्म स्वरूप की तरफ नहीं देखता और मिथ्यात्व, राग-द्वेषादि भावों में लीन रहता है। नाशवान, क्षणभंगुर शरीरादि, पौद्गलिक पदार्थों को अविनाशी, शाश्वत जानता है, कहता है। मोह ममत्व और मान का भूत उसके सिर पर चढ़ा रहता है। अपने शुद्ध तत्व शुद्धात्म स्वरूप का अनुभव विचार चिन्तन नहीं करता और अशुद्ध को ही शुद्ध कहता है। जो कुछ हूँ यही मैं हूँ अर्थात् यह शरीरादि रूपधारी ही मैं हूँ। इनसे भिन्न अपने शुद्धात्म स्वभाव को जानता ही नहीं है। पर में अपनत्व, एकत्व मानकर शरीर, धन, स्त्री, पुत्र, परिवार के मोह में बेसुध रहता है। ज्ञानीजनों ने इसे ही मद्य दोष कहा है।

जिनेन्द्र परमात्मा ने जो शुद्ध तत्त्वार्थ निज शुद्धात्म स्वरूप को ही इष्ट उपादेय कहा है उसकी श्रद्धा साधना नहीं करता ; फिर वह बाहर में व्रतधारी हो, महाव्रती साधु हो या अव्रती श्रावक हो, वह अज्ञानी है। जो मोह ममत्व में रत है, उसे हमेशा शराब का ही नशा चढ़ा रहता है, वह शराबी संसार में ही भ्रमण करेगा।

जिनेन्द्र परमात्मा ने क्या कहा है ? इस बात को योगीन्दुदेव परमात्मप्रकाश में कहते हैं-

देउ गिरंजणु इउँ भणइ, णाणिं मुखु ण भंति ।

णाण विहीणा जीवडा , चिरु संसारु भमंति ॥ ७३ ॥

णाण विहीणहँ मोक्खपउ, जीव म कासु वि जोइ ।

बहुएँ सलिल विरोलियई, करु चोप्पडउ ण होइ ॥ ७४ ॥

अनन्त ज्ञानादि गुण सहित और अटारह दोष रहित जो सर्वज्ञ वीतराग देव हैं वे ऐसा कहते हैं कि वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन सम्यक्ज्ञान से ही मोक्ष होता है, इसमें संदेह नहीं है और स्वसंवेदन ज्ञान कर रहित जो जीव हैं वे बहुत काल तक संसार में भटकते हैं।

जो सम्यक्ज्ञान रहित मलिन चित्त है अर्थात् अपनी बड़ाई प्रतिष्ठा लाभ आदि दुष्ट भावों से जिसका चित्त परिणत हुआ है और मन में ऐसा जानता है कि हमारी दुष्टता को कोई नहीं जान सकता, ऐसा समझकर वीतराग परमानंद सुख रस के अनुभव रूप चित्त की शुद्धि को नहीं करता तथा बाहर से बगुला जैसा भेष मायाचार रूप लोकरंजन के लिये धारण किया है, इसी भेष से हमारा कल्याण होगा इत्यादि, अनेक विकल्पों की कल्लोलों से अपवित्र है। ऐसे किसी अज्ञानी के मोक्ष पदवी हे जीव ! मत देख, अर्थात् बिना सम्यक्दर्शन के मोक्ष नहीं होता। उसका दृष्टांत कहते हैं- बहुत पानी के मथने से भी हाथ चिकना नहीं होता क्योंकि जल में चिकनापन है ही नहीं, जैसे जल में चिकनाई नहीं है, वैसे ही बाहरी भेष में सम्यक्ज्ञान नहीं है। सम्यक्ज्ञान के बिना महान तप करो तो भी मोक्ष नहीं होता क्योंकि सम्यक्ज्ञान का लक्षण वीतराग निज शुद्धात्मा की अनुभूति है वही मोक्ष का मूल है।

आगे ज्ञानी जीवों के निज शुद्धात्मभाव के बिना अन्य कुछ भी आदरने योग्य नहीं है, आचार्य योगीन्दुदेव यह कहते हैं-

अप्पा मिल्लिवि णाणियहँ, अण्णु ण सुंदरु वत्थु ।

तेण ण विसयहँ मणु रमइ, जाणंतहँ परमत्थु ॥ ७७ ॥

आत्मा को छोड़कर ज्ञानियों को अन्य वस्तु अच्छी नहीं लगती इसलिये परमात्म पदार्थ को जानने वालों का मन विषयों में नहीं लगता।

मिथ्यात्व रागादिक को छोड़ने से निज शुद्धात्म द्रव्य का यथार्थ ज्ञानकर जिनका चित्त परिणत हो गया है, ऐसे ज्ञानियों को शुद्ध बुद्ध परम स्वभाव परमात्मा को छोड़कर दूसरी कोई भी वस्तु सुन्दर नहीं भासती इसीलिये उनका मन कभी विषय वासना में नहीं रमता। यह विषय कैसे हैं ? जो कि शुद्धात्मा की प्राप्ति के शत्रु हैं, ऐसे भव भ्रमण के कारणभूत काम भोग रूप पांच इन्द्रियों के विषय उनमें मूढ़ जीवों का ही मन रमता है, सम्यक्दृष्टि का मन नहीं रमता।

कैसे हैं सम्यक्दृष्टि ? जिन्होंने वीतराग सहजानंद अखंड सुख में तन्मय परमात्म तत्व को जान लिया है इसलिये यह निश्चय हुआ कि जो विषय वासना के अनुरागी हैं वे अज्ञानी हैं-

मोह के ममत्व भाव के कारण इस जीव की क्या दशा हो रही है ? वह कहते हैं-

कालु अणाइ अणाइ जिउ भव सायरु वि अणंतु ।

जीविं विणिण ण पत्ताई जिणु सामिउ सम्मत्तु ॥ १४३ ॥

घर वासउ मा जाणि जिय दुक्किय वासउ एहु ।
पासु कयंते मंडियउ अविचलु णिस्संदेहु ॥ १४४ ॥
देहु वि जित्थु ण अप्पणउ तहिं अप्पणउ कि अण्णु ।
पर कारणि मण गुरुव तुहुं सिव संगमु अवगण्णु ॥ १४५ ॥

(परमात्म प्रकाश)

काल भी अनादि है, जीव भी अनादि है और संसार भी अनादि अनंत है लेकिन इस जीव ने जिनराज स्वामी और सम्यक्त्व यह दो कभी नहीं पाये। यह मोह के चक्कर में ऐसा चकरा रहा है कि जो अपना है नहीं उसे अपना मान रहा है और जो अपना निज शुद्ध स्वभाव चैतन्य लक्षण शुद्धात्म स्वरूप है उसे भूला हुआ है।

हे जीव ! इस गृहवास को अपना मत जान। यह पाप का निवास स्थान दुःखों का घर है। यमराज (काल) ने अज्ञानी जीवों को बांधने के लिये यह अनेक फांसी से मंडित बहुत मजबूत बंदी खाना बनाया है इसमें संदेह नहीं है।

जहाँ देह भी अपना नहीं, उसमें अन्य क्या अपना हो सकता है। इस कारण तू मोक्ष का कारण निज शुद्धात्म तत्व को छोड़कर यह शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, वैभव आदि में ममत्व मत कर। यह घर परिवार, संसार, समाज का व्यामोह छोड़। अपने शुद्धात्म तत्व की भावना कर इसी से भला होगा।

यह मोह की मदिरा पिये हुए ही यह जीव अनादि से संसार में भ्रमण कर रहा है और जब तक मोह का बन्धन स्त्री, पुत्र, परिवार, धन, वैभव, मकान आदि का सम्बन्ध नहीं छोड़ेगा, भेदज्ञान पूर्वक निज शुद्धात्मानुभूति नहीं करेगा तब तक ऐसे ही संसार में रूलता रहेगा। बिना धर्म के श्रद्धान, निजशुद्धात्मानुभूति के बगैर बाहर में कितना ही व्रत, नियम, संयम धारण किया जावे, मुक्ति होने वाली नहीं है। मद्य का त्याग करना है तो अपने मोह ममत्व का त्याग करो तभी निराकुल सुख शान्ति में रह सकते हो; क्योंकि व्यसनो के सेवन से आकुलता होती है, विकल्प चलते हैं, जीव निरन्तर चिन्तित दुःखी परेशान रहता है।

इसी क्रम में आगे वेश्यागमन व्यसन के दोषों का वर्णन करते हैं-

विस्वा आसक्त आरक्तं, कुन्यानं रमते सदा ।

नरयं जस्य सद्भावं, ते भाव विस्वा दिस्टितं ॥ ११८ ॥

अन्वयार्थ- (कुन्यानं रमते सदा) हमेशा कुज्ञान में रमना ही (विस्वा आसक्त

आरक्तं) वेश्या में आसक्त होना और रमण करना है (नरयं जस्य सद्भावं) नरकगामी जीव के जैसे भाव होते हैं (ते भाव विस्वा दिस्टितं) वैसे ही भाव वेश्यागामी के दिखाई देते हैं।

विशेषार्थ- यहाँ वेश्यागमन दोष का वर्णन चल रहा है, यह भी व्यसन है। जिस विषय को भोगने के, करने के बार-बार भाव होते हैं और जो आकुलित करते हैं वह व्यसन है। वेश्या, शरीर को बेचने का धंधा करने वाली स्त्रियों को कहते हैं। इनमें जाति-पांति का, अपने पराये का कोई विचार नहीं होता। यह तो मात्र धन के लिये ही यह धन्धा करती हैं। विषय लम्पटी, कामी जीव अपने घर, परिवार, पत्नी आदि का विचार न करते हुए इनके जाल में फंस जाते हैं। जिससे अपना धन, धर्म और जीवन सभी बरबाद कर देते हैं। यहाँ बदनाम होते हैं और परभव में नरक जाते हैं।

श्रीमद् जिन तारण स्वामी यहां वेश्यागामी उसे कह रहे हैं, जो जीव हमेशा कुज्ञान में ही रम रहा है। जिसे अपने सत्स्वरूप, सम्यक्ज्ञान का पता ही नहीं है, जो कुज्ञानों में ही आसक्त लवलीन है वह वेश्यागामी है; क्योंकि वह अपने ज्ञान स्वरूपी आत्मा को भूला है। कुज्ञानमय संसार शरीर विषय भोगों में लगा है जिससे धन धर्म और जीवन सब बरबाद हो रहा है तथा जैसे भाव नरकगामी जीव के होते, चलते हैं वैसे ही भावों में यह जुड़ा है, उन्हें ही देख रहा है, उनमें ही आसक्त है, परभावों में आसक्त वेश्यागामी ही है, वह भी नरक जायेगा। बाहर से वेश्यागमन का जिस व्रती-अव्रती ने त्याग कर दिया परन्तु जो कुज्ञान में ही रमण कर रहा है, जिसे अपने सत्स्वरूप निज शुद्धात्मा का श्रद्धान ज्ञान नहीं हुआ है, निज स्वभाव में रमण नहीं कर रहा है, परभावों में ही रत है, वह वेश्यागामी ही है और नरक जायेगा; क्योंकि वह कुज्ञान के कारण अशुभ निकृष्ट भावों में रत है इसलिये वेश्यागमन का त्याग करना है, तो कुज्ञानों का त्याग करें, सम्यक्ज्ञानी बनें।

इसी क्रम में शिकार खेलना व्यसन के दोषों का वर्णन करते हैं-

पारधी दुष्ट सद्भावं, रौद्र ध्यानं च संजुतं ।

आरति आरक्तं जेन, ते पारधी च संजुतं ॥ ११९ ॥

मान्यते दुष्ट सद्भावं, वचनं दुष्ट रतो सदा ।

चिंतनं दुष्ट आनंदं, ते पारधी हिंसा नंदितं ॥ १२० ॥

**विस्वासं पारधी दुस्टा, मन कूड वचन कूडयं ।
 कर्मना कूड कर्तव्यं, विस्वासं पारधी संजुतं ॥ १२१ ॥
 जे जीव पंथ लागंते, कुपंथं जेन दिस्टते ।
 विस्वासं दुस्ट संगानि, ते पारधी दुष दारुनं ॥ १२२ ॥
 संसार पारधी विस्वासं, जन्म मृत्युं च प्राप्तये ।
 जे जीव अधर्म विस्वासं, ते पारधी जन्म जन्मयं ॥ १२३ ॥**

अन्वयार्थ- (पारधी दुस्ट सद्भाव) दुष्ट स्वभाव का होना ही शिकारी है (रौद्र ध्यानं च संजुतं) और रौद्र ध्यान में लीन रहना तथा (आरति आरक्तं जेन) जो जीव आर्त-रौद्र ध्यान में लगा रहता है (ते पारधी च संजुतं) वह पारधी है और शिकार खेलने अर्थात् अपनी आत्मा का घात करने में लगा है ।

(मान्यते दुस्ट सद्भाव) जो दुष्ट स्वभाव को अच्छा मानता है (वचनं दुस्ट रतो सदा) दुष्ट वचनों में सदा रत रहता है अर्थात् कठोर अपशब्द बोलता है (चिंतनं दुस्ट आनंदं) तथा मन से भी दुष्टता का अर्थात् दूसरों का बुरा विचार करता है और उसी में आनंदित रहता है (ते पारधी हिंसा नंदितं) जो हिंसा में आनंद मान रहा है, वह पारधी शिकारी है ।

(विस्वासं पारधी दुस्टा) जो दूसरों को अपना विश्वास देकर धोखा देता है, वह दुष्ट पारधी के समान है (मन कूड वचन कूडयं) मन से कुटिल रहता है, वचन से कुटिल मायाचार करता है (कर्मना कूड कर्तव्यं) काय की क्रिया से मायाचार ठगाई कुटिलता का काम किया करता है (विस्वासं पारधी संजुतं) ऐसा पारधी शिकारी महादोषों में लीन रहता है ।

(जे जीव पंथ लागंते) जो जीव मुक्तिमार्ग पर लगना चाहते हैं, अपना आत्म कल्याण करना चाहते हैं (कुपंथं जेन दिस्टते) ऐसे जीवों को जो कुपंथ का मार्ग दिखाता है अर्थात् धर्म से विपरीत अधर्म-कुधर्म में लगाता है (विस्वासं दुस्ट संगानि) विश्वास दिलाता है और दुष्ट संग में कुगुरुओं के जाल में फंसा देता है, मिथ्या मान्यता कुदेवादि की पूजा आदि के प्रपंच में फंसा देता है (ते पारधी दुष दारुनं) वह पारधी शिकारी है जो दारुण दुःखों को भोगेगा और नरक निगोदादि दुर्गतियों में जायेगा ।

(संसार पारधी विस्वासं) संसारी पारधी अर्थात् संसार में शिकार खेलने वालों का जो विश्वास करे (जन्म मृत्युं च प्राप्तये) तो इस जन्म में मृत्यु को प्राप्त होगा अर्थात् मारा जायेगा (जे जीव अधर्म विस्वासं) जो जीव अधर्मी का विश्वास करते हैं अर्थात् ढोंगी साधु कुगुरुओं के जाल में फंसते हैं, उन पर विश्वास करते हैं (ते पारधी जन्म जन्मयं) वे ऐसे पारधी के हाथों में फंस जाते हैं कि जन्म-जन्मान्तर संसार में ही रुलना पड़ेगा ।

विशेषार्थ- यहाँ व्यसनों के प्रकरण में पाँचवें व्यसन, शिकार के स्वरूप का वर्णन चल रहा है । शिकार खेलना जंगली दीन-हीन, पशु-पक्षियों को धोखे से मारना है । मृगया या शिकार खेलना बहुत बड़ी पाप रूप हिंसा है । शिकारी के परिणाम सदा ही दुष्ट रहते हैं वह पशु पक्षियों को खोज-खोजकर उनके पीछे दौड़कर उनका घात करता है, हिंसानंदी रौद्र ध्यान में प्रवर्तता है । जब शिकार हाथ नहीं आता या आकर निकल जाता है तब इष्ट वियोग रूप आर्तध्यान करता है या कहीं सिंह आदि से पाला पड़ जाता है तो अनिष्ट संयोग आर्तध्यान करता है । इन्द्रिय विषय की लम्पटता रूपी भाव की आशा में रहने से निदान रूप आर्त ध्यान करता है । शिकारी अनेक दोषों का पात्र होता है । मृग आदि पशुओं को मारकर उनके बच्चों को अनाथ बनाता है । शिकारी, माँसाहार वेश्या सेवन आदि व्यसनों में फंसा रहता है । हिंसानंदी खोटे परिणामों से नरक गति को बांध लेता है और दुर्गति में जाकर घोर कष्ट पाता है । एक शिकारी अपने जीवन में हजारों पशुओं का घातक होकर घोर पाप बन्ध करता है । किसी भी मानव को ऐसे खोटे शिकार व्यसन में नहीं पड़ना चाहिये, यह व्यसन धर्म का नाश करने वाला है; अतः इसका त्यागी तो प्रत्येक मनुष्य को होना चाहिये । अहिंसा धर्म को पालने वाले उत्तम क्षमादि धर्म के श्रद्धानी को तो कभी इस ओर देखना भी नहीं चाहिये तथा जो दया धर्म को स्वीकार करने वाले हैं उन्हें भी सब जीवों पर दया मैत्री भाव रखना चाहिये ।

यहाँ श्रीमद् जिन तारण स्वामी कह रहे हैं कि जो व्यवहार में शिकार व्यसनों के त्यागी हैं परन्तु जिनका दुष्ट स्वभाव है, जो रौद्र ध्यान में लीन रहते हैं, आर्तध्यान चलता रहता है, वे भी पारधी के दोषों से संयुक्त हैं । जो दूसरों के साथ दुष्टता करते हैं, उनको अच्छा मानते हैं, उनके साथ मित्रता रखते हैं तथा हिंसाकारी कठोर, पापमय दुष्ट वचन बोलते हैं तथा जिनके चित्त में हमेशा दूसरों को ठगने धोखा देने, घात करने आदि के बुरे विचार चलते हैं । जो हिंसा में आनंद मानते हैं वे भी पारधी

शिकारी हैं क्योंकि केवल पशु का शिकार करने वाला ही पारधी नहीं है; परंतु जो मानव, मानवों का शिकार करते हैं, दूसरों का नाश करके दूसरों को परस्पर मतभेद कराकर मुकदमा आदि लड़ाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं वे भी शिकार करने वाले पापी हैं।

जो दूसरों को अपना विश्वास देकर धोखा देता है। मन से कुटिल, वचन से कुटिल और शरीर की क्रिया से भी कुटिल रूप आचरण करता है ऐसा विश्वासघाती, मायाचारी पुरुष भी शिकारी ही है। शिकारी तो पशुओं को छिपकर कष्ट देकर मारता है; किन्तु यह लोगों को विश्वास दिलाकर ठगता है। वचनों में विष भरा होता है, ऊपर से मीठा बोलता है। भोले जीवों को अपने फंदे में फंसाकर ठगने का सदा विचार किया करता है तथा अपने शरीर से ऐसी क्रियायें करता है जिनका हेतु मायाचार है। कोई-कोई प्राणी पर को ठगने के लिये त्यागी, साधु, शास्त्री, पंडित, विद्वान का रूप बना लेते हैं तथा बाहरी जप, तप, पूजा, पाठ आदि क्रिया अपने को धर्मात्मापने का विश्वास जमाने के लिये करते हैं; किन्तु भीतर ठगने का भाव होता है। कुटिल मन, वचन, काय की प्रवृत्ति अनन्त दोषों को उत्पन्न करने वाली होती है। अल्प क्षणिक धनादि के लिये मायाचार करके दूसरों को ठगना शिकारी के दोष से ही संयुक्त होना है।

जो जीव धर्म मार्ग पर चलना चाहते हैं, अपना आत्म कल्याण करना चाहते हैं, कुगुरु उन्हें विपरीत मार्ग बताकर अधर्म-कुधर्म में फंसा देते हैं। मुक्ति का मार्ग तो एक ही है- 'सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः' निज शुद्धात्मानुभूति करो, अपने शुद्ध स्वभाव का ज्ञान करो और ध्यान लगाओ यही मुक्ति का मार्ग है। भेदज्ञान पूर्वक शरीरादि से भिन्न मैं एक अखंड अविनाशी चैतन्य तत्व भगवान आत्मा हूँ, यह शरीरादि मैं नहीं और यह मेरे नहीं। ऐसे वीतराग विज्ञानमय मार्ग से छुड़ाकर कुगुरु राग-द्वेष पूर्ण कुमार्ग में लगा देते हैं। कुदेव-अदेव की पूजा आराधना, बाह्य क्रियाकांड, पूजन-भजन, खान-पान आदि शारीरिक क्रियाओं को धर्म बता देते हैं। कुगुरु, कुशास्त्र के जाल में फंसा देते हैं। देखो इस शास्त्र में यह कहा है, इस शास्त्र में यह कहा है, इस आचार्य ने यह कहा है, इस आचार्य ने यह कहा है। ऐसा विश्वास दिलाकर कुमार्ग में लगा देते हैं। ऐसे मिथ्यामार्ग के प्रचारक भी पारधी के समान हैं। राग-द्वेष वर्धक मार्ग कुमार्ग है। अपना स्वार्थ साधने के लिये, भक्तों से धन लेने के लिये, अपने विषयों की कामना की पूर्ति के लिये, पाप-पुण्य को धर्म

बताकर कुमार्ग का उपदेश देकर पत्थर की नौका का काम करते हैं। स्वयं भी संसार समुद्र में डूबते हैं और दूसरों को भी डुबाते हैं। धन की तृष्णा मानव को अंधा बना देती है। इसके लिये मनुष्य क्या-क्या कुकर्म नहीं करते, जो ऐसा मार्ग बताते हैं, वे घोर पाप का बंध करते हैं और निगोद में, कीटादि विकलत्रय में, नरक आदि दुर्गतियों में जन्म-मरण के दारुण दुःख भोगते हैं, ऐसे मानव भी पारधी हैं।

संसार में शिकारी का विश्वास करने पर उसी जन्म में मरना पड़ता है परन्तु जो जीव ऐसे अधर्म और अधर्मी का विश्वास करते हैं, ऐसे शिकारी के जाल में फंसते हैं, उन्हें जन्म-जन्म में मरना पड़ता है। मिथ्यात्व के समान जीव का अहितकर्ता कोई नहीं है। जो जीवों को ग्रहीत मिथ्यात्व अदेवादि मूर्ति पूजा और बाह्य क्रियाकांड को धर्म बताकर फंसाते हैं, कषाय के वातावरण को बढ़ाते हैं, आकुलता मय जीवन बनाते हैं और शुभोपयोग को धर्म बताते हैं वह कुगुरु रूपी पारधी मिथ्यात्व की कीचड़ में फंसकर संसार में गोते लगाते रहेंगे पुनः पुनः जन्म-मरण करेंगे।

इसी बात को और आगे कहते हैं-

मुक्ति पंथं तत्त्व सार्धं च, लोकालोकं च लोकितां ।

पंथ भ्रष्ट अचेतस्य, विस्वासं जन्म जन्मयं ॥१२४॥

पारधी पासि जन्मस्य, अधर्म पासि अनंतयं ।

जन्म जन्मं च दुष्टं च, प्राप्तं दुष दारुनं ॥ १२५ ॥

जिन लिंगी तत्त्व वेदंते, सुद्ध तत्त्व प्रकासकं ।

कुलिंगी तत्त्व लोपंते, परपंचं धर्म उच्यते ॥ १२६ ॥

ते लिंगी मूढ दिस्टी च, कुलिंगी विस्वासं कृतं ।

दुरबुद्धि पासि बंधंते, संसारे दुष दारुनं ॥ १२७ ॥

पारधी पासि मुक्तस्य, जिन उक्तं सार्धं ध्रुवं ।

सुद्ध तत्वं च सार्धं च, अप्य सद्भाव चिन्हितं ॥ १२८ ॥

अन्वयार्थ- (मुक्ति पंथं तत्त्व सार्धं च) मुक्ति का मार्ग तो तत्त्व श्रद्धान करना है अर्थात् निज शुद्धात्मानुभूति ही मोक्षमार्ग है। केवलज्ञानमयी ध्रुव तत्त्व सिद्ध स्वरूपी

शुद्धात्मा मैं स्वयं हूँ ऐसा श्रद्धान करना ही मुक्ति का मार्ग है (लोकालोकं च लोकिंतं) जो लोकालोक को देखने-जानने वाला है, ऐसा ज्ञानमयी ज्ञायक स्वभावी मैं हूँ ऐसा श्रद्धान ही मुक्ति का मार्ग है (पंथ भ्रष्ट अचेतस्य) इसके विपरीत जो पंथ भ्रष्ट अर्थात् मुक्तिमार्ग के विपरीत अज्ञानी कुगुरु आदि हैं जो अधर्म को अर्थात् पाप-पुण्य को, रागादि बाह्य क्रियाकांड को धर्म कहते हैं तथा अचेतन मूर्तिपूजा को धर्म बताते हैं (विश्वासं जन्म जन्मयं) इनका विश्वास करने से जन्म-जन्मों के लिये संसार में रूलना पड़ता है यह बड़े खतरनाक पारधी हैं।

(पारधी पासि जन्मस्य) शिकारी तो एक जन्म की ही फाँसी है (अधर्म पासि अनंतयं) किन्तु अधर्म अनन्त जन्मों की फाँसी है (जन्म जन्मं च दुस्टं च) अधर्म और कुगुरु रूपी दुष्टों के जाल में फँसने पर जन्म-जन्म में (प्राप्तं दुष दारुनं) दारुण दुःख भोगना पड़ते हैं।

(जिन लिंगी तत्व वेदंते) मोक्षमार्गी निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु तो शुद्धात्म स्वरूप निज तत्व का अनुभव करते हैं (सुद्ध तत्व प्रकासकं) और उसी शुद्ध तत्व का प्रकाश अर्थात् शुद्धात्म तत्व की ही चर्चा उसी का उपदेश करते हैं (कुलिंगी तत्व लोपंते) कुलिंगी अर्थात् जो बाहर से तो दिगंबर साधु हो गए हैं परन्तु जिन्हें अपने आत्म तत्व की खबर ही नहीं है, मात्र पेट पूजा, देवपूजा को ही धर्म मानते हैं, वह तत्व का लोप करके (परपंच धर्म उच्यते) संसारी प्रपंच बाहरी क्रियाकांड को धर्म कहते हैं।

(ते लिंगी मूढ दिस्टी च) ऐसे मिथ्यादृष्टि भेषधारियों (कुलिंगी विश्वासं कृतं) कुलिंगियों का विश्वास करना (दुर्बुद्धि पासि बंधंते) अपनी दुर्बुद्धि से उनके बंधन में बंधना है अर्थात् दुर्बुद्धि मूढ अज्ञानी प्राणी इनके जाल में फँस जाते हैं (संसारे दुष दारुनं) जिससे संसार में दारुण दुःख भोगना पड़ते हैं।

(पारधी पासि मुक्तस्य) पारधी के बंधन से मुक्त होना है अर्थात् कुगुरु के जाल से छूटना है तो (जिन उक्तं सार्धं ध्रुवं) जिनेन्द्र देव के कहे अनुसार अपने ध्रुव तत्व शुद्धात्म स्वरूप की श्रद्धा साधना करो (सुद्ध तत्वं च सार्धं च) शुद्ध तत्व और सच्चे देव गुरु धर्म की श्रद्धा है तो (अप्प सद्भाव चिन्हितं) अपने आत्म स्वभाव को पहिचानो कि मैं एक अखंड अविनाशी ध्रुवतत्व सिद्ध स्वरूपी चैतन्य लक्षण परमब्रह्म परमात्मा हूँ तो यह अधर्म और कुगुरु रूपी शिकारी के जाल से छूट जाओगे।

विशेषार्थ- यहाँ अधर्म के अंतर्गत व्यसनों का प्रकरण चल रहा है, जिसमें

शिकार खेलने वाले शिकारी (पारधी) का स्वरूप बताया जा रहा है कि संसार में जो शिकार खेलते हैं, जंगली पशु पक्षियों को जाल में फँसाते हैं, मारते हैं वे शिकारी दुष्ट स्वभाव के होते हैं। आर्त-रौद्र ध्यानों में लगे रहते हैं, हिंसा में आनंद मानते हैं। इससे नरक निगोद आदि दुर्गतियों में जाते हैं और महान कष्ट भोगते हैं तथा जो जीव उनके जाल में फँस जाते हैं उन्हें इस जन्म में ही मरना पड़ता है परंतु यहाँ तारण स्वामी कहते हैं कि जिन्होंने बाहर से व्यसनों का त्याग कर दिया है, अणुव्रती त्यागी, महाव्रती साधु हो गये परन्तु जिनके दुष्ट स्वभाव हैं, जो आर्त-रौद्र ध्यानों में लगे हैं। जो हिंसादि पापों में आनंद मानते हैं और धर्म के नाम पर भोले जीवों को अधर्म अज्ञान मिथ्यात्व में फँसाते हैं। वे शिकारी बड़े खतरनाक हैं क्योंकि मुक्ति का मार्ग तो तत्व श्रद्धान करना है, अपने शुद्धात्म स्वरूप की अनुभूति, मैं अरिहंत सिद्ध के समान केवलज्ञान का धारी लोकालोक को देखने जानने वाला ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा हूँ, ऐसा श्रद्धान ज्ञान और आचरण ही **सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः** है। इसके विपरीत जो पंथ भ्रष्ट अर्थात् मुक्ति मार्ग के विपरीत अज्ञानी कुगुरु हैं, जो पाप-पुण्य को धर्म बताते हैं। राग-द्वेषादि बाहरी क्रियाकांड को धर्म बतलाते हैं। इनका विश्वास करने पर जन्म-जन्मों तक संसार में रूलना पड़ता है।

शिकारी तो एक ही जन्म की फाँसी है, जो जीव इसके चंगुल में फँसते हैं, उन्हें इसी जन्म में अपने प्राण गंवाने पड़ते हैं; परन्तु यह अधर्म अनंत जन्मों की फाँसी है। यह अधर्म विकथा व्यसन और कुगुरु रूपी दुष्टों के जाल में फँसने पर जन्म-जन्म में दारुण दुःख भोगना पड़ते हैं। मोक्षमार्गी निर्ग्रन्थ दिगंबर साधु तो शुद्धात्म स्वरूप निज तत्व का अनुभव करते हैं तथा इसी शुद्ध तत्व शुद्धात्म स्वरूप का उपदेश देते हैं। धर्म का यथार्थ स्वरूप बताते हैं जो कुलिंगी अर्थात् बाहर से तो नग्न दिगंबर साधु हो गए हैं परन्तु जिन्हें अपने आत्म तत्व की खबर ही नहीं है। मात्र पेटपूजा, देवपूजा, धनसंग्रह मंदिर मठ बनवाना आदि को ही धर्म मानते हैं, वह तत्व का लोप करके संसारी प्रपंच बाहरी क्रियाकांड हाथ के आटे-पानी शुद्धि के भोजन, बाहरी भेष को ही धर्म कहते हैं। ऐसे मिथ्यादृष्टि भेषधारी कुलिंगियों का विश्वास करना इन्हें गुरु मानना या इनके वचनों पर विश्वास करना अपनी दुर्बुद्धि से फाँसी में बंधना है। जैसे-शिकारी के जाल में अज्ञानी पशु पक्षी फँस जाते हैं वैसे ही अपनी अज्ञानता दुर्बुद्धि से जो जीव इनके जाल में फँस जाते हैं, उन्हें संसार में दारुण दुःख

भोगना पड़ते हैं। पारधी शिकारी के जाल से मुक्त होना है अर्थात् इन अधर्म, विकथा, व्यसन और आर्त-रौद्र ध्यान तथा कुगुरुओं के जाल से मुक्त होना है तो जिनेन्द्र देव के कहे अनुसार अपने ध्रुव तत्व शुद्धात्म स्वरूप का श्रद्धान साधना करो।

आचार्य कुन्दकुन्द ने दर्शन पाहुड़ में कहा है-

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरयणं अभिदभूदं ।

जरमरणवाहिहरणं खयकरणं सत्त्वदुक्खाणं ॥१७॥

जिन वचन महौषधि है। विषयसुख का विरेचन अर्थात् निकालने वाली अमृत के समान है। जन्म-मरण की व्याधियों को हरने वाली है तथा सर्व दुःखों को क्षय करने वाली है।

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।

ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ॥२०॥

जिनेन्द्र परमात्मा ने कहा है कि जीवादि पदार्थों का श्रद्धान व्यवहार सम्यक्त्व है और अपने आत्मा के श्रद्धान को ही निश्चय सम्यक्त्व कहा है।

एवं जिणपण्णत्तं दंसणरयणं धरेह भावेण ।

सारं गुणरयणत्तय सोवाणं पढम मोक्खस्स ॥२१॥

इस प्रकार जिनेन्द्र के कहे अनुसार सम्यक्दर्शन रत्न को भाव सहित धारण करो, यही सारभूत रत्नत्रय गुण मोक्ष की प्रथम सीढ़ी है, शुद्ध तत्व और सच्चे देव गुरु धर्म की श्रद्धा है तो अपने आत्म स्वरूप को पहिचानों क्योंकि-

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं ।

केवलिजिणेहिं भणियं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं ॥२२॥

केवली जिनेन्द्र परमात्मा के वचनों का श्रद्धान करने वाले को सम्यक्त्व कहा है। जितना तुम कर सकते हो उतना करो अर्थात् जितना संयम तप चारित्र रूप अपने स्वरूप में रमणता कर सकते हो, अणुव्रती महाव्रती साधु हो सकते हो उतना करो। इतना नहीं कर सकते तो अपने आत्म स्वरूप का श्रद्धान तो करो।

अपना आत्म स्वरूप कैसा है, इसे समयसार में कहते हैं -

अरसमरुदमगंधं, अव्यत्तं चेदणागुणमसद्दं ।

जाण अलिंगगहणं, जीवमणिद्विडु संठाणं ॥४९॥

हे भव्य ! तू अपने आत्म स्वरूप को अरस अरूपी गंधरहित अव्यक्त चेतना गुण सहित (अलिंगी) किसी चिन्ह से ग्रहण न होने वाला, जिसका कोई आकार नहीं

है, जो मात्र ज्ञानानंद स्वभावी है ऐसा जान। अपने आत्म स्वभाव को पहिचानने अनुभव करने श्रद्धान करने से यह अधर्म रूपी शिकारी से पीछा छूट जायेगा, इसी उपाय से मुक्त हो सकते हो।

यहां कोई प्रश्न करे कि जब यह जीव आत्मा ऐसा है, टंकोत्कीर्ण अप्पा मात्र ज्ञानानंद स्वभावी है तो फिर यह बहिरात्मा संसारी अज्ञानी क्यों हो रहा है, यह अधर्म आदि में क्यों फंसा है ?

इसका समाधान करते हैं कि स्वभाव से तो यह जीव आत्मा ऐसा ही है परंतु यह अपने स्वभाव को नहीं जान रहा, भूला है और अनादि से कर्म का संयोग होने से यह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा हो रहा है और इसी भूल के कारण यह अधर्म आदि में फंसा है।

यहां पुनः प्रश्न करते हैं कि जब अनादि से ही जीव और कर्म का संयोग है और इसी कारण यह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा हो रहा है और इसी कारण यह अधर्म आदि में फंसा है तो फिर यह भूल किसकी है ?

इसका समाधान करते हैं कि भूल तो किसी की नहीं है, यह तो जगत का स्वभाव ही है। यहां इतना समझना है कि जीव चेतन है, कर्म जड़ पुद्गल हैं। यह जीव, मनुष्य भव में आया है, इसे बुद्धि विवेक आदि का शुभयोग मिला है तो इसे समझाया जा रहा है कि प्रभु ! तेरा सत्स्वरूप तो सिद्ध के समान शुद्ध बुद्ध अविनाशी ज्ञानानंद स्वभाव है। तू यह ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, रागादि भाव कर्म, शरीरादि नो कर्म रूप नहीं है और न यह तेरे हैं। यह तेरे से सर्वथा भिन्न जड़ पुद्गल अचेतन हैं, इसमें फंसा होने के कारण और इन्हें अपना मानने के कारण तू संसारी सुखी-दुःखी हो रहा है। जन्म-मरण कर रहा है और अनंत संसार में रुल रहा है। अब जिस जीव की समझ में यह बात आ जावे, श्रद्धान कर लेवे तो उसका भला हो सकता है। वह इस संसार के चक्र से छूटकर मुक्त हो सकता है। इस अपेक्षा यह सब कहा जा रहा है अब इसमें भी जिस जीव की होनहार अच्छी हो, काललब्धि आ गई हो वह समझकर सुलट कर मुक्ति के मार्ग में लग जाता है। सद्गुरु ज्ञानियों को तो शुभराग और करुणा होती है। इससे वह कहते, लिखते, बताते हैं। अपनी हम स्वयं देखें, जानें तो अपना भला हो सकता है। क्योंकि -

दौल समझ सुन चेत सयाने, काल वृथा मत खोवे ।

यह नरभव फिर मिलन कठिन है, जो सम्यक् नहीं होवे ॥

यहां अपनी बात समझना है। सद्गुरु तो सब स्पष्ट बता रहे हैं। बहिरात्मा जो पुद्गल को देख रहा है, उसकी रचना में लगा है, संसारासक्त धन, स्त्री, पुत्र, परिवार, शरीर के विषय भोगों में फंसा है। वह इनकी पूर्ति के लिये पर से मेरा भला होगा, ऐसी मिथ्या मान्यता के कारण कुदेव-अदेव आदि की पूजा भक्ति करता है। कुगुरु के जाल में फंसकर नाना प्रकार के कुकर्म-अधर्म आदि करता है। यहां अधर्म के अंतर्गत आर्त-रौद्र ध्यान, चार विकथा, सप्त व्यसन बताये जा रहे हैं। उनका स्वरूप और परिणाम बताया जा रहा है। छूटने मुक्त होने की विधि भी बताई जा रही है।

आगे चोरी करने के व्यसन के स्वरूप का वर्णन करते हैं-

**स्तेयं अनर्थं मूलस्य, विटंबं असुह उच्यते ।
संसारे दुष सद्भावं, स्तेयं दुर्गति भाजनं ॥ १२९ ॥
मनस्य चिंतनं कृत्वा, स्तेयं दुर्गति भावना ।
कृतं असुद्ध कर्मस्य, कूड सद्भाव रतो सदा ॥ १३० ॥
स्तेयं अदत्तं चिंते, वयनं असुद्धं सदा ।
हीनकृत कूड भावस्य, स्तेयं दुर्गति कारणं ॥ १३१ ॥
स्तेयं दुष्ट प्रोक्तं च, जिन वयन विलोपितं ।
अर्थ अनर्थ उत्पाद्यंते, अस्तेयं व्रत खंडनं ॥ १३२ ॥
सर्वन्यं मुष वानी च, सुद्ध तत्त्व समाचरेत् ।
जिन उक्तं लोपनं कृत्वा, स्तेयं दुर्गति भाजनं ॥ १३३ ॥
दर्शनं न्यान चारित्रं, मयमूर्ति न्यान संजुतं ।
सुद्धात्मा तत्त्व लोपंते, स्तेयं दुर्गति भाजनं ॥ १३४ ॥**

अन्वयार्थ- (स्तेयं अनर्थ मूलस्य) अनर्थ की जड़ चोरी करना है (विटंबं असुह उच्यते) यह महान विपदाओं का घर अशुभ कार्य कहा जाता है (संसारे दुष सद्भावं) इससे यहां संसार में दुःख मिलता है, दुर्गति होती है (स्तेयं दुर्गति भाजनं) चोरी करना ही दुर्गति का पात्र बनाती है।

(मनस्य चिंतनं कृत्वा) मन से चोरी करने के विचार करना, चिन्तन करना (स्तेयं दुर्गति भावना) चोरी की भावना दुर्गति का कारण है क्योंकि यह चौर्यान्न्द

रौद्रध्यान हो जाता है (कृतं असुद्ध कर्मस्य) शुभाशुभ कर्मों का करना (कूड सद्भाव रतो सदा) कुटिल भावों में सदा रत रहना भी चोरी है।

(स्तेयं अदत्तं चिंते) बिना दी हुई चीज लेना, चाहना चोरी है (वयनं असुद्धं सदा) हमेशा अशुद्ध, शुभाशुभ वचन बोलना (हीनकृत कूड भावस्य) खोटे काम कुटिल भाव से करना (स्तेयं दुर्गति कारणं) यह सब चोरी है, जो दुर्गति का कारण है।

(स्तेयं दुष्ट प्रोक्तं च) दुष्ट अहितकारी कहना भी चोरी है और (जिन वयन विलोपितं) जिन वचनों का लोप करना भी चोरी है (अर्थ अनर्थ उत्पाद्यंते) अर्थ का अनर्थ पैदा करना अर्थात् जो बात जैसी है, उसका उल्टा सीधा अर्थ बताना भी चोरी है (अस्तेयं व्रत खंडनं) नियम संयम व्रत लेकर उनका खंडन करना, छोड़ देना या विपरीत आचरण, मनमानी करना भी चोरी है।

(सर्वन्यं मुष वानी च) सर्वज्ञ वीतराग अरिहन्त भगवान के मुखारविंद से प्रगट वाणी के अनुसार (सुद्ध तत्त्व समाचरेत्) शुद्धात्म स्वरूप का अनुभव करो, आचरण करो वैसे स्वयं बनो (जिन उक्तं लोपनं कृत्वा) जिनेन्द्र के कहे वचनों का लोप करते हो, नहीं मानते (स्तेयं दुर्गति भाजनं) यह भी चोरी है, इससे दुर्गति के पात्र बनोगे।

(दर्शनं न्यान चारित्रं) सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र (मय मूर्ति न्यान संजुतं) ज्ञानमयी मूर्ति जो मात्र ज्ञान संयुक्त है (सुद्धात्मा तत्त्व लोपंते) ऐसे अपने शुद्धात्मा शुद्ध तत्त्व का लोप करते हो उसे तो देखते जानते नहीं हो, उसकी साधना आराधना नहीं करते और पर में लगे हो (स्तेयं दुर्गति भाजनं) यह भी चोरी है जो दुर्गति का पात्र बनाती है।

**चोरी सुनो हे भव्य जन, आपत्तियों का मूल है ।
करती विकल परिणाम यह, उर का खटकता शूल है ॥
इस लोक में तो यह पिलाती है, दुःखों की प्यालियां ।
उस लोक में भी पर दिखाती, यह कुगति की नालियां ॥
चोरी करूंगा आज मैं, इस भांति करना चिन्तवन ।
हे भव्य यह दुर्भावना, करती है दुर्गति का सृजन ॥
जो इस अशुभतम कर्म में, रहते सदा लवलीन हैं ।
उनके हृदय छल कपट से, रहते सदैव मलीन हैं ॥**

जो चौर्य या कि अदत्त जड़ का, नेक करते चिन्तवन ।
 उनके नियम से, अशुभ हो जाते, हृदस्तल के वचन ॥
 माया कपट में बीतता, उनका सदा ही काल है ।
 यह चौर्य दुर्गति हेतु है, यह चौर्य काल कराल है ॥
 कटु क्रूर वचनालाप करना, चौर्य दोष महान है ।
 जिन वचन का आलोप यह भी, चौर्य है असमान है ॥
 कुछ अर्थ का कुछ अर्थ करना, यह भी चौर स्तेय है ।
 करना व्रतों का भंग यह भी, एक चोरी हेय है ॥
 सर्वज्ञ ने शुद्धात्म की रे, जो बहाई धार है ।
 नर कर उसी में तूरमण, वह ही तुझे सुखसार है ॥
 जो जिन वचन का लोप कर, प्रतिकूल उनके जायेगा ।
 वह चौर्य के कटुपाश में, बंधकर कुगतियाँ पायेगा ॥
 निर्मूर्त रत्नत्रयमयी, जो शुद्ध आत्मीक धर्म है ।
 उस धर्म का जो लोप कर, करता महादुष्कर्म है ॥
 वह चौर्य के कटु बंधनों से, बांधता निजगात्र है ।
 संसार में बनता कि वह, नाना कुगति का पात्र है ॥

(चंचलजी)

विशेषार्थ- यहाँ चोरी व्यसन का प्रकरण चल रहा है। व्यसन लत या आदत को कहते हैं। स्वभाव या नशा भी इसी के नाम हैं। किसी की गिरी पड़ी भूली या रखी हुई वस्तु को बिना पूछे उठा लेना, रख लेना चोरी है या किसी के घर में संध लगाकर घुसना, हिंसा लूटपाट से किसी का धन अपहरण करना चोरी है। छिपकर छिपाकर कोई भी कार्य करना चोरी है। धनादि पर वस्तु का अपहरण ही चोरी का प्रमुख कार्य है। चोरी महापाप है। चौर्यानंद रौद्र ध्यान है। पर के प्राणों के समान ही धन होता है। संसारी जीव का ग्यारहवाँ प्राण धन है। धन का चला जाना प्राणों का चला जाना है। इसलिये परधन का हरण करना उसके प्राण हरण करने के समान महापाप है। संसारी प्राणी धन के अभाव को दुःख और धन के सद्भाव को सुख मानता है।

चोरी करने वाला हमेशा भयभीत रहता है। उसके भीतर हमेशा आकुलता भय संकल्प-विकल्प चलते रहते हैं। आजकल चोरी, गलत काम करने वाले, रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार, चोरबाजारी का काम करने वाले हमेशा दुःखी और भयभीत

रहते हैं। किसी भी सरकारी कर्मचारी, इन्सपेक्टर पुलिस आदि को देखते ही हृदय धड़कने लगता है, घबराहट मच जाती है। जो सत्यता ईमानदारी का काम करते हैं, वह निर्भय रहते हैं। धनादि की चाह, लोभ के पीछे ही चोरी की जाती है।

चोरी करना महान अनर्थों की जड़ है। घोर विपदाओं का घर और अशुभ काम कहा जाता है। इससे यहाँ संसार में भी दुःख मिलता है, दुर्गति होती है, बदनामी होती है। चोर का कोई विश्वास नहीं करता और परभव में नरक आदि दुर्गतियों में जाना पड़ता है।

मन से चोरी करने के विचार करना, चिन्तन करना, चोरी की भावना ही दुर्गति का कारण है क्योंकि यही चौर्यानंद रौद्र ध्यान कहलाता है, जो नरक गति के बन्ध का कारण है। शुभाशुभ खोटे कर्मों का करना, कुटिल भावों में हमेशा रत रहना भी चोरी है। बिना दी हुई चीज लेना चाहना भी चोरी है। हमेशा अशुद्ध खोटे वचन बोलना, खोटे काम कुटिल भाव से करना यह सब चोरी है, जो दुर्गति का कारण है। यह संसार अपेक्षा जानना, इसका तो नियमपूर्वक त्याग होना ही चाहिये; परन्तु इसके साथ परमार्थ में भी सतर्क रहना चाहिये क्योंकि दुष्ट अहितकारी कठोर वचन कहना, जिन वचनों का लोप करना भी चोरी है। अर्थ का अनर्थ करना, जिस अभिप्राय से जो बात जैसी कही गई है उसके विपरीत अपने मत पोषण के लिये उल्टा सीधा अर्थ बताना जिन वचनों की चोरी है तथा व्रत, नियम, संयम लेकर उनका खंडन करना छोड़ देना या विपरीत आचरण करना, जिनवाणी के विपरीत मनमानी करना भी चोरी है।

सर्वज्ञ केवली अरिहंत परमात्मा ने निज शुद्धात्म स्वरूप का जो विवेचन किया है, सत्ता शक्ति बताई है, वैसा ही अनुभव आचरण करो क्योंकि -

श्री केवलं न्यान विलोकि तत्त्वं, सुद्धं प्रकाशं सुद्धात्म तत्त्वं ।

संमिक्त न्यानं चरनंत सुष्यं, तत्त्वार्थ सार्धं त्वं दर्शनेत्वं ॥

श्री केवलज्ञानी परमात्मा ने जो तत्त्व देखा है, वह मात्र शुद्धं प्रकाशं शुद्धात्म तत्त्व है। जो अनन्त चतुष्टय और रत्नत्रयमयी है। ऐसे प्रयोजनभूत तत्त्व का तुम भी श्रद्धान करो और देखो। यही सत्य धर्म मुक्ति का मार्ग है। इसके विपरीत जो भी है, वह सब अधर्म संसार मार्ग है। यदि जिनेन्द्र परमात्मा के वचनों का लोप करते हो अर्थात् उनके विपरीत आचरण करते हो। सत्य धर्म के विपरीत अपनी मनमानी करते हो, तो यह भी चोरी है और इससे दुर्गति के ही पात्र बनोगे।

सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मयी ज्ञानमूर्ति जो निज शुद्धात्मा है उसी में लीन रहो। यदि इसका लोप करते हो, और विभावों में पुण्य-पाप शुभाशुभ क्रियाओं में लगते हो, पर पर्याय आदि को देखते हो, मोह, राग-द्वेष आदि में लिप्त रहते हो, तो यह जिन वचनों की चोरी है और इससे दुर्गति के पात्र बनोगे। बाहर में यह व्रती श्रावक या महाव्रती साधु हो जाने से क्या होता है? जिनवाणी के विपरीत आचरण करना, अपने शुद्धात्म तत्व का अनुभव न करना और बाहरी प्रपंच में लगे रहना या जिन वचनों का लोप करना, महान चोरी है। जिससे दुर्गति के पात्र बनोगे।

इसी बात को योगीन्दुदेव योगसार में कहते हैं-

सुद्धु सचेयणु बुद्धु जिणु केवलणाण सहाउ ।

सो अप्पा अणुदिणु मुणहु जइ चाहहु सिवलाहु ॥२६॥

यदि मोक्ष पाने की इच्छा करते हो तो निरन्तर ही आत्मा को शुद्ध सचेतन बुद्ध जिन और केवलज्ञान स्वभावमय समझो।

जाव ण भावहु जीव तुहुं, णिम्मल अप्पसहाउ ।

ताव ण लब्भइ सिवगमणु जहिं भावहु तहिं जाउ ॥२७॥

हे जीव ! जब तक तू निर्मल आत्म स्वभाव की भावना नहीं करता, तब तक मोक्ष नहीं पा सकता। अब जहाँ तेरी इच्छा हो वहाँ जा।

अप्पा अप्पइँ जो मुणइ जो पर भाव चएइ ।

सो पावइ सिवपुरि गमणु जिणवरु एउ भणेइ ॥३४॥

जो आत्मा ही आत्मा का चिंतन करता है, जो परभाव को नहीं चाहता वह शिवपुरी में गमन करता है ऐसा जिनवर ने कहा है।

सव्व अचेयण जाणि जिय एक्क सचेयणु सारु ।

जो जाणेविणु परममुणि लहु पावइ भवपारु ॥३६॥

जितने भी पदार्थ हैं वे सब अचेतन हैं। चेतन तो केवल एक जीव ही है और वही सारभूत है। उसके जाने बिना परम मुनि भी भव संसार से पार नहीं हो सकते।

जइ णिम्मलु अप्पा मुणहि छंडिवि सहु ववहारु ।

जिण सामिउ एमइ भणइ लहु पावहु भवपारु ॥३७॥

जिन स्वामी जिनेन्द्र परमात्मा ऐसा कहते हैं कि हे भव्य ! अपने निर्मल आत्मा

का चिन्तवन करो और सब व्यवहार छोड़ दो, इसी से भव संसार से पार होओगे। यह जिनेन्द्र परमात्मा की देशना है। इसके विपरीत जो आचरण करता है, व्यवहार में उलझता है, वह अपने शुद्धात्म स्वरूप को लोप करने वाला चोर है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि सब व्यवहार छोड़ दें और आत्मा का चिन्तवन करें तो भव संसार से पार हो जायेंगे, तो यह साधु मुनियों के लिये कहा है कि हम साधारण गृहस्थ, अत्रती पाप परिग्रह में लगे लोगों के लिये कहा है क्योंकि हम सब व्यवहार छोड़ दें और आत्मा की चर्चा करें तो क्या परिणाम होगा वह तो सब जानते हैं क्योंकि हम तो आत्मा की चर्चा ही कर सकते हैं, चिन्तन, आराधन तो हो ही नहीं सकता क्योंकि सामने कर्म संयोग और मोह-राग का तीव्र सद्भाव है इसलिये इसका स्पष्टीकरण करें ?

इसका समाधान करते हैं कि यहाँ जो चर्चा की जा रही है वह धर्म मार्ग पर चलने वाले पाप-परिग्रह का त्याग कर महाव्रती साधु होने वालों की अपेक्षा कहा जा रहा है। व्यवहार का त्याग करने के कहने की अपेक्षा यह है कि जो बाहर की क्रिया जप, तप, पूजा, पाठ, नियम, संयम, त्यागी साधु आदि होने को धर्म की साधना मान रहे हैं और उसी में लगे हैं, उनसे कहा जा रहा है। अपने शुद्धात्म स्वभाव की साधना आराधना करो, यह बाह्य की क्रियाकांड में मत उलझो क्योंकि मुक्ति का एक मात्र कारण और आधार तो निज शुद्धात्मानुभूति करना, उसी में लीन रहना है।

वयतवसंजममूलगुण मूढहँ मोक्ख ण वुत्तु ।

जाव ण जाणइ इक्क परु सुद्धउ भाउ पवित्तु ॥२९॥

जब तक अपने एक परम पवित्र शुद्ध स्वभाव को नहीं जानते तब तक हे मूढ़ ! यह व्रत, तप, संयम मूलगुण से मोक्ष होना नहीं कहा-

जो णिम्मल अप्पा मुणइ वय संजम संजुत्तु ।

तो लहु पावइ सिद्ध सुहु इउ जिणणाहँ वुत्तु ॥३०॥

जिनेन्द्र देव का कथन है कि जो जीव व्रत, संयम से युक्त होकर अपने निर्मल आत्मा को ध्याता है तो वह शीघ्र ही सिद्धि सुख को पाता है।

यहाँ हमें भी इस बात को समझना है कि हम यह जो पाप-परिग्रह में लगे हैं। मोह-राग में फँसे हैं तो इसका परिणाम क्या होगा ? नरक निगोद जाना पड़ेगा और वहाँ कैसे-कैसे दुःख भोगना पड़ते हैं, यह जिनवाणी के द्वारा सब जानने में आ रहे हैं, हम पर के पीछे मोह-राग और पाप-परिग्रह कर रहे हैं, तो क्या यह

हमारी समझदारी विवेक है ? अरे ! यह सब शुभ संयोग पाया है, ऐसे सद्गुरु के शरण में आ गये हैं जो धर्म का यथार्थ स्वरूप, मुक्ति का मार्ग बता रहे हैं ; तो हमारी बुद्धिमानी और पुरुषार्थ तो यही है कि हम भी यह सब पाप-परिग्रह छोड़ें। संयम, तप धारण करें और अपने आत्म स्वरूप की साधना में लीन हो जायें। यह व्यवहारिकता निभाने से हमारा भी कभी भला नहीं हो सकता। यह तो भूमिकानुसार होती है, चलती है तो चलती रहे ; पर हमें भी अपने आत्म कल्याण करने का पुरुषार्थ करना चाहिये। धर्म का यथार्थ स्वरूप समझ रहे हैं तो यह पुरुषार्थहीन बने न बैठे रहें। पाप-परिग्रह का त्याग कर महाव्रती साधु बनें और अपनी आत्म साधना में लीन होकर मुक्ति पावें। इसी में इस मानव जीवन की सार्थकता है।

व्यवहार धर्म संसार है, निश्चय धर्म मुक्ति मार्ग है, इसका हम भी ध्यान रखें। धर्म में निश्चय-व्यवहार लगा देने से ही बड़ी विडम्बना हो गई है, इसका विवेक रखें। धर्म तो एक अपना निज शुद्ध स्वभाव ही है। शेष जो भी है वह सब पाप-पुण्य कर्म अधर्म ही है, जो संसार का कारण है।

आगे सातवाँ व्यसन पर स्त्री रमण के स्वरूप का वर्णन करते हैं-

परदारा रतो भावं, परपंचं कृतं सदा।

ममतं असुद्ध भावस्य, आलापं कूड उच्यते ॥ १३५ ॥

अबंभं कूड सद्भावं, मन वचनस्य क्रीयते।

ते नरा व्रत हीनस्य, संसारे दुष दारुनं ॥ १३६ ॥

कषायं जेन विकहस्य, चक्र इन्द्र नराधिपा।

भावन तत्र तिस्टंते, पर दारा रतो नरा ॥ १३७ ॥

काम कथा च वर्नत्वं, वचनं आलाप रंजनं।

ते नरा दुष साहंते, पर दारा रतो सदा ॥ १३८ ॥

विकहा अश्रुत प्रोक्तं च, कामार्थं श्रुत उक्तयं।

श्रुतं अन्यान मयं मूढा, व्रत षंड दारा रंजितं ॥ १३९ ॥

परिणामं जस्य विचलंते, विभ्रमं रूप चिंतनं।

आलापं श्रुत आनंदं, विकहा परदार सेवनं ॥ १४० ॥

मनादि काय विचलंति, इन्द्रिय विषय रंजितं।

व्रत षंड सर्व धर्मस्य, अनृत अचेत सार्धयं ॥ १४१ ॥

विषयं रंजितं जेन, अनृतानंद संजुतं।

पुन्य सद्भाव उत्पादंते, दोषं आनंदनं कृतं ॥ १४२ ॥

अन्वयार्थ- (परदारा रतो भावं) पर स्त्री में आसक्त जिसका भाव है (परपंचं कृतं सदा) वह हमेशा प्रपंच करता रहता है अर्थात् मिलने के नाना प्रकार के जाल रचा करता है (ममतं असुद्ध भावस्य) उसकी ममता चाह, अशुद्ध भावों की रहती है (आलापं कूड उच्यते) और वह मायाचारी वार्तालाप करता है।

(अबंभं कूड सद्भावं) अब्रह्म का जिसका कुटिल क्रूर स्वभाव है (मन वचनस्य क्रीयते) मन से वैसा विचार करता है और वचनों से वैसा ही बोलता है (ते नरा व्रत हीनस्य) वह मनुष्य ब्रह्मचर्य व्रत से हीन है (संसारे दुष दारुनं) और संसार में दारुण दुःख भोगता है।

(कषायं जेन विकहस्य) जो कषाय सहित राग पूर्वक विकथायें करता है, सुनता है (चक्र इन्द्र नराधिपा) चक्रवर्तियों की, इन्द्रों की, राजा-महाराजाओं की कथा करता है (भावन तत्र तिस्टंते) उसकी भावना उन्हीं में लगी रहती है, वह भी वैसे ही भोगादि भोगना चाहता है (पर दारा रतो नरा) वह मनुष्य परदारा में ही रत आसक्त है।

(काम कथा च वर्नत्वं) काम भोग की कथाओं का वर्णन करना (वचनं आलाप रंजनं) बड़ी रुचि पूर्वक आनंद से कहना, सुनना, बताना (ते नरा दुष साहंते) वह मनुष्य बड़े दुःख सहते हैं, हमेशा आकुल-व्याकुल रहते हैं (पर दारा रतो सदा) वह हमेशा परदारा में आसक्त ही हैं।

(विकहा अश्रुत प्रोक्तं च) विकथाओं का वर्णन करने वाले कुशास्त्र नहीं, अशास्त्र कहे गये हैं (कामार्थं श्रुत उक्तयं) ऐसे काम भाव को पैदा करने वाले शास्त्रों का कहना पढ़ना सुनना (श्रुतं अन्यान मयं मूढा) ऐसे उपन्यास कथा पुराण आदि पढ़ना अज्ञान मय मूढ़ता है (व्रत षंड दारा रंजितं) उसी से ब्रह्मचर्य व्रत खंडित होता है, स्त्रियों में आसक्ति होती है।

(परिणामं जस्य विचलंते) जिससे परिणाम विचलित होवें (विभ्रमं रूप चिंतनं) ऐसे स्त्रियों के विलास रूपादि का चिन्तन करना (आलापं श्रुत आनंदं) कथा,

कहानी कहना, सुनना वार्तालाप करना, और उसमें आनंदित होना (विकहा परदार सेवन) यह सब विकथायें हैं इससे परदार सेवन का दोष लगता है।

(मनादि काय विचलंति) मन, वचन, काय सहित विचलित होकर (इन्द्रिय विषय रंजितं) इन्द्रिय विषय में रंजायमान हो गये (व्रत षंड सर्व धर्मस्य) तो सब धर्म चला गया और व्रत भी खंडित हो गया (अनृत अचेत सार्धयं) क्षणभंगुर अचेतन शरीर के पीछे सब धर्म साधना गंवा दी।

(विषयं रंजितं जेन) जो जीव विषयों में रंजायमान रहते हैं (अनृतानंद संजुतं) वे झूठे विषयों के आनंद में लीन रहते हैं, यही मृषानंदी रौद्रध्यान होता है जो नरक ले जाता है (पुण्य सद्भाव उत्पादंते) वे पुण्य का संचय करना चाहते हैं, क्योंकि पुण्य के उदय से ही यह विषयादि सुख मिलते हैं (दोष आनंदनं कृतं) वह मूढ़ संसार के कारण समस्त दोषों को आनंद से करता है। प्रसन्नता पूर्वक मोह, राग-द्वेषादि, विषय-कषायों में लगा रहता है।

विशेषार्थ- यहाँ पर स्त्री रमण व्यसन का वर्णन चल रहा है। यहाँ कोई प्रश्न करता है कि वेश्या गमन और पर स्त्री रमण में क्या भेद है ?

उसका समाधान करते हैं कि वेश्या बाजारू स्त्री को कहते हैं। जो विवाहित हो या अविवाहित हो, बाजार में बैठकर अपने शरीर को बेचने का धन्धा करती है और पर स्त्री, दूसरे की विवाहित स्त्री को कहते हैं। यह मनुष्य की दुष्ट प्रवृत्ति से होता है। यहाँ जिसकी दुष्ट प्रवृत्ति है जो कामी जीव है जिसका पर स्त्री में आसक्त भाव है वह हमेशा प्रपंच में लगा रहता है अर्थात् छल छिद्र मायाचारी से नाना प्रकार के जाल रचा करता है। उसकी ममता चाह अशुद्ध भावों में रहती है अर्थात् वह अशुद्ध पापपूर्ण काम के भावों में लगा रहता है। वह मायाचारीपूर्ण कुटिल छल छिद्र युक्त वार्तालाप करता है। अब्रह्म से जिसका कुटिल क्रूर स्वभाव है। जो मन से वैसे विचार करता है और वचनों से वैसा ही कहता है, वह मनुष्य ब्रह्मचर्य व्रत से हीन है और संसार में दारुण दुःख भोगता है। पर स्त्री भोग का भाव मन और वचन को कुटिल बना देता है। उनके भावों में पर स्त्री का रूप बस जाता है। वे उसे देखने की, उससे बात करने की, उससे मिलने की चिंता में पड़े रहते हैं।

ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा के लिये निमित्तों से बचने की बहुत आवश्यकता है। स्त्री-पुरुष का एकांत निमित्त बड़े-बड़े महाव्रती मुनि तक के भावों में मलिनता पैदा कर देता है; इसलिये व्रती को एकांत में शय्या व आसन रखने को कहा है।

जो जीव कषाय सहित राग पूर्वक इन्द्र चक्रवर्ती राजा-महाराजाओं के वैभव विलास, विषय-भोगादि की विकथाएँ करते हैं। उनकी भावना भी उन्हीं में लगी रहती है। वह भी वैसे ही भोगादि भोगना चाहते हैं। वह मनुष्य भी परदारा रत पाप के दोषी भागीदार हैं। कामभोग की कथाओं का वर्णन करना बड़ी रुचि पूर्वक आनंद से कहना सुनना यह भी मनुष्य को बड़ा क्षोभित, मलिन चित्त, आकुल-व्याकुल कर देता है। जो किसी विकथाओं को कहते सुनते हैं वह परदारा में रत पापी ही हैं। नाटक सिनेमा आदि देखना भी इसी के अन्तर्गत आता है तथा अश्लील कामवर्धक साहित्य पढ़ना, उपन्यास, कथा-कहानी और ऐसे पुराण भी इसी में आते हैं। इनको पढ़ने सुनने से भी ब्रह्मचर्य व्रत खंडित होता है और स्त्रियों की आसक्तता बढ़ती है। ब्रह्मचर्य के पालने के लिये यह आवश्यक है कि भावों को बिगाड़ने वाले निमित्तों से भी बचा जाये; क्योंकि काम भाव की आग का उत्पन्न होना महान अनर्थ और दुःखों का कारण है।

जिससे परिणाम विचलित होवें, ऐसे स्त्रियों के विलास रूपादि का चिन्तन करना वार्तालाप चर्चा करना, कथा-कहानी पढ़ना, सुनना और उसमें आनन्दित होना यह सब विकथायें हैं, इससे परदार सेवन का दोष लगता है। मन, वचन, काय सहित विचलित होकर इन्द्रिय विषय में रंजायमान हो गये, लग गये वहाँ तो सब धर्म ही चला गया, व्रत भी खंडित हो गया। क्षणभंगुर इन्द्रिय विषय और अचेतन शरीर के पीछे सब धर्म साधना ही गवां दी, इससे नरक निगोद में जाना पड़ेगा। जो जीव विषयों में रंजायमान रहते हैं, वे मृषानंदी रौद्र ध्यान करके नरक जाते हैं तथा पुण्य का संचय करना चाहते हैं। पुण्य को ही धर्म मानते हैं; क्योंकि पुण्य के उदय से ही यह विषयादि सुख मिलते हैं। ऐसे मूढ़ संसार के कारण समस्त दोष, पाप, मोह, राग-द्वेषादि कषाय को बड़ी प्रसन्नता, आनंद से करते हैं और संसार में दुर्गतियों में रुलते हैं।

काम की इच्छा अतिदुष्ट होती है, यह संसार को बढ़ाने वाली, क्लेश को पैदा करने वाली, धन का नाश करने वाली है। जो जीव ऐसे व्यसनों में फँसे होते हैं उनका पुण्य, धर्म, धन, यश, वंश सब नष्ट हो जाता है। यहाँ भी महान दुःख भोगते हैं और परभव में नरक निगोद आदि दुर्गतियों में जाते हैं।

द्रव्य संयम से भाव संयम होता है। परिणामों की संभाल निमित्तों से बचने पर होगी। मन की चंचलता बड़ी विचित्र है। जरा भी विपरीत निमित्त मिलता है तो मन

विकारी हो जाता है। मन का विकारी होना ही काम देव का उत्पादक है।
ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा के लिये तत्त्वार्थ सूत्र में पाँच भावनायें बताई हैं -
**स्त्रीराग कथा श्रवण तन्मनोहरांग निरीक्षण पूर्वस्तानुस्मरण
वृष्येष्ट रस स्वशरीर संस्कार त्यागाः पंचः ॥ ७/७ ॥**

१. स्त्रियों में राग बढ़ाने वाली कथाओं का सुनना छोड़ना चाहिये।
२. स्त्रियों के मनोहर अंगों के देखने का त्याग करना चाहिये।
३. पूर्व में भोगे हुए भोगों की स्मृति नहीं करना चाहिये।
४. कामोद्दीपक पौष्टिक रस नहीं खाना चाहिये।
५. अपने शरीर का श्रृंगार नहीं करना चाहिये।

**सप्तव्यसन जिनके हृदय, सो नर नीच कहाय।
छूत जुंआ आमुख सुरा, आखेटक दुःखदाय ॥
चोरी पर नारी रता, रामामिद्धम सोय।
अन्तर दीरघ कल्पना, आध व्याध दुःखदोय ॥
परिवे कुंभी पाक में, सप्त व्यसन सोपान।
निःश्रेणी शम दम दया, सत्यऽरु जप तप दान ॥
सत्संगति जो कोई करे, सरे सकल ही काम।
और काम की कुण चली, मिले निरंजन राम ॥**

सप्त व्यसन अधर्म ही है। इनमें फँसा जीव नरक में जाता है इसलिये जो जीव अपना आत्म कल्याण करना चाहते हैं उन्हें विकथाओं का और व्यसनों का त्याग बाहर और भीतर दोनों प्रकार से कर देना चाहिये। आंतरिक परिणति का बाह्य क्रिया आचरण पर प्रभाव पड़ता है और बाह्य आचरण क्रिया आंतरिक परिणति का द्योतक होती है। अपना भला करना है तो अन्तर बाह्य दोनों परिणति संभालें और अपने आत्म स्वरूप की रमणता का पुरुषार्थ करें। अध्यात्म भाषा में अपनी अशुद्ध पर्याय देखना भी अब्रह्म कुशील सेवन है। पर पर्याय देखना तो व्यभिचारीपना पर स्त्री सेवन करना है।

आगे अधर्म के स्वरूप में अष्ट मदों का वर्णन करते हैं-

४. आठ मद करना अधर्म है-

एतानि राग संबंधं, मद अस्टं रमते सदा।

ममतं असत्य आनंदं, मद अस्टं नरयं पतं ॥ १४३ ॥

असत्यं असास्वतं रागं, उत्साहं परपंचं रतो।

सरीरे राग त्रिधंते, ते पुनः दुर्गति भाजनं ॥ १४४ ॥

अन्वयार्थ- (एतानि राग संबंधं) इस प्रकार राग के सम्बन्ध से (मद अस्टं रमते सदा) हमेशा आठ मदों में लगा रहता है (ममतं असत्य आनंदं) झूठे ममत्व में आनंद मानता है (मद अस्टं नरयं पतं) आठों मद नरक में पतन के कारण हैं।

(असत्यं असास्वतं रागं) झूठे, क्षणभंगुर राग से (उत्साहं परपंचं रतो) प्रपंच में रत रहता है (सरीरे राग त्रिधंते) शरीर का राग बढ़ जाने से (ते पुनः दुर्गति भाजनं) वह मनुष्य दुर्गति का पात्र बनता है।

विशेषार्थ- यहाँ बहिरात्मा जो संसार शरीर भोगादि में आसक्त पुद्गल की रचना में लगा है वह धन, स्त्री, पुत्र, परिवार के लिये संसारी ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये कुदेवादि की पूजा भक्ति करता है। कुगुरुओं की मान्यता, वंदना भक्ति करता है और उनके कथनानुसार अधर्म सेवन में लगा रहता है। सच्चा देव-निज शुद्धात्मा, सच्चा गुरु-निज अन्तरात्मा और सच्चा धर्म-निज शुद्ध स्वभाव को नहीं जानता मानता। व्यवहार में सच्चे देव-सर्वज्ञ वीतरागी हितोपदेशी अरिहन्त सिद्ध परमात्मा, सच्चे गुरु-ज्ञानी वीतरागी निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु, सच्चा धर्म-वस्तु स्वभाव को भी नहीं जानता मानता। मिथ्या देवगुरु धर्म के चक्कर में फँसा अधर्म का सेवन करता है और संसार में रूलता रहता है।

अधर्म क्या है? जो शुभाशुभ कर्म, पाप-पुण्य हैं; यह सभी अधर्म है। इसके अन्तर्गत आर्त-रौद्र ध्यान, चार विकथायें, सात व्यसन यह सब अधर्म और दुर्गति के कारण हैं। इनमें फँसा जीव संसार के दारुण दुःख भोगता है, इन्हीं में आठ मद भी आते हैं। इस प्रकार संसार के मोह-राग के सम्बन्ध में फँसा जीव शरीरादि बाह्य संयोग को ही अपना स्वरूप मानता है और उन्हीं का अहंकार, मद करता है, यह मद आठ प्रकार के होते हैं, जिनमें हमेशा रमता रहता है। जगत की ममता में फँसा रहता है। मिथ्या झूठे पदार्थों में आनंद मानता है। इस प्रकार आठ मदों में फँसा जीव नरक चला जाता है। जगत की सर्व रचना क्षणभंगुर नाशवान है, परिणमनशील है, प्रति समय बदलती रहती है। ऐसे क्षणभंगुर नाशवान झूठे पदार्थों में रमण करता है और हमेशा इन्हीं के प्रपंच में लगा रहता है। वह आत्मा को बिल्कुल भूलकर अपने को शरीर रूप ही माना करता है, इससे शरीर का राग बढ़ता है। स्वस्थ सुन्दर बनाने

हृष्ट-पुष्ट करने विषय-भोग करने में लगा रहता है तथा मैं राजा हूँ, मैं सेठ हूँ, मैं बलवान हूँ, मैं विद्वान हूँ, मैं तपस्वी हूँ, मैं सुन्दर हूँ, मैं बड़े वंश का हूँ इत्यादि शरीर की मूर्च्छा में मूर्च्छित अहंकार से ग्रसित आठ मदों में लगा तीव्र कर्म बांधकर दुर्गति में चला जाता है।

इस शरीर की आयु गलती जाती है। सब रूप विलय होता जाता है। जरा (बुढ़ापा) निकट आता जाता है। रोगों का उदय होता जाता है तो भी यह मूढ़ मनुष्य कुटुम्ब स्नेह में फँसा हुआ लोभ में जकड़ा रहता है। पाप-परिग्रह में लगा रहता है। मोह राग में दुःखी आकुलित चिन्तित भयभीत होता रहता है। अपने आत्म स्वरूप को नहीं देखता पहिचानता और झूठे मोह माया के जाल, संसार से छूटने का पुरुषार्थ नहीं करता जबकि यह धन संपदा क्षणिक अस्थायी है, यह सब शरीर संयोग, स्त्री, पुत्र, परिवार का सम्बन्ध क्षणभंगुर नाशवान है, आयु का अंत आते ही सब छूट जाता है, शरीर भी जला दिया जाता है। यह सब प्रत्यक्ष आँखों के सामने देखते हुए भी मूढ़ मानव नहीं चेतता। गुणवान ज्ञानीजन ऐसा विचार करके अपने शुद्ध आत्म स्वभाव में रमण करते हैं। वास्तव में इन सांसारिक पदार्थों के लिये मान व मूर्च्छा करना मात्र अज्ञानता है।

आठ मद क्या हैं और उनका स्वरूप क्या है ? इसे आगे की गाथाओं में कहते हैं-

जाति कुल सुरुपं च, अधिकारं न्यानं तपं ।

बलं सिल्प आरूढं, मद अस्टं संसार भाजनं ॥ १४५ ॥

जातिं च राग मयं चिंतते, अनृतं नृत उच्यते ।

ममतं स्नेह आनंदं, कुल आरूढ रतो सदा ॥ १४६ ॥

रूपं अधिकारं दिस्टा, रागं त्रिधंति जे नरा ।

ते अन्यान मयं मूढ़ा, संसारे दुष दारुनं ॥ १४७ ॥

कुन्यानं तप तप्तं च, रागं त्रिधंति ते तपा ।

ते तानि मूढ़ सद्भावं, अन्यानं तप श्रुतं क्रिया ॥ १४८ ॥

अनेय तप तप्तानं, जन्मनं कोड कोडिभि ।

श्रुतं अनेय जानंते, राग मूढ़ मयं सदा ॥ १४९ ॥

मानं राग संबंधं, तप दारुनं नंतं श्रुतं ।

सुद्ध तत्त्वं न पस्यंति, ममतं दुर्गति भाजनं ॥ १५० ॥

अन्वयार्थ- (जाति कुल सुरुपं च) जाति मद, कुल मद, रूप मद और (अधिकारं न्यानं तपं) अधिकार मद, ज्ञान मद, तप मद, (बलं सिल्प आरूढं) बल मद, शिल्प कला का मद इन पर आरूढ अर्थात् अहंकार चढ़ा हुआ (मद अस्टं संसार भाजनं) यह आठों मद संसार का पात्र बनाते हैं।

(जातिं च राग मयं चिंतते) जाति, माता पक्ष के रागमय (अनृतं नृत उच्यते) जो झूठे, मिथ्या हैं उनको शाश्वत कहता है (ममतं स्नेह आनंदं) ममत्व और स्नेह में आनंद मानता है (कुल आरूढ रतो सदा) हमेशा कुल मद, पितापक्ष के अहंकार का नशा चढ़ा रहता है और उसी में रत रहता है।

(रूपं अधिकारं दिस्टा) सुन्दर रूप को तथा अधिकार को देखकर (रागं त्रिधंति जे नरा) जो मनुष्य राग बढ़ा लेते हैं (ते अन्यान मयं मूढ़ा) वे अज्ञानमयी मूढ़ हैं और (संसारे दुष दारुनं) संसार के दारुण दुःख भोगते हैं।

(कुन्यानं तप तप्तं च) कुज्ञान सहित तप करने वालों का (रागं त्रिधंति ते तपा) उस तप से राग बढ़ जाता है अर्थात् मद और कषाय बढ़ जाती है (ते तानि मूढ़ सद्भावं) वे सब मूढ़ स्वभावी हैं जो (अन्यानं तप श्रुतं क्रिया) अज्ञान तप, सुनी सुनाई क्रिया करते हैं।

(अनेय तप तप्तानं) ऐसे अज्ञानमयी, कुज्ञान सहित अनेक तप करते रहो (जन्मनं कोड कोडिभि) करोड़ों-करोड़ जन्मों तक करते रहो (श्रुतं अनेय जानंते) अनेक शास्त्रों को भी जानते रहो अर्थात् बहुत आगम ज्ञान हो तो भी (राग मूढ़ मयं सदा) हमेशा राग मयी हमेशा रागमयी होने से वह सब अज्ञानमय है।

(मानं राग संबंधं) ऐसे मान कषाय और राग से बंधे हुए (तप दारुनं नंतं श्रुतं) बहुत कठोर दारुण तप करो और अनन्त शास्त्र पढ़ लो (सुद्ध तत्त्वं न पस्यंति) जब तक शुद्ध तत्त्व अपने शुद्धात्म स्वरूप को नहीं जानते उसका अनुभव नहीं करते तब तक (ममतं दुर्गति भाजनं) यह मोह मद दुर्गति का पात्र बनाने वाला है।

विशेषार्थ- मद- अहंकार अकड़ घमंड को मद कहते हैं, यह मान कषाय के अन्तर्गत होते हैं। जब तक यह आठ मद होते हैं, तब तक जीव अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही होता है। यह सम्यक्दर्शन के दोष हैं, इनके रहते सम्यक्दर्शन नहीं होता। यह

आठ मद-जातिमद, कुलमद, रूपमद, अधिकारमद, ज्ञानमद, तपमद, बलमद और शिल्पमद होते हैं।

१. जातिमद- माता पक्ष के अहंकार को जातिमद कहते हैं। माता के कुटुम्बीजनों में यह मान करना कि हमारे मामा नाना आदि ऐसे ऐसे हैं। उनके धनादि बल को अपना मानकर अहंकार करना जाति मद है।

२. कुलमद- पिता पक्ष के अहंकार को कुलमद कहते हैं। पिता के कुटुम्बीजनों में दादा, परदादा आदि के धन बल ऐश्वर्य आदि का अहंकार करना कुल मद है।

३. रूपमद - शरीर की सुन्दरता आँख, कान, नाक, मुँह आदि की विशेषता सहित सुन्दर रूप गौरांग, स्वस्थ शरीर आदि का अहंकार करना रूप मद है।

४. अधिकार मद- प्रभुताई, बड़प्पन, हुकूमत चलते हुए यह मानना कि मैं जो चाहूँ सो कर सकता हूँ। मैं सबसे सयाना, सबसे बड़ा, घर का, समाज का मुखिया, पदाधिकारी, मंत्री आदि पद का अहंकार करना अधिकार मद है।

५. ज्ञान मद- यह बड़ा खतरनाक होता है। कोरा ज्ञान, बाहरी विद्या शास्त्रों को पढ़ने लिखने आदि सांसारिक बातों का ज्ञान होने पर क्षायोपशमिक ज्ञान का अहंकार करना, अपने को होशियार चतुर मानना और सबको मूर्ख, अज्ञानी समझना ज्ञानमद है।

६. तप मद- व्रत, नियम, संयम, तप, उपवास आदि कठोर साधना करना, परीषह सहना, साधु हो जाना, नाना प्रकार के शारीरिक कष्ट सहना, अनेक प्रकार के तप करना और अपने आपको बड़ा तपस्वी, साधु, सबसे श्रेष्ठ मानना। तप के मद में चाहे जिससे चाहे जो कह देना, अपने आपको धर्मात्मा महात्मा मानना, लोगों की प्रभावना, प्रसिद्धि की चाह होना और तप से कोई ऋद्धि-सिद्धि हो जाये उसका दुरुपयोग करना, क्रोधित हो जाना, अपने सामने किसी को कुछ न समझना तपमद है।

७. बल मद- शारीरिक स्वस्थता, पहलवान, हृष्ट-पुष्ट होने पर हमेशा अकड़े रहना, अकड़कर चलना, निर्बलों को सताना तथा साथी, समर्थकों के बल से अन्याय, अत्याचार करना तथा धनादि होने पर अनैतिक कार्य करना, सबको अपने से छोटा हीन समझना बल मद है।

८. शिल्प मद- हर काम में होशियार होने पर अकड़े रहना, मैं सब कुछ जानता हूँ, सब काम कर लेता हूँ, मेरे मुकाबले कोई भी कुछ भी नहीं जानता।

शिल्प कला, चित्रकारी, संगीत, यंत्र, विद्या आदि का काम जानना और इसमें हमेशा फूले रहना शिल्प मद है।

मान कषाय से उत्पन्न जो मद मात्सर्य (ईर्ष्या) आदि समस्त विकल्पों का समूह है, उसके त्यागपूर्वक जो ममकार और अहंकार से रहित शुद्ध आत्मा में भावना है, वही वीतराग सम्यक्दृष्टियों के आठ मदों का त्याग है। ममकार और अहंकार के लक्षण को कहते हैं-कर्मों से उत्पन्न जो देह, पुत्र-स्त्री आदि हैं, इनमें यह मेरा शरीर है, यह मेरा पुत्र है, इस प्रकार की जो बुद्धि है वह ममकार है और उन शरीर आदि में अपनी आत्मा से भेद न मानकर जो मैं गोरे वर्ण का हूँ, मोटे शरीर का हूँ, राजा हूँ आदि इस प्रकार मानना सो अहंकार है।

शरीर आदि ही मैं हूँ इस मिथ्यात्व से अहंकार मद होता है। यह शरीरादि मेरे हैं, यह मोह-ममत्व है इससे पर के प्रति राग आसक्तता रहती है।

मिथ्यात्व से जन्म-मरण होता है, मोह-राग से कर्म बन्ध होता है। जब तक अपने सत्स्वरूप शुद्ध तत्व, निजशुद्धात्मा का श्रद्धान अनुभूति नहीं होती, तब तक यह अहंकार-ममकार तो होते ही हैं। मिथ्यात्व अज्ञान दशा में कुज्ञान सहित कितने ही तप करो, अनेक शास्त्र पढ़ो पर इससे तप मद, ज्ञान मद ही बढ़ता है, आत्म कल्याण नहीं होता।

इन आठ मदों का स्वरूप प्रशमरति प्रकरण में आचार्य उमास्वामी कहते हैं - संसार में भ्रमण करते हुए जीवों को अपने-अपने कर्म के उदय से कभी ब्राह्मण जाति, कभी चाण्डाल की जाति और कभी क्षत्रिय आदि की जाति होती है। कोई जाति सर्वदा नहीं रहती यही कहते हैं।

ज्ञात्वा भव परिवर्ते जातीनां कोटिशत सहस्रेषु।

हीनोत्तम मध्यत्वं को जातिमदं बुधः कुर्यात् ॥८१॥

यह जीव नारकी होकर तिर्यच योनि अथवा मनुष्य योनि में जन्म लेता है; पुनः एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जाति में उत्पन्न होता है। उसमें भी एकेन्द्रियों में पृथ्वी काय के शर्करा बालुका आदि बहुत से भेद हैं। इसी प्रकार जल, अग्नि, वायु और वनस्पति की भी जितनी योनियाँ हैं, उतनी ही लाख जातियाँ हैं। देवगति में भी जितनी योनियाँ हैं, उतनी ही लाख जातियाँ हैं। देवगति में भी ऐसा ही जानना चाहिये इसलिये संसार को चौरासी लाख योनियों वाला कहा गया है। इस संसार में उत्पन्न हुआ जीव जघन्य, मध्यम और उत्तम कुलों

में जन्म लेता है। संसार की इस विडम्बना को जानकर कौन विद्वान जाति का मद कर सकता है ? यहाँ किसी की कोई जाति हमेशा नहीं रहती अतः जाति का मद करना ठीक नहीं है।

रूपबल श्रुति मति शील विभव परिवर्जितास्तथा दृष्ट्वा ।

विपुल कुलोत्पन्नानपि ननुकुलमानः परित्याज्यः ॥ ८३ ॥

बड़े भारी कुल में जन्म लेने पर भी स्त्री अथवा पुरुष यदि कुरूप हुआ, निर्बल हुआ, अत्यन्त मूर्ख हुआ, हित और अहित का विचार करने की बुद्धि न हुई, जुआँसी, पर स्त्री गामी, असत्यवादी और चोर हुआ, पास में धन-धान्य सम्पदा न हुई तो सभी उसका तिरस्कार करते हैं अतः कुल का मद करना व्यर्थ है।

कः शुक्रशोणित समुद्रवस्य सततं चयापचयिकस्य ।

रोग जरापाश्रयिणो मदावकाशोऽस्ति रूपस्य ॥ ८५ ॥

नित्य परिशीलनीये त्वग्मांसाच्छादिते कलुष पूर्णे ।

निश्चय विनाश धर्मिणि रूपे मद कारणं किं स्यात् ॥ ८६ ॥

पिता के वीर्य और माता के रज से शरीर बनता है, उत्पन्न होता है। सदैव घटता बढ़ता रहता है, रोग और जरा का घर है, इसमें मद करने का क्या है ? शरीर में नौ मल द्वार हैं, उनसे सदा अपवित्र गंदे पदार्थ बहा करते हैं। रूपवान रागी मनुष्य हर समय उसकी सफाई का ध्यान रखता है। चर्म और रक्त मांस से यह ढका है किन्तु उसके अंदर मूत्र, विष्टा, खून, चर्बी, मज्जा, हड्डी, नसें आदि गन्दी चीजें भरी हुई हैं।

तेल, उबटन, स्नान, लेप और अच्छे-अच्छे खान-पान से इसका लालन-पालन करने पर भी यह प्रायः नष्ट ही होता है। अन्त में यह या तो कीड़ों का ढेर बन जाता है या राख का ढेर बन जाता है अथवा हड्डी और चमड़ा मात्र रह जाता है। ऐसे शरीर में रूप का मद करने का क्या कारण है।

बल समुदितोऽपि यस्मान्नर क्षणेन विवर्तत्वमुपयाति ।

बलहीनोऽपि च बलवान संस्कार वशात् पुनर्भवति ॥ ८७ ॥

मनुष्य को अपने बल का भी मद नहीं करना चाहिये क्योंकि यह बल, जिसका मनुष्य गर्व करता है, कोई स्थायी वस्तु नहीं है। अच्छे से अच्छा बलवान भी प्रबल रोग आदि के निमित्त से क्षण भर में बलहीन देखा जाता है और बलहीन मनुष्य भी वीर्यान्तराय के क्षयोपशम और बलप्रद साधनों से बलशाली देखा जाता है अतः बल

भी गर्व करने की वस्तु नहीं है। मौत सामने आने पर सभी बल व्यर्थ हो जाते हैं।

उदयोपशमनिमित्तौ लाभालाभावनित्य को मत्वा ।

नालाभे वैक्रव्यं न च लाभे विस्मयः कार्यः ॥ ८९ ॥

लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से लाभ होता है और लाभान्तराय कर्म के उदय से कुछ भी लाभ नहीं होता अतः लाभ भी नित्य नहीं है और अलाभ भी नित्य नहीं है। दाता की शक्ति और प्रसन्नता के अनुरूप प्राप्त हुए कुछ उपभोग के योग्य बड़े भारी लाभ से भी मुनीश्वरों को मद नहीं होता है।

ग्रहणोद्गाहणनवकृति विचारणार्थावधारणाद्येषु ।

बुद्ध्यङ्ग विधिविकल्पेष्वनन्त पर्याय वृद्धेषु ॥ ९१ ॥

पूर्वपुरुषसिंहानां विज्ञानातिशयसागरानन्त्यम् ।

श्रुत्वा साम्प्रतपुरुषाः कथं स्वबुद्ध्या मदं यान्ति ॥ ९२ ॥

अपूर्व सूत्रों और उनके अर्थ को ग्रहण करने में, दूसरों को समझाने में, नवीन प्रकरण वगैरह रचने में, सूक्ष्म पदार्थों का विचार करने में, आचार्य वगैरह के मुख से निकले हुए अर्थ को एक बार में अवधारण करने वगैरह में हमारे पूर्वज बड़े दक्ष थे तथा शास्त्रों में बुद्धि के सुनने की इच्छा वगैरह जो अंग बताये हैं, उनके भेद मति ज्ञान आदि हैं, जो परस्पर में अनन्त पर्यायों की वृद्धि को लिये हुए हैं; क्योंकि मति और श्रुतज्ञान सब द्रव्यों को विषय करते हैं। अवधिज्ञान समस्त रूपी द्रव्य को जानता है और मनः पर्यायज्ञान उसके अनन्तवें भाग रूपी द्रव्य को जानता है। इस प्रकार परस्पर में अनन्त पर्यायों की वृद्धि को लिये हुए जो बुद्धि के भेद हैं वे भी हमारे उन चौदह पूर्व के पाठी से लेकर ग्यारह अंग के ज्ञाता पूर्व में जो पाये जाते थे। इस प्रकार उनका ज्ञान सागर के समान गंभीर और अनन्त था। उनके इस ज्ञानातिशय को सुनकर आज कल के क्षुद्र बुद्धि वाले मनुष्यों को अपने ज्ञान का गर्व नहीं करना चाहिये।

उपकार के निमित्त दीन मनुष्यों के समान दूसरे लोगों की चापलूसी करके जो उनका प्रेम प्राप्त किया जाता है, वह सब मिट जाने वाला है।

माष तुषोपाख्यानं श्रुत पर्याय प्ररूपणां चैव ।

श्रुत्वाऽति विस्मयकरं विकरणं स्थूलभद्र मुनेः ॥ ९५ ॥

सम्पर्कोपम सुलभं चरण करण साधकं श्रुतज्ञानम् ।

लब्ध्वा सर्व मदहरं तैनेव मदः कथं कार्यः ॥ ९६ ॥

भावपूर्वक ग्रहण किये हुए थोड़े से श्रुत से जड़ बुद्धि मनुष्य को भी निर्वाण प्राप्त हो सकता है। माषतुष मुनि जड़ बुद्धि होने के कारण पढ़ने में असमर्थ थे। मा तुष मा रुस अर्थात् राग मत करो, द्वेष मत करो, यह भी याद नहीं कर सकते थे। मात्र तुष माष भिन्न से निर्वाण हो गया अतः मैंने बहुत पढ़ा है, और मैं सब अर्थ को जानता हूँ, ऐसा गर्व करना निःसार है तथा श्रुतज्ञान के बहुत भेद हैं, कोई एक अर्थ की व्याख्या करता है, कोई दो अर्थ की व्याख्या करता है और कोई एक ही सूर्य के अनेक अर्थ करता है तथा श्रुतज्ञान तो सभी मदों को दूर करने वाला है। स्थूलभद्र महर्षि को विशिष्ट श्रुताभ्यास से विक्रिया ऋद्धि प्राप्त हो गई, उसके गर्व में आकर उन्होंने दर्शनार्थ आई हुई आर्यिकाओं को भयभीत कर श्रुतसम्प्रदाय का विच्छेद किया अतः कौन व्यक्ति होगा जो इस घटना को सुनकर श्रुत का मद करेगा ?

मान कषाय ही सब मदों का मूल है। जो साधु या श्रावक उसे उखाड़ फेंकना चाहते हैं उन्हें न तो अपनी प्रशंसा करना चाहिये और न दूसरों की निंदा आलोचना करना चाहिये क्योंकि इससे नीच गोत्र कर्म का बन्ध होता है जो अनन्त जन्मों तक संसार में दुर्गति का पात्र बनाता है और संसार में दारुण दुःख भोगना पड़ते हैं; अतः अपने आत्म स्वरूप का श्रद्धान करो और यह शरीर संयोग से होने वाले मदों को छोड़ो क्योंकि यह दुर्गति के कारण अधर्म ही हैं। शरीरादि सब संयोगी पदार्थ नाशवान हैं, अस्थायी हैं। जो शाश्वत अविनाशी अपना ध्रुव तत्त्व शुद्धात्म स्वरूप है यह अनन्त चतुष्टय का धारी रत्नत्रयमयी स्वयं परमब्रह्म परमात्मा है। ऐसे अपने स्वरूप स्वसत्ता शक्ति का बहुमान करो तो यह संसार के जन्म-मरण, सुख-दुःख के चक्र से छूट जाओगे।

बहिरात्मा जो पुद्गल को ही देख रहा है, वह ऐसे मदों में, विकथा, व्यसनो में फँसा रहता है और इससे ही संसार में रुलता है।

विनय व नम्रता रखते हुए शुद्ध तत्त्व को जानने से ही स्वहित होगा।

आगे अधर्म के अन्तर्गत चार अनन्तानुबन्धी कषायों का वर्णन करते हैं -

५. अनन्तानुबन्धी कषायों में रत रहना अधर्म है-

कषायं जेन अनंतानं, रागं च अनृतं कृतं।

विस्वासं दुर्बुधि चिंतते, ते नरा दुर्गति भाजनं ॥ १५१ ॥

अन्वयार्थ- (कषायं जेन अनंतानं) जो जीव अनन्तानुबन्धी कषाय (रागं च

अनृतं कृतं) मिथ्यात्व और राग करता है (विस्वासं दुर्बुधि चिंतते) अपनी दुर्बुद्धि से उन्हीं का चिन्तन और विश्वास करता है (ते नरा दुर्गति भाजनं) वह मनुष्य दुर्गति का पात्र बनता है।

विशेषार्थ- यहाँ बहिरात्मा जो संसार में रुल रहा है उसका कारण बताया जा रहा है। अपने सत्स्वरूप को भूला हुआ शरीरादि पुद्गल कर्मों में एकत्व मानकर मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय सहित हो रहा है, जो राग और द्वेष से युक्त है जिसकी बुद्धि मिथ्यात्व से ग्रस्त होने के कारण मलिन है और मलिन बुद्धि के कारण पाँच इन्द्रियों के विषय हिंसादि पाप और आर्त-रौद्र ध्यान रूप तीव्र परिणाम होते हैं। जो कार्य-अकार्य का निश्चय करने में मूढ़ है, संक्लेश और विशुद्धि के स्वरूप को नहीं समझता, आहार, भय, मैथुन और परिग्रह रूप चार संज्ञाओं के कलह में फँसा है। सर्वदा हजारों दुःखों को सहने के कारण दुर्बल हो रहा है, दया का पात्र है। विषय सुख में आसक्त होकर उन्हीं की चाहना करता है। वह जीव अनन्तानुबन्धी कषाय वाला कहा जाता है, ऐसा मनुष्य दुर्गतियों का पात्र बनता है।

अपनी प्रशंसा करना, पूज्य पुरुषों में भी दोष निकालने का स्वभाव होना, बहुत काल तक बैर बांधे रहना यह तीव्र कषायी जीव के लक्षण हैं। जीव का स्वभाव ज्ञान है और ज्ञान का कार्य यथार्थ रूप से पदार्थ को जानना है; किन्तु संसारी जीव की स्थिति इससे विपरीत हो रही है। वह विवेकभ्रष्ट, दुर्बुद्धि हो रहा है इसका कारण मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व इसके अनादिकाल से चला आ रहा है। यह किसी ने किया नहीं है। दर्शन मोहनीय इसका कारण अवश्य है; परन्तु वह प्रति समय की होने वाली पर्याय में ही निमित्त है। मुख्यतया इसी के कारण जीव संसार में परिभ्रमण कर रहा है। इसके कारण जीव को अपने स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती। मिथ्यात्व और कषाय ही मुख्य माने गये हैं। ज्ञान में समीचीनता और असमीचीनता भी इसी मिथ्यात्व के कारण आती है। इसके कारण जीव स्वरूप को भूलकर पर में स्व की कल्पना कर रहा है। घर, स्त्री आदि के छूट जाने पर भी जीव यदि विवेकी नहीं हो पाता तो इसका कारण एक मात्र यही है। बाह्य प्रवृत्ति वश लोग साधु और उत्कृष्ट तपस्वी होते हुए देखे जाते हैं; किन्तु इसकी गांठ न खुलने पर उनका वह समस्त आचरण क्रिया धर्म व्यर्थ जाता है।

तीन मिथ्यात्व- मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व।
चार अनन्तानुबन्धी कषाय- क्रोध, मान, माया, लोभ। यह सात प्रकृतियाँ ही जीव

को संसार में जन्म-मरण और कर्म बन्ध में कारण हैं। इनके उपशम, क्षय, क्षयोपशम होने पर जीव को जब अपनी स्वसत्ता शक्ति का बोध होता है विवेक और पुरुषार्थ जागता है तभी वह संसार से मुक्त होता है।

जीव में रागादि विकार का नाम ही अधर्म है और विकार का त्याग होकर स्वरूप की प्राप्ति ही धर्म है। सात व्यसनों में आसक्ति और आठ मदों में लीनता अनन्तानुबन्धी कषाय के कारण होती है, इसी से चार विकथाओं में रत रहता है।

जिससे अनन्त अनुबन्ध हो, वह अनन्तानुबन्धी कहलाती है। कषाय अर्थात् जो कर्मों से कसे बांधे वह कषाय है। कषाय चार होती हैं, इसमें लोभ कषाय का वर्णन करते हैं -

लोभं अनृत सद्भावं, उत्साहं अनृतं कृतं ।

तस्य लोभं प्राप्तं च, तं लोभं नरयं पतं ॥ १५२ ॥

लोभं कुन्यान् सद्भावं, अनाद्यं भ्रमते सदा ।

अति लोभ चिंतते येन, तं लोभं दुर्गति कारनं ॥ १५३ ॥

असास्वतं लोभ कृत्वं च, अनेय कष्टं कृतं सदा ।

चेतना लष्यनो हीना, लोभं दुर्गति बंधनं ॥ १५४ ॥

अन्वयार्थ- (लोभं अनृत सद्भावं) लोभ नाशवान मिथ्या क्षणभंगुर पदार्थों के प्रति होता है (उत्साहं अनृतं कृतं) और ऐसे ही नाशवान कार्यों के करने के प्रति उत्साह रहता है (तस्य लोभं प्राप्तं च) और ऐसे ही असत् पदार्थों के प्राप्त करने का लोभ बना रहता है (तं लोभं नरयं पतं) ऐसा लोभ नरक में डाल देता है।

(लोभं कुन्यान् सद्भावं) लोभ और कुज्ञान के सद्भाव में (अनाद्यं भ्रमते सदा) यह जीव हमेशा से भ्रमते भटकते काल गवां रहा है (अति लोभ चिंतते येन) और अति लोभ का चिन्तन किया करता है (तं लोभं दुर्गति कारनं) यह लोभ दुर्गति का कारण है।

(असास्वतं लोभ कृत्वं च) अशाश्वत, नाशवान पदार्थों का लोभ करने से (अनेय कष्टं कृतं सदा) हमेशा अनेक कष्ट भोगता रहता है (चेतना लष्यनो हीना) चैतन्य लक्षण अपने स्वरूप को भूला है और (लोभं दुर्गति बंधनं) लोभ से दुर्गति का बन्ध कर रहा है।

विशेषार्थ- यहाँ अनन्तानुबन्धी लोभ का स्वरूप बताया जा रहा है। लोभ-चाह, आशा, तृष्णा, इच्छा, मूर्छा पकड़ को कहते हैं। इनकी अति ही अनन्तानुबन्धी कहलाती है। अनन्तानुबन्धी लोभ, किरमिच (डामर) के रंग जैसा होता है, जो मुश्किल से छूटता है। लोभ सब पापों का बाप है, कषायों का राजा है। इसी के कारण माया, मान, क्रोध होते हैं। कहा है-

उत्तम शौच सर्व जग जाना, लोभ पाप का बाप बखाना ।

आशा फाँस महा दुःखदानी, सुख पावे सन्तोषी प्राणी ॥

लोभ धनादि पर वस्तु का होता है। जो वस्तु नाशवान क्षणभंगुर है, यह देखते जानते हुए भी लोभ के वशीभूत प्राणी धन-वैभव, जमीन-जायदाद की, पुत्र पौत्रादि की आशा तृष्णा में फंसा नाना प्रकार के पाप करता है और ऐसे ही कार्यों के प्रति बड़ा उत्साहित रहता है। आरंभ परिग्रह धन्धा व्यापार की नई-नई योजनायें बनाता है। नीति-अनीति, पुण्य-पाप का कोई विचार नहीं करता, धर्म-कर्म का तो होश ही नहीं रहता। बहुत आरंभ परिग्रह में फंसा नरकायु बांधकर नरक चला जाता है। **बह्मरंभ परिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥ ६ / १५ ॥** तत्त्वार्थ सूत्र

लोभ और कुज्ञान के सद्भाव में संसाराशक्त, पर्याय बुद्धि, विषयों का लोलुपी बना रहता है। धन के संग्रह करने की चिंता में हमेशा चिन्तित रहता है। खाना, पीना, सोना भूल जाता है। मरने की भी फुरसत नहीं रहती, धर्म-अधर्म का तो विवेक होता ही नहीं है।

धन का संग्रह, धन की रक्षा और धन का खर्च होना, चले जाना यह लोभी प्राणी के लिये बड़े दुःख के कारण हैं।

लोभी प्राणी दूसरों के धन वैभव, ऐश्वर्य को देखकर हमेशा कुढ़ता अर्थात् ईर्ष्या करता रहता है। रात-दिन नई-नई तरकीबें सोचता रहता है। अपने बढ़ने की और दूसरों को गिराने की योजना बनाता है, निरंतर रौद्र ध्यान में लगा रहता है। तंदुल मच्छ और महामच्छ का कथानक इसका प्रमाण है। बाहर में धन-वैभव होवे या न होवे क्योंकि वह तो पाप-पुण्य कर्म उदयानुसार होता है परन्तु लोभ के कारण जीव हमेशा दुःखी चिन्तित रहता है। कहा है-

दाम बिना निर्धन दुःखी, तृष्णा वश धनवान ।

कहूँ न सुख संसार में, सब जग देखो छान ॥

लोभी प्राणी प्राप्त पुण्य के उदय को नहीं भोगता, आगे की तृष्णा चाह में मरता

रहता है, हमेशा अनेक कष्ट भोगता है। लोभ के कारण मरने-जीने की भी परवाह नहीं करता। भूख-प्यास सहता है। गर्मी-सर्दी में मारा-मारा फिरता है। धन के पीछे अनेक कुकृत्य करता है। लोभी प्राणी नकटा होता है। धन-वैभव का होना पुण्य के उदय का परिणाम है। यह उसे अपना कर्तृत्व पुरुषार्थ मानता है। अपने निज चैतन्य लक्षण शुद्ध स्वभाव को भूला है। स्वयं तीन लोक का नाथ अनन्त चतुष्टय का धारी भगवान् आत्मा चेतना हीन हो रहा है और पर पदार्थ धनादि के पीछे अपनी दुर्गति दुर्दशा करा रहा है। यह लोभ कषाय ही सब दुःखों की, पापों की जड़ है, यही संसार में दुर्गति का कारण है।

अधिक लोभ के वश में जो बाहरी धन-धान्य पदार्थ बढ़ा लिये जाते हैं, उनकी तो बात ही क्या है, वे तो नष्ट हो ही जाते हैं; किन्तु जिसको प्रमुख रूप से अपना मानते हैं ऐसा यह शरीर भी नष्ट हो जाता है, अंत में सब छोड़कर जाना ही पड़ता है।

आने है आने है जा मौत तो इक दिन आने है।

जाने है जाने है सब छोड़ के इक दिन जाने है ॥

ऐसा विचार कर बुद्धिमान पुरुष इस आत्मा के विरोधी भयानक शत्रु लोभ का नाश करते हैं। लोभ के नाश का उपाय जिनवाणी का स्वाध्याय सत्संग मनन कर आत्मा और आत्मा से भिन्न पदार्थों का भेदज्ञान है यही उपादेय है।

मानं असत्य रागं च, हिंसानंदी च दारुनं।

परपंचं चिंतते येन, सुद्ध तत्त्वं न पश्यते ॥ १५५ ॥

मानं असास्वतं कृत्वा, अनृतं राग नंदितं।

असत्यं आनंद मूढस्य, रौद्र ध्यानं च तिष्ठते ॥ १५६ ॥

मानं पुन्य उत्पाद्यंते, दुर्बुद्धि अन्यानं श्रुतं।

मिथ्या मय मूढ दिस्ती च, अन्यान रूपी न संसयः ॥ १५७ ॥

मानस्य चिंतनं दुर्बुद्धि, बुद्धि हीनो न संसया।

अनृतं नृत जानंते, दुर्गति पश्यते ते नरा ॥ १५८ ॥

मानं बंधं च रागं च, अर्थ विचिंत नंतयं।

हिंसानंदी च दोष च, अनृतं उत्साहं कृतं ॥ १५९ ॥

मानं राग संबंधं, तप दारुनं नंतं श्रुतं।

अनृतं अचेत सद्भावं, कुन्यानं संसार भाजनं ॥ १६० ॥

अन्वयार्थ- (मानं असत्य रागं च) मान भी झूठे राग से होता है (हिंसानंदी च दारुनं) यह हिंसानंदी और भयानक कष्टकारी होता है (परपंचं चिंतते येन) इससे नाना प्रकार के झगड़े मायाचार के ही विचार चलते रहते हैं (सुद्ध तत्त्वं न पश्यते) ऐसा जीव अपने शुद्ध आत्मीक तत्त्व को नहीं देखता।

(मानं असास्वतं कृत्वा) मान बिल्कुल झूठा नाशवान् कृत्य है (अनृतं राग नंदितं) झूठे क्षणभंगुर राग में ही आनंद मानता है (असत्यं आनंद मूढस्य) जो मूढ़ ऐसा झूठा आनंद मानता है (रौद्र ध्यानं च तिष्ठते) वह रौद्र ध्यान में लीन रहता है।

(मानं पुन्य उत्पाद्यंते) मान से पुण्य पैदा करना चाहता है अर्थात् अपना नाम बढ़ाई चाहता है (दुर्बुद्धि अन्यानं श्रुतं) दुर्बुद्धि खोटे शास्त्र रचता है (मिथ्या मय मूढ दिस्ती च) मिथ्या माया से घिरा मूढ़ दृष्टि है (अन्यान रूपी न संसयः) इसका सारा लिखना, पढ़ना, कहना अज्ञानमयी है, इसमें कोई संशय नहीं है।

(मानस्य चिंतनं दुर्बुद्धि) मान का चिन्तन विचार करना ही दुर्बुद्धि है (बुद्धि हीनो न संसया) मान कषाय वाला मानी बुद्धिहीन है, इसमें कोई संशय नहीं है (अनृतं नृत जानंते) वह झूठे नाशवान् पदार्थों को सत्य जानता है (दुर्गति पश्यते ते नरा) ऐसा मनुष्य दुर्गति में ही जाता है।

(मानं बंधं च रागं च) मान में बंधा अर्थात् अपनी अकड़ में फूला और रागादि में लगा (अर्थ विचिंत नंतयं) नाना प्रकार के धनादि संग्रह के विचारों में, योजनाओं में लगा रहता है (हिंसानंदी च दोषं च) हिंसा करने और नाना प्रकार के अपराध करने के विचार चलते रहते हैं (अनृतं उत्साहं कृतं) और ऐसे ही दुष्कर्म बड़े उत्साह पूर्वक करता रहता है।

(मानं राग संबंधं) मान के कारण अपनी अकड़ में फूला अपना बड़प्पन बताने के लिये (तप दारुनं नंतं श्रुतं) बड़ी कठिन तपस्या करता है। अनेक प्रकार के शास्त्र पढ़ता है, बड़ा ज्ञानी बनता है (अनृतं अचेत सद्भावं) झूठे शारीरिक कृत्य में लगा रहता है (कुन्यानं संसार भाजनं) ऐसा कुज्ञानी संसार में ही रूलता है दुर्गति भोगता है।

विशेषार्थ- लोभ-पकड़ को कहते हैं। मान-अकड़ को कहते हैं। यहाँ अनन्तानुबन्धी मान कषाय का वर्णन चल रहा है। बहिरात्मा संसाराशक्त जीव अधर्म में रत इन कषायों में लगा रहता है। उसे अपने शुद्ध स्वरूप शुद्धात्म तत्त्व की न कोई खबर है और न उसकी तरफ देखता है। वह तो शरीर आदि संयोगी पदार्थ के बनाने, मिटाने में ही लगा रहता है। लोभ झूठी पकड़ है, मान झूठी अकड़ है। यह दोनों अन्तरंग में होती हैं। इनके कारण जीव अपने शुद्धात्म तत्त्व को नहीं देखता कि इस शरीर आदि से भिन्न मैं एक अखंड अविनाशी चैतन्य तत्त्व भगवान् आत्मा हूँ, मैं स्वयं तीन लोक का नाथ अनन्त चतुष्टय का धारी, परमब्रह्म परमात्मा हूँ। वह बाहरी संयोग, शरीर, धन, वैभव, परिवार, संसार, समाज आदि के प्रपंच में उलझा रहता है और इन्हीं को बनाने-मिटाने, अच्छा-बुरा करने के छोटे भावों में रत रहता है। स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, राज्य, भोग, विलास में तीव्र अनुराग करता है और इन्हीं के अहंकार में अपने मन में फूला रहता है। अपने आपको बड़ा होशियार अक्लमंद मानता है। अपने सामने किसी की चलने नहीं देता। दूसरों की बढ़ती नहीं देख सकता। किसी की कोई बात नहीं सुनता। अपनी मनमानी करता है, अपने मन के खिलाफ कोई बात या कोई काम हो जाये उसी क्षण नाराज हो जाता है, अकड़ जाता है।

मान बिल्कुल झूठा, नाशवान् कृत्य है क्योंकि यह किसी का कभी रहा नहीं है। जगत की समस्त वस्तुयें क्षणिक नाशवान् हैं। संसार में आना-जाना पुण्य-पाप के उदयानुसार परिणाम होना यह सब चल ही रहा है; परंतु मानी अर्थात् मान कषाय वाला जीव इन्हीं सब वस्तुओं के पीछे रौद्र ध्यान करता रहता है। एक दूसरे से बैर-विरोध, ईर्ष्या-द्वेष करता रहता है।

मान कषाय वाला हमेशा अपनी प्रशंसा और दूसरों की निन्दा आलोचना ही करता रहता है। वह न तो दूसरों की प्रशंसा करता है और न सुन सकता है।

अपनी मान कषाय की पूर्ति के लिये-नाम बड़ाई, प्रभावना, प्रसिद्धि पाने के लिये कविता, छन्द, शास्त्र आदि भी लिखता है। नाम बड़ाई के लिये झूठे-सच्चे कथानक, विषय-कषाय को बढ़ाने वाले लेख, कपट रूप धर्म के नाम पर अधर्म का पोषण करने वाली बातें, पूजा, पाठ आदि रचता है और स्वयं मिथ्या माया आदि शक्तियों में लगा रहता है। स्वयं मिथ्यादृष्टि है तो उसका जितना भी कथानक है वह

अज्ञानमयी झूठा ही है जिसको पढ़ने से अनेक भोले जीवों का अहित होता है।

संसार में भ्रमाने वाले वस्तु स्वरूप के विपरीत शास्त्र नहीं शस्त्र होते हैं। जो स्वयं का भी घात करते हैं और दूसरों का भी घात करते हैं। मान करना, मान का विचार करना ही दुर्बुद्धि है और बुद्धिहीन ही मान करते हैं।

मान महा दुःखरूप, करहि नीच गति जगत में।

कोमल सुधा अनूप, सुख पावे प्राणी सदा ॥

संसार के सब पदार्थ नाशवान् हैं, छूट जाने वाले हैं परन्तु वह इन्हें शाश्वत अविनाशी मानता है। मेरा पद बना रहे, मेरी बात बनी रहे, मेरा कुटुम्ब, परिवार, धन, वैभव बना रहे, इन्हीं विचारों में फँसा आर्त रौद्र-ध्यान करता हुआ दुर्गति में चला जाता है।

अभिमानी मानव को अपने मान प्रतिष्ठा आदि का इतना राग होता है कि फिर वह धर्म-अधर्म, हेय-ज्ञेय का कुछ विचार नहीं करता, अपनी मान की पूर्ति के लिये धन संग्रह की नाना प्रकार की योजनायें बनाता है। हिंसादि छोटे काम करने की सोचता है और बड़े उत्साह पूर्वक छोटे कामों को करता है। गृहस्थ संसारी जीव तो पापादि में लगे ही हैं और अपने नाम पद प्रतिष्ठा के लिये संघर्षरत रहते ही हैं परन्तु साधु त्यागी होने पर भी अपने नाम पद प्रतिष्ठा के लिये अपना बड़प्पन बताने के लिये कोई बहुत कठिन तपस्या भी करते हैं और कोई बहुत शास्त्र अभ्यास करके बड़े भारी ज्ञाता पंडित हो जाते हैं तथा कोई ऊपरी आचरण शरीरिक क्रिया, पूजा, पाठ, जप, व्रत, तप साधना आदि भी करते हैं परन्तु यह सब कुज्ञान सहित होने अर्थात् मान कषाय के पोषण के लिये होने के कारण संसार में ही रुलाने वाले दुर्गति कराने वाले हैं। मैं ज्ञानी, मैं तपस्वी, मैं धर्मात्मा, मैं महात्मा त्यागी साधु योगी आदि अहं भाव मान कषाय का ही रूपक है।

मान कषाय परिणामों को कठोर बनाकर इस जन्म में भी बुरा करती है और पर लोक में नीच गति में जाना पड़ता है इसलिये ज्ञानी को क्षणभंगुर पर्याय, कर्मादि संयोग सम्बन्ध का मान न करके समभाव रखना चाहिये।

आगे माया कषाय का वर्णन करते हैं -

माया अनृत रागं च, असास्वतं जल विंदुवत्।

धन यौवन अश्रु पटलस्य, माया बंधन किं करोति ॥ १६१ ॥

माया असुद्ध परिणामं, असास्वतं संग संगते ।
 दुष्ट नष्टं च सद्भावं, माया दुर्गति कारनं ॥ १६२ ॥
 माया अनंतानं कृत्वा, असत्ये राग रतो सदा ।
 मन वचन काय कर्तव्यं, मायानंदी च ते जडा ॥ १६३ ॥
 माया आनंद संजुक्तं, अनृतं अचेत भावना ।
 मन वचन काय कर्तव्यं, दुर्बुद्धि विस्वास दारुनं ॥ १६४ ॥
 माया अचेत पुन्यार्थं, पाप कर्म च विधत्ते ।
 सुद्ध दिष्टि न पस्यंते, मिथ्या माया नरयं पतं ॥ १६५ ॥

अन्वयार्थ- (माया अनृत रागं च) माया कषाय जगत के असत्य झूठे पदार्थों में राग करने से होती है (असास्वतं जल विंदुवत्) जगत का स्वरूप क्षणभंगुर पानी के बुलबुले के समान है (धन यौवन अभ्र पटलस्य) धन यौवन मेघ पटल के समान विला जाने वाला है (माया बंधन किं करोति) ऐसी माया का बन्धन क्यों करते हो अर्थात् ऐसी माया कषाय में क्यों बंधते हो ?

(माया असुद्ध परिणामं) माया कषाय अशुद्ध परिणाम है (असास्वतं संग संगते) यह नाशवान पदार्थों की संगति, चाह से पैदा होती है (दुष्ट नष्टं च सद्भावं) यह दुष्ट है और अपने आत्म स्वभाव को नष्ट करने वाली है (माया दुर्गति कारनं) यह माया कषाय दुर्गति का ही कारण है ।

(माया अनंतानं कृत्वा) अनन्तानुबंधी माया कषाय करने से (असत्ये राग रतो सदा) हमेशा संसारी मायाजाल झूठे प्रपंच में ही रत रहना पड़ता है (मन वचन काय कर्तव्यं) और इस संसारी मोह माया के जाल को मन वचन काय से अपना कर्तव्य मान लेने वाला (मायानंदी च ते जडा) वह मायानंदी अर्थात् संसार में आनंद मानने वाला मूर्ख जड़ अर्थात् अज्ञानी है ।

(माया आनंद संजुक्तं) माया के आनंद में लीन होने पर (अनृतं अचेत भावना) मिथ्यात्व शरीरादि अचेतन पदार्थों के भाव होने लगते हैं (मन वचन काय कर्तव्यं) इन्हीं मिथ्या भावों में मन वचन काय से अपना कर्तव्य मानकर लगना (दुर्बुद्धि विस्वास दारुनं) महान विश्वास घात खोटी बुद्धि है ।

(माया अचेत पुन्यार्थं) माया कषाय के आधीन अर्थात् मायाचारी सहित शरीर

धनादि द्वारा पुण्य संचय करना चाहता है (पाप कर्म च विधत्ते) परन्तु उससे पुण्य नहीं होता और पाप कर्म ही बढ़ते हैं (सुद्ध दिष्टि न पस्यंते) जब तक अपने आत्म स्वरूप की अनुभूति नहीं होती, शुद्ध दृष्टि नहीं होती (मिथ्या माया नरयं पतं) इस मिथ्यात्व और माया कषाय सहित नरक में ही जाना पड़ता है ।

माया है क्या, यह इस जगत से एक झूठा राग है ।
 जल बुदबुदों के तुल्य रे, जिसका अनित्य सुहाग है ॥
 यौवन अशास्वत है अनृत है, जलद पटल समान है ।
 आश्चर्य माया जाल में, क्यों फंस रहा अज्ञान है ॥
 नश्वर परिग्रह सृजन करता, जो मलिन परिणाम है ।
 उस अशुभतम परिणाम के, दल का ही माया नाम है ॥
 उत्पन्न करती है यह माया, रे अनिष्ट स्वभाव है ।
 होता है दुर्गति में अरे, जिस हेतु से सद्भाव है ॥
 जो जीव मायाचार में, रहता सदा आसक्त है ।
 मिथ्यात्व का वह मूढ़ बन जाता, निःसंशय भक्त है ॥
 मन के वचन के काय के कर्तव्य से धो करथली ।
 मायात्व में ही चूर रहता है निरंतर वह छली ॥
 जिस जीव का संसार केवल, एक मायाचार है ।
 मिलता उसे मिथ्यात्व में ही हर्ष अपरम्पार है ॥
 मन वचन क्रम के योग्य, इस संसार में जो कर्म है ।
 उनसे विमुख हो वह कुमति करता सदैव अधर्म है ॥
 जो पुण्य कर्मों में भी करता, मूढ़ मायाचार है ।
 वह नर बढ़ाता बस समझ लो, पाप का संसार है ॥
 जो शुद्ध आत्मीक तत्व का करता नहीं है चिन्तवन ।
 वह अधम मायावी नियम से नर्क में करता गमन ॥

(चंचलजी)

विशेषार्थ- यहाँ अनन्तानुबंधी कषाय के अंतर्गत माया कषाय का वर्णन चल रहा है । छल कपट, बेईमानी विश्वासघात, झूठ, धोखा, फरेब को मायाचारी कहते हैं । माया शल्य भी होती है, जिसका पूर्व में वर्णन आ चुका है । माया का सद्भाव पर पदार्थों की चाह से प्रारंभ होता है । संसार में इस जीव को नाम, काम,

दाम की चाह होती है और उसका फैलाव शरीर, धन, स्त्री, पुत्र, परिवार, संसार होता है। संसार के नाशवान असत् पदार्थ शरीर, धन, यौवन, वैभव, नाम, प्रतिष्ठा आदि की चाह लगाव राग होना ही माया कषाय है। यही इस जीव को संसार में जकड़ कर बांधकर रखती है। यहाँ सद्गुरु कहते हैं कि यह सब नाशवान जल बुदबुदा के समान क्षणभंगुर हैं। यह धन, शरीर, यौवन आदि भी मेघ के समान बिला जाने वाले हैं। ऐसे नाशवान पर पदार्थों की चाह यह माया का बंधन क्यों बांधते हो ?

अशुद्ध परिणाम ही माया कषाय है और यह पर के संयोग शरीरादि नाशवान पदार्थों की संगति से होती है, यह बड़ी दुष्ट है। अपने आत्म स्वभाव को विस्मृत करने वाली, भुलाने और नष्ट करने वाली है, इसी के कारण दुर्गति में जाना पड़ता है।

अनन्तानुबंधी माया कषाय बड़ी दुःखदायी होती है, यह बांस की जड़ के समान बड़ी टेढ़ी-मेढ़ी कुटिल होती है। इससे मन, वचन, काय की सभी क्रियाओं में बड़ी कुटिलता, मायाचारी रहती है। मन में कुछ विचार करता है, वचन से कुछ कहता है और काय से कुछ करता है, उसका कभी एकरूप व्यवहार होता ही नहीं है और मायाचारी करने वाला अज्ञानी जीव इसी में आनंद मानता है। मायाचारी में लगा हुआ जीव झूठी-सच्ची बातें करता है, विभाव भाव करता है। बड़ी-बड़ी कल्पनायें, बड़ी-बड़ी योजनायें बनाता रहता है। वह दिन में ही स्वप्न देखता है। मन वचन काय से इन्हीं सबके करने में लगा रहता है। वह विश्वासघाती और दुर्बुद्धि होता है। हमेशा सांसारिक राग में रत रहता है, उसे अपनी तो कोई खबर ही नहीं रहती, यही मायाचारी तिर्यच गति ले जाती है।

माया तैर्यग्योनस्य ॥ ६/१६ ॥ तत्त्वार्थ सूत्र

स्त्री पर्याय भी इसी मायाचारी से मिलती है। इसी माया कषाय के आधीन नाम बड़ाई के लिये कोई शरीर और धनादि से दया, दान, परोपकार आदि करता है और पुण्य का अभिलाषी रहता है तो इससे पुण्य तो नहीं होता और पाप कर्म ही बढ़ते हैं। मायाचारी जीव हमेशा मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान की भावना में रत रहता है। वह अपने आत्म स्वरूप को न देखता है, न जानता है। विषयों की लम्पटता और परवस्तु की चाह के लिये देव गुरु धर्म की भक्ति करता है। शास्त्र स्वाध्याय, प्रवचन आदि करता है परंतु मिथ्यात्व और मायाचार सहित होने के कारण अपना आत्म कल्याण का उद्देश्य नहीं रखता और धनादि का स्वार्थ साधन करता है। वह बाहर में ऐसे रहता है जैसे कोई बड़ा धर्मात्मा हो परन्तु बगुला जैसी स्थिति होती है।

अपना लौकिक स्वार्थ सिद्ध करने रूप मिथ्यावासना होने से धार्मिक कृत्य को भी अधार्मिक बना देता है। वह तो उस ठगिये के समान है, जो विश्वास पात्र मित्र बनकर अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है, ठगना चाहता है। जैसे-बिल्ली चूहे के साथ घात करती है, ऐसे ही मायाचारी मिथ्यादृष्टि जीव अपने शुद्ध तत्व को नहीं जानता और न उसकी रुचि करता तथा कृष्णादि अशुभ लेश्या के कारण नरक गति बांध लेता है। माया कषाय इस जीव लिये महान अहितकर है, ऐसा जानकर जो जीव अपना आत्महित करना चाहें उनको माया कषाय का त्याग कर सरलता का व्यवहार करना चाहिये। इस मानव जीवन को आर्जव धर्म का पालन कर सफल बनाना चाहिये।

कपट न कीजे कोय, चोरन के पुर न बसे ।

सरल स्वभावी होय, ताके घर बहु संपदा ॥

थोड़ी सी आयु के लिये मायाचार करके धनादि संग्रह करना आगामी पाप बंध और दुर्गति का कारण है।

आगे क्रोध कषाय का वर्णन करते हैं -

कोहाग्नि असास्वतं प्रोक्तं, सरीरं मान बंधनं ।

असास्वतं तस्य उत्पाद्यंते, कोहाग्नि धर्म लोपनं ॥ १६६ ॥

अन्वयार्थ- (कोहाग्नि असास्वतं प्रोक्तं) क्रोध को अग्नि कहते हैं यह क्षण भर में सब नाश कर देती है (सरीरं मान बंधनं) शरीर के अहंकार से इसका बन्धन होता है (असास्वतं तस्य उत्पाद्यंते) इसके पैदा होते ही सर्वनाश हो जाता है (कोहाग्नि धर्म लोपनं) यहाँ तक कि क्रोधाग्नि धर्म का भी लोप अर्थात् नाश कर देती है।

विशेषार्थ- लोभ-पकड़ है, मान-अकड़ है, माया-जकड़ है, क्रोध-धकड़

है । यहाँ अनन्तानुबंधी कषाय के अन्तर्गत क्रोध का वर्णन चल रहा है। क्रोध-गुरसा करने, नाराज होने, जोर-जोर से चिल्लाने, बोलने, मारने-पीटने को कहते हैं। क्रोध अग्नि है, यह मनुष्य को अन्धा कर देती है। इसके पैदा होते ही विवेक चला जाता है फिर उसे कोई होश नहीं रहता कि मैं क्या कर रहा हूँ? इसका परिणाम क्या होगा ? उसे अपने भले-बुरे का भी कोई होश नहीं रहता। क्रोध में मनुष्य अकरणीय कार्य कर बैठता है, जिसका परिणाम जीवन भर भोगना पड़ता है। अपने हाथ से अपनी हानि कर लेता है, यहाँ तक कि दूसरों को मार डालता है और स्वयं भी मर जाता है, आत्म घात कर लेता है।

क्रोध से बैर, मान से विरोध, माया से ईर्ष्या और लोभ से द्वेष पैदा होता है। क्रोध से प्रीति का नाश होता है। मान से विनय का घात होता है। मायाचार से विश्वास जाता रहता है और लोभ से सभी गुण नष्ट हो जाते हैं। क्रोध अंधा होता है, मान बहरा होता है, माया गूंगी होती है, लोभ नकटा होता है। क्रोध ताड़का राक्षसी है, मान सुबाहू राक्षस है, माया मारीचि राक्षस है और लोभ रावण लंकेश्वर राक्षस है। शरीर के अहंकार एकत्वपने अपनत्वपने से ही कषाय होती है। लोभ और माया से मन सक्रिय और जिन्दा रहता है। क्रोध-मन, वचन और काय की क्रिया से काम करते हैं। शारीरिक क्रिया का जितना परिणाम है यह सब क्रोध कषाय के आधीन ही होता है। कषायों को क्षय करने, गलाने के लिये शारीरिक संयम तप आवश्यक है।

क्रोध के पैदा होते ही धैर्य का नाश हो जाता है, बुद्धि विवेक का नाश हो जाता है, शारीरिक स्थिति बेकाबू हो जाती है, अपशब्द बोलने लगता है। मनुष्य को लगी हुई चोट, गोली का घाव पुर जाता है परन्तु बोली का घाव कभी पुरता नहीं है। क्रोध कषाय का उदाहरण- द्वीपायनमुनि हैं, जिन्होंने द्वारिका को भस्म कर दिया और स्वयं भी भस्म हो गये। क्रोध की अग्नि संसार और शरीर का नाश तो करती ही है, यहाँ तक कि आत्मा का पतन, धर्म का नाश भी करती है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि यह लोभ, मान, माया, क्रोध का उल्टा क्रम क्यों बताया है तथा कषाय क्या है, इसको अपनी भाषा में बताइये ?

उसका समाधान करते हैं कि यही संसार का मूल आधार है, इसके जाने बिना तो सब व्यर्थ है। कषाय पर के प्रति राग-द्वेष करने को कहते हैं अर्थात् कुछ भी अच्छा-बुरा मानना कषाय है। जीव तो एक अखंड अविनाशी ध्रुव तत्व शुद्धात्मा ज्ञानानंद स्वभावी है, अरस, अरूपी अस्पर्शी होने से पर पुद्गल तथा पर जीवों से भी कोई सम्बन्ध नहीं है; और न एक दूसरे को छूता और न कोई किसी का कुछ करता है परन्तु ज्ञान-दर्शन चेतना और वैभाविक शक्ति होने के कारण जीव पर के प्रति अर्थात् शरीरादि में एकत्व अपनत्व कर्तृत्व, राग-द्वेष करता है। वैभाविक शक्ति के विपरीत परिणाम को ही कषाय कहते हैं। इसमें कर्मों का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध रहता है तथा क्रोध, मान, माया, लोभ यह कषाय के नाम और भेद बताने की अपेक्षा बताये जाते हैं; परन्तु जीवन में लोभ के कारण ही मान, माया, क्रोध

होते हैं।

यहाँ विशेष समझने की बात यह है कि लोभ मान माया कषाय न होवें तो क्रोध हो ही नहीं सकता, इन सब कषायों का मूल आधार, पाप का बाप लोभ ही है। पर की तरफ दृष्टि जाने पर सबसे पहले चाह पैदा होती है, जो लोभ का ही सूक्ष्म रूप है तथा इन कषायों में लोभ, माया राग रूप होते हैं। क्रोध, मान द्वेष रूप होते हैं और यही राग-द्वेष कर्मबन्ध के कारण संसार के मूल आधार हैं।

मनुष्य की अपेक्षा लोभ का मूल आधार धन है और वह धन के कारण ही सारे पाप करता है, धन के कारण ही मान माया क्रोध होते हैं। संसार में धन का ही प्रभुत्व माना जाता है और यह धन ही धर्म का सबसे विरोधी कारण है। जिसको धन का प्रभुत्व इष्टता होगी, उसे कभी धर्म की प्रतीति हो ही नहीं सकती इसलिये तारण स्वामी ने मनुष्य के जीवन में कषायों का कैसा क्रम है, किस आधार से चलती हैं, उस अपेक्षा वर्णन किया है जो अनुभव गम्य प्रामाणिक है। जो जीव अपना आत्म कल्याण करना चाहते हैं उन्हें इनसे हमेशा बचना चाहिये।

यहाँ तक बहिरात्मा का स्वरूप और अधर्म का वर्णन किया गया, जिसके कारण यह जीव भगवान आत्मा परम ब्रह्म परमात्मा संसारी बहिरात्मा बना हुआ है, इसी संदर्भ की अन्तिम गाथा कहते हैं,

एतत् भावनं कृत्वा, अधर्मं तस्य पश्यते ।

रागादि मल संजुक्तं, अधर्मं सो संगीयते ॥ १६७ ॥

अन्वयार्थ- (एतत् भावनं कृत्वा) इस प्रकार की भावना करने वाला अर्थात् आर्त-रौद्र ध्यान, विकथा, सप्त व्यसन, आठ मद और कषाय भावों में रत रहने वाला (अधर्मं तस्य पश्यते) ऐसे प्राणी के भीतर अधर्म ही देखा जाता है (रागादि मल संजुक्तं) वह राग-द्वेष आदि मलों में ही लीन रहता है (अधर्मं सो संगीयते) यही अधर्म का विस्तार है, जो जीव को संसार में रोककर रखता है।

विशेषार्थ- यहाँ आत्मा को तीन प्रकार का कहा गया है-परमात्मा, अन्तरात्मा, बहिरात्मा। जो जीव जिन भावों में ठहरा है वह वैसा कहा जाता है।

जो शुद्ध स्वभावमय है वह परमात्मा है, जो भेदज्ञान सहित है वह अन्तरात्मा है, जिसे अपना बोध नहीं है पुद्गलादि को देख रहा है और संसारी प्रपंच में लगा है, वह बहिरात्मा है।

यहाँ बहिरात्मा किन भावों में कैसा लगा रहता है उसका विशद वर्णन किया गया है कि यह जीव अपने परमात्म स्वरूप जो देवों का देव स्वयं भगवान् आत्मा है ऐसे अपने निज स्वरूप को भूला हुआ कुदेव-अदेव की भक्ति पूजा आराधना करता है तथा सद्गुरु, सम्यक्दृष्टि, सम्यक्ज्ञानी वीतरागी निर्ग्रन्थ साधुओं का सत्संग नहीं करता, कुगुरुओं के जाल में फँसकर संसार को बढ़ाने वाले अधर्म का सेवन करता है। शुद्ध स्वभाव धर्म है और विभाव अधर्म है। विभाव भावों में आर्त रौद्र ध्यान, विकथा, सप्त व्यसन, आठ मद और अनन्तानुबन्धी चार कषाय रूप परिणाम आते हैं, यह सब अधर्म हैं और इन भावों में लगे रहने से संसार में दारुण दुःख भोगना पड़ते हैं। दुर्गति नरक निगोद आदि में रूलना पड़ता है। यहाँ तक अधर्म के स्वरूप का वर्णन किया गया है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि धर्म का यथार्थ स्वरूप क्या है, उसके भाव और साधना कैसी होती है तथा उसका पालन कौन करता है ?

उसका समाधान करते हैं कि धर्म का यथार्थ स्वरूप तो अपना चैतन्य लक्षण शुद्ध स्वभाव ही है और इसी शुद्ध स्वभाव में रहने की साधना ही वास्तविक धर्म साधना है। वर्तमान में जीव कर्म संयोगी दशा में है और विभाव परिणमन चल रहा है, उसे अपनी ओर मोड़ने शुद्ध स्वभाव मय रहने के लिये सबसे पहले भेदज्ञान पूर्वक स्व-पर का यथार्थ निर्णय करना तथा अपने शुद्ध स्वभाव निज शुद्धात्म स्वरूप की अनुभूति होना आवश्यक है; क्योंकि धर्म चर्चा का विषय नहीं, अनुभूति और श्रद्धान चर्चा का विषय है। जिसे भेदज्ञान तथा निज शुद्धात्मानुभूति हो जाती है वह सम्यक्दृष्टि अन्तरात्मा होता है और वही यथार्थतया धर्म के सच्चे स्वरूप को जानता है।

शुद्ध धर्म क्या है और उसकी साधना का मार्ग क्या है ? इस बात को सद्गुरुदेव आगे गाथाओं में विवेचन करते हैं। जो अन्तरात्मा अव्रत सम्यक्दृष्टि इस बात को जानता समझता है और साधना करने का पुरुषार्थ करता है, वह अन्तरात्मा सम्यक्दृष्टि कौन और कैसा होता है उसके स्वरूप का वर्णन करते हैं -

शुद्ध धर्म क्या है इसे कहते हैं -

सुद्ध धर्म च प्रोक्तं च, चेतना लब्धनो सदा ।

सुद्ध द्रव्यार्थिक नयेन, धर्म कर्म विमुक्तयं ॥ १६८ ॥

अन्वयार्थ- (सुद्ध धर्म च प्रोक्तं च) शुद्ध धर्म कैसा कहा गया है वह कहते हैं

(चेतना लब्धनो सदा) जो हमेशा चैतन्य लक्षणमयी जीवतत्त्व है, जो त्रिकाल शुद्ध ब्रह्म स्वरूपी ध्रुवतत्त्व, शुद्ध स्वभाव है वह शुद्ध धर्म है (सुद्ध द्रव्यार्थिक नयेन) शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से (धर्म कर्म विमुक्तयं) वह धर्म सर्व प्रकार कर्म से रहित है।

विशेषार्थ- यहाँ शुद्ध धर्म निश्चय धर्म या सच्चा धर्म क्या है ? इसका स्वरूप बताया जा रहा है कि-

जो वस्तु जग में धर्म इस शुभ नाम से विख्यात है ।

वह आत्मा के ज्ञानगुण, चैतन्य से ही व्याप्त है ॥

द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा, धर्म का यह रूप है ।

शुद्धात्मा ही धर्म है, जो कर्म शून्य अरूप है ॥ (चंचल जी)

जो हमेशा चैतन्य लक्षणमयी ध्रुव तत्त्व शुद्धात्मा है, जो त्रिकाल शुद्ध ब्रह्म स्वरूपी शुद्ध स्वभाव है, वही सच्चा धर्म है। यह शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से अर्थात् शुद्ध द्रव्य दृष्टि से समझने की बात है। जैसे- किसी स्वर्णकार के पास कोई आभूषण बेचने ले जाये तो वह उसे देखकर उसमें जो शुद्ध सोना है उसका भाव करता है, कीमत बताता है, आभूषण भले ही दस तोले का हो, कितना ही सुन्दर हो परन्तु उसमें जो खोट रहित शुद्ध सोना आठ तोला है, वह उसका ही भाव करता है। इसी प्रकार शुद्ध द्रव्य दृष्टि से यह जीव तत्त्व शुद्ध स्वभाव रूप चेतना लक्षण धर्म सब कर्मों से मुक्त त्रिकाल शुद्ध है। ऐसा जो जीव अपने शुद्धात्म स्वरूप का अनुभवन, श्रद्धान करता है, वह सत्यधर्म को उपलब्ध होता है और इसी के श्रद्धान, साधना से मोक्ष होता है। ऐसे निश्चय शुद्ध धर्म के श्रद्धान आराधना किये बिना न कोई मोक्ष गया है, न जा सकता है, न कभी जायेगा।

यहाँ एक विशेष बात कही गई है कि **धर्म कर्म विमुक्तयं** अर्थात् धर्म, कर्म से रहित है। जहाँ धर्म है, वहाँ कर्म नहीं है तथा जहाँ कर्म है, वहाँ धर्म नहीं है, बड़ी अपूर्व बात है। हम अशुभ कर्म पापादि को बुरा मानते हैं और शुभ कर्म पुण्यादि को अच्छा और उसी को धर्म मानते हैं। तारण स्वामी यहाँ कहते हैं जो पुण्य-पापादि कर्मों से रहित भिन्न मुक्त है वह धर्म है।

कर्म तीन प्रकार के बताये गए हैं- द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नो कर्म।

ज्ञानावरणादि आठ कर्म द्रव्य कर्म कहलाते हैं। राग द्वेषादि मलिन भाव भावकर्म कहलाते हैं। शरीरादि पुद्गल पिंड नो कर्म कहलाते हैं। द्रव्यदृष्टि से आत्मा इन तीनों कर्मों से रहित शुद्ध चैतन्यमयी है, उसे शुद्ध धर्म कहा गया है। जो इसका श्रद्धान

अनुभूति करते हैं, वह अन्तरात्मा हैं इसी बात को तारण स्वामी ने पूर्व में कहा है-

विन्यानं जेवि जानंते, अप्पा पर परषये ।

परिचये अप्प सद्भावं, अन्तर आत्मा परषये ॥ ४९ ॥ श्रावकाचार

धर्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए मालारोहण की १६ वीं गाथा में कहा है-

जे धर्म लीना गुण चेतनेत्वं, ते दुष्य हीना जिन सुद्ध दिस्ती ।

संप्रोषि तत्त्वं सोई न्यान रूपं, ब्रजंति मोष्यं षिनमेक एत्वं ॥ १६ ॥

जो अपने चैतन्य गुण धर्म में लीन होते हैं, वे समस्त दुःखों से मुक्त जिन शुद्ध दृष्टि हैं, उन्होंने अपने ज्ञान स्वरूप में समस्त तत्त्वों को जान लिया है, वे एक क्षण में ही मोक्ष चले जाते हैं ।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि धर्म का स्वरूप तो अनेक प्रकार से बताया है जैसे -वस्तु सहावो धम्मो, दंसण मूलो धम्मो, चारित्तं खलु धम्मो, अहिंसा परमो धर्माः । उत्तम क्षमा मार्दवार्जव सत्य शौच संयम तपस्त्यागाकिंचन्य ब्रह्मचर्याणि धर्माः । आप यहाँ **चेतना लक्षणो धर्मो** कह रहे हैं फिर यह सब क्या है यह स्पष्ट समझाइये ?

उसका समाधान करते हैं कि भाई ! बात जरा सूक्ष्मता से समझने की है । वस्तु सहावो धम्मो-वस्तु का जो स्वभाव है वही धर्म है । जैसे-अग्नि में उष्णता, जल में शीतलता, नमक में खारापन यह अनाद्यनिधन स्वभाव है यही इनका धर्म है । इसी प्रकार जीव का चेतना लक्षण ही अनाद्यनिधन स्वभाव है । जो त्रिकालवर्ती रहे और अव्याप्ति आदि दोषों से रहित हो वही स्वभाव धर्म माना जाता है ।

दंसण मूलो धम्मो- दर्शन ही धर्म का मूल है अर्थात् सम्यक्दर्शन निज स्वभाव की अनुभूति ही धर्म है । संसार में संख्या अपेक्षा छह द्रव्य हैं । वस्तु अपेक्षा मूल दो द्रव्य हैं- जीव और अजीव तथा भेद अपेक्षा अनन्त हैं । अब यहाँ समझना यह है कि चेतनता ज्ञान दर्शन जीव में ही होते हैं । अजीव में ज्ञान दर्शन चेतना होती नहीं है ; तो निज स्वभाव की अनुभूति और वस्तु स्वभाव को जानने की क्षमता मात्र जीव में ही होती है तथा जीव भी अनन्त हैं तो यहाँ जिस जीव को अपने स्वभाव की अनुभूति अर्थात् दर्शन ज्ञान होता है, उसने ही सत्य धर्म को जाना वही सम्यक्दृष्टि ज्ञानी हुआ । अपने स्वरूप का दर्शन अनुभव होना ही धर्म है । जिस जीव को अपने स्वरूप का दर्शन अनुभूति नहीं हुई उसने धर्म को जाना ही नहीं, उसे धर्म हुआ ही नहीं क्योंकि धर्म या सम्यक्दर्शन से ही मुक्ति, जीवन में सुख शान्ति आनंद मिलता

है ।

चारित्तं खलु धम्मो- चारित्र ही धर्म है अर्थात् अपने स्वभाव में रहना ही धर्म है । कोई क्रिया कर्म, व्यवहार चारित्र, संयम तप आदि धर्म नहीं है । जब जीव अपने स्वभाव में रहता है तभी धर्म में है अर्थात् सुख शान्ति आनंद निराकुलता में है । अपने स्वभाव से बाहर विभाव में, पर में है तो वह अधर्म में है अर्थात् दुःख में है, आकुलता और संकल्प-विकल्प में है फिर भले ही वह पाप में हो या पुण्य में हो वह धर्म में नहीं है । धर्म तो एक मात्र अपने स्वभाव में रहना ही है ।

उत्तम क्षमा मार्दवार्जव सत्य शौच संयम तपस्त्यागाकिंचन्य ब्रह्मचर्याणि धर्माः ।

उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य ही धर्म है । यह स्वभाव की अपेक्षा दस भेद हैं, यह जीव के स्वभाव हैं, जो विभाव रूप होने से विषय-कषाय, पापादि कहलाते हैं । अपने स्वभाव में रहना ही धर्म है, इस अपेक्षा यह दस लक्षण धर्म कहे जाते हैं । मूल बात तो अपने स्वभाव में रहने की है ।

अहिंसा परमो धर्मः- अहिंसा ही परम धर्म है । अहिंसा अर्थात् हिंसा न होना, इसमें स्व व पर के, किसी के भी दस प्राणों में से किसी का घात न होना अहिंसा है । पर जीवों के प्रति दया, करुणा, प्रेम, उत्तम क्षमादि भाव रखना अहिंसा है तथा अपने भावों में विकार अर्थात् मोह, राग-द्वेषादि का न होना अहिंसा है । प्रयोजन यह है कि राग-द्वेषादि विकारी भावों का न होना, अपने स्वभाव में ही रहना अहिंसा है और यही परम धर्म है । धर्म और सत्य तो एक ही होता है और वह ब्रह्म स्वरूप अनाद्यनिधन चेतना शक्ति है, जो प्रत्येक जीव आत्मा का अपना निज स्वभाव है । जो इसे स्वीकार करता है वही सत्य को उपलब्ध होता है, मुक्ति पाता है- इन सब परिभाषाओं का मूल आधार एक ही है -

चेतना लघ्यनो धर्मो, चेतयन्ति सदा बुधै ।

ध्यानस्य जलं सुद्धं, न्यानं अस्नान पंडिता ॥ ९ ॥ पंडितपूजा

चैतन्य लक्षण ही निज धर्म है । हे बुद्धिमानो ! हमेशा इसका ही चिन्तन करो, इसी के ध्यान रूपी शुद्ध जल में ज्ञानमयी स्नान पंडितजन करते हैं ।

कथन अपेक्षा भेद है, मूलाधार तो एक ही है कि अपना चेतना लक्षण ही निज स्वभाव ब्रह्मस्वरूपी शुद्धात्मा है वही शुद्ध धर्म है, उसी का श्रद्धान करो, इसी बात

को कुन्दकुन्दाचार्य समयसार में कहते हैं-

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो ।

एवं भणंति सुद्धं णादो जो सो दु सो चेव ॥ ६ ॥ समयसार
शुद्ध आत्मा कौन है, कैसा है ? इसका उत्तर दे रहे हैं -

जो जानने वाला ज्ञायक भाव चेतना वह अप्रमत्त भी नहीं है और प्रमत्त भी नहीं है, इस प्रकार इसे शुद्ध कहते हैं और जो ज्ञायक रूप से जानने में आया वह तो वही है। एक मात्र जीव तत्व ही चेतनावन्त है, अन्य कोई नहीं।

अशुद्धता पर द्रव्य के संयोग से आती है। उसमें मूल द्रव्य अन्य द्रव्य रूप नहीं होता, मात्र पर द्रव्य के निमित्त से अवस्था मलिन हो जाती है। द्रव्य दृष्टि से तो द्रव्य जो है वही है, आत्मा का स्वभाव ज्ञायकत्व चेतना मात्र है और उसकी अवस्था पुद्गल कर्म के निमित्त से रागादि रूप मलिन है वह पर्याय है। पर्याय दृष्टि से देखा जाये तो वह मलिन ही दिखाई देता है और द्रव्य दृष्टि से देखा जाये तो ज्ञायकत्व तो ज्ञायकत्व ही है। ज्ञान दर्शन चेतना मात्र ही जीव तत्व है वह कहीं जड़ नहीं हुआ। यहाँ द्रव्य दृष्टि को प्रधान करके कहा है, जो प्रमत्त-अप्रमत्त के भेद हैं वे पर द्रव्य की संयोग जनित पर्यायें हैं।

द्रव्यार्थिक नय, द्रव्य दृष्टि या शुद्ध नय की विशेषता क्या है, इसको समयसार में कहा है-

ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।

भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ॥ ११ ॥

व्यवहार नय अभूतार्थ है अर्थात् असत्यार्थ है, उपचार है और शुद्ध नय भूतार्थ है, अर्थात् द्रव्य दृष्टि शुद्ध है, अभेद है, निश्चय है, भूतार्थ है, सत्यार्थ है, परमार्थ है। ऐसा ऋषीश्वरों ने बताया है, जो जीव भूतार्थ का आश्रय लेता है, वह जीव निश्चय से सम्यक्दृष्टि है।

इसी बात को समयसार कलश में अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं -

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्त्युदस्यात्मनः ।

पूर्णज्ञान घनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक् ॥

सम्यक्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं ।

तन्मुक्त्वा नवतत्त्व संततिमिमामात्मायमेकोस्तु नः ॥ ६ ॥

इस आत्मा को अन्य द्रव्यों से अलग देखना (श्रद्धान करना) ही नियम से

सम्यक्दर्शन है। यह आत्मा अपने गुण पर्यायों में व्याप्त रहने वाला है और शुद्धनय से एकत्व में निश्चित किया गया है तथा पूर्ण ज्ञानघन है एवं जितना सम्यक्दर्शन है उतना ही आत्मा है इसलिये आचार्य प्रार्थना करते हैं कि इस नव तत्व की परिपाटी को छोड़कर यह एक आत्मा ही हमें प्राप्त हो।

इसी बात को योगीन्दुदेव परमात्म प्रकाश में कहते हैं-

अमणु अणिंदिउ णाणमउ मुत्ति विरहिउ चिमित्तु ।

अप्पा इंदिय विसउ णवि लक्खणु एहु णिरुत्तु ॥ ३१ ॥

यह शुद्ध आत्मा परमात्मा से विपरीत विकल्प जालमयी मन से रहित है। शुद्धात्मा इन्द्रिय समूह से रहित है। लोक और अलोक को प्रकाशने वाले केवलज्ञान स्वरूप है। अमर्तीक है, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से रहित है। अन्य द्रव्यों में न पाई जावे ऐसा शुद्ध चेतना स्वरूप ही है और इन्द्रियों के गोचर नहीं है, वीतराग स्वसंवेदन से ही ग्रहण किया जाता है। यह लक्षण जिसके प्रगट कहे गये हैं उसको ही तू निःसंदेह आत्मा जान।

यहाँ प्रश्नकर्ता पुनः प्रश्न करता है कि यह बात तो हमारी समझ में आ गई कि निश्चय धर्म चेतना लक्षण शुद्ध स्वभाव ही है परन्तु हम वर्तमान में कर्म संयोगी मिथ्यात्व दशा में जकड़े हैं, ऐसे में हम क्या करें ?

उसका समाधान करते हैं कि तुम भी ऐसे शुद्ध निश्चय धर्म का श्रद्धान करो। इस शरीरादि से भिन्न मैं एक अखंड अविनाशी चैतन्य तत्व भगवान आत्मा हूँ, यह शरीरादि मैं नहीं और यह मेरे नहीं, ऐसा भेदज्ञान करो और इसी का सतत् अभ्यास करो तो वर्तमान जीवन में समता शान्ति रहेगी और काललब्धि आने पर निज शुद्धात्मानुभूति भी हो जायेगी। यह जो शुभाशुभ क्रिया कर रहे हो इसे पाप-पुण्य मानो, धर्म मत मानो।

यहाँ प्रश्नकर्ता पुनः प्रश्न करता है कि मिथ्यात्व अज्ञान दशा में हम यह कैसे मान लेवें और किस कारण से मान लेवें ?

उसका समाधान करते हैं कि भाई ! जिस मान्यता बुद्धि से तुम अपने पिताजी को पिताजी मानते हो, घर परिवार आदि अपने को अपना मानते हो और पर को पर मानते हो। उसी बुद्धि से अब ऐसा मानो कि मैं जीव आत्मा हूँ, यह शरीरादि मैं नहीं हूँ। इससे वर्तमान जीवन में समता शान्ति रहेगी। कषाय और कर्म भी गलेंगे विलायेंगे, मिथ्यात्व भी टूटेगा।

यहाँ कोई कहे कि हमने आत्मा को देखा तो है ही नहीं फिर हम कैसे मान लें कि हम आत्मा हैं ? तो उससे कहते हैं कि भाई ! तूने अपने पिताजी को देखा है कि यही तेरे पिताजी हैं। जैसा माँ ने बताया और लोगों ने कहा वैसा सब मानने लगा। वैसे ही यह जिनवाणी माँ और ज्ञानी सद्गुरु कह रहे हैं इनको मानले तो तेरा भला हो जायेगा। उस मान्यता में तो मरता रहा है और मरता रहेगा। अपना भला करना है तो अभी भी चेत जा, सत्यधर्म वस्तु स्वरूप को जैसा का तैसा स्वीकार कर तो भला होगा।

आगे उसी सत्य धर्म का और विशेष कथन करते हैं-

धर्म च आत्म धर्म च, रत्नत्रयं मयं सदा।

चेतना लघ्यनो जेन, ते धर्म कर्म विमुक्तयं ॥ १६९ ॥

अन्वयार्थ- (धर्म च आत्म धर्म च) धर्म तो आत्म धर्म ही है (रत्नत्रयं मयं सदा) जो त्रिकाल रत्नत्रयमयी अर्थात् सुख शान्ति आनंद से परिपूर्ण है (चेतना लघ्यनो जेन) जिसका चेतना लक्षण अर्थात् ज्ञानानंद स्वभाव है (ते धर्म कर्म विमुक्तयं) वह धर्म, सब कर्मों से रहित है, मुक्त है।

यदि कोई जग में धर्म है तो एक आत्म धर्म है।

सद्प्राप्ति में जिसके न आवश्यक, कोई भी कर्म है ॥

इस आत्मिक सद्धर्म में रे, ज्ञान सिन्धु अथाह है।

यह आत्मिक सद्धर्म ही, चिर सुख सदन की राह है ॥

(चंचल जी)

विशेषार्थ- यहाँ शुद्ध धर्म का विशेष कथन कर रहे हैं कि रत्नत्रयमयी अर्थात् त्रिकाल सुख शान्ति आनंद से परिपूर्ण जो चेतना लक्षण मात्र है, वह धर्म सर्व कर्मों से रहित मुक्त है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि जीव का चेतना लक्षण अर्थात् ज्ञानानंद स्वभाव ही जीव की अपेक्षा सत्य धर्म है और इसी के आश्रय से मुक्ति होती है यह बात तो समझ में आ गई परन्तु वह हमेशा रत्नत्रयमयी अर्थात् सुख शान्ति आनंद से परिपूर्ण है और सब कर्मों से रहित है यह बात समझ में नहीं आई क्योंकि वर्तमान में तो जीव कर्म संयोगी दशा में है। चिन्ता, आकुलता विषाद में भी रहता है फिर इसको कैसे माना जाये ? केवलज्ञानी अरिहन्त सिद्ध की अपेक्षा तो हो सकता है पर वर्तमान में ऐसा मानना तो उचित नहीं लगता ?

इसका समाधान करते हैं कि भाई ! यहाँ धर्म की अपेक्षा, श्रद्धान और निर्णय

करने की अपेक्षा द्रव्य दृष्टि से बात कही जा रही है, यहाँ दशा पर्याय की बात नहीं है क्योंकि जैसे स्वर्णकार अपने बालक को शुद्ध सोने के सारे गुण बताता है और फिर खोट मिले हुए सोने में उसकी परख करना सिखाता है। सोने में खोट कैसे मिलती है और कैसे निकाली जाती है यह भी सब बताता है और वह सब बातों में निपुण हो जाता है तब अपनी दुकान पर बैठाता है। इसी प्रकार यहाँ हमें सबसे पहले शुद्ध आत्मा के गुण जानना है, लक्ष्य में लेना है और फिर अशुद्ध दशा में उन्हें देखना है क्योंकि जब तक हमें अपनी सत्ता शक्ति गुणों का पता नहीं चलेगा, तब तक उन्हें प्रगट करने का पुरुषार्थ भी नहीं होगा। प्रत्येक जीव आत्मा सिद्ध के समान शुद्ध, अनन्त चतुष्टयधारी रत्नत्रयमयी ज्ञानानंद स्वभावी है। यह गुण कहीं से लाना नहीं है, आना नहीं है, स्वयं में हैं; परन्तु हम अपनी स्व सत्ता शक्ति से अनभिज्ञ होने के कारण उन्हें प्रगट करने का पुरुषार्थ नहीं कर रहे। जिन्होंने स्वसत्ता शक्ति को जान लिया और पुरुषार्थ किया तो वह सब कर्मों से मुक्त होकर स्वयं सिद्ध परमात्मा हो गये। इसी प्रकार हम भी इस बात को स्वीकार करें, वर्तमान में कर्म संयोगी दशा में अशुद्ध पर्याय तो है परन्तु वह मेरा स्वभाव नहीं है। मेरा स्वभाव तो सब कर्म मलों से रहित सिद्ध के समान ध्रुव अविनाशी परम ब्रह्म परमात्म स्वरूप ही है। अनादि से कर्म संयोग है परन्तु वह पर्याय में है, स्वभाव में नहीं है, जो मिला है वह निकल सकता है। जैसे- स्वर्ण में से खोट निकालने की प्रक्रिया होती है, उसे अग्नि में तपाया गलाया जाता है फिर उसकी शुद्धि के लिये सुहागा, तेजाब आदि डाला जाता है तो वह शुद्ध हो जाता है। इसी प्रकार जब हमें अपने शुद्ध स्वभाव का श्रद्धान होगा और इस खोट मिली कर्म संयोगी अशुद्ध पर्याय का भान होगा और हम अपना शुद्ध स्वभाव ही प्रगट करना चाहेंगे तो ध्यान की अग्नि, संयम तप की भट्टी में गलाना होगा। भेदज्ञान तत्त्वनिर्णय के द्वारा शुद्ध करना होगा। इसकी प्रक्रिया साधु पद से प्रारंभ होकर सिद्ध पद में पूर्ण होती है। यह रहस्य सद्गुरुदेव स्वयं ही आगे बतायेंगे, यहाँ जो धर्म का मूल आधार, श्रद्धान दृष्टि का विषय है स्वभाव को समझने स्वीकार करने की बात है। शुद्ध आत्मा अर्थात् शुद्ध स्वभाव त्रिकाल रत्नत्रयमयी चेतना लक्षण वाला सर्व कर्मों से रहित ही है। इसी बात को सद्गुरुदेव प्रारंभ में मालारोहण से ही कर रहे हैं -

उदंकार वेदंति सुद्धात्म तत्त्वं, प्रनमामि नित्यं तत्त्वार्थ सार्धं।

न्यान मयं संमिक् दर्शनेत्वं, समिक्त चरनं चैतन्य रूपं ॥ १ ॥

जे मुक्ति सुष्यं नर कोपि सार्धं, संमिक्त सुद्धं ते नर धरेत्वं ।
 रागादयो पुन्य पापाय दूरं, ममात्मा सुभावं ध्रुव सुद्ध दिस्टं ॥ ६ ॥
 सुद्धं प्रकासं सुद्धात्म तत्त्वं, समस्त संकल्प विकल्प मुक्तं ।
 रत्नत्रयं लंकृत विस्वरूपं, तत्त्वार्थ सार्धं बहुभक्ति जुक्तं ॥ १५ ॥
 इसी बात को देवसेनाचार्य तत्वसार में कहते हैं -

जो खलु सुद्धो भावो सा अप्पणितं च दंसणं णाणं ।
 चरणं पि तं च भणियं सा सुद्धा चेयणा अहवा ॥ ८ ॥

जो निश्चय से शुद्ध आत्मा का स्वभाव है वह आत्म रूप है वही सम्यक्दर्शन,
 सम्यक्ज्ञान व सम्यक्चारित्र कहा गया है उसी को शुद्ध चेतना कहते हैं ।

इसी बात को अमृतचन्द्राचार्य समयसार कलश में कहते हैं-
 आत्म स्वभावं परभाव भिन्नमापूर्णमाद्यंत विमुक्तमेकम् ।
 विलीन संकल्प विकल्प जालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ॥ १० ॥

शुद्ध नय आत्म स्वभाव को प्रगट करता है । वह आत्म स्वभाव को पर द्रव्य,
 पर के भाव तथा पर द्रव्य के निमित्त से होने वाले अपने विभाव, ऐसे परभावों से
 भिन्न प्रगट करता है और वह आत्म स्वभाव सम्पूर्ण रूप से पूर्ण है । समस्त लोकालोक
 का ज्ञाता है, ऐसा प्रगट करता है । (क्योंकि ज्ञान में भेद, कर्म संयोग के कारण से है,
 शुद्ध नय में कर्म गौण है) और वह आत्म स्वभाव को आदि अन्त से रहित प्रगट करता
 है अर्थात् जो किसी से उत्पन्न नहीं किया गया और कभी भी किसी से
 जिसका विनाश नहीं होता, ऐसे पारिणामिक भाव वाला है ।

आत्म स्वभाव सर्व भेद भावों से रहित एकाकार है, जिसमें समस्त संकल्प
 विकल्पों के समूह विलीन हो गये हैं ।

द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नो कर्म आदि पुद्गल द्रव्यों में अपनी कल्पना सो
 संकल्प है और ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में भेद ज्ञात होना सो विकल्प है ।

ऐसा शुद्ध नय आत्म स्वभाव को प्रगट करता है । आत्मा पाँच प्रकार से अनेक
 रूप दिखाई देता है ।

१. अनादिकाल से कर्म पुद्गल के संबंध से बंधा हुआ कर्म पुद्गल के स्पर्श
 वाला दिखाई देता है ।

२. कर्म के निमित्त से होने वाली नर-नारक आदि पर्यायों में भिन्न-भिन्न
 स्वरूप दिखाई देता है ।

३. शक्ति के अविभाग प्रतिच्छेद (अंश) घटते भी हैं, बढ़ते भी हैं यह वस्तु
 स्वभाव है इसलिये वह नित्य नियत एक रूप दिखाई नहीं देता ।

४. वह दर्शन ज्ञान आदि अनेक गुणों से विशेष रूप दिखाई देता है ।

५. कर्म के निमित्त से होने वाले मोह, राग-द्वेष आदि परिणामों कर सहित
 वह सुख-दुःख रूप दिखाई देता है ।

यह सब अशुद्ध द्रव्यार्थिक रूप व्यवहार नय का विषय है ।

शुद्ध द्रव्यार्थिक नय क्या है ? इसे समयसार में कहते हैं-

जो परस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्टं अणणयं णियदं ।

अविसेसमसंजुतं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥ १४ ॥

जो आत्मा को अबद्ध, बन्ध रहित और पर के स्पर्श से रहित, अन्यत्व रहित,
 नियत, चलाचलता रहित, विशेष रहित, अन्य के संयोग से रहित देखता है वह
 शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है उसे शुद्ध नय जानो ।

यहाँ शुद्ध धर्म, शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय चल रहा है । जिसके आश्रय से
 शुद्धात्मानुभूति सम्यक्दर्शन होता है, जो मोक्ष का मूल आधार है ।

जो जीव ऐसे शुद्ध धर्म, निज शुद्धात्मा का आश्रय, श्रद्धान करता है, वह
 अन्तरात्मा सम्यक्दृष्टि होता है । मोक्षमार्ग के लिये, संसार के दुःख जन्म-मरण से
 बचने के लिये सुख शान्ति आनंद मय होने के लिये अपने ऐसे निज शुद्ध स्वभाव का
 ही श्रद्धान करना आवश्यक है । इसी से सत्य धर्म की प्राप्ति और मुक्ति का मार्ग बनता
 है । बाहर की किसी क्रिया कर्म से धर्म तीन काल नहीं होता ।

इसी बात को अमृतचन्द्राचार्य समयसार कलश में और स्पष्ट करते हैं -

भूतं भातमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बंधं सुधीः ।

यद्यंतः किलकोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात् ॥

आत्मात्मानुभवैकगम्य महिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं ।

नित्यं कर्म कलंकं पंकं विकलो देवः स्वयं शाश्वतः ॥ १२ ॥

यदि कोई बुद्धिमान पुरुष अपने त्रिकरण रूप प्रबल पुरुषार्थ से मोह को चूर
 कर भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों समयों के कर्म बन्धों को भेदज्ञान के बल से शीघ्र
 भेदकर अपने अन्तरंग को देखता है तो उसे सदा अनादि अनंत एक ज्ञायक स्वभाव
 वाला कर्मों के कलंकों से रहित अपने स्वानुभव से ही जिसकी महिमा जानी जा
 सकती है, ऐसा यह आत्मा जो स्वयं शाश्वत देव है, परमात्मा है, निश्चय से प्रगट

अनुभव में आयेगा।

शुद्ध नय की दृष्टि से देखा जाये तो सर्व कर्मों से रहित चैतन्य मात्र देव अविनाशी आत्मा अंतरंग में स्वयं विराजमान है। यह प्राणी, पर्याय बुद्धि बहिरात्मा उसे बाहर दूँढता है, यह महा अज्ञान है।

इसी बात को ब्र. शीतल प्रसाद जी ने तारण तरण श्रावकाचार ग्रन्थ की टीका में कहा है—

धर्म कहीं बाहर नहीं है, न किसी चैत्यालय में है, न शास्त्र में है, न किसी तीर्थ में है, न किसी गुरु के पास से मिलता है, न क्रियाकांड में है। धर्म तो हर एक आत्मा के भीतर है। हर एक आत्मा का अपना निज स्वभाव है। भेद दृष्टि से देखें या कहें तो उसे सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्रमय कहेंगे; परंतु अभेद नय से देखें या कहें तो यह एक मात्र स्वानुभवरूप या ज्ञान चेतनामात्र है। इस धर्म में राग-द्वेषादि की संकल्प-विकल्प की कोई उपाधि नहीं है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि वेदान्त और सांख्य मत में भी ऐसा ही कहा है फिर यह साम्प्रदायिकता भेदभाव क्यों है ?

उसका समाधान करते हैं कि भगवान महावीर के मत स्याद्वाद अनेकान्त में तो कोई भेद भाव साम्प्रदायिकता है ही नहीं। वहाँ तो प्राणी मात्र भगवान आत्मा है और सभी में वह परम ज्योति परमानंद स्वरूप परम ब्रह्म परमात्मा विराजमान है। कथन पद्धति अपनी-अपनी है, मान्यता और बाहरी आचरण के भेदभाव, साम्प्रदायिक बंधन हैं। तारण स्वामी ने तो इन्हीं सब भेदभाव, साम्प्रदायिक जाति-पांति के बंधनों को तोड़कर प्राणी मात्र को धर्म का अधिकारी बताया है। जो जीव चाहे, ऐसे अपने सत्य धर्म को स्वीकार कर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। परम तत्व सत्य को जो स्वीकार करे उसी का कल्याण होगा फिर वह कोई भी हो।

यहाँ प्रश्न होता है कि हमने ऐसे शुद्ध धर्म निज शुद्धात्मानुभूति को जान लिया, मान लिया तो अब तो और कुछ नहीं करना ? अब जो कुछ जैसा होना है होने दें ?

उसका समाधान करते हैं कि हे भाई ! सद्गुरुदेव तारण स्वामी स्वयं इस बात को आगे बता रहे हैं कि जिसने ऐसे शुद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया, जान लिया, मान लिया जो अन्तरात्मा, सम्यक्दृष्टि हो गया वह फिर धर्म ध्यान की साधना आराधना करता है। बाहर में पर का तो कुछ नहीं करता क्योंकि वह तो जो होना है वह क्रमबद्ध निश्चित है, तत्समय की योग्यतानुसार हो रहा है और होगा फिर वह पुद्गल शरीरादि

द्रव्य का कर्ता नहीं होता; परन्तु वर्तमान में अपनी पात्रतानुसार जो विभाव परिणमन चलता है, उसमें वह अपनी सुरत रखने ज्ञायक निर्भय रहने और स्वभावमय रहने का पुरुषार्थ करता है और यह पुरुषार्थ धर्म निज शुद्ध स्वभाव के आश्रय ही होता है। धर्म ध्यान की कैसी आराधना करता है इसका वर्णन आगे करते हैं —

धर्म ध्यानं च आराध्यं, उवंकारं च स्थितं।

हींकारं श्रींकारं च, त्रि उवंकारं च संस्थितं ॥ १७० ॥

अन्वयार्थ- (धर्म ध्यानं च आराध्यं) धर्म ध्यान की आराधना करता है (उवंकारं च स्थितं) वह अपने आपको ओंकार स्वरूप में स्थित देखता है (हींकारं श्रींकारं च) हींकार और श्रींकार में (त्रि उवंकारं च संस्थितं) तथा तीनों ॐ हीं श्रींकार स्वरूप में स्थित होता है।

विशेषार्थ- यहाँ जिसने शुद्ध धर्म को जान लिया, स्वीकार कर लिया, ऐसा अन्तरात्मा अव्रत सम्यक्दृष्टि क्या करता है ? इसके समाधान स्वरूप सद्गुरु कहते हैं कि वह धर्म ध्यान की आराधना करता है।

यहाँ प्रश्न होता है कि साधना, आराधना में क्या भेद है ?

उसका समाधान करते हैं कि साधना अभेदपने में रहने को कहते हैं अर्थात् शुद्ध स्वभाव मय रहना पूर्ण स्थिरता सिद्धि कहलाती है। क्षणिक स्थिरता और उसका क्रमशः विकास साधना है। आराधना भेद-विकल्प पूर्वक होती है अर्थात् शुद्ध-बुद्ध अविनाशी चेतन तत्व भगवान आत्मा मैं हूँ ऐसी श्रद्धा सहित उस रूप अपने को देखना इसमें भेद विकल्प रहता है। आराधना-मिथ्यादृष्टि और सम्यक्दृष्टि चौथे गुणस्थानवर्ती तक होती है। पाँचवें गुणस्थान से साधना का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। जिसने अपने शुद्ध धर्म निजशुद्धात्म स्वरूप का अनुभव कर लिया, देख लिया है श्रद्धान कर लिया है परन्तु अभी अव्रत दशा में है कर्म संयोग है, विभाव परिणमन चल रहा है तो अब ऐसे में वह अपने स्वभाव की आराधना करता है। धर्म ध्यान का अभ्यास करता है। धर्म ध्यान के चार भेद हैं —

१. आज्ञा विचय, २. अपाय विचय, ३. विपाक विचय, ४. संस्थान विचय।

१. आज्ञाविचय— सच्चे वीतरागी देव, गुरु, शास्त्र के श्रद्धान सहित उन्होंने क्या कहा है, धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है, इसका विचार करना।

२. अपाय विचय— इन-इन परिणामों से ऐसे-ऐसे कर्म बन्ध होते हैं, हमेशा

अपने परिणामों की संभाल करना हमेशा इसी का चिन्तन विचार करना।

३. विपाक विचय- पूर्व में बांधे हुए कर्मोदय को समता शान्तिपूर्वक सहना, देखो पूर्व में मैंने ऐसे छोटे कर्म किये होंगे, उसी का परिणाम तो यह सामने मिल रहा है। इसमें किसका दोष है ? जैसा कर्म बन्ध किया है उसका वैसा फल तो भोगना पड़ेगा। समता शान्ति से भोगें तो निर्जरा हो जायेगी, पुनः नहीं बंधेगा। रोयेंगे, खेद-खिन्न, आकुल-व्याकुल होंगे, राग-द्वेष करेंगे तो पुनः ऐसा ही कर्म बन्ध होगा, जो आगे चलकर फिर भोगना पड़ेगा, ऐसा विचार करना समता में रहना।

४. संस्थान विचय- संसार के स्वरूप का विचार करना।

चौदह राजु उत्तंग नभ, लोक पुरुष संठान।

तामें जीव अनादि से, भरमत हैं बिन ज्ञान ॥

संसार शरीर भोगों के स्वरूप का विचार कर वैराग्य का चिन्तन करना। ॐ ह्रीं श्रीं इन पदों के माध्यम से अपने स्वरूप का विचार करना और इन्हीं पदों के स्मरण में लीन रहना।

ॐकार, पंच परमेष्ठी पद का वाचक है अर्थात् अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पदों में जो हो गये हैं, उनके स्वरूप का विचार करना और ऐसा ही मैं हूँ, इन पदों में अपने आपको स्थित देखना। इसका विस्तृत विवेचन पदस्थ ध्यान में आयेगा।

ह्रींकार में चौबीस तीर्थकर गर्भित हैं। तीर्थकरों के पंचकल्याणक का विचार करना तथा उस रूप अपने को देखना। निश्चय से शुद्ध आत्मा ही अरिहंत है, शुद्ध आत्मा ही सिद्ध है, शुद्ध आत्मा ही आचार्य है, शुद्ध आत्मा ही उपाध्याय है और शुद्ध आत्मा ही साधु है तथा शुद्ध आत्मा ही श्री ऋषभादि महावीर पर्यंत चौबीस तीर्थकर हैं और मैं भी शुद्ध आत्मा हूँ, इसी ध्यान में लगे रहना।

श्रींकार, मोक्ष लक्ष्मी सिद्ध दशा को कहते हैं; जहाँ परमानंदमयी अशरीरी ध्रुवतत्त्व परमात्म पद प्रगट हो जाता है, इसी स्वरूपमय अपने को देखना।

चित्त का किसी एक विषय पर एकाग्र हो जाने का नाम ध्यान है। संसार में कर्म संयोगी दशा में आर्त-रौद्र ध्यान अपने आप संस्कार वश होते हैं; क्योंकि उन्हीं सब संयोगों में जीव लिप्त तन्मय है, तो वह अपने आप होते रहते हैं अर्थात् आर्त ध्यान के इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, पीड़ा चिन्तवन, निदान बंध जैसे योग संयोग मिलते हैं, वैसे होता रहता है तथा रौद्र ध्यान के हिंसानंदी, मृषानंदी, चौर्यानंदी

और परिग्रहानंदी, जैसे निमित्त मिलते हैं वैसा लीन हो जाता है। धर्म ध्यान करने के लिये पुरुषार्थ करना पड़ता है; क्योंकि यह अभी तक जीव के संस्कार अभ्यास में आया नहीं है।

ध्याता अर्थात् ध्यान करने वाले को अपना लक्ष्य शुद्ध आत्मा की तरफ रखकर मन की चंचलता को रोकने के लिये ॐ ह्रीं श्रीं इन पदों का आलम्बन लेकर या तो इनको जपना चाहिये या हृदय स्थान में अथवा दोनों भौंहों के मध्य में या नाभिकमल में या मस्तक पर विराजमान करके इनको ज्योति स्वरूप चमकता देखना चाहिये और शुद्धं प्रकाशं शुद्धात्म तत्त्वं का लक्ष्य बनाकर अपने शुद्ध आत्मा तक पहुँच जाना चाहिये। वहाँ से उपयोग हटे, तब फिर इन्हीं पदों को देखना चाहिये, पंच परमेष्ठी चौबीस तीर्थकर के गुणों का विचार करते रहना चाहिये। इस माध्यम से अपना लक्ष्य अपना इष्ट जो निज शुद्धात्मा है उसी तक पहुँचने का प्रयास करते रहना चाहिये। यह प्रारंभिक अवस्था में धर्म ध्यान करने की विधि है। धर्म ध्यान करने से क्या होता है ?

इसका वर्णन आगे करते हैं-

धर्म ध्यानं त्रिलोकं च, लोकालोकं च सास्वतं।

कुन्यानं त्रि विनिर्मुक्तं, मिथ्या माया न दिस्टते ॥ १७१ ॥

उत्तम षिमा उत्पाद्यंते, उत्तम तत्त्व प्रकासकं।

ममलं अप्य सद्भावं, उत्तम धर्मं च निश्चयं ॥ १७२ ॥

अन्वयार्थ- (धर्म ध्यानं त्रिलोकं च) धर्म ध्यान से त्रिलोक और (लोकालोकं च सास्वतं) लोकालोक में जो शाश्वत है वह जानने में आता है (कुन्यानं त्रि विनिर्मुक्तं) तीनों प्रकार के कुज्ञान से मुक्त हो जाता है (मिथ्या माया न दिस्टते) फिर वहाँ मिथ्या मायादि शल्य दिखाई नहीं देती।

(उत्तम षिमा उत्पाद्यंते) उत्तम क्षमा धर्म पैदा हो जाता है (उत्तम तत्त्व प्रकासकं) उत्तम तत्त्व का प्रकाश हो जाता है (ममलं अप्य सद्भावं) अपना ममल आत्म स्वभाव दिखाई देने लगता है (उत्तम धर्मं च निश्चयं) निश्चय से यही उत्तम धर्म है ऐसी दृढ़ प्रतीति हो जाती है।

विशेषार्थ- धर्म ध्यान करने से क्या होता है ? इसका वर्णन किया जा रहा है। धर्म ध्यान की आराधना करने से त्रिलोक में और लोकालोक में जो शाश्वत जीव

तत्व, निज शुद्धात्मा है, वह जानने में आता है तथा तीनों कुज्ञान कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ज्ञान विला जाते हैं इनसे मुक्त हो जाता है अर्थात् उसे सुमति, सुश्रुत, सुअवधि ज्ञान हो जाता है फिर वहाँ मिथ्या, माया, निदान शल्य दिखाई नहीं देतीं अर्थात् उसकी शल्यें भी विला जाती हैं।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि जिसे सम्यक्दर्शन, निज शुद्धात्मानुभूति हो गई है वह अन्तरात्मा धर्म ध्यान की आराधना करता है उससे उसे यह लाभ होता है; परन्तु जो अभी मिथ्यादृष्टि है उसे निज शुद्धात्मानुभूति नहीं हुई, वह भी यह धर्म ध्यान की आराधना कर सकता है या नहीं? और इससे उसे भी कुछ लाभ मिलेगा या नहीं?

उसका समाधान करते हैं कि भाई! धर्म ध्यान की आराधना तो सभी जीव कर सकते हैं परन्तु जो सम्यक्दृष्टि हैं, उन्हें उसके स्वाद का आनंद आयेगा। जैसे-किसी व्यक्ति ने कोई स्वादिष्ट वस्तु खाई हो तो जब वह बनती है या उसका नाम लिया जाता है, तो उसका स्वाद आने लगता है, मुँह में पानी आने लगता है, खा नहीं रहा परन्तु अनुभव होने से रस आने लगता है, इसी प्रकार जिसे निज शुद्धात्मानुभूति हो गई है, उसे आत्मा का नाम लेने, चर्चा करने, ध्यान करने पर आनंद रस आने लगता है। जिसे अभी अनुभूति नहीं हुई है परन्तु जो श्रद्धापूर्वक उस ओर का प्रयास कर रहा है, उसे भी वह उपलब्ध होगी यह निश्चित बात है। जो सच्चे देव गुरु शास्त्र की श्रद्धापूर्वक उनके कथनानुसार शुद्ध धर्म निज शुद्धात्मा की श्रद्धा करता है और धर्म ध्यान की आराधना करता है, उसे वर्तमान जीवन में समता शान्ति मिलती है, पुण्य बंध होता है और इसी के आश्रय से धर्म की उपलब्धि अर्थात् सम्यक्दर्शन भी होता है; इसलिये धर्म ध्यान की आराधना तो प्रत्येक जीव को करना चाहिये। आर्त-रौद्र ध्यानों से बचने का भी यही उपाय है। विकथा, विषय-कषाय, विभावों से बचने के लिये धर्म ध्यान की आराधना ही कार्यकारी है, भेदज्ञान तत्त्वनिर्णय सब इसी के अन्तर्गत आते हैं। जीव का हितकारी एकमात्र धर्म ध्यान ही है।

धर्म ध्यान की आराधना करने से उत्तम क्षमा धर्म पैदा हो जाता है। सब जीवों के प्रति क्षमा मैत्री समभाव आ जाता है। क्रोध कषाय विला जाती है। उत्तम तत्व का प्रकाश हो जाता है, अपना ममल आत्म स्वभाव दिखाई देने लगता है। अपना अर्थात् मैं आत्मा हूँ यह शरीरादि नहीं हूँ ऐसे स्व का विचार करना ही धर्म ध्यान है। पर का

विचार चलना ही आर्त-रौद्र ध्यान है। कहा है -

धर्म धर्म सब कोई कहें, धर्म न जाने कोय।

आतम को जाने बिना, धर्म कहाँ से होय॥

आत्मा का ममल स्वभाव ही निश्चय से उत्तम धर्म है। यहाँ कोई प्रश्न करे कि ममल स्वभाव किसे कहते हैं?

उसका समाधान करते हैं कि विमल निर्मल, अमल और ममल यह चार शब्द हैं। कहने और देखने में एक से लगते हैं परन्तु इनका स्वरूप भिन्न-भिन्न है वह समझना है।

विमल अर्थात् बीत गया मल, मल अर्थात् राग-द्वेषादि विकारी भाव। निर्मल-अर्थात् निकल गया मल। अमल-अर्थात् मल ही नहीं है। ममल-अर्थात् मल होते हुए भी जो उनसे रहित भिन्न त्रिकाल शुद्ध है उसे ममल स्वभाव कहते हैं।

यहाँ पुनः प्रश्न होता है कि मल होते हुए भी जो उनसे रहित भिन्न त्रिकाल शुद्ध है उसे ममल स्वभाव कहते हैं। यह बात समझने में नहीं आई ऐसा कैसे हो सकता है, इसे स्पष्ट समझाइये?

यह तारण स्वामी की बड़ी अपूर्व साधना शैली है। शब्द रचना भी बड़ी स्वतंत्र है। यह आगम और अनुभव से प्रमाणित शुद्ध अध्यात्म की बात है।

ममल शब्द का प्रयोग जैनाचार्यों ने तथा अन्य ज्ञानियों ने बहुत ही कम किया है; जबकि तारण स्वामी का पूरा साधना क्रम ममलममल, शुद्धहशुद्ध, ध्रुव, ध्रुव, ध्रुव तत्व से ही भरा हुआ है, ऐसे ज्ञानी साधक विरले ही होते हैं जिन्होंने अध्यात्म को संगीत मय कर दिया। जहाँ देखो वहाँ अप्पा शुद्धप्पा परमप्पा ही दिखाई देता है, पूरा ममलपाहुड़ शास्त्र ही रच दिया। यह ममल स्वभाव अनुभवगम्य ही है। जैसे सोना किट्टिका सहित खान से निकलता है; परन्तु वहाँ पर भी वह स्वभाव से शुद्ध है। वर्तमान में खोट सहित आभूषण रूप में है परन्तु स्वभाव से शुद्ध है। आगे शुद्ध होकर रखा जाये तब भी स्वभाव से शुद्ध है और यह बात वर्तमान में प्रत्यक्ष व्यवहार से अनुभवगम्य है, जिसका साक्षी स्वर्णकार है। वैसे ही यह जीव द्रव्य अनादि से पुद्गल कर्म संयोग में मिला हुआ है परन्तु वहाँ भी यह स्वभाव से शुद्ध है। वर्तमान में इस मनुष्य पर्याय में कर्म संयोग में है परन्तु यहाँ भी स्वभाव से शुद्ध है और जब यह सिद्ध दशा में पूर्ण शुद्ध हो जायेगा तब भी स्वभाव से शुद्ध है। इसके साक्षी केवलज्ञानी सर्वज्ञ परमात्मा हैं। इसे ममल स्वभाव कहते हैं और जो

ऐसे अपने ममल स्वभाव को स्वीकार करता है, वह ज्ञानी सम्यक्दृष्टि अन्तरात्मा है। इसलिये कहा है -

**बंधा मिला है बंधे को, छूटे कौन उपाय।
कर सेवा निर्बंध की, पल में लेय छुड़ाय।**

बन्धन में है, ऐसा तो जगत कहता है और ऐसा ही बंधा हुआ बंधे हुए को मिला है। कोई कर्मों से बंधा है, कोई जाति-पांति से बंधा है। सब कहीं न कहीं किसी न किसी से बंधे हैं। ज्ञानी संत कहते हैं अरे ! उस निर्बंध अपने शुद्ध स्वभाव का आश्रय ले, उसकी सेवा कर तो पल में लेय छुड़ाय। एक मुहूर्त में केवलज्ञान हो जाये, स्वयं परमात्मा हो जाये। शिवभूति मुनि इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। जब यह भान हुआ तुषमास भिन्न, इन शरीरादि संयोगों से भिन्न मैं त्रिकाल शुद्ध टंकोत्कीर्ण अप्पा ध्रुवतत्व ममल स्वभावी भगवान् आत्मा त्रिकाल एक रूप शुद्ध प्रकाशं शुद्धात्म तत्त्व हूँ। जहाँ यह अनुभूति में आया, उसी समय ध्यान लगाकर बैठ गये ४८ मिनट में केवलज्ञान प्रगट हो गया। यह है सत्य धर्म की महिमा और ममल स्वभाव की साधना का फल। अपने को यह बात जंचे, समझ में आये तो काम चले। मात्र चर्चा करने से कोई लाभ नहीं है। इसी बात को सदगुरु आगे गाथा में और स्पष्ट कर रहे हैं-

मिथ्या समय मिथ्या च, रागादि मल विवर्जितं।

असत्यं अनृतं न दिस्टंते, ममलं धर्म सदा बुधैः ॥ १७३ ॥

अन्वयार्थ- (मिथ्या समय मिथ्या च) मिथ्यात्व और मिथ्या प्रकृति (रागादि मल विवर्जितं) राग-द्वेषादि मलों से वर्जित जहाँ यह कोई हैं ही नहीं (असत्यं अनृतं न दिस्टंते) तथा जहाँ झूठी नाशवान् अशुद्ध पर्यायें भी दिखाई नहीं देती (ममलं धर्म सदा बुधैः) हमेशा उसे ही ममल धर्म जानो।

विशेषार्थ- यहाँ ममल स्वभाव किसे कहते हैं, इसका वर्णन चल रहा है। सदगुरु कहते हैं कि जो मिथ्यात्व और मिथ्या प्रकृति ज्ञानावरणादि कर्म तथा राग-द्वेषादि मलों से भिन्न, न्यारा है। जहाँ यह कोई हैं ही नहीं इनका पहुँचना ही सम्भव नहीं है तथा जहाँ झूठी नाशवान् अशुद्ध पर्यायें भी दिखाई नहीं देती, वह ममल स्वभाव है। हमेशा उसे ही ममल धर्म जानो, बड़ी ही अपूर्व बात है।

यहाँ एक जीव द्रव्य उसमें अनादि से पुद्गल कर्मों का निमित्त-नैमित्तिक संयोग संबंध, अनन्तगुण, अनन्तानंत पर्यायें और प्रति समय उत्पाद व्यय रूप

परिणमन चलना, इतना सब होते हुए भी जो अपनी स्व सत्ता में ध्रौव्य है। जो त्रिकाल शुद्ध है, जिसमें न उत्पाद व्यय है, न गुण पर्याय का भेद है। जो अपने सत्ता स्वरूप में शाश्वत है, वह ममल स्वभाव है। सब कुछ होते हुए भी जिसमें कुछ नहीं है, वह ममल स्वभाव धर्म है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि फिर ममल स्वभाव में उत्पाद व्यय, गुण पर्याय कुछ नहीं होते होंगे ?

उसका समाधान करते हैं कि भाई ! ममल स्वभाव द्रव्य का होता है, द्रव्य में होता है। जीव भी एक द्रव्य है और यह ममल उसका स्वभाव है तो गुणों में पर्याय में परिणमन चलता है, पर्याय शुद्ध-अशुद्ध होती है। स्वभाव तो अपने में एक अखंड अभेद शाश्वत ध्रुव रहता है। उसे ही ममल स्वभाव कहते हैं। जैसे जो चेतना निगोदिया, एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पंचेन्द्रिय पशु मनुष्यादि में होती है, उसमें कोई भेद नहीं होता। गुणों में प्रगटपना-अप्रगटपना, पर्याय में अशुद्धता, कर्मों की तीव्र मंद सत्ता, यह अलग-अलग होती हैं परन्तु चैतन्य शक्ति एक सी होती है, इसलिये कहा है कि-

जो निगोद में सो ही मुझमें, सो ही मोक्ष मझार।

निश्चय भेद कछु भी नहीं, भेद गिने संसार ॥

चेतना शक्ति सबमें एक सी होती है और यही जीव का शुद्ध धर्म है, जो अपने ऐसे चैतन्य स्वरूप की प्रतीति करता है कि मैं तो एक अखंड अविनाशी चैतन्यतत्व भगवान् आत्मा हूँ, यह शरीरादि कर्म संयोग अशुद्ध पर्याय में नहीं, मेरे नहीं। मैं तो शुद्ध चेतना मात्र जीव तत्व हूँ, वही इस ममल धर्म को स्वीकार करता है और इसी की साधना आराधना से परमात्मपद, परमानंद की उपलब्धि होती है। इसी के आश्रय जीव ज्ञानानंद स्वभाव में रहता है जिसको इसकी प्रतीति दृढ़ श्रद्धान नहीं है वह संसार में रूलता है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि जब यह जीव ज्ञानानंद स्वभावी है तो फिर यह अपने ज्ञानानंद स्वभाव में क्यों नहीं रहता ? ममल स्वभावी है तो ममल स्वभाव में क्यों नहीं रहता ?

उसका समाधान करते हैं कि भाई ! यह जीव ज्ञानानंद स्वभावी तो है परन्तु जब तक इसका पर से अर्थात् शरीरादि पर द्रव्य और पर जीवों से - १. संबंध, २. स्वार्थ, ३. लगाव, ४. अपेक्षा रहेगी, तब तक यह ज्ञानानंद मय नहीं रह सकता

तथा यह ममल स्वभावी भी है; परन्तु जब तक इसको पर से- १. एकत्व, २. अपनत्व, ३. कर्तृत्व, ४. चाह, ५. लगाव रहेगा तब तक यह ममल स्वभाव में भी नहीं रह सकता, ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध है।

यहाँ पुनः प्रश्न आया कि यह बात समझ में नहीं आई इसे विस्तार पूर्वक स्पष्ट बताइये ?

उसका समाधान करते हैं कि यहाँ तीन बातें समझने की हैं। अगर यह समझ में आ जायें तो फिर सारी समस्या ही समाप्त हो जाये।

१. पहली बात- निमित्त-नैमित्तिक संबंध समझने का है। जीव और पुद्गल यह दो द्रव्यों का एक क्षेत्रावगाह संयोग संबंध, निमित्त-नैमित्तिक संबंध अनादि से है। जीव के विभाव परिणामों के निमित्त से पुद्गल परमाणु, कर्म स्कन्धादि रूप परिणमित होते हैं और कर्मादि पुद्गल के निमित्त से जीव का विभाव परिणमन होता है। इसे निमित्त-नैमित्तिक संबंध कहते हैं। जीव और पुद्गल दोनों में क्रियावती शक्ति, वैभाविक परिणमन शक्ति से है, अपनी-अपनी शक्ति से स्वयं अपने में ही परिणमन करते हैं। जीव, पुद्गल रूप नहीं होता और पुद्गल, जीव रूप नहीं होता। पुद्गल, पुद्गल अचेतन ही रहता है। जीव, चेतन चेतन स्वरूप ही रहता है; परन्तु दोनों का विभाव परिणमन एक दूसरे के निमित्त से ही होता है।

निमित्त कुछ करता नहीं है; परन्तु निमित्त के बगैर भी कुछ होता नहीं है। निमित्त को कर्ता मानना मिथ्यात्व है, निमित्त के बिना कार्य होना मानना भी अज्ञान मिथ्यात्व है। निमित्त कुछ करता नहीं है; परन्तु निमित्त के बगैर कोई कार्य होता नहीं है, ऐसा श्रद्धान सम्यक्त्व है।

जब तक जीव और पुद्गल शरीर कर्मादि का संयोग संबंध है। जीव संसार में अशुद्ध पर्याय सहित है तब तक निमित्त-नैमित्तिक संबंध ही चलता है। अरिहन्त अवस्था में शुद्ध पर्याय और वीतरागी हो जाने से फिर निमित्त-नैमित्तिक संबंध समाप्त हो जाता है। पूर्ण शुद्ध अशरीरी सिद्ध दशा में संयोग संबंध भी समाप्त हो जाता है।

२. दूसरी बात- अब जो जीव इस बात को जानता है, जिसे भेदज्ञान पूर्वक जीव और पुद्गल की भिन्नता भासित हो गई है तथा जिसे अपने शुद्धात्म तत्व ज्ञानानंद स्वभाव की अनुभूति हो गई है; परन्तु जब तक शरीरादि पर द्रव्य और पर जीवों से संबंध, स्वार्थ, लगाव, अपेक्षा है तब तक वह ज्ञानानंदमय नहीं रह सकता।

संबंध- पर को अपना मानना, परिवार की रिश्तेदारी, जिम्मेदारी व्यवहारिकता

निभाना इससे मोह, राग-द्वेष के परिणाम होते हैं। संकल्प-विकल्प चलते हैं, खेद खिन्नता रहती है, इस कारण ज्ञानानंद मय नहीं रह सकता।

स्वार्थ- पर से अपना मतलब रखना, किसी से कुछ चाहना, धन पुत्रादि से किसी प्रकार की भी कामना वासना रखना। इससे भी मोह, राग-द्वेष के परिणाम होते हैं। संकल्प-विकल्प चलते हैं, खेद खिन्नता रहती है।

लगाव- अपनत्वपना होना, अच्छा मानना, साथ रहना, मित्रता रखना, इससे भी मोह, राग-द्वेष के परिणाम होते हैं, संकल्प-विकल्प चलते हैं।

अपेक्षा- किसी से किसी भी प्रकार की चाह होना, ऐसा नहीं ऐसा होता, यह नहीं यह होता, इससे भी राग-द्वेष के परिणाम होते हैं, विकल्प आते हैं। जो ज्ञानानंदमय रहने में बाधक कारण हैं।

यहाँ प्रश्न है कि जब जीव ज्ञानी हो गया फिर यह सब क्यों होता है ?

इसका समाधान है कि जीव जब तक चौथे पाँचवें गुणस्थान में रहता है, तब तक उसकी पात्रतानुसार यह होते ही हैं। चौथे गुणस्थान में मोह की प्रबलता रहती है और पाँचवें गुणस्थान में राग की प्रबलता रहती है, तब तक यह सब होते हैं। जब जीव छठे गुणस्थान में चला जाता है, वीतरागी हो जाता है फिर वह अपने ज्ञानानंद स्वभाव में रहता है। इसके पूर्व ज्ञानानंद स्वभाव में नहीं रह सकता ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध है।

३. तीसरी बात- जीव चेतन लक्षण ममल स्वभावी भगवान आत्मा तो है परन्तु जब तक इसको पर में एकत्व, अपनत्व, कर्तृत्व, चाह, लगाव रहेगा तब तक यह ममल स्वभाव में नहीं रह सकता। जिसे अभी अपना होश ही नहीं है, जो अपने को जानता ही नहीं है। वह अपने में कैसे रहेगा ? इसका पहला कारण एकत्व है।

एकत्व- यह शरीरादि ही मैं हूँ ऐसी मान्यता। नाम, रूप, शरीर, पद, पुत्र, परिवार, धनादि ही मैं हूँ यह एकत्वपना ही अज्ञान मिथ्यात्व है। इसी के कारण यह त्रिलोकी नाथ भगवान आत्मा भीख मांगता, दर-दर भटकता फिर रहा है। चार गति चौरासी लाख योनियों में जन्म-मरण कर रहा है और नाना प्रकार के दारुण दुःख भोग रहा है। यह एकत्वपना मिटे, अपने ममल स्वभाव का श्रद्धान ज्ञान होवे, शुद्धात्म स्वरूप की अनुभूति होवे तो फिर अपने में रहने की बात बने। यहाँ मिथ्यात्व की भूमिका है।

अपनत्व- एकत्वपना मिटने के बाद यह अपनत्व अपना मानना मिटे, यह

शरीरादि, धन, पुत्र, परिवार मेरे हैं। यहाँ मोह का साम्राज्य है, जिसके कारण अच्छे-अच्छे शूरवीर चक्कर खाते हैं। यह बेहोश कर देता है फिर अपनी कोई सुध-बुध नहीं रहती। शंका-कुशंका के परिणाम चलते हैं। भयभीत पना घबराहट रहती है, मोह के कारण ही पापादि कुकर्म करना पड़ते हैं। इसके मिटने पर समता आती है, साता रहती है।

कर्तृत्व— घर परिवार के संयोग में रहते हुए तो यह सब करना ही पड़ता है। व्यवहारिकता निभाना भी जरूरी है। अपने कर्तव्य का पालन करना भी आवश्यक है। यह पाप है, यह पुण्य है, यह अच्छा है, यह बुरा है। यह भाव और क्रिया अच्छी है, यह भाव और क्रिया बुरी है, ऐसे नहीं ऐसे भाव, ऐसे कर्म करना चाहिये। जहाँ तक राग-द्वेष, पाप-पुण्य का भेद विकल्प है वहाँ तक कर्तृत्वपना है और यही बंध का कारण है, जिसका कर्तृत्वपना मिटता है, वही निर्भय रहता है।

चाह— यह नहीं, यह होता। यह अच्छा है, यह बुरा है। यह हितकारी है, यह अहितकारी है। कुछ भी चाहना, चिन्ता और विकल्प का कारण है। चाह मिटने पर ही चिन्ता मिटती है तभी शांति रहती है।

लगाव— कुछ भी अच्छा बुरा मानना लगाव है, जब तक किसी भी संयोग में रहोगे तब तक लगाव रहेगा। जब तक लगाव रहेगा तब तक विकल्प होंगे ही। जब तक विकल्प विभाव परिणमन चलेगा तब तक ममल स्वभाव में रह ही नहीं सकते।

निर्विकल्प होना ही ममल स्वभाव में रहना है। वीतरागी ही निर्विकल्प हो सकता है। जहाँ मोह, राग-द्वेष है वहाँ वीतरागता है ही नहीं। मोह, राग-द्वेष के अभाव को ही वीतरागता कहते हैं, यही ममल स्वभाव धर्म है।

यहाँ प्रश्न आता है कि एकत्व अपनत्व आदि मान्यतायें कैसे मिटें ?

उसका समाधान करते हैं कि साधना के क्रम में—

१. भेदज्ञान के अभ्यास से एकत्वपना मिटता है।

२. तत्व निर्णय के अभ्यास से अपनत्वपना मिटता है।

३. पाप-पुण्य के विकल्प प्रक्षालन से कर्तृत्वपना मिटता है।

४. तत्समय की योग्यता के निर्णय से चाह मिटती है।

५. सर्वज्ञ की सर्वज्ञता, क्रमबद्ध पर्याय के निर्णय से लगाव मिटता है।

तभी वीतरागता आती है, निर्विकल्प दशा होती है। वही ममल स्वभाव में रहना धर्म है।

धर्म और उत्तम धर्म क्या है ? इसे आगे गाथा में कहते हैं —

धर्म उत्तम धर्म च, मिथ्या रागादि षंडितं।

चेतनाचेतनं द्रव्यं, सुद्ध तत्व प्रकासकं ॥ १७४ ॥

अन्वयार्थ— (धर्म उत्तम धर्म च) धर्म और उत्तम धर्म वह है जो (मिथ्या रागादि षंडितं) मिथ्या रागादि भावों को खंडित करने वाला है अर्थात् समूल नष्ट कर देने वाला है (चेतनाचेतनं द्रव्यं) चेतन-अचेतन द्रव्य जीव और पुद्गल को भिन्न-भिन्न देखने जानने वाला है (सुद्ध तत्व प्रकासकं) शुद्ध तत्व का प्रकाश करने वाला अर्थात् वस्तु स्वरूप को जैसा का तैसा जानने वाला, प्रकाशित करने वाला है।

विशेषार्थ— यहाँ धर्म की विशेषता और महत्व को बताया जा रहा है। जो ऐसे शुद्ध धर्म को स्वीकार करता है, वही अन्तरात्मा, सम्यक्दृष्टि होता है। धर्म तो अपना निज शुद्ध स्वभाव है ही और उत्तम धर्म, उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आर्किचन्य, ब्रह्मचर्य यह दस भेद रूप निज स्वभाव में रहने की साधना है। इससे मिथ्या रागादि भाव समूल नष्ट हो जाते हैं। चेतन-अचेतन द्रव्यों का गठबन्धन टूट जाता है; क्योंकि जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यों के समूह को विश्व कहते हैं। इनमें एक जीव द्रव्य ही चेतन है, शेष पाँच अचेतन हैं। जीव पुद्गल के परिणमन में चार द्रव्य सहकारी हैं। पुद्गल जड़ अचेतन है। मात्र जीव द्रव्य ही चेतनावन्त, ज्ञान दर्शन का धारी, ब्रह्मस्वरूप है। ऐसे वस्तु स्वरूप को जानना और निज स्वभाव का आश्रय करना ही उत्तम धर्म है।

जो अन्तरात्मा ऐसे निज स्वभाव के आश्रय शुद्धात्मानुभव में लीन रहते हैं, वही शुद्ध तत्व, सिद्ध दशा, मुक्ति का परमानंद पाते हैं। यह उत्तम धर्म ही शुद्ध तत्व को प्रकाशित करने वाला है अर्थात् रत्नत्रयमयी अनन्त चतुष्टय पद प्रकट कराने वाला है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि ऐसे उत्तम धर्म निज शुद्धात्म स्वरूप को प्रगटाने के लिये हम क्या करें ?

उसका समाधान है कि जिन्हें अपने शुद्धात्म स्वरूप की अनुभूति हो गई है, वह निरन्तर उसी की साधना, आराधना, समर्पण, ध्यान में लीन रहें। वर्तमान कर्म संयोगी दशा में विभाव परिणमन चलता है, मोह, राग-द्वेषादि विकारी भाव होते हैं,

शरीरादि विषय-कषायों की प्रवृत्ति चलती है, आर्त-रौद्र रूप ध्यान होते हैं; इनसे बचने हटने के लिये अपने उपयोग को अपने में स्थिर करने के लिये निज आत्म वैभव के चिन्तन मनन में लगे रहें, धर्म ध्यान में लीन रहें, इससे इन कर्मादि से छूटकर निज स्वभाव में लीन हो जायेंगे और निज स्वभाव के आश्रय होने, ध्यान साधना करने से यह कर्म कषायें आदि स्वयं गल जायेंगे विला जायेंगे क्योंकि -

कम्म सहावं षिपनं, उत्पत्ति षिपिय दिस्ति सभावं ।

चेयन रुव संजुत्तं, गलियं विलियं ति कम्म बंधानं ॥

॥ कमलबत्तीसी- ६ ॥

इसी बात को विस्तार पूर्वक आगे की गाथाओं में कहते हैं -

धर्म अर्थ तिअर्थ च, तिअर्थ वेदंति जत्पुनः ।

षट् कमलं त्रि उवंकारं, धर्म ध्यानं च जोइतं ॥ १७५ ॥

धर्म च अप्प सद्भावं, मिथ्या माया निकंदनं ।

सुद्ध तत्त्वं च आराध्यं, हींकारं न्यान मयं ध्रुवं ॥ १७६ ॥

अन्वयार्थ- (धर्म अर्थ तिअर्थ च) धर्म अर्थात् निज शुद्ध स्वभाव रत्नत्रयमयी है (तिअर्थ वेदंति जत्पुनः) और द्रव्य गुण पर्याय सहित अपने विंद स्वरूप अर्थात् भावमोक्ष मय है (षट् कमलं त्रि उवंकारं) छह कमल और तीन ओंकार अर्थात् पद्मकमल, गुप्तकमल, नाभिकमल, हृदयकमल, कंठकमल या मुखकमल और विंद कमल के माध्यम से ॐ ह्रीं श्रीं मंत्र द्वारा (धर्म ध्यानं च जोइतं) धर्म ध्यान करो और अपने शुद्ध स्वभाव को देखो ।

(धर्म च अप्प सद्भावं) धर्म कहो या आत्म स्वभाव कहो (मिथ्या माया निकंदनं) मिथ्यात्व माया आदि से सर्वथा परे है उसमें यह कुछ नहीं है (सुद्ध तत्त्वं च आराध्यं) ऐसे अपने शुद्ध तत्त्व की आराधना करो जो (हींकारं न्यान मयं ध्रुवं) परमात्म स्वरूप अरिहन्त सर्वज्ञ तीर्थंकर स्वरूप ज्ञानमयी ध्रुव है ।

विशेषार्थ- यहाँ वह विधि बताई जा रही है कि जो अपना अनन्त चतुष्टय स्वरूप रत्नत्रयमयी शुद्ध स्वभाव है उसे प्रगटाने के लिये क्या करें ? इसका उपाय सदगुरु तारण स्वामी बता रहे हैं । वह स्वयं योगी थे, योग और ध्यान साधना करते थे । उन्होंने जिस क्रम से, जिस विधि से अपने शुद्ध तत्त्व को प्रगट किया, भाव मोक्ष की दशा में रहे, उन्होंने वही मार्ग बताया है । वह किसी जाति-पांति सम्प्रदाय के

बन्धन में बंधे नहीं थे, स्वतंत्रता के पुजारी स्वतंत्र साधक थे । योग (मन, वचन, काय) की स्थिरता होने पर ही उपयोग की स्थिरता होती है, तभी ध्यान समाधि लगती है ।

योग की विधि- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि ।

ध्यान के बाधक कारण- १. अज्ञान (मिथ्यात्व), २. मूर्च्छा (परिग्रह का ममत्व), ३. प्रमाद (इन्द्रियों के विषयों की प्रवृत्ति), ४. मोह राग द्वेष, ५. कामभोग और शरीर की आसक्ति (सुखियापना)

ध्यान करने वाले ध्याता के लक्षण - १. मुमुक्षु (मोक्ष की इच्छा रखने वाला), २. संसार से विरक्त, ३. क्षोभ रहित (शांतचित्त), ४. वशी (मन वश में हो), ५. स्थिर (योग की स्थिरता, आसन की दृढ़ता), ६. जितेन्द्रिय हो, ७. संवृत (नियम संयम युक्त हो), ८. धीर हो ।

इस प्रकार का साधक योग की स्थिरता के लिये षट्कमल और ॐ ह्रीं श्रीं तीन ओंकार के माध्यम से धर्म ध्यान का अभ्यास करे और अपने शुद्धात्म तत्त्व को देखे । इस साधना से वह अपने इष्ट को उपलब्ध कर लेगा ।

षट्कमल की साधना का क्रम क्या है इसे कहते हैं-

सबसे पहले साधक सब ब्राह्म क्रियाओं से निवृत्त होकर स्वस्थ, शांत, एकांत में आसन का अभ्यास करे । पद्मासन ही सबसे श्रेष्ठ होती है । इसके पश्चात् मंत्रोच्चारण या मंत्र जप से मन को स्थिर करे । पद्मकमल, गुप्त कमल, नाभि कमल, हृदय कमल, कंठकमल, विंदकमल, यह शरीर के बहुत ही संवेदन शील स्थान होते हैं । इन पर आघात होने से प्राण निकल जाते हैं तथा किसी भी आकस्मिक घटना में आत्मा के प्रदेश संकुचित होकर इन्हीं किसी में एकत्र हो जाते हैं, ऐसा विधान है । साधक इन्हीं कमलों में अपने आत्म प्रदेशों को एकत्र करता है और उसी में अपना पूरा उपयोग लगाता है । जैसे-जैसे साधना की स्थिति बढ़ती है, वैसे ही उसके आनंद की वृद्धि होती जाती है । शून्य शांत दशा में उसे शुद्ध प्रकाशं शुद्धात्म तत्त्व ही दिखाई देता है । चेहरे पर मुस्कराहट प्रसन्नता शांत आनंद की दशा अपने आप प्रगट होने लगती है । शरीर से और संसार से सब संबंध छूट जाता है । योग ध्यान साधना करने वाला साधक सबके बीच रहता हुआ भी अपने में रहता है । कहाँ क्या हो रहा है ? किसने क्या कहा ? मैंने क्या किया ? इसका उसे कुछ भी भान नहीं रहता । अपने

आपमें प्रसन्न संतुष्ट रहता है।

यह सब निरंतर साधना और अभ्यास करने से होता है। जितनी दृढ़ता और पुरुषार्थ काम करता है उतनी पात्रता बढ़ती है, आनंद की दशा बढ़ती है। ध्यान साधना में मंत्र जप का भी विशेष महत्त्व है। मन को शांत एकाग्र करने के लिये मंत्रोच्चारण, मंत्र जप बहुत सहयोगी है। मंत्र जप करने से भी रिद्धि सिद्धि प्रगट हो जाती है। साधक उस ओर ध्यान नहीं देता और न किसी रिद्धि सिद्धि के अभिप्राय से यह करना चाहिये वरना चिन्तामणि रत्न की जगह काँच में ही जीवन व्यर्थ चला जायेगा। कोई रिद्धि सिद्धि के मंत्र भी नहीं जपना चाहिये, अपने शुद्धात्म स्वरूप की अनुभूति हो उसी का लक्ष्य बना रहे। इसके लिये—

ॐ, ॐ ही श्रीं, ॐ नमः सिद्धं, ॐ शुद्धात्मने नमः।

इन छोटे मंत्रों का ही जप करना चाहिये। बड़े मंत्रों में उपयोग स्थिर नहीं रहता। प्रमुख लक्ष्य शुद्धात्म स्वरूप की अनुभूति लीनता का रहना चाहिये। संसार शरीर और पर वस्तु का लक्ष्य नहीं रखना चाहिये। अपना शुद्ध स्वभाव तो समस्त मिथ्यात्व, मायादि कर्मों से सर्वथा परे है, उसमें यह कर्म कषायें आदि कुछ हैं ही नहीं। ऐसे अपने शुद्ध तत्व की आराधना करने से सर्वज्ञ स्वरूपी ध्रुवतत्व अपने आप प्रगट होता है।

इसके लिये धर्म ध्यान का निरंतर अभ्यास करना चाहिये। उसी में पदस्थ, पिंडस्थ आदि ध्यानों की साधना करना चाहिये। इनका स्वरूप आगे कहते हैं—

पदस्तं पिंडस्तं जेन, रूपस्तं विक्त रूपयं।

चतु ध्यानं च आराध्यं, सुद्धं संमिक दर्शनं ॥ १७७ ॥

अन्वयार्थ- (पदस्तं पिंडस्तं जेन) जो जीव पदस्थ, पिंडस्थ (रूपस्तं विक्त रूपयं) रूपस्थ और रूपातीत (चतु ध्यानं च आराध्यं) इन चार ध्यानों की आराधना करता है (सुद्धं संमिक दर्शनं) वह शुद्ध सम्यक्दर्शन का धारी है।

विशेषार्थ- यहाँ अन्तरात्मा सम्यक्दृष्टि क्या करता है, इस बात को बताया जा रहा है। जो भव्य जीव सम्यक्दृष्टि मुमुक्षु है, वह अपने उपयोग को अपने में लगाने के लिये ध्यान के अन्तर्गत पदस्थ, पिंडस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन चार प्रकार के ध्यान की साधना करता है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि जो सम्यक्दृष्टि है वही यह धर्म ध्यान आदि की साधना करे, जो मिथ्यादृष्टि है वह क्या करे; क्योंकि उसे तो यह धर्म ध्यान हो ही नहीं सकते?

उसका समाधान करते हैं कि भाई! जो जीव अपना आत्म कल्याण करना चाहता है, मोक्ष का आकांक्षी है उसे सामायिक ध्यान तो अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि सम्यक्दर्शन निज शुद्धात्मानुभूति भी सामायिक ध्यान के समय में ही होती है। जिसे हो गई है उसका आगे का काम बनता है, जिसे नहीं हुई उसे भी इसी माध्यम से होती है।

यहाँ एक प्रश्न आया कि तीर्थंकर भगवान के समवशरण में क्या वह आत्मा को प्रत्यक्ष बताते हैं?

उसका समाधान दिया है कि वह आत्मा के स्वरूप को बताते हैं। अनन्त चतुष्टय का धारी रत्नत्रयमय स्वरूप यह भगवान आत्मा स्वयं है, ऐसा वह प्रत्यक्ष अनुभव से बताते हैं। जो भव्य जीव इस बात की श्रद्धा करते हैं और परम ध्यान को उपलब्ध होते हैं उन्हें वह प्रत्यक्ष अनुभव में आ जाता है। अनुभूति, सम्यक्दर्शन शांत और स्थिरचित्त होने पर ही होता है, इसके लिये सामायिक, ध्यान करना नितान्त आवश्यक है। यह बात अवश्य है कि जब तक आत्मानुभूति नहीं होती तब तक वह धर्म ध्यान नहीं होता परन्तु उसकी साधना अभ्यास करने से वह अवश्य होता है।

यहाँ एक प्रश्न और आया कि पंचम काल में ध्यान हो ही नहीं सकता?

उसका समाधान करते हैं कि वर्तमान पंचमकाल में शुक्ल ध्यान नहीं हो सकता वह आठवें गुणस्थान से श्रेणी माड़ने पर होता है; परन्तु अभी सातवें गुणस्थान तक तो जीव जा सकता है और धर्म ध्यान भी हो सकता है तथा आर्त-रौद्र ध्यान से बचने के लिये धर्म ध्यान ही एक मात्र सहकारी है यदि धर्म ध्यान की साधना नहीं करोगे तो आर्त-रौद्र ध्यान ही करते रहोगे इसलिये ध्यान का अभ्यास तो प्रत्येक जीव को करना चाहिये। जो जिनेन्द्र की आज्ञा मानते हैं, जिनधर्मी हैं, उन्हें तो सामायिक ध्यान करना आवश्यक ही है, मात्र कोरी चर्चा करके समय व्यर्थ खोने से कोई लाभ नहीं है।

अब आगे पदस्थ ध्यान किसे कहते हैं, उसका स्वरूप क्या है, इसका वर्णन आगे की गाथाओं में करते हैं—

पदस्तं पद वेदंते, अर्थ सद्दार्थ सास्वतं।

व्यंजनं तत्त्व सार्थं च, पदस्तं तत्र संजुतं ॥ १७८ ॥

कुन्यानं त्रि न पस्यंते, छाया मिथ्या विषंडितं ।
 विंजनं च पदार्थं च, सार्धं न्यान मयं ध्रुवं ॥ १७९ ॥
 पदस्तं सुद्ध पदं सार्धं, सुद्ध तत्त्व प्रकासकं ।
 सल्यं त्रयं निरोधं च, माया मिथ्या न दिस्टते ॥ १८० ॥
 पदस्तं लोकलोकांतं, लोकालोक प्रकासकं ।
 विंजनं सास्वतं सार्धं, उवंकारं च विंदते ॥ १८१ ॥
 अंग पूर्व च जानंते, पदस्तं सास्वतं पदं ।
 अनृतं अचेत तिक्तं च, धर्म ध्यान पदं ध्रुवं ॥ १८२ ॥

अन्वयार्थ- (पदस्तं पद वेदंते) पदस्थ ध्यान पद का अनुभव करना है (अर्थ सव्दार्थ सास्वतं) प्रयोजनभूत निज शुद्धात्मा अक्षर शाश्वत पद है (व्यंजनं तत्व सार्धं च) अक्षर स्वर व्यंजन के माध्यम से तत्व की साधना करना और (पदस्तं तत्र संजुतं) उसी में लीन हो जाना पदस्थ ध्यान है ।

(कुन्यानं त्रि न पस्यंते) जहाँ तीन कुज्ञान कुमति, कुश्रुत, कुअवधि दिखाई नहीं देते (छाया मिथ्या विषंडितं) मायाचार मिथ्यात्व का खंडन हो गया हो अर्थात् जहाँ यह कुछ न हो (विंजनं च पदार्थं च) वहाँ व्यंजन और पदार्थ के द्वारा अपने (सार्धं न्यान मयं ध्रुवं) ज्ञानमयी ध्रुव स्वभाव की साधना करो यही पदस्थ ध्यान है ।

(पदस्तं सुद्ध पदं सार्धं) पदस्थ ध्यान में शुद्ध पद निज शुद्धात्म स्वरूप की साधना करने से (सुद्ध तत्व प्रकासकं) शुद्ध तत्व का प्रकाश होता है अर्थात् शुद्ध तत्व अनुभव में आता है जिससे (सल्यं त्रयं निरोधं च) तीनों शल्यों का निरोध हो जाता है अर्थात् फिर मिथ्या, माया, निदान यह तीनों शल्यें पैदा ही नहीं होती और (माया मिथ्या न दिस्टते) माया मिथ्यात्व भी दिखाई नहीं देते ।

(पदस्तं लोकलोकांतं) पदस्थ ध्यान करने से लोकलोकांत और (लोकालोक प्रकासकं) लोकालोक प्रकाशित हो जाते हैं, जानने में आ जाते हैं (विंजनं सास्वतं सार्धं) व्यंजनों के माध्यम से अपने शाश्वत पद की साधना करने से (उवंकारं च विंदते) अपना ॐकार स्वरूप शुद्धात्म तत्व अनुभव में आता है ।

(अंग पूर्व च जानंते) ग्यारह अंग और चौदह पूर्व को जानने का प्रयोजन (पदस्तं

सास्वतं पदं) अपना पद निज शुद्धात्मा ही शाश्वत पद है (अनृतं अचेत तिक्तं च) इसलिये यह नाशवान शरीरादि अचेतन पर पदार्थ छोड़कर (धर्म ध्यान पदं ध्रुवं) अपने ध्रुव पद निज शुद्ध स्वभाव धर्म ध्यान में लीन रहो ।

विशेषार्थ- धर्म ध्यान सविकल्प होता है । शुक्ल ध्यान निर्विकल्प होता है । आर्त-रौद्र ध्यानों से बचने के लिये धर्म ध्यान की साधना करना पड़ती है । मन को स्थिर करने और उपयोग को अपने में लगाने की विधि धर्म ध्यान की साधना और उसमें यह पदस्थ, पिंडस्थ आदि ध्यान सहकारी हैं । मंत्र जप और पंच परमेष्ठी पद के आराधन विचार पूर्वक चित्त को एकाग्र करना और अपने शुद्ध स्वरूप सिद्ध पद का आराधन करना, निज शुद्धात्म स्वरूप की अनुभूति होना ही पदस्थ ध्यान है । अक्षरों के समूह को शब्द व शब्द के समूह को पद कहते हैं ।

पदस्थ ध्यान करने की विधि - ध्यान करने वाले ध्याता के लक्षण पात्रता पूर्व में बतला दिये हैं । उपरोक्त गुणों सहित एकान्त, निराकुल स्थान में स्वस्थ चित्त होकर साधक ध्यान करे, शरीर पर वस्त्र कम से कम नाम मात्र को होवें, पद्मासन में बैठकर सबसे पहले मंत्र जप, अपने स्वरूप का आराधन और पंच परमेष्ठी पद का स्मरण करे फिर आत्म कल्याण की भावना, मुक्ति पाने परमानंदमय रहने के लिये एक-एक पद का आराधन करे । सबसे प्रथम साधु पद है, जो भव्य जीव समस्त आरंभ-परिग्रह पापों का त्याग कर निर्ग्रथ नग्न दिगंबर वीतरागी साधु हो जाते हैं और अट्टाईस मूलगुणों का निरतिचार पालन करते हैं, अपने शुद्धात्म स्वरूप रत्नत्रय की साधना करते हैं, वह जगत वन्दनीय देवों से पूज्य परमेष्ठी होते हैं । यह मुक्तिमार्ग का प्रथम सोपान है । साधु पद के बिना कोई जीव सिद्ध पद मुक्ति नहीं पा सकता । ऐसा विचार करते हुए उस रूप उस दशा में अपने आपको देखे, ऐसा अनुभव करे कि मैं साधु हो गया हूँ, निर्ग्रथ दिगंबर दशा में एकांत निर्जन वन में ध्यान साधना कर रहा हूँ -----आ हा हा - आनंदम् परमानंदम्, पूर्ण निराकुलता---- शान्ति ---- परमशान्ति ---- निशल्यता ---- निश्चिन्तता ---- निर्भयता ---- आनंद ही आनंद ---- जय हो ---- जय हो, बीच में उपयोग बाहर शरीरादि पर में चला जावे । मन में कोई विचार चलने लगे तो तुरंत मंत्र जप करने लगे और पुनः उसी दशा में अपने को ले आवे ---- देखो, यह मुनिसंघ ---- वाह-वाह- जय हो, जय हो ---- चारों तरफ जय जयकार मच रही है । धर्म की प्रभावना हो रही है । आहार, विहार चर्या का क्रम चल रहा है ---- श्रावक धर्मी जीव श्रद्धा भक्ति

पूर्वक पड़गाह रहे हैं। तिष्ठो स्वामिन् तिष्ठो ----- मन शुद्ध, वचन शद्ध, काय शुद्ध
 ---- आहार जल शुद्ध है। हे स्वामिन् तिष्ठो तिष्ठो ----- चारों तरफ जय जयकार
 मची है ----- धर्म की महिमा, अतिशय बरस रहा है ----- मैं साधु पद में आहार
 चर्या के लिये जा रहा हूँ----- पाणि पात्र आहार कर रहा हूँ----- श्रावक जन धर्म
 की महिमा प्रभावना कर रहे हैं। जय जयकार मच रही है। ----- देखो देखो ----
 - वह साधु पद में मैं चला जा रहा हूँ----- वाह वाह- जय हो जय हो ----- ईर्या
 समिति पूर्वक पीछी कमण्डल लिये ----- देखो ----- वह देखो----- जंगल की
 ओर चला जा रहा हूँ, अनशन ऊनोदर व्रत परिसंख्यान आदि तप चल रहे हैं -----
 चारों तरफ जय जयकार मची है ----- जीवन में परम शांति ----- अतीन्द्रिय
 आनंद बरस रहा है----- निज शुद्धात्मानुभूति हो रही है। ----- जय हो, जय
 हो----- अपूर्व अवस्था-धन्य घड़ी - धन्य भाग्य ----- मुक्तिश्री का सुख प्रत्यक्ष
 वेदन में आ रहा है। देखो वह देखो ग्रीष्म काल में पर्वत के शिखर पर खड़े होकर
 ध्यान साधना चल रही है----- वह देखो ----- वर्षा ऋतु में वृक्ष के नीचे बैठकर
 ध्यान समाधि लगाई जा रही है ----- अपूर्व आनंद ----- परमानंद-शीतकाल में
 नदी के किनारे ध्यान साधना की जा रही है ----- कोई भय नहीं, विकल्प नहीं --
 -- शरीर की चिंता नहीं ----- आत्मीय आनंद ----- अमृत रस बरस रहा है। -
 --- जय हो ----- जय हो ----- वह देखो वन में हिरण दूँट जानकर खाज खुजा
 रहे हैं, सिंह चारों तरफ बैठे हैं ----- जय हो जय हो, देवता जय जयकार कर रहे हैं
 ----- साधु समूह बैठा है ----- मैं उपाध्याय पद से पढ़ा रहा हूँ, उपदेश चल रहा
 है ----- एगो मे सासदो आदा णाण दंसण लक्खणो ----- सेसा मे बाहिरा भावा,
 सव्वे संजोग लक्खणा ----- मैं एक अखंड अविनाशी ध्रुवतत्त्व शुद्धात्मा हूँ -----
 यह शरीरादि में नहीं मेरे नहीं ----- यह एक-एक समय की चलने वाली अशुद्ध
 पर्याय भी मेरे से सर्वथा भिन्न है ----- वह ज्योतिर्मय ----- शुद्ध प्रकाशं शुद्धात्म
 तत्त्व ----- वह देखो----- अर्क सुअर्क सुअर्क ----- जय हो----- आनंद ----
 - परमानंद ----- बस ----- इसी शुद्ध स्वभाव में डूबे रहो-लीन रहो -----
 और करना क्या है ----- देखो वह रत्नत्रयमयी -अपना निज शुद्धात्म स्वरूप --
 -- वह देखो, अनन्त चतुष्टय प्रगट हो रहे हैं ----- जय हो ----- जय हो -----
 इसी अपने शुद्ध स्वभाव में लीन रहो ----- बस और कुछ मत देखो ----- किसी
 की तरफ मत देखो ----- लगाओ, ध्यान समाधि लगाओ ----- जय हो जय हो -

--- देखो ----- वह साधु समूह बैठा है- सैकड़ों मुनि बैठे हैं, मैं आचार्य पद से
 शिक्षा- दीक्षा दे रहा हूँ ----- पंचाचार का पालन चल रहा है ----- प्रतिक्रमण -
 --- प्रत्याख्यान हो रहा है, स्तवन-वन्दन ----- शिक्षा उपदेश चल रहा है ---
 - णवि होदि अप्पमत्तो, ण पमत्तो----- जाणगो दु जो भावो ----- एवं भणंति
 सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव ॥ ----- आ-हा-हा----- ज्ञायक, मात्र ज्ञायक ही है
 ----- अपने चैतन्य स्वरूप ज्ञानानंद स्वभाव में लीन रहो, लीन रहो ----- लीन
 रहो----- देखो वह शुद्ध प्रकाशं शुद्धात्म तत्त्वं ----- वाह-वाह जय हो जय हो -
 --- आनंदम् ----- परमानंदम् ----- ।

साधु, उपाध्याय, आचार्य तथा गणधर छठे सातवें गुणस्थानवर्ती होते हैं।
 यहाँ तक चार ज्ञान मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ज्ञान प्रगट हो जाते हैं। पदस्थ
 ध्यान के क्रम में उसी पूर्व दशानुसार आचार्य पद में अपने को देखते हुए आगे श्रेणी
 माड़ने का क्रम बनता है। शुद्धोपयोग की स्थिति में शुक्ल ध्यान का क्रम बढ़ता है,
 गुणस्थान बढ़ते हैं। यहाँ से दो मार्ग बनते हैं-एक उपशम श्रेणी, एक क्षपक श्रेणी।
 जिसको क्षायिक सम्यक्त्व हो जाता है वह क्षपक श्रेणी से चढ़ता है। जिसको उपशम
 सम्यक्त्व होता है वह उपशम श्रेणी से चढ़ता है। उपशम श्रेणी वाला ग्यारहवें
 गुणस्थान से गिर जाता है, ऊपर नहीं चढ़ पाता। क्षपक श्रेणी वाला सीधा चढ़
 जाता है और तेरहवें गुणस्थान में अरिहंत सर्वज्ञ परमात्मा हो जाता है।

तो अब यहाँ पदस्थ ध्यान में अपने को क्षपक श्रेणी माड़ना है ----- देखो वह
 अपना निज शुद्धात्म तत्त्व ----- शुद्ध प्रकाशं शुद्धात्म तत्त्व-अर्क सुअर्क -----
 सुअर्क ----- प्रकाश ही प्रकाश ----- परमज्योति ----- सिद्ध स्वभाव-----
 बस अब अपने को क्षपक श्रेणी से चढ़ना है ----- शुद्धोपयोग करना है ----- बाहर
 में इसी साधु पद नग्न दिगम्बर वीतरागी दशा में रहते हुए श्रेणी माड़ना है ----- वह
 देखो, अपना सिद्ध स्वरूप ममल स्वभाव ----- बस इसी में लीन रहना है -----
 यहाँ से उपयोग हटते ही नीचे गिर पड़ोगे ----- सावधान, जोर लगाओ-सत्पुरुषार्थ
 करो, देखो अपने शुद्ध प्रकाशं शुद्धात्म तत्त्व को ----- देखो यह आँटवां गुणस्थान
 अपूर्व करण ----- जय हो जय हो ----- बस अपने में लीन रहो। सिद्ध स्वरूप
 ममल स्वभाव को ही देखो ----- यह तो सब अपने आप होगा ----- नवाँ गुणस्थान
 अनिवृत्ति करण----- गुणश्रेणी निर्जरा होने लगी----- ध्यान अग्नि में कर्म जलने
 लगे ----- डटे रहो ----- देखो अपने निज शुद्धात्म तत्त्व को ----- यह है धर्म

की महिमा ----- कर्म अपने आप क्षय हो रहे हैं ----- वह देखो शुद्ध प्रकाशं
शुद्धात्म तत्त्व ----- नादु न बिंदु नकारं नहि उत्पत्ति षिपति ध्रुव सुद्धं, सुद्धं सुद्ध
सरूवं सुद्धं तियलोयमत्त निम्मलयं ।

जय हो जय हो ----- अपूर्व आनंद, दसवाँ गुणस्थान सूक्ष्म साम्पराय--
वाह-वाह जय हो जय हो ----- सारी कषायें क्षय हो गई ----- चारित्र मोहनीय
विला गया ----- देखो देखो ----- वह अपने शुद्ध प्रकाशं शुद्धात्म तत्त्व को ही
देखो, उसी में लीन रहो ----- देखो यह बारहवाँ क्षीणमोह गुणस्थान ----- जय
हो- जय हो ----- सारे घातिया कर्म- मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय
सब क्षय हो गये ----- वह देखो, अनन्तदर्शन ----- अनन्तज्ञान -----
अनन्तसुख ----- अनन्तवीर्य प्रगट हो रहे हैं ----- यह केवलज्ञान सूर्य चमक
रहा है । ----- जय हो ----- जय हो ----- तेरहवाँ गुणस्थान सयोग केवलि -
----- सजोग केवलिनो आहार निहार विवज्जिओ सुद्धो, केवल ज्ञान उवन्नो अरहंतो
केवली सुद्धो ।

(ज्ञानसमुच्चय सार-७०१)

चारों तरफ जय जयकार मची है ----- इन्द्र आदि देवता चले आ रहे
हैं, समवशरण की रचना हो रही है ----- वह देखो, मध्य में कमलासन पर अरिहन्त
सर्वज्ञ केवलज्ञानी परमात्मा मैं स्वयं बैठा हूँ, ----- अपने शुद्ध स्वभाव में लीन,
समस्त घातिया कर्मों से मुक्त केवलज्ञानी सर्वज्ञ परमात्मा ----- मैं स्वयं बैठा हूँ --
-- देखो अपने को इसी रूप में देखो ----- यह आत्मा ही परमात्मा है, मैं स्वयं
सर्वज्ञ परमात्मा हूँ ----- परमानंद संदिस्टा मुक्ति स्थानेषु तिष्ठते, सो अहं देह
मध्येषु सर्वन्यं सास्वतं ध्रुवं ----- देखो इसी दशा में अपने को देखो ----- वाह-
वाह जय हो जय हो ----- समवशरण की रचना हो गई ----- सौ इन्द्र सेवा में
खड़े हैं, जय जयकार मचा रहे हैं ----- भवणालय चालीसा व्यंतर देवाण होंति
बत्तीसा, कम्पामर चौबीसा चंदो सूरु णरो तिरियो ॥ बारह कोठों में सभी जीव, देव,
मनुष्य, तिर्यच बैठे हैं ----- भगवान की दिव्य ध्वनि खिर रही है ----- सब जीव
धर्म उपदेश सुन रहे हैं, जय जयकार मचा रहे हैं । देखो देखो वह कितने भव्य जीव
मनुष्य साधु होते जा रहे हैं ----- अपने आत्म कल्याण के लिये पाप परिग्रह का
त्याग कर रहे हैं ----- भगवान की दिव्य ध्वनि खिर रही है ----- इसी रूप में
अपने को देखना है ----- मैं स्वयं सर्वज्ञ परमात्मा हूँ ----- देखो देखो वह चारों
तरफ जय जयकार मची है ----- देखते रहो अपने को इसी दशा में देखते रहो --

-- शुद्ध प्रकाशं शुद्धात्म तत्त्वं ----- समस्त संकल्प विकल्प मुक्तं ----- रत्नत्रयं
लंकृतं विस्वरूपं ----- तत्त्वार्थ सार्धं बहुभक्ति जुक्तं ----- जे धर्म लीना गुण चेतनेत्वं
----- ते दुष्य हीना जिन सुद्ध दिस्टि ----- संप्रोषि तत्त्वं सोई न्यान रूपं -----
ब्रजन्ति मोष्यं षिनमेक एत्वं ----- जय हो - जय हो ----- देखो वह अपना सिद्ध
स्वरूप अजोग केवलिनो ----- परमप्पा निम्मलो सहावं ----- आनंदं - परमानंदं
----- नंतचतुष्टय मुक्ति संपत्तो ----- सिद्धं सिद्धं सरूवं ----- सिद्धं सिद्धि सौष्य
संपत्तं । नन्दो परमानंदो ----- सिद्धो सुद्धो मुनेयव्वो ॥

(ज्ञानसमुच्चय सार-७०३)

वह देखो वह अयोग केवलि ----- सिद्ध दशा, सब शरीरादि का संबंध छूट
गया ----- अशरीरी पूर्ण शुद्ध परमानंदमयी-सिद्ध स्वरूप ----- उवं नमः एकत्वं
----- पद अर्थ नमस्कार उत्पन्नं ----- उवंकारं च विंदं ----- विंदस्थं नमामि
तं सुद्धं ----- ॐ शान्ति ----- ॐ शान्ति ----- ।

देखिये ----- अभी एकदम आँख नहीं खोलना ----- पहले पद्मासन खोलें,
स्वस्थ होकर बैठें - शांत-मौन रहें - मंत्र का स्मरण करें ----- अब धीरे-धीरे
आँख खोलें ।

जय बोलो - श्री गुरु महाराज - तारण स्वामी की जय ----- ॥

यह पदस्थ ध्यान की विधि का प्रयोग है । इसे क्रम- क्रम से अभ्यास करने से
अपूर्व आनंद आता है । लगन और रुचि होना चाहिये । जीवन को मोड़ने, विकल्प
जालों से बचने, आत्मीय आनंद में रहने के लिये यह एक माध्यम है । इस ध्यान को
करने से तीनों कुज्ञान मिथ्यात्व आदि विला जाते हैं । शल्यें पैदा ही नहीं होती और
मिथ्या माया जगत का प्रपंच भी विला जाता है । आत्मा की रुचि जागती है, धर्म का
उत्साह बढ़ता है, बहुमान आता है । जीवन में सरलता सहजता आती है, आनंद की
दशा रहती है । यह पदस्थ ध्यान का अभ्यास तो प्रत्येक जीव को करना चाहिये ।
इसी के माध्यम से सम्यक्त्व भी होता है और मुक्ति भी मिलती है । अभ्यास साधना
सामूहिक रूप से की जावे तो विशेष लाभ मिलता है । निर्देशन करने वाला एक व्यक्ति
होवे तो बहुत उपयोग लगता है ।

आगे पिंडस्थ ध्यान का वर्णन करते हैं-

पिंडस्तं न्यान पिंडस्य, स्वात्मचिंता सदा बुधैः ।

निरोधनं असत्य भावस्य, उत्पाद्यं सास्वतं पदं ॥ १८३ ॥

आत्म सद्भाव आरक्तं, पर द्रव्यं न चिंतये ।

न्यान मयो न्यान पिंडस्य, चेतयंति सदा बुधैः ॥ १८४ ॥

अन्वयार्थ- (पिंडस्तं न्यान पिंडस्य) ज्ञान के पिंड आत्मा का ध्यान करना पिंडस्थ ध्यान है (स्वात्मचिंता सदा बुधैः) हे ज्ञानी साधक ! हमेशा अपने आत्मा का चिन्तन करो (निरोधनं असत्य भावस्य) इससे असत्य भावों का निरोध होता है अर्थात् शुभाशुभ भाव पैदा ही नहीं होते (उत्पाद्यं सास्वतं पदं) शाश्वत पद अपना ध्रुव स्वभाव प्रगट होता है ।

(आत्म सद्भाव आरक्तं) आत्म स्वभाव में लीन रहने से (पर द्रव्यं न चिंतये) पर द्रव्य का चिन्तन ही नहीं होता, स्मरण नहीं आता (न्यान मयो न्यान पिंडस्य) ज्ञानमयी ज्ञान का पिंड जो निज शुद्धात्मा है (चेतयंति सदा बुधैः) हे ज्ञानी ! हमेशा इसका चिन्तन अर्थात् आराधन ध्यान करो ।

विशेषार्थ- पिंडस्थ ध्यान अपने ज्ञान के पिंड असंख्यात प्रदेशों का समूह शुद्धात्म स्वरूप का चिन्तन ध्यान करना है । इससे असत्य शुभाशुभ भाव विला जाते हैं, पैदा ही नहीं होते । अपना शाश्वत पद ध्रुव स्वभाव प्रगट हो जाता है इसलिये साधक को हमेशा इसी का ध्यान करना चाहिये ।

आत्म स्वभाव में लीन रहने से, हमेशा इसी का चिन्तन ध्यान करने से पर द्रव्य शरीरादि पर पदार्थों का चिन्तन स्मरण ही नहीं आता; इसलिये ज्ञानी को हमेशा अपने ज्ञानमयी ज्ञान समूह शुद्धात्मा का चिन्तन ध्यान करना चाहिये । पिंडस्थ ध्यान करने के लिये पाँच धारणाएँ बताई गई हैं - पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी और तत्व रूपवती, इन धारणाओं के माध्यम से साधक को अपूर्व आनंद आता है, आत्म बल बढ़ता है, निज शुद्धात्मानुभूति होती है ।

पिंडस्थ ध्यान में पाँच धारणाओं की विधि - पिंड - समूह को भी कहते हैं और शरीर को भी कहते हैं । यह ज्ञान का पिंड अरस अरूपी अस्पृशी एक अखंड अविनाशी ध्रुव तत्व ज्ञानानंद स्वभावी भगवान आत्मा अनादि से इस पुद्गल पिंड शरीर में कर्मों से घिरा हुआ है और अपनी अज्ञानता से यह शरीरादि ही में हैं, ऐसा मानता आया है और इसी कारण संसार में चारगति चौरासी लाख योनियों में अनन्त बार जन्म-मरण किया । सद्गुरु कृपा, काललब्धि योग, भेदज्ञान के अभ्यास से इसे वस्तु स्वरूप का ज्ञान स्व-पर भेदविज्ञान हुआ और मैं एक अखंड अविनाशी चेतन

तत्व भगवान आत्मा हूँ, यह शरीरादि में नहीं और यह मेरे नहीं, यह सब जड़ पुद्गल अचेतन हैं । मैं ज्ञान स्वभावी चैतन्य तत्व हूँ ऐसी सत्श्रद्धा होने से अन्तरात्मा हुआ और अब इन संसारी प्रपंच जन्म-मरण के चक्र, संकल्प-विकल्प के जाल से छूटने के लिये अपने ज्ञानानंद स्वभाव में रहने के लिये इन कर्मों से छूटने मुक्त होने के लिये सत्पुरुषार्थ करता है । उसका पहला उपाय है भेदज्ञान का अभ्यास और धर्म ध्यान की साधना ।

वर्तमान में कर्म संयोग, मोह-राग का सद्भाव होने से तीव्र पुरुषार्थ काम नहीं करता फिर भी ज्ञानी पुरुषार्थ हीन नहीं है इसलिये जब जैसा योग बनता है, सत्संग स्वाध्याय और ध्यान साधना अपनी सुरत रखने, अपना स्मरण बना रहने का अभ्यास करता है । इसी के अन्तर्गत यह पदस्थ पिंडस्थ ध्यान आते हैं । पदस्थ ध्यान का पूर्व में वर्णन किया, यहाँ पिंडस्थ ध्यान का वर्णन करते हैं, जिसमें पाँच धारणाओं के माध्यम से साधक अपने उपयोग को अपने में लगाता है । इससे भेदज्ञान पूर्वक प्रत्यक्ष आत्मानुभूति होती है । इसके लिये एकान्त निर्जन स्थान में बैठकर, (अगर श्मशान में बैठकर यह ध्यान किया जावे तो अधिक उपयोगी सिद्ध होवे) अपने ज्ञान पिंड शुद्धात्म स्वरूप को इस पुद्गल पिंड से भिन्न अनुभव करो । मैं मात्र ज्योति स्वरूप चेतन लक्षण शुद्ध प्रकाशं शुद्धात्म तत्व हूँ ---- यह शरीरादि कर्मों का अनादि से संयोग लगा है ---- अब इनसे मुझे छूटना है ---- और उसका एक मात्र उपाय अपने शुद्ध स्वभाव में रहना है ---- पर के प्रति कोई मोह, राग-द्वेष न होवे ---- कुछ भी होता रहे ---- कोई कुछ करे ---- मुझे खेद खिन्नता राग-द्वेष नहीं होना चाहिये । इसकी साधना अभ्यास के लिये ---- अपने आपको शरीर से पृथक रखते हुए ---- शरीर को मृतक अवस्था में देखे ---- मैं जीव आत्मा इस शरीर से निकल गया हूँ ---- यह शरीर मर गया है, सब धन वैभव कुटुम्ब परिवार छूट गया है ---- देखो इस दशा में अपने आपको देखो ---- मैं यह ज्योति मात्र, चैतन्य तत्व ज्ञायक स्वभावी शरीर से निकल गया हूँ ---- यह पुद्गल पिंड शरीर अचेतन पड़ा है ---- परिवार के लोग मित्र बंधु अर्थी बना रहे हैं ---- श्मशान यात्रा की तैयारी कर रहे हैं । मैं देख रहा हूँ ---- अर्थी पर शरीर को रखकर ले जाया जा रहा है ---- मैं देख रहा हूँ ---- श्मशान भूमि में चिता बनाई जा रही है ---- शरीर को उस पर रख दिया गया है ---- चारों तरफ से आग लगाई जा रही है ---- मैं चिन्मय चैतन्य ज्योति ज्ञायक भाव से

देख रहा हूँ----- संसार का स्वरूप प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है ----- सब छूट गया -
 ---- जिनको अपना मानते थे वही इस शरीर की यह दुर्दशा कर रहे हैं ----- चारों
 तरफ से आग जल रही है , लपटें निकल रही है --शरीर जल रहा है ----- मैं शुद्ध
 चैतन्य इन सबसे भिन्न हूँ ----- कर्मावरण कार्माण तैजस शरीर अभी साथ लगा है
 ----- ओ हो हो ----- यही मुझे संसार में रूलाने वाले हैं ----- जन्म-मरण के
 कारण यही हैं ----- शरीर जल गया ----- घर परिवार धन वैभव संयोग सब छूट
 गया----- अब इस कर्मावरण कार्माण तैजस शरीर को भी जलाना है -----
 ध्यानाग्नि लगाना है ----- सावधान, सावधान ----- देखो वह अपना सिद्ध स्वरूप
 ----- शुद्धं प्रकाशं शुद्धात्म तत्त्वं ----- बस अब इसी ध्रुव तत्व ममल स्वभाव में
 लीन होना है ----- इसी से यह कर्मावरण कार्माण तैजस शरीर जलेगा -----
 सावधान ----- सिद्धोहं ----- सिद्धोहं ----- ज्ञान स्वरूपोऽहं ----- ध्यानाग्नि
 प्रज्वलित हो गई ----- चारों तरफ से लपटें उठ रही हैं ----- हँ हँ हँ ----- मैं अपने
 ज्ञानानंद स्वभाव में लीन हूँ ----- कर्मावरण जल रहा है ----- ज्ञानावरण
 दर्शनावरण ----- मोहनीय अन्तराय ----- सब जलते जा रहे हैं ----- चारों
 तरफ प्रकाश ही प्रकाश हो रहा है ----- बिल्कुल शुभ्र स्वच्छ अर्क ----- सुअर्क -
 --- सुअर्क ----- प्रकाश ही प्रकाश ----- सारे कर्म समूह जले जा रहे हैं ---
 - आयु ----- नाम----- गोत्र----- वेदनीय -----सब जल गये ----- मैं
 चैतन्य ज्योति ज्ञान पिंड ----- शुद्धं प्रकाशं शुद्धात्म तत्त्वं अपने स्वरूप में लीन -
 --- परमानंदमय ----- जय हो जय हो ----- अग्नि शांत होती जा रही है --
 -- चारों तरफ प्रकाश ही प्रकाश फैला है ----- और कुछ नहीं है -कोई नहीं है -
 --- कर्मावरण की राख चारों तरफ बिखरी पड़ी है ----- वायु चल रही है सांय -
 --- सांय ----- सांय ----- तेज वायु ----- सारी राख उड़ती जा रही है,
 उड़ती जा रही है ----- सब कर्म कालिमा साफ हो रही है ----- राख उड़ गई --
 -- बादल गरजने लगे ----- मूसलाधार वर्षा हो रही है । सारी कालिमा ----- शेष
 बची हुई राख सब पानी में बह गई, कालिमा धुलकर स्वच्छ हो गई ----- परम
 ज्योति प्रकाश पुंज ----- जय हो जय हो ----- पूर्ण शुद्ध ----- मुक्त -----
 सिद्ध स्वरूप ----- जय-जय परमानंद ----- परमज्योति ----- जय जय
 चिदानंद जिन ----- आत्मानं ----- जय जय आत्मानं ----- परमात्मानं ---
 - जय जय सोहम् रूप -समय शुद्धं ----- जय जय विंदस्थाने ----- नमस्कृतं -

---- नमस्कृतं ----- महावीरं ----- विंदस्थाने नमस्कृतं -----बस -----
 बस अब इसी सिद्ध दशा-शुद्ध स्वरूप में लीन रहना है ----- यही तत्त्व रूपवती
 धारणा है ---मात्र ज्ञान पिंड ----- सच्चिदानंद घन परम ब्रह्म परमात्म स्वरूप -
 --- जय हो ----- जय हो ----- ॐ नमः सिद्धं ----- ॐ नमः सिद्धं -----
 ॐ नमः सिद्धं ----- ॐ शान्ति ----- ॐ शान्ति ----- ॐ शान्ति ----- जय
 बोलो सद्गुरुदेव तारण स्वामी की जय ----- स्वस्थ होकर बैठ जाईये -----
 मंत्र जप कीजिये ----- अभी आँखें नहीं खोलना, दो मिनिट बिल्कुल मौन शांत
 रहिये -----अब आँखें खोलिये ----- ।

यह पिंडस्थ ध्यान की विधि का प्रयोग है, जो सहज दशा में सभी जीव कर
 सकते हैं, इसके साधना अभ्यास करने से भेदज्ञान और निज शुद्धात्मानुभूति होती
 है, आर्त रौद्र ध्यान का परिहार होता है, शुभाशुभ भाव भी नहीं होते, वैराग्य का
 जागरण होता है, चित्त में समता शांति रहती है, पर के विकल्प भी छूट जाते हैं ।

आगे रूपस्थ ध्यान का वर्णन करते हैं-

रूपस्तं सर्व चिद्रूपं, आर्ध ऊर्ध्व च मध्ययं ।

सुद्ध तत्त्व स्थिरी भूतं, हींकारेन जोड़तं ॥ १८५ ॥

चिद्रूपं सर्व चिद्रूपं, धर्म ध्यानं च निश्चयं ।

मिथ्यात राग मुक्तं च, ममलं निर्मलं ध्रुवं ॥ १८६ ॥

रूपस्तं अर्हत रूपेन, हींकारेन दिष्टते ।

उवंकारस्य ऊर्ध्वस्य, ऊर्ध्व च सुद्धं ध्रुवं ॥ १८७ ॥

अन्वयार्थ- (रूपस्तं सर्व चिद्रूपं) चित्स्वरूप चैतन्य तत्त्व का ध्यान करना,
 स्वरूप में स्थित होना रूपस्थ ध्यान है (आर्ध ऊर्ध्व च मध्ययं) जो अधो ऊर्ध्व और
 मध्य में त्रिलोक में व्याप्त है (सुद्ध तत्त्व स्थिरी भूतं) ऐसे अपने शुद्ध तत्त्व में ठहरकर
 (हींकारेन जोड़तं) तीर्थकर सर्वज्ञ स्वरूप को देखना ।

(चिद्रूपं सर्व चिद्रूपं) चित्स्वरूप सर्व चित्स्वरूप है (धर्म ध्यानं च निश्चयं)
 यही निश्चय धर्म ध्यान है (मिथ्यात राग मुक्तं च) जो मिथ्यात्व और रागादि से मुक्त
 है (ममलं निर्मलं ध्रुवं) अमल है निर्मल है ध्रुव है ।

(रूपस्तं अर्हत रूपेन) रूपस्थ ध्यान अरिहन्त के स्वरूप का (हींकारेन

दिस्टते) तीर्थकरों के रूप में देखना (उवंकारस्य ऊर्ध्वस्य) पंच परमेष्ठियों को जो ऊर्ध्वगमन करके (ऊर्ध्वं च सुद्वं ध्रुवं) शुद्ध-ध्रुव, सिद्ध दशा में हो गये हैं- ऐसे अपने स्वरूप का विचार करना ।

विशेषार्थ- रूपस्थ ध्यान अपने चैतन्य स्वरूप का ध्यान करना है, जो अर्हत और सिद्ध के समान ध्रुव अविनाशी शुद्ध है, ऐसी तुलनात्मक दृष्टि से स्वगत और परगत अर्थात् स्वयं में ऐसा हूँ, सर्वज्ञ स्वरूप अरिहन्त-सिद्ध परमात्मा हूँ तथा परगत में अरिहन्त परमात्मा तीर्थकर स्वरूप ऐसा है- इसका विचार करते हुए अपने स्वरूप में स्थित होना ही रूपस्थ ध्यान है ।

चैतन्य स्वरूप सर्व चैतन्य स्वरूप ही है, उसमें मिथ्यात्व, राग-द्वेषादि कुछ भी नहीं है, वह तो सर्व मल रहित निर्मल और ध्रुव है, जो त्रिलोक में शाश्वत है सदा एक रूप ही है । स्वयं अरिहन्त के समान केवलज्ञानमयी सर्वज्ञ अनंत चतुष्टय का धारी तीर्थकर परमात्मा है, ऐसे अपने शुद्ध स्वरूप का ध्यान करना ही रूपस्थ ध्यान है ।

इसके स्वगत-परगत दो भेद हैं, इनके माध्यम से अपने स्वरूप में लीन होना । सशरीरी अरिहन्त दशा के शुद्ध स्वरूप का ध्यान करना रूपस्थ ध्यान है ।

रूपस्थ ध्यान करने की विधि- स्वरस्थ-निराकुल, निःशल्य होकर ॐ ह्रीं श्रीं मंत्र का जप करें- णमो अरिहंताणं, अरिहन्त के स्वरूप का चिन्तन करें, जो जीव आत्मा निज शुद्धात्मानुभूति सहित समस्त पाप-आरम्भ परिग्रह का त्याग कर निर्ग्रन्थ दिग्म्बर वीतरागी साधु होते हैं, तप, साधना रत्नत्रय की आराधना करते हुए अपने ममल स्वभाव में लीन रहते हैं, ध्यान समाधि लगाते हैं, इससे घातिया कर्म क्षय होकर अनन्तचतुष्टय केवलज्ञान प्रगट होता है ।

अरिहन्त परमात्मा तीर्थकर देव का समवशरण लगता है । सौधर्म इन्द्र, कुबेर समवशरण की रचना करते हैं । जिससे निज शुद्धात्मा में लीन हुए भव्य जीव अरिहन्त परमात्मा बनकर बैठते हैं । अपने को इसी रूप में उस स्थान पर बैठा हुआ देखें --- तीर्थकर परमात्मा के चौतीस अतिशय, अष्ट प्रातिहार्य, चार चतुष्टय ऐसे छ्यालीस गुण होते हैं --- इनका विचार चिन्तन करें (ममल पाहुड़ फूलना-९३ अतिशय चौतीस) और यह अपनी आत्मा में देखें --- इनका आध्यात्मिक विशेष चिन्तन श्री तारण स्वामी ने किया है ।

जन्म के दस अतिशय- १. खेद का अभाव, २. मल का अभाव, ३. मिष्ट

वचन, ४. दूध समान रुधिर, ५. वज्रर्क्षभ नाराच संहनन, ६. समचतुरस्र संस्थान, ७. सुन्दर रूप, ८. सुगन्धता, ९. १००८ लक्षण, १०. अतुलबल ।

केवलज्ञान के दस अतिशय- १. जीव वध नहीं, २. सुभिक्ष चहुं ओर, ३. उपसर्ग का अभाव, ४. आकाश में गमन, ५. कवलाहार नहीं, ६. चारमुख सहितपना, ७. ईश्वरपना, ८. छाया रहितपना, ९. पलन न लगना, १०. नख केश न बढ़ना ।

देवकृत चौदह अतिशय- १. अर्धमागधी भाषा, २. बैर रहितपना, ३. फल फूल होना, ४. पृथ्वी दर्पण सम, ५. सर्वधान्य फलना, ६. जनमन हर्ष, ७. धूल कंटक रहित भूमि, ८. सुगंधपना, ९. कमलों पर गमन, १०. निर्मल आकाश, ११. जल की वर्षा, १२. मंगलद्रव्य, १३. धर्म चक्र, १४. जय जय शब्द ।

अष्ट प्रातिहार्य-

(फूलना- ६४)

१. अशोक वृक्ष, २. दिव्यध्वनि, ३. चौसठ चमर, ४. भामंडल, ५. सिंहासन, ६. छत्रत्रय, ८. दुन्दुभिशब्द ।

अरिहन्त भगवान् १८ दोष रहित होते हैं- १. जन्म, २. जरा, ३. तृषा, ४. क्षुधा, ५. विस्मय (आश्चर्य), ६. अरति, ७. खेद, ८. रोग, ९. शोक, १०. मद, ११. मोह, १२. भय १३. निद्रा, १४. चिंता, १५. स्वेद (पसीना), १६. राग, १७. द्वेष, १८. मरण ।

इस प्रकार अरिहन्त परमात्मा के गुणों का चिन्तन करते हुए समवशरण में अपने आपको देखें-----देखो---वह अनन्तचतुष्टय-----सर्वज्ञ स्वभाव---पूर्ण शुद्ध परमानंदमय---वाह, वाह---जय हो- जय हो- परमानंद सर्वांग से प्रस्फुटित हो रहा है---ओंकार ध्वनि निकल रही है-----आ-हा-हा---अतीन्द्रिय आनंद---अमृत रस बरस रहा है---दिव्य ध्वनि खिर रही है-----देखो- अपने आपको इस दशा में देखो-----मैं स्वयं सर्वज्ञ परमात्मा-----अरिहन्त भगवान्---केवलज्ञानी तीर्थकर हूँ-----उव-----उवन पर्यं---जिननाथ सुयं---जिन---जिनयति नन्तानंत रयं-----पर्ययभय गलिय---ममल पर्य मिलियं भय विपिय अमिय रस परम पर्य--- भवियन अन्मोय तरन सुइ सिद्धि जयं----- ।

(ममल पाहुड़ फूलना- ९५)

नन्त चतुष्टय सुयं रमन जिनु गुन नन्त नन्त छायालरयं ।-----तं नन्तानन्त उवएस रमन जिनु-----अन्मोय समय सिहु सिद्धि जयं----- भवियन अमिय

रमन रस सिद्धि जयं--- अर्हन्त सर्वन्य दिप्ति सुइ उवनं, दिष्टि दिप्ति रमन तं जिनय
जिनु--- तं तारन तरन सहाइ सहज जिनु, अन्मोय समय सिहु सिद्धि जयं---
भवियन विंद रमन सम मुक्ति पयं-----। (ममल पाहुड फूलना- १५)

बस-बस-----ऐसे ही इसी निर्विकल्प शून्य शांत दशा में लीन रहें---
उपयोग बाहर जाने पर मंत्र जप करें-----पुनः उसी सर्वज्ञ स्वरूप अरिहन्त दशा
में अपने आपको देखें---जय हो-----बोलो केवलज्ञानी-अरिहन्त परमात्मा
की जय-----।

ॐ नमः सिद्धं--- ॐ नमः सिद्धं--- ॐ नमः सिद्धं---

ॐ शान्ति-- ॐ शान्ति-- ॐ शान्ति-- यह रूपस्थ ध्यान का प्रयोग है।

आगे रूपातीत ध्यान का वर्णन करते हैं-

रूपातीत विक्त रूपेन, निरंजनं न्यान मयं ध्रुवं ।

मति श्रुत अवधिं दिस्टा, मनपर्जय केवलं ध्रुवं ॥ १८८ ॥

अनंत दर्शनं न्यानं, वीर्जं नंत सौष्यं ।

सर्वन्यं सुद्ध द्रव्यार्थं, सुद्धं संमिक दर्शनं ॥ १८९ ॥

अन्वयार्थ- (रूपातीत विक्त रूपेन) रूपातीत ध्यान-अपने स्वरूप को व्यक्त
करना, प्रगट अनुभूति में लेना है (निरंजनं न्यान मयं ध्रुवं) जो निरंजन सर्व कर्म
मलादि से रहित ज्ञानमयी ध्रुव तत्व है (मति श्रुत अवधिं दिस्टा, मनपर्जय केवलं ध्रुवं)
जिसमें मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय और केवलज्ञान यह पांचों ज्ञान एकरूप नित्य
दिखाई देते हैं।

(अनंत दर्शनं न्यानं) जो अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान (वीर्जं नंत सौष्यं) अनन्त
वीर्य और अनन्त सुखमयी है (सर्वन्यं सुद्ध द्रव्यार्थं) सर्वज्ञ स्वरूप शुद्ध द्रव्य निज
आत्म तत्व है (सुद्धं संमिक दर्शनं) ऐसा देखना शुद्ध सम्यक्दर्शन है यही रूपातीत
ध्यान है।

विशेषार्थ- रूपातीत अर्थात् रूप से अतीत- सिद्ध स्वरूप का ध्यान करना
रूपातीत ध्यान है।

रूपातीत ध्यान- सिद्ध स्वरूप का स्मरण ध्यान करना, सिद्ध के गुणों का
चिन्तन करते हुए सिद्ध के समान अपने आत्मा का यथार्थ स्वरूप ध्यावे। जैसे सिद्ध
भगवान हैं वैसा मैं हूँ, मैं ही सर्वज्ञ हूँ, ज्ञानापेक्षा सर्वव्यापक हूँ, सिद्ध स्वरूप हूँ, मैं ही

साध्य हूँ, संसार से रहित हूँ, परमात्मा हूँ, परमज्योतिर्मय हूँ, सकल दर्शी हूँ, मैं ही
सर्व अंजन से रहित निरंजन शुद्ध हूँ, ऐसा ध्यान करें तब अपना स्वरूप निश्चल
अमूर्तीक कलंक रहित जगत में श्रेष्ठ चैतन्य मात्र ध्यान ध्याता ध्येय के भेद रहित
ऐसा अतिशय रूप प्रकाशमान होता है।

जहं ध्यान ध्याता ध्येय को, न विकल्प वच भेद न जहाँ ।

चिद्भाव कर्म चिदेश कर्ता, चेतना किरिया तहाँ ॥

तीनों अभिन्न अखिन्न, शुद्ध उपयोग की निश्चल दशा ।

प्रगटी जहाँ दृग ज्ञान व्रत ये, तीन धा एकै लसा ॥

(छहढाला- ६/९)

शरीरादि से रहित निज चैतन्य ज्योति, ज्ञानानंद स्वभाव में लीन हो जाना
ही रूपातीत ध्यान है। यह ध्यान सब विकल्प जालों से, भेदभावों से भिन्न करके
परमामृत रस में डुबाता है। इसके बार-बार अभ्यास साधना करने से परम शान्ति
परमानंद और सिद्ध पद की प्राप्ति होती है। ध्यान के काल में असंख्यात गुणी कर्म
निर्जरा अपने आप होती है।

अन्तरात्मा, सम्यक्दृष्टि साधक हमेशा इन्हीं ध्यान साधनाओं में अपने
उपयोग को लगाता है, समय का सदुपयोग करता है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि हम भी सामायिक करते हैं, मंत्र जप करते हैं,
एकाग्र शान्त होने के लिये ध्यान का अभ्यास करते हैं परन्तु न जाने कहाँ-कहाँ के
भाव आने लगते हैं। हम उस दशा में ज्यादा देर बैठ ही नहीं सकते, घबराहट मच
जाती है। स्वाध्याय और मंत्र जप से भी यही होता है, मन न जाने कहाँ-कहाँ चला
जाता है ऐसे में हम क्या करें ?

उसका समाधान करते हैं कि वर्तमान में निर्विकल्प ध्यान तो होता नहीं है,
सविकल्प ध्यान ही होता है। अपने उपयोग और मन को लगाने के लिये बहुत प्रयास
साधना और अभ्यास करना पड़ता है। इसके लिये मंत्र जप से मन को शांत किया
जाता है। इसकी दो विधि हैं कि या तो जोर-जोर से पूरी शक्ति से चिल्लाकर मंत्र
जप करो तो मन शांत और शरीर भी शून्य हो जाता है या मंत्र जप की इतनी तीव्र
प्रक्रिया अन्तर में चलना चाहिये कि सिर्फ मंत्र ही गूंजता रह जाये। उपयोग को लगाने
के लिये चिन्तन की धारा बदलना पड़ती है। जो अभी पदस्थ पिंडस्थ आदि ध्यानों
के अभ्यास में बताया है, वैसा करने से उपयोग अपने में लगने लगता है क्योंकि

वर्तमान में तो आर्त-रौद्र ध्यान ही अपने आप चलते हैं। इनसे बचने हटने के लिये ही यह धर्म ध्यान की साधना है। साधना का लक्ष्य आत्म कल्याण मुक्ति की प्राप्ति होवे और पुरुषार्थ पूर्वक लगो तो यह सब हो सकता है।

ध्यान से ही कर्मों की निर्जरा होती है।

ज्ञान ध्यान की साधना ही एकमात्र साधक का पुरुषार्थ है।

घर परिवार में फंसे रहो, पाप परिग्रह में लगे रहो, मोह-राग में धंसे रहो और समता शांति या सामायिक ध्यान करना चाहो तो नहीं हो सकता। इसके लिये पूर्व में ही ध्यान करने वाले के लक्षण और पात्रता बता दी है, तभी ध्यान सामायिक हो सकती है। संसार शरीर भोगों से विरक्ति, विषय-कषायों से निवृत्ति हो तभी ध्यान सामायिक होती है।

रूपातीत ध्यान अपने निरंजन ज्ञानमयी ध्रुवतत्त्व जो पंचमज्ञानमयी अनन्त चतुष्टयधारी, सर्वज्ञ स्वरूप शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से है इसका जो श्रद्धान करता है, वही शुद्ध सम्यक्दृष्टि है तथा इसी की अनुभूति लीनता रूपातीत ध्यान है।

ऐसे जो शुद्ध धर्म का श्रद्धान कर उसकी साधना के मार्ग पर चलता है वही सम्यक्दृष्टि अन्तरात्मा होता है।

ऐसा अन्तरात्मा जिसे भेदज्ञान पूर्वक निज शुद्धात्मानुभूति हो गई है उसकी क्या विशेषता होती है, इसे आगे कहते हैं-

प्रति पूर्ण सुद्ध धर्मस्य, असुद्धं मिथ्या तिक्तयं।

सुद्ध संमिक संसुद्धं, सार्धं संमिक दिस्टितं ॥ १९० ॥

अन्वयार्थ- (प्रति पूर्ण सुद्ध धर्मस्य) शुद्ध धर्म का, निज शुद्ध स्वभाव का जिसे परिपूर्ण श्रद्धान हो गया (असुद्धं मिथ्या तिक्तयं) अशुद्ध मिथ्या मान्यता छूट गई (सुद्ध संमिक संसुद्धं) परमशुद्ध निजशुद्धात्मा की (सार्धं संमिक दिस्टितं) साधना में रत सम्यक्दृष्टि है।

विशेषार्थ- सच्चे धर्म के श्रद्धानी सम्यक्दृष्टि अन्तरात्मा की क्या विशेषता होती है, वह यहाँ बताया जा रहा है। अन्तरात्मा को सच्चे धर्म निज शुद्ध स्वभाव का परिपूर्ण श्रद्धान अनुभूति हो गई है। जिससे अशुद्ध पुण्य-पापादि बाह्य क्रियाओं में धर्म मानने की मिथ्या मान्यता छूट गई है। वह अपने परमशुद्ध, निज शुद्धात्मा की ही श्रद्धा साधना करता है। पर में या पर से धर्म का कोई संबंध नहीं है। धर्म तो

एकमात्र निज चेतन लक्षण शुद्ध स्वभाव ही है और इसी के आश्रय इसी की साधना चिन्तन-मनन करने, अपने ऐसे शुद्ध स्वभाव में लीन रहने पर ही परम सुख परमशांति, परमानंद मोक्ष मिलता है, जिसे अरिहन्त सिद्ध पद कहते हैं। यह बाहर में किसी पर के आश्रय से नहीं मिलता और परजीव जो उस दशा में हो गए हैं, उनका आश्रय करने, पूजन वन्दना भक्ति करने से भी सत्य धर्म उपलब्ध नहीं होता। वह तो निज के आश्रय निज स्वभाव में ही निज के पुरुषार्थ से प्रगट होता है-

इसी बात को देवसेनाचार्य तत्त्वसार में कहते हैं-

ज्ञाणेण कुणउ भेयं, पुग्गल जीवाण तह य कम्माणं।

चेत्तव्वो णिय अप्पा, सिद्ध सरुवो परो बंभो ॥ २५ ॥

ज्ञानी, ध्यान के बल से जीव और पुद्गल तथा जीव और कर्म का भेद करके अपने आत्मा को सिद्ध स्वरूपी परम ब्रह्म जानता है।

धर्म चर्चा का विषय नहीं अनुभूति का विषय है, भेदज्ञान के द्वारा जानकर जो इसका ध्यान करता है, उसको प्रत्यक्ष अनुभूति में आता है कि यह शरीरादि पुद्गल भिन्न है और मैं चेतन लक्षण जीव आत्मा भिन्न हूँ तथा यह कर्म भी मेरे से भिन्न हैं, मैं तो सिद्ध स्वरूपी परमब्रह्म परमात्मा हूँ।

अपने स्वरूप को कैसा जानता है इसी बात को आगे कहते हैं-

मल रहिओ णाणमओ, णिवसइ सिद्धीए जारिसोसिद्धो।

तारिसओ देहत्थो, परमो बंभो मुणेयव्वो ॥ २६ ॥

जैसा कर्म मल से रहित ज्ञानमयी सिद्धात्मा, सिद्ध स्वरूप में निवास करता है, वैसा ही मैं परमब्रह्म स्वरूप आत्मा देह में स्थित हूँ ऐसा जानता है।

इसी बात को योगीन्दुदेव परमात्म प्रकाश में कहते हैं-

अप्पिं अप्पु मुणंतु जिउ सम्मादिदिठ हवेई।

सम्माइडिउ जीवडउ लहु कम्मइं मुच्चेई ॥ ७६ ॥

अपने को अपने से जानता हुआ यह जीव सम्यक्दृष्टि होता है और सम्यक्दृष्टि हुआ संता जल्दी कर्मों से छूट जाता है। उसकी अशुद्ध मिथ्या मान्यता छूट जाती है; अर्थात् वह पर को अपना नहीं मानता, इसके विपरीत अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव कैसा मानता है इसे कहते हैं-

जणणी जणणु वि कंत घरु पत्तु वि मित्तु वि दव्वु।

माया जालु वि अप्पणउ मूढउ मण्णइ सव्वु ॥ ८३ ॥

मूढ़ क्या मानता है ? माता-पिता और स्त्री, घर और बेटा-बेटी, मित्र आदि सब कुटुम्बी जन बहिन, भानजी, नाना-मामा, भाई-बंधु और रत्न-माणिक, मोती, स्वर्ण-चांदी, धन-धान्य, नौकर-चाकर (द्विपद), घोड़ा, ऊँट, हाथी, रथ, पालकी (चौपाए) यह सर्व मायाजाल असत्य है, कर्म जनित है तो भी अज्ञानी जीव इन्हें अपने मानता है।

दुःखहैं कारण जे विसय ते सुह हेउ रमेइ ।

मिच्छाइडिउ जीवडउ इत्थु ण काई करेइ ॥ ८४ ॥

दुःख के कारण जो पांच इंद्रियों के विषय हैं, उनको सुख के कारण जानकर रमण करता है, वह मिथ्यादृष्टि जीव इस संसार में क्या नहीं करता ? सभी पाप करता है अर्थात् जीवों की हिंसा करता है, झूठ बोलता है, दूसरे का धन हरण करता है, दूसरे की स्त्री सेवन करता है, अति तृष्णा करता है, बहुत आरंभ करता है, खेती करता है, खोटे-खोटे व्यसन करता है, जो न करने योग्य कार्य हैं उनको भी करता है। सम्यक्दृष्टि अन्तरात्मा की यह मिथ्या मान्यता छूट जाती है, वह इनको किसी को भी अपने इष्ट या हितकारी नहीं मानता।

यहां कोई प्रश्न करे कि अग्रती तो इन्हीं सबमें लगा रहता है फिर कैसे माना जाए कि यह सम्यक्दृष्टि अन्तरात्मा है ?

उसका समाधान करते हैं कि भाई ! यह तो श्रद्धान-मान्यता की बात है, अभी क्रिया रूप परिणमन की बात नहीं है, सम्यक्दृष्टि अन्तरात्मा के भीतर से इनके प्रति जो एकत्व की इष्टपने की मान्यता थी वह छूट गई है। अभी बाहर से संयोग नहीं छूटा है परन्तु वह भी जल्दी छूट जाने वाला है। जैसे-किसी वृक्ष की जड़ टूट जाए, तो कितना बड़ा हरा भरा विशाल वृक्ष हो, उसके गिरने सूखने में कितने दिन लगेंगे अर्थात् जल्दी ही सूखकर गिर जायेगा, ऐसे ही सम्यक्दृष्टि अन्तरात्मा की दृष्टि, मान्यता से यह सब छूट गये हैं, मजबूरी में कर्मवशात रहता है।

यहां कोई कहे कि ऐसा तो हम भी मानते हैं कि यह हमारे कोई भी कुछ भी नहीं हैं, हम भी मजबूरी में रहते हैं, तो क्या हम भी सम्यक्दृष्टि अन्तरात्मा हो गये ?

उसका समाधान करते हैं कि यही तो समझने का विषय है- सम्यक्दर्शन या सम्यक्दृष्टि होना कोई कठिन नहीं है। आप, हम सब जो संसारी, अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं। जो जीव भेदज्ञान पूर्वक अपने आत्म स्वरूप की प्रतीति करता है, जिसको ऐसा अनुभूतियुत श्रद्धान हो जाता है कि मैं एक अखंड अविनाशी

चैतन्य तत्त्व भगवान आत्मा हूँ मैं यह शरीरादि नहीं हूँ और न यह शरीरादि मेरे हैं। ऐसा निर्णय सत्श्रद्धान होने का नाम ही सम्यक्दर्शन है उसे ही सम्यक्दृष्टि अन्तरात्मा कहते हैं। उसकी मिथ्या मान्यता बदलते ही सत्यधर्म की उपलब्धि हो जाती है। वह अपनी पात्रता कर्म उदयानुसार उस दशा में रहता है परन्तु उसके श्रद्धान में तो निरन्तर अपना ध्रुव तत्त्व शुद्धात्म स्वभाव ही झूलता है फिर वह किसी बाहरी क्रिया पुण्य-पापादि को धर्म नहीं मानता फिर उसको संसारी वेदना नहीं होती बल्कि सबके बीच रहता हुआ-

दोष रहित गुण सहित सुधी जे, सम्यक्दर्श सजे हैं ।

घरित मोह वश लेश न संजम, पै सुरनाथ जजै हैं ॥

गेही पे गृह में न रचे ज्यों, जल तें भिन्न कमल है ।

नगर नारि को प्यार यथा, कादे में हेम अमल है ॥

(छहढाला ३/१५)

सम्यक्दर्शन की महिमा बड़ी अपूर्व है और इसकी उपलब्धि भी सहज साध्य है। अपने आपको जानना ही तो सम्यक्दर्शन है। इसके होने पर ५८ लाख योनियां छूट जाती हैं।

प्रथम नरक बिन षट् भू ज्योतिष, वान भवन षंड नारी ।

थावर विकलत्रय पशु में नहीं, उपजत सम्यक्धारी ॥

अपनी बात है और अपने को समझना है। इसके लिये ही तारण स्वामी ने इतना विस्तृत विवेचन किया है कि कहीं धोखा न हो जाये क्योंकि इसमें भी निश्चयाभासी व्यवहारभासी उभयाभासी होने का डर है और किसी अज्ञानी कुगुरु के जाल में फँसकर अपने श्रद्धान को डिगाना भी नहीं है क्योंकि इस दशा में दोनों तरफ से संभाल सावधानी की आवश्यकता है। आजकल लोग अपने आपको तो नहीं देखते और दूसरों का सम्यक्दर्शन देखते फिरते हैं तथा अपने कुतर्कों से संयम सदाचार से भी भ्रष्ट करते हैं। आप डुबन्ते पांडे, ले डूबे जिजमान। अपने आपमें हम स्वयं अपने को देखें, अपने सामने सद्गुरु की वाणी जिनवाणी आईना है, अपना निर्णय हम स्वयं करें कि हम क्या हैं ? न किसी को बताने की जरूरत है, हम स्वयं जानें या सर्वज्ञ जानें, दूसरा कोई जान ही नहीं सकता। यह अनुभूति का बड़ा सूक्ष्म विषय है। आगम में सभी प्रकार के प्रमाण हैं, किस अपेक्षा क्या कहा है ? इसका स्वयं विचार कर निर्णय करें। इसी बात को सद्गुरु विशेषता से आगे गाथा में कहते हैं-

देव गुरु धर्म सुद्धस्य, सार्धं न्यान मयं ध्रुवं । मिथ्या त्रिविध मुक्तं च, संमिक्तं सुद्धं ध्रुवं ॥ १९१ ॥

अन्वयार्थ- (देव गुरु धर्म सुद्धस्य) सच्चे देव गुरु धर्म का (सार्धं न्यान मयं ध्रुवं) तथा अपने ज्ञानमयी ध्रुव स्वभाव की साधना और श्रद्धान करता है (मिथ्या त्रिविध मुक्तं च) तीन प्रकार के मिथ्यात्व से मुक्त हो गया है और (संमिक्तं सुद्धं ध्रुवं) अपने शुद्ध सम्यक्त्व ध्रुव स्वभाव में रहता है ।

विशेषार्थ- यहाँ अन्तरात्मा सम्यक्दृष्टि की विशेषता का वर्णन चल रहा है । अन्तरात्मा सच्चे देव गुरु धर्म का और अपने ज्ञानमयी ध्रुव स्वभाव की श्रद्धा और साधना करता है । सच्चा देव – निजशुद्धात्मा, सच्चा गुरु – निज अन्तरात्मा, सच्चा धर्म – निज शुद्ध स्वभाव और वह अपना ज्ञानमयी ध्रुव स्वभाव ही है, इसकी साधना और श्रद्धान करता है ।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि क्या वह सच्चे देव अरिहन्त सिद्ध परमात्मा, सच्चे गुरु निर्ग्रन्थ वीतरागी साधु और दस लक्षण धर्म को नहीं मानता, इनका श्रद्धान नहीं करता ?

उसका समाधान करते हैं कि मुक्ति का मार्ग तो **सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः** है । अपने शुद्धात्मा की अनुभूति सम्यक्दर्शन, अपने स्वरूप का ज्ञान सम्यक्ज्ञान और अपने शुद्ध स्वभाव में रहना सम्यक्चारित्र है और वह इसी की साधना करता है । व्यवहार में सच्चे देव जो उस रूप हो गये हैं अरिहन्त सिद्ध परमात्मा और सच्चे गुरु निर्ग्रन्थ दिगंबर वीतरागी साधु का बहुमान करता है । जिस मार्ग पर चलकर वह ऐसे बने और उन्होंने वही सत्य मार्ग बताया इसका उपकार मानता है तथा सच्चा धर्म तो वह चेतना लक्षण निज शुद्ध स्वभाव ही मानता है, उसी की श्रद्धा साधना करता है । इसमें वह निश्चय-व्यवहार का भेद नहीं करता और न मानता क्योंकि इसके भेद के कारण ही सब भेद हो रहे हैं ।

यहाँ पुनः प्रश्न होता है कि क्या वह दया दान व्रत संयम उत्तम क्षमा आदि को धर्म नहीं मानता इनका पालन नहीं करता ?

उसका समाधान करते हैं कि वह धर्म तो अपना चेतन लक्षण शुद्ध स्वभाव ही मानता है और उसी की श्रद्धा साधना करता है । वह तो सब उसके जीवन में उसकी पात्रतानुसार स्वयं घटित होते हैं, वह इनको करता नहीं है और न इनको धर्म मानता

है । जैसे – बीज बोने पर अंकुर, पत्ते, पुष्प आदि स्वयं होते हैं, लगाना करना नहीं पड़ते, इसी प्रकार सम्यक्दृष्टि अन्तरात्मा के जीवन में यह स्वयं घटित होते हैं, न हों ऐसा भी नहीं होता क्योंकि बीज बोने पर अंकुर पत्ते न हों तो समझ लो बीज बोया ही नहीं गया या सड़ गया, गल गया । इसी प्रकार सम्यक्दृष्टि अन्तरात्मा का अशुभ पापादि रूप परिणमन छूटता जाता है । शुभ पुण्यादि रूप परिणमन होता जाता है और वह इन सबसे विरक्त अपने स्वभाव की साधना में लगा रहता है । पात्रता बढ़ने पर यह सब अपने आप छूट जाते हैं । हाथ पर हाथ रखकर बैठने की स्थिति बन जाती है और वह अपने स्वभाव साधना में रत रहता हुआ ध्यान समाधि में लीन हो जाता है, ४८ मिनट में सर्वज्ञ केवलज्ञानी अरिहन्त परमात्मा हो जाता है, आयु पूर्ण होने पर समस्त कर्मों को क्षय कर सिद्ध परमात्मा हो जाता है ।

यहाँ फिर प्रश्न होता है कि यह बात समझ में नहीं आई फिर हमें यह कैसे पता लगे कि यह अन्तरात्मा सम्यक्दृष्टि है उसकी पहिचान बताओ ?

उसका समाधान करते हैं कि कौन सम्यक्दृष्टि अन्तरात्मा है, कौन मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है इसका पता लगाने से अपने को लाभ क्या है ? अपने को स्वयं देखो कि स्वयं क्या हैं कौन हैं ? क्योंकि जैसे हम हैं वैसा ही तो अपना होना है । यह मौका मनुष्य पर्याय, सदगुरु की वाणी का शुभयोग, बुद्धि, पुण्य के उदय आदि का मिलना तो तभी सार्थक है कि हम स्वयं अन्तरात्मा सम्यक्दृष्टि हो जायें तो अपना भला है । यह सब सुनने समझने लिखने पढ़ने तत्व चर्चा करने का प्रयोजन क्या है ? पर को बताने या पर को देखने से अपना भला कभी नहीं हो सकता । हम स्वयं अपने को देखें और सदगुरु की इस वाणी पर श्रद्धान बहुमान लायें कि मैं स्वयं तीन लोक का नाथ अनन्तचतुष्टय का धारी रत्नत्रय स्वरूप भगवान आत्मा हूँ, सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा हूँ । अनादिकाल संसार में परिभ्रमण करते बीत गया । प्रत्यक्ष में ज्ञानी क्या ? केवलज्ञानी तीर्थंकर परमात्माओं को भी देखा परन्तु स्वयं न सुलटे तो क्या लाभ हुआ ? इसी प्रकार अभी यह जान लें कि कौन सम्यक्दृष्टि अन्तरात्मा है, तो इससे भी क्या लाभ मिलने वाला है ? हम स्वयं सम्यक्दृष्टि अन्तरात्मा बनें तभी अपना भला है और यही प्रयोजनीय है । अव्रत सम्यक्दृष्टि अन्तरात्मा कैसा होता है, इसी का वर्णन चल रहा है । बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि का स्वरूप भी बताया, सम्यक्दृष्टि अन्तरात्मा का स्वरूप भी बताया जा रहा है । उसकी विशेषता भी बताई जा रही है । इसके द्वारा अपने को, पर को जिसे देखना चाहें देख लें परन्तु पर को देखने से कोई

लाभ नहीं है। अपने को देखें तो अपना भला होवे। भेदज्ञान तत्त्व निर्णय का पुरुषार्थ करें तो स्वयं परमात्मा हो सकते हैं। शक्ति रूप से तो सभी जीव आत्मा परमात्मा हैं, वह शक्ति प्रगट रूप में व्यक्त हो तो अपना काम बने और यही कार्यकारी है क्योंकि अभी तक हमारी दशा क्या हो रही है।

**परमात्मा बनता नहीं, धनवान बनने मर रहा ।
संयम तप करता नहीं, पाप परिग्रह कर रहा ॥
हो गया इस जीव को क्या, कुछ समझ आता नहीं ।
दुर्गति में जाने फिरता, सद्गति जाता नहीं ॥
धनवान बनना भाग्य से, परमात्मा निज हाथ में ।
जो करेगा जैसा जो कुछ, जाये उसके साथ में ॥**

सम्यक्दृष्टि अन्तरात्मा तीनों प्रकार के मिथ्यात्व (मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व, सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व) दर्शन मोहनीय से मुक्त हो गया है क्योंकि तीनों मिथ्यात्व तथा चार अनंतानुबंधी के क्षय, उपशम, क्षयोपशम होने पर ही सम्यक्दर्शन होता है तो अन्तरात्मा जीव ने अपने ध्रुव स्वभाव को जान लिया है, शुद्ध सम्यक्दृष्टि हो गया है और अपने ज्ञानमयी ध्रुव स्वभाव की साधना में ही लगा रहता है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि अन्तरात्मा अपने ध्रुव स्वभाव की साधना में ही लगा रहता है, बाहर में यह पूजा-पाठ, जप-तप, संयम संसारी व्यवहार पुण्य-पाप आदि कुछ नहीं करता ? क्योंकि अत्रत दशा में हमेशा अपने स्वभाव की साधना में नहीं लगा रह सकता ?

इसका समाधान करते हैं कि यही तो समझने की बात है। यह बात समझ में आ जाये तो अन्तरात्मा होने और अन्तरात्मा को पहिचानने में देर न लगे। अन्तरात्मा किसे कहते हैं ? तारण स्वामी ने पूर्व में बताया है।

विन्यानं जेवि जानंते, अप्पा पर परषये ।

परिचये अप्प सद्भावं, अंतर आत्मा परषये ॥ ४९ ॥

जो जीव भेदज्ञान जानता है, आत्मा और पर को पहिचानता है, जिसे अपने आत्म स्वभाव का परिचय हो गया है उसे अन्तर आत्मा जानो।

बहिरात्मा किसे कहते हैं इसे भी समझ लो -

बहिरप्पा पुद्गलं दिस्टा, रचनं अनन्त भावना ।

परपंचं जेन तिस्टंते, बहिरप्पा संसार स्थितं ॥ ५० ॥

बहिरात्मा पुद्गल को देखता है और उसके रचने की अनन्त भावना करता है, जो हमेशा प्रपंच में लगा रहता है ऐसा बहिरात्मा संसारी प्राणी है। जिसने भेदज्ञान के द्वारा स्व-पर को जान लिया तथा जिसे निज शुद्धात्मानुभूति हो गई वह पर में क्या करेगा और पर का कर्ता क्यों बनेगा ? क्योंकि यह जो कुछ भी बाहर में क्रिया कर्म है, यह सब पुद्गल पर द्रव्य ही है, जब उसके ज्ञान में वस्तु स्वरूप आ गया, जिसने अमृत का स्वाद चख लिया फिर वह जहर क्यों पियेगा ? जिसने यह जान लिया कि यह आग है, यह जलाती है तो वह उसको क्यों छुएगा ? अब यह बात अलग है कि वर्तमान भूमिकानुसार उसे उस दशा संयोग में रहना पड़ता है; परंतु श्रद्धान में तो सब छूट ही गया। अब अपने को देखने में ऐसा लगता है कि इतने कर्म संयोग, इतनी उठा पटक में लगा है, इतनी उलझनों में फँसा है तो यह कैसे अपने आत्म स्वरूप की साधना करता होगा ? इसके लिये तारण स्वामी ने इसी श्रावकाचार में एक उदाहरण दिया है कि समुद्र में मछली रहती है और अपने अंडे रेत में देती है और वह उन्हें छोड़कर मीलों दूर समुद्र में चली जाती है परंतु वह उनकी सुरत रखती है इससे उसके अंडे बढ़ते हैं, अगर वह उनकी सुरत भूल जाये तो सब अंडे गल जाते हैं। इसी प्रकार सम्यक्दृष्टि अन्तरात्मा बाहर में सब कुछ कर रहा है परन्तु अन्तर में अपने आत्म स्वभाव की सुरत बनी रहती है और इसी से उसकी पात्रता बढ़ती है तथा इसी से वह आनंद में रहता है कहा है-

जा सम्यक्दृग् धारी की मोहि रीत लगत है अटापटी ।

बाहर नारकी कृत दुःख भोगत भीतर समरस गटागटी ॥

यह बड़ी अपूर्व बात है जो अनुभवगम्य है। इसका बाहर से अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता, इतना सूक्ष्म विषय है। यह सम्यक्दर्शन की महिमा है और यह सम्यक्त्व की घोषणा है कि एक बार जीव मुझे ग्रहण कर ले फिर दो चार दस भव में मुक्ति पहुंचाये बगैर मैं छोड़ नहीं सकता। जीव मुझे छोड़ देवे, न जाना चाहे तो भी एक बार के सम्पर्क मात्र से मैं उसे मुक्ति पहुँचाऊँगा ही। यह बड़ी अपूर्व बात है, अपने जीवन में एक बार अपने शुद्धात्म तत्त्व की ओर दृष्टि हो जाये तो बेड़ा पार है; इसलिये अन्तरात्मा सबके बीच रहता हुआ, देखने में सब कुछ करता लगता हुआ भी, वह कुछ नहीं करता मात्र अपने स्वरूप की साधना करता है। यह मात्र श्रद्धान सम्यक्दर्शन की महिमा है, जब वह रत्नत्रय (सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र) की साधना करता है तो स्वयं परमात्मा हो जाता है।

सम्यक्दर्शन का बीज ही मुक्ति का फल देता है -

बाहर की क्रिया पाप-पुण्य, संयम तप आदि भूमिका पात्रतानुसार अपने आप होते हैं वह कुछ नहीं करता। जिसके होते हैं वह ज्ञानी है, जो करता है वह अज्ञानी है। इसी अन्तरात्मा की विशेषता को आगे की गाथा में कहते हैं -

देव देवाधिदेवं च, गुरु ग्रंथं च मुक्तयं ।

धर्मं सुद्ध चैतन्यं, सार्धं संमिक्तं ध्रुवं ॥ १९२ ॥

अन्वयार्थ- (देव देवाधिदेवं च) देवों का अधिपति देव इन्द्र और इन्द्रों के द्वारा पूज्यनीय जो देव अरिहन्त सिद्ध परमात्मा (गुरु ग्रंथं च मुक्तयं) गुरु जो सब ग्रन्थि बन्धनों से मुक्त हो गये (धर्मं सुद्ध चैतन्यं) धर्म जो अपना शुद्ध चैतन्य स्वरूप है (सार्धं संमिक्तं ध्रुवं) सम्यक्दृष्टि ऐसे ध्रुव स्वभाव की साधना करता है।

विशेषार्थ- यहाँ सम्यक्दृष्टि अन्तरात्मा की विशेषता का वर्णन किया जा रहा है कि वह अपने ध्रुव स्वभाव की ही श्रद्धा साधना करता है। देवों का अधिपति इन्द्रदेव और इन्द्रों द्वारा पूज्यनीय जिनेन्द्रदेव और जिनेन्द्र देव कौन ? शुद्धात्म तत्व। वह कहाँ रहते है ? निज चैतन्य स्वरूप में। वह किसकी साधना आराधना से जिनेन्द्र देव बने ? निज शुद्धात्मा की।

गुरु जो निर्ग्रन्थ दिगम्बर वीतरागी साधु हैं वह क्या करते हैं ? निज शुद्धात्म स्वरूप की साधना। यह साधु क्यों बने ? इस दशा में कैसे आये ? धर्म का आश्रय लेकर मुक्ति के मार्ग पर चल रहे हैं, अपने ध्रुव स्वभाव परमानन्दमय रहना है।

धर्म क्या है ? शुद्ध चैतन्य स्वरूप। वह कहाँ है ? वह प्रत्येक जीव का निज स्वभाव है। यह किसको मिलता है, कहाँ मिलता है ? जो भेदज्ञान पूर्वक स्व-पर का ज्ञान करके निज स्वभाव को देखता है उसे वह अपने में ही मिलता है, तो जो अन्तरात्मा है, जिसने अपने चैतन्य स्वरूप को जान लिया है, उसका लक्ष्य देवत्वपना प्रगट करने का है, निर्ग्रन्थ दिगंबर वीतरागी साधु बनने का है, उसके ज्ञान में देव गुरु धर्म का स्वरूप स्पष्ट दिखाई दे रहा है और वह इसी लक्ष्य से अपने ध्रुव स्वभाव की साधना श्रद्धान करता है।

इसी बात को योगीन्दुदेव परमात्म प्रकाश में कहते हैं, अन्तरात्मा की विशेषता-

अण्णु जि तित्थु म जाहि जिय अण्णु जि गुरुउ म सेवि ।

अण्णु जि देउ म चिंति तुहुं अण्णा विमलु मुएवि ॥ १५ ॥

हे जीव ! तू दूसरे तीर्थ को मत जावे, दूसरे गुरु को मत सेवे, अन्य देव को मत ध्यावे। रागादि मल रहित आत्मा को छोड़कर अन्यत्र कहीं रमण मत कर, अपना आत्मा ही तीर्थ है, वहाँ रमण कर। आत्मा ही गुरु है उसकी सेवा कर और आत्मा ही देव है उसी की आराधना कर। अपने सिवाय दूसरे का सेवन मत कर।

अण्णा दंसणु केवलु वि अण्णु सव्वु ववहारु ।

एक्कु जि जोइय झाइयइ जो तइलोयहँ सारु ॥ १६ ॥

केवल एक आत्मा ही सम्यक्दर्शन है, दूसरा सब व्यवहार है इसलिये हे योगी ! एक आत्मा ही ध्यान करने योग्य है जो कि तीन लोक में सार है।

अण्णा ज्ञायहि णिम्मलउ किं बहुएँ अण्णेण ।

जो ज्ञायंतहँ परम पउ लब्भइ एक्क खणेण ॥ १७ ॥

हे योगी ! तू निर्मल आत्मा का ही ध्यान कर और बहुत पदार्थों से क्या ? देश काल पदार्थ आत्मा से भिन्न हैं, पर जीव भी भिन्न हैं, उनसे कुछ प्रयोजन नहीं है। रागादि विकल्प जाल के समूहों के प्रपंच से क्या लाभ ? एक निज स्वरूप को ध्याओ। जिस ध्रुव तत्व शुद्धात्मा के ध्यान करने वालों को क्षण मात्र में मोक्ष पद मिलता है।

यहाँ भेदज्ञानी अन्तरात्मा की विशेषता का वर्णन चल रहा है, जिसका योगीन्दुदेव ने भी परमात्म प्रकाश गाथा ९३ से १२३ तक विशद वर्णन किया है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि इससे तो देव गुरु धर्म का कोई महत्त्व ही नहीं रहा फिर यह व्यवहार में देव गुरु धर्म की आराधना, वन्दना, भक्ति पूजन करने का क्या प्रयोजन रहा ? जब एक जिन शुद्धात्मा ही सब कुछ है, तो बस आत्मा ही आत्मा में लगे रहो फिर संसार से, शरीर से, परिवार से या किसी से संबंध ही क्या है ?

उसका समाधान करते हैं कि भाई ! जरा शान्त होकर सुनो समझो, यहाँ धर्म का स्वरूप- धर्मी जीव की मान्यता श्रद्धान की बात चल रही है। जो जीव अपना आत्म कल्याण करना चाहते हैं, संसार के परिभ्रमण जन्म-मरण से छूटना चाहते हैं, उन्हें एक मात्र धर्म का ही आश्रय शरण ग्रहण करना पड़ती है क्योंकि संसार में और किसी अन्य पदार्थ, अन्य जीव, पुण्य पापादि कर्मों से कभी भी यह झंझट मिटने वाली नहीं है। एक धर्म के आश्रय ही मुक्ति का मार्ग बनता है और धर्म क्या है ? धर्म अपना चैतन्य लक्षण शुद्ध स्वभाव है। जो जीव धर्म के अर्थात् निज स्वभाव के आश्रय लगता है वह धर्मी सम्यक्दृष्टि ज्ञानी अन्तरात्मा कहलाता है और फिर धर्म की

साधना से ही मुक्ति मिलती है। निज स्वभाव साधना से ही अर्थात् उसी का ज्ञान, उसी का ध्यान, उसी में रमणता, उसी में लीनता, उसी में स्थिरता होने पर साधु पद हो जाता है। ४८ मिनट अपने स्वभाव में रहने पर केवलज्ञान अरिहन्त पद हो जाता है और अपने परमानंद स्वरूप वीतराग निर्विकल्प दशा में रहने से सब कर्म क्षय हो जाते हैं, इससे मुक्ति सिद्ध पद हो जाता है। अब यह बताओ कि यहाँ किसका क्या किया जाये ? क्योंकि पर को जानने मानने और पर में लगे रहने के कारण तो अनादिकाल बीत गया और कभी इस जीव को एक समय के लिये सुख साता नहीं मिली। संसार में सब व्यवहार निभाया, खूब पुण्य करके स्वर्ग गये, पाप करके नरक गये। सब देव गुरु धर्म की आराधना वंदना भक्ति की, प्रत्यक्ष समवशरण में भगवान के सामने रहे परन्तु हुआ क्या ? जब तक भेदज्ञान पूर्वक निज शुद्ध स्वभाव को नहीं जानते निज शुद्धात्मानुभूति नहीं होती, तब तक तीन काल भी भला होने वाला नहीं है। वर्तमान में पुनः मनुष्य भव और यह सब शुभयोग मिले हैं। सच्चे देव गुरु शास्त्र, धर्म का स्वरूप और मुक्ति का मार्ग क्या बता रहे हैं, उसे जानें-मानें उस ओर का पुरुषार्थ करें तो अपना भला होवे। देव गुरु धर्म की आराधना, वन्दना, भक्ति से क्या होने वाला है ? जब सच्चे देव गुरु धर्म वीतरागी हैं, उन्हें कुछ चाहिये ही नहीं तो फिर क्या प्रयोजन है ? और जब जैन दर्शन यह कहता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ करता ही नहीं है, कर ही नहीं सकता। एक पर्याय दूसरी पर्याय का कुछ नहीं कर सकती और एक-एक समय की पर्याय क्रमबद्ध निश्चित है, उस पर्याय को इधर से उधर नहीं किया जा सकता तथा जिस समय जिस जीव का जिस द्रव्य का जैसा जो कुछ होना है वह अपनी तत्समय की योग्यतानुसार हो रहा है और होगा उसे कोई भी मनुष्य क्या, भगवान भी टाल फेर बदल सकता नहीं है, तो फिर अब क्या करने का शेष रहा ? जिसे इन सब बातों का ज्ञान और निर्णय स्वीकार होता है, वह ज्ञानी सम्यक्दृष्टि अन्तरात्मा होता है और वह ऐसी साधना करता है। संसारी जीव व्यवहार में क्या करते हैं, उसे इससे मतलब नहीं है, वह तो अपनी आत्म साधना में रत रहता है, यही उसकी विशेषता है।

आत्मा ही इष्ट और उपादेय है जो इसकी साधना आराधना में रत रहते हैं, वह संसार से पार होते हैं।

देव देवाधिदेव-शुद्धात्मा। वीतरागी निर्ग्रन्थ गुरु-अन्तरात्मा। धर्म-शुद्ध स्वभाव, तो सम्यक्दृष्टि ज्ञानी नित्य इसी की साधना करता है और कुछ नहीं करता। जगत का सब परिणामन अपने आप होता है क्योंकि जब जैसा जो कुछ होना है वह

सब निश्चित है, ऐसा जो स्वीकार करता है वही सम्यक्दृष्टि है इसी बात को आगे कहते हैं-

संमिक्तं जस्य जीवस्य, दोषं तस्य न पश्यते ।

न तु संमिक्त हीनस्य, संसारे भ्रमनं सदा ॥ १९३ ॥

अन्वयार्थ- (संमिक्तं जस्य जीवस्य) जिस जीव को सम्यक्त्व हो गया है (दोषं तस्य न पश्यते) उसमें शंकादि पच्चीस दोष नहीं दिखते (न तु संमिक्त हीनस्य) यदि कोई दोष दिखाई देते हैं, तो वह सम्यक्त्व से हीन है (संसारे भ्रमनं सदा) वह हमेशा संसार में ही भ्रमण करेगा।

विशेषार्थ- यहाँ अन्तरात्मा सम्यक्दृष्टि की विशेषता बताई जा रही है कि जिस जीव को सम्यक्त्व होता है उसमें कोई दोष दिखाई नहीं देते।

सम्यक्त्व के पच्चीस दोष होते हैं- शंकादि आठ दोष, आठ मद, छह अनायतन, तीन मूढ़ता। इनका वर्णन गाथा क्र. २९ में आ गया है, यहाँ संक्षेप में कहते हैं -

शंकादि आठ दोष- शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढ़दृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितिकरण, अवात्सल्य, अप्रभावना। सम्यक्दृष्टि इन दोषों से रहित होता है।

आठ मद- ज्ञानमद, पूजा मद, कुल मद, जाति मद, बल मद, ऋद्धि मद, तप मद, रूप मद। संसारी पर वस्तु और शरीरादि संयोग का घमंड करना मद है। यह सम्यक्दृष्टि को होते ही नहीं है।

छह अनायतन- कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र और इनके उपासकों की प्रशंसा सम्यक्दृष्टि नहीं करता।

तीन मूढ़ता - देव मूढ़ता, लोक मूढ़ता, पाषंडी मूढ़ता (गुरु मूढ़ता) इन सबसे सम्यक्दृष्टि दूर रहता है। विवेक और निर्भयता से काम लेता है।

जिसमें इन पच्चीस दोषों में से कोई से भी दोष दिखाई देते हैं, वह सम्यक्त्व से हीन होता है फिर वह चाहे व्यवहार में कितना ही कुशल होवे, ऊपर से सब कुछ अच्छा करता हो परन्तु जहाँ श्रद्धान मान्यता में ही अंतर होवे, फिर वहाँ क्या है ? वह तो हमेशा संसार में ही भ्रमण करेगा। सम्यक्दर्शन संसार की मौत है फिर वह संसार में नहीं रह सकता।

इसलिये तारण स्वामी इस श्रावकाचार ग्रन्थ में सबसे पहले सम्यक्त्व की बात करते हैं। अत्रत सम्यक्दृष्टि के गुण लक्षण विशेषता सब बताते हैं। इन सबको

देखकर अपने में अपना निर्णय करें तभी मुक्ति का मार्ग बनता है। श्रावक के व्रत संयम तप पालना तभी सार्थक है जब मूल में सम्यक्दर्शन होवे। आत्मा के श्रद्धान बिना धर्म का मार्ग बनता नहीं है। अव्रत असंयम पापादि का सेवन करने से नरक तिर्यच गति में जाना पड़ेगा। व्रत संयम पुण्यादि का सेवन करे और मूल में सम्यक्त्व न होवे तो उससे देवगति मनुष्य गति में ही चक्कर लगाना पड़ेंगे, मोक्ष नहीं मिल सकता। मोक्ष तो भेदज्ञान पूर्वक शुद्धात्मानुभूति के बगैर मिलता ही नहीं है। हमें इस मनुष्य भव में तीन शुभयोग मिले हैं- १. बुद्धि, २. औदारिक शरीर, ३. पुण्य का उदय, इन तीनों का सदुपयोग करें, तो हम विवेकवान मानव हैं, इनका सदुपयोग करने से ही सम्यक्दर्शन की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होता है।

१. बुद्धि से- तत्व का निर्णय, भेदज्ञान करें, इसी से सम्यक्दर्शन होता है।

२. शरीर से - संयम तप का पालन करें इससे सद्गति मिलती है।

३. पुण्य के उदय से- परोपकार दान आदि करें, जिससे संसारी ऐश्वर्य मिलता है। सम्यक्त्व का महात्म्य अपूर्व है। निश्चय सम्यक्दर्शन जिसको होता है उसे ही शुद्धात्मानुभूति होती है। आत्मीक आनंद अमृत स्वरूप है, विषय सुख विष स्वरूप है, ऐसा अनुभव उसकी श्रद्धा में हो जाता है। वह ज्ञान वैराग्य से परिपूर्ण होता है। उसका हर एक कार्य विवेक पूर्वक होता है। सम्यक्त्वी पच्चीस दोष रहित आचरण करता है इसलिये उसका निर्दोष व्यवहार होता है। वह बड़ा दयावान, परोपकारी, मिष्टवादी, शांत प्रकृति धारी, धर्म प्रेमी नास्तिकता रहित होता है। यथार्थ तत्व का वह स्वयं अनुभव करता है और दूसरों को वह तत्व ज्ञान के मार्ग में प्रेरक होता है। वह संसार की माया को नाशवंत समझकर इसके लिये अन्याय पापादि नहीं करता। मोक्षमार्ग पर चलता है परंतु जिसके यह आत्मानुभव रूप यथार्थ तत्व ज्ञानमय सम्यक्दर्शन नहीं होता वह जीव विषय वासना सहित व्यवहार धर्म व तप आदि का पालन करता है तो भी संसार से कभी पार नहीं हो सकता। स्वर्गादि जाकर भी फिर एकेन्द्रिय पशु पर्याय में जन्म ले लेता है। वह शरीर का मोही, शरीर को बार-बार धारण किया करता है; इसलिये जो सम्यक्दृष्टि है वही मोक्षमार्गी एवं मोक्षगामी होता है इसी को आगे कहते हैं-

संमिक्त जस्य हृदयं सार्धं, व्रत तप क्रिया संजुतं ।

सुद्ध तत्त्वं च आराध्यं, मुक्ति गामी न संसयः ॥ १९४ ॥

अन्वयार्थ- (संमिक्त जस्य हृदयं सार्धं) जिसके हृदय में सच्चा श्रद्धान है

(व्रत तप क्रिया संजुतं) तथा व्रत तप क्रिया सहित है (सुद्ध तत्त्वं च आराध्यं) और शुद्ध आत्मीक तत्व का आराधन करता है (मुक्ति गामी न संसयः) वह मुक्तिगामी है, अवश्य मोक्ष जायेगा इसमें कोई संशय नहीं है।

विशेषार्थ- सम्यक्दर्शन की महिमा अपूर्व है, जिसे एक बार उपशम सम्यक्त्व हो गया वह निश्चय मोक्ष जायेगा; क्योंकि सम्यक्दर्शन होने का मतलब ही है कि अर्द्ध पुद्गल परावर्तन काल शेष रह गया, काल लब्धि आ गई है अर्थात् संसार की मौत होना निश्चित हो गया है। अब उस जीव को कोई शक्ति संसार में रोककर नहीं रख सकती। जैसे-

दल बल देवी देवता, मात पिता परिवार ।

मरती बिरिया जीव को, कोई न राखनहार ॥

वैसे ही- **राग द्वेष और मोहनीय, अन्तराय बलवान ।**

सम्यक्दर्शन होत ही, सबकी होत है हान ॥

तत्वसार में देवसेनाचार्य यही कहते हैं-

कालाइलद्धि णियडा जह जह संभवइ भव्यपुरिसस्स ।

तह तह जायइ णूणं सुसव्वसामग्गि मोक्खडं ॥ १२ ॥

जैसे-जैसे भव्य पुरुष की काल आदि लब्धियाँ निकट आती जाती हैं, वैसे-वैसे ही निश्चय से मोक्ष के लिये उत्तम सर्व सामग्री प्राप्त हो जाती है।

यहाँ प्रश्न है कि वह उत्तम सर्व सामग्री कौन सी और किस प्रकार की है ?

उसका उत्तर- आदि में सम्यक्त्व, पुनः पंच अणुव्रत, पुनः पंच महाव्रत, पुनः धर्म ध्यान और अन्त में शुक्ल ध्यान की प्राप्ति होना उत्तम सामग्री है।

यहाँ कहते हैं जिसके हृदय में सच्चा श्रद्धान है अर्थात् मैं आत्मा हूँ और मुझे मुक्त होना है। कर्मों को क्षय करने के लिये, पुनः कर्म बन्ध से बचने के लिये जो व्रत, संयम, तप आदि की साधना करता है; क्योंकि - द्रव्य संयम के बिना भाव संयम नहीं होता तथा पापों से हटे बचे बिना कर्म बन्धन नहीं रुकता।

पापों का एकदेश त्याग अणुव्रत और पापों का सर्वदेश त्याग महाव्रत है; तो जिसे धर्म की उपलब्धि हो गई वह पापों से न हटे न बचे ऐसा हो ही नहीं सकता।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि जब जीव त्रिकाल शुद्ध है, उसमें यह कर्मादि हैं ही नहीं और जब वह पर में कुछ करता ही नहीं है, कर ही नहीं सकता तो फिर यह व्रत संयम तप करने का प्रश्न ही नहीं है; क्योंकि यह सब क्रिया तो शरीर की होती है ?

उसका समाधान करते हैं कि द्रव्य दृष्टि से जीव त्रिकाल शुद्ध है परंतु पर्याय से तो अभी अशुद्ध है। सिद्ध के समान अशरीरी शाश्वत अविनाशी निरंजन है परंतु अभी वर्तमान में तो शरीर में है। कर्म संयोग निमित्त-नैमित्तिक संबंध है; क्योंकि अगर इस बात को नहीं मानते हैं तो एकान्तवादी निश्चयाभासी, अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि हो जाओगे। ज्ञानी तो वह है जो वस्तु स्वरूप को यथार्थ जैसे का तैसा जानता मानता है तथा मोक्ष का मतलब जीव और पुद्गलादि कर्मवर्गणाओं का शुद्ध होकर भिन्न-भिन्न हो जाना है। दोनों शुद्ध न होंगे तो मोक्ष भी नहीं हो सकता, जितने पुद्गलादि कर्म वर्गणा जिस जीव के साथ लगे हैं, वह भी शुद्ध होंगे तभी मुक्ति है, तो जब जीव को निज शुद्धात्मानुभूति, धर्म का आश्रय सम्यक्दर्शन होता है उसी समय से कर्मों की असंख्यात गुणी निर्जरा होने लगती है। कर्म स्वयं भागने लगते हैं और शरीर के द्वारा व्रत संयम तप अपने आप होने लगता है। देखने में, कहने में ऐसा आता है कि यह किये जा रहे हैं परन्तु सम्यक्दृष्टि के वह अपने आप होते हैं। जैसे- बीज को बोने का लक्ष्य फल पाना है परन्तु बीज में अंकुर पत्ते टहनी फूल आदि भी होते हैं, न होवें ऐसा होता ही नहीं है, अन्त में फल मिलता है। इसी प्रकार सम्यक्दृष्टि को, जिसका लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है, उसको भी यह सब व्रत तप आदि होते हैं, न होवें ऐसा हो ही नहीं सकता। अत्रती असंयमी, गृहस्थ कभी भी मोक्ष नहीं जा सकता। मोक्ष प्राप्ति के लिये प्रथम महाव्रती साधु होना आवश्यक है इसके बगैर सिद्ध पद होता ही नहीं है। इसी बात को तारण स्वामी ने पंडित पूजा ग्रन्थ में कहा है-

एतत् संमिक्त पूजस्या, पूजा पूज्य समाचरेत् ।

मुक्ति श्रियं पंथं सुद्धं, विवहार निश्चय सास्वतं ॥ ३२ ॥

यहाँ दो बातें बताई हैं -

१. सच्ची पूजा क्या है ? पूज्य के समान आचरण ही सच्ची पूजा है।

२. मुक्ति का शुद्ध पथ सच्चा मार्ग क्या है ? जो निश्चय-व्यवहार से शाश्वत है जिसकी अंतरंग और बहिरंग दशा एक सी होती है वही मोक्षमार्गी है।

यहाँ कोई कहे, हमारे भाव तो शुद्ध हैं, क्रिया कैसी होती रहे उससे क्या लेना देना ?

उससे कहते हैं कि भाई ! ऐसा त्रिकाल में नहीं होता। सूर्य का उदय होवे और रात्रि भी रहे, प्रकाश अंधकार दोनों एक साथ नहीं होते। इसी प्रकार जहाँ भाव शुद्ध होवे और क्रिया अशुद्ध होवे ऐसा त्रिकाल हो नहीं सकता।

यहाँ प्रश्न कर्ता तर्क करता है कि जैसे डाक्टर और डाकू दोनों की क्रिया एक और अभिप्राय भाव में अंतर होता है और उसी रूप परिणामन मिलता है फिर यह कैसे नहीं हो सकता ?

उससे कहते हैं कि यह शुभ-अशुभ भावों की बात है। शुभ भाव में अशुभ क्रिया और अशुभ भाव में शुभ क्रिया यह तो संसार में चलता है परन्तु जहाँ शुद्ध भाव होवे वहाँ अशुभ क्या, शुभ क्रिया भी होवे तो भी नहीं हो सकती। प्रत्यक्ष प्रमाण है जब कि छठे गुणस्थानवर्ती साधु सातवें गुणस्थान में जाते हैं, एक समय के लिये शुद्धोपयोग शुद्ध स्वभाव में लीन होते हैं तो सारी क्रिया रुक जाती है। यह शुद्ध स्वभाव धर्म की महिमा है इसलिये जो बात जैसी है, उसे उस रूप में जानना मानना ही हितकारी है। धर्म मार्ग पर चलने वाले की निश्चय में अंतरंग में अपने शुद्धात्म स्वरूप की साधना आराधना चलती है और बाहर से यह सब संयम तप आदि भी होते हैं। वही मोक्षमार्गी है, वह अवश्य मोक्ष जायेगा, इसमें कोई संशय नहीं है।

यहां इतना जोर देकर कहने का अभिप्राय यह है कि अभी तक धर्म के स्वरूप को जानने मानने की बात थी, सम्यक्दर्शन की विशेषता थी। जिसने ऐसे सत्य धर्म को स्वीकार कर लिया निज शुद्धात्मानुभूति, निश्चय सम्यक्दर्शन हो गया, जो अन्तरात्मा है वह परमात्मा होने का पुरुषार्थ करता है। धर्म मार्ग पर चलता है तो उसकी साधना का क्रम क्या है ? धर्मी जीव का प्रारंभिक मार्ग कहाँ से कैसे बनता है इसका वर्णन इस श्रावकाचारजी ग्रन्थ में सद्गुरु तारण स्वामी आगे विशेष महत्व लिये हुए आगम और अनुभव के आधार पर स्वयं के जीवन का प्रामाणिक स्वरूप आगे बता रहे हैं।

मुक्ति मार्ग का पथिक अन्तरात्मा

मुक्ति मार्ग के पथिक तीन प्रकार के होते हैं, जिन्हें शास्त्रीय भाषा में पद या लिंग कहते हैं- १. सामान्य गृहस्थ, २. त्यागी व्रती, ३. महाव्रती साधु। यहाँ उनका स्वरूप बताया जा रहा है -

लिंगं च जिनं प्रोक्तं, त्रिय लिंगं जिनागमं ।

उत्तम मध्यम जघन्यं च, क्रिया त्रेपन संजुतं ॥ १९५ ॥

उत्तमं जिन रूवी च, मध्यमं च मति श्रुतं ।

जघन्यं तत्त्व सार्धं च, अविरतं संमिक दिस्टितं ॥ १९६ ॥

लिंगं त्रिविधं उक्तं, चतुर्थं लिंगं न उच्यते ।

जिन सासने प्रोक्तं च, संमिक दिस्टि विसेसतं ॥ १९७ ॥

अन्वयार्थ- (लिंगं च जिनं प्रोक्तं) जिनेन्द्र परमात्मा ने लिंग अर्थात् पद कहे हैं (त्रिय लिंगं जिनागमं) तीन लिंग जिनागम में मुक्ति मार्ग पर चलने वालों के बताये हैं (उत्तम मध्यम जघन्यं च) उत्तम मध्यम और जघन्य (क्रिया त्रेपन संजुतं) जो त्रेपन क्रिया सहित होते हैं ।

(उत्तमं जिन रूवी च) उत्तम जिनेन्द्र परमात्मा जैसे रूपवाला (मध्यमं च मति श्रुतं) मध्यम जो मति श्रुत ज्ञानधारी श्रावक है (जघन्यं तत्त्व सार्धं च) और जघन्य जो तत्त्व का श्रद्धानी (अविरतं संमिक दिस्टितं) अविरत सम्यक्दृष्टि है ।

(लिंगं त्रिविधं उक्तं, चतुर्थं लिंगं न उच्यते) लिंग तीन प्रकार के कहे गए हैं, चौथा लिंग नहीं कहा गया है (जिन सासने प्रोक्तं च) जिनशासन और जिनवाणी में यही कहे गए हैं (संमिक दिस्टि विसेसतं) इनमें सम्यक्दर्शन और सम्यक्दृष्टि की विशेषता है ।

विशेषार्थ- जिन जीवों को भेदज्ञान पूर्वक स्व-पर का ज्ञान, जीव और कर्म पुद्गल शरीरादि की भिन्नता भाषित हो जाती है तथा आत्मानुभूति, अपने सत्स्वरूप का दर्शन हो जाता है वह अन्तरात्मा सम्यक्दृष्टि मोक्षमार्ग के पथिक होते हैं; क्योंकि बगैर सम्यक्दर्शन के मोक्षमार्ग बनता नहीं है तो जिनेन्द्र परमात्मा जिन्होंने अनन्त चतुष्टय केवलज्ञान प्रगट कर लिया है । जो अरिहन्त सर्वज्ञ, वीतरागी, हितोपदेशी देव पद पर विराजमान हो गये, उनसे प्रार्थना की गई कि प्रभु आप तीन लोक के नाथ जगत उद्धारक, दीनदयाल करुणा सिंधु पतितोद्धारक हैं, आप हमें पार लगाइये, हम आपकी प्रार्थना भक्ति पूजन वन्दना करते हैं । तब जिनेन्द्र परमात्मा ने कहा कि हे भव्य जीवो ! मैं जिस मार्ग से चलकर आया हूँ और इस पद पर पहुँचा हूँ, वैसे तुम भी हो सकते हो, मैं किसी का भला-बुरा नहीं कर सकता, न किसी को पार लगा सकता हूँ, जिस विधि से मैं पार हुआ हूँ, वह विधि मार्ग तुम्हें बताता हूँ, तुम भी ऐसा प्रयत्न पुरुषार्थ करो तो तुम मुझ जैसे हो सकते हो । देखो, इस शरीर से भिन्न तुम जीव आत्मा हो, यह शरीर तुम नहीं हो; क्योंकि यह प्रत्यक्ष अनुभव प्रमाण जानने में आता है कि इस शरीर से चेतन तत्त्व जीव आत्मा निकल जाता है तब इस शरीर को जला दिया जाता है और यह सब संयोगी पदार्थ भी छूट जाते हैं इसलिये भेदज्ञान पूर्वक

निर्णय करो । अपने सत्स्वरूप का श्रद्धान करो तो तुम आत्मा से परमात्मा हो सकते हो ।

प्रश्न किया गया कि प्रभो ! हम तो अज्ञानी संसारी प्राणी हैं, पाप परिग्रह घर गृहस्थी में कैसे हैं, हम कैसे मुक्ति मार्ग पर चल सकते हैं ?

जिनेन्द्र परमात्मा ने कहा कि तुम इसी दशा में ऐसे रहते हुए भी धर्म को उपलब्ध हो सकते हो, मुक्तिमार्ग पर चल सकते हो । इसके लिये जिनागम में जघन्य लिंग, मध्यम लिंग, उत्तम लिंग यह तीन लिंग (पद) बताये हैं ।

जघन्य लिंग, सामान्य गृहस्थ अव्रत सम्यक्दृष्टि जिसे तत्त्व की यथार्थ श्रद्धा हो गई है, वही इस मार्ग का पहला और सच्चा पथिक होता है । चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अव्रत सम्यक्दृष्टि होता है वह जब आगे बढ़ता है, शुद्धात्म स्वरूप ध्रुव तत्त्व की साधना करता है, उसकी पात्रता बढ़ती है तो वह मध्यमलिंग व्रतधारी श्रावक हो जाता है, जिसके मति श्रुत ज्ञान की विशेष निर्मलता में आत्म आराधना और संयम तप की साधना होती है । वह पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक कहलाता है । जो घर परिवार समाज के बीच रहता हुआ अपनी आत्म साधना करता है ; क्योंकि जिसे आत्मानुभूति हो जाती है, उसकी बड़ी अपूर्व दशा हो जाती है । वह निरंतर अपने सिद्ध स्वरूप ध्रुव तत्त्व शुद्धात्मा को ही देखता है । उसी के स्मरण ध्यान में रत रहता है ; क्योंकि जिसे अतीन्द्रिय आनंद अमृत का स्वाद मिल गया है, वह उसे कैसे छोड़ सकता है । मजबूरी कर्मवशात् इस कर्म संयोग में रहना पड़ता है । जैसे साधना की स्थिति पात्रता बढ़ती है, वही उत्तम लिंग निर्ग्रन्थ दिगम्बर वीतरागी जिन रूपी साधु हो जाता है ।

छठे-सातवें गुणस्थान में झूला झूलता है । लक्ष्य तो परमात्म पद पूर्ण शुद्ध सिद्ध दशा का, मुक्ति को प्राप्त करने का है । अपने रत्नत्रय स्वरूप की साधना में रत रहता है, इससे पात्रता बढ़ती है, श्रेणी माड़ता है और आठवें गुणस्थान से एक अन्तर्मुहूर्त में तेरहवाँ गुणस्थानवर्ती अरिहन्त सर्वज्ञ केवलज्ञानी परमात्मा हो जाता है । आयु आदि अघातिया कर्म क्षय होने पर पूर्ण शुद्ध सिद्ध परमात्मा हो जाता है ।

यहाँ विशेषता प्रमुखता सम्यक्दर्शन की है । जिन शासन में इसी अपेक्षा मुक्ति का मार्ग कहा गया है । बगैर सम्यक्त्व के मुक्ति का मार्ग नहीं बनता इसलिये अपने आत्म स्वरूप का श्रद्धान करो । शरीरादि पर पदार्थों से भेद भिन्नता करो और मुक्तिमार्ग पर चलो इसी के लिये यह मनुष्य भव और सब शुभयोग मिले हैं । मुक्तिमार्ग पर चलने

का, धर्म साधना करने का यही क्रम है। इसी क्रम से चलकर सब जीव मुक्त हो सकते हैं। जो हुए हैं, वह भी इसी क्रम से हुए हैं यही बात मालारोहण जी ग्रंथ में बताई है।

जे सिद्ध नंतं मुक्ति प्रवेसं, सुद्धं सरूपं गुण माल ग्रहितं ।

जे केवि भव्यात्म संमिक्त सुद्धं, ते जाति मोष्यं कथितं जिनेन्द्र ॥ ३२ ॥

अब, जो जीव सम्यक्दर्शन सहित अन्तरात्मा मुक्ति के मार्ग पर चलते हैं, उनकी अन्तरंग और बहिरंग दशा बाह्य आचरण कैसा होता है। इसे क्रम से आगे की गाथाओं में कहते हैं, जघन्य अव्रती श्रावक अट्टारह क्रियाओं का पालक होता है -

जघन्यं अव्रत नामं च, जिन उक्तं जिनागमं ।

सार्धं न्यान मयं सुद्धं, दस अष्ट क्रिया संजुतं ॥ १९८ ॥

संमिक्तं सुद्ध धर्मस्य, मूल गुणस्य उच्यते ।

दानं चत्वारि पात्रं च, सार्धं न्यानं मयं ध्रुवं ॥ १९९ ॥

दर्शन न्यान चारित्रं, विसेषितं गुण पर्जयं ।

अनस्तमितं सुद्ध भावस्य, फासू जल जिनागमं ॥ २०० ॥

अन्वयार्थ- (जघन्यं अव्रत नामं च) जघन्य लिंग अव्रत नाम का (जिन उक्तं जिनागमं) जिनेन्द्र भगवान ने जिनागम में कहा है (सार्धं न्यान मयं सुद्धं) जो अपने ज्ञानमयी शुद्ध स्वभाव का श्रद्धान करता है (दस अष्ट क्रिया संजुतं) और अटारह क्रियाओं सहित होता है।

(संमिक्तं सुद्ध धर्मस्य) शुद्ध धर्म का श्रद्धानी (मूल गुणस्य उच्यते) और जो मूलगुण कहे गये हैं (दानं चत्वारि पात्रं च) चार प्रकार के दान पात्रों को देता है (सार्धं न्यानं मयं ध्रुवं) और अपने ज्ञानमयी ध्रुव स्वभाव की साधना करता है।

(दर्शन न्यान चारित्रं) दर्शन ज्ञान और चारित्र की (विसेषितं गुण पर्जयं) गुण पर्याय विशेषता से साधना करता है (अनस्तमितं सुद्ध भावस्य) शुद्ध भाव प्रगट होने से, दिन डूबने के बाद भोजन नहीं करता (फासू जल जिनागमं) और फासू अर्थात् प्रासुक जल जैसा जिनागम में बताया है वैसा सेवन करता है।

विशेषार्थ- जघन्य लिंग अव्रत सम्यक्दृष्टि का स्वरूप जिनेन्द्र भगवान ने जिनागम में कहा है, जो अपने ज्ञानमयी शुद्ध स्वभाव का श्रद्धान करता है तथा अटारह क्रियाओं सहित होता है।

१. सम्यक्त्व - सच्चे धर्म का श्रद्धानी, २. आठ मूलगुण- मद्य, मांस, मधु और पाँच उदम्बर फल-बड़, पीपल, ऊमर, कटूमर, पाकर इनका त्यागी, ३. चार प्रकार का दान-आहार दान, औषधि दान, अभय दान और ज्ञान दान पात्र जीवों को देना, ४. सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रत्नत्रय की गुण, पर्याय की विशेषता से साधना करना, ५. सूर्य अस्त होने के दो घड़ी (४८ मिनट) पहले भोजन कर लेना अर्थात् रात्रि भोजन का त्यागी, ६. प्रासुक जल, पानी छानकर पीना। इन अटारह क्रियाओं का शुद्ध भाव से जिनागम के अनुसार पालन करता है वह जघन्य पात्र अव्रत सम्यक्दृष्टि होता है, जो मुक्ति का प्रारंभिक पथिक है।

बहिरात्मा से अन्तरात्मा होना और परमात्मा बनने की ओर बढ़ना यही आत्म कल्याण का मार्ग है। यह जीव आत्मा अनादिकाल से बहिरात्म भाव से संसार में रुल रहा है। अन्तरात्म भाव जाग्रत हो जाना ही इष्ट उपादेय और प्रयोजनीय है। यह पुद्गलादि को देख रहा है और यही मैं हूँ ऐसा मान रहा है, यही बहिरात्मपना, बहिरात्म भाव है जिससे संसार का परिभ्रमण नाना प्रपंच पुण्य-पाप का चक्कर, कर्मादि निमित्त बने हैं। मैं एक अखंड अविनाशी ध्रुव तत्व ज्ञानानंद स्वभावी भगवान आत्मा हूँ, यह शरीरादि मैं नहीं और यह मेरे नहीं, एक बार अन्तरंग में ऐसी हुंकार गूँज जाये तो बेड़ा पार है, यही अन्तरात्मपना है और इससे मुक्ति मार्ग स्वयं घटित होता है। आगे पैंतीस क्रियाओं का वर्णन कर रहे हैं-

एतत् क्रिया संजुक्तं , सुद्ध संमिक्त धारना ।

प्रतिमा व्रत तपस्चैव , भावना कृत सार्धयं ॥ २०१ ॥

अन्वयार्थ- (एतत् क्रिया संजुक्तं) इस प्रकार अट्टारह क्रियाओं सहित (सुद्ध संमिक्त धारना) शुद्ध सम्यक्त्व धारी (प्रतिमा व्रत तपस्चैव) ग्यारह प्रतिमा बारह तपो की (भावना कृत सार्धयं) साधना करने की भावना करता है।

विशेषार्थ- यहाँ श्रावक की त्रेपन क्रियाओं का स्वरूप बताया जा रहा है जिनमें से अटारह क्रियायें जघन्य पात्र अव्रत सम्यक्दृष्टि के जीवन में होती हैं, शेष पैंतीस क्रियायें व्रती श्रावक अपनी पात्रतानुसार पालता है। धर्म मार्ग पर चलने में यह व्यवहार और निश्चय का समन्वय आवश्यक है; क्योंकि संसार में सभी जीव कर्म संयोग में हैं, इनसे छूटने के लिये बाह्य व्रत संयम तप भी आवश्यक हैं। जिस संयोग वातावरण कार्य कारण में रह रहे हैं, जब तक उससे बचेंगे हटेंगे नहीं, तब तक वह क्रिया तथा

उस तरफ के भाव भी नहीं छूट सकते इसलिये साधक दोनों तरफ से साधना और संभाल करता हुआ चलता है।

त्रेपन क्रियाओं का विशेष वर्णन रयणसार एवं क्रियाकोष आदि ग्रन्थों में भी है।

गुण वय तव सम पडिमा दाणं जल गालणं च अणत्थमियं ।

दंसण णाण चरित्तं, किरिया तेवण्ण सावया भणिया ॥

आठ मूल गुण, बारह व्रत, बारह तप, सम्यक्त्व, ग्यारह प्रतिमा, चार दान, जल गालन, रात्रि भोजन का त्याग, सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की साधना इस प्रकार त्रेपन क्रियायें हैं। इनमें अठारह क्रियाओं का पूर्व में वर्णन किया जा चुका है, शेष पैंतीस क्रियाओं का वर्णन यहाँ कर रहे हैं।

ग्यारह प्रतिमा- दर्शन प्रतिमा, व्रत प्रतिमा, सामायिक प्रतिमा, प्रोषधोपवास प्रतिमा, सचित्त प्रतिमा, अनुराग भक्ति प्रतिमा, ब्रह्मचर्य प्रतिमा, आरंभ त्याग प्रतिमा, परिग्रह त्याग प्रतिमा, अनुमति त्याग प्रतिमा, उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा।

बारह व्रत-पंचअणुव्रत- १. अहिंसा अणुव्रत (संकल्पी त्रस हिंसा का त्याग), २. सत्य अणुव्रत, ३. अचौर्य अणुव्रत, ४. ब्रह्मचर्य अणुव्रत (स्वस्त्री संतोष), ५. परिग्रह का प्रमाण (सम्पत्ति आदि का प्रमाण कर लेना)

तीन गुणव्रत- १. दिग्व्रत- जन्म पर्यंत लौकिक कार्यों के लिये दस दिशाओं में जाने की मर्यादा करना। २. देशव्रत- जो मर्यादा ली है उसमें से और घटाकर प्रतिदिन का नियम लेना। ३. अनर्थदंड व्रत- व्यर्थ के पाप करने का त्याग, जैसे पाप का उपदेश, अपध्यान खोटा विचार, हिंसाकारी वस्तु देना, खोटी कथाओं का पढ़ना, सुनना और प्रमादचर्या करना।

चार शिक्षाव्रत- १. सामायिक- सुबह, दोपहर, सायं यथाशक्ति एकान्त में बैठकर धर्म ध्यान करना। २. प्रोषधोपवास- अष्टमी व चतुर्दशी को व्रत करना। ३. भोगोपभोग परिमाण- पांचों इन्द्रियों की भोग्य वस्तुओं का नित्य प्रमाण करना। ४. अतिथि संविभाग- पात्रों को दान देकर भोजन करना।

बारह तप- छह बाह्य तप- १. उपवास- चारों प्रकार के आहार का त्याग करना, २. उन्नोदर- भूख से कम खाना, ३. वृत्ति परिसंख्यान- कोई प्रतिज्ञा लेकर आहार को जाना, ४. रस परित्याग- दूध, दही, घी, तेल, नमक, मीठा, हरी सब्जी इनमें से एक या अनेक रसों का त्याग करना, ५. विविक्त सय्याशन- एकांत में सोना बैठना, चिंतन मनन करना, ६. काय क्लेश- शरीर का सुखियापना मिटाने के लिये

कठोर कठिन स्थानों पर बैठना तप करना।

छह अन्तरंग तप- १. प्रायश्चित्त- कोई दोष लगने पर दंड लेकर शुद्ध होना, २. विनय- धर्म व धर्मात्माओं का आदर करना, ३. वैयावृत्य- रोगी- दुःखी निराश्रय धर्मात्मा, भाईयों बहिनों की सेवा करना, ४. स्वाध्याय- शास्त्रों को पढ़ना व विचारना, ५. व्युत्सर्ग- शरीरादि से ममत्व त्यागना, ६. ध्यान- आत्म ध्यान का अभ्यास करना।

इन त्रेपन क्रियाओं का पालन करने वाला श्रावक होता है, जघन्य पात्र अव्रत सम्यक्दृष्टि अठारह क्रियाओं का पालन करता हुआ इन पैंतीस क्रियाओं के पालन करने की भी भावना करता है, यथाशक्य पालता भी है; परंतु अभी गृहस्थ दशा में मोहनीय कर्म की तीव्र सत्ता होने से अव्रत दशा पाप-परिग्रह आदि संसारी प्रपंच में ही फंसा रहता है परंतु उसकी भावना छटपटाहट तो प्रबल रहती है कि कब इन सब प्रपंचों से मुक्त होकर अपने आत्मीक आनंद में रहूँ। वह तो सिंह पींजरे में दियो, जोर चले कछु नहीं, जैसी स्थिति में रहता है। ज्ञान का अपूर्व माहात्म्य है -

ज्यों दीपक रजनी समै, चहुं दिसि करे उद्योत ।

प्रगटे घटपट रूप में, घटपट रूप न होत ॥

त्यों सुज्ञान जाने सकल, ज्ञेय वस्तु को मर्म ।

ज्ञेयाकृति परिनवै पै, तजे न आतम धर्म ॥

ज्ञान धर्म अविचल सदा, गहे विकार न कोई ।

राग विरोध विमोहमय, कबहुं भूलि न होई ॥

ऐसी महिमा ज्ञान की, निहचै है घट मांहि ।

मूरख मिथ्यादृष्टि सों, सहज विलोके नांहि ॥

ज्ञानी अन्तरात्मा का चिन्तन स्वयं के दोषों की आलोचना रूप होता है।

ज्ञानवंत अपनी कथा, कहै आपसों आप ।

मैं मिथ्यात दशा विषै, कीने बहुविधि पाप ॥

ज्ञानी क्या विचार करता है नाटक समयसार में कहा है -

हिरदे हमारे महामोह की विकलताई,

ताते हम करुना न कीनी जीव घात की ।

आप पाप कीने औरनि को उपदेश दीने,

हुती अनुमोदना हमारे याही बात की ॥

मन वचन काया में मगन है कमाये कर्म,
 धाये भ्रमजाल में कहाये महापातकी ।
 ज्ञान के उदय भए हमारी दशा ऐसी भई,
 जैसे भानुभासत अवस्था होत प्रात की ॥

अव्रत सम्यक्त्वी का निर्णय क्या होता है इसे कहते हैं-
 सम्यकव्रत कहै अपने गुन, मैं नित राग विरोध सौं रीतो ।
 मैं करतूति करूँ निरवच्छक, मोहि विषै रस लागत तीतो ॥
 सुद्ध सुचेतन को अनुभौ करि, मैं जग मोह महाभट जीतो ।
 मोख समीप भयो अब मो कहूँ, काल अनंत इही विधि बीतो ॥

इस प्रकार अन्तरात्मा जघन्यपात्र अव्रत सम्यक्दृष्टि सामान्य ग्रहस्थ मोक्षमार्ग के पथिक का निर्णय और सत्यधर्म का श्रद्धान किस रूप होता है, उसका वर्णन अभी तक किया । आगे उसका जीवन कैसा होता है इसका स्वरूप वर्णन करते हैं; क्योंकि जीवन में निश्चय और व्यवहार का समन्वय पात्रतानुसार होना आवश्यक है ।

यहाँ एक प्रश्न आता है कि सम्यक्त्व के कई भेद बताये गये हैं तो कौन सा सम्यक्त्व कार्यकारी है इसे और स्पष्ट करें ?

उसका स्पष्टीकरण सद्गुरु इस गाथा में कर रहे हैं-

अन्या संमिक्त संमिक्तं, भाव वेदक उपसमं ।

क्षायिकं सुद्ध भावस्य, संमिक्तं सुद्धं ध्रुवं ॥ २०२ ॥

अन्वयार्थ- (अन्या संमिक्त संमिक्तं) सम्यक्त्व कोई सा भी हो, आज्ञा सम्यक्त्व (भाव वेदक उपसमं) उपशम सम्यक्त्व, वेदक सम्यक्त्व तथा (क्षायिकं सुद्ध भावस्य) क्षायिक सम्यक्त्व हो या शुद्ध स्वभाव की अनुभूति रूप (संमिक्तं सुद्धं ध्रुवं) शुद्ध सम्यक्त्व हो जो शुद्ध है ध्रुव है ।

विशेषार्थ- यहाँ यह प्रश्न करने पर कि सम्यक्त्व कौन सा कार्यकारी है ? इसके समाधान में सद्गुरु कहते हैं- सम्यक्त्व कोई सा हो आज्ञा सम्यक्त्व हो, उपशम सम्यक्त्व हो, वेदक सम्यक्त्व हो, क्षायिक सम्यक्त्व हो, निज शुद्ध स्वभाव की अनुभूति स्वरूप शुद्ध सम्यक्त्व हो, सम्यक्त्व ही शुद्ध है ध्रुव है ।

सम्यक्दर्शन की अपेक्षा सम्यक्त्व में कोई भेद नहीं है, एक समय की निज शुद्धात्मानुभूति जो संसारी जीव को होती है, वही अनुभूति सिद्ध परमात्मा को सिद्ध

दशा में होती है इसमें कोई भेद नहीं है । जैसे- मिश्री के एक कण का जो स्वाद एक सामान्य आदमी को आता है, वैसा ही बड़ी डली का स्वाद बड़े आदमी को आता है, मिठास अनुभूति में भेद नहीं है । मिठास की मात्रा में भेद होता है । इसी प्रकार आत्मानुभूति सम्यक्दर्शन में कोई भेद नहीं है, उसकी स्थिति आदि में भेद होता है इसलिये सम्यक्त्व कोई सा हो इसमें कोई भेद नहीं है ।

यहाँ प्रश्न होता है कि सम्यक्त्व और सम्यक्दर्शन में क्या अन्तर है ?

उसका समाधान करते हैं कि सम्यक्त्व-सच्चे श्रद्धान को कहते हैं और सम्यक्दर्शन-सच्ची अनुभूति को कहते हैं ।

यहाँ प्रश्न है कि श्रद्धान और अनुभूति में क्या अंतर है ?

उसका समाधान- श्रद्धान- विश्वास जानकारी मान्यता को कहते हैं, जैसे देव गुरु धर्म का श्रद्धान, उनके भेद आदि जानना । मैं आत्मा हूँ ऐसी मान्यता को श्रद्धान कहते हैं । अनुभूति- अनुभव प्रमाण स्वीकारता । जैसे- किसी एक विषय पर उसका विशेषज्ञ जानकारी देवे, बतावे और श्रोता या विद्यार्थी उसकी बात पर विश्वास करके उसे मानने लगे, यह श्रद्धान है । जैसे- यह नमक है या मिश्री है, जो चख लेगा, स्वाद ले लेगा वह अनुभूति है और वह अनुभव प्रमाण सत्य ध्रुव होता है । श्रद्धान में शंका संशय हो सकते हैं, अनुभूति में कोई शंका संशय नहीं होता ।

तो यहाँ अन्तरात्मा वह होता है जिसे निज शुद्धात्मानुभूति हो जाती है वही जघन्य पात्र अव्रत सम्यक्दृष्टि कहलाता है और उसका जीवन इस क्रम से आगे बढ़ता है । इन सब क्रियाओं का पालन उसके जीवन में होने लगता है ।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि हम अव्रत सम्यक्दृष्टि तो हो गये परंतु अभी हमारे जीवन में व्रत नियम संयम नहीं आ रहे, तो क्या जबरदस्ती करें ?

उसका समाधान करते हैं कि भाई ! जबरदस्ती करने, नहीं करने की बात ही नहीं है, वह तो होते हैं । अगर नहीं हो रहे तो उसमें तीन कारण हो सकते हैं-

१. हम स्वयं स्वच्छन्दी मिथ्यादृष्टि हैं, अपने आपको अव्रत सम्यक्दृष्टि बना रहे हैं, कहा रहे हैं जिससे हमारी शरीरादि विषयों की पूर्ति मनमानी होती रहे ।

२. विशेष कर्मोदय सत्ता में होवे, अशुभ पापादि कर्मों का उदय होवे या शरीर रोगी आदि होवे ।

३. खोटा आयुबन्ध हो गया हो, नरक तिर्यच गति में जाना हो तो व्रत नियम संयम के भाव नहीं होते; अन्यथा सम्यक्दर्शन होते ही साधुपद की छलांग लगती है,

सिद्ध पद की भावना जागती है। वर्तमान पंचमकाल में शरीरादि संहनन द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अनुकूलता न होने से एकदम छलांग न लगे परंतु नियम संयम के भाव भी न होवें ऐसा नहीं होता।

जघन्य पात्र अत्रत सम्यक्दृष्टि की अठारह क्रियाओं में पहला सम्यक्त्व सच्चे धर्म का श्रद्धान कैसा होता है उसका वर्णन करते हैं-

उपादेय गुण पदवी च, सुद्ध संमिक्त भावना।

पदवी चत्वारि सार्धं च, जिन उक्तं सुद्ध दिस्टितं ॥ २०३॥

अन्वयार्थ- (उपादेय गुण पदवी च) गुण और पदवी को उपादेय मानता है (सुद्ध संमिक्त भावना) शुद्ध सम्यक्त्व की भावना रखता है (पदवी चत्वारि सार्धं च) चौथी पदवी की श्रद्धा साधना करता है (जिन उक्तं सुद्ध दिस्टितं) जिनेन्द्र भगवान कहते हैं वह शुद्ध दृष्टि है।

विशेषार्थ- धर्म का सच्चा श्रद्धानी शुद्ध दृष्टि कैसा होता है यह यहाँ बताया जा रहा है। जो जघन्य पात्र की पहली क्रिया सम्यक्त्व है उसका स्वरूप गाथा २०३ से २२४ तक बताया है। इसे अपने में देखें और अपने आपका निर्णय करें तभी सार्थक है। सच्चे धर्म का श्रद्धानी कैसा होता है इसे समझना आवश्यक है।

१. गुण और पदवी को उपादेय मानता है- 'गुण पर्ययवत् द्रव्यम्' गुण और पर्याय के समूह को द्रव्य कहते हैं, प्रत्येक द्रव्य में अपने-अपने अनन्त गुण होते हैं, मैं एक अखंड अविनाशी चेतनतत्व भगवान आत्मा जीव द्रव्य हूँ, जिसने ऐसा जान लिया वह अपने विशेष गुणों को प्रगट करने का पुरुषार्थ करता है। आत्मा के विशेष गुण रत्नत्रय, अनन्तचतुष्टय पंचज्ञान है और सशरीरी अरिहन्त पद, अशरीरी सिद्धपद इनको ही उपादेय मानता है और इनको प्राप्त करने का माध्यम यह तीन पद अत्रती सम्यक्दृष्टि, व्रती श्रावक और महाव्रती साधु पद हैं। इसी क्रम से बढ़ते हुए अपना उत्कृष्ट सिद्ध पद प्राप्त किया जाता है।

२. शुद्ध सम्यक्त्व की भावना रखता है- निरंतर अपने ध्रुव तत्व ममल स्वभाव में लीन रहूँ, निरंतर शुद्धोपयोग शुद्धात्मानुभूति होती रहे, विभाव परिणमन होवे ही नहीं, मैं अपने आत्मीय अतीन्द्रिय आनंद में ही लीन रहूँ, वर्तमान में कर्मोदय संयोग अपनी पात्रता की कमी के कारण उस दशा में रह नहीं पाता परन्तु इसी की भावना रखता है और कुछ नहीं चाहता।

३. चौथी पदवी का श्रद्धान, साधना करता है- पहली पदवी अत्रती सम्यक्दृष्टि, दूसरी पदवी व्रती श्रावक, इसी में आर्यिका भी आ जाती हैं, तीसरी पदवी महाव्रती साधु, इसमें आचार्य उपाध्याय आते हैं, चौथी पदवी सशरीरी केवलज्ञानी अरिहन्त और अशरीरी पूर्ण शुद्ध मुक्त सिद्ध पद है। जघन्य पात्र अत्रती सम्यक्दृष्टि इस चौथी पदवी का श्रद्धान और साधना करता है, यह उसका लक्ष्य केन्द्र बिंदु है। इसी के लक्ष्य से फिर यह सब अपने आप होते हैं। जैसे-कोई विद्यार्थी डाक्टर या इंजीनियर बनना चाहता है, तो पहले वह अपना लक्ष्य निर्धारित करता है फिर उस विषय का अध्ययन करता है। इसी प्रकार अन्तरात्मा जघन्य पात्र का लक्ष्य सिद्ध परमात्म पद प्राप्त करना है। वह संसारी पद इन्द्र चक्रवर्ती आदि किसी को इष्ट उपादेय नहीं मानता, यहाँ तक कि साधु पद को भी इष्ट नहीं मानता। उसका लक्ष्य तो सिद्ध पद ही है, इसके लिये अपनी भूमिका और पात्रतानुसार गुणस्थान क्रम से आगे बढ़ता है।

इसी बात को योगीन्दुदेव परमात्म प्रकाश में कहते हैं-

सो पर वुच्चइ लोउ परु जसु मइ तित्थु वसेई।

जहिं मइ तहिं गइ जीवह जि णियमें जेण हवेइ ॥ १११ ॥

जिस भव्य जीव की बुद्धि उस निज आत्मस्वरूप में बस रही है अर्थात् विषय-कषाय विकल्प जाल के त्याग से स्वसंवेदन ज्ञानस्वरूप कर स्थिर हो रही है। वह पुरुष निश्चय कर उत्कृष्ट जन कहा जाता है अर्थात् जिसकी बुद्धि निज स्वरूप में ठहर रही है, वह उत्तमजन है; क्योंकि जैसी मति बुद्धि होती है, वैसी ही जीव की गति निश्चयकर होती है ऐसा जिनवर देव ने कहा है; अर्थात् शुद्धात्म स्वरूप में जिस जीव की बुद्धि होवे उसकी वैसी ही गति होती है।

जिन जीवों का मन निज वस्तु में है उनको निज पद की प्राप्ति होती है, इसमें संदेह नहीं है।

जइ णिविसद्धु वि कु वि करइ परमप्पइ अणुराउ।

अग्गि कणी जिम कडु गिरी डहइ असेसु वि पाउ ॥ ११४ ॥

जो आधे निमिष मात्र भी कोई परमात्म स्वरूप में प्रीति को करे तो जैसे अग्नि की कणी काठ के पहाड़ को भस्म कर देती है, उसी तरह स्वभाव की प्रीति सब ही पापों को भस्म कर डालती है।

तो जिसकी जैसी भावना होती है उस रूप उसका कार्य भी होता है। जघन्य

पात्र अत्रत सम्यक्दृष्टि के सच्चे श्रद्धान को और आगे कहते हैं-

मति न्यानं च उत्पादंते, कमलासने कंठ स्थितं ।

उवंकारं सार्धं च, तिअर्थं सार्धं ध्रुवं ॥ २०४ ॥

कुन्यानं त्रि विनिर्मुक्तं, छाया मिथ्या तिक्तयं ।

उवं ह्रियं श्रियं सुद्धं, सार्धं न्यान पंचमं ॥ २०५ ॥

देवं गुरुं धर्मं सुद्धस्य, सुद्ध तत्व सार्धं ध्रुवं ।

संमिक दिस्टि सुद्धं च, संमिक्तं संमिक दिस्टितं ॥ २०६ ॥

अन्वयार्थ- (मति न्यानं च उत्पादंते) जिस जीव को सुमति ज्ञान उत्पन्न हो गया है (कमलासने कंठ स्थितं) उसके कमलासन पर कंठ में स्थित सरस्वती स्वरूप सुबुद्धि का जागरण हो गया (उवंकारं सार्धं च) और जो उंकार स्वरूप की साधना में रत है (तिअर्थं सार्धं ध्रुवं) वह अपने रत्नत्रयमयी ध्रुव तत्व का श्रद्धानी है ।

(कुन्यानं त्रि विनिर्मुक्तं) तीनों प्रकार के कुज्ञान से बिल्कुल मुक्त हो गया है (छाया मिथ्या तिक्तयं) मिथ्यात्व की छाया भी छूट गई है अर्थात् मिथ्यात्व की छाया भी दिखाई नहीं देती (उवं ह्रियं श्रियं सुद्धं) ॐ ह्रीं श्रीं स्वरूप शुद्ध (सार्धं न्यान पंचमं) पंचमज्ञान अर्थात् केवलज्ञान की साधना करता है ।

(देवं गुरुं धर्मं सुद्धस्य) सच्चे देव गुरु धर्म स्वरूप (सुद्ध तत्व सार्धं ध्रुवं) अपने शुद्धात्म तत्व ध्रुव स्वभाव की साधना करता है (संमिक दिस्टि सुद्धं च) वह शुद्ध सम्यक्दृष्टि है (संमिक्तं संमिक दिस्टितं) और शुद्ध सम्यक्दृष्टि का सम्यक्त्व सही है ।

विशेषार्थ- जघन्य लिंग अत्रत सम्यक्दृष्टि की पहली क्रिया सच्चा सम्यक्त्व कब होता है, क्या है ? यहाँ यह बताया जा रहा है । जिसको सुमति ज्ञान उत्पन्न हो गया है, जिसकी सुबुद्धि का जागरण हो गया, जो उंकार स्वरूप शुद्धात्म तत्व की साधना में संलग्न है, अपने रत्नत्रयमयी ध्रुव तत्व का श्रद्धानी है यही सम्यक्त्व है, इसके अंतर्गत यहाँ चार बातें प्रमुख रूप से बताई गई हैं ।

१. सुमति ज्ञान का उदय, २. सुबुद्धि विवेक का जागरण, ३. उंकार स्वरूप शुद्धात्म तत्व की साधना, ४. अपने रत्नत्रयमयी ध्रुव तत्व का श्रद्धान ।

दूसरी अपेक्षा तीन बातें और भी हैं -

१. तीनों कुज्ञानों से बिल्कुल मुक्त हो गया ।

२. मिथ्यात्व की छाया भी नहीं रही । यहाँ यह समझना है कि उपयोग के दो भेद हैं - दर्शन और ज्ञान । इन पर मिथ्यात्व कुज्ञान का आवरण होने से जीव बहिरात्मा हो रहा है । जिसके ज्ञान पर से कुज्ञान हट गया और दर्शन पर से मिथ्यात्व बिला गया वह शुद्ध सम्यक्दृष्टि है ।

३. ॐ ह्रीं श्रीं स्वरूप केवलज्ञानमयी निज शुद्धात्मा की साधना करता है ।

इसी प्रकार सच्चे देव गुरु धर्म स्वरूप अपने शुद्धात्म तत्व ध्रुव स्वभाव की साधना करता है अर्थात् इसे ही एक मात्र इष्ट उपादेय आराध्य मानता है वह शुद्ध सम्यक्दृष्टि है और ऐसे सम्यक्दृष्टि की पहली क्रिया सम्यक्त्व की साधना है ।

ज्ञान भाव ज्ञानी करे, अज्ञानी अज्ञान ।

दर्व कर्म पुद्गल करे, यह निश्चय परवान ॥

पूर्व उदै सन बंध, विषे भोगवे समकिती ।

करे न नूतन बंध, महिमा ज्ञान विराग की ॥

सम्यक्दृष्टि की दशा क्या होती है इसे नाटक समयसार में कहते हैं-

सम्यकवंत सदा उर अंतर, ज्ञान विराग उभै गुन धारे ।

जासु प्रभाव लखे निज लच्छन, जीव अजीव दसा निरवारे ॥

आतम को अनभौ करि है थिर, आप तरें अर औरनि तारें ।

साधि सुदर्व लहैं शिव सर्म, सुकर्म उपाधि विथा वमि डारे ॥

सम्यक्दृष्टि हमेशा अपने अंतर में ज्ञान और वैराग्य का चिन्तन करता है । जैसी अनुकूलता पात्रता होती है उस रूप आगे बढ़ता है । इसी बात को आगे की गाथा में कहते हैं-

संमिक्तं जस्य सुद्धं च, व्रत तप संजमं सदा ।

अनेय गुन तिस्टंते, संमिक्तं सार्धं बुधै ॥ २०७ ॥

अन्वयार्थ- (संमिक्तं जस्य सुद्धं च) जिसको सच्चा सम्यक्त्व है वह (व्रत तप संजमं सदा) हमेशा व्रत तप संयम की भावना रखता है (अनेय गुन तिस्टंते) इससे उसमें अनेक गुण आ जाते हैं अर्थात् प्रगट हो जाते हैं (संमिक्तं सार्धं बुधै) इसलिये बुद्धिमानों को सम्यक्त्व का श्रद्धान करना चाहिये ।

विशेषार्थ- जघन्य पात्र अत्रत सम्यक्दृष्टि की पहली क्रिया सम्यक्त्व की

साधना या सच्चे धर्म की श्रद्धा करना है, तो वह कैसा होता है, इसके स्वरूप का वर्णन किया जा रहा है। जिसको सच्चा सम्यक्त्व होता है वह हमेशा व्रत तप संयम की भावना रखता है और इससे उसमें अनेक गुण प्रगट हो जाते हैं। सदाचारी शांत सरल जीवन हो जाता है। क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि गुण प्रगट हो जाते हैं, सबके प्रति प्रेम वात्सल्य भाव आ जाता है। सब जीवों के प्रति करुणा अहिंसा भाव प्रगट हो जाता है। इसी बात को समयसार नाटक में कहा है—

करुणा वच्छल सुजनता, आतम निंदा पाठ ।

समता भगति विरागता, धरम राग गुण आठ ॥

१. करुणा, २. मैत्री, ३. सज्जनता, ४. स्वलघुता, ५. समता, ६. भक्ति, ७. वैराग्य और ८. धर्मानुराग – यह आठ गुण प्रगट हो जाते हैं, तथा—

चित प्रभावना भाव जुत, हेय उपादै वानि ।

धीरज हरख प्रवीनता, भूषण पंच बखानि ॥

१. धर्म की प्रभावना करने के मन में हमेशा भाव होना, २. हेय—उपादेय का विवेक, ३. धीरज, ४. प्रसन्नता और ५. तत्त्व चिन्तन में प्रवीणता यह पाँच विशेषतायें आ जाती हैं।

सम्यक्दृष्टि के यह पाँच दोष विला जाते हैं—

ज्ञान गरब मति मंदता, नितुर वचन उद्गार ।

रुद्रभाव आलस दशा, नास पंच परकार ॥

ज्ञान का गर्व, बुद्धि की हीनता, कठोर वचन बोलना, रौद्रभाव कठोर परिणाम, आलस्य, यह दोष नष्ट हो जाते हैं, तथा

लोक हासभय भोगरुधि, अग्रसोच थिति मेव ।

मिथ्या आगम की भगति, मृषादर्शनी सेव ॥

लोक हास्य का भय अर्थात् मेरे धर्माचरण करने पर लोग क्या कहेंगे इसका भय, इन्द्रियों के विषय भोगने की रुचि, अब आगे क्या होगा इसकी चिन्ता करना, कुशास्त्रों को पढ़ना, कुसंगति आदि, खेल, तमासे, नाटक, सिनेमा आदि देखने का शौक। यह पाँच बातें सम्यक्दृष्टि की छूट जाती हैं, जबकि संसारी प्राणी बहिरात्मा इन्हीं कार्य कारणों में लगा रहता है।

सम्यक्त्व सहित व्रत तप संयम मोक्षमार्ग के कारण हैं। सम्यक्त्व से हीन व्रत तप क्रिया सब जड़ के बिना वृक्ष के समान हैं। इसी बात को आगे गाथा में कहते हैं—

जस्य संमिक्त हीनस्य, उग्रं तव व्रत संजुतं ।

संजम क्रिया अकार्जं च, मूल बिना वृक्षं जथा ॥ २०८ ॥

अन्वयार्थ- (जस्य संमिक्त हीनस्य) जो सम्यक्त्व से हीन है अर्थात् सम्यक्दर्शन से रहित है (उग्रं तव व्रत संजुतं) वह उग्र अर्थात् घोर तप तपता है, व्रत सहित है (संजम क्रिया अकार्जं च) संयम सदाचार की क्रिया करता है परंतु वह सब अकार्यकारी है अर्थात् कोई कार्यकारी नहीं है (मूल बिना वृक्षं जथा) जैसे— बिना जड़ के वृक्ष नहीं हो सकता।

विशेषार्थ- यहाँ मोक्षमार्गी जघन्य पात्र अव्रत सम्यक्दृष्टि की पहली क्रिया सच्चे धर्म का श्रद्धान सम्यक्त्व है उसका वर्णन चल रहा है। सम्यक्दर्शन होने पर संयम तप के भाव होते हैं और उस रूप आचरण भी होने लगता है। यहाँ सद्गुरु कहते हैं कि यदि कोई जीव सम्यक्त्व से हीन है और वह मोक्ष के लिये उग्र तप करे व्रतों सहित हो, संयम आदि क्रियायें करे, वह सब अकार्यकारी हैं अर्थात् उनसे कभी मुक्ति नहीं हो सकती। जैसे— बिना जड़ के वृक्ष कभी नहीं होता। पहले जड़ ही अंकुरित होती है, इसके बाद पत्ते पुष्प आदि होते हैं। इसी प्रकार मोक्षरूपी फल चाहने वालों को पहले सम्यक्दर्शन मूल में होना अनिवार्य है।

इसी बात को योगीन्दुदेव योगसार में कहते हैं—

वय तव संजम मूलगुण, मूढह मोक्ख ण वुत्तु ।

जाव ण जाणइ इक्क पर सुद्धउ भाउ पवित्तु ॥ २९ ॥

जब तक एक शुद्ध पवित्र भाव निज शुद्ध स्वभाव का ज्ञान, अनुभूति नहीं होती तब तक व्रत, तप, संयम, मूलगुण आदि से हे मूढ़ ! कभी मोक्ष होने वाला नहीं है।

वय तव संजमु सीलु जिय ए सव्वई अकयत्थु ।

जाव ण जाणइ इक्क पर सुद्धउ भाउ पवित्तु ॥ ३१ ॥

व्रत, तप, संयम शील हे जीव ! यह सब कोई कार्यकारी नहीं हैं, जब तक तू अपने एक परम शुद्ध पवित्र भाव को नहीं जानता, जब तक सम्यक्दर्शन अर्थात् निज शुद्धात्मानुभूति नहीं होती, तब तक यह व्रत संयम आदि कोई भी कार्यकारी नहीं है, मात्र इनसे मुक्ति मिलने वाली नहीं है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि सम्यक्दर्शन के बगैर व्रत, तप, संयम आदि से मुक्ति नहीं मिलती यह कोई कार्यकारी नहीं हैं तो फिर यह व्रत, तप, संयम करना ही नहीं

चाहिये ?

उसका समाधान करते हैं कि भाई ! बगैर सम्यक्दर्शन के तो तीन काल में भी मुक्ति होने वाली नहीं है। यह तो परम सत्य है, मात्र व्रत संयम तप आदि से मुक्ति नहीं होती; परन्तु सम्यक्दर्शन होने पर यह भी आवश्यक हैं, इनके बगैर भी मुक्ति नहीं होती तथा वर्तमान संसारी दशा में पाप-परिग्रह में लगे रहो, संयम तप न करो तो नरक निगोद आदि दुर्गति में जाना पड़ेगा। संयम तप करोगे तो देवादि सद्गति जाओगे, अब कहाँ जाना चाहते हो ? यह स्वयं अपना निर्णय अपने आप करो।

करले करले रे तू निर्णय आज, तुझे कहाँ जाना है ॥

स्वर्ग नरक तिर्यच गति में, कई बार हो आया।

मनुष्य गति में भी आकर के, जरा चैन नहीं पाया ॥.....

सबका निर्णय किया हमेशा, अपना नहीं किया है।

बिन निर्णय के पगले तेरा, लगा न कहीं जिया है ॥.....

अपना निर्णय आज तू करले, तुझे कहाँ है जाना।

चारों गति संसार में रूलना, या मुक्ति को पाना ॥.....

इस संसार में सुख ही नहीं है, फिरो अनन्ते काल।

मोक्ष मार्ग में सुख ही सुख है, करलो जरा ख्याल ॥.....

सम्यक्दर्शन ज्ञान चरण ही, है मुक्ति का मारग।

पाप पुण्य शुभ अशुभ भाव सब, हैं संसारी कारक ॥.....

ज्ञानानन्द करो अब हिम्मत, शुभ संयोग मिला है।

अब के चूके फिरो भटकते, हाथ से जाये किला है ॥.....

जिसके मूल में सम्यक्त्व है, उसके धर्म वृक्ष लगता है और मोक्ष फल मिलता है इसी बात को आगे गाथा में कहते हैं-

संमिक्तं जस्य मूलस्य, साहा व्रत डाल नंतनंताई।

अवरेवि गुणा होति, संमिक्तं जस्य ह्रिदयस्य ॥ २०९ ॥

अन्वयार्थ- (संमिक्तं जस्य मूलस्य) जिसके मूल में सम्यक्त्व है (साहा व्रत डाल नंतनंताई) उसके धर्म वृक्ष की शाखा डाल, व्रत रूपी अनन्त पत्ते ऊगते हैं (अवरेवि गुणा होति) बहुत सारे गुण प्रगट हो जाते हैं (संमिक्तं जस्य ह्रिदयस्य) जिसके हृदय में सम्यक्त्व होता है।

विशेषार्थ- पूर्व में बताया है कि जो सम्यक्त्व से हीन है, वह कितने ही व्रत, तप, संयम आदि करे, कोई कार्यकारी नहीं हैं। जैसे- बिना मूल के वृक्ष नहीं होता, इसी प्रकार सम्यक्त्व के बिना धर्म वृक्ष नहीं लगता। यहाँ बता रहे हैं कि जिसके मूल में सम्यक्त्व है उसके धर्म वृक्ष लगता है, उसमें व्रत संयम की शाखा डाल पत्र पुष्प होते हैं, अगणित गुणों का भंडार हो जाता है, जिसके हृदय में सम्यक्त्व होता है।

जहाँ सम्यक्दर्शन है वहाँ परिणामों में अनन्त गुणी विशुद्धता बढ़ती जाती है, जिससे कर्मों की असंख्यात गुणी निर्जरा होने लगती है, अनेक गुण प्रगट हो जाते हैं। सम्यक्त्व के प्रभाव से सब बाहरी व्यवहार आचरण स्वयं ही उत्तम प्रकार से होता है। इस प्रकार सम्यक्त्व और सम्यक्दर्शन की महान विशेषता है, इसी से धर्म वृक्ष लगता है। सम्यक्त्व के बिना जीव कितना ही पढ़ा लिखा हो, व्रताचरण करता हो परन्तु वह मोक्षमार्ग में कार्यकारी नहीं है। इसी बात को आगे गाथा में कहते हैं-

संमिक्त बिना जीवा, जानै अंगाई श्रुत बहुभेयं।

अनेयं व्रत चरनं, मिथ्या तप बाटिका जीवो ॥ २१० ॥

अन्वयार्थ- (संमिक्त बिना जीवा) सम्यक्त्व के बिना जीव (जानै अंगाई श्रुत बहुभेयं) ग्यारह अंग नौ पूर्व तक बहुत प्रकार शास्त्रों को जाने (अनेयं व्रत चरनं) अथवा अनेक व्रतों का आचरण करे (मिथ्या तप बाटिका जीवो) यह सब जीव का मिथ्या तप का बगीचा लगाना है, इससे कोई लाभ नहीं है।

विशेषार्थ- सम्यक्त्व के बिना जीव बहुत शास्त्र ग्यारह अंग नौ पूर्व तक पढ़ा हो, बहुत छन्द व्याकरणादि जानता हो अथवा अनेक व्रत तपाचरण करता हो परन्तु वह सब मोक्षमार्ग में कार्यकारी नहीं है। जैसे- कोई थूहर (कांटे वाला पेड़) का बगीचा लगावे अथवा सेमर के पेड़ लगावे, जिसमें फूल तो बहुत होते हैं परन्तु सुगन्ध नहीं होती, इसी प्रकार सम्यक्त्व के बिना ग्यारह अंग तक पढ़ ले तो भी अज्ञानी ही कहा जाता है अथवा महाव्रतों का साधन करके अन्तिम ग्रैवेयक तक के बन्ध योग्य विशुद्ध परिणाम करे तो भी वह असंयमी ही कहलाता है तथा सम्यक्त्व सहित जितना भी जानपना होवे उस सभी का नाम सम्यक्ज्ञान है और जो थोड़ा भी त्याग तप प्रवर्तन करे तो उसे सम्यक्चारित्र कहा जाता है।

जिस प्रकार अंक सहित शून्य हो तो वह प्रमाण में आता है किन्तु अंक बिना

शून्य तो शून्य ही है। उसी प्रकार सम्यक्त्व के बिना ज्ञान और चारित्र्य व्यर्थ ही है। जैसे— जंगली बेर या गुलमोहर का बहुत बड़ा बगीचा लगा हो, चारों तरफ बहुत पेड़ होवें परन्तु वह किसी के लिये उपयोगी कार्यकारी नहीं है। न वहाँ खाने योग्य फल हैं, न खुशबूदार फूल हैं। इसी प्रकार बाहर से बहुत पढ़ा लिखा हो अथवा संयम सदाचार आदि का पालन करता हो, अनेक प्रकार के तप तपता हो परन्तु आत्मज्ञान शून्य है। जिसे स्वयं का ही बोध नहीं है, स्व-पर का भेदज्ञान नहीं है तो इससे कोई भी लाभ, आत्म कल्याण होने वाला नहीं है; क्योंकि जिसकी दृष्टि बाहर पर की तरफ है वह सारे ज्ञान और चारित्र्य का उपयोग पर के लिये ही करेगा। सबको बतायेगा समझायेगा बाहर से खूब प्रभावना प्रसिद्धि होगी और वह इसी में फूला अपने आपको भूला कषायाधीन परिणमन कर दुर्गति में चला जायेगा।

जो सम्यक्दृष्टि रत्नत्रय संयुक्त है, वह मोक्ष जायेगा इसी बात को आगे गाथा में कहते हैं—

सुद्ध संमिक्त उक्तं च , रत्नत्रयं संजुतं ।

सुद्ध तत्त्वं च सार्धं च, संमिक्ती मुक्ति गामिनो ॥ २११ ॥

अन्वयार्थ- (सुद्ध संमिक्त उक्तं च) शुद्ध सम्यक्त्व उसे कहते हैं (रत्नत्रयं संजुतं) जो रत्नत्रय संयुक्त है अर्थात् सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य सहित हो (सुद्ध तत्त्वं च सार्धं च) और शुद्धात्म तत्त्व का श्रद्धानी अर्थात् अनुभवी हो (संमिक्ती मुक्ति गामिनो) ऐसा सम्यक्त्वी जीव मोक्षगामी होता है।

विशेषार्थ- यहाँ सम्यक्त्व की विशेषता का वर्णन चल रहा है। सम्यक्त्व सहित जीव मोक्षमार्गी होता है। उसके सब व्रत संयम तप मोक्षमार्ग में सहकारी होते हैं तथा सम्यक्त्व से हीन जीव बाह्य में कितना ही पढ़े लिखे व्रत संयम आदि करे परन्तु उससे मोक्षमार्ग नहीं बनता, मुक्ति नहीं होती। यह सम्यक्त्व की अर्थात् सच्चे धर्म निज शुद्धात्म स्वरूप की अनुभूति श्रद्धान की महिमा है।

यहाँ प्रश्न आया कि शुद्ध सम्यक्त्व किसे कहते हैं? सद्गुरु समाधान करते हैं कि शुद्ध सम्यक्त्व उसे कहते हैं जो रत्नत्रय संयुक्त हो अर्थात् सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य सहित हो क्योंकि सम्यक्दर्शन होते ही ज्ञान, सम्यक्ज्ञान हो जाता है और मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबंधी कषाय के उपशम होने से स्वरूपाचरण चारित्र्य पैदा हो जाता है। यदि सम्यक्दर्शन के साथ तीनों ही न हों तो सम्यक्दर्शन को मोक्षमार्ग नहीं कह सकते हैं तथा जिसको ऐसा सम्यक्त्व हो जाता है अर्थात् निज

शुद्धात्मानुभूति, शुद्ध तत्त्व की श्रद्धा हो जाती है वह अवश्य ही मोक्ष जाता है।

इसी बात को योगीन्दुदेव परमात्मप्रकाश में कहते हैं—

जे रयणत्तउ णिम्मलउ णाणिय अप्पु भणन्ति ।

ते आराहय सिव पयहँ णिय अप्पा ज्ञायन्ति ॥ २/३२ ॥

जो ज्ञानी रागादि दोषरहित निर्मल रत्नत्रय को आत्मा कहते हैं वे शिव पद के आराधक हैं और वे ही मोक्ष पद के आराधक हुए अपने आत्मा को ध्याते हैं।

यहाँ समीक्षात्मक रूप से सम्यक्त्व सहित क्या होता है? और सम्यक्त्व रहित क्या होता है? सद्गुरु इसी प्रसंग का आगे गाथाओं में वर्णन करते हैं—

संमिक्तं जस्य तिक्तं च, अनेय विभ्रम जे रता ।

मिथ्या मय मूढ दिस्ती च, संसारे भ्रमनं सदा ॥ २१२ ॥

अन्वयार्थ- (संमिक्तं जस्य तिक्तं च) जिस जीव को सम्यक्त्व नहीं है (अनेय विभ्रम जे रता) जो अनेक विभ्रम, संशय, शंका भय आदि में रत है (मिथ्या मय मूढ दिस्ती च) वह मिथ्यात्वी, मूढ़ दृष्टि बहिरात्मा है (संसारे भ्रमनं सदा) जो हमेशा संसार में ही भ्रमण करेगा।

विशेषार्थ- जो जीव अपने आत्म स्वरूप में नहीं ठहरा है अर्थात् जिसे स्व का बोध नहीं हुआ, जिसे अपने आत्म स्वभाव की श्रद्धा नहीं है, वह अनेक विभ्रम, संशय, शल्य, शंका, भय आदि संकल्प-विकल्पों में रत रहता है, वह मिथ्यात्व सहित मूढ़ दृष्टि है और हमेशा संसार में भ्रमण करेगा; क्योंकि जिसे अपने आत्म स्वरूप का बोध नहीं हुआ, जिसे अभी यह भान नहीं है कि इस शरीरादि से भिन्न मैं एक अखंड अविनाशी चैतन्य तत्त्व भगवान् आत्मा हूँ, यह शरीरादि मैं नहीं हूँ, यह मेरे नहीं हैं— वह इस शरीरादि पर्याय में लीन हुआ अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है। वह नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प करके अनंत कर्मों का बंध करता है, संसार में रुलता है। वर्तमान जीवन में दुःखी और भयभीत रहता है, बाह्य में पुण्योदय की अनुकूलता हो तो भी वह उसका भोग नहीं करता, भविष्य की आशा तृष्णा में आकुल-व्याकुल बना रहता है।

इसी बात को योगीन्दुदेव परमात्म प्रकाश में कहते हैं—

पज्जय रत्तउ जीवडउ मिच्छादिट्ठि हवेइ ।

बंधइ बहु विह कम्मडा जे संसारु भमेइ ॥ १-७७ ॥

शरीरादि पर्याय में लीन हुआ जो अज्ञानी जीव है, वह मिथ्यादृष्टि होता है

और वह अनेक प्रकार के कर्मों को बांधता है, जिनसे कि संसार में भ्रमण करता है।

जिउ मिच्छत्तेपरिणमिउ विवरिउ तच्चु मुणेइ ।

कम्म विणिम्मिय भावडा ते अप्पाणु भणेइ ॥१-७९॥

यह जीव अतत्त्व श्रद्धान रूप परिणत हुआ, आत्मा को आदि लेकर तत्वों के स्वरूप का अन्य का अन्य श्रद्धान करता है, यथार्थ नहीं जानता। वस्तु का स्वरूप तो जैसा है, वैसा ही है तो भी वह मिथ्यात्वी जीव, वस्तु के स्वरूप को विपरीत जानता है। अपना जो शुद्ध ज्ञानादि सहित स्वरूप है उसको मिथ्यात्व रागादि रूप जानता है। उससे कर्मों कर रचे गये जो शरीरादि पर भाव हैं, उनको अपने कहता है अर्थात् भेदज्ञान के अभाव से कर्म जनित देह के स्वरूप को अपना जानता है, इसी से संसार में भ्रमण करता है।

जो सम्यक्दृष्टि होता है वह शुद्ध धर्म में रत रहता है और मोक्ष जाता है इसी बात को आगे गाथा में कहते हैं -

संमिक्तं जेन उत्पादंते, सुद्ध धर्म रतो सदा ।

दोषं तस्य न पस्यंते, रजनी उदय भास्करं ॥ २१३ ॥

अन्वयार्थ- (संमिक्तं जेन उत्पादंते) जिनको सम्यक्त्व प्रगट हो जाता है (सुद्ध धर्म रतो सदा) वे हमेशा शुद्ध धर्म अर्थात् निज शुद्धात्म स्वरूप में ही रत रहते हैं (दोषं तस्य न पस्यंते) उनके कोई शंकादि दोष दिखाई नहीं देते, सब विला जाते हैं (रजनी उदय भास्करं) जैसे सूर्य के प्रकाश होते ही रात्रि विला जाती है।

विशेषार्थ- यहाँ सम्यक्त्व की महिमा बताई जा रही है कि जैसे सूर्य उदय होते ही रात्रि चली जाती है तथा सब अंधकार विला जाता है, उसी तरह जिसे सम्यक्त्व निज शुद्धात्मानुभूति हो जाती है फिर वह हमेशा अपने शुद्ध धर्म में ही रत रहता है, हमेशा शुद्धात्म तत्व का ही चिन्तन, मनन, स्मरण, ध्यान करता है, आत्मा की ही चर्चा-वार्ता में लगा रहता है फिर उसमें शंकादि पच्चीस दोष दिखाई नहीं देते, वह सब विला जाते हैं।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि सम्यक्त्व होने पर यह शंकादि दोष छोड़ना पड़ते हैं या छूट जाते हैं ? और यदि किसी में यह दोष दिखाई पड़ें तो वह सम्यक्त्वी है या नहीं ?

उसका समाधान करते हैं कि जैसे सूर्य के उदय होते ही रात्रि विला जाती है। अब यहाँ पुनः प्रश्न होता है कि पहले रात्रि विलाती है या सूर्य का उदय होता है ? तो

उसका उत्तर है कि दोनों कार्य एक काल में एक समय में होते हैं, इसमें आगे पीछे का प्रश्न ही नहीं है। इसी प्रकार सम्यक्त्व के होते ही शंकादि दोष विला जाते हैं। यहाँ छोड़ने-छूटने की बात भी नहीं है। सम्यक्त्वी को यह दोष दिखाई ही नहीं देते। जैसे प्रकाश में अंधकार दिखाई नहीं देता इसी प्रकार सम्यक्त्व के होते ही यह सब दोष विला जाते हैं तथा जिसमें यह दोष दिखाई देते हैं वह सम्यक्त्वी है ही नहीं। आठ शंकादि दोष, आठ मद, छह अनायतन, तीन मूढ़ता में से अगर एक भी दोष दिखाई देता है तो वह सच्चा सम्यक्त्वी नहीं है।

जिसके हृदय में हो चुका, सम्यक्त्व रवि का जागरण ।

जो प्रति निमिष करता है, आतम धर्म का ही आचरण ॥

उसके हृदय में दोष को, रहता न कोई ठौर है ।

आदित्य के पश्चात् रहती, सर्वरी क्या और है ॥ (चंचल जी)

इसी बात को रयणसार में कहते हैं-

देव गुरु धम्म गुण चारित तवायार मोक्खगदि भेय ।

जिण वयण सुदिट्ठि विणा, दीसदि किं जाणदे सम्मं ॥ ४८ ॥

देव, गुरु, धर्म, गुण, चारित्र, तपाचार, मोक्षगति का रहस्य जिन देव के वचन सम्यक्दृष्टि के बिना क्या देखे या जाने जा सकते हैं ? सम्यक्दृष्टि ही इन सबको देखता जानता है।

यह गाथायें सदगुरु तारण स्वामी ने विशिष्ट क्रम से सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का स्वरूप बताते हुए कही हैं कि जो सम्यक्दृष्टि है वह ही यथार्थ में मोक्षमार्गी है और वही पात्र है। जो मिथ्यादृष्टि है वह अनन्त संसार में रूलता है। इन गाथाओं के माध्यम से हम अपने आपको देखें कि हम क्या हैं ? तभी अपना भला होगा।

आगे पुनः सम्यक्त्व से हीन जीव की दशा का वर्णन किया जा रहा है-

संमिक्तं जस्य न पस्यंते, अंध एव मूढं त्रयं ।

कुन्यानं पटलं जस्य, कोसी उदय भास्करं ॥ २१४ ॥

अन्वयार्थ- (संमिक्तं जस्य न पस्यंते) जहाँ सम्यक्त्व दिखाई नहीं देता अर्थात् जहाँ आत्म स्वरूप का श्रद्धान नहीं है (अंध एव मूढं त्रयं) वह तीन मूढ़ताओं से अंधा है (कुन्यानं पटलं जस्य) उसके ऊपर कुज्ञान का पटल अर्थात् परदा पड़ा है, उसकी दशा वैसी ही हो रही है जैसे (कोसी उदय भास्करं) उल्लू या कुसयारे कीड़े को

अथवा किसी गहरी गुफा में बंद मनुष्य को सूर्य का प्रकाश दिखाई नहीं देता।

विशेषार्थ- यहाँ समन्वयात्मक विवेचन चल रहा है कि जिसको सम्यक्दर्शन हो जाता है उसकी क्या स्थिति होती है और जिसे सम्यक्दर्शन नहीं होता उसकी क्या स्थिति होती है। इस संदर्भ में बताया जा रहा है कि जिसे अपने आत्म स्वरूप का श्रद्धान नहीं होता, उसके ऊपर तीन मूढ़ता और तीन कुज्ञान का गहरा परदा पड़ा रहता है, जिससे वह अंधे के समान हो रहा है। जैसे- कोसी अर्थात् उल्लू या रेशमी कीड़ा जो अपने खोल में बंद रहता है उसे सूर्य का उदय दिखाई नहीं देता। इसी प्रकार इन तीन मूढ़ता और कुज्ञान में फँसे अज्ञानी प्राणी को अपने आत्म स्वरूप का प्रकाश दिखाई नहीं देता। जैसे- बंद कोठरी में बैठा हुआ मनुष्य सूर्य के उदय को नहीं देख सकता; यद्यपि सूर्य प्रगट है तथापि उसको अंधेरा ही दिखता है, इसी तरह जो देव मूढ़ता, पाखंड मूढ़ता, लोक मूढ़ता में रत है तथा जिसके ऊपर कुमति, कुश्रुत और कुबुद्धि रूपी कुज्ञान का परदा पड़ा है उसे सम्यक्दर्शन रूपी सूर्य जो अपनी ही आभा में प्रकाशमान है, दिखाई नहीं देता। सम्यक्त्व से रहित जीव अन्धा व पागल होता है उसकी क्या स्थिति होती है इसे रयणसार में आचार्य कुन्दकुन्द देव कहते हैं -

णवि जाणदि कज्जमकज्जं सेयमसेयं पुण्ण पावं हि।

तच्चमतच्चं धम्ममधम्मं सो सम्मउम्मुक्को ॥ ३९-४० ॥

जो कर्तव्य-अकर्तव्य, श्रेय-अश्रेय (हित-अहित) पुण्य-पाप, तत्त्व-अतत्त्व और धर्म-अधर्म को निश्चय से नहीं जानता है, वह सम्यक्त्व से रहित अंधा है। जो योग्य-अयोग्य, नित्य-अनित्य, हेय-उपादेय, सत्य-असत्य और भव्य-अभव्य को नहीं जानता वह सम्यक्त्व से रहित मूढ़ मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है।

जो सम्यक्दर्शन सहित है वह जीव कैसा होता है यह अगली गाथा में कहते हैं-

संमिक्तं जस्य सूवंते, श्रुत न्यान विचष्यनं।

न्यानेन न्यान उत्पादंते, लोकालोकस्य पस्यते ॥ २१५ ॥

अन्वयार्थ- (संमिक्तं जस्य सूवंते) जहाँ सम्यक्त्व परिणमन कर रहा है (श्रुत न्यान विचष्यनं) विलक्षण श्रुत ज्ञान चल रहा है (न्यानेन न्यान उत्पादंते) वहाँ ज्ञान से ज्ञान बढ़ता है और वहाँ (लोकालोकस्य पस्यते) लोकालोक को देखने जानने वाला केवलज्ञान प्रगट हो जाता है अर्थात् स्वयं केवलज्ञानी अरिहन्त परमात्मा हो

जाता है।

विशेषार्थ- यहाँ सम्यक्त्व की महिमा बताई जा रही है कि जिसे शुद्ध सम्यक्दर्शन होता है और जो श्रुतज्ञानी सम्यक्ज्ञानी होता है, वहाँ ज्ञान की ऐसी विशेषता होती है कि श्रुतज्ञान या सम्यक्ज्ञान में केवलज्ञान की नोंध (चमक) होती है, वह भी लोकालोक को अप्रत्यक्ष जानने लगता है और यही ज्ञान की विशेषता, विलक्षणता एक दिन केवलज्ञान प्रगट करा देती है।

यहाँ प्रश्न आता है कि अभी अव्रत सम्यक्दृष्टि जघन्य पात्र है, संसार शरीर भोगों में लिप्त गृहस्थ दशा में है और बात ऐसी बताई जा रही है कि उसे यहीं लोकालोक दिखाई देने लगा, तो वह संसारी कहावत हो गई कि दिन में ही तारे नजर आने लगे। कम से कम इतना तो ध्यान में रखो कि जो संभव हो सके वह करो, अपने पक्ष को इतना बढ़ाने से एकान्तपक्षी निश्चयाभासी न हो जायेगा ?

इसका समाधान करते हैं कि भाई ! जिसको सम्यक्दर्शन सहित आगम का यथार्थ ज्ञान है वही पर के यथार्थ स्वरूप को जानता अनुभवता है। द्वादशांग वाणी का सार स्वानुभव है, यही स्वानुभव धर्म ध्यान है व यही स्वानुभव शुक्ल ध्यान है, इससे ही घातिया कर्मों का क्षय होकर केवलज्ञान होता है। केवलज्ञान का कारण यथार्थ स्वसंवेदन ज्ञान ही है। इसी ज्ञान से सर्व आवरण दूर होते हैं और केवलज्ञान का प्रकाश होता है। इस कथन से यह बात बतलाई गई है कि जिसको अपना परमात्म पद प्राप्त करना हो उसको उचित है कि वह निज शुद्धात्मानुभूति निश्चय सम्यक्दर्शन प्रगट करे और आगम का भले प्रकार अभ्यास मनन करे क्योंकि जिनवाणी के अभ्यास मनन से ही घातिया कर्मों की स्थिति घटती है। सम्यक्दर्शन होने के पीछे सम्यक्चारित्र का पुरुषार्थ करे, सम्यक्ज्ञान का सही अभिप्राय यही है कि वह सम्यक्चारित्र प्रगट करे और इसकी शुरुआत सम्यक्दर्शन से ही होती है बगैर सम्यक्दर्शन के यह कुछ होता ही नहीं है। इतना अवश्य है कि ज्ञान और चारित्र का क्रमशः विकास होता है। यहाँ महत्वपूर्ण बात तो यह है कि ऐसे शुद्ध धर्म सम्यक्दर्शन का हमें बहुमान तो जागे, ऐसा लगे तो कि बस यही इष्ट प्रयोजनीय है तो फिर यह सब होने में ज्यादा देर नहीं लगती, दो चार भव में ही केवलज्ञानी मुक्त सिद्ध परमात्मा हो सकते हैं।

जो जीव सम्यक्दर्शन से रहित है, उसकी क्या स्थिति होती है इसे अगली गाथा में कहते हैं -

संमिक्तं जस्य न पस्यन्ते, असार्धं व्रत संजमं ।

ते नरा मिथ्या भावेन, जीवितोपि मृतं भवेत् ॥ २१६ ॥

अन्वयार्थ- (संमिक्तं जस्य न पस्यन्ते) जिसे अपने आत्म स्वरूप की अनुभूति नहीं हुई (असार्धं व्रत संजमं) और जो व्रत संयम का अश्रद्धानी है (ते नरा मिथ्या भावेन) वह मनुष्य मिथ्या भावना में रत (जीवितोपि मृतं भवेत्) जीता हुआ भी मृतक के समान है ।

विशेषार्थ- यहाँ पर यह बताया जा रहा है कि जिसे सम्यक्त्व दिखाई नहीं दिया अर्थात् अपने आत्म स्वरूप की अनुभूति नहीं हुई और जो व्रत संयम का अश्रद्धानी है, कहता है इनमें क्या रखा है और निरन्तर मिथ्या भावों पाप-परिग्रह, विषय-कषाय में रत रहता है वह जीता हुआ भी मृतक के समान है; क्योंकि यह मनुष्य भव जो अपना आत्महित करने, मुक्त होने के लिये मिला है और इसमें धर्म का पुरुषार्थ भी नहीं किया और न व्रत संयम का पालन किया तो जहाँ से निकलकर बड़ी मुश्किल से यहाँ आये, फिर वही नरक निगोदादि दुर्गतियों में जाना पड़ेगा ।

इसी बात को कुन्दकुन्द देव ने रयणसार में कहा है-

उगो तिब्बो दुट्ठो, दुग्भावो दुस्सुदो दुराभासो ।

दुम्मद रदो विरुद्धो, सो जीवो सम्मउम्मुक्को ॥ ४२ ॥

सम्यक्त्व से रहित जीव उग्र प्रकृति वाला, तीव्र स्वभाव वाला, दुष्ट परिणामी, दुर्भावनाओं से युक्त, मिथ्या शास्त्रों का श्रवण करने वाला, दुष्ट भाषी, मिथ्यामद में अनुरक्त, विरुद्ध आचरण करने वाला, जीता हुआ भी मृतक के समान है; क्योंकि उसके जीने का कोई लाभ ही नहीं है विशेषता और घोर दुर्गति का कारण है ।

यहाँ प्रश्न आता है कि आपने कहा कि जो सम्यक्त्व से रहित और व्रत संयम का अश्रद्धानी है वह जीते हुए मृतक के समान है, उधर आप यह भी कहते हैं कि सम्यक्त्व के बिना व्रत संयम सब व्यर्थ है फिर इसका अभिप्राय क्या है ? इसका समाधान करते हैं कि यह मनुष्य भव मिला कैसे मिला और क्यों मिला-

बहु पुण्य पुंज प्रसंग से शुभ देह मानव का मिला ।

लेकिन अरे भव चक्र का फेरा न तेरा इक टला ॥

यह मनुष्य भव महान पुण्य के योग से प्राप्त हुआ है, इसकी सार्थकता मुक्ति को प्राप्त करने में है इसलिये इसमें दो बातें समझने की हैं, पहली बात तो यह कि

सम्यक्दर्शन सहित मुक्ति का पुरुषार्थ करे । दूसरी बात- पाप, विषय-कषायों से विरत होकर संयम, तप करते हुए मनुष्य जीवन को नीचे गिरने से बचाये । पहला- मोक्ष प्राप्त करें, दूसरा- परभव न बिगाड़ें; क्योंकि मनुष्य तो विवेकवान नहीं तो पशु के समान । कथन की अपेक्षा समझें और वर्तमान में अपनी पात्रता परिस्थिति अनुसार विवेक से काम लें । मुक्ति की अपेक्षा बगैर सम्यक्त्व के व्रत, नियम-संयम से मुक्ति होने वाली नहीं है परन्तु दुर्गतियों और दुःखों से तथा पाप, विषय-कषाय और अशुभ कर्म से बचने के लिये व्रत, नियम, संयम भी आवश्यक है तथा मनुष्य जीवन की शोभा तो संयम और सदाचार से ही है । अपेक्षा को समझकर विवेक से काम लें क्योंकि बुद्धिमान मनुष्यों को यह स्मरण रखना चाहिये कि आत्मा को इस विशिष्ट योनि की प्राप्ति करोड़ों वर्षों तक देहान्तर करने, चौरासी लाख योनियों के चक्कर लगाने के बाद हुई है । यह प्राकृत जगत मानों एक बड़ा भारी समुद्र है और इस भवसागर में यह मानवयोनि एक नौका के समान है, जिसकी रचना इस भव सागर को पार करने के लिये हुई है । धर्म शास्त्र और सद्गुरु मानो कुशल नाविक हैं और मानव देह में प्राप्त सुविधायें ही अनुकूल वायु है, जो सही दिशा में ले जा रही है । यदि इन सुविधाओं के रहते हुए भी कोई मनुष्य अपनी मानव योनि का सदुपयोग स्वरूप साक्षात्कार के लिये नहीं करता तो उस असुर को आत्महन्ता अर्थात् अपनी आत्मा को मारने वाला समझना चाहिये । वह आत्महन्ता, अविद्या के अन्धतम राज्य में प्रवेश कर सदा दुःख भोगेगा ।

ज्यों मतिहीन विवेक बिना नर, साजि मतंगज ईधन ढोवे ।

कंचन भाजन धूल भरे शठ, मूढ़ सुधारस सौं पग धोवे ॥

वा हित काग उड़ावन कारण, डार महामणि मूरख रोवे ।

त्यों यह दुर्लभ देह बनारसि, पाय अजान अकारण खोवे ॥

अपनी बात है स्वयं समझें, विवेक से काम लें तो अपना भला होवे । आगे जो जीव सम्यक्त्व सहित होता है वह कैसा होता है यह अगली गाथा में कहते हैं-

उदयं संमिक्त हृदयं जस्य, त्रिलोकं मुदमं सदा ।

कुन्यानं राग तिक्तं च, मिथ्या माया विलीयते ॥ २१७ ॥

अन्वयार्थ- (उदयं संमिक्त हृदयं जस्य) जिसके हृदय में सम्यक्त्व का उदय हो गया है अर्थात् जिसे निज शुद्धात्मानुभूति हो गई है (त्रिलोकं मुदमं सदा) वह तीन

लोक में कहीं भी रहे, कैसा भी रहे हमेशा प्रसन्न आनंदमय रहता है (कुन्यानं राग तिवक्तं च) उसका कुज्ञान रूपी राग छूट जाता है (मिथ्या माया विलीयते) और मिथ्या माया भी विला जाती है।

विशेषार्थ- यहाँ सम्यक्दर्शन की महिमा बताई जा रही है कि जिसके हृदय में सम्यक्त्व का उदय हो जाता है वह फिर तीन लोक में कहीं भी किसी भी पर्याय में कैसा ही रहे हमेशा सुखी प्रसन्न आनंद में रहता है, उसका कुज्ञान रूपी राग अर्थात् पर के कर्ता भोक्तापने का भाव छूट जाता है तथा मिथ्या माया अर्थात् धोखा, झूठ छल जिसमें संसारी जीव फँसा रहता है, सम्यक्त्वी उससे छूट जाता है, माया के तीन रूप-कंचन, कामिनी और कीर्ति जो प्रत्यक्ष धोखा है यह मान्यता भी विला जाती है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि यह बात तो समझ में नहीं आई कि जब प्रत्यक्ष अव्रत सम्यक्दृष्टि इन बातों में फँसा है, लगा है यही सब कर रहा है फिर आप कहते हो कि यह सब छूट जाते हैं, विला जाते हैं तथा तीन लोक में कहीं भी किसी पर्याय में कैसा ही रहे, हमेशा सुखी, प्रसन्न आनंद मय रहता है। अगर अव्रत दशा में यह सब हो जाता है तो फिर व्रती साधु बनने, वीतरागी होने साधना करने की क्या जरूरत है? फिर यह तीर्थकर चक्रवर्ती सब छोड़कर एकान्त निर्जन स्थान में क्यों गये? और इतनी तप साधना क्यों की?

उसका समाधान करते हैं कि भाई! बात को तो समझो, यहाँ क्या कहा जा रहा है कि जिसके हृदय में सम्यक्त्व का उदय हो गया अर्थात् जिसे निज शुद्धात्मानुभूति हो गई, उसे स्व-पर का भेदज्ञान हुआ या नहीं? हुआ, तो यहाँ श्रद्धान की अपेक्षा पर के कर्ता भोक्तापन का अभाव हो जाता है और सबके बीच रहता है, सब कुछ करता भोगता हुआ भी उसके माया का बंधन विला जाता है। जैसे- अपनी बच्ची अपने घर में बड़ी हुई लेकिन जब हमने उसकी लगन सगाई दूसरी जगह कर दी तो उसकी मान्यता में क्या हो जाता है, अपने घर में ही रह रही है, सब कपड़े जेवर पहने है, खा पी रही है परन्तु मानती क्या है? कि अब यह मेरा कुछ नहीं है। सब करती- धरती है, मुँह से कभी कुछ नहीं कहती परन्तु श्रद्धान मान्यता में क्या हो गया? यह मेरा कुछ नहीं है। इसी प्रकार अव्रत सम्यक्दृष्टि की अन्तरंग दशा हो जाती है। यहाँ बाहर के आचरण की बात नहीं है, यह तो सम्यक्दृष्टि की अंतरंग दशा की बात है क्योंकि अंतरात्मा सम्यक्दृष्टि की चिन्तन की धारा बदलती है, मिथ्या मान्यता ही टूटती है, क्रिया अभी नहीं छूटती। यह तो बड़े अपूर्व रहस्य हैं। यह तो

वही जाने जो वैसा होकर देखे। यहाँ मात्र मान्यता श्रद्धान की अपेक्षा दृष्टि का परिवर्तन होता है, सृष्टि का परिवर्तन तो फिर अपने आप होने ही लगता है और वैसे ही हो रहा है। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि अपनी मान्यता से ही बंधा है तथा दूसरा जो प्रश्न किया कि सम्यक्दृष्टि तीन लोक में किसी पर्याय में कहीं भी कैसा ही रहे हमेशा सुखी प्रसन्न आनंदमय रहता है तो इसका प्रत्यक्ष उदाहरण वर्तमान में राजा श्रेणिक का जीव, जो आगामी तीर्थकर होने वाला है पर अभी नरक में है और सारे नारकीय कृत्य करता भोगता हुआ भी आनंदमय है या दुःखी है? आनंद में है, तो बताओ जब नरक में आनंद में रह सकता है तो और पर्यायों में, परिस्थितियों में आनंदमय रह सकता है या नहीं। भाई! यह अव्रत दशा तो कर्मोदय जन्य है। अरे! अनादि मिथ्यादृष्टि को जब एक समय का उपशम सम्यक्त्व होता है तो उसे अपने शुद्धात्म स्वरूप की जो अनुभूति होती है एक समय की निर्विकल्प दशा में जो स्वसंवेदन अतीन्द्रिय आनंद अमृत का स्वाद आता है उसमें और सिद्ध परमात्मा की अनुभूति में कोई अंतर नहीं है, सिर्फ मात्रा, समय का अन्तर है, स्वानुभूति में कोई अंतर नहीं है- तो यहाँ तो उसकी बात चल रही है, जिसे ऐसा अतीन्द्रिय आनंद आ गया है फिर वह-

बाहर नारकी कृत दुःख भोगत, भीतर समरस गटा गटी।

रमत अनेक सुरनि पै नित, छूटन की है छटापटी ॥

जा सम्यक्दृग् धारी की, मोहि रीत लगत है अटापटी।

बात तो ऐसी है और यह सद्गुरु तारण स्वामी तो अनुभव प्रमाण बता रहे हैं। यहाँ लिखी पढ़ी सुनी बात नहीं है, यहाँ तो आँखों देखी अनुभव प्रमाण बात है। इसी बात को तत्त्वज्ञान तरंगिणी में ज्ञान भूषण भट्टारक जी कहते हैं-

मिलितानेक वस्तुनां स्वरूपं हि पृथक् पृथक्।

स्पर्शादिभिर्विदग्धेन निःशंकं ज्ञायते यथा ॥

तथैव मिलितानां हि शुद्ध चिद्वेकह कर्मणां।

अनुभूत्या कथंसिद्धिः स्वरूपं न पृथक् पृथक् ॥

आत्मानं देह कर्माणि भेदज्ञाने समागते।

मुक्त्वा यांति यथा सर्पा गरुडे चंदनदुग्धं ॥

भेदज्ञान बलात् शुद्ध चिद्रूपं प्राप्य केवली।

भवेद् देवाधि देवोपि तीर्थकर्ता जिनेश्वरः ॥

जिस प्रकार विद्वान मनुष्य आपस में मिले हुए भी अनेक पदार्थों का स्वरूप

स्पर्श आदि के द्वारा स्पष्ट रूप से जुदा-जुदा पहिचान लेते हैं, उसी प्रकार आपस में अनादिकाल से मिले हुए शुद्ध चिद्रूप शरीर और कर्मों के स्वरूप को भी अनुभव ज्ञान के बल से वे बिना किसी रोक-टोक के स्पष्ट रूप से जुदा-जुदा जान लेते हैं।

जिस प्रकार चंदन वृक्ष पर लिपटा हुआ सर्प अपने बैरी गरुड़ पक्षी को देखते ही तत्काल आँखों से ओझल हो जाता है, पता लगाने पर भी उसका पता नहीं लगता, उसी प्रकार भेद विज्ञान के उत्पन्न होते ही समस्त कर्म आत्मा को छोड़कर न मालूम कहाँ लापता हो जाते हैं। भेदविज्ञान के उत्पन्न होते ही कर्मों की सूरत भी दिखाई नहीं देती।

इसी भेदविज्ञान के बल से यह आत्मा शुद्ध चिद्रूप को प्राप्त कर केवलज्ञानी तीर्थंकर और जिनेश्वर कहलाने लगाता है। यह सम्यक्दर्शन की महिमा बड़ी अपूर्व है। इसी बात को अगली गाथा में कहते हैं।

संमिक्त सहित नरयम्मि, संमिक्त हीनो न चक्रियं ।

संमिक्तं मुक्ति मार्गस्य, हीन संमिक्त निगोदयं ॥ २१८ ॥

अन्वयार्थ- (संमिक्त सहित नरयम्मि) सम्यक्दर्शन सहित नरक में रहना अच्छा है (संमिक्त हीनो न चक्रियं) सम्यक्त्व से हीन चक्रवर्ती होना भी लाभकारी नहीं है (संमिक्तं मुक्ति मार्गस्य) सम्यक्दर्शन ही मुक्ति का मार्ग है (हीन संमिक्त निगोदयं) सम्यक्त्व हीन निगोद का मार्ग है।

विशेषार्थ- यहाँ सम्यक्त्व की महिमा बताई जा रही है कि सम्यक्दर्शन सहित नरक में रहना भी अच्छा है और सम्यक्त्व से हीन चक्रवर्ती होना भी व्यर्थ है; क्योंकि सम्यक्त्व से हीन अज्ञानी मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा यदि पुण्य के उदय से चक्रवर्ती भी हो जाये तो वह अपनी अज्ञानता से वर्तमान सुख नहीं भोगेगा। आशा, तृष्णा, माया, मोह में फँसकर नाना कुकर्म कर नरक निगोद चला जाता है। सम्यक्दृष्टि ज्ञानी अगर पूर्व के अशुभ कर्मों के उदयानुसार नरक आदि में भी जाता है तो वहाँ भी अपने स्वरूप की स्मृति से आनंद में रहता है और परम्परा मोक्ष जाता है इसलिये एक मात्र सम्यक्दर्शन ही मोक्ष का मार्ग है। सम्यक्त्व से हीन मिथ्यात्व तो संसार नरक निगोद का ही कारण है। इसी बात को आचार्य कुन्दकुन्द देव रयणसार में कहते हैं -

तण कुट्ठी कुल भंगं कुणदि जहा मिच्छमप्पणो वि तथा ।

दाणादि सुगुण भंग गदि भंगं मिच्छ मेव होकडुं ॥ ४७ ॥

जैसे शरीर का कोढ़ी (अपने रक्त संबंध से) अपने कुल का विनाश कर देता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व भी अपनी आत्मा के दान आदि सद्गुणों और सद्गति का विनाश करता है। अहो ! संसार में मिथ्यात्व ही कष्टप्रद है।

एक्क खणं णवि चिंतदि मोक्ख णिमित्तं णियप्पसम्भावं ।

अणिसि विचिंतदि पावं बहुला लावं मणो विचिंतेदि ॥ ४९ ॥

मिच्छामदि मदमोहासवमतो बोल्लदे जहा भुल्लो ।

तेण ण जाणदि अप्पा अप्पाणं सम्म भावाणं ॥ ५० ॥

मिथ्यादृष्टि जीव मोक्ष प्राप्ति के निमित्तभूत अपने आत्म स्वभाव का चिन्तन एक क्षण भी नहीं करता। दिन-रात पाप का चिन्तन करता है और मन से दूसरों के बारे में अनेक बातें सोचता रहता है।

मिथ्यादृष्टि जीव मद और मोह की मदिरा से मतवाला होकर भुलकड़ के समान प्रलाप करता है इसलिये वह आत्मा को और आत्मा के साम्यभावों को नहीं जानता है।

सम्मादिट्ठी कालं बोल्लदि वेरग्गणाण भावेहिं ।

मिच्छादिट्ठी बांछा, दुग्गहालस्स कलहेहिं ॥ ५२ ॥

सम्यक्दृष्टि वैराग्य और ज्ञानभाव से समय को व्यतीत करता है जबकि मिथ्यादृष्टि आकांक्षा, दुर्भाव, आलस्य और कलह से अपना समय बिताता है।

सम्मत्त गुणाइ सुगदि, मिच्छादो होदि दुग्गदी णियमा ।

इदि जाण किमिह बहुणा, जं रुच्चदि तं कुज्जाहो ॥ ६१ ॥

सम्यक्त्व गुण से नियम से सुगति और मिथ्यात्व से दुर्गति होती है, ऐसा जान यहाँ अधिक कहने से क्या लाभ है ? जो तुझे अच्छा लगे वह कर।

इसी बात को तारण स्वामी आगे की गाथा में कहते हैं-

संमिक्त संजुत्त पात्रस्य, ते उत्तमं सदा बुधै ।

हीन संमिक्त कुलीनस्य, अकुली अपात्र उच्यते ॥ २१९ ॥

अन्वयार्थ- (संमिक्त संजुत्त पात्रस्य) सम्यक्त्व से युक्त कोई भी पात्र अर्थात् कोई भी जीव वह किसी जाति, किसी कुल का हो (ते उत्तमं सदा बुधै) ज्ञानीजन हमेशा उसे ही उत्तम श्रेष्ठ कहते हैं (हीन संमिक्त कुलीनस्य) यदि कोई बड़े घर का, उच्च कुल का भी हो और सम्यक्त्व से हीन है तो (अकुली अपात्र उच्यते) वह नीच

अपात्र कहा जाता है।

सम्यक्त्व निधि का पात्र यदि चाण्डाल का भी लाल है।
तो वह नहीं है नीच, वह भूदेव है महिपाल है ॥
सम्यक्त्वनिधि से रहित यदि एक उच्च श्रेष्ठ कुलीन है।
तो वह महान दरिद्र है, उस सा न कोई हीन है ॥ (चंचल जी)

विशेषार्थ- यहाँ सम्यक्त्व की महिमा का वर्णन किया जा रहा है कि जो सम्यक्त्व सहित है वह किसी जाति, कुल, किसी पर्याय में हो वह उत्तम है, श्रेष्ठ है।

दोष रहित गुण सहित सुधी जे, सम्यक्दर्श सजै हैं।

चरित मोहवश लेश न संजम, पै सुरनाथ जजै हैं ॥ (छहढाला)

सम्यक्त्व से हीन यदि कोई उच्च कुल वाला है तो वह अकुली अपात्र कहा जाता है। इसी बात को रत्नकरण्ड श्रावकाचार में स्वामी समन्तभद्राचार्य कहते हैं -

सम्यग्दर्शन सम्पन्नमपि मातंग देहजम्।

देवादेवं विदुर्भस्म गूढांगारान्त रौजसम् ॥ २८ ॥

सम्यग्दर्शन करि संयुक्त चाण्डाल के देहतेँ उपज्या जो चाण्डाल ताहि हूँ देवा कहिये, गणधर देव जे हैं ते देव कहे हैं। जैसे भस्म करि दवा जो अंगार ताके आभ्यंतर तेज है।

श्वापि देवापि देवाः श्वा जायते धर्म किल्बिषात्।

कापि नाम भवेदन्या संपद्धर्माच्छरीरिणाम् ॥ २९ ॥

धर्म के प्रभाव तैं स्वान जो कूकरो, सो हूँ स्वर्गलोक में जाय देव उपजै है। अर पाप के प्रभाव तैं स्वर्ग लोक का महान ऋद्धिधारी देव हूँ पृथ्वी में कूकरो आय उपजै है। अर प्राणीनि के धर्म के प्रभाव तैं और हूँ वचन द्वारे नाहीं कही जाए, ऐसी अहमिन्द्रनि की सम्पदा तथा अविनाशी मुक्ति सम्पदा प्राप्त होय है।

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो, निर्मोहो नैव मोहवान्।

अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥ ३३ ॥

जाके दर्शन मोह नाहीं ऐसा गृहस्थ है, सो मोक्षमार्ग में तिष्ठता है अर मोहवान ऐसा अनगार कहिये ग्रहरहित मुनि सो मोक्षमार्गी नाहीं है। याही तैं मोहवान जो मुनि तातैं दर्शन मोह रहित गृहस्थ है सो श्रेयान् कहिये सर्वोत्कृष्ट है।

इसी सम्यक्त्व की महिमा का वर्णन करते हुए तारण स्वामी अगली गाथा कहते हैं-

तिअर्थ संमिक्तं सार्धं, तीर्थकर नाम सुद्धये।

कर्म षिपति त्रिविधं च, मुक्ति पंथ सिधं ध्रुवं ॥ २२० ॥

अन्वयार्थ- (तिअर्थ संमिक्तं सार्धं) सम्यक्त्व सहित जो रत्नत्रय की साधना करता है (तीर्थकर नाम सुद्धये) वह तीर्थकर नामकर्म की प्रकृति बांधकर शुद्ध होता है (कर्म षिपति त्रिविधं च) और तीनों प्रकार के कर्मों का क्षय होने पर निश्चय से मोक्षमार्ग और सिद्ध पद पाता है।

विशेषार्थ- सम्यक्त्व सहित जो जीव रत्नत्रय अर्थात् सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की साधना करता है वह तीर्थकर नामकर्म की प्रकृति बांधकर शुद्ध होता है और तीनों प्रकार के कर्म क्षय होने पर निश्चय से मोक्षमार्गी होता हुआ सिद्ध पद पाता है।

इसी बात को रत्नकरण्ड श्रावकाचार में आचार्य समन्तभद्र कहते हैं-

अमरासुर नरपतिभिर्यम धरपतिभिश्च नूनपादाम्भोजाः।

दृष्ट्यासुनिश्चितार्था वृष चक्रधरा भवन्ति लोकशरण्याः ॥ ३९ ॥

जो पुरुष सम्यक्दर्शन कर सम्यक् निर्णय किये हैं पदार्थ जिनने ते अमरपति, असुरपति, नरपति अर संयमनि का पति गणधर तिनकरि वन्दनीक है चरण कमल जिनका - अर लोक के शरण में उत्कृष्ट ऐसे धर्म चक्र के धारक तीर्थकर उपजै हैं।

जो सम्यक्त्वी होता है उसको ही तीर्थकर नामकर्म का बंध होता है, उस सम्यक्त्व व तीर्थकर नाम कर्म के प्रभाव से वह जीव या तो उसी भव से तीर्थकर होता है अथवा एक भव और लेकर मनुष्य हो तीर्थकर पदधारी होता है, जिसके इन्द्रादिक देव पाँचों ही कल्याणक करते हैं, भरत व ऐरावत क्षेत्र में पाँचों ही कल्याणक धारी जन्म से ही तीर्थकर होते हैं। तीर्थकर होने वाले जीवों को ऐसा यथार्थ आत्मानुभव होता है कि वे अपना लक्ष्य निरन्तर आत्मा की शुद्धि पर ही रखते हैं, किंचित् भी वैराग्य का बाहरी निमित्त पाते ही वे दीक्षा ले लेते हैं और थोड़े से ही पुरुषार्थ पूर्वक घातिया कर्मों का नाश कर केवलज्ञानी हो जाते हैं फिर जब तक आयु शेष है, यत्र तत्र आर्य खंड में विहार करके धर्म का उपदेश देते हैं, अंत में सब कर्मों से रहित हो अर्थात् तीनों ही प्रकार के कर्मों, भाव कर्म-राग द्वेषादि, द्रव्यकर्म - ज्ञानावरणादि और नो कर्म- शरीरादि इन सबसे मुक्त होकर शुद्ध सिद्ध हो जाते हैं। यह परमोपकारी निश्चल सम्यक्दर्शन साथ-साथ रहता है, वही मोक्ष में पहुँचा देता है। वहाँ पर भी

यह निर्मल क्षायिक सम्यक्त्व सदाकाल बना रहता है। इसी के महात्म्य से वहाँ भी सिद्ध भगवान् स्वात्मानन्द का भोग करते रहते हैं, यह सम्यक्त्व की महिमा है।

यहाँ अन्तरात्मा जघन्य पात्र अव्रत सम्यक्दृष्टि जिसके जीवन में अठारह क्रियाओं का प्रादुर्भाव होता है, उसके प्रथम सम्यक्त्व का यह वर्णन है। इस सम्यक्त्व की साधना और बारम्बार चिन्तन से क्या होता है, इसे सदगुरु अगली गाथा में कहते हैं—

संमिक्तं जस्य चिंतंते , बारंबारेन सार्धयं ।

दोषं तस्य विनश्यंति , सिंघ मतंग जूथयं ॥ २२१ ॥

अन्वयार्थ- (संमिक्तं जस्य चिंतंते) जो जीव सम्यक्त्व का अर्थात् अपने शुद्धात्म स्वरूप का चिन्तन करते हैं (बारंबारेन सार्धयं) बारम्बार उसी की साधना-आराधना स्मरण ध्यान में लगे रहते हैं (दोषं तस्य विनश्यंति) उनके सारे दोष विनश जाते हैं, भाग जाते, विला जाते हैं (सिंघ मतंग जूथयं) जैसे— सिंह को देखकर हाथियों के झुण्ड तितर-बितर होकर भाग जाते हैं।

विशेषार्थ- अव्रत सम्यक्दृष्टि अन्तरात्मा, जघन्य पात्र की प्रथम क्रिया सम्यक्त्व का बारम्बार चिन्तन, अभ्यास, साधना, आराधना करता है। अभी वह संसारी प्रपंच मोहजाल पाप-परिग्रह में फँसा है परंतु जिसे अमृत का स्वाद आ गया है, निज शुद्धात्मानुभूति हो गई है वह बार-बार उसी का चिन्तन करता है और इसी साधना से उसके सारे दोष विनश जाते हैं। यह पाप-परिग्रह, मोह, राग-द्वेषादि, विषय-कषाय छूटने विनशने लगते हैं। जैसे—सिंह को देखकर उसकी गर्जना सुनकर हाथियों के झुण्ड भागने, तितर-बितर होने लगते हैं, इसी प्रकार जिसका सम्यक्दर्शन रूपी सिंह जाग्रत हो गया, सोता हुआ बन्द गुफा से बाहर निकल आया फिर उसकी गर्जना से यह कर्म रूपी हाथियों का झुण्ड विनश जाता है और वह आगे बढ़ता हुआ सिद्ध पद पाता है यह सम्यक्दर्शन की महिमा है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि ऐसा सम्यक्दर्शन जिसके प्रताप से जन्म-मरण टले मुक्ति की प्राप्ति हो, स्वयं परमात्मा बने, क्या वह इस काल में अभी हम संसारी जीवों को हो सकता है ?

उसका समाधान करते हैं कि भाई ! अपनी भावना जागे, इसका बहुमान आवे यही इष्ट है ऐसा लगे तो अभी इसी समय सम्यक्दर्शन हो सकता है। इस पंचमकाल

में भी क्षणभर में सम्यक्दर्शन हो सकता है। सम्यक्दर्शन प्रगट करना तो वीरों का काम है, कायरों का नहीं है। इसमें घिसने की जरूरत नहीं है, यह तो एक समय के दृष्टि परिवर्तन का कमाल है। जहाँ संसार से भिन्न, शरीर से भिन्न, इन्द्रिय मन वाणी से भिन्न और एक समय की चलने वाली पर्याय से भिन्न अपने शुद्ध चैतन्य ज्ञानानन्द स्वभाव टंकोत्कीर्ण अप्पा ध्रुव तत्व की ओर दृष्टि गई, जहाँ एक समय की निर्विकल्प दशा में निज शुद्धात्मानुभूति हुई कि जय-जयकार मच गई। अरे ! यह तो अपनी चीज और अपने को न मिले ऐसा होता ही नहीं है। तारण स्वामी तो कहते हैं— देख, देख ! यह शुद्ध प्रकाश शुद्धात्म तत्त्वं, इसमें कल की बात ही क्या है ? यह तो वीरों की बात है और वीरों का काम है।

संसार दुष्यं जे नर विरक्तं, ते समय सुद्धं जिन उक्त दिस्टं ।

मिथ्यात मय मोह रागादि बंड, ते सुद्ध दिस्टी तत्त्वार्थ सार्ध ॥

हमें ऐसा लगे तो अभी हो सकता है। जो सिंह जाग गया है वह क्या करता है, इसे सदगुरु अगली गाथा में कहते हैं—

संमिक्तं सुद्ध ध्रुवं सार्ध, सुद्ध तत्त्व प्रकासकं ।

तिअर्थ सुद्ध संपूर्ण, संमिक्तं सास्वतं पदं ॥ २२२ ॥

अन्वयार्थ- (संमिक्तं सुद्ध ध्रुवं सार्ध) सम्यक्त्व से शुद्ध होकर जो अपने ध्रुव स्वभाव की साधना करता है (सुद्ध तत्त्व प्रकासकं) शुद्ध तत्व का प्रकाश करता है (तिअर्थ सुद्ध संपूर्ण) रत्नत्रय से संपूर्ण शुद्ध होकर (संमिक्तं सास्वतं पदं) अपने आत्मीक अविनाशी शाश्वत पद को पाता है।

विशेषार्थ- यहाँ जागे हुए सिंह अर्थात् सम्यक्दृष्टि की महिमा बताई जा रही है कि जिसे निज शुद्धात्मानुभूति हो गई, जिसने जान लिया कि यह शुद्ध चैतन्य टंकोत्कीर्ण अप्पा ममल स्वभावी ध्रुव तत्व शुद्धात्मा मैं हूँ, वह फिर ध्रुव स्वभाव की ही साधना करता है फिर वह पर पर्याय मोह, राग-द्वेषादि विकारी भावों को नहीं देखता, क्या हो रहा है और क्या होगा ? इसका विकल्प नहीं करता, वह तो अपने शुद्ध तत्व का ही प्रकाश करता है अर्थात् निरंतर उसी का चिन्तन आराधन, चर्चा करता रहता है और रत्नत्रय से संपूर्ण शुद्ध होकर अपने अविनाशी शाश्वत सिद्ध पद को पाता है।

इसी बात को छहढाला में पं. दौलतरामजी ने बहुत स्पष्ट अपनी भाषा में कहा है—

सम्यक् श्रद्धा धारि पुनि, सेवहु सम्यग्ज्ञान ।
 स्व पर अर्थ बहु धर्मजुत, जो प्रगटावन भान ॥
 सम्यक् साथै ज्ञान होय, पै भिन्न अराधौ ।
 लक्षण श्रद्धा जान, दुहू में भेद अबाधौ ॥
 सम्यक् कारण जान, ज्ञान कारज है सोई ।
 युगपत होते हू, प्रकाश दीपक तैं होई ॥
 सम्यग्ज्ञानी होय, बहुरि दिढ़ चारित लीजै ।
 एकदेश अरु सकलदेश, तसु भेद कहीजै ॥

यहाँ प्रश्न आता है कि रत्नत्रय से संपूर्ण शुद्ध होकर अपने अविनाशी शाश्वत पद को पाता है तो पहले आप अकेले सम्यक्दर्शन की बात कर रहे थे और अब तीनों की बात करने लगे, इसका क्या प्रयोजन है स्पष्ट करें ?

इसका समाधान करते हैं कि मूल में तो सम्यक्दर्शन ही है, बगैर सम्यक्दर्शन के तो कुछ होने वाला ही नहीं है परंतु— **सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः** यह जैनदर्शन का मूल आधार भी ध्यान में रखना है। अकेले सम्यक्दर्शन से शाश्वत सिद्ध पद मिलने वाला नहीं है। इसके लिये तारण स्वामी ने मालारोहण पंडितपूजा और कमलवत्तीसी में इन तीनों का बहुत सरल सहज अनुभव गम्य स्वरूप बताया है, जो हर साधक को अनुकरणीय है। मालारोहण की आठवीं गाथा से इसी बात को स्पष्ट किया है कि पहले सम्यक्त्व को शुद्ध करो अर्थात् मुझे निज शुद्धात्मानुभूति हो गई इसका पक्का निर्णय करो।

वहाँ प्रश्न आया कि कौन से सम्यक्त्व की बात है तो कहते हैं कि कोई भी हो— उपशम, वेदक, क्षायिक इसमें कोई अंतर नहीं पड़ता परंतु यह निर्णय पक्का हो जाये कि मैं आत्मा हूँ यह शरीरादि मैं नहीं हूँ और वह आत्मा कैसा हूँ यह भी अनुभूतियुत होना, यही सम्यक्त्व की शुद्धि है तथा ज्ञान की शुद्धि स्व-पर का यथार्थ निर्णय, जिसमें कोई संशय, विभ्रम, विमोह न हो, वस्तु स्वरूप तो ऐसा ही है। ऐसा यथार्थ निर्णय होना ज्ञान की शुद्धि है; और इन दोनों के होने पर चारित्र की शुद्धि होना जो निश्चय—व्यवहार के समन्वय पूर्वक हो क्योंकि वर्तमान संयोगी दशा में बगैर द्रव्य संयम के भाव संयम नहीं होता। पाप—परिग्रह, मोह, राग—द्वेष, विषय—कषायों से हटे बचे बगैर स्वरूप में रमणता होती ही नहीं है, यह जैनदर्शन का बड़ा सूक्ष्म मार्ग है। यहाँ कोरी बातें करने मन समझाने या मनमानी करने से भला होने वाला नहीं है।

जो बात जैसी है, उसे वैसी समझकर तद्रूप आचरण करें तभी काम चलता है।

इसी बात को आचार्य कुन्दकुन्द देव ने रयणसार ग्रंथ में कहा है—

सम्म विणा सण्णाणं सच्चारित्तं ण होदि णियमेण ।

तो रयणत्तय मज्झे सम्मगुणू विकडुमिदि जिणुद्धिं ॥ ४५ ॥

सम्यक्दर्शन के बिना सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नियम से नहीं होते हैं इसलिये रत्नत्रय में सम्यक्दर्शन गुण उत्कृष्ट है, यह जिनेन्द्र देव ने कहा है और तीनों की एकता के बिना मुक्ति नहीं होती।

सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र यह तीनों ऐसे कारण हैं कि इनमें से एक भी कम हो जाने पर मोक्ष सुख नहीं मिल सकता; यदि चाहें कि बिना सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान के केवल सम्यक्चारित्र से ही मोक्ष सुख मिल जाये तो यह कभी नहीं हो सकता किन्तु सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान के साथ रहने वाले सम्यक्चारित्र से ही मोक्ष सुख मिल सकता है इसलिये ऐसा चारित्र ही सज्जनों के लिये परम आदरणीय और जगतपूज्य है।

यदि इस जीव की सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान के बल से शुद्ध चिद्रूप में निश्चल रूप से स्थिति हो जाये और पर पदार्थों से सर्वथा प्रेम हट जाय तो उसी को शुद्ध निश्चय नय से चारित्र समझना चाहिये।

निश्चय नय के अभिप्रायानुसार आत्मा का आत्मा में आत्मा के लिये तन्मय होना ही निश्चय सम्यक्चारित्र है। ऐसे चारित्रशील योगी को ही निर्वाण की प्राप्ति होती है।

सम्यक्दृष्टि जीव जागा हुआ सिंह होता है और सिंह की यह विशेषता होती है कि जागने के बाद वह प्रमाद में पड़ा नहीं रहता। अपने कार्य में सक्रिय हो जाता है और जिसे पकड़ लेता है फिर उसे छोड़ता नहीं है। इसी प्रकार सम्यक्दृष्टि जीव भी अपने सिद्ध पद का पुरुषार्थ करता है। इसी बात को अगली गाथा में कहते हैं—

जस्स हृदयं संमिक्तस्य, उदयं सास्वतं स्थिरं ।

तस्य गुणस्य नाथस्य , असक्य गुण अनंतयं ॥ २२३ ॥

अन्वयार्थ- (जस्स हृदयं संमिक्तस्य) जिसके हृदय में सम्यक्त्व का (उदयं सास्वतं स्थिरं) उदय होकर शाश्वत स्थिर हो जाता है अर्थात् क्षायिक सम्यक्दर्शन हो जाता है (तस्य गुणस्य नाथस्य) वह गुणों का नाथ हो जाता है (असक्य गुण

अनंतयं) फिर अनन्तगुण प्रगट होने में कोई बाधा नहीं रहती।

विशेषार्थ- जिसके हृदय में सम्यक्त्व का उदय होकर शाश्वत स्थिर हो जाता है अर्थात् क्षायिक सम्यक्दृष्टि हो जाता है उसके सारे कर्म क्षय होने लगते हैं तथा क्षायिक सम्यक्दृष्टि को कभी भी अपने स्वरूप की विस्मृति नहीं होती यह सम्यक्त्व कभी विलाता नहीं है। क्षायिक सम्यक्दर्शन का प्रकाश होते ही इस आत्मा के भीतर गुणों का विकास होने लगता है। यह आत्मा स्वभाव से अनन्त गुणों का स्वामी है। घातिया कर्मों के आवरण के कारण वे गुण प्रगट नहीं हैं। क्षायिक सम्यक्दर्शन के होने पर वह अधिक काल छद्मस्थ नहीं रहता, सिद्ध परमात्मा हो जाता है या बीच में एक भव देव आदि का लेकर पुनः मनुष्य होकर केवलज्ञानी अरिहंत सिद्ध परमात्मा हो जाता है; क्योंकि जब तक क्षायिक सम्यक्त्व न हो तब तक कोई क्षपक श्रेणी नहीं मांड सकता, क्षपक श्रेणी के बगैर कोई अरिहन्त सिद्ध नहीं होता तो यहाँ तारण स्वामी यही कह रहे हैं कि जिसे क्षायिक सम्यक्दर्शन हो जाता है वह गुणों का नाथ हो जाता है फिर उसके अनन्त गुण प्रगट होने में कोई बाधा नहीं रहती। क्षायिक सम्यक्दृष्टि उसी भव या नियम से तीसरे भव में मोक्ष जाता ही है।

अब यहाँ प्रश्न आता है कि संसारी अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव को क्या एकदम क्षायिक सम्यक्दर्शन हो सकता है या पहले उपशम क्षयोपशम आदि होते हुए क्षायिक होता है ? तथा अत्रती को भी क्या क्षायिक सम्यक्दर्शन हो सकता है ?

उसका समाधान करते हैं कि यह कोई प्रतिबन्ध नहीं है, यह तो जीव की अपनी पात्रता की बात है, अत्रती को भी क्षायिक सम्यक्दर्शन हो सकता है। इतना अवश्य है कि क्षायिक सम्यक्त्व केवलज्ञानी के सान्निध्य में ही होता है। समान्यतः उपशम क्षयोपशम सम्यक्त्व तो कभी भी किसी को हो सकते हैं। वैसे करणानुयोग की परिभाषा में कर्मों के उपशम से होने वाले सम्यक्दर्शन को उपशम सम्यक्त्व कहते हैं, कर्मों के क्षयोपशम से होने वाले सम्यक्दर्शन को क्षयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं और कर्मों के क्षय से होने वाले सम्यक्दर्शन को क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। अब यह जीव की पात्रता होनहार काललब्धि आदि पर आधारित है।

अंत में सम्यक्त्व की विशेषता बताते हुए सद्गुरु अगली गाथा कहते हैं-

संमिक्तं दिस्टते जेन, उदयं त्रि भुवनत्रयं ।

लोकालोक त्रिलोकं च, आलबाले मुषं जथा ॥ २२४ ॥

अन्वयार्थ- (संमिक्तं दिस्टते जेन) जिसको सम्यक्त्व अर्थात् निज शुद्धात्मा

दिखने लगती है उसे (उदयं त्रि भुवनत्रयं) तीसरा ज्ञान नेत्र प्रगट हो जाता है (लोकालोक त्रिलोकं च) उसमें लोकालोक और त्रिलोक ऐसे दिखाई देने लगते हैं जैसे (आलबाले मुषं जथा) निर्मल जल में मुख दिखाई देता है अथवा बालक के हाथ में रखे दर्पण में मुख दिखाई देता है।

विशेषार्थ- यहाँ सम्यक्त्व की विशेषता बताई जा रही है कि जिसे निरन्तर अपना शुद्धात्म स्वरूप दिखने लगा, उसको तीन लोक में वंदनीय तीसरा ज्ञान नेत्र प्रगट हो जाता है। जिसमें लोकालोक और तीन लोक ऐसे दिखने लगते हैं, जैसे निर्मल जल में मुख दिखाई देता है अथवा हाथ में रखे दर्पण में मुख दिखाई देता है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि यह तीसरा ज्ञान नेत्र क्या है ? क्या केवलज्ञान है क्योंकि केवलज्ञान में ही लोकालोक और तीनों लोक प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं तो क्या अव्रत दशा में भी केवलज्ञान हो सकता है ?

इसका समाधान करते हैं कि यह तीसरा ज्ञान नेत्र विवेक या सम्यक्ज्ञान है इसमें भी लोकालोक का स्वरूप प्रत्यक्ष जानने में आने लगता है तथा जिसको सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान होता है उसे नियम से केवलज्ञान होगा ही। अव्रत दशा में विवेक ही वह तीसरा ज्ञान नेत्र है जिसके प्रगट होने पर जीव को संसार का वास्तविक स्वरूप समझ में आता है और वह इससे छूटने के लिये छटपटाने लगता है।

यहाँ तक अन्तरात्मा जघन्य पात्र अव्रत सम्यक्दृष्टि की अठारह क्रियाओं में से पहली सम्यक्त्व क्रिया का वर्णन गाथा क्र. २०२ से २२४ तक किया गया। अब इसको देख, सुन, समझकर हम अपना निर्णय करें कि क्या हम भी सम्यक्दृष्टि हैं, अगर हैं तो आगे की क्रियायें तो सहजता से जीवन में आवेंगी ही, न आवें, न होवें ऐसा हो ही नहीं सकता; क्योंकि हमारा लक्ष्य भी संसार से मुक्त होना है और अपने आनंद परमानंदमयी परमात्म पद को पाना है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि चाहते तो हम भी यही हैं परंतु ऐसा आत्मा का सत्श्रद्धान होता क्यों नहीं है ? इसके लिये क्या करना चाहिये ?

इसका समाधान करते हैं कि भाई ! इसमें तो सबसे पहले हमें अपने आपको देखना होगा कि वास्तव में हम चाहते क्या हैं ? हमारी रुचि चाह, लगन किस ओर की है ? क्योंकि मुँह में नमक की डली रखे रहें और मिश्री का स्वाद चाहें तो यह तो हो ही नहीं सकता। रुचि अनुगामी पुरुषार्थ होता है और फिर आत्मा तो अपना निज स्वभाव ही है। इसके लिये भेदज्ञान पूर्वक तत्व का निर्णय करें और भीतर से इसके

लिये छटपटाहट-ललक, लगन होवे तो सहज में आत्मानुभूति हो सकती है। ऊपरी मन समझाने या पर को बताने की अपेक्षा चर्चा करें तो इससे कोई लाभ नहीं है। एक बात और है कि इसमें मन का चक्कर बहुत बाधक है। यह पहले तो अपने स्वरूप को देखने ही नहीं देता, संसार, शरीर, भोगों में भ्रमाता रहता है, जो इनसे बचकर छूटकर अपने स्वरूप में आता है तो यह वहाँ भी संशय, विभ्रम पैदा करता है; क्योंकि स्वरूपानुभूति निर्विकल्प दशा तो एक समय की होती है, उसके बाद विला जाती है तो यह यहाँ भी भ्रमाता है कि अभी सम्यक्दर्शन नहीं हुआ, जिसे सम्यक्दर्शन होता है, वह ऐसा होता है, ऐसा करता है आदि नाना प्रकार की जो चर्चायें सुन रखी हैं उन्हें बीच में लाकर खड़ी करता है, तो ऐसे में भी बहुत मुश्किल पड़ता है। यहाँ तारण स्वामी इसलिये सभी अपेक्षाओं से अपना निर्णय करा रहे हैं कि यह बात पहले पक्की कर लो, तो आगे सब सहज में सधेगा, वरना बड़ा मुश्किल होगा विकल्प खड़े होंगे।

अपने सम्यक्दर्शन, शुद्धात्म स्वरूप का निर्णय तो अपने को स्वयं करना है और वह स्वयं से ही स्वयं में होता है, इसे न पर जानता है, न इससे पर का कोई संबंध ही है, स्वयं का निर्णय करें तो सब सहजता से हो सकता है।

आगे अव्रत सम्यक्दृष्टि जघन्य पात्र अन्तरात्मा की अठारह क्रियाओं में आठ मूलगुण का उनके स्वरूप सहित वर्णन करते हैं -

मूलगुणं च उत्पादंते, फलं पंच न दिस्टते।

बड़ पीपल पिलषुनी च, पाकर उदंबरस्तथा ॥ २२५ ॥

अन्वयार्थ- (मूलगुणं च उत्पादंते) जो मूलगुण का पालन करता है (फलं पंच न दिस्टते) वह पाँच प्रकार के फलों को देखता ही नहीं है (बड़ पीपल पिलषुनी च) बड़ के फल, पीपल के फल, ऊमर, कटूमर के फल और (पाकर उदंबरस्तथा) पाकर अर्थात् अंजीर के फल यह उदम्बर फल हैं।

विशेषार्थ- पहले लोग जंगली चीजों का, जंगली फलों का ज्यादा उपयोग करते थे, खाते थे। जिनमें यह शराब पीना, मांस खाना, शहद खाना, बड़ के फल, पीपल के फल, ऊमर के फल, अंजीर के फल तथा गूलर के फल जो विशेषता से होते थे इनका सेवन करते थे। इन चीजों के सेवन करने खाने से त्रस जीव- दो इन्द्रिय से लेकर पाँच इन्द्रिय तक के जीव जो इनमें होते थे, सबका घात होता था।

जो महान हिंसा, पाप बन्ध का कारण है। पहले लोग कहते थे- कहावत थी कि ऊमर फोड़ो न पखा उड़ाओ अर्थात् ऊमर के फल को मत फोड़ो उसमें चार इन्द्रिय उड़ने वाले असंख्यात जीव होते हैं। इसी प्रकार इन फलों में दो इन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के असंख्यात जीव होते हैं, जो इनका सेवन करने पर मर जाते हैं तथा इनसे कई रोग भी पैदा होते हैं, जो बड़े खतरनाक होते हैं। जिसका विवेक जाग्रत हो जाता है वह फिर इनका कभी भी सेवन नहीं करता।

बड़, पीपल, ऊमर, गूलर और अंजीर इन पाँच वृक्षों के हरे फल या सूखे फल जो खाता है वह राग भाव की अधिकता से अनेक त्रस जंतुओं का घात करने वाला है। सम्यक्दृष्टि विवेकी हो जाता है। वह खान-पान ऐसा रखता है जिससे शरीर स्वस्थ रहे, धर्म ध्यान में बाधा न पड़े तथा त्रस-स्थावर दोनों प्रकार के प्राणियों की हिंसा से बचा जा सके। वह जिह्वा का लम्पटी नहीं रहता है इसलिये जिन फलों में प्रत्यक्ष कीड़े उड़ते दिखते हैं अथवा कीड़ों की उत्पत्ति की बहुत संभावना है उन वस्तुओं को दयावान सम्यक्दृष्टि नहीं खाता है। ऐसे अनेक फल हैं जिनमें त्रस जीव होते हैं, उनमें यहाँ पाँच प्रमुख गिनाये गये हैं, इसी तरह के और भी जो फल हों, जिनमें त्रस जीव पाये जावें या उनके होने की संभावना हो- उनको दयावान सम्यक्दृष्टि नहीं खाता। **शुद्ध आहार शरीर और मन दोनों का रक्षक है।**

इसी बात को गुरुदेव अगली गाथा में कहते हैं -

फलानि पंच तिक्तंति, त्रसस्य रष्यनार्थयं।

अतीचार उत्पादंते, तस्य दोष निरोधनं ॥ २२६ ॥

अन्वयार्थ- (फलानि पंच तिक्तंति) सम्यक्दृष्टि इन पाँच फलों को तो छोड़ ही देता है (त्रसस्य रष्यनार्थयं) त्रस जीवों की रक्षा के लिये कभी इनका सेवन नहीं करता तथा (अतीचार उत्पादंते) जिन फलों के सेवन से अतिचार पैदा होते हैं, वैसा दोष लगता है (तस्य दोष निरोधनं) उन दोषों का निरोध करने के लिये ऐसे फलों का खाना भी बन्द कर देता है, छोड़ देता है।

विशेषार्थ- अष्ट मूलगुणों में पंच उदम्बर तीन मकार कहे जाते हैं, तो अव्रत सम्यक्दृष्टि इन पाँच फलों को खाना तो छोड़ ही देता है क्योंकि उसको त्रस जीवों की रक्षा की भावना रूप दयाभाव प्रगट हो गया है तथा और ऐसे अन्य फल जिनमें त्रस जीवों की उत्पत्ति की संभावना होती है या जिनके सेवन करने से अतीचार, वैसे दोष

लगते हैं, उनका भी वह त्याग कर देता है; इसलिये जैसे- बड़, पीपल आदि फलों को त्रस जीवों की रक्षार्थ त्यागा जाता है, वैसे ही और फलों को जिनमें कीड़ों के पैदा होने की संभावना है उनको भी नहीं खाना चाहिये, इनमें भी त्रस जीव पैदा हो जाते हैं तथा हर फल को जो सूखे बादाम सुपारी इलायची-छुहारा आदि या बहुत दिन के रखे फल हों, इनको तोड़कर व भले प्रकार देखकर ही खाना चाहिये, साबुत फल कभी कोई सा नहीं खाना चाहिये; क्योंकि गर्मी, सर्दी बरसात आदि के निमित्त से हर फल में त्रस जीवों का पैदा होना संभव है। कुछ फलों को तोड़ने पर अन्दर कीड़े चलते हए दिखाई देते हैं इसलिये इनके अतिचारों (दोषों) से बचने के लिये प्रत्येक सदगृहस्थ श्रावक को इनका सेवन नहीं करना चाहिये। फलों के साथ अन्न आदि बीज में, फल फूल में भी संमूर्च्छन त्रस आदि जीवों की उत्पत्ति होती है। जीव रक्षा, अहिंसा और दयाभाव पालने के लिये इनका भी विवेकपूर्वक सेवन करना चाहिये। इसी बात को श्री गुरु आगे की गाथा में कहते हैं-

अन्नं जथा फलं पुहपं, बीजं संमूर्च्छनं जथा ।

तथाहि दोष तिव्रतंते, अनेय उत्पाद्यते जथा ॥ २२७ ॥

अन्वयार्थ- (अन्नं जथा फलं पुहपं) इसी तरह से अन्नादि जो घुन गया हो, फल-फूल (बीजं संमूर्च्छनं जथा) बीज, साग, पत्ती आदि (तथाहि दोष तिव्रतंते) वैसा ही दोष देखकर छोड़ देना चाहिये (अनेय उत्पाद्यते जथा) जहाँ इस प्रकार के अनेक त्रस जीवों की उत्पत्ति हो।

विशेषार्थ- अन्न जो पुराना हो, घुन गया हो, काली फुल्ली पड़ गई हो, वह भी त्रस जीवों का स्थान जानकर त्याग देना चाहिये। फल-जो सड़ गया हो, उसमें त्रस जीवों की उत्पत्ति हो जाती है, ऐसा जानकर नहीं खाना चाहिये। फूलों में भी त्रस जीव स्पष्ट दिखाई देते हैं, जो उनके अन्दर रहते हैं- ऐसे फूलों तथा फूलगोभी आदि को नहीं खाना चाहिये। साग, पत्ती आदि जिसमें त्रस जीवों के बैठने रहने की संभावना हो, नहीं खाना चाहिये तथा और चीजें जिनमें त्रस जीवों की उत्पत्ति की संभावना हो, जैसे- जिनका स्वाद विचलित हो गया हो, स्वाद रहित रस आदि जो बाईस अभक्ष्य के अन्तर्गत आते हैं, इनको भी अव्रत सम्यक्दृष्टि त्याग देता है, तभी वह पंच उदम्बर फल का सच्चा त्यागी होता है। अजान फलों को भी बिना जाने नहीं खाना चाहिये, जिसमें त्रस जीवों की रक्षा हो वह कार्य करना चाहिये। दयावान अव्रती श्रावक अपने

जीवन के समान ही अन्य पंचेन्द्रिय जीवों को भी समझता है। जब कोई प्राणी अपना मरण नहीं चाहता है, तो हमारा भी कर्तव्य है कि उनके प्राणों की रक्षा करते हुए हम अपना खान-पान आदि आचरण शुद्ध रखें।

जघन्य पात्र अव्रत सम्यक्दृष्टि अन्तरात्मा की अठारह क्रियाओं में पहली सम्यक्त्व, इसके बाद आठ मूलगुण- जिसमें पांच उदम्बर का वर्णन किया, श्री गुरुदेव आगे तीन मकार में मद्य के स्वरूप का वर्णन करते हैं-

मद्यं च मान संबंधं, ममतं राग पूरितं ।

असुद्धं आलापं वाक्यं, मद्य दोष संगीयते ॥ २२८ ॥

अन्वयार्थ- (मद्यं च मान संबंधं) शराब और मान का सम्बंध (ममतं राग पूरितं) ममता के राग से पूरित कर देता है (असुद्धं आलापं वाक्यं) अशुद्ध वचन बोलना, व्यर्थ बकवाद करना (मद्य दोष संगीयते) यह सब मदिरा शराब के दोष कहे जाते हैं।

विशेषार्थ- तीन मकार में मद्य, मांस, मधु आते हैं। जिसमें यह मद्य का त्याग करना पहला मकार है। मद्य-मदिरा, शराब पीने को कहते हैं, जो सड़ी गली गन्दी वस्तुओं से बनाई जाती है। जिसके पीने से मनुष्य उन्मत्त मदहोश हो जाता है फिर उसे अपनी और पर की कोई खबर नहीं रहती, वह अनर्गल प्रलाप एवं नाना प्रकार के क्रिया कलाप करता है, तो ऐसी शराब पीने का त्याग अव्रत सम्यक्दृष्टि कर देता है।

यहां कोई प्रश्न करता है कि ऐसे गंदे पदार्थों का मद्य, मांस, मधु का सेवन तो हम भी नहीं करते, उच्च कुल वाले तो इन वस्तुओं का सेवन करते ही नहीं हैं, सामान्य मनुष्य भी इनका सेवन नहीं करता, इनका सेवन तो नीच लोग करते हैं, यह तो सबको ही त्याज्य है, फिर इसमें सम्यक्दृष्टि की क्या विशेषता है?

तारण स्वामी इसी बात को लेकर सम्यक्दृष्टि की विशेषता बता रहे हैं कि जैसे- शराब पीने वाला नशे में उन्मत्त हो जाता है, उसे कोई होश नहीं रहता क्योंकि मोह और मान से पूरित राग युक्त व्यक्ति को भी कोई होश नहीं रहता है, वह भी झूठ-सच बोलता है, अपने मान के अहंकार में फूला रहता है। इस मद के आठ भेद बताए हैं- कुल मद, जाति मद, धन मद, रूप मद, बल मद, ज्ञान मद, तप मद, और ऋद्धि मद या अधिकार मद। इनमें फूला मोह और राग में लिप्त मनुष्य को फिर कुछ सूझता नहीं है। चाहे जिसका अपमान कर देना, चाहे जिससे चाहे जो कुछ कह

देना, अपनी अकड़ में रहना, अपने आपको होशियार और सबको मूर्ख मानना, अपने कार्य, अपनी बात को श्रेष्ठ मानना और सबको दोष लगाना, अपनी प्रशंसा करना, दूसरों की निन्दा करना, किसी का बढ़ना सहन न होना, इन बातों का त्याग होने पर ही वास्तविक मद्य त्याग है। अव्रत सम्यक्दृष्टि इन बातों का भी विवेक रखता है क्योंकि क्रोध और मान का तीव्र प्रकोप हो, वह सम्यक्दृष्टि हो ही नहीं सकता क्योंकि जहां पर वस्तु में अहंपना है वहां आत्मानुभूति कैसे होगी; इसलिये अव्रत सम्यक्दृष्टि इन बातों का भी ध्यान रखता है और इनको छोड़कर ही अपने सत्स्वरूप की साधना करता है।

आगे इसकी और विशेषता बताई जा रही है -

संधानं संमूर्च्छनं जेन, तिक्तंति जे विचष्यनं ।

अनंत भाव दोषेन, न करोति सुद्ध दिस्टितं ॥ २२९ ॥

अन्वयार्थ- (संधानं संमूर्च्छनं जेन) संधान-रसदार, रसभरी वस्तु जैसे- मुरब्बा, अचार, शीरा आदि जिसमें संमूर्च्छन जीवों की उत्पत्ति विशेषता से हो जाती है (तिक्तंति जे विचष्यनं) जो ज्ञानवान विलक्षण पुरुष हैं, वह इसे भी छोड़ देते हैं (अनंत भाव दोषेन) गन्दे अश्लील दोष युक्त भाव जो अनन्त प्रकार के होते हैं (न करोति सुद्ध दिस्टितं) शुद्ध दृष्टि ऐसे भाव भी नहीं करता है।

विशेषार्थ- मद्य त्याग करने वाले की और विशेषता बताई जा रही है कि जो शराब तो नहीं पीता पर ऐसी वस्तुएं जिनमें संमूर्च्छन जीवों की विशेष उत्पत्ति होती है, जैसे मुरब्बा-अचार, शीरा आदि जिनमें फफूंद पड़ जाती है। अचार आदि में तो त्रस जीव भी चलते-फिरते दिखाई देने लगते हैं इसलिये विवेकी पुरुष इनका भी त्याग कर देता है तथा ऐसे दोष युक्त भाव जो अनन्त प्रकार के होते हैं, नहीं करता क्योंकि वह जानता है कि जैसे परिणाम होंगे वैसे ही कर्मों का बंध होगा इसलिये वह इस बात से भी सतर्क रहता है।

जिस वस्तु में रस के सम्बन्धी अनन्त जंतु उत्पन्न हो जावें, उन सबको संधान कहते हैं। सम्यक्दृष्टि जीव जिह्वा का लम्पटी नहीं होता इसलिये वह विवेक पूर्वक ही खान-पान रखता है। शुद्ध भोजन करने से परिणाम निर्मल रहते हैं, आलस्य नहीं सताता, रोग नहीं होते हैं। अनन्तानुबन्धी कषाय, अन्याय अभक्ष्य की ओर प्रेरित करती है, सम्यक्दृष्टि के ऐसी कषाय की भावना नहीं होती है, इससे वह विचार पूर्वक आचरण करता है।

आगे मांसभक्षण का त्याग सम्बन्धी स्वरूप कहते हैं-

मासं भष्यते जेन, लोनी मुहूर्त गतस्तथा ।

न भुक्तं न उक्तं च, व्यापारं न च क्रीयते ॥ २३० ॥

दो दारिया मही दुग्धं, जे नर भुक्त भोजनं ।

स्वादं विचलिते जेन, भुक्तं मांस दोषनं ॥ २३१ ॥

अन्वयार्थ- (मासं भष्यते जेन) जो मांस का भक्षण करते हैं, खाते हैं वह तो हिंसक पापी ही हैं परन्तु जो मांस भक्षण के त्यागी हैं उन्हें (लोनी मुहूर्त गतस्तथा) एक मुहूर्त के बाद का मक्खन भी नहीं खाना चाहिये क्योंकि उसमें सम्मूर्च्छन पंचेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति हो जाती है इसलिये (न भुक्तं न उक्तं च) न स्वयं खाना चाहिये और न ही किसी से खाने को कहना चाहिये (व्यापारं न च क्रीयते) और न इसका व्यापार ही करना चाहिये।

(दो दारिया मही दुग्धं) दो दाल वाली वस्तु मही में या दूध में डालकर भी नहीं खाना चाहिये तथा (स्वादं विचलिते जेन) जिन चीजों का स्वाद बिगड़ गया हो उनको भी नहीं खाना चाहिये (जे नर भुक्त भोजनं) जो मनुष्य इन वस्तुओं का उपयोग करते खाते हैं (भुक्तं मांस दोषनं) इनके खाने से मांस का दोष लगता है।

विशेषार्थ- यहाँ तीन मकार में दूसरा मांस खाने का त्याग करना आठ मूलगुणों के अंतर्गत बताया जा रहा है, तो जो मांस भक्षण करते हैं वह तो हिंसक पापी हैं परन्तु जो इसका त्याग कर देते हैं पर यदि एक मुहूर्त के बाद अर्थात् ४८ मिनट के बाद का मक्खन खाते हैं तो वह मांस भक्षण के दोषी हैं क्योंकि एक मुहूर्त के बाद मक्खन में वैसे ही संमूर्च्छन पंचेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति होने लगती है इसलिये ४८ मिनट के पहले मक्खन को गरमकर छानकर घी बना लेना चाहिये।

जिन वस्तुओं के सेवन करने से त्रस जीवों का घात हो ऐसी वस्तुओं को न तो स्वयं खाना चाहिये न किसी से खाने को कहना चाहिये तथा न ऐसी वस्तुओं का व्यापार करना चाहिये क्योंकि कृत, कारित, अनुमोदना से भी उसी दोष के भागी होते हैं। पहले के जैन श्रावक शहद मक्खन तथा अन्य ऐसी वस्तुएं जिनमें त्रस जीवों का घात होता हो उनका व्यापार भी नहीं करते थे। दो दालों वाली वस्तु अनाज-मेवा आदि भी मही-दही, दूध में मिलाकर नहीं खाना चाहिये क्योंकि इनको मिलाकर खाने से मुँह में जाते ही सम्मूर्च्छन जीवों की उत्पत्ति हो जाती है।

मुर्गी पालने वाले को आप देखें, वे मिट्टी के बर्तन में बेसन डालकर ऊपर से मही सींचते हैं तथा उसमें थूकते हैं, इससे उसमें कीड़े पैदा हो जाते हैं, जिनको मुर्गी के छोटे-छोटे बच्चे खाते हैं। जिन वस्तुओं का स्वाद बिगड़ जावे उनको भी नहीं खाना चाहिये क्योंकि उनमें भी सम्मूर्च्छन, त्रस जीव पैदा हो जाते हैं। इन चीजों का भक्षण करना भी मांस भक्षण का दोष है अतः जो मांस भक्षण के त्यागी हैं उनको इनका भी त्याग करते हुए अपने नियम को सही पालन करना चाहिये। अव्रत सम्यक्दृष्टि विवेकशील इन सब बातों को जानता हुआ विवेकपूर्वक आचरण करता है।

आगे मधु त्याग का स्वरूप बताते हैं-

**मधुरं मधुरस्चैव, व्यापारं न च क्रीयते ।
मधुरं मिश्रिते जेन, द्वि मुहूर्तं संमूर्च्छनं ॥ २३२ ॥
संमूर्च्छनं जथा जानंते, साकं पुहपादि पत्रयं ।
तिक्तंते न च भुक्तं च, दोषं मांस उच्यते ॥ २३३ ॥
कंदं बीजं जथा नेयं, संमूर्च्छनं विदलस्तथा ।
व्यापारे न च भुक्तं च, मूलगुणं प्रति पालये ॥ २३४ ॥**

अन्वयार्थ- (मधुरं मधुरस्चैव) शहद और शहद जैसी मीठी वस्तुएँ (व्यापारं न च क्रीयते) इनका व्यापार भी नहीं करना चाहिये (मधुरं मिश्रिते जेन) जिन वस्तुओं में शहद या शहद जैसा अन्य पदार्थ मिला हो (द्वि मुहूर्तं संमूर्च्छनं) उसमें दो मुहूर्त अर्थात् डेढ़ घन्टा में असंख्यात संमूर्च्छन जीवों की उत्पत्ति हो जाती है।

(संमूर्च्छनं जथा जानंते) संमूर्च्छन के बराबर जानना चाहिये (साकं पुहपादि पत्रयं) साग सब्जी, फूल, पत्ते आदि (तिक्तंते न च भुक्तं च) जो इनको छोड़ता नहीं है और खाता है (दोषं मांस उच्यते) उसे मांस का दोष कहा गया है।

(कंदं बीजं जथा नेयं) कंदमूल, बीज, अनाज और इसी प्रकार की अनेक वस्तुएँ जिनमें (संमूर्च्छनं विदलस्तथा) संमूर्च्छन और द्विदल जैसी वस्तुएँ आती हैं (व्यापारे न च भुक्तं च) इनको न खाना चाहिये और न इनका व्यापार करना चाहिये (मूलगुणं प्रति पालये) तभी सही मूल गुणों का पालन होता है।

**मधु मांस मद्यों का, न जिनमें रे हनन का पार है ।
करते नहीं, जो विज्ञ होते हैं कभी व्यापार हैं ॥**

**मधु का सम्मिश्रण, दो मुहूर्तों के अनन्तर विज्ञजन ।
अगणित त्रसों सम्मूर्च्छनों का केन्द्र बनजाता सघन ॥
पत्ती पुहुप औ शाक जो, होती वनस्पति काय हैं ।
उनमें विचरते जीव नित, सम्मूर्च्छन पर्याय हैं ॥
त्यागो इन्हें, इनका ग्रहण करना सभी विधि हेय है ।
व्यापार भी इनका नहीं करना इसी में श्रेय है ॥
जो कंद हैं, जो बीज हैं या जो विदल हैं विज्ञजन ।
जिनके कि कण कण में विचरते, नित्यप्रति सम्मूर्च्छन ॥
जो अष्टगुण को चाहता, करता हृदय का हार है ।
इनका कभी करता न वह, व्यापार या व्यवहार है ॥**

विशेषार्थ- यहाँ तीन मकार में अन्तिम मधु त्याग का वर्णन चल रहा है। मधु अर्थात् शहद यह मधु मक्खियों द्वारा फूलों आदि के रस से संग्रहीत की जाती है पर इसमें ही उनकी विष्टा, अण्डे आदि भी दिये जाते हैं और जब यह तोड़ी जाती है तो हजारों लाखों मधु मक्खियों की हिंसा होती है; इसलिये एक बूंद शहद खाने में हजारों जीवों की हिंसा का दोष लगता है तथा इसमें सम्मूर्च्छन जीवों की उत्पत्ति तो प्रतिसमय होती ही रहती है, किसी अन्य पदार्थ में मिलाने पर दो मुहूर्त में उसमें भी असंख्यात सम्मूर्च्छन जीवों की उत्पत्ति हो जाती है इसलिये विवेकवान श्रावक न तो इसे खाते हैं, न इसका व्यापार करते हैं तथा इसी तरह की अन्य वस्तु गुड़ आदि की राव भी न खाना चाहिये, न व्यापार करना चाहिये और जिन चीजों में सम्मूर्च्छन जीवों की उत्पत्ति होवे, ऐसे कंदमूल-फल, बीज, साग, पत्ती आदि भी न खाना चाहिये, न व्यापार करना चाहिये तभी यथार्थतया अष्ट मूलगुण का पालन होता है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि यह अष्ट मूलगुण का पालन करने वाला तो अव्रती होता है, यहाँ इनके अतिचार सहित विवेचन किया है तो यह तो व्रती श्रावक की क्रियायें हैं, जो व्रती श्रावक प्रतिमाधारी होते हैं वह इनका अतिचार रहित पालन करते हैं। आपने यहाँ अव्रत सम्यक्दृष्टि की अठारह क्रियाओं में ऐसा विवेचन किया और कह रहे हैं कि यह तो अच्छे-अच्छे व्रती, त्यागी, साधु भी ऐसा पालन नहीं करते और न ऐसा किसी अन्य शास्त्र में ही लिखा है फिर आपका यह अलग से ऐसा निरूपण करने का क्या अभिप्राय है ?

इसका समाधान करते हैं कि भाई ! यह कोई लादी हुई थोपी हुई क्रियायें नहीं

हैं, यह तो जो जीव जाग गया है अर्थात् जिसे निज शुद्धात्मानुभूति हुई है, जिसने ऐसा जाना है कि इस शरीरादि से भिन्न मैं एक अखंडअविनाशी चैतन्य तत्व भगवान् आत्मा हूँ, जो सिद्ध के समान शुद्ध परम ब्रह्म परमात्म स्वरूप है, यह शरीरादि में नहीं और यह मेरे नहीं तथा— जिस जीव का जिस द्रव्य का जिस समय जैसा जो कुछ होना है वह अपनी तत्समय की योग्यतानुसार हो रहा है और होगा उसे कोई टाल फेर बदल सकता नहीं है, जो यह अनुभव प्रमाण स्वीकार करता है वह अव्रत सम्यक्दृष्टि है तथा जिसे संसार, शरीर, भोगों से वैराग्य भाव जागा है, जो इन सारे संयोगों से छूटना चाहता है, उसके जीवन में यह अठारह क्रियायें सहज में ऐसी ही पलती हैं क्योंकि जिसके अन्तर में न अब कुछ खाने का भाव है, न करने का भाव है, न भोगने का भाव है न कुछ कहने, सुनने बोलने का भाव है, बस वह तो मजबूरी में रह रहा है, कर रहा है खा रहा है तो बताओ उसका आचरण कैसा होगा ? अरे ! उसे तो जो कुछ जैसा रूखा-सूखा मिल जाये सिर्फ पेट ही तो भरना है, उसकी रस लोलुपता नहीं रहती फिर बताओ क्या वह भक्ष्य-अभक्ष्य खायेगा, कोई हिंसादि पाप क्रिया का व्यापार करेगा ? यह उसे छोड़ना नहीं पड़ते अपने आप छूट जाते हैं। अव्रत सम्यक्दृष्टि जिसका विवेक जाग गया है, वह कैसा होता है यह तो उसे उसी रूप में हम स्वयं वैसे बनकर देखें तब पता लगता है। यहाँ तारण स्वामी ने किसी शास्त्र की नकल नहीं की, यह तो जो उनके जीवन में घटित हुआ, वह लिखा है और यही सत्य है ध्रुव है प्रमाण है। यहाँ ऊपर से लगाये गये पत्तों फूलों की बात नहीं की जा रही, यहाँ तो भीतर से स्वयं पैदा होता है उसके पत्ते फूलों और फल की बात की जा रही है। अव्रत सम्यक्दृष्टि का जीवन इतना ही प्रमाणित होता है तभी वह सही सम्यक्दृष्टि है।

अब आगे अव्रत सम्यक्दृष्टि की अठारह क्रियाओं में रत्नत्रय की साधना के स्वरूप का वर्णन किया जा रहा है—

दर्शनं न्यान चारित्रं, सार्धं सुद्धात्मा गुनं ।

तत्त्व नित्य प्रकासेन, सार्धं न्यान मयं ध्रुवं ॥ २३५ ॥

अन्वयार्थ- (दर्शनं न्यान चारित्रं) सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की साधना (सार्धं सुद्धात्मा गुनं) शुद्धात्मा के गुणों की साधना या श्रद्धान है (तत्त्व नित्य प्रकासेन) इससे अपने निज तत्त्व का हमेशा प्रकाश होता है (सार्धं न्यान मयं ध्रुवं) यही साधना ज्ञानमयी ध्रुव तत्त्व को प्रगट कराती है।

विशेषार्थ- यहाँ रत्नत्रय की साधना के स्वरूप का वर्णन किया जा रहा है, रत्नत्रय अर्थात् सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों मय ही शुद्धात्म स्वरूप है। इन तीनों की एकता मोक्षमार्ग है और पूर्णता मोक्ष है। अव्रत सम्यक्दृष्टि जघन्य पात्र अन्तरात्मा जिसके जीवन में अठारह क्रियाओं का पालन सहज में होता है, उसमें प्रथम सम्यक्त्व और फिर आठ मूलगुण का वर्णन किया, यहाँ तीन रत्नत्रय की साधना का, उसके स्वरूप सहित वर्णन किया जा रहा है कि यह रत्नत्रय अर्थात् सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की साधना अपने शुद्धात्मा के गुणों की साधना है, इससे अपने निज तत्त्व शुद्धात्म स्वरूप का नित्य प्रकाश बढ़ता है और यही साधना एक दिन अपने ज्ञानमयी ध्रुव तत्त्व शुद्ध चिद्रूप को प्रगट करा देती है अर्थात् अरिहन्त सर्वज्ञपद तथा सिद्ध पद प्रगट हो जाता है। इसी बात को तत्त्वज्ञान तरंगिणी में भट्टारक ज्ञानभूषण जी ने जो तारण स्वामी के समकालीन संवत् १५६० में हुए यही बात कही है—

रत्नत्रयोपलंभेन बिना शुद्धचिदात्मनः ।

प्रदुर्भावो न कस्यापि श्रूयते हि जिनागमे ॥

बिना रत्नत्रयं शुद्ध चिद्रूपं न प्रपन्नवान् ।

कदापि कोऽपि केनापि प्रकारेण नरः क्वचित् ॥१२/१, २॥

जैन आगम से यह बात स्पष्ट जानी जाती है कि बिना रत्नत्रय को प्राप्त किये आज तक किसी भी जीव को शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति नहीं हुई अर्थात् परमात्म पद प्राप्त नहीं हुआ। बिना रत्नत्रय अर्थात् सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र को प्राप्त किये आज तक किसी मनुष्य ने कहीं और कभी भी किसी दूसरे उपाय से शुद्ध चिद्रूप को नहीं पाया।

रत्नत्रयाद्विना चिद्रूपोपलब्धिर्न जायते ।

यथर्द्धिस्तपसः पुत्री पितुर्वृष्टिर्बलाहकात् ॥१२/३॥

जिस प्रकार तप के बिना ऋद्धि, पिता के बिना पुत्री और मेघ के बिना वर्षा नहीं हो सकती, उसी प्रकार बिना रत्नत्रय की प्राप्ति के शुद्ध चिद्रूप की भी प्राप्ति नहीं हो सकती।

दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूपात्म प्रवर्तनं ।

युगपद् भव्यते रत्नत्रयं सर्वजिनेश्वरैः ॥१२/४॥

भगवान् जिनेश्वर ने एक साथ सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र

स्वरूप आत्मा की प्रवृत्ति को रत्नत्रय कहा है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि क्या यह रत्नत्रय की साधना एकदम एक साथ होती है या क्रम से करना पड़ती है ?

उसका समाधान करते हैं कि भाई ! यह रत्नत्रय शुद्धात्मा के गुण हैं और सब एक साथ रहते हैं, अब साधक अपनी पात्रता और परिस्थिति अनुसार किस प्रकार साधना करता है, इसमें एकरूपता नहीं होती परन्तु तीनों की एकता हुए बगैर मोक्षमार्ग नहीं बनता और तीनों की पूर्णता होने पर मोक्ष अर्थात् शुद्ध चिद्रूप परमात्म पद होता है इसमें अन्यथा भेद नहीं हो सकता।

फिर प्रश्न आता है कि आप सम्यक्दर्शन की प्रमुखता कहते हैं और फिर तीनों की एकरूपता कहते हैं तो आखिर इसका क्रम क्या है ? इसका समाधान करते हैं कि भाई ! सम्यक्दर्शन तो प्रमुख है ही बगैर सम्यक्दर्शन अर्थात् निज शुद्धात्मानुभूति के सम्यक्ज्ञान सम्यक्चारित्र होता ही नहीं है इसलिये सबसे पहले भेदज्ञान पूर्वक स्व-पर का यथार्थ निर्णय कर अपने आत्म स्वरूप का सत्श्रद्धान करना, वैसे सम्यक्दर्शन होते ही सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र एक साथ ही एक समय में होते हैं; परन्तु सम्यक्दर्शन अपने में पूर्ण है और सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र में क्रमशः विकास होता है, यह एकदम एक साथ पूर्ण नहीं होते, इनकी साधना करना पड़ती है और यह जीव की पात्रता, पुरुषार्थ पर क्रमशः बढ़ते हैं।

इसी बात को यहाँ तारण स्वामी सबसे पहले सम्यक्दर्शन की पूर्णता और शुद्धता की बात करते हैं तथा सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की साधना पूर्वक विकास का क्रम निरूपित करते हैं पर तीनों की एकता मोक्षमार्ग और तीनों की पूर्णता ही मोक्ष है यह निश्चित है और इसकी साधना करना ही प्रत्येक साधक का कर्तव्य है—

दर्शनं तत्त्व सार्धं च, तिअर्थं सुद्ध दिस्टतं।

मय मूर्ति संपूर्ण च, स्वात्म दर्शन चिंतनं ॥ २३६ ॥

दर्शनं सप्त तत्त्वानं, दर्व काय पदार्थकं।

जीव द्रव्यं च सुद्धं च, सार्धं सुद्धं दरसनं ॥ २३७ ॥

अन्वयार्थ- (दर्शनं तत्त्व सार्धं च) तत्त्व का श्रद्धान सम्यक्दर्शन है और (तिअर्थं सुद्ध दिस्टतं) रत्नत्रय से शुद्ध देखना (मयमूर्ति संपूर्ण च) ज्ञानमयी अपने गुणों से परिपूर्ण चैतन्यमूर्ति है ऐसे (स्वात्म दर्शन चिंतनं) स्व आत्मा का दर्शन और चिन्तन करना।

(दर्शनं सप्त तत्त्वानं) सम्यक्दर्शन सात तत्त्वों का (दर्व काय पदार्थकं) छह द्रव्यों का, पांच अस्तिकाय और नौ पदार्थ का यथार्थ निर्णय करना और इनमें (जीव द्रव्यं च सुद्धं च) एक मात्र जीव द्रव्य जो अपने स्वभाव से शुद्ध है (सार्धं सुद्धं दरसनं) इसका श्रद्धान करना ही शुद्ध सम्यक्दर्शन है।

विशेषार्थ- यहाँ रत्नत्रय की साधना के अंतर्गत प्रथम सम्यक्दर्शन के स्वरूप का वर्णन कर रहे हैं कि वह सम्यक्दर्शन निश्चय-व्यवहार की अपेक्षा दो प्रकार का होता है। तत्त्वों का श्रद्धान करना व्यवहार सम्यक्दर्शन है और रत्नत्रय से परिपूर्ण शुद्ध ज्ञानमयी चैतन्यमूर्ति स्व आत्मा का दर्शन अर्थात् निज शुद्धात्मानुभूति ही निश्चय सम्यक्दर्शन है, और स्पष्ट करने के लिये दूसरी गाथा में खुलासा किया है कि सात तत्त्व-जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष। छह द्रव्य- जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल। पंचास्तिकाय - जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय। नौ पदार्थ- जीव, अजीव, पुष्प, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष।

इन सत्ताईस तत्त्वों का यथार्थ निर्णय, इनके भेद और स्वरूप को जानना व्यवहार सम्यक्दर्शन है और इनमें एक मात्र जीव द्रव्य जो स्वभाव से शुद्ध है उसका श्रद्धान करना ही शुद्ध सम्यक्दर्शन है।

यहां कोई प्रश्न करे कि तत्त्वार्थ सूत्र में **तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यक्दर्शनं**, यह सूत्र आया है कि तत्त्वार्थ का श्रद्धान ही सम्यक्दर्शन है फिर व्यवहार-निश्चय का भेद कहाँ से आया ?

इसका समाधान करते हैं कि यह व्यवहार-निश्चय भेद कहीं से आया नहीं है, यह तो जैन दर्शन का मूल आधार है। तत्त्वार्थ सूत्र में भी इसी बात को कहा है कि तत्त्व (वस्तु) के स्वरूप सहित अर्थ, जीवादि पदार्थों की श्रद्धा करना सो सम्यक्दर्शन है।

इस सूत्र में निश्चय सम्यक्दर्शन का ही लक्षण है, व्यवहार सम्यक्दर्शन का नहीं अर्थात् तत्त्व, द्रव्य, पदार्थ, अस्तिकाय इनके नाम आदि जान लेना तथा ऐसा शास्त्र में कहा है, यह सत्य है ऐसा स्वीकार करना यह व्यवहार सम्यक्दर्शन है। जैसे- इस बोरी में शकर रखी है तो यह शकर मीठी होती है, इस प्रकार बनती है, इस मिल की बनी है और अच्छी गुणवत्ता की है, ऐसा जानना मात्र कोई कार्यकारी हितकारी नहीं है, उस शकर को चखना, उसका प्रयोग करना, यह निश्चय है और

यही कार्यकारी हितकारी है। इसी प्रकार इन तत्त्वों के नाम भेदादि जान लेना और शास्त्र के अनुसार श्रद्धान करना यह व्यवहार सम्यक्दर्शन है। इसमें से प्रयोजनभूत जीव तत्व मैं हूँ। जो चैतन्य लक्षण वाला सबमें श्रेष्ठ है ऐसे अपने स्वरूप की अनुभूति भेदज्ञान पूर्वक यथार्थ श्रद्धान करना निश्चय सम्यक्दर्शन है। इसी बात को अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार कलश ६ में स्पष्ट किया है।

**एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्त्युदस्यात्मनः,
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक्।
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं,
तन्मुक्त्वा नवतत्त्व संततिमिमामात्मायमेकोस्तु नः॥**

इस आत्मा को अन्य द्रव्यों से पृथक् देखना (श्रद्धान करना) ही नियम से सम्यक्दर्शन है। यह आत्मा अपने गुण पर्यायों में व्याप्त रहने वाला है और शुद्ध नय से एकत्व में निश्चित किया गया है तथा पूर्ण ज्ञानघन है ऐसा जितना सम्यक्दर्शन है उतना ही आत्मा है इसलिये आचार्य प्रार्थना करते हैं कि इस नव तत्व की परिपाटी को छोड़कर यह एक आत्मा ही हमें प्राप्त हो। आचार्य कुन्दकुन्द देव भी कहते हैं -

**भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥१३॥**

भूतार्थनय से ज्ञात जीव-अजीव और पुण्य-पाप तथा आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष, यह नव तत्व सम्यक्त्व हैं। इन नव तत्वों में शुद्ध नय से देखा जाये तो जीव ही एक चैतन्य चमत्कार मात्र, प्रकाश रूप प्रगट हो रहा है। इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न नव तत्व कुछ भी दिखाई नहीं देते। जब तक इस प्रकार जीव तत्व की जानकारी जीव को नहीं है, तब तक वह व्यवहार दृष्टि है, भिन्न-भिन्न नव तत्वों को मानता है। जीव पुद्गल की बंध पर्याय रूप दृष्टि से यह पदार्थ भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं किन्तु जब शुद्ध नय से जीव पुद्गल का निज स्वरूप भिन्न-भिन्न देखा जाये तब यह पुण्य-पापादि सात तत्व कुछ भी वस्तु नहीं हैं। वे निमित्त-नैमित्तिक भाव से हुए थे इसलिये जब निमित्त-नैमित्तिक भाव मिट गया, तब जीव पुद्गल भिन्न-भिन्न होने से अन्य कोई वस्तु (पदार्थ) सिद्ध नहीं हो सकता।

वस्तु जो द्रव्य है और द्रव्य का निज भाव द्रव्य के साथ ही रहता है तथा निमित्त-नैमित्तिक भाव का अभाव ही होता है इसलिये शुद्ध नय से जीव को जानने से ही सम्यक्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है। जब तक भिन्न-भिन्न नव पदार्थों को

जाने और शुद्ध नय से आत्मा को न जाने तब तक पर्याय बुद्धि है।

इस अर्थ का कलश रूप काव्य कहते हैं-

**धिरमिति नवतत्त्वच्छन्न मुन्नीय मानं,
कनकमिव निमग्नं वर्णमाला कलापे।
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेक रूपं,
प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ॥८॥**

इस प्रकार नव तत्वों में बहुत समय से छिपी हुई यह आत्म ज्योति शुद्ध नय से बाहर निकालकर प्रगट की गई है। जैसे- वर्णों के समूह में छिपे हुए एकाकार स्वर्ण को बाहर निकालते हैं इसलिये हे भव्य जीवो ! इसे सदा अन्य द्रव्यों से तथा उनसे होने वाले नैमित्तिक भावों से भिन्न एकरूप देखो। यह (ज्योति) पद पद पर अर्थात् प्रत्येक पर्याय में एकरूप चिच्छमत्कार मात्र उद्योतमान है।

आगे इसी सम्यक्दर्शन की विशेषता का वर्णन करते हैं -

**दर्शनं आर्ध ऊर्ध च, मध्य लोकेन दिस्टते।
षट् कमलं ति अर्थ च, जोयं संमिक दर्शनं ॥ २३८ ॥
दर्शनं जत्र उत्पादंते, तत्र मिथ्या न दिस्टते।
कुन्यानं मलस्चैव, तिक्तं जोगी समाचरेत् ॥ २३९ ॥
मलं विमुक्त मूढादि, पंच विंसति न दिस्टते।
आसा स्नेह लोभं च, गारव त्रि विमुक्तयं ॥ २४० ॥**

अन्वयार्थ- (दर्शनं आर्ध ऊर्ध च) सम्यक्दर्शन होने पर अधोलोक, ऊर्ध्वलोक और (मध्य लोकेन दिस्टते) मध्यलोक का स्वरूप देखने जानने में आने लगता है (षट् कमलं तिअर्थ च) षट्कमल के योगाभ्यास द्वारा अपने रत्नत्रय मयी स्वरूप को (जोयं संमिक दर्शनं) सम्यक्दर्शन में देखने लगता है।

(दर्शनं जत्र उत्पादंते) जहां सम्यक्दर्शन पैदा हो जाता है (तत्र मिथ्या न दिस्टते) वहां फिर मिथ्यात्व दिखाई नहीं देता (कुन्यानं मलस्चैव) कुज्ञान आदि मलों को (तिक्तं जोगी समाचरेत्) छोड़कर योगी अपने स्वरूप की साधना करता है।

(मलं विमुक्त मूढादि) मल मूढता आदि छूटने पर (पंच विंसति न दिस्टते) फिर यह पच्चीस शंकादि दोष दिखाई नहीं देते (आसा स्नेह लोभं च) आशा स्नेह

और लोभ (गारव त्रि विमुक्तयं) तथा तीन प्रकार का गारव भी छूट जाता है।

विशेषार्थ- सम्यक्दर्शन होने पर अधोलोक ऊर्ध्वलोक और मध्यलोक का स्वरूप देखने जानने में आने लगता है अर्थात् चार गति और चौरासी लाख योनियों के जन्म-मरण का दुःख तथा अनादिकाल के परिभ्रमण का स्वरूप समझ में आने लगता है। अपने आत्म स्वरूप की साधना और शीघ्र इस संसार से छूटने की भावना होने से षट्कमल के योगाभ्यास द्वारा अपने रत्नत्रयमयी स्वरूप को साधने लगता है। जहाँ सम्यक्दर्शन अर्थात् निज शुद्धात्मानुभूति हो जाती है फिर वहाँ मिथ्यात्व दिखाई नहीं देता। जैसे- सूर्य के उदय होते ही अंधकार विला जाता है इसी प्रकार सम्यक्दर्शन प्रगट होते ही कुज्ञान मिथ्यात्व आदि सारे मल छूट जाते हैं और योगी अपने स्वरूप की साधना करता है। यह मिथ्यात्वादि मल मूढ़ता छूटने पर फिर शंकादि आठ दोष, आठ मद, छह अनायतन, तीन मूढ़ता यह भी दिखाई नहीं देती और संसार से आशा, स्नेह, लोभ तथा तीन प्रकार का गारव जनरंजन राग, कलरंजन दोष और मनरंजन गारव यह तीन गारव कहलाते हैं, यह भी छूट जाते हैं। इस प्रकार सम्यक्दृष्टि अपने स्वरूप की साधना में रत रहता है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि अव्रत सम्यक्दृष्टि जघन्य पात्र की अठारह क्रियाओं का वर्णन चल रहा है ? इसमें जो बताया जा रहा है ऐसा तो किसी अन्य श्रावकाचार आदि ग्रंथों में नहीं लिखा, यह योग आदि की साधना तो जैनधर्म में बताई ही नहीं है ?

इसका समाधान करते हैं कि यह श्रावकाचार किसी की नकल नहीं है। यहाँ तो अव्रत सम्यक्दृष्टि का जीवन कैसा होता है ? वह क्या करता है ? यह अपने जीवन से प्रमाणित करके बताया जा रहा है तथा जैनधर्म तो योग साधना का ही धर्म है; परन्तु जो जाने वह बताये, जिन्होंने जाना है उन्होंने बताया है और योग साधना के भी जैन आगम में कई ग्रंथ हैं। यह सब साधक की अपनी-अपनी साधना अलग-अलग होती है क्योंकि सब जीवों के कर्मोदय परिस्थिति, पात्रता, शरीरादि का संहनन भिन्न-भिन्न होता है। उसी अनुसार वह अपनी अनुकूलतानुसार साधना करता है। मूल अभिप्राय तो अपने आत्म स्वरूप के श्रद्धान और आत्म कल्याण की भावना से है और जिसे यह होता है, उसके जीवन में यह सब सहज में होने लगते हैं।

आगे इसी सम्यक्दर्शन की और विशेषता का वर्णन करते हैं-

दर्शनं सुद्ध दर्वार्थं, लोक मूढं न दिस्टते।

जस्य लोकं च सार्धं च, तिक्तते सुद्ध दिस्टितं ॥ २४१ ॥

अन्वयार्थ- (दर्शनं सुद्ध दर्वार्थं) जिसे अपने शुद्ध द्रव्य स्वभाव का दर्शन हो गया (लोक मूढं न दिस्टते) फिर वह लोक मूढ़ता की तरफ नहीं देखता (जस्य लोकं च सार्धं च) जिन बातों को जिन क्रियाओं को लौकिकजन पालते हैं और श्रद्धान करते हैं (तिक्तते सुद्ध दिस्टितं) शुद्ध दृष्टि उन सबको छोड़ देता है।

विशेषार्थ- यहां सम्यक्दृष्टि की बात कही जा रही है कि उसे अपने शुद्ध द्रव्य स्वभाव का दर्शन हो गया अर्थात् उसने यह जान लिया कि मैं शुद्ध-बुद्ध अविनाशी चैतन्य तत्त्व भगवान आत्मा हूँ, यह शरीरादि मैं नहीं और यह मेरे नहीं तथा जब जिस जीव का जैसा जो कुछ होना है वह अपने-अपने कर्मोदयानुसार हो रहा है। जिसके पुण्य का उदय है उसे सब अनुकूलतायें सहज में अपने आप मिल रही हैं और जिसके पाप का उदय है उसके सब विपरीत ही विपरीत हो रहा है, चाहते हुए भी कोई उसका कुछ नहीं करता, साथ नहीं देता, ऐसा निर्णय होने पर वह लोक मूढ़ताओं की तरफ नहीं देखता, जिन बातों को जिन क्रियाओं को लौकिक जन मानते हैं, पालते हैं और श्रद्धान करते हैं ऐसी लोक मूढ़ता की सारी क्रियाओं को सम्यक्दृष्टि छोड़ देता है। संसार में लोग थोड़ी-थोड़ी सी बात पर डरते हैं। जिसने जो कहा वही मानने लगते हैं, चाहे जिसकी पूजा करने लगते हैं। चाहे जैसी मिथ्या क्रियायें पालने लगते हैं क्योंकि उन्हें संसारी कामना वासना मोह ममता का भूत लगा है, वह संसारी वस्तुओं के पीछे अपना अमूल्य मानव जीवन तथा आत्मा का पतन भी करते रहते हैं, उन्हें इस बात का कोई होश विवेक नहीं है कि क्या उचित है क्या अनुचित है, क्या हितकारी है क्या अहितकारी है ? चाहे जहां चाहे जिस कुदेव-अदेव आदि के सामने सिर पटकते हैं, चाहे जिसकी पूजा मान्यता करते हैं। लोग कहते हैं, इससे लोगों का भला भी तो होता है तथा शुभ भाव होने से पुण्य बंध भी होता है परन्तु यह विपरीत मान्यता, मिथ्यात्व सहित शुभ भाव भी घोर संसार के कारण हैं, यह सब मिथ्यात्व महापाप दुर्गति का कारण है। संसार में लोग न जाने क्या-क्या करते हैं, उनसे पूछते हैं कि भाई ! इसका क्या मतलब है और इसके करने से क्या लाभ है ? तो वे कहते हैं यह हम कुछ नहीं जानते, जैसे हमारे बुजुर्ग करते थे या अन्य लोग करते हैं वैसा ही हम भी करते हैं। यह सब लोक मूढ़ता दुर्गतियों का कारण है, इन सबको सम्यक्दृष्टि

छोड़ देते हैं।

आजकल लोग देवपूजा के नाम पर नाना रूप भेष बनाकर नाना प्रकार की क्रियायें करते हैं। लोगों को ठगने के लिये भी संसारी जीव नाना प्रकार की देवमूढ़ता में फंसाते हैं। भूत-पिशाच, देवी-दहाड़ी आदि यह तो सब प्रत्यक्ष कुदेव ही हैं। लोग इनके साथ अदेवादि को भी देव मानकर पूजते हैं जो घोर संसार का कारण है।

इसी देव मूढ़ता का स्वरूप और उसकी मान्यता का फल यहां आगे गाथाओं में तारण स्वामी बता रहे हैं-

देव मूढं च प्रोक्तं च, क्रीयते जेन मूढयं।

दुर्बुद्धि उत्पादते जीवा, तावत् दिष्टि न सुद्धये ॥ २४२ ॥

अदेवं देव उक्तं च, मूढ दिष्टि प्रकीर्तितं।

अदेवं असास्वतं येन, तिक्तते सुद्ध दिष्टितं ॥ २४३ ॥

अन्वयार्थ- (देव मूढं च प्रोक्तं च) देवमूढ़ता का स्वरूप कहते हैं (क्रीयते जेन मूढयं) जो मूढ लोग किया करते हैं (दुर्बुद्धि उत्पादते जीवा) जब तक जीव को ऐसी दुर्बुद्धि पैदा होती रहती है (तावत् दिष्टि न सुद्धये) तब तक दृष्टि शुद्ध नहीं होती अर्थात् वह सम्यक्दृष्टि नहीं होता।

(अदेवं देव उक्तं च) जो अदेवों को देव कहते हैं और (मूढ दिष्टि प्रकीर्तितं) मूढदृष्टियों के साथ श्रद्धा भक्ति वंदना पूजा प्रार्थना और प्रसिद्धि करते हैं कि यह देव हैं (अदेवं असास्वतं येन) इस प्रकार के अदेवों को जो नाशवान जड़ पदार्थों से बनाये गये हैं (तिक्तते सुद्ध दिष्टितं) शुद्ध दृष्टि इनको त्याग देते हैं, इनकी श्रद्धा भक्ति नहीं करते।

विशेषार्थ- संसारी प्रयोजनवश किसी कामना वासना को लेकर किसी को देव मानकर पूजना देव मूढ़ता है। इससे हमारा भला होगा, धन, वैभव, पुत्र परिवार बढ़ेगा, रोग शोक दूर होंगे ऐसी मान्यता मानकर किसी भी कुदेव-अदेव की पूजा भक्ति करना देव मूढ़ता है। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि संसारी जीव अपनी मूढ़ता से ऐसे प्रपंचों में फंसे रहते हैं तथा इसकी प्रसिद्धि प्रभावना करते हैं कि अमुक देव को मानने से यह लाभ हुआ, अमुक देवी की मान्यता करने से यह भला हुआ, उसने ऐसा नहीं माना था इसलिये उसका ऐसा हो गया, इस प्रकार की बातें कर अन्य जीवों को देवमूढ़ता में फंसाते रहते हैं। जो जीव ऐसे मूढ लोगों की बातों में लगते हैं और किसी

भय या चाह से किसी भी कुदेव-अदेव की पूजा भक्ति करते हैं, वह दुर्बुद्धि कभी सम्यक्दृष्टि नहीं हो सकते। जिन्हें अपने कर्मोदय का विश्वास नहीं है कि हमारे पुण्य का उदय होगा तो हमारा कोई बाल बांका अहित नहीं कर सकता और पाप का उदय होगा तो कोई साथ नहीं दे सकता, हाथ नहीं बंटा सकता। जगत में सब जीवों का अपने-अपने पाप-पुण्य कर्मोदयानुसार ही परिणामन चल रहा है, इसको मिटाने टालने में कोई भी समर्थ नहीं है, देव इन्द्र धरणेन्द्र यहां तक कि जिनेन्द्र परमात्मा भी अपने या पर के, किसी के भी कर्मोदय को नहीं टाल सकते, सबको अपने कर्मोदय का फल भोगना पड़ता है फिर कौन किसका भला-बुरा कर सकता है। चार प्रकार के देव-भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी जो संसारी रागी द्वेषी देव हैं, इनमें से किसी भी देवी-देव की पूजा भक्ति करना तो कुदेव की मान्यता है तथा पाषाण, मिट्टी, लकड़ी, लेप, धातु आदि की मूर्ति को देव मानकर पूजा भक्ति अदेव की मान्यता है। ऐसे कुदेव-अदेवों की पूजा भक्ति मान्यता देव मूढ़ता कहलाती है और सम्यक्दृष्टि इन सबको छोड़ देता है, वह तो अपने शुद्धात्म तत्त्व परमात्म स्वरूप की ही श्रद्धा भक्ति करता है तथा इस पद को प्राप्त सच्चे वीतरागी अरिहंत, सिद्ध परमात्मा के गुणों का आराधन करता है जिससे परिणामों में निर्मलता प्राप्त हो, अपने शुद्धात्मा का दृढ़ श्रद्धान हो इस अभिप्राय को लेकर सच्चे देव की वन्दना भक्ति करता है।

यहां कोई प्रश्न करे कि कुदेव-अदेव की किसी संसारी कामना-वासना को लेकर वन्दना पूजा भक्ति करना देव मूढ़ता है परन्तु क्या सच्चे देव अपने इष्ट की किसी पाषाण आदि प्रतिमा के माध्यम से पूजा भक्ति करना भी देव मूढ़ता है ?

उसका समाधान करते हैं कि धातु पाषाण आदि की प्रतिमा अजीव विनाशीक वस्तु है, जिसमें सच्चा देवपना अर्थात् सर्वज्ञता वीतरागता हितोपदेशिता या अरिहंत सिद्धपना कुछ भी न झलके, कोई चैतन्य भाव ही प्रगट न हो, उसे देव मानना अदेव श्रद्धा है, मूढ़ता है यह भी देव मूढ़ता में गर्भित है। शुद्ध सम्यक्दृष्टि तो शुद्धात्मा के पद को प्राप्त जो अरिहंत सिद्ध भगवान हैं उन्हीं को सुदेव मानता है और उनकी ही भक्ति करता है, सो भक्ति भी इसलिये कि परिणामों में निर्मलता प्राप्त हो तथा अपने शुद्धात्मा की स्मृति हो जावे। सम्यक्दृष्टि व्यवहार नय से सकल और निकल परमात्मा जो अरिहंत और सिद्ध हैं उनकी गाढ़ श्रद्धा व भक्ति रखता है अन्य किसी कुदेव या अदेव की नहीं।

आगे पाखंडी मूढ़ता का वर्णन करते हैं -

पाषंडी मूढ़ जानंते, पाषंड विभ्रम रतो सदा ।

परपंचं पुद्गलार्थं च, पाषंडी मूढ़ न संसयः ॥ २४४ ॥

अनृतं अचेत उत्पादंते, मिथ्या माया लोकरंजनं ।

पाषंडी मूढ़ विस्वासं, नरयं पतंति ते नरा ॥ २४५ ॥

पाषंडी वचन विस्वासं, समय मिथ्या प्रकासये ।

जिन द्रोही दुर्बुद्धि जेन, आराध्यं नरयं पतं ॥ २४६ ॥

पाषंडी कुमति अन्यानी, कुलिंगी जिन उक्त लोपनं ।

जिनलिंगी मिश्रेन य, जिन द्रोही वचन लोपनं ॥ २४७ ॥

पाषंडी उक्त मिथ्यातं, वचनं विस्वास न क्रीयते ।

उक्तं च सुद्ध दिस्टी च, दरसनं मल विमुक्तयं ॥ २४८ ॥

मद अस्टं मान संबंधं, कषायं दोष विमुक्तयं ।

दर्सनं मलं न दिस्टंते, सुद्ध दिस्ति समाचरेत् ॥ २४९ ॥

अन्वयार्थ- (पाषंडी मूढ़ जानंते) जो मूढ़ पाखंडी आत्मज्ञान रहित साधु जाने जाते हैं (पाषंड विभ्रम रतो सदा) जो मिथ्यात्व भ्रम जाल में सदा आसक्त रहते हैं (परपंचं पुद्गलार्थं च) जो इस पुद्गल शरीरादि के लिये ही सर्व प्रपंच जाल फैलाते रहते हैं उनको गुरु मानना (पाषंडी मूढ़ न संसयः) पाषंड मूढ़ता है, इसमें कोई संशय नहीं है ।

(अनृतं अचेत उत्पादंते) जो अचेतन असत्य बातों को पैदा करते रहते हैं (मिथ्या माया लोक रंजनं) झूठी मायाचारी बातों में लोगों को फंसाते रंजायमान करते रहते हैं (पाषंडी मूढ़ विस्वासं) ऐसे पाषंडी मूढ़ लोगों का विश्वास करने वाले (नरयं पतंति ते नरा) मनुष्यों को नरक में जाना पड़ता है ।

(पाषंडी वचन विस्वासं) ऐसे पाखंडी साधुओं के वचनों पर विश्वास करना (समय मिथ्या प्रकासये) जो झूठे आगम या मत का प्रकाश करते हैं (जिन द्रोही दुर्बुद्धि जेन) जो दुर्बुद्धि जिनेन्द्र परमात्मा के अनेकांत मत के शत्रु हैं व दुष्ट बुद्धि रखने वाले हैं (आराध्यं नरयं पतं) इनकी आराधना वन्दना भक्ति करना नरक में पतन

कराने वाली है ।

(पाषंडी कुमति अन्यानी) पाषंडी साधु कुमति और अज्ञान का धारी (कुलिंगी जिन उक्त लोपनं) कुलिंगी मिथ्या भेषधारी जिन वचनों का लोप करने वाला (जिनलिंगी मिश्रेन य) जो जिनलिंग को धारण करके उसमें मिलावट करता है (जिन द्रोही वचन लोपनं) वह जिनद्रोही जिनेन्द्र के वचनों का लोप करने वाला है ।

(पाषंडी उक्त मिथ्यातं) पाषंडी भेषी साधुओं के द्वारा कहे हुए मिथ्यात्व पोषक (वचनं विस्वास न क्रीयते) वचनों का विश्वास नहीं करना चाहिये (उक्तं च सुद्ध दिस्टी च) ऐसा शुद्ध दृष्टि कहा गया है जो (दरसनं मल विमुक्तयं) सम्यक्दर्शन के इन सब दोषों से पाखंडी आदि मूढ़ताओं से रहित होता है ।

(मद अस्टं मान संबंधं) मान कषाय सम्बन्धी आठ प्रकार का मद (कषायं दोष विमुक्तयं) व अनन्तानुबन्धी कषाय आदि दोषों से रहित (सुद्ध दृष्टि समाचरेत्) शुद्ध सम्यक्दृष्टि होता है (दर्सनं मलं न दिस्टंते) जिसमें सम्यक्दर्शन के कोई मल दिखाई नहीं देते ।

विशेषार्थ- यहाँ पाखंड मूढ़ता का स्वरूप बताया जा रहा है, वैसे पूर्व में भी इसका कथन आ चुका है परन्तु तारण स्वामी ने सम्यक्दर्शन की साधना में सम्यक्दृष्टि को इन तीन मूढ़ताओं से विशेष सावधान किया है; क्योंकि संसारी प्राणी इन्हीं तीन मूढ़ता- देव मूढ़ता, पाखंड मूढ़ता, लोक मूढ़ता में रत रहते हैं । अग्रती सम्यक्दृष्टि भी अभी संसारी संयोग गृहस्थ दशा में रहता है इसलिये इनसे बचकर रहना अत्यन्त आवश्यक है । यहाँ पाखंड मूढ़ता में गुरु के सम्बन्ध में बताया गया है कि कुगुरु की मान्यता ही पाखंड मूढ़ता है । जो आत्मज्ञान से रहित पाखंड और भ्रम जाल में सदा रत रहते हैं तथा शारीरिक क्रिया को ही धर्म मानते हैं, साधु का भेष बनाकर बड़ा प्रपंच फैलाते हैं उनको गुरु मानना, उनकी श्रद्धा भक्ति वन्दना करना पाखंड मूढ़ता है । जगत में अनेक साधु दिगम्बर भेष में रहते हैं परन्तु न उनकी क्रिया ही मोक्षमार्ग रूप है और न उनको निज शुद्धात्मा का ज्ञान ही है । जो स्वयं मिथ्यात्व भाव सहित हैं, जिनके संसार की लालसा छूटी नहीं है, जो परिग्रह बंधन के लोभी हैं, इन्द्रिय विषयों के लम्पटी हैं । स्वयं कुदेवों व अदेवों के उपासक हैं और वैसा ही अन्य को उपदेश देते हैं, जिनका जप-तप भजन आदि व अन्य उपदेश विहारादि सर्व क्रियाओं का हेतु जगत का प्रपंच है । वे इस शरीर के लिये तथा आगामी उत्कृष्ट विषय भोगने योग्य शरीर पाने के लिये ही मनमानी साधना करते रहते हैं । जिन्हें हिंसा-अहिंसा

का भी विचार नहीं है, व्यसनों से विरक्ति नहीं है। मोक्षमार्ग के विपरीत आत्मानुभव से शून्य साधु नामधारी, साधुओं को मान करके भक्ति करना उनमें साधुपने की श्रद्धा रखना पाखंड मूढ़ता है, जो सम्यक्दृष्टि को प्रथम ही त्याज्य है।

जो धातु पाषाण आदि की मूर्तियां बनवाते हैं, उनमें देवत्वपना सिद्ध करते हैं, चमत्कार आदि के द्वारा लोगों को प्रभावित करते हैं। झूठे शास्त्र रचकर उसमें पूजा विधान लिखते हैं, नाना प्रकार की महिमा बताकर लोगों को रंजायमान करते हैं, मिथ्या माया में फंसाते हैं ऐसे पाखंडी मूढ़ कुगुरुओं का विश्वास करने वाले मनुष्यों को नरक जाना पड़ता है; क्योंकि वह घोर मिथ्यात्व का पोषण करते हैं ऐसे पाखंडी साधुओं के वचनों पर विश्वास करना, उनके झूठे आगमों का प्रचार या प्रकाशन करना जो जिनेन्द्र के अनेकांत मत के विरोधी शत्रु हैं, दुष्ट बुद्धि रखने वाले हैं इनकी आराधना वन्दना भक्ति करना नरक में गिराने वाली है।

ऐसे कुगुरुओं की सेवा करने से मिथ्यात्व और अज्ञान अधिक बढ़ जाता है, यह पाखंडी साधु स्वयं मायाचार में फंसे रहते हैं और जीवों को मिथ्या माया में फंसाते हैं। जिनके पास न वैराग्य है, न संयम है, न आत्मज्ञान है, न मोक्ष की भावना है, जो मात्र संसार को बढ़ाने वाली पाषाण की नौका के समान हैं, जो आप भी डूबेंगे और दूसरों को भी डुबायेंगे। ऐसे पाखंडी साधुओं ने बहुत से मिथ्याशास्त्र बना दिये हैं, जिनमें मिथ्यात्व का, राग-द्वेष का व हिंसा का पोषण किया गया है। कुदेव-अदेव आदि की पूजा विधान बनाये हैं, पराधीनता परावलम्बता का पोषण किया है; जबकि जिनेन्द्र परमात्मा की वाणी जैन आगम स्याद्वाद नय से जैसा पदार्थ अनेकांत स्वरूप है वैसा ही झलकाने वाला है, ज्ञान वैराग्य का प्रकाश करने वाला है, आत्मा को सुख शांति के मार्ग में लगाने वाला है, संयम को दृढ़ कराने वाला है, उसका एकान्त से प्रतिपादन कर अपने मत पक्ष करने वाले पाखंडियों के जाल से बचना चाहिये। जो कुलिंगी हैं वह तो पाखंडी कुमति अज्ञानी हैं ही परन्तु जो जिनलिंग को धारण करके विपरीत आचरण करते हैं या अपना मनमाना भेष बनाकर अपने को गुरु मनवाते हैं, यह सब जिनेन्द्र के मार्ग का लोप करने वाले जिनद्रोही हैं। ऐसे मिथ्यात्वी पाखंडियों के वचनों पर, उनके आगम पर विश्वास नहीं करना चाहिये यह दुर्गति का पात्र बनाने और नरक में ले जाने वाले हैं।

गृहस्थ श्रावक को रत्नत्रय के आचरण में प्रथम सम्यक्दर्शन की आराधना का मुख्य स्थान है इसमें सम्यक्दर्शन के पच्चीस मलों से रहित शुद्ध सम्यक्त्व

अर्थात् निज शुद्धात्म स्वरूप की साधना आराधना करने वाला ही शुद्ध सम्यक्दृष्टि होता है।

इस तरह पच्चीस दोषों से रहित शुद्ध सम्यक्त्व का पालन करते हुए व्यवहार की ऐसी क्रियाओं को पालना जिनसे श्रद्धान दृढ़ रहे, किसी प्रकार का कोई मल दोष न लगे, सद्गुरुओं का सत्संग, सत्शास्त्रों का स्वाध्याय, चिन्तन-मनन आत्मानुभूति के लिये सामायिक का निरन्तर अभ्यास साधना करते रहना चाहिये, तब ही सम्यक्दर्शन की शुद्धि और दृढ़ता होती है।

आगे सम्यक्ज्ञान की शुद्धि और साधना का वर्णन करते हैं-

न्यानं तत्त्वानि वेदंते, सुद्ध तत्त्व प्रकासकं ।

सुद्धात्मा तिअर्थ सुद्धं, न्यानं न्यान प्रयोजनं ॥ २५० ॥

अन्वयार्थ- (न्यानं तत्त्वानि वेदंते) ज्ञान वही है जो जीवादि सात तत्त्वों का अनुभव करावे (सुद्ध तत्त्व प्रकासकं) शुद्ध तत्त्व का प्रकाश करने वाला हो (सुद्धात्मा तिअर्थ सुद्धं) शुद्धात्मा रत्नत्रय से शुद्ध है (न्यानं न्यान प्रयोजनं) ऐसा ज्ञान कराने वाला ज्ञान ही प्रयोजनीय है।

विशेषार्थ- यहाँ सम्यक्ज्ञान की शुद्धि और साधना का स्वरूप बताते हैं कि सम्यक्ज्ञान वही है जो जीवादि सात तत्त्वों का यथार्थ अनुभव करावे, जिसमें संशय विभ्रम विमोह रहित स्व-पर का यथार्थ स्वरूप अनुभव में आवे, शुद्धात्मा-रत्नत्रय अर्थात् सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र अथवा द्रव्य, गुण, पर्याय तीनों से शुद्ध है, ऐसा ज्ञान कराने वाला ज्ञान ही प्रयोजनीय है। जिसमें चारों अनुयोग, पांच समवाय, दोनों नय (निश्चय व्यवहार) का यथार्थ ज्ञान हो, अनेकान्त का बोध हो और निज शुद्धात्मा ध्रुव तत्त्व का अनुभव प्रमाण ज्ञान हो, एक-एक समय की पर्याय क्रमबद्ध निश्चित है इसका भी पूर्ण ज्ञान हो वही ज्ञान सम्यक्ज्ञान कहलाता है।

इसी बात को आगे और स्पष्ट करते हैं -

न्यानेन न्यानमालंबं, पंच दीप्ति प्रस्थितं ।

उत्पन्नं केवलं न्यानं, सुद्धं सुद्ध दिष्टितं ॥ २५१ ॥

न्यानं लोचन भव्यस्य, जिन उक्तं सार्धं ध्रुवं ।

सुयं एतानि विन्यानं, सुद्ध दिष्टि समाचरेत् ॥ २५२ ॥

अन्वयार्थ- (न्यानेन न्यानमालंबं) सम्यक्ज्ञान या श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मज्ञान

को दृढ़ करते हुए जो (पंच दीप्ति प्रस्थितं) पंचज्ञान में श्रेष्ठ रूप से स्थित है (उत्पन्नं केवलं न्यानं) केवल ज्ञान प्रगट करता है (सुद्धं सुद्ध दिस्टितं) यही शुद्ध दृष्टि का शुद्ध आचरण है।

(न्यानं लोचन भव्यस्य) जिस भव्य के ज्ञान नेत्र खुल गये (जिन उक्तं सार्धं ध्रुवं) वह जिनेन्द्र के कहे अनुसार अपने ध्रुव तत्व की साधना करता है (सुयं एतानि विन्यानं) भेदविज्ञान और श्रुतज्ञान सहित (सुद्ध दिस्टि समाचरेत्) शुद्ध दृष्टि सम्यक् आचरण करता है।

विशेषार्थ- सम्यक्ज्ञानी अपने ज्ञान के द्वारा आत्मबल बढ़ाता है, पुरुषार्थ जगाता है, और पंचज्ञान में श्रेष्ठ रूप से स्थित जो केवलज्ञान उसे प्रगट करता है यही शुद्ध दृष्टि का शुद्ध आचरण है। जिस भव्य के ज्ञान नेत्र खुल गये वह भेदविज्ञान और श्रुतज्ञान द्वारा आत्मा-अंतरात्मा के स्वरूप को जानता है कि मेरा आत्मा वास्तव में सर्व राग-द्वेषादि विकारों से व ज्ञानावरणादि कर्म मलों से तथा शरीरादि संयोग से रहित है इस प्रकार भेदज्ञान का बार-बार अभ्यास करने से जितना आत्मबल बढ़ता है पुरुषार्थ काम करता है उतना आत्मध्यान होने लगता है। जितना आत्म ध्यान बढ़ता है उतना ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है, इससे मतिज्ञान श्रुतज्ञान की शक्ति बढ़ती है, इसी आत्म ध्यान की योग्यता से सम्पूर्ण द्वादशांग का ज्ञान हो जाता है, आत्मा श्रुतकेवली हो जाता है। इससे ही अवधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान का प्रकाश हो जाता है तथा इसी आत्मध्यान से उन्नति करते-करते जब वह शुक्ल ध्यान के रूप में हो जाता है, एकाग्र शुद्धोपयोग हो जाता है, तब वही ज्ञान केवलज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है।

भव्य जीव जगत के पदार्थ को ज्ञान रूपी आंख से देखता है, जो अन्तरंग में प्रकाशमान रहती है, शरीर की दोनों आंखें तो मात्र रूपी स्थूल पदार्थों को ही जो वर्तमान में सामने हैं उन्हीं को देख सकती हैं परन्तु भेदविज्ञान और श्रुत ज्ञान से प्राप्त हुई सम्यक्ज्ञान की आंख सर्व पदार्थों को यथार्थ देख लेती है, जैसा वस्तु का स्वरूप है, उसको वैसा ही ठीक-ठीक जान लेना ही ज्ञान नेत्र सम्यक्ज्ञान का कार्य है।

इसी बात को तत्वज्ञान तरंगिणी में भट्टारक ज्ञानभूषण जी ने कहा है-

अष्टधाचार संयुक्तं ज्ञानमुक्तं जिनेशिना।

व्यवहार नयात् सर्व तत्वोद्भासो भवेद्यतः ॥११॥

स्वरूप परिज्ञानं तज्ज्ञानं निश्चयाद् वरं।

कर्मरेणूच्चये बातं हेतुं विद्धि शिवश्रियः ॥१२॥

भगवान् जिनेन्द्र ने व्यवहार नय से आठ प्रकार के आचारों से युक्त ज्ञान बतलाया है और उससे समस्त पदार्थों का भली प्रकार प्रतिभास होता है परन्तु जिससे स्व स्वरूप का ज्ञान हो, जो शुद्ध चिद्रूप को जाने वह निश्चय सम्यक्ज्ञान है, वह निश्चय सम्यक्ज्ञान समस्त कर्मों का नाशक है और मोक्षरूपी लक्ष्मी की प्राप्ति में परम कारण है, इससे मोक्ष सुख अवश्य प्राप्त होता है।

सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान सहित सम्यक्चारित्र की साधना ही मुक्ति का मार्ग है इसी बात को आगे कहते हैं-

आचरनं स्थिरी भूतं, सुद्ध तत्व तिअर्थकं।

उवंकारं च वेदंते, तिस्टते सास्वतं ध्रुवं ॥ २५३ ॥

अन्वयार्थ- (आचरनं स्थिरी भूतं) सम्यक् आचरण-स्थित हो जाना है (सुद्ध तत्व तिअर्थकं) उसमें, शुद्ध आत्मीक तत्व जो रत्नत्रयमयी है (उवंकारं च वेदंते) ऐसा ॐकार मयी परमात्म स्वरूप अनुभव में आता है (तिस्टते सास्वतं ध्रुवं) जो अपने अविनाशी पद में विराजमान है।

विशेषार्थ- यहाँ सम्यक्चारित्र की साधना का वर्णन चल रहा है। सम्यक्चारित्र उसे कहते हैं, जहां उपयोग अपने शुद्धात्म तत्व में स्थित हो जाता है, जहां अपने ॐकार मयी परमात्म स्वरूप का अनुभव होता है, जो अपने शाश्वत अविनाशी पद में विराजमान है। सम्यक्चारित्र का अर्थ परमानन्द में स्थित हो जाना है, जो अतीन्द्रिय और अविनाशी स्वरूप है, इसी का बार-बार अनुभव करना, इसी में स्थित हो जाना सम्यक्चारित्र है। इसकी साधना अव्रती सम्यक्दृष्टि करता है। जैसे- तिल में तेल, फूल में खुशबू, रंग मिले पानी में रंग और पानी अलग-अलग हैं, ऐसे ही इस देह और कर्मादि से आत्मा भिन्न है। ऐसा भेदविज्ञानी सम्यक्दृष्टि अनुभव करता है और इस शुद्धनय की दृष्टि से ज्ञानबल से अपने उपयोग को शुद्ध स्वरूप में स्थित करना, रमने-जमने का अभ्यास करना ही सम्यक्चारित्र की साधना है।

यह आचरण दो प्रकार का कहा गया है, जिसका आगे वर्णन करते हैं-

आचरनं द्विविधं प्रोक्तं, संमिक्तं संयमं ध्रुवं।

प्रथमं संमिक्त चरनस्य, स्थिरी भूतस्य संजमं ॥ २५४ ॥

चारित्रं संजमं चरनं, सुद्ध तत्त्व निरीष्यनं । आचरनं अवधिं दिस्टा, सार्धं सुद्ध दिस्टितं ॥ २५५ ॥

अन्वयार्थ- (आचरनं द्विविधं प्रोक्तं) आचरण दो प्रकार का कहा गया है (समिक्तं संयमं ध्रुवं) एक सम्यक्त्व आचरण है दूसरा निश्चल संयमाचरण है (प्रथमं समिक्त चरनस्य) पहला सम्यक्त्वाचरण है जो मात्र श्रद्धान में स्थिर होना है (स्थिरी भूतस्य संजमं) और दूसरा संयमाचरण अपने स्वरूप में स्थित होना है, जिसमें अपने स्वरूप के श्रद्धान ज्ञान सहित निर्विकल्प अतीन्द्रिय आनंद की अनुभूति होती है।

(चारित्रं संजमं चरनं) संयमाचरण चारित्र में (सुद्ध तत्त्व निरीष्यनं) अपने शुद्धात्म स्वरूप का निरीक्षण होता है अर्थात् देखना-भालना मिलना होता है (आचरनं अवधिं दिस्टा) इस प्रकार कुछ-कुछ समय के लिये देखना मिलना ही सम्यक्चारित्र की (सार्धं सुद्ध दिस्टितं) साधना है जो सम्यक्दृष्टि करता है।

विशेषार्थ- सम्यक् आचरण दो प्रकार का कहा गया है- पहला सम्यक्त्वाचरण और दूसरा संयमाचरण है। पहला सम्यक्त्वाचरण- मैं शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा आनन्दमयी, राग-द्वेष से भिन्न हूं, ऐसे श्रद्धान में दृढ़ स्थिर होना है। दूसरा संयमाचरण- शुद्धात्मा के अनुभव में स्थिर होना संयमाचरण है, इसमें अपने शुद्धात्म स्वरूप को देखना मिलना और थोड़े-थोड़े समय के लिये स्थिर होने की साधना अव्रत सम्यक्दृष्टि करता है।

जहाँ स्वरूपाचरण चारित्र है वहीं शुद्धात्मीक दृष्टि है यही परम मंगलकारी है, यही कर्मों के बंध को क्षय करने वाली है, यही बार-बार आराधने योग्य है।

इसी बात को चारित्रपाहुड में श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं-

जिण णाण दिट्ठि सुद्धं पढमं सम्मत्त चरण चारित्तं ।

विदियं संजमचरणं जिणणाणसदेसियं तं पि ॥ ५ ॥

चारित्र को दो प्रकार का कहा है- प्रथम तो सम्यक्त्व का आचरण कहा जो सर्वज्ञ के आगम में तत्त्वार्थ का जैसा स्वरूप कहा है, इसको यथार्थ जानकर श्रद्धान करना उसमें शंकादि दोषों का न होना, अपने आत्म स्वरूप की प्रतीति सम्यक्त्वाचरण चारित्र है और जो महाव्रत आदि अंगीकार करके सर्वज्ञ के आगम में कहा है उस प्रकार संयम का आचरण करना आत्म स्वरूप में स्थित रहना संयमाचरण चारित्र है।

आगे कहते हैं कि जो इस प्रकार सम्यक्त्वाचरण चारित्र को अंगीकार करके

संयमाचरण चारित्र को अंगीकार करे तो शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त करता है।

सम्मत्त चरण सुद्धा संजमचरणस्स जइ व सुपसिद्धा ।

णाणी अमूढ दिट्ठी अचिरे पावन्ति णिट्वाणं ॥९॥

जो ज्ञानी होते हुए अमूढदृष्टि होकर सम्यक्त्वाचरण चारित्र से शुद्ध होता है और जो संयमाचरण चारित्र से सम्यक् प्रकार शुद्ध हो तो शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त होता है।

इसी बात को पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं-

इति रत्नत्रय मेतत्प्रतिसमयं विकलमपि गृहस्थेन ।

परिपालनीयमनिशं निरत्ययां मुक्तिमभिलषिता ॥२०९॥

इस प्रकार यह सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रत्नत्रय प्रतिसमय गृहस्थ श्रावक को भी यदि सर्वदेश पालन न हो सके तो एकदेश ही निरन्तर अविनाशी मोक्ष का इच्छुक होते हुए पालन करना चाहिये।

मुनि के तो रत्नत्रय पूर्ण रूप से है परन्तु गृहस्थ श्रावक सम्पूर्ण रत्नत्रय का पालन नहीं कर सकता इसलिये उसे एकदेश पालन करना चाहिये। किसी भी दशा में उसे रत्नत्रय से विमुख नहीं होना चाहिये क्योंकि वह रत्नत्रय ही मुक्ति का कारण है। मुनि का रत्नत्रय महाव्रत के योग से साक्षात् मोक्ष का कारण है और श्रावक का रत्नत्रय अणुव्रत के योग से परम्परा मोक्ष का कारण है अर्थात् जिस श्रावक को सम्यक्दर्शन हो जाता है उसका अल्प ज्ञान भी सम्यक्ज्ञान और अणुव्रत भी सम्यक्चारित्र कहा जाता है; इसलिये रत्नत्रय का धारण करना अत्यन्त आवश्यक है। सात तत्त्वों की श्रद्धा करना व्यवहार सम्यक्दर्शन है और निज स्वरूप की श्रद्धा अर्थात् स्वानुभव होना निश्चय सम्यक्दर्शन है। जिनागम से सात तत्त्वों को जान लेना व्यवहार सम्यक्ज्ञान है और निज स्वरूप का भान अर्थात् आत्मज्ञान निश्चय सम्यक्ज्ञान है। अशुभ कार्यों की निवृत्ति पूर्वक शुभ कार्यों में प्रवृत्ति करना व्यवहार सम्यक्चारित्र है और शुभ प्रवृत्तियों से भी निवृत्त होकर शुद्धोपयोग रूप निज स्वरूप में स्थिर होना निश्चय सम्यक्चारित्र है। इस तरह रत्नत्रय का संक्षेप में वर्णन किया, श्रावक को इसका एकदेश पालन अवश्य ही करना चाहिये, बिना रत्नत्रय के किसी जीव का कल्याण कदापि हो नहीं सकता।

सम्यक्त्व बोध चारित्र लक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः ।

मुख्योपचाररूपः प्रापयति परं पदं पुरुषम् ॥२२२॥

इस प्रकार यह पूर्व कथित निश्चय और व्यवहार रूप सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र लक्षण वाला मोक्षमार्ग आत्मा को परमात्मा का पद प्राप्त कराता है।

इसी बात को तारण स्वामी ने पंडितपूजा में कहा है-

एतत् संमिक्त पूजस्या, पूजा पूज्य समाचेरत् ।

मुक्ति श्रियं पथं सुद्धं, विवहार निश्चय सास्वतं ॥३२॥

इसी प्रकार सच्ची पूजा, पूज्य के समान आचरण होना ही पूजा है और यह मोक्ष का शुद्ध मार्ग व्यवहार निश्चय से शाश्वत है।

इस प्रकार अव्रत सम्यक्दृष्टि की अठारह क्रियाओं में यहाँ तक सम्यक्त्व, अष्ट मूलगुण और रत्नत्रय की साधना का वर्णन किया गया, आगे चार दान के स्वरूप का वर्णन करते हैं-

पात्रं त्रिविधि जानंते, दानं तस्य सुभावना ।

जिन रूवी उत्कृष्टं च, अव्रतं जघन्यं भवेत् ॥ २५६ ॥

अन्वयार्थ- (पात्रं त्रिविधि जानंते) पात्र तीन प्रकार के जानना चाहिये (दानं तस्य सुभावना) शुभ भावों से उनको दान देना चाहिये (जिन रूवी उत्कृष्टं च) उत्कृष्ट पात्र जिनरूवी, जो तीर्थंकर के समान निर्ग्रन्थ वीतरागी दिगम्बर साधु हैं वे उत्कृष्ट पात्र हैं (अव्रतं जघन्यं भवेत्) जो व्रत रहित सम्यक्दृष्टि हैं वे जघन्य पात्र हैं।

विशेषार्थ- **अनुग्रहार्थ स्वस्यातिसर्गो दानम्** अनुग्रह-उपकार के हेतु से धनादि अपनी वस्तु का स्व-पर के हित के अभिप्राय से त्याग करना दान है। विधि, द्रव्य, दातृ और पात्र की विशेषता से दान में विशेषता होती है।

१. विधि विशेष- नवधाभक्ति के क्रम को विधि विशेष कहते हैं।

२. द्रव्य विशेष- शुद्ध द्रव्य जो तप, स्वाध्याय आदि की वृद्धि में कारण हो, ऐसे आहारादि को द्रव्य विशेष कहते हैं।

३. दातृ विशेष- जो दातार श्रद्धा आदि सात गुणों सहित हो।

४. पात्र विशेष- जो सम्यक्चारित्र आदि गुणों सहित हो, ऐसे मुनि आदि को पात्र विशेष कहते हैं। पात्र तीन प्रकार के होते हैं- **१. उत्तम पात्र** - सम्यक्चारित्रवान मुनि, **२. मध्यम पात्र**- व्रतधारी सम्यक्दृष्टि श्रावक, **३. जघन्य पात्र**- अविरत सम्यक्दृष्टि श्रावक।

दाता को, शुभ भावों पूर्वक दान देना चाहिये तथा सात गुण सहित होना

चाहिये- १. सांसारिक लाभ की इच्छा न होना। २. दान देते समय क्रोध रहित शांत परिणाम होना। ३. दान देते समय प्रसन्नता होना। ४. मायाचार छल कपट से रहित होना। ५. ईर्ष्या रहित होना। ६. विवाद (खेद) रहित होना। ७. अभिमान रहित होना।

दान देते समय बहुत श्रद्धा भक्ति व उत्साह पूर्ण भावों से आहारादि का दान करना चाहिये। दान देते हुए अपने को धन्य मानना चाहिये। गृहस्थ की शोभा दान से है। अव्रत सम्यक्दृष्टि निरन्तर चार दान की प्रभावना करता है।

आगे उत्कृष्ट पात्र सम्यक्दृष्टि साधु का स्वरूप कहते हैं-

उत्तमं जिन रूवी च, जिन उक्तं समाचेरत् ।

तिअर्थं जोयते जेन, ऊर्ध्व आर्ध्वं च मध्यमं ॥ २५७ ॥

षट् कमलं त्रि उवंकारं, ज्ञानं ज्ञायंति सदा बुधै ।

पंच दीप्तं च वेदंते, स्वात्म दरसन दरसनं ॥ २५८ ॥

अवधं जेन संपूर्णं, ऋजु विपुलं च दिस्टते ।

मनपर्जय केवलं च, जिन रूवी उत्तमं बुधै ॥ २५९ ॥

अन्वयार्थ- (उत्तमं जिन रूवी च) उत्तम पात्र जिनरूपी निर्ग्रन्थ साधु हैं जो (जिन उक्तं समाचेरत्) जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा प्रमाण चारित्र पालते हैं (तिअर्थं जोयते जेन) जिनने सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का यथार्थ पालन किया है तथा जो (ऊर्ध्व आर्ध्वं च मध्यमं) ऊर्ध्व लोक, अधो लोक और मध्य लोक का स्वरूप जानते हैं।

(षट् कमलं त्रि उवंकारं) षट् कमल और तीन उवंकार-ॐ ह्रीं श्रीं (ज्ञानं ज्ञायंति सदा बुधै) ज्ञानी ध्यान की साधना अभ्यास सदा करते हैं (पंच दीप्तं च वेदंते) अपने पंच ज्ञान मयी स्वरूप का अनुभव करते हैं (स्वात्म दरसन दरसनं) अपने आत्म स्वरूप के दर्शन में लवलीन रहते हैं।

(अवधं जेन संपूर्णं) जो अवधिज्ञान से परिपूर्ण (ऋजु विपुलं च दिस्टते) रिजु और विपुलमति को देखते हैं (मनपर्जय केवलं च) मनः पर्यय और केवलज्ञान की साधना करते हैं (जिन रूवी उत्तमं बुधै) वे जिन रूपी निर्ग्रन्थ वीतरागी ज्ञानी साधु उत्तम पात्र हैं।

विशेषार्थ- यहां उत्तम पात्र का स्वरूप कहते हैं, उत्तम पात्र जिन रूपी निर्ग्रन्थ वीतरागी साधु हैं, जो जिनेन्द्र के कथनानुसार अपना चारित्र भले प्रकार पालते हैं। जो निश्चय से रत्नत्रय के साधक अपनी आत्मानुभूति में रत रहने वाले, व्यवहार से पंच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति के पालनकर्ता हैं, जो संसार के ऊर्ध्व, अधो मध्य लोक के स्वरूप को जानते हैं और इस संसार चक्र से छूटने का ही पुरुषार्थ करते हैं। षट्कमल-पद्मकमल, गुप्तकमल, नाभिकमल, हृदय कमल, कंठ कमल, विंदकमल के माध्यम से योग को एकाग्रकर ॐ ह्रीं श्रीं की साधना करने, अपने परमात्म स्वरूप के ध्यान में लीन रहने का सदा अभ्यास करते हैं। पंच ज्ञानमयी अपने स्वात्मा का दर्शन ज्ञान और अनुभव करते रहते हैं जिससे अवधिज्ञान प्रगट हो जाता है, रिजु विपुलमति मनः पर्यय ज्ञान का प्रकाश होने लगता है तथा इसी साधना से केवलज्ञान प्रगट होता है। ऐसे आत्म स्वरूप के साधक जिनरूपी निर्ग्रन्थ वीतरागी ज्ञानी साधु ही उत्तम पात्र होते हैं, जिन्हें दान देने का अतिशय फल होता है। उत्तम पात्र साधुओं के भी तीन भेद हैं- उत्तम, मध्यम, जघन्य।

१. जो तीर्थकर भगवान साधु अवस्था में हैं वे उत्तम में उत्तम पात्र हैं।
२. जो ऋद्धिधारी साधु से लेकर चार ज्ञान तक के धारी हैं वे उत्तम में मध्यम पात्र हैं।
३. जो साधु मात्र आत्मस्वरूप के साधक रत्नत्रय के धारी हैं वे उत्तम में जघन्य पात्र हैं।

इन उत्तम पात्रों को गृहस्थों के द्वारा दान दिया जाना मोक्ष प्राप्ति में उनके लिये परम सहायक है तथा दाता को भी अतिशय पुण्य बंध का कारण है। साधु अपने लिये भोजन का प्रबन्ध न करते हैं, न कराते हैं तथा जो उनके लिये बनाया गया हो ऐसा आहार भी नहीं लेते, इसमें उद्दिष्ट आहार का दोष लगता है। गृहस्थ ने जो अपने लिये बनाया हो उसी में से भक्ति पूर्वक दिये हुए आहार को लेते हैं। मूलाचार में कहा है-

मुनि महाराज न तो भोजन के लिये किसी की स्तुति करते हैं, न याचना करते हैं, मौन व्रत से भिक्षा को जाते हैं, बिना बोले हुए जो शुद्ध आहार मिल गया तो ले लेते हैं, यदि नहीं मिलता तो समता भाव से लौट आते हैं; अतः सद्गृहस्थ श्रावक को ऐसा पदार्थ दान में देना चाहिये जो राग-द्वेष असंयम दुःख भय आदि को उत्पन्न न करे तथा उत्तम तप व स्वाध्याय की वृद्धि में सहकारी हो।

यहाँ देने योग्य उत्तम पात्र के स्वरूप का वर्णन किया, आगे मध्यम पात्र व्रती श्रावक का स्वरूप कहते हैं-

**उत्कृष्टं श्रावकं जेन, मध्य पात्रं च उच्यते ।
मति सुत न्यान संपूर्ण, अवधं भावना कृतं ॥ २६० ॥
अन्या वेदक संमिक्तं, उपसमं सार्धं ध्रुवं ।
पदवी द्वितिय आचार्यं च, मध्य पात्र सदा बुधै ॥ २६१ ॥
उवंकारं च वेदन्ते, ह्रींकारं सुत उच्यते ।
अचष्यु दर्सनं जोयंते, मध्य पात्र सदा बुधै ॥ २६२ ॥
प्रतिमा एकादसं जेन, व्रत पंच अनुव्रतं ।
सार्धं सुद्ध तत्त्वार्थं, धर्म ध्यानं च ध्यायते ॥ २६३ ॥**

अन्वयार्थ- (उत्कृष्टं श्रावकं जेन) जो उत्कृष्ट श्रावक हैं (मध्य पात्रं च उच्यते) वे मध्यम पात्र कहे जाते हैं (मति सुत न्यान संपूर्ण) जो मति श्रुतज्ञान से परिपूर्ण होते हैं (अवधं भावना कृतं) और अवधिज्ञान की भावना करते हैं।

(अन्या वेदक संमिक्तं) जो आज्ञा सम्यक्त्व, वेदक सम्यक्त्व (उपसमं सार्धं ध्रुवं) या उपशम सम्यक्दृष्टि अपने ध्रुव स्वरूप की साधना करते हैं (पदवी द्वितिय आचार्यं च) और दूसरी आचार्य पदवी के धारी होते हैं (मध्य पात्र सदा बुधै) ऐसे ज्ञानी ही सदा मध्यम पात्र होते हैं।

(उवंकारं च वेदन्ते) जो अपने परमात्म स्वरूप का अनुभव करते हैं (ह्रींकारं सुत उच्यते) जो तीर्थकरों द्वारा स्वरूप कहा गया है (अचष्यु दर्सनं जोयंते) अचक्षु दर्शन में अपने उस स्वरूप को देखते हैं (मध्य पात्र सदा बुधै) वे ज्ञानी सदा मध्यम पात्र कहे जाते हैं।

(प्रतिमा एकादसं जेन, व्रत पंच अनुव्रतं) जो ग्यारह प्रतिमा और पांच अणुव्रतों का पालन करते हैं (सार्धं सुद्ध तत्त्वार्थं) अपने शुद्धात्म स्वरूप की साधना करते हैं (धर्म ध्यानं च ध्यायते) और धर्म ध्यान की साधना करते हैं, वे मध्यम पात्र हैं।

विशेषार्थ- यहाँ मध्यम पात्र सम्यक्दृष्टि व्रती श्रावक के स्वरूप को बताया जा रहा है कि जो उत्कृष्ट श्रावक ग्यारह प्रतिमाओं के पालनकर्ता हैं वे मध्यम पात्र कहे जाते हैं। जो मति श्रुत सम्यक्ज्ञान से परिपूर्ण होते हैं, अवधिज्ञान प्रगट होने की

संभावना रहती है, जो आज्ञा सम्यक्त्व, वेदक सम्यक्त्व या उपशम सम्यक्दृष्टि अपने ध्रुव स्वभाव की साधना करते हैं और दूसरी आचार्य पदवी के धारी होते हैं ऐसे ज्ञानी ही मध्यम पात्र होते हैं।

यहाँ एक विशेष बात तारण स्वामी ने प्रगट की है कि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अव्रत सम्यक्दृष्टि को प्रथम उपाध्याय पदवी का धारी तथा पंचम गुणस्थानवर्ती व्रती श्रावक को दूसरी आचार्य पदवी का धारी कहा है, तीसरी साधु पदवी का धारी छठे गुणस्थानवर्ती महाव्रती निर्ग्रन्थ वीतरागी साधु को कहा है, चौथी अरिहन्त और पांचवीं सिद्ध पदवी का वर्णन किया है, जो साधक की साधना क्रम में एक विशेष स्थान रखता है, जिसका विशेष वर्णन पदवी फूलना आदि तथा ज्ञान समुच्चय सार में भी आया है, जो खोज और चिन्तन का विषय है। उनके समय में भट्टारकों का प्रभुत्व और बाहुल्य था तथा गृहस्थाचार्य, ग्रंथाचार्य, मढ़ाचार्य, मण्डलाचार्य आदि की प्रथा प्रचलन में थी। इसका निर्णय आगे किया जायेगा।

जो अपने परमात्म स्वरूप का अनुभव करते हैं जैसा तीर्थकरों ने आत्म स्वरूप कहा है, अचक्षुदर्शन में अपने उस स्वरूप को देखते हैं। ग्यारह प्रतिमा और पांच अणुव्रतों का पालन करते हैं, अपने शुद्धात्म स्वरूप की साधना और धर्म ध्यान की आराधना में रत रहते हैं, वे मध्यम पात्र व्रती श्रावक सम्यक्दृष्टि कहे जाते हैं।

मध्यम पात्र व्रती सम्यक्दृष्टि श्रावक के भी तीन भेद होते हैं— उत्तम, मध्यम, जघन्य। १. दसवीं, ग्यारहवीं प्रतिमाधारी— मध्यम में उत्तम पात्र हैं।

२. सातवीं से नवमीं प्रतिमाधारी— मध्यम में मध्यम पात्र हैं।

३. पहली से छटवीं प्रतिमाधारी— मध्यम में जघन्य पात्र हैं।

दसवीं अनुमति त्याग प्रतिमा है, ग्यारहवीं उद्दिष्टत्याग प्रतिमा है। यह भी अपने उद्देश्य से बनाया हुआ आहार नहीं लेते हैं। ग्यारहवीं प्रतिमा के दो भेद प्रसिद्ध हैं— १. क्षुल्लक २. ऐलक, क्षुल्लक एक खंड वस्त्र लंगोटधारी होते हैं। मोर पिच्छका व कमण्डल रखते हैं, बैठकर पात्र में भोजन करते हैं, कोई एक ही घर से भिक्षा या भोजन करते हैं। कोई अपने भिक्षा के पात्र में कई घर से थोड़ा-थोड़ा लेकर अंतिम घर में बैठकर भोजन करते हैं। ऐलक में विशेषता यह है कि वे मात्र एक लंगोट रखते हैं, हाथों से केशलौंच करते हैं व बैठकर एक ही घर में भिक्षा से अपने हाथों में दिया हुआ भोजन करते हैं।

व्रती श्रावक सुमति सुश्रुतज्ञान के धारी होते हैं व शास्त्रों के विशेष मर्मज्ञ होते

हैं, ॐकार स्वरूप अपने शुद्धात्मा का अनुभव व ध्यान करते हैं। अचक्षु दर्शन का प्रयोग करके निर्विकल्प आत्मा का दर्शन करते हैं, इस तरह जो आत्मा के प्रेमी आत्म ध्यानी व शुद्धात्मा के अनुभवशील पुरुष होते हैं वे ही मध्यम पात्र कहे गये हैं।

ग्यारह प्रतिमा— दर्शन प्रतिमा, व्रत प्रतिमा, सामायिक प्रतिमा, प्रोषधोपवास प्रतिमा, सचित्त प्रतिमा, अनुराग भक्ति प्रतिमा, ब्रह्मचर्य प्रतिमा, आरम्भ त्याग प्रतिमा, परिग्रह त्याग प्रतिमा, अनुमति त्याग प्रतिमा, उद्दिष्टत्याग प्रतिमा।

पांच अणुव्रत— अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत, परिग्रह प्रमाणअणुव्रत, इनका स्वरूप आगे बताया गया है। इस प्रकार व्रती श्रावक सम्यक्दृष्टि मध्यम पात्र होता है। जिसे दान देने से संयम का पालन और धर्म की प्रभावना होती है।

यह सब पात्र जीव मुक्ति मार्ग के पथिक, आत्मा से परमात्मा बनने वाले हैं। इनको दान देने की बड़ी विशेषता है, इसी क्रम में जघन्य पात्र अव्रती सम्यक्दृष्टि के स्वरूप का वर्णन करते हैं —

अव्रतं त्रितिय पात्रं च, देव सास्त्र गुरु मानते ।

सद्वहन्ति सुद्ध संमिक्तं, सार्धं न्यान मयं ध्रुवं ॥ २६४ ॥

सुद्ध दिष्टि च संपूर्ण, मल मुक्तं सुद्ध भावना ।

मति कमलासने कंठे, कुन्यानं त्रिविधि मुक्तयं ॥ २६५ ॥

मिथ्या त्रिविधि न दिष्टंते, सत्यं त्रयं निरोधनं ।

सुधं च सुद्ध दर्वार्थ, अविरत संमिक दिष्टितं ॥ २६६ ॥

अन्वयार्थ— (अव्रतं त्रितिय पात्रं च) तीसरे जघन्य पात्र अव्रत सम्यक्दृष्टि हैं जो (देव सास्त्र गुरु मानते) सच्चे देव गुरु शास्त्र को मानते हैं (सद्वहन्ति सुद्ध संमिक्तं) शुद्धात्म स्वरूप का सच्चा श्रद्धान करते हैं (सार्धं न्यान मयं ध्रुवं) अपने ज्ञानमयी ध्रुव स्वभाव की साधना करते हैं।

(सुद्ध दिष्टि च संपूर्ण) यह अविरत सम्यक्दृष्टि पूर्ण शुद्ध आत्मा का अनुभूति युत श्रद्धानी होता है और (मल मुक्तं सुद्ध भावना) पच्चीस मलों से मुक्त शब्द भावना करता है (मति कमलासने कंठे) सुबुद्धि रूपी सरस्वती का जागरण होने से (कुन्यानं त्रिविधि मुक्तयं) तीनों प्रकार के कुज्ञान से मुक्त होता है।

(मिथ्या त्रिविधि न दिस्टंते) अविरत सम्यक्दृष्टि में तीन प्रकार का मिथ्या भाव दिखाई नहीं देता (सत्यं त्रयं निरोधनं) तीनों शल्य भी दूर हो जाती हैं (सुधं च शुद्ध दर्वार्थ) शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से अपने शुद्ध स्वभाव को जानता है (अविरत संमिक दिस्टितं) ऐसा अविरत सम्यक्दृष्टि होता है।

विशेषार्थ- अव्रत सम्यक्दृष्टि तीसरा जघन्य पात्र है, जिसके नियम से अणुव्रत तो नहीं है परन्तु व्रतों के धारण की तीव्र भावना है क्योंकि उसने संसार को भय और दुःख रूप जान लिया है, उससे छूटने की वैराग्य भावना है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से अतीचार रहित व्रत नहीं पाल सकता तथापि प्रशम, संवेग, अनुकम्पा व आस्तिक्य सहित होता है अर्थात् इसके परिणामों में आकुलता व तीव्र कषाय नहीं रहती है। आत्मा का दृढ़ श्रद्धान होने से उसके भीतर शांति झलका करती है, संवेग भाव होने से संसार शरीर भोगों से दृढ़ वैराग्यवान होता हुआ धर्म से परम प्रीति रखता है। अनुकम्पा भाव होने से सर्वप्राणी मात्र पर दया रखता है, दुखियों को दुःखी देखकर उसका हृदय कम्पायमान हो जाता है, यथाशक्ति वह दुःख दूर करने का प्रयत्न करता है, कराता है व दुःख मिट जाने पर हर्ष मानता है। आस्तिक्य भाव होने से उसे अपने आत्मा पर पूर्ण विश्वास होता है, परलोक का श्रद्धान होता है। कर्म के बंध व उसकी मुक्ति के ऊपर विश्वास रखता है। सच्चे वीतराग सर्वज्ञ अरिहन्त सिद्ध परमात्मा को देव मानता है तथा जिन प्रणीत अहिंसाधर्म को धर्म मानता है। उसका सम्यक्त्व भाव निर्मल होता है वह शुद्धात्मा को पहिचानता है तथा शुद्धात्मा का अनुभव करता है।

उसके पच्चीस मल दोष नहीं होते अर्थात् आठ शंकादि दोष, आठ मद, छह अनायतन, तीन मूढता तथा तीन कुज्ञान कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ज्ञान विला जाते हैं, वह अपनी सुबुद्धि रूपी सरस्वती अर्थात् सुमति सुश्रुतज्ञान की निर्मल पर्याय से अपने शुद्धात्मा का श्रद्धान ज्ञान करता है।

तीनों प्रकार के मिथ्यात्व- मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व, सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व अर्थात् यह शरीर ही मैं हूँ, यह शरीरादि मेरे हैं, मैं इन सबका कर्ता हूँ, ऐसी मिथ्या मान्यता तथा तीनों शल्य मिथ्या माया निदान अर्थात् ऐसा न हो जाये, ऐसा नहीं ऐसा होता, ऐसा करूंगा- यह सब भावनायें समाप्त हो जाती हैं। वह आगम ज्ञान का प्रेमी होता है, शास्त्रों के मर्म को समझता है तथा शुद्ध द्रव्यार्थिक नय पर विशेष लक्ष्य रखता है क्योंकि इस नय से हर एक शरीर में आत्मा का पवित्र

शुद्ध दर्शन होता है ऐसा अविरत सम्यक्दृष्टि मोक्षमार्गी जघन्य पात्र होता है।

इसी बात को कार्तिकेयानुप्रेक्षा में स्वामी कार्तिकेय कहते हैं-

विसयासत्तो वि सया, सत्वारंभेसु वट्टमाणो वि।

मोह विलासो एसो, इदि सत्वं मण्णदे हेयं ॥३१४॥

अविरत सम्यक्दृष्टि यद्यपि इन्द्रिय विषयों में आसक्त है, त्रस स्थावर जीवों का घात जिनमें होता है, ऐसे सब आरम्भों में वर्तमान है, अप्रत्याख्यानावरण आदि कषायों के तीव्र उदय से विरक्त नहीं हुआ है, तो भी सबको हेय (त्यागने योग्य) मानता है और ऐसा जानता है कि यह मोह का विलास है मेरे स्वभाव में नहीं है, उपाधि है रोगवत है, त्यागने योग्य है।

णिज्जियदोसं देवं, सत्वं जिवानं दया वरं धम्मं।

वज्जियगंथं च गुरुं, जो मण्णदि सो हु सद्धिदि ॥३१७॥

जो जीव दोष रहित को तो देव, सब जीवों की दया को श्रेष्ठ धर्म, निर्ग्रन्थ को गुरु मानता है, वह प्रगट रूप से सम्यक्दृष्टि है, अब सम्यक्दृष्टि के विचार धारणा कहते हैं-

जं जस्स जम्मि देसे, जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।

णादं जिणेण णियदं, जम्मं वा अहव मरणं वा ॥३२१॥

तं तस्स तम्मि देसे, तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।

को सक्कदि वारेदुं, इंदो वा तह जिणिंदो वा ॥३२२॥

जो जिस जीव के, जिस देश में, जिस काल में, जिस विधान से, जन्म तथा मरण उपलक्षण से दुःख-सुख, रोग दारिद्र्य आदि सर्वज्ञ देव के द्वारा जाना गया है, वह वैसे ही नियम से होगा वह ही उस प्राणी के, उस ही देश में, उस ही काल में, उस ही विधान से, नियम से होता है, उसको इन्द्र, जिनेन्द्र, तीर्थकर कोई भी निवारण नहीं कर सकते।

सम्माइडी जीवो, दुग्गदि हेदुं ण बंधदे कम्मं।

जं बहुभवेसु बद्धं, दुक्कम्मं तं पि णासेदि ॥३२७॥

सम्यक्दृष्टि जीव दुर्गति के कारणभूत अशुभ कर्म को नहीं बांधता है और जो अनेक पूर्व भवों में बांधे हुए पाप कर्म हैं उनका भी नाश करता है।

इस प्रकार यह तीनों पात्र सम्यक्दृष्टि मोक्षमार्गी होने से सुपात्र हैं। जो जीव बिना सम्यक्दर्शन के बाह्य व्रत सहित हों वह कुपात्र हैं और जो सम्यक्दर्शन तथा

बाह्य चारित्र से रहित हों वे अपात्र हैं।

आगे इन तीन पात्रों को दान देने की भावना और उसका महत्व वर्णन करते हैं-

त्रिविध पात्रं च दानं च, भावना चिंतते बुधै।

सुद्ध दिस्टि रतो जीवा, अट्टावन लप्प तिक्तयं ॥ २६७ ॥

नीच इतर अप तेजं च, वायु पृथ्वी वनस्पती।

विकलत्रयस्य जोनी च, अट्टावन लप्प तिक्तयं ॥ २६८ ॥

सुद्ध संमिक्त संजुक्तं, सुद्ध तत्व प्रकासकं।

ते नरा दुष हीनस्य, पात्र दान रतो सदा ॥ २६९ ॥

अन्वयार्थ- (त्रिविध पात्रं च दानं च) तीन प्रकार के पात्रों को दान देने की (भावना चिंतते बुधै) भावना बुद्धिमान जन करते रहते हैं (सुद्ध दिस्टि रतो जीवा) ऐसा दानी, जो शुद्धात्मा का श्रद्धानी सम्यक्दृष्टि है (अट्टावन लप्प तिक्तयं) उसके चौरासी लाख योनियों में से ५८ लाख योनियों का भवभ्रमण छूट जाता है।

(नीच इतर अप तेजं च) नित्यनिगोद ७ लाख, इतर निगोद ७ लाख, जलकाय ७ लाख, अग्निकाय ७ लाख (वायु पृथ्वी वनस्पती) वायुकाय ७ लाख, पृथ्वीकाय ७ लाख, वनस्पतिकाय १० लाख, (विकलत्रयस्य जोनी च) दो इंद्रिय २ लाख, तीनइन्द्रिय २ लाख, चार इंद्रिय २ लाख इस प्रकार (अट्टावन लप्प तिक्तयं) कुल ५८ लाख योनियों में सम्यक्दृष्टि जन्म नहीं लेता है अर्थात् यह ५८ लाख योनियां छूट जाती हैं।

(सुद्ध संमिक्त संजुक्तं) जो शुद्ध सम्यक्त्व के धारी हैं (सुद्ध तत्व प्रकासकं) शुद्धात्म तत्व का अनुभव करते हैं (ते नरा दुष हीनस्य) वे मानव दुःखों से छूट जाते हैं (पात्र दान रतो सदा) जो सदैव पात्र दान में रत रहते हैं।

विशेषार्थ- यहाँ तीन प्रकार के पात्रों को श्रद्धा भक्ति पूर्वक दान देने की महिमा का वर्णन चल रहा है कि जो अग्रती सम्यक्दृष्टि हैं जिन्हें संसार के दुःखों से छूटना है, जो अठारह क्रियाओं का यथा शक्ति पालन करते हैं, वे पात्र दान देने की सदैव भावना भाते हैं तथा अपनी श्रद्धा भक्ति शक्ति अनुसार हमेशा दान देते रहते हैं। आत्म कल्याण के इच्छुक और मोक्षमार्गी जीवों के प्रति श्रद्धावान दान देने में तत्पर रहते हैं। सम्यक्दर्शन होते ही ८४ लाख योनियों में से ५८ लाख योनियों के

जन्म-मरण का चक्कर छूट जाता है, शेष २६ लाख में- पंचेन्द्रिय तिर्यच ४ लाख, नारकी ४ लाख, देव ४ लाख और मनुष्य १४ लाख इस प्रकार २६ लाख शेष रहती हैं। इसमें भी यदि सम्यक्दर्शन होने से पूर्व कोई नरक तिर्यच मनुष्य आयु बांध ली हो तो वहाँ जाना पड़ता है वरना देवगति ही जाता है और मनुष्य तथा देवगति के दो, दस भव में ही मोक्ष चला जाता है।

सम्यक्दर्शन के धारी जो अग्रती हैं परन्तु शुद्धात्म तत्व का अनुभव करने वाले हैं तथा नित्य ही पात्रों को दान देते रहते हैं, वे कभी दुःखों से भरी गतियों में नहीं जाते हैं, वे मानव तो सारे दुःखों से मुक्त हो जाते हैं।

जो अपने चैतन्य लक्षण निजस्वभाव को स्वीकार कर लेते हैं वे सारे दुःखों से मुक्त जिन शुद्ध दृष्टि हैं, वे सम्पूर्ण तत्वों के ज्ञाता एक क्षण में मोक्ष (भाव मोक्ष) में चले जाते हैं फिर उनका संसार शीघ्र ही समाप्त हो जाता है।

इसी बात को रत्नकरण्ड श्रावकाचार में स्वामी समन्तभद्र जी कहते हैं-

सम्यग्दर्शन शुद्धा नारक तिर्यग नपुंसक स्त्रीत्वानि।

दुष्कुल विकृताल्पायुर्दरिद्रतां च ब्रजन्ति नाप्यव्रतिका ॥३५॥

ओजस्तेजो विद्या वीर्ययशो वृद्धि विजय विभव सनाथाः।

महाकुला महार्थामानव तिलका भवन्ति दर्शन पूताः ॥३६॥

जिनके सम्यक्दर्शन शुद्ध है, वे नारकी, पशु, नपुंसक, स्त्री, नीच कुल, विकलांगी, अल्पायु, दरिद्र नहीं होते हैं। व्रत रहित होते हैं तो भी खोटी अवस्था नहीं पाते हैं। वे दीप्तिवान, तेजस्वी, विद्वान, वीर्यवान, यशस्वी, विजयी, सम्पत्ति के धारी, उन्नतिशील, महाकुलवान, महान कार्य करने वाले श्रेष्ठ पुरुष होते हैं। सम्यक्दर्शन की शुद्धता परमोपकारिणी है। इसी बात को छहढाला में पं. दौलतराम जी ने कहा है।

प्रथम नरक बिन षट् भूज्योतिष, वान भवन षण्ड नारी।

थावर विकलत्रय पशु में नहिं, उपजत सम्यक्धारी ॥

तीन लोक तिहुंकाल माहिं नहिं, दर्शन सो सुखकारी।

सकल धरम को मूल यही, इस बिन करनी दुखकारी ॥

सम्यक्दृष्टि जीवों के परिणामों में सदा ही विशुद्धता रहती है तथा प्राप्त शुभयोग का वह सदुपयोग करते हैं, जिससे भविष्य में और उत्तम शुभयोग मिलते हैं। इसके विपरीत मिथ्यादृष्टि प्राप्त शुभयोगों का दुरुपयोग कर अपना वर्तमान जीवन दुःखमय

और भविष्य अन्धकार मय बनाता है। सम्यक्दृष्टि अपने पुण्य के उदय का सदुपयोग पात्रों को दान देने में करता है, जिससे धर्म की प्रभावना होती है।

इसी बात को और आगे स्पष्ट करते हैं -

पात्र दानं च चत्वारि, न्यानं आहार भेषजं ।

अभयं च भयं नास्ति, दानं पात्र सदा बुधै ॥ २७० ॥

न्यान दानं च न्यानं च, आहार दान आहारयं ।

अवधं भेषजस्त्वैव, अभयं अभय दानयं ॥ २७१ ॥

पात्र दानं च सुधं च, कर्म षिपति सदा बुधै ।

जे नरा दान चिंतंते, अविरतं संमिक दिष्टितं ॥ २७२ ॥

अन्वयार्थ- (पात्र दानं च चत्वारि) पात्र दान चार प्रकार का होता है - (न्यानं आहार भेषजं) ज्ञानदान, आहारदान, औषधिदान (अभयं च भयं नास्ति) अभयदान, जिससे भय का विनाश हो जाए (दानं पात्र सदा बुधै) बुद्धिमान सदैव पात्रों को चार दान दिया करते हैं ।

(न्यान दानं च न्यानं च) ज्ञानदान करने से ज्ञान की वृद्धि होती है और (आहार दान आहारयं) आहार दान से आहार की कमी नहीं रहती है (अवधं भेषजस्त्वैव) औषधिदान से शरीर में व्याधि नहीं होती (अभयं अभय दानयं) अभय दान से अभय हो जाते हैं फिर कोई भय नहीं रहता ।

(पात्र दानं च सुधं च) शुद्ध और सत्पात्रों को दिया हुआ दान (कर्म षिपति सदा बुधै) बुद्धिमानों को सदैव कर्मों का क्षय करने वाला होता है (जे नरा दान चिंतंते) जो मनुष्य, दान देते हैं, दान देने वाले की अनुमोदना करते हैं और दान देने की भावना रखते हैं (अविरतं संमिक दिष्टितं) वे अविरत सम्यक्दृष्टि सामान्य गृहस्थ श्रावक हैं ।

विशेषार्थ- पात्र दान चार प्रकार का होता है - ज्ञानदान, आहारदान, औषधिदान, अभयदान यह ही सच्चे दान हैं, इन दानों का फल इस भव में यशः कीर्ति तथा परभव में सुख समृद्धि सद्गति और मुक्ति की प्राप्ति होती है ।

१. ज्ञानदान - ज्ञान सिखाना, शास्त्र देना, शास्त्र प्रकाशन करवाना, विद्यालय स्थापना करना, छात्रों को सहायता करना-पढ़ाना लिखाना, पढ़ने वाले को पढ़ने के

साधन जुटाना, पुस्तकें आदि देना, सच्चे ज्ञान (सम्यक्ज्ञान) में निमित्त बनना ।

२. आहारदान-तीनों पात्रों को यथायोग्य भक्ति पूर्वक भोजन कराना, भूखे-प्यासे असहाय दुःखी जीवों को करुणा पूर्वक भोजन कराना, साधर्मिजनों को भोजन कराना, यह धर्म की वृद्धि और शरीर की स्थिरता का कारण है ।

३. औषधिदान-पात्रों को रोगग्रस्त जानकर रोग मेटने के लिये औषधिदान करना, औषधालय खुलवाना, दवायें बटवाना, रोगियों की सेवा व्यवस्था करना ।

४. अभयदान-पात्रों को आश्रय देना, निर्भय करना, योग्य स्थान देना, उनके ऊपर संकट पड़े तो निवारण करना ।

दया पूर्वक प्राणीमात्र को चार प्रकार का दान करना, करुणा दान है। सम्यक्दृष्टि गृहस्थ सदा कृपालु होता है, जगतमात्र का उपकारी होता है, प्राणीमात्र के प्रति उसके हृदय में दया और प्रेम होता है। दुःखी, भूखे, रोगी, अनपढ़ व आश्रय हीन बिना घरद्वार वालों और भयभीत लोगों को हमेशा चारों प्रकार के दान से संतोषित करता है। पशु पक्षी जीव मात्र के प्रति उसे करुणा दया और प्रेम होता है ।

इस प्रकार दान देने दान देने की भावना रखने और दान देने वाले की अनुमोदना करने से जो दान देते हैं, पात्रों के ज्ञान की वृद्धि चाहते हैं, उनको स्वयं ज्ञानावरणीय कर्म का विशेष क्षयोपशम होता है । वे यहां भी तथा परलोक में भी ज्ञानी होते हैं । जो आहारदान देते हैं वे अटूट पुण्य बांधते हैं, यहां भी कभी भूखे नहीं रहते तथा परभव में ऋद्धिधारी देव या धनशाली मानव होते हैं ।

औषधिदान करने से ऐसा पुण्य बंधता है, जिससे भविष्य में निरोग सुन्दर शरीर होता है । अभयदान करने से सदा निर्भयता का साधन मिलता है, आश्रय हीन कभी नहीं होते । वे सुन्दर आवास व रक्षकों के माध्यम के रहते हैं । यहां चार दान देने से अटूट पुण्य का बंध होता है ।

जो ज्ञानी वीतराग भाव से दान करते हैं, पात्रों के आत्मीक गुणों में प्रीति रखते हैं, पात्रों की रत्नत्रय की साधना तथा भावना दृढ़ रहे, ऐसी भावना मन में रखकर दान करते हैं तथा दान देने वालों की अनुमोदना प्रभावना प्रशंसा करते हैं । संसार शरीर भोगों से वैराग्य की भावना भाते हैं, उनके परिणामों में बहुत निर्मलता हो जाती है, जिससे उनके बहुत से पाप कर्म क्षय हो जाते हैं तथा जितना शुभ राग रूप भाव होता है, उससे अतिशयकारी पुण्य का बंध होता है । दान यद्यपि शुभ कार्य है; परन्तु सम्यक्दृष्टि ज्ञानी गृहस्थ के लिये मोक्षमार्ग रूप हो जाता है, वह ज्ञानी

दान के द्वारा भी शुद्धात्मा की भावना कर लेता है। पात्रों को दान देना रत्नत्रय के पालन में उत्साह बढ़ाने वाला है इसलिये सम्यक्दृष्टि निरन्तर पात्र दान देने की भावना करता रहता है और जब अवसर पाता है, दान करके अपने द्रव्य और जन्म को सफल मानता है।

इसी बात को कार्तिकेयानुपेक्षा में स्वामी कार्तिकेय कहते हैं -

भोयण दाणेण सोक्खं, ओसह दाणेण सत्थदाणं च।

जीवाण अभय दाणं, सुदुल्लहं सव्व दाणे सु ॥३६२॥

आहार दान से सबको सुख होता है, औषधिदान सहित शास्त्र दान और जीवों को अभयदान सब दानों में दुर्लभ है, उत्तम दान है। आहार दान देने पर तीनों ही दान दिये हुए हो जाते हैं क्योंकि भूख प्यास नाम के रोग प्राणियों को दिन प्रतिदिन होते हैं।

भोजन के बल से साधु रात-दिन शास्त्र का अभ्यास एवं अपनी साधना करते हैं। भोजन के देने से प्राणों की भी रक्षा होती है, इस तरह आहारदान में औषधि, ज्ञान और अभय दान यह तीनों ही दिये हुए जानना चाहिये, इसलिये आहार दान का विशेष महत्व है।

जो पुरुष (श्रावक) इसलोक, परलोक के फल की वांछा से रहित होकर परम भक्ति से संघ के लिये दान देता है, उसने सकल संघ को रत्नत्रय में स्थापित किया। उत्तम पात्र विशेष के लिये उत्तम भक्ति से उत्तमदान एक दिन भी दिया हुआ, उत्तम इन्द्र पद के सुख को प्रदान करता है।

आगे सुपात्र दान की महिमा और कुपात्रदान के दोष बताते हैं-

पात्र दानं वट वीजं, धरनी त्रिधन्ति जेतवा।

न्यान त्रिधन्ति दानं च, दान चिन्ता सदा बुधै ॥ २७३ ॥

पात्र दान मोष्य मार्गस्य, कुपात्रं दुर्गति कारनं।

विचारनं भव्य जीवानं, पात्र दान रतो सदा ॥ २७४ ॥

कुगुरु कुदेव उक्तं च, कुधर्मं प्रोक्तं सदा।

कुलिङ्गी जिन द्रोही च, मिथ्या दुर्गति भाजनं ॥ २७५ ॥

तस्य दानं च विनयं च, कुन्यानी मूढ दिष्टितं।

तस्य दान चिन्तनं येन, संसारे दुष दारुनं ॥ २७६ ॥

पात्र अपात्र विसेषत्वं, पन्नग गवं च उच्यते।

तृण भुक्तं च दुग्धं च, दुग्ध भुक्तं विषं पुनः ॥ २७७ ॥

पात्र दानं च भावेन, मिथ्या दिष्टी च सुद्धये।

भावना सुद्ध संपूर्ण, दानं फलं स्वर्ग गामिनो ॥ २७८ ॥

पात्र दान रतो जीवा, संसार दुष्य निपातये।

कुपात्र दान रतो जीवा, नरयं पतितं ते नरा ॥ २७९ ॥

अन्वयार्थ- (पात्र दानं वट बीजं) पात्रों को दिया हुआ दान बीज की तरह (धरनी त्रिधन्ति जेतवा) पृथ्वी में डालने पर अनन्त गुना फलता है (न्यान त्रिधन्ति दानं च) इसी प्रकार ज्ञानी द्वारा दिया हुआ दान बहुत फलता है (दान चिन्ता सदा बुधै) इसलिये बुद्धिमानों को दान करने में उत्साह रखना चाहिये।

(पात्र दान मोष्य मार्गस्य) पात्र दान मोक्ष मार्ग की सिद्धि का उपाय है (कुपात्रं दुर्गति कारनं) कुपात्र दान दुर्गति का कारण है (विचारनं भव्य जीवानं) भव्य जीवों का कर्तव्य है कि वे भले प्रकार विचार कर (पात्र दान रतो सदा) पात्र दान में सदा रत हों।

(कुगुरु कुदेव उक्तं च) जो कुपात्र कुगुरु हैं वह कुदेवों की भक्ति मान्यता का उपदेश देते हैं और (कुधर्मं प्रोक्तं सदा) हमेशा कुधर्म हिंसादि पापारम्भ करने की बात कहते हैं (कुलिङ्गी जिन द्रोही च) वह कुलिङ्गी जिनद्रोही और (मिथ्या दुर्गति भाजनं) मिथ्यात्व सहित दुर्गति के पात्र हैं।

(तस्य दानं च विनयं च) ऐसे कुगुरु को दान देना और उनकी विनय करना (कुन्यानी मूढ दिष्टितं) कुज्ञानी और मूढदृष्टिपना है (तस्य दान चितनं येन) जो उनको दान देते या दिलाते हैं (संसारे दुष दारुनं) वे संसार में दारुण दुःख भोगते हैं।

(पात्र अपात्र विसेषत्वं) पात्र और अपात्र की विशेषता को (पन्नग गवं च उच्यते) गाय और सर्पिणी के समान कहा गया है (तृण भुक्तं च दुग्धं च) गाय घास खाती है और दूध देती है (दुग्ध भुक्तं विषं पुनः) सर्पिणी दूध पीती है और विष उगलती है।

(पात्र दानं च भावेन) पात्र दान देने और उसकी भावना करने से (मिथ्या दिष्टी च सुद्धये) मिथ्यादृष्टि भी शुद्ध हो सकता है (भावना सुद्ध संपूर्ण) पूर्ण शुद्ध भावना से (दानं फलं स्वर्ग गामिनं) सत्पात्र को दान देने के फलस्वरूप वह देवगति जा सकता है।

(पात्र दान रतो जीवा) जो जीव पात्रों को दान देने में रत रहते हैं (संसार दुष्य निपातये) वह संसार के दुःखों से छूट जाते हैं (कुपात्र दान रतो जीवा) जो जीव कुपात्रों को दान देने में रत रहते हैं (नरयं पतितं ते नरा) वे मनुष्य नरक में जाते हैं ।

विशेषार्थ- जैसे बट वृक्ष का बीज बहुत छोटा होता है परन्तु पृथ्वी में बोये जाने पर बड़ा भारी वृक्ष होकर फलता है, इसी प्रकार पात्रों को दिया हुआ दान बहुत भारी फल देता है । अधिक धन होने से लोभ और मान कषाय बढ़ती है । विषय-भोगों में लगाने से वह दुर्गति का कारण बनता है ; इसलिये विवेकवान ज्ञानी उसका सदुपयोग दान करने में करते हैं, जिससे स्व-पर का कल्याण होता है ।

सत्पात्रों को दान देने से मोक्षमार्ग की सिद्धि होती है और कुपात्रों को दान देने से दुर्गति का कारण बनता है इसलिये भव्य जीवों को विवेक पूर्वक विचार कर पात्र, कुपात्र को समझकर दान देना चाहिये । सत्पात्रों का वर्णन किया जा चुका है, इसके विपरीत जो कुपात्र हैं अगर उनमें भी ऐसी ही श्रद्धा भक्ति करेंगे, दान देंगे, उनकी बात मानेंगे, उनके कहे अनुसार चलेंगे तो पुण्य की जगह हिंसादि पाप होंगे, मिथ्यात्व का पोषण होगा जिससे दुर्गति जाना पड़ेगा ।

जो कुपात्र अर्थात् मिथ्यादृष्टि अज्ञानी कुगुरु हैं, जिन्होंने बाहर से भेष बना रखा है जो साधु बनकर विपरीत मार्ग पर चलते हैं, कुदेवादि के जाल में फंसाते हैं, मिथ्यात्व का पोषण करते हैं, अपने में महन्तपना मानते हैं, पापारम्भ करते हैं, ऐसे कुलिङ्गी जिनद्रोही स्वयं तो दुर्गति जाते हैं पर जो इनकी श्रद्धा भक्ति मान्यता करते हैं, विनय पूर्वक दान आदि देते हैं वे भी दारुण दुःख भोगते हैं, दुर्गति के पात्र बनते हैं क्योंकि जो जिनधर्म के विरुद्ध आचरण करते हैं, जिनवाणी को नहीं मानते अपनी मनमानी करते हैं वे पत्थर की नौका के समान हैं । जो आप तो डूबेंगे पर जो उनके साथ लगेंगे उनकी मान्यता करेंगे वे भी उसमें ही डूबेंगे; इसलिये सोच विचार कर दानादि देना तथा मान्यता करना चाहिये क्योंकि पात्र कुपात्र की विशेषता गाय और सर्पिणी जैसी है । जैसे- गाय घास खाती है और दूध देती है और सर्पिणी दूध पीती है और जहर उगलती है, इसी प्रकार सत्पात्र की भावना पवित्र और शुद्ध धर्म की मान्यता होती है, उसके भीतर करुणा पैदा होती है, जिससे सबका भला होता है । कुपात्र दुष्ट कठोर होता है, ऊपर से बड़ा सरल साधु जैसा दिखता है पर भीतर मायाचारी भरी रहती है, जो जीवों को अपने जाल में फंसाता है इसलिये सावधानी और विवेक पूर्वक ही दानादि करना चाहिये ।

सत्पात्र को दान देने से मिथ्यादृष्टि भी सुलट सकता है, वह भी सद्गति जा सकता है और कुपात्र दान से विवेकवान भी दुर्गति जा सकता है; इसलिये जो जीव सत्पात्रों को दान देने में रत रहते हैं वह संसार के दुःखों से छूट जाते हैं और जो कुपात्रों को दान देने में रत रहते हैं, वह नरकादि दुर्गतियों में जाते हैं ।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि इससे तो किसी को दान ही नहीं देना चाहिये क्योंकि अपने को क्या पता कौन सुपात्र है, कौन कुपात्र है, इससे तो वैसे ही अच्छे हैं, व्यर्थ ही दान देकर दुर्गति क्यों जायें ?

इसका समाधान करते हैं कि भाई ! दान देना तो हर दशा में लाभकारी है, दान का फल ही संसार में सब प्रकार की सुख समृद्धि मिलना है । प्राप्त द्रव्य का सदुपयोग तो दान करने में करना ही चाहिये । दान से ही गृहस्थ की शोभा है इससे यहाँ भी यश फैलता है और परभव में भी सुख साता के योग मिलते हैं । यहाँ कहने का अभिप्राय यह है कि गलत ढंग से कुगुरु कुपात्रों के जाल से फंसकर कोई गलत काम नहीं करना चाहिये जिससे अपना भी अहित हो तथा अन्य जीवों का भी अहित हो ।

करुणा बुद्धि से आहारादि कराना, धर्मशाला, औषधालय बनवाना, गरीब दुखियों की सेवा सहायता करना यह तो प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य ही है, इसी से धर्म की प्रभावना और पुण्य का संचय होता है परन्तु इसके साथ विनय भक्ति श्रद्धा का विवेक पूर्वक उपयोग करना चाहिये । दान देना दुःख और दुर्गति का कारण नहीं है, इसके साथ जो हमारी श्रद्धा भावना मान्यता है वह दुःख दुर्गति का कारण है इसलिये विवेक पूर्वक अपने द्रव्य का और अपनी श्रद्धा भक्ति मान्यता का सदुपयोग करना चाहिये ।

इसी बात को तारण स्वामी आगे की गाथाओं में स्पष्ट करते हैं -

पात्र दानं च प्रतिपूर्णं, प्राप्तं च परमं पदं ।

सुद्ध तत्त्वं च सार्धं च, न्यान मयं सार्धं ध्रुवं ॥ २८० ॥

पात्रं प्रमोदनं कृत्वा, त्रिलोकं मुद उच्यते ।

जत्र जत्र उत्पाद्यंते, प्रमोदं तत्र उच्यते ॥ २८१ ॥

पात्रस्य अभ्यागतं कृत्वा, त्रिलोकं अभ्यागतं भवे ।

जत्र जत्र उत्पाद्यंते, तत्र अभ्यागतं भवेत् ॥ २८२ ॥

पात्रस्य चिंतनं कृत्वा, तस्य चिंता स चिंतये ।

चेतयन्ति प्राप्तं वृद्धिं, पात्र चिंता सदा बुधै ॥ २८३ ॥

अन्वयार्थ- (पात्र दानं च प्रतिपूर्ण) पात्र दान का पूर्ण फल यह है कि (प्राप्तं च परमं पदं) परम पद जो मोक्ष उसकी प्राप्ति होती है (सुद्ध तत्त्वं च सार्धं च) जो अपने शुद्धात्म तत्त्व की साधना करते हैं और (न्याय मयं सार्धं ध्रुवं) ज्ञानमयी ध्रुव तत्त्व को साधते हैं।

(पात्रं प्रमोदनं कृत्वा) जो पात्रों को देखकर मन में प्रसन्नता लाते हैं, प्रभावना करते हैं (त्रिलोकं मुद उच्यते) उन्हें त्रिलोक में प्रसन्नता मिलना कहा गया है (जत्र जत्र उत्पाद्यन्ते) जहाँ-जहाँ पात्र दानी जीव पैदा होता है (प्रमोदं तत्र उच्यते) वहाँ उसको प्रमोद भाव प्राप्त होता है।

(पात्रस्य अभ्यागतं कृत्वा) जो पात्रों का स्वागत करता है (त्रिलोकं अभ्यागतं भवे) उसका त्रिलोक में स्वागत होता है (जत्र जत्र उत्पाद्यन्ते) जहाँ जहाँ जाता है, पैदा होता है (तत्र अभ्यागतं भवेत्) वहाँ उसका स्वागत होता है।

(पात्रस्य चिंतनं कृत्वा) जो गृहस्थ श्रावक निरन्तर पात्रों के लाभ का चिन्तन किया करते हैं (तस्य चिंता स चिंतये) उनकी भावना शुभ होती है (चेतयन्ति प्राप्तं वृद्धिं) इस शुभ भावना से वह वृद्धि को प्राप्त होता है (पात्र चिंता सदा बुधै) इसलिये बुद्धिमानों को सदैव पात्र दान की भावना करना चाहिये।

विशेषार्थ- पात्र दान का फल अंत में मोक्ष की प्राप्ति है, जो पात्रों को भक्ति पूर्वक दान देते हैं, उनके भीतर रत्नत्रय मयी निजशुद्धात्मा की श्रद्धा दृढ़ होती है क्योंकि जो अपने शुद्धात्म तत्त्व की साधना करते हैं, ज्ञानमयी ध्रुवतत्त्व को साधते हैं, उनकी महिमा और प्रभावना देखकर धर्म का बहुमान जागता है और उस ओर बढ़ने की भावना होती है। जो पात्रों को अर्थात् त्यागी व्रती साधुओं को देखकर प्रसन्न होते हैं, प्रभावना करते हैं, उन्हें त्रिलोक में प्रसन्नता मिलती है, प्रभावना होती है। वह जहाँ-जहाँ भी जाते हैं, पैदा होते हैं वहाँ उनको प्रमोदभाव प्राप्त होता है। जो वीतरागी निर्ग्रन्थ ज्ञानी साधुओं का स्वागत करता है सम्मान करता है, उसका त्रिलोक में स्वागत होता है क्योंकि यह रत्नत्रय के साधक साधुओं का सम्मान नहीं बल्कि रत्नत्रय मयी निजशुद्धात्मा का ही स्वागत सम्मान करना है। इससे जहाँ-जहाँ भी वह पैदा होता है, वहाँ उच्च पद का धारी ऋद्धिधारी देव इन्द्र

चक्रवर्ती आदि होता है, जिससे उसका वहाँ स्वागत सम्मान होता है, साधर्मी-धर्मात्मा जीवों का सम्मान बहुमान वास्तव में धर्म का सम्मान बहुमान है और इससे पुण्यानुबंधी, सातिशय पुण्य का बंध होता है, जो जीव को हर जगह, हर परिस्थिति में रक्षा करता है और उसका हर जगह स्वागत सम्मान होता है। यह बात धन्यकुमार चरित्र से बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि पूर्वभव में उसने भक्ति पूर्वक पात्रदान दिया था उसका उसे परिणाम उत्कृष्ट रूप में मिला।

जो गृहस्थ श्रावक निरन्तर यह भावना भाते हैं कि हम अपने जीवन और द्रव्य का सदुपयोग धर्म प्रभावना धर्मात्माओं की सेवा करने में करें, उनकी यह भावना शुभ होती है, जिससे उनकी भावनानुसार सारे कार्य निर्विघ्न सानन्द सम्पन्न होते हैं, यहाँ भी यश मिलता है, प्रभावना होती है और भविष्य में भी अतिशयकारी कार्य होते हैं तथा उसका जीवन भी निरन्तर सुख शान्ति आनंदमय रहता है, सब प्रकार की समृद्धि बढ़ती है। पात्र दान की भावना करना, करने वालों की अनुमोदना करना और हमेशा पात्र भावना की भावना रखना अतिशय पुण्यबंध का कारण है इसलिये ज्ञानी सद् गृहस्थों के लिये हमेशा पात्र भावना करने की भावना रखना चाहिये।

इसके विपरीत कुपात्र, मिथ्यात्व से ग्रसित ढोंगी पाखंडी कुलिंगी कुगुरुओं की प्रभावना करना, उनके सत्संग में रहना दुर्गति का कारण है, इसी बात को आगे की गाथाओं में कहते हैं -

कुपात्रं अभ्यागतं कृत्वा, दुर्गति अभ्यागतं भवेत् ।

सुगति तत्र न दिष्टंते, दुर्गतिं च भवे-भवे ॥ २८४ ॥

कुपात्रं प्रमोदनं कृत्वा, इन्द्री इत्यादि थावरं ।

तिरियं नरय प्रमोदं च, कुपात्र दान फलं सदा ॥ २८५ ॥

अन्वयार्थ- (कुपात्रं अभ्यागतं कृत्वा) जो कोई कुपात्रों का स्वागत करते हैं (दुर्गति अभ्यागतं भवेत्) वे अपने लिये दुर्गति का स्वागत करते हैं (सुगति तत्र न दिष्टंते) फिर उनको सुगति का दर्शन नहीं होता (दुर्गतिं च भवे-भवे) उनको भव-भव में दुर्गति की ही प्राप्ति होती है।

(कुपात्रं प्रमोदनं कृत्वा) जो कुपात्रों को देखकर आनंद मनाते हैं, उनके सत्संग में संलग्न रहते हैं (इन्द्री इत्यादि थावरं) वे एकेन्द्रिय स्थावरों में जन्मते हैं (तिरियं नरय प्रमोदं च) उनको नरक व तिर्यच गति का ही आनंद मिलता है (कुपात्र दान

फलं सदा) कुपात्र दान का फल हमेशा ऐसा ही होता है।

विशेषार्थ- जो मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र से युक्त भेषी कुलिंगी साधु कुगुरु हैं, उनका स्वागत करना, उनको भक्ति पूर्वक दान देना, उनके सत्संग में रहना, उनके कथनानुसार आचरण करना, यह सब संसार के कारण मिथ्यादर्शन आदि का ही पोषण करना है, जिसका फल कुगति का बन्ध है और इससे भव-भव में दुर्गति की ही प्राप्ति होती है, उनको कभी सुगति का दर्शन नहीं होता है; क्योंकि जो जैसे संग में रहेगा उसके ऊपर उसका वैसा ही असर पड़ेगा, उसकी बुद्धि और भावना भी वैसी ही होगी तथा वैसा ही आचरण करेगा और उसका वैसा ही फल भोगना पड़ेगा। कुपात्र-सम्यक्दर्शन से रहित भेषधारी द्रव्यलिंगी त्यागी व्रती साधु कहे जाते हैं। इनको देखकर आनंद मानना, इनकी अनुमोदना, प्रभावना करना मिथ्यात्व की अनुमोदना है। मिथ्यात्व भावों की वासना से, अनन्तानुबंधी कषाय की तीव्रता से एकेन्द्रिय स्थावर गति का बंध होता है। मिथ्यात्व के समान कोई पाप नहीं है। मिथ्यात्व सहित व्यक्ति को धर्मात्मा मानकर उसके अधर्म की प्रतिष्ठा करनी उसे भी पतित रखना है व आप भी पतित होना है, इससे नरक व तिर्यच गति जाना पड़ता है अतः विवेकी मानव को पात्र कुपात्र का विचार करके ही उसकी अनुमोदना प्रभावना करना चाहिये।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि सम्यक्दर्शन सहित साधु सुपात्र है और सम्यक्दर्शन रहित साधु कुपात्र है इसकी पहिचान करना कि कौन सम्यक्दृष्टि है, कौन मिथ्यादृष्टि है यह तो बड़ी कठिन समस्या है ऐसी स्थिति में सामान्य जनों को क्या करना चाहिये ?

इसका समाधान करते हैं कि यह बात तो ठीक है कि इसकी पहिचान निर्णय करना मुश्किल है कि कौन सम्यक्दृष्टि कौन मिथ्यादृष्टि है पर सामान्य व्यवहार में साधु के गुण लक्षण आचरण और चर्चा से यह बात समझ में आ जाती है, उसके अनुसार व्यवहार करना चाहिये। प्रमुख बात यह है कि किसी को गुरु मानकर समर्पित हो जाना, इसमें बड़े विवेक की आवश्यकता है क्योंकि उसमें श्रद्धा भक्ति की विशेषता रहती है और श्रद्धा भक्ति पूर्वक समर्पण ही पात्र की अपेक्षा सद्गति दुर्गति का पात्र बनाता है। सामान्य व्यवहार अपेक्षा आहार औषधि आदि दान देना पुण्य बन्ध का ही कारण है, उसमें प्राणी मात्र के प्रति करुणा बुद्धि से दान दिया जा सकता है इसमें जाति-पांति भेष, पर्याय आदि का भी प्रयोजन नहीं है।

यहाँ पात्र कुपात्र की विशेषता श्रद्धा भक्ति समर्पण से है, सामान्य व्यवहार से

नहीं है। जो अपनी श्रद्धा से विचलित करे, किसी प्रकार के मिथ्यात्व में फंसावे, बन्धन में बांधे वह तो प्रत्यक्ष ही कुपात्र है इनसे सावधान रहना चाहिये और विवेक पूर्वक ही दान देना चाहिये।

अव्रत सम्यक्दृष्टि विवेकवान होता है वह पात्रों को ही दान देता है और उस पात्रदान की क्या विशेषता होती है, यह तारण स्वामी आगे की गाथाओं में कहते हैं-

पात्र दानं च सुद्धं च, दात्रं सुद्ध सदा भवेत् ।

तत्र दानं च मुक्तस्य, सुद्ध दिस्टी सदा मयं ॥ २८६ ॥

पात्र सिष्यां च दात्रस्य, दात्र दानं च पात्रयं ।

दात्र पात्रं च सुद्धं, दानं निर्मलतं सदा ॥ २८७ ॥

दात्रं सुद्ध संमिक्तं, पात्रं तत्र प्रमोदनं ।

दात्र पात्रं च सुद्धं च, दानं निर्मलतं सदा ॥ २८८ ॥

पात्रं जत्र सुद्धं च, दात्रं प्रमोद कारनं ।

पात्र दात्र सुद्धं च, उक्तं दान जिनागमं ॥ २८९ ॥

अन्वयार्थ- (पात्र दानं च सुद्धं च) पात्र दान में पात्र शुद्ध हो और (दात्रं सुद्ध सदा भवेत्) दाता शुद्ध हो ऐसा शुभ योग मिले तो (तत्र दानं च मुक्तस्य) ऐसा दान मुक्ति का कारण बनता है (सुद्ध दिस्टी सदा मयं) जहाँ दाता और पात्र दोनों ही शुद्ध दृष्टि हों जो सदा उसी मय रहते हों।

(पात्र सिष्यां च दात्रस्य) उत्तम पात्र, दाता को शिक्षा ज्ञान दान देते हैं और (दात्र दानं च पात्रयं) दाता, पात्रों को आहार आदि दान देते हैं (दात्र पात्रं च सुद्धं) जहाँ दाता और पात्र दोनों शुद्ध हों (दानं निर्मलतं सदा) ऐसा दान हमेशा निर्मल शुभ और अतिशयकारी होता है।

(दात्रं सुद्ध संमिक्तं) जहाँ दाता शुद्ध सम्यक्दृष्टि हो (पात्रं तत्र प्रमोदनं) इससे पात्र को बड़ी खुशी होती है और वह उसकी अनुमोदना और प्रमोद भाव रखता है (दात्र पात्रं च सुद्धं च) जहाँ दाता और पात्र दोनों उत्तम शुद्ध होते हैं (दानं निर्मलतं सदा) ऐसा दान हमेशा ही प्रशंसनीय और निर्मल होता है।

(पात्रं जत्र सुद्धं च) जहाँ पात्र उत्तम अर्थात् शुद्ध सम्यक्दृष्टि होता है और (दात्रं प्रमोद कारनं) दाता के लिये इससे बड़ी खुशी प्रमोद भावना होती है (पात्र दात्र

सुद्धं च) ऐसा ही पात्र और दाता जहां सुद्ध होता है (उक्तं दान जिनागमं) इसी को जिनागम में सच्चा दान कहा गया है।

विशेषार्थ- पात्र दान में, पात्र शुद्ध हो और दाता शुद्ध हो, ऐसा शुभ योग मिले तो ऐसा दान मुक्ति का कारण बनता है। जैसा भगवान आदिनाथ को राजा श्रेयांस ने दान दिया और तद्भव उनसे पूर्व ही मोक्ष चले गये। शुद्ध सम्यक्दृष्टि दाता और पात्र हो वही अपूर्व दान है और ऐसे दान का बड़ा भारी माहात्म्य है। उत्तम पात्र, धर्म का साधक है उनको दान देने से उनके परिणामों में स्थिरता होती है, उनके संयम का साधन होता है, यह उपकार तो दाता द्वारा, पात्र का होता है और पात्र द्वारा दाता का यह उपकार होता है कि वह उसको धर्मोपदेश देते हैं, जिससे वह धर्म का विशेष अनुरागी हो जाता है। जहाँ दाता का भाव शुद्ध है सम्यक्दर्शन से पूर्ण है और पात्र भी शुद्ध भाव धारी सम्यक्दृष्टि है वहाँ अपूर्व निर्मलदान होता है। दोनों के भाव अति पवित्र हो जाते हैं। यह दान सदा ही भावों में अति विशुद्धता करने वाला है। प्रमोद भाव से दान देने वाले के भावों में इतनी विशुद्धता होती है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। जहाँ वीतरागी साधु उत्तम पात्र होते हैं और जो सद्गृहस्थ उन्हें भक्तिपूर्वक आहार के लिये पड़गाहन करते हैं, उस समय उनके भावों में इतनी विशुद्धता, निर्मलता होती है कि चारों तरफ जय-जयकार मच जाती है, देखने वालों की आत्मा गद्गद हो जाती है, धर्म की बड़ी अपूर्व महिमा है। सम्यक्दृष्टि पात्र के दर्शन करने मात्र से अपूर्व शांति और आनंद की अनुभूति होती है फिर सत्संग और दानादि की प्रवर्तना से तो अपूर्व ही आनंद आता है। उत्तम पात्र हो और उत्तम दाता हो यही दान जिनागम में श्रेष्ठ कहा गया है। जैसे चन्दना द्वारा भगवान महावीर को दान दिया गया। सम्यक्दृष्टि उत्तम मध्यम जघन्य पात्र के द्वारा कभी दाता को जरा भी असुविधा विकल्प नहीं होता; क्योंकि वह अपनी-अपनी पात्रतानुसार आचरण करते हैं। उत्तम पात्र वीतरागी साधु तो उद्दिष्ट के त्यागी होते हैं, उन्हें तो जो श्रावक ने अपने लिये बनाया हो उससे निस्पृह वृत्ति से आहार लेकर चले जाते हैं। जहाँ सम्यक्दृष्टि मोक्षगामी दाता हो और मोक्षगामी महात्मा पात्र हो वह दान महान है।

यदि पात्र सम्यक्दृष्टि है, आत्म साधक मोक्षमार्गी है तो वह सत्पात्र दाता के द्वारा दिया हुआ दान ही ग्रहण करता है। अपात्र मिथ्यादृष्टि का दान नहीं लेता, यदि अपात्र मिथ्यादृष्टि का दान लेता है तो वह भी अपात्र कहा जाता है, इसी बात को आगे की गाथाओं में कहते हैं -

मिथ्या दिस्टी च दानं च, पात्रं न गृहिते पुनः।

जदि पात्रं गृहिते दानं, पात्रं अपात्र उच्यते ॥ २९० ॥

मिथ्या दान विषं प्रोक्तं, घृत दुग्धं विनासये।

नीच संगेन दुग्धं च, गुणं नासन्ति जत्पुनः ॥ २९१ ॥

मिथ्या दिस्टी संगेन, गुणं च निर्गुनं भवेत्।

मिथ्या दिस्टी जीवस्य, संगं तिजंति सदा बुधैः ॥ २९२ ॥

अन्वयार्थ- (मिथ्या दिस्टी च दानं च) मिथ्यादृष्टि के द्वारा दिये हुए ज्ञान दान को (पात्रं न गृहिते पुनः) पात्र ग्रहण नहीं करते हैं (जदि पात्रं गृहिते दानं) यदि पात्र उस ज्ञान दान को ग्रहण कर ले तो (पात्रं अपात्र उच्यते) वह पात्र, अपात्र कहा जाता है।

(मिथ्या दान विषं प्रोक्तं) मिथ्या दान विष रूप कहा गया है (घृत दुग्धं विनासये) जैसे विष के संयोग से घी दूध भी वैसा ही हो जाता है (नीच संगेन दुग्धं च) इसी प्रकार नीच की संगति से पात्र के दूधवत् (गुणं नासन्ति जत्पुनः) सभी गुण नष्ट हो जाते हैं।

(मिथ्या दिस्टी संगेन) मिथ्यादृष्टि की संगति से (गुणं च निर्गुनं भवेत्) पात्र के गुण, औगुण हो जाते हैं (मिथ्या दिस्टी जीवस्य) इसलिये मिथ्यादृष्टि जीवों का (संगं तिजंति सदा बुधैः) संग बुद्धिमानों को हमेशा के लिये छोड़ देना चाहिये।

विशेषार्थ- दान देने वाले को दाता और दान लेने वाले को पात्र कहते हैं और इसका परस्पर में अदान-प्रदान रूप संबंध होता है। चार दान में से जो जिसे जो दान देवे वह दाता कहलाता है और दान लेवे वह पात्र कहलाता है। सद्गृहस्थ श्रावक किसी साधु त्यागी को आहार दान देता है उस समय आहार देने वाला दाता और आहार लेने वाला पात्र कहलाता है। जब साधु त्यागी गृहस्थ श्रावक को ज्ञानदान देता है तब यह दाता और वह पात्र कहलाता है। श्री तारण स्वामी ने यहाँ दोनों की अपेक्षा कथन किया है, एक पक्षीय दान की प्ररूपणा नहीं की। अत्रत सम्यक्दृष्टि श्रावक यदि किसी को आहारदान देता है तो वह उसकी भावनानुसार पुण्य बंध करता है तथा जब वह ज्ञानदान लेता है तब उसे सतर्क रहना चाहिये क्योंकि यदि ज्ञान देने वाला मिथ्यादृष्टि कुपात्र है तो जो लेने वाला पात्र है, उस बात को स्वीकार नहीं करता, यदि

वह उसकी बातों को स्वीकार कर ले तो वह पात्र, अपात्र कहा जाता है। नीच की संगति बड़ी अनिष्टकारी होती है, जो जीव मिथ्यादृष्टि कुगुरुओं की बातों में लग जाते हैं, उनके कहे अनुसार मान्यता करने लगते हैं, उनका जीवन ही नष्ट हो जाता है। जैसे विष के संयोग से दूध और घृत नष्ट हो जाता है इसी प्रकार मिथ्यादृष्टियों का संग बड़ा अनर्थकारी होता है, इनकी संगति से कई दुर्गुण मिथ्या मान्यतायें लग जाती हैं, जो सच्चे धर्म से च्युत कर देती हैं इसलिये बुद्धिमान ज्ञानीजनों को हमेशा ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवों का संग ही छोड़ देना चाहिये इसलिये दान देने और लेने में बड़े विवेक की आवश्यकता है, जरा सी बात, जरा सी श्रद्धा मान्यता में ही सब विपरीत हो जाता है।

जो सच्चे तत्व के श्रद्धावान नहीं हैं, जिन्हें सम्यक्ज्ञान नहीं है, मात्र बाह्य भेष बना लिया है उनकी संगति से लाभ होने के बदले में हानि होना बहुत संभव है। उनके प्रभाव में आकर सच्चे श्रद्धावानों की श्रद्धा बहुधा बिगड़ जाती है तथा गुणों का नाश होकर अवगुणों की अर्थात् राग-द्वेषादि की उत्पत्ति हो जाती है। बहुधा कुसंगति से व्यसन और विषयों में आसक्ति हो जाती है, जिनकी संगति से सम्यक्त्व दृढ़ हो, उन्हीं का सत्संग करने ज्ञानदान लेने से सम्यक्त्वादि गुणों की वृद्धि होगी, यदि दातार सम्यक्त्व रहित है तो पात्र के भीतर उसके भावों का बातों का असर पड़ने से सम्यक्त्व भाव में बाधा हो जायेगी इसलिये विवेक पूर्वक ही दान देना और लेना चाहिये।

इसी बात की सावधानी के लिये सद्गुरु तारण स्वामी आगे गाथाओं में और स्पष्ट करते हैं -

मिथ्याती संगते जेन, दुरगति भवति ते नरा ।

मिथ्या संग विनिर्मुक्तं, सुद्ध धर्म रतो सदा ॥ २९३ ॥

मिथ्या संग न कर्तव्यं, मिथ्या वास न वासितं ।

दूरेहि त्यजंति मिथ्यात्वं, देसो त्यागं च तिक्तयं ॥ २९४ ॥

मिथ्या दूरेहि वाचंते, मिथ्या संग न दिस्टते ।

मिथ्या माया कुटुम्बस्य, तिक्ते विरचे सदा बुधै ॥ २९५ ॥

मिथ्यातं परं दुष्यानी, संमिक्तं परमं सुषं ।

तत्र मिथ्या माया त्यक्तंति, सुद्धं संमिक्त सार्धयं ॥ २९६ ॥

अन्वयार्थ- (मिथ्याती संगते जेन) इसी प्रकार मिथ्यात्वी संसारासक्त की

संगति से (दुरगति भवति ते नरा) जीवों को दुर्गति में जाना पड़ता है अतः (मिथ्या संग विनिर्मुक्तं) मिथ्या संग छोड़कर (सुद्ध धर्म रतो सदा) शुद्ध धर्म में सदा रत रहना चाहिये।

(मिथ्या संग न कर्तव्यं) जो मिथ्यात्वी कुगुरु हैं उनके साथ रहना, संग करना भी कर्तव्य नहीं है (मिथ्या वास न वासितं) ऐसे मिथ्यात्वी जहाँ रहते हों, वहाँ भी नहीं रहना चाहिये (दूरेहि त्यजंति मिथ्यात्वं) ऐसे मिथ्यात्वी और मिथ्यात्व को दूर से ही छोड़ देना चाहिये (देसो त्यागं च तिक्तयं) अगर देश भी छोड़ना पड़े तो छोड़ देना चाहिये।

(मिथ्या दूरेहि वाचंते) ऐसे मिथ्यात्वी कुगुरुओं से दूर से ही बचकर रहना चाहिये (मिथ्या संग न दिस्टते) उनका संग भी नहीं देखना चाहिये (मिथ्या माया कुटुम्बस्य) ऐसे मिथ्या मायाचारी करने वाले कुटुम्ब को (तिक्ते विरचे सदा बुधै) छोड़कर बुद्धिमानों को सदा बचकर दूर ही रहना चाहिये।

(मिथ्यातं परम दुष्यानी) क्योंकि मिथ्यात्व परम दुःख की खानि है (संमिक्तं परमं सुषं) सम्यक्त्व परम सुख रूप है (तत्र मिथ्या माया त्यक्तंति) इसलिये मिथ्या माया छोड़कर (सुद्धं संमिक्त सार्धयं) शुद्ध सम्यक्त्व की साधना करना चाहिये।

विशेषार्थ- यहां दान का प्रकरण चल रहा है, अव्रत सम्यक्दृष्टि चार दान की भावना प्रभावना करता है, यह उसकी अठारह क्रियाओं में आवश्यक है, दान देने से भावों में निर्मलता आती है, लोभादि कषाय गलती है, पुण्य का बंध होता है इसलिये सत्पात्रों को दान देने की प्रवृत्ति रहती है और करुणा भाव से दुःखी भूखे अनाथों की सहायता करता है, दान देता है। आहार दान एक ऐसा दान है जो प्राणीमात्र को किसी भी भेदभाव के बिना दिया जा सकता है और इसमें अपनी भावनानुसार पुण्य का बन्ध होता है, अन्य दानों में विवेक पूर्वक देना योग्य है।

यहां विशेष बात यह है कि श्रावक जिन पात्रों को आहार दान देता है और यदि वह पात्र कुपात्र अर्थात् बाह्य भेषधारी मिथ्यादृष्टि है और उनके द्वारा जो उपदेश ज्ञान दान दिया जाता है इसमें बुद्धिमान श्रावक को सावधान रहना चाहिये, उनकी किसी बात को नहीं मानना चाहिये। जैसे यह अदेवादि के पूजन दर्शन की बात करते हैं, नियम लेने को कहते हैं तो यह कभी स्वीकार नहीं करना चाहिये और ऐसों को आहार दान भी नहीं देना चाहिये। जहां गृहीत मिथ्यात्व का पोषण हो, सम्यक्त्व में दोष लगे, श्रद्धान में पराधीनता आवे, ऐसे मिथ्यादृष्टि कुगुरुओं का संग भी नहीं करना

चाहिये, उनसे मिलना बोलना भी नहीं चाहिये। जहां वह रहते हैं वहां जाना भी नहीं जाना चाहिये क्योंकि इनकी संगति से दुर्गति जाना पड़ता है। अव्रत सम्यक्दृष्टि को अपनी श्रद्धा को दृढ़ रखते हुए इन सबसे दूर रहना चाहिये, व्यवहारिकता में विरोध आवे तो वह स्थान और देश भी छोड़ देना चाहिये परंतु अपनी श्रद्धा से नहीं डिगना चाहिये। जैसा जिनेन्द्र देव ने, वीतरागी सद्गुरुओं ने वस्तु का स्वरूप बताया है, आत्मा की स्वतंत्र सत्ता प्रतिपादित की है, उस पर अडिग रहना चाहिये, कभी किसी कुदेव-अदेव आदि की पूजा भक्ति नहीं करना चाहिये क्योंकि -

मिथ्यात्व के समान महान पाप और कोई नहीं है, यह मिथ्यात्व ही परम दुःख की खानि है और सम्यक्त्व ही परम सुख है इसलिये मिथ्यात्व और मिथ्यादेव गुरु का संग छोड़कर शुद्ध सम्यक्त्व अपने शुद्धात्म स्वरूप की साधना करना चाहिये।

संगति का बड़ा भारी असर होता है, जैसी संगति होती है वैसे ही भाव और आचरण होने लगता है इसलिये विवेकवान श्रावक को अपने शुद्धात्म स्वरूप के श्रद्धान में हमेशा दृढ़ रहना चाहिये। किसी प्रकार के ग्रहीत-अग्रहीत मिथ्यात्व का पोषण न हो जावे, उस ओर की प्रवृत्ति न हो जाए इसलिये मिथ्यात्वी जीवों की संगति से बचना चाहिये। इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि शुद्ध सम्यक्त्व की रक्षा की जाये, सम्यक्त्व में कोई दोष न लगाया जाये। मिथ्यादर्शन को भले प्रकार त्याग दिया जाये। जिनकी संगति से विषय-कषायों में लीनता हो, मिथ्या पूजा पाठ व रूढ़ियों में जकड़ना पड़े ऐसी संगति ही नहीं करना चाहिये और न इनको दान देना चाहिये, न लेना चाहिये। करुणा बुद्धि से हर एक प्राणी को आहार, औषधि, अभय व ज्ञानदान करना उचित है, उसमें पात्र-अपात्र का विचार नहीं है परंतु धर्म बुद्धि से श्रद्धा भक्ति पूर्वक दान देने और लेने में विवेक और संभाल रखना आवश्यक है। इस प्रकार अव्रत सम्यक्दृष्टि चार दान की प्रभावना करता है, जिससे उसका जीवन सरस, परिणाम निर्मल और धर्म भावना की वृद्धि होती है।

यहां तक अव्रत सम्यक्दृष्टि की अठारह क्रियाओं में सम्यक्त्व, अष्ट मूलगुण, रत्नत्रय की साधना और चार दान की प्रभावना इन सोलह क्रियाओं का वर्णन हुआ। आगे रात्रिभोजन त्याग का स्वरूप कहते हैं -

अनस्तमितं वे घड़ियं च, सुद्ध धर्म प्रकासये।

सार्धं सुद्ध तत्त्वं च, अनस्तमितं रतो नरा ॥ २९७ ॥

अनस्तमितं कृतं जेन, मन वच कायं कृतं।

सुद्ध भावं च भावं च, अनस्तमितं प्रतिपालये ॥ २९८ ॥

अनस्तमितं जेन पालंते, वासी भोजन तिक्तये।

रात्रि भोजन कृतं जेन, भुक्तं तस्य न सुद्धये ॥ २९९ ॥

अन्वयार्थ- (अनस्तमितं वे घड़ियं च) अन्यऊ अर्थात् रात्रिभोजन त्याग करने वाले को सूर्य अस्त होने के दो घड़ी पहले भोजन कर लेना चाहिये (सुद्ध धर्म प्रकासये) ऐसा अहिंसा धर्म प्रकाशित करता है (सार्धं सुद्ध तत्त्वं च) जो शुद्धात्म स्वरूप के साधक हैं और (अनस्तमितं रतो नरा) अन्थऊ करने वाले मनुष्य अर्थात् रात्रि भोजन के त्यागी हैं।

(अनस्तमितं कृतं जेन) जो अनस्तमितं अर्थात् अन्थऊ करते हैं (मन वच कायं कृतं) मन वचन काय से रात्रिभोजन त्याग करते हैं (सुद्ध भावं च भावं च) और शुद्ध भाव की भावना करते हैं (अनस्तमितं प्रतिपालये) वे रात्रिभोजन त्याग व्रत का प्रतिपालन करते हैं।

(अनस्तमितं जेन पालंते) जो रात्रिभोजन त्याग व्रत पालते हैं (वासी भोजन तिक्तये) उन्हें वासी भोजन अर्थात् एक दो दिन पहले का बनाया हुआ नहीं खाना चाहिये (रात्रि भोजन कृतं जेन) जो रात्रि का बनाया भोजन करते हैं (भुक्तं तस्य न सुद्धये) उनकी भोजन शुद्धि नहीं है अर्थात् उनका रात्रिभोजन त्याग सही नहीं है।

विशेषार्थ- अनस्तमितं (अन्थऊ करना) अर्थात् रात्रिभोजन का त्याग करने वालों को सूर्य अस्त होने के दो घड़ी पहले भोजन कर लेना चाहिये और प्रातः भी सूर्य उदय के दो घड़ी बाद ही अन्न जल ग्रहण करना चाहिये। शुद्ध वस्तु स्वरूप को बताने वाला यह अहिंसामयी जैन धर्म हिंसा से बचने के लिये ऐसा उपदेश करता है। जो शुद्धात्म स्वरूप के साधक श्रद्धानी मनुष्य (श्रावक) हैं वह इसका यथाविधि पालन करते हैं। भोजन चार प्रकार का होता है- खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय।

१. खाद्य- अन्नादि का बनाया भोजन। **२. स्वाद्य-** मुँह साफ करने के लिये लोंग इलायची पान सुपारी इत्यादि सुगंधित पदार्थ खाना। **३. लेह्य-** मलाई आदि चाटकर खाने वाली वस्तुएँ। **४. पेय-** पीने वाले पदार्थ दूध पानी आदि। रात्रि भोजन त्याग करने वाले को इन चारों प्रकार के आहार का त्याग मन वचन काय से कर देना चाहिये, तभी भावों में शुद्धता आती है। भावों की शुद्धता होना ही सच्चा

रात्रि भोजन त्याग है क्योंकि खाने के परिणाम ही जीव को विकल्पित करते हैं। इस संबंध में स्मरण रखने योग्य यह है कि - १. जब तक खाना तब तक करना। २. जैसा खाना वैसा करना। ३. जितना खाना उतना करना। ४. जब तक करना तब तक मरना। जैसा खाओ अन्न वैसा होवे मन, जैसा पिओ पानी वैसी निकले वाणी; इसलिये रात्रि भोजन त्याग के साथ शुद्ध आहार जल भी होना चाहिये। वासा भोजन अर्थात् एक दो दिन पूर्व का बना हुआ या जिसका स्वाद बिगड़ गया हो तथा जो रात्रि का बना हो ऐसा भोजन भी नहीं करना चाहिये। रात्रि को पीसा हुआ आटा मसाला आदि भी नहीं खाना चाहिये। गृहस्थ श्रावक को उचित है कि अपने यहाँ शुद्ध भोजन बनावे जो मुनि आदि पात्रों को दान दिया जा सके और स्वयं भी शुद्ध भोजन पान करे, इससे परिणामों में निर्मलता रहती है।

इसी बात को आगे और कहते हैं -

षादं स्वादं पीवं च, लेपं आहार क्रीयते।

वासी स्वाद विचलंते, तिक्तं अनस्तमितं कृतं ॥ ३०० ॥

अनस्तमितं पालते जेन, रागादि दोष वंचितं।

सुद्ध तत्त्वं च भावं च, संमिक दिस्टी च पस्यते ॥ ३०१ ॥

सुद्ध तत्त्वं न जानंते, न संमिक्तं सुद्ध भावना।

श्रावगं तत्र न उत्पादंते, अनस्तमितं न सुद्धये ॥ ३०२ ॥

जे नरा सुद्ध दिस्टी च, मिथ्या माया न दिस्टते।

देवं गुरं सुतं सुद्धं, संमत्तं अनस्तमितं व्रतं ॥ ३०३ ॥

अन्वयार्थ- (षादं स्वादं पीवं च) खाद्य, स्वाद्य और पीने वाला पेय (लेपं आहार क्रीयते) लेह्य पदार्थ का आहार करना (वासी स्वाद विचलंते) वासा भोजन या जिसका स्वाद बिगड़ गया हो (तिक्तं अनस्तमितं कृतं) रात्रि भोजन त्याग करने वाले इनको छोड़ देते हैं (अनस्तमितं पालते जेन) जो रात्रि भोजन त्याग का पालन करते हैं (रागादि दोष वंचितं) रागादि दोषों से वंचित बचकर रहते हैं (सुद्ध तत्त्वं च भावं च) जो शुद्धात्म तत्त्व और भावों की संभाल रखते हैं (संमिक दिस्टी च पस्यते) वही सम्यक्दृष्टि देखे और कहे जाते हैं।

(सुद्ध तत्त्वं न जानंते) जो शुद्ध तत्त्व शुद्धात्म स्वरूप को नहीं जानते (न

संमिक्तं सुद्ध भावना) और न शुद्ध सम्यक्त्व की भावना है (श्रावगं तत्र न उत्पादंते) उनमें अभी श्रावकपना पैदा ही नहीं हुआ (अनस्तमितं न सुद्धये) उनका अभी रात्रि भोजन त्याग भी शुद्ध नहीं है।

(जे नरा सुद्ध दिस्टी च) जो मनुष्य शुद्ध सम्यक्दृष्टि हैं (मिथ्या माया न दिस्टते) जिनमें मिथ्यात्व मायाचार दिखाई नहीं देता (देवं गुरं सुतं सुद्धं) जो शुद्ध वीतरागी देव, वीतरागी साधु - गुरु, वीतराग विज्ञानमयी शास्त्र, जिनवाणी को मानते हैं (संमत्तं अनस्तमितं व्रतं) वे सम्यक्त्वी ही रात्रि भोजन व्रत के पालनकर्ता हैं।

विशेषार्थ- भोजन के चार भेद हैं- खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय, जो इन चारों का त्याग करते हैं तथा वासी भोजन व जिसका स्वाद बिगड़ गया हो ऐसा कोई भी आहार नहीं करते उनका रात्रि भोजन त्याग ही सही है और इस रात्रि भोजन त्याग की सार्थकता तब है, जब अपने में कोई रागादि दोष न होवे, शुद्धात्म स्वरूप की साधना तथा भावों की संभाल होवे, तभी अव्रत सम्यक्दृष्टि सच्चे रात्रि भोजन के त्यागी हैं। जिन्हें अपने शुद्धात्म स्वरूप की खबर ही नहीं है, न जिन्हें अपने भावों की संभाल है, जिन्हें धर्म-कर्म का कोई विवेक नहीं है, जहां अभी श्रावकपना ही पैदा नहीं हुआ अर्थात् जहां श्रद्धा विवेक क्रिया का कोई विचार ही नहीं है भले वह रात्रि भोजन न करते हों परंतु उनका वह रात्रि भोजन त्याग शुद्ध नहीं है। जो जीव शुद्ध सम्यक्दृष्टि हैं, जिनमें कोई मिथ्यात्व मायाचारी नहीं है, जो सच्चे देव गुरु शास्त्र के श्रद्धानी हैं, जिनका आचरण शुद्ध और भावना पवित्र है उन्हीं का रात्रि भोजन त्याग व्रत यथार्थ सही है।

रात्रि भोजन करने से वैसे भी कई दोष दुःख और बीमारियाँ होती हैं, हिंसादि पाप तो प्रत्यक्ष होते ही हैं। रात्रि में भोजन बनने में अनेक जीवों की हिंसा होती है, खाने से कई रोग पैदा होते हैं। बदहजमी आदि तो स्वाभाविक होती है तथा कीड़ी खाने से बुद्धि नाश और जलंधर रोग होता है, मक्खी खाने से वमन होती है, मकड़ी खाने से कोढ़ हो जाता है, बाल खाने से स्वर भंग हो जाता है, बर्र ततैया के भोजन में आ जाने से वायु विकार शून्यपना हो जाता है इसलिये कभी भी रात्रि में भोजन नहीं करना चाहिये तथा अंधेरे में भी भोजन नहीं करना चाहिये, जीव जन्तु नजर आवें उनको बचाते हुए दिन में भोजन करना चाहिये।

यहां प्रश्न आता है कि रात्रि में बिजली के प्रकाश में भोजन करने में कोई दोष नहीं है और आजकल तो रात्रि में भी बिजली द्वारा दिन जैसा ही प्रकाश रहता है तो

उसमें भोजन बनाने करने में भी क्या दोष है ?

उसका समाधान करते हैं कि सूर्य के अस्त होते ही छोटे-छोटे कीटाणु अपने आप पैदा हो जाते हैं तथा बिजली के प्रकाश में तो और नानाप्रकार के कीटाणु पैदा होते हैं और वह भोजन बनाने और करने में गिरते रहते हैं, जिससे जीव हिंसा होती है तथा नाना प्रकार के रोग पैदा होते हैं। रात्रि भोजन करने वाले को अधिकांश बदहजमी गैस होती है, वायु विकार की बीमारी बनी ही रहती है इसलिये रात्रि में भोजन बनाना और करना सभी प्रकार से हानिकारक है, धार्मिक दृष्टि से त्याज्य है ही, व्यवहार से भी स्वास्थ्य के लिये हानिकारक है।

वास्तव में सन्तोष और इन्द्रिय विजय का भाव जिस गृहस्थ श्रावक में होता है, जो सच्चे धर्म का श्रद्धावान है उसको इन क्रियाओं के पालन करने में कोई कठिनाई नहीं होती। दया और अहिंसा की जहां भावना होती है वहां प्राणीमात्र के प्रति यह भावना रहती है कि किसी जीव का मेरे द्वारा मन वचन काय या किसी प्रकार के प्रमाद से कोई अहित या घात न हो जाये तथा अपनी आवश्यकताओं को कम करना ही निराकुल रहने का मूलमंत्र है। इन्द्रिय विषयों की, शरीरादि संयोग की जितनी आवश्यकतायें बढ़ी रहती हैं, उतना ही जीव विकल्पित दुःखी रहता है और सबसे प्रमुख यह खाने की समस्या है, इसी के लिये प्रत्येक मनुष्य नाना प्रकार के उद्यम उपद्रव करता है, इसी खाने के पीछे सारे पाप अनाचार अत्याचार होते हैं। जब तक जीव को खाने की भावना रहेगी तब तक वह संसार बंधन में बंधा रहेगा। अपनी संभाल साधना करता हुआ जो जीव खाने की भावना से विरक्त हो जाता है वह संसार में रहता हुआ भी मुक्त हो जाता है इसलिये अव्रत सम्यक्दृष्टि इस बात का विवेक रखता हुआ, खाने के बंधन से छूटने के लिये रात्रि भोजन आदि का त्याग करता है। व्रती दशा में एक बार भोजन करता है, साधु पद में तो तप ही करने लगता है इसी प्रकार क्रम से मुक्ति का मार्ग बनता है।

भोजन शुद्धि के साथ जल शुद्धि भी होना अत्यंत आवश्यक है इसलिये वह पानी छानकर ही पीता एवं सेवन करता है, यह अन्तिम अठारहवीं क्रिया है, जिसका विवेचन आगे किया जा रहा है-

पानी गालितं जेनापि, अहिंसा चित्त संकये ।

विलछितं सुद्ध भावेन, फासू जल निरोधनं ॥ ३०४ ॥

जीव रष्या षट् कायस्य, संकये सुद्ध भावनं ।

स्रावगं सुध दिस्ती च, जलं फासू प्रवर्तते ॥ ३०५ ॥

जलं सुद्धं मनः सुद्धं च, अहिंसा दया निरूपनं ।

सुद्ध दिस्ती प्रमाणं च, अव्रत स्रावग उच्यते ॥ ३०६ ॥

अन्वयार्थ- (पानी गालितं जेनापि) जो कोई पानी छानकर पीने का पालन किया करता है (अहिंसा चित्त संकये) जिसके चित्त में अहिंसा पालन का संकल्प होता है (विलछितं सुद्ध भावेन) वह शुद्ध भाव से विलछितं अर्थात् बिलछानी, जो पानी छानने के बाद कपड़े को उलटकर पानी बचता है यथास्थान पहुँचा देता है (फासू जल निरोधनं) और प्रासुक जल को ढककर बन्द करके रखता है।

(जीव रष्या षट् कायस्य) जिसे छह काय के जीवों की रक्षा का (संकये सुद्ध भावना) शुद्ध भावना से संकल्प है (स्रावगं सुध दिस्ती च) वह शुद्ध दृष्टि श्रावक है और (जलं फासू प्रवर्तते) प्रासुक जल पानी छानकर गर्म कर सेवन करने का यथाविधि पालन करता है।

(जलं सुद्धं मनः सुद्धं च) जहाँ जल शुद्ध है और मन शुद्ध है (अहिंसा दया निरूपनं) वहाँ अहिंसा और दया का यथाविधि पालन होता है (सुद्ध दिस्ती प्रमाणं च) वही सच्चा शुद्ध दृष्टि है और (अव्रत स्रावग उच्यते) उसे ही अव्रती श्रावक कहते हैं।

विशेषार्थ- अव्रत सम्यक्दृष्टि जघन्य पात्र अठारह क्रियाओं का पालन करता है, जिनका विशद विवेचन करते हुए यहाँ अन्तिम क्रिया पानी छानकर पीने का स्वरूप बताया जा रहा है। जिसे अपने आत्म स्वरूप की अनुभूति हो गई, उसे समस्त जीवों के प्रति प्रेम और करुणा हो जाती है। अपने द्वारा किसी जीव का घात न हो, ऐसी अहिंसा की भावना और दया भाव होता है, इसी कारण अष्ट मूलगुण का पालन करता है, चार दान देता है, रात्रि भोजन त्याग करता है और पानी छानकर पीता है जिससे छहकाय के जीवों की रक्षा होवे। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक (दो इन्द्रिय से पांच इन्द्रिय तक) के जीवों की रक्षा करता है।

अव्रती श्रावक अभी सामान्य गृहस्थ है, किसी प्रकार के व्रत नहीं लिये हैं परंतु जितना हिंसादि पापों से बचे, संयम का पालन हो, ऐसी पवित्र भावना निरन्तर रहती

है। वह कोई भी हिंसादि पाप करना नहीं चाहता, मजबूरी में करना पड़ता है, होता है तो वह अपने मन में पश्चात्ताप करता है और इसी अहिंसा की शुद्ध भावना होने से वह पानी छानने का यथाविधि पालन करता है।

पानी छानने की विधि वही करेगा जो अहिंसा व्रत भले प्रकार पालने का उद्योगी होगा व स्थावर व त्रस की हिंसा से भयभीत होगा। बिना छाना पानी काम में लेने से अनगिनत त्रस जीवों का भी घात होता है। दयावान गृहस्थ सूत के दोहरे कपड़े से पानी छानता है। छानने का कपड़ा साफ होना चाहिये तथा बर्तन के मुँह से तीन गुना अर्थात् दो हाथ चौड़ा तीन हाथ लम्बा होना चाहिये। पानी छानने के बाद जो बिलछन, कपड़े में पानी बचता है, उसे उल्टा कर दूसरे बर्तन में छने पानी से अलगकर लेना चाहिये, उसे मसलकर निचोड़ना नहीं चाहिये। छने हुए पानी को ढककर रखना चाहिये। छने हुए पानी की मर्यादा ४८ मिनिट होती है, इसके बाद पुनः छानकर काम में लेना चाहिये या प्रासुक कर लेना चाहिये। पानी को गर्म करने से वह प्रासुक हो जाता है, उबले हुए पानी की मर्यादा २४ घंटे की होती है, सामान्य गरम पानी की मर्यादा १२ घंटे की होती है, इसे लवंग, काली मिर्च, हरर आदि पीसकर डालने से रंग बदलने पर प्रासुक हो जाता है ऐसा पानी छह घंटे चल सकता है। पानी छानने के बाद का बचा पानी जिसे बिलछानी कहते हैं उसे जहाँ से पानी लिया गया हो, वहाँ यथास्थान पहुँचा देना चाहिये यह क्रिया यथाविधि होवे तभी जल छानने की शुद्धि है।

जहाँ जलशुद्ध है और मन शुद्ध है वहाँ अहिंसा और दया का यथाविधि पालन होता है और वही सच्चा सम्यक्दृष्टि है उसे ही अत्रती श्रावक कहते हैं क्योंकि अत्रत सम्यक्दृष्टि कौन होता है इसको समझना आवश्यक है।

जो संसार को भय और दुःख की खानि जानता है तथा इससे छूटने की वैराग्य भावना करता है, जिसे संसार शरीर भोग झूठे नाशवान दुःख के कारण लगते हैं। जिसे शरीरादि से भिन्न अपने आत्म स्वरूप का श्रद्धान हो गया, वह अत्रत सम्यक् दृष्टि है। उसका विवेक जाग्रत हो जाता है और वह विवेकपूर्वक ही हर क्रिया का पालन करता है क्योंकि संयोगी कारणों का और खान-पान का मन पर असर पड़ता है। मुक्त होने वाले जीव को विषय-कषायों को छोड़कर संयम का पालन करना, शास्त्र स्वाध्याय कर वैराग्य की वृद्धि करना, संसार का स्वरूप अनित्य जानना, दान आदि देना और अपने आत्म स्वरूप का चिंतन मनन करना इसका नाम धर्म है और यही मुक्ति का कारण है, विषय कषायों के पोषण का नाम धर्म कदापि नहीं है।

जिसे अपना आत्महित करना है, संसार के जन्म-मरण के चक्र से छूटना है, जीवन में सुख शान्ति आनंद में निराकुलता से रहने का जिसका लक्ष्य है, वह अत्रत सम्यक्दृष्टि इन अठारह क्रियाओं का यथाविधि पालन करता है और इस पाप-परिग्रह के गर्त से ऊपर उठने के लिये शुद्ध षट्कर्म (छह आवश्यक कर्तव्य) का पालन करता है, जो पुण्य बंध के कारण और मुक्तिमार्ग पर आगे बढ़ने में सहयोगी साधन हैं। इनका विशद विवेचन सद्गुरु तारण स्वामी आगे की गाथाओं में करते हैं -

अविरतं स्रावगं जेन, षट् कर्म प्रतिपालये ।

षट् कर्म द्विविधस्चैव, सुद्धं असुद्धं पश्यते ॥ ३०७ ॥

सुद्धं षट् कर्म जेन, भव्य जीव रतो सदा ।

असुद्धं षट् कर्म जेन, अभव्य जीव न संसयः ॥ ३०८ ॥

सुद्धं असुद्धं प्रोक्तं च, असुद्धं असास्वतं कृतं ।

सुद्धं मुक्ति मार्गस्य, असुद्धं दुर्गति कारनं ॥ ३०९ ॥

अन्वयार्थ- (अविरतं स्रावगं जेन) जो अत्रत सम्यक्दृष्टि श्रावक हैं वह (षट् कर्म प्रतिपालये) षट्कर्म अर्थात् छह आवश्यक कर्तव्यों का पालन करते हैं (षट् कर्म द्विविधस्चैव) वे षट् कर्म के दो प्रकार के होते हैं (सुद्धं असुद्धं पश्यते) जो शुद्ध और अशुद्ध देखे जाते हैं (सुद्धं षट् कर्म जेन) जो शुद्ध षट्कर्म हैं (भव्य जीव रतो सदा) भव्य जीव सदा उनमें रत रहते, पालन करते हैं और (असुद्धं षट् कर्म जेन) जो असुद्ध षट्कर्म हैं (अभव्य जीव न संसयः) उनका जो पालन करते हैं वे अभव्य जीव हैं इसमें कोई संशय नहीं है।

(सुद्धं असुद्धं प्रोक्तं च) शुद्ध और अशुद्ध षट्कर्म कौन-कौन से हैं, उन्हें कहते हैं (असुद्धं असास्वतं कृतं) अशुद्ध षट्कर्म शाश्वत नहीं हैं, कल्पित हैं (सुद्धं मुक्ति मार्गस्य) शुद्ध षट्कर्म मुक्ति मार्ग के साधक हैं (असुद्धं दुर्गति कारनं) असुद्ध षट्कर्म दुर्गति के कारण हैं।

विशेषार्थ- जो अत्रत सम्यक्दृष्टि श्रावक है वह षट्कर्म (छह आवश्यक कर्तव्य) का पालन करता है, वह षट्कर्म निम्नप्रकार कहे गये हैं- देव पूजा, गुरु उपासना, शास्त्र स्वाध्याय, संयम, तप और दान। इनके पालन करने से परिणामों में निर्मलता, सम्यक्दर्शन की शुद्धि और आत्म भावना दृढ़ होती है, कषायों की

मंदता होती है, परिणाम उदार होते हैं। यह षट्कर्म दो प्रकार के शुद्ध और अशुद्ध देखे जाते हैं। कोई शुद्ध रीति से पालते हैं, कोई अशुद्ध रीति से पालते हैं। मिथ्यात्व सहित सर्व कर्म अशुद्ध हैं, सम्यक्त्व सहित सर्व कर्म शुद्ध हैं। जहाँ पर यह आशय या अभिप्राय है कि मुझे पुण्य का लाभ हो जिससे धन, पुत्र, राज्य, स्वर्ग के भोग आदि प्राप्त हों तथा सच्चे देव, सच्चे गुरु, सच्चे शास्त्र कौन हैं? कैसे हैं? इसका कोई विचार ही नहीं है, लोकमूढ़ता से जो इनका पालन करते हैं, वह अशुद्ध कहे जाते हैं और इनका पालन करने वाले अभव्य जीव होते हैं, इसमें कोई संशय नहीं है।

जो सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्र के स्वरूप को समझकर यथाविधि पालन करते हैं वे भव्यजीव मोक्षगामी सम्यक्त्वी होते हैं, जिनको शुद्ध आत्मा की रुचि है, परमात्म पद मोक्ष प्राप्त करने की भावना है, वह भव्य होते हैं, जो सदा शुद्ध षट्कर्म के पालन करने में रत रहते हैं। जिन्हें अपने आत्म स्वरूप का भान ही नहीं है, उस ओर की रुचि ही नहीं है, जो मिथ्या आडम्बरों में उलझे रहते हैं, वह अभव्य होते हैं जो अशुद्ध षट्कर्म का पालन करते हैं। अशुद्ध षट्कर्म शाश्वत नहीं हैं, कल्पित हैं यह मिथ्यात्वियों द्वारा बनाये गये हैं जो इनका पालन करते हैं वह दुर्गति के पात्र बनते हैं और जो शुद्ध षट्कर्म का पालन करते हैं वह मोक्षगामी होते हैं।

भव्यजीव देवपूजादि छहों कार्यों का यथार्थ स्वरूप समझता है क्योंकि सच्ची देवपूजा तो पूजा पूज्य समाचरेत् सच्ची पूजा पूज्य के समान आचरण करना है। जैसे देव के गुण हैं वह अपने में प्रगट हों इसलिये निज शुद्धात्मा का ध्यान मनन चिन्तन आराधन कर वह अपने भावों को शुद्ध बनाता है। जब उपयोग शुद्ध गुणों के मनन से तन्मय हो जाता है तो तुरन्त स्वात्मानुभव होकर शुद्ध भाव जाग जाता है यही देवपूजा है। गुरु भक्ति करते हुए आत्म ज्ञानी ध्यानी गुरु की संगति से भावों में आत्मध्यान जाग उठता है, शास्त्र स्वाध्याय में मुख्यतः अध्यात्म के ग्रंथों का स्वाध्याय करने से भावों में आत्मानुभव झलकने लगता है। संयम का विचार करते हुए, नियम लेते हुए ज्ञानी को आत्म संयम का भाव आ जाता है। इच्छाओं के निरोध करने से तप होने लगता है, जिससे निराकुल आनंद की अनुभूति होती है तथा सत्पात्रों को दान देने से परिणामों में निर्मलता, रत्नत्रयमयी वीतरागी धर्म का बहुमान उत्साह आता है, पुरुषार्थ जागता है और रत्नत्रयमयी निज शुद्धात्म स्वरूप में तन्मय हो जाता है। भव्य जीव पुण्य की प्राप्ति का आशय बिल्कुल नहीं रखता, केवल शुद्धोपयोग के अभिप्राय से इन छह कर्मों को साधता है; क्योंकि अभी अव्रत दशा में

है इसी कारण उसके जितने अंश वीतरागता होती है उतने अंश कर्मों की निर्जरा होती है और जितने अंश सरागता होती है उतने अंश कर्म का बन्ध होता है परंतु उसका मुक्ति का मार्ग निश्चित हो गया है। मिथ्यादृष्टि जीव इस रहस्य को नहीं जानता, वह लोगों की देखा-देखी कुदेव-अदेवादि की पूजा करता है, कुगुरुओं के जाल में फंसता है और कपोल-कल्पित शास्त्रों को पढ़कर उनके अनुसार संयम, तप, दान करने लगता है, जिससे संसार में ही रुलता रहता है। मिथ्यात्व सहित जो षट्कर्मों का सेवन है वह अशुद्ध है, अशाश्वत, कल्पित है, वह अनादि का सनातन मार्ग नहीं है, मनो कल्पना से चलाया हुआ है, अशुद्ध षट्कर्म पालन का फल कुगति में भ्रमण है। अशुद्ध षट्कर्म का पालन करने वाला अभव्य जीव कैसा है? इस बात को कुन्दकुन्दाचार्य समयसार में कहते हैं -

वद समिदी गुत्तीओ, सील तवं जिणवरेहि पण्णत्तं।

कुव्वंतो वि अभव्वो, अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु ॥२७३॥

जिनेन्द्र देव के द्वारा कथित व्रत, समिति, गुप्ति, शील और तप करता हुआ भी अभव्य जीव अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है।

वह अभव्य अज्ञानी क्यों है? इसका उत्तर आगे की गाथा में कहते हैं -

मोक्खं असद्वहंतो, अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज।

पाठो ण करेदि गुणं, असद्वहंतस्स णाणं तु ॥२७४॥

मोक्ष की श्रद्धा न करता हुआ जो अभव्य जीव है, वह शास्त्र तो पढ़ता है परंतु ज्ञान का श्रद्धान न करने से उसका शास्त्र पढ़ना कार्यकारी नहीं है इसलिये वह अज्ञानी ही है।

प्राचीनकाल में साधु और श्रावक दोनों के छह आवश्यक समान थे, छह आवश्यकों का सर्वप्रथम उल्लेख मूलाचार में मिलता है -

समदाथवोय वंदण, पाडिक्कमणं तहेव णादव्वं।

पच्चक्खाण विसग्गो करणीया वासया छप्पि ॥२२॥

सामायिक, स्तुति, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान तथा व्युत्सर्ग यह छह आवश्यक करने योग्य जानना चाहिये।

सिद्धान्ताचार्य स्व. पं. कैलाशचंद्र शास्त्री के शब्दों में - आचार्य जिनसेन (नवीं शताब्दी) के महापुराण की रचना से श्रावक धर्म का विस्तार होना प्रारम्भ हुआ। पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक उसके भेद हुए, पूजा के विविध प्रकार हुए।

प्राचीन षट्कर्म थे- सामायिक, स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग, मुनि और गृहस्थ दोनों इनका पालन करते थे। उनके स्थान में देवपूजा, गुरु उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान यह षट्कर्म हो गये और इनमें भी पूजन को विशेष महत्व मिलता गया।

वर्तमान में श्रावक के जो षट्आवश्यक कर्म प्रचलित हैं। उनका उल्लेख पद्मनन्दि पंच विंशतिका में इन शब्दों में हुआ है-

देवपूजा गुरुपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।

दानं चेति ग्रहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने ॥

निश्चय आवश्यक तो शुद्ध धर्म परिणति है। ज्ञानी श्रावक के योग्य आंशिक शुद्धि निश्चय से भाव देव गुरु पूजा है। शास्त्रों का अध्ययन-मनन, पापों से विरति, इन्द्रिय निग्रह, इच्छाओं का विरोध और स्व-पर के अनुग्रह के लिये दानदि देना व्यवहार आवश्यक है।

श्री जिन तारण स्वामी ने वर्तमान प्रचलित षट्कर्मों में जो विपरीत मान्यता और अशुद्धता चल रही है उसका स्वरूप बताते हुए स्पष्ट विवेचन किया है, जिसको समझकर मोक्षमार्गी को अपना सही मार्ग बनाना चाहिये।

आगे अशुद्ध षट्कर्मों में प्रथम अशुद्ध देव पूजा का स्वरूप बताते हैं -

असुद्धं प्रोक्तस्त्वेव, देवलि देवंपि जानते।

षेत्रं अनंत हिंडंते, अदेवं देव उच्यते ॥ ३१० ॥

मिथ्या मय मूढ दिस्टी च, अदेवं देव मानते।

परपंचं जेन कृतं सार्धं, मानते मिथ्या दिस्टितं ॥ ३११ ॥

अन्वयार्थ- (असुद्धं प्रोक्तस्त्वेव) अशुद्ध देवपूजा वह कही गई है जो (देवलि देवंपि जानते) देवालय, मंदिर में देव को जानते हैं (षेत्रं अनंत हिंडंते) अनंत क्षेत्र, तीर्थ स्थानों में भ्रमण करते हैं (अदेवं देव उच्यते) और अदेवों को देव कहते हैं।

(मिथ्या मय मूढ दिस्टी च) और मिथ्यात्व मय मूढ दृष्टि होते हैं जो (अदेवं देव मानते) अदेवों को अर्थात् पाषाण धातु आदि की मूर्तियों को देव मानते हैं (परपंचं जेन कृतं सार्धं) जो नाना प्रकार से मिथ्या प्रचार कर चमत्कारादि प्रपंच फैलाते हैं (मानते मिथ्या दिस्टितं) इनको मिथ्यादृष्टि ही मानते हैं।

विशेषार्थ- यहाँ अशुद्ध षट्कर्म में पहले अशुद्ध देवपूजा का स्वरूप बताया

जा रहा है। सच्चे देव- वीतरागी सर्वज्ञ हितोपदेशी अरिहंत और सिद्ध परमात्मा होते हैं, जो संसार के जन्म-मरण और सर्व कर्मों से मुक्त हो गये, जिनका समस्त मिथ्यात्व, मोह, राग-द्वेष समाप्त हो गया। जो पूर्ण हैं, आप्त हैं, जो अपने शुद्धात्म तत्त्व परमानंद में प्रतिष्ठित हो गये, वह सच्चे देव परमात्मा भगवान कहे जाते हैं। जो आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो गये, अपने सम्पूर्ण गुणों को अपने में प्रगट कर लिया वही आत्मा परमात्मा कहलाते हैं और निश्चय से प्रत्येक आत्मा स्वभाव से परमात्मा है। अपने स्वरूप को भूलने के कारण बहिरात्मा बना है, जिसने अपने स्वरूप को जान लिया वह अन्तरात्मा अपने स्वभाव में स्थित होकर परमात्मा हो जाता है इसलिये अपने आत्म गुणों की आराधना कर उनको प्रगट करना ही सच्ची देवपूजा है।

जो इसको न जानते हैं, न मानते हैं और देवालय मंदिर तीर्थक्षेत्र आदि में स्थापित धातु पाषाण आदि की मनुष्यों द्वारा बनाई मूर्तियों को जिनमें न चेतनपना है, न देवत्वपना है जो प्रत्यक्ष ही अदेव हैं, उनको देव कहकर मानते पूजते हैं वह अशुद्ध देवपूजा करते हैं। यही गृहीत मिथ्यात्व अनन्त संसार परिभ्रमण का कारण है। इसमें तीन प्रकार की मान्यताएँ होती हैं- कुदेव, अदेव और मिथ्यादेव। कुदेव उन्हें कहते हैं जो भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी वैमानिक देवों को देवमानकर पूजते हैं और उनसे अपनी सांसारिक कामनाओं वासनाओं की पूर्ति चाहते हैं वह कुदेव पूजा है। अदेव उन्हें कहते हैं जो धातु पाषाण आदि की मूर्ति प्रतिमाएँ बनाकर लोगों द्वारा स्थापित की जाती हैं उन्हें देव मानकर पूजते हैं, जिनमें कोई देवत्वपना नहीं है वह अदेव पूजा है। जिसकी संसारी अज्ञानी मिथ्यादृष्टि नाना प्रकार से प्रपंच फैलाकर चमत्कार आदि की प्रसिद्धि करते हैं कि अमुक स्थान पर खोदो, यहाँ भगवान निकलेंगे, हमें स्वप्न दिया है, इनकी पूजा मान्यता करने से सब काम सिद्ध होंगे। धन, पुत्र, परिवार बढ़ेगा, रोग शोकादि दूर होंगे। कहीं कोई चमत्कार बताकर लोगों को फंसाकर पूजा मान्यता करते हैं। मिथ्यादेव - जो मनुष्य नाना प्रकार के भेष आदि बनाकर नाचते कूदते हैं, उन्हें देव मानना मिथ्या देवपूजा है। इसे और स्पष्ट करते हैं कि जिनमें देवपना बिल्कुल नहीं है, ऐसे अदेवों को जो देव मानकर पूजते हैं वे वास्तव में संसार की वासनाओं में लिप्त होते हैं। वे अज्ञानी इस बात का बिना विचार किये कि इनमें देव के लक्षण सर्वज्ञता वीतरागता चेतनपना है या नहीं, रुढ़िगत मूढ़ता के वशीभूत होकर चाहे जिस कुदेव को या अदेव को पूजने लग जाते हैं, उनकी यह मूढ़ भक्ति मिथ्यात्व रूप है, मायाचार कपट से भरी हुई है। इस मूढ़ भक्ति के

कारण उनको अनेक प्रपंच रचना पड़ते हैं, पूजा विधान आदि के अनेक आडम्बर करना पड़ते हैं। इस प्रकार की कुदेव या अदेव की पूजाभक्ति से अन्तरंग मिथ्यात्व दृढ़ होता है, मिथ्यादृष्टि ऐसी अशुद्ध देव की पूजा भक्ति किया करते हैं। इससे राग-द्वेष, मोह, मिथ्यात्व बढ़ता है जिससे घोर पाप बांधकर दुर्गति का पात्र होना पड़ता है। इसी बात को योगीन्दुदेव परमात्म प्रकाश में कहते हैं -

देउ ण देउले णवि सिलए णवि लिप्पइ णवि चित्ति ।

अखउ णिरंजणु णाणमउ सिउ संठिउ सम चित्ति ॥१/१२३॥

देवालय मन्दिर में देव नहीं है, पाषाण की प्रतिमा में भी देव नहीं है, लेप में भी नहीं है, चित्राम की मूर्ति में भी नहीं है, देव तो अविनाशी है निरंजन है ज्ञानमयी है ऐसा निज परमात्मा इस देह देवालय में तिष्ठ रहा है।

मणु मिलियउ परमेसरहं परमेसरु वि मणस्स ।

बीहि वि समरसि हूवाहं पुज्ज चड़ावउँ कस्स ॥१/१२३॥

मन भगवान आत्मा से मिल गया और परमात्मा भी मन से मिल गया दोनों एकमेक हो गये, अब किसकी पूजा करूँ, किसको पुंज चढ़ाऊँ, यहाँ पूजा करना ही समाप्त हो गया।

इसी बात को और स्पष्ट करते हुए योगीन्दुदेव योगसार में कहते हैं-

ताम कुत्तिथइं परिभमइ धुत्तिम ताम करेइ ।

गुरुहु पसाएं जाम णवि अप्पादेउ मुणेइ ॥ ४१ ॥

जब तक जीव गुरु प्रसाद से आत्मदेव को नहीं जानता, तभी तक वह कुतीर्थों में भ्रमण करता है और तभी तक वह धूर्तता करता है।

तित्थहिं देवलि देउ णवि इम सुइ केवलि वुत्तु ।

देहा देवलि देउ जिणु एहउ जाणि णिरुत्तु ॥ ४२ ॥

श्रुत केवली ने कहा है कि तीर्थों में, देवालयों में देव नहीं है, जिनदेव तो देह देवालय में विराजमान है इसे निश्चित समझो।

देहा देवलि देउ जिणु जणु देवलिहिं णिएइ ।

हासउ महु पडिहाइ इहु सिद्धे भिक्ख भमेइ ॥ ४३ ॥

जिनदेव देह देवालय में विराजमान हैं परन्तु जीव (ईंट पत्थरों के) देवालयों में उनके दर्शन करता है यह मुझे कितना हास्यास्पद मालूम होता है, यह बात ऐसी ही है कि जैसे कोई पुरुष सिद्ध हो जाने पर भिक्षा के लिये भ्रमण करे।

मूढा देवलि देउ णवि णवि सिलि लिप्पइ चित्ति ।

देहा देवलि देउ जिणु सो बुज्झहि समचित्ति ॥ ४४ ॥

हे मूढ ! देव किसी देवालय में विराजमान नहीं हैं, इसी तरह किसी पत्थर लेप अथवा चित्र में भी देव विराजमान नहीं हैं। जिनदेव परमात्मा तो इस देह देवालय में रहते हैं इस बात को तू समाचित्त से समझ।

तित्थइ देउलि देउ जिणु सव्वु वि कोइ भणेइ ।

देहा देउलि जो मुणइ सो बुहु को वि हवेइ ॥ ४५ ॥

सब कोई कहते हैं कि जिनदेव तीर्थ में और देवालय में विद्यमान हैं परन्तु जो जिनदेव को देह देवालय में विराजमान समझता है, ऐसा पंडित कोई विरला ही होता है।

इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द बोधपाहुड़ में कहते हैं-

सपराजंगम देहा दंसण णाणेण सुद्ध चरणाणं ।

णिगंथ वीयराया जिनमग्गे एरिसा पडिमा ॥१०॥

जो आत्मा दर्शन ज्ञान चारित्र से शुद्ध स्थूल शरीर में स्थित है निर्ग्रन्थ वीतरागी है, उसे जिनमार्ग में प्रतिमा कहते हैं।

आगे जिनबिम्ब का निरूपण करते हैं-

जिणबिंबं णाणमयं संजम सुद्धं सुवीयरायं च ।

जं देइ दिक्ख सिक्खा कम्मक्खय कारणे सुद्धा ॥१६॥

जो जिन अर्थात् अरिहंत सर्वज्ञ का प्रतिबिंब उन जैसा ही हो उसे जिनबिंब कहते हैं, जो ज्ञानमयी हो, संयम से शुद्ध हो, वीतराग हो, जो कर्म के क्षय का निश्चय से कारण हो जो जगत के जीवों को शिक्षा (धर्मोपदेश) दीक्षा (धर्ममार्ग पर चलने का मार्ग) देता हो वह जिनबिंब कहलाता है।

इस प्रकार कुन्दकुन्द आदि सभी आचार्यों ने इन कुदेव-अदेव आदि को मानने पूजने का निषेध किया है परन्तु मूढ मिथ्यादृष्टि संसारी इस बात को न मानकर ऐसे कुदेव-अदेव आदि की पूजा मान्यता करके अपने संसार का कारण बढ़ाता है, यही अशुद्ध देवपूजा है, इसको करने से संसार में ही रुलना पड़ता है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि हमें देव का दर्शन पूजन करना है और वर्तमान में देव नहीं हैं तो हम उन जैसी पाषाण प्रतिमा बनाकर दर्शन पूजन करते हैं इसमें क्या दोष है ?

उसका समाधान करते हैं कि भाई ! जैन दर्शन में जिनेन्द्र परमात्मा ने धर्म का

स्वरूप और देव का स्वरूप क्या बताया है पहले इसे समझो। यहाँ तो जीव की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार की है, यह आत्मा ही परमात्मा है और जो वस्तु का जैसा स्वभाव है वह उसका धर्म है, जब कोई किसी का कुछ नहीं कर सकता, जिनेन्द्र परमात्मा कहते हैं कि मेरे दर्शन पूजन से भी तेरा भला नहीं होना, तू स्वयं अपना दर्शन पूजन कर तभी तेरा भला होगा। यहाँ जगत का नियन्ता कोई परमात्मा नहीं है, न भगवान का अवतार होता है, यह जीव स्वयं भगवान बनता है फिर इसमें देव की मूर्ति बनाकर दर्शन पूजन करना तो दोनों प्रकार से ही विरुद्ध है, सिद्धान्त से तो विरुद्ध है ही और साथ में गृहीत मिथ्यात्व भी है इसलिये सिद्धान्त के विरुद्ध और वस्तु स्वरूप के विरुद्ध कोई भी कार्य करना उचित नहीं है।

फिर प्रश्न करता है कि यह मान्यता तो बहुत समय से चली आ रही है और इसका समर्थन कई आचार्यों ने किया है फिर इसको कैसे छोड़ सकते हैं ?

उसका समाधान है कि भाई ! सिद्धान्त के विरुद्ध कोई गलत परम्परा चल रही हो और किन्हीं विशेष परिस्थितियों में इसे चलाना पड़ा हो तो विवेकी को तो उसमें सुधार करना चाहिये। भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण के ६८३ वर्ष बाद तो शास्त्र लिखाये हैं और उसके बाद कुछ परिस्थितियाँ ऐसी बनी उसमें अपने आपको बचाने के लिये यह मिथ्या मान्यता माननी पड़ी परन्तु अब तो ऐसी कोई परिस्थिति नहीं है। सही सिद्धान्त अनुसार चलना ही विवेकवान का कर्तव्य है। इसके विपरीत जो गलत मार्ग पर चलता है उसको उसका परिणाम भोगना पड़ेगा।

आगे अशुद्ध गुरु उपासना का स्वरूप बताते हैं-

ग्रंथं राग संजुक्तं, कषायं च मयं सदा।

सुद्ध तत्त्वं न जानंते, ते कुगुरुं गुरु मानते ॥ ३१२ ॥

मिथ्या माया प्रोक्तं च, असत्यं सत्य उच्यते।

जिन द्रोही वचन लोपंते, कुगुरुं दुर्गति भाजनं ॥ ३१३ ॥

अन्वयार्थ- (ग्रंथं राग संजुक्तं) राग सहित धन धान्यादि परिग्रह में (कषायं च मयं सदा) और क्रोधादि कषायों में सदा रहते हैं (सुद्ध तत्त्वं न जानंते) जो शुद्धात्मीक तत्त्व को नहीं जानते (ते कुगुरुं गुरु मानते) वे कुगुरु होते हैं, जो उन्हें गुरु मानते हैं, यही अशुद्ध गुरु उपासना है। (मिथ्या माया प्रोक्तं च) वे कुगुरु मिथ्यात्व व मायाचार से पूर्ण उपदेश देते हैं (असत्यं सत्य उच्यते) जो असत्य है उसे सत्य कहते हैं (जिन

द्रोही वचन लोपंते) वे जिनद्रोही हैं, जो जिनेन्द्र के वचनों का लोपन, अर्थ का अनर्थ करते हैं (कुगुरुं दुर्गति भाजनं) ऐसे कुगुरु स्वयं को दुर्गति का पात्र बनाते हैं।

विशेषार्थ- यहाँ अशुद्ध गुरु उपासना का स्वरूप बताया जा रहा है कि गुरु की उपासना अर्थात् उनका सत्संग करना सेवा भक्ति करना आज्ञा पालन करना। सच्चे गुरु निर्ग्रन्थ वीतरागी साधु आरंभ परिग्रह से रहित मिथ्या मान्यताओं के बन्धन से मुक्त अनेकांत मत के ज्ञाता आत्मध्यानी रत्नत्रय के धारक साधु होते हैं, जो आप स्वयं मोक्षमार्ग में चलते हैं तथा समस्त भव्यजीवों को धर्म का सत्स्वरूप और मुक्ति का मार्ग बताते हैं, वही सद्गुरु होते हैं। इसका विशद विवेचन पूर्व में भी कहा जा चुका है। इसके विपरीत जो परिग्रह धारी विषयानुराग में तथा क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय में अनुरक्त हैं, जिनको अपने शुद्धात्म तत्त्व का अनुभव नहीं है, न द्रव्यों का तत्त्वों का न पदार्थों का यथार्थ ज्ञान है, जो मायाचार में लिप्त हैं तथा मिथ्यात्व का ही उपदेश देते हैं, जो मायाचार से परिपूर्ण होते हुए अपना स्वार्थ साधन करते हैं, बाह्य में नग्न दिगम्बर भेष बनाये रहते हैं परन्तु नाना प्रकार के मिथ्यात्व का पोषण करते हैं। कुदेव- अदेवों की मान्यता मंत्र-तंत्र गन्डा ताबीज आदि देते हैं। जो असत्य है एकांत है अवस्तु है उसे सत्य कहते हैं, जिनेन्द्र के वचनों का लोप कर अर्थ का अनर्थ कर उपदेश करते हैं, वीतराग विज्ञानमयी धर्म को न तो वे स्वयं पालते हैं, न दूसरों को उस मार्ग पर ले जाते हैं वे कुगुरु पाषाण की नौका के समान हैं जो संसार में स्वयं डूबते और बैठने वालों को भी ले डूबते हैं।

संसार में बहुत सी रागवर्द्धक हिंसा पोषक विपरीत मान्यतायें पूजा पाठ व्रत आदि इन कुगुरुओं ने चला दिये हैं, जिसके द्वारा वे द्रव्य कमाने और अपनी पूजा मान्यता कराने लगते हैं, अपने को साधु गुरु महन्त भट्टारक कहते हुए भी राजाओं से अधिक भोग विलास करते हैं। भक्तों को नाना प्रकार का लौकिक लोभ दिखाकर उनसे धन संग्रह करते हैं, पुण्य को धर्म कहते हैं, वीतराग विज्ञानमयी जैन मार्ग का खण्डन करते हैं। बाहरी व्यवहार पूजा पाठ कराने में लीन रहते हैं, कभी शुद्ध आत्मीक तत्त्व का न स्वयं मनन करते हैं और न भक्तों को उपदेश देते हैं, मात्र कपोल - कल्पित कथायें सुनाकर मन को रंजायमान करके अपनी मान्यता करते हैं ये कुगुरु ही हैं इनकी भक्ति मान्यता करना अशुद्ध गुरु उपासना है।

जो जैन भेषी होकर भी ईर्या समिति नहीं पालते, भाषा समिति नहीं पालते, उद्दिष्ट भोजन करते हैं, शीत उष्ण नग्नादि परीषहों के जीतने में कायर हैं, न स्वयं

आत्मा का मनन करते हैं, न दूसरों को उपदेश देते हैं, मिथ्यात्व के पोषण अदेवादि की मान्यता पूजा में लगे रहते हैं तथा औरों को लगाते हैं ऐसे कुगुरुओं की सेवा उन कुगुरुओं का भी बिगाड़ करने वाली है व उनके पूजकों का भी बिगाड़ करने वाली है क्योंकि यह मूढ़ भक्ति संसार वर्द्धक है, जो इनकी मान्यता उपासना करते हैं वे संसार के पात्र बनते हैं।

आगे अशुद्ध स्वाध्याय का स्वरूप बताते हैं-

अनेक पाठ पठन्ते, वंदना श्रुत भावना।

सुद्ध तत्त्वं न जानन्ते, सामायिक मिथ्या मानते ॥ ३१४ ॥

अन्वयार्थ- (अनेक पाठ पठन्ते) अनेक पाठों का पढ़ना (वंदना श्रुत भावना) वंदना करना, शास्त्रानुसार भावना करना (सुद्ध तत्त्वं न जानन्ते) परन्तु शुद्ध तत्त्व अपने आत्म स्वरूप को न जानना (सामायिक मिथ्या मानते) और सामायिक को मिथ्या मानना यह अशुद्ध शास्त्र स्वाध्याय है।

विशेषार्थ- यहाँ तीसरे कर्म अशुद्ध स्वाध्याय का स्वरूप बताया जा रहा है। शास्त्र पढ़ने का नाम भी स्वाध्याय है तथा अपने आत्मस्वरूप का मनन अध्ययन करना भी स्वाध्याय है परन्तु जो अनेक पाठों को पढ़े, शास्त्रों को पढ़े, तीर्थकरों की वंदना करे, स्तुति करे, णमोकार मंत्र का जप करे, शास्त्र स्वाध्याय करने की भावना रखे परन्तु शुद्ध आत्मा का स्वरूप न जाने, न माने न अनुभव करे और सामायिक करने को मिथ्या माने, जो सामायिक प्रतिक्रमणादि करते हैं उनकी हंसी उड़ावे, सामायिक के समय शास्त्र स्वाध्याय करे और शास्त्रों के पढ़ने मात्र से भला जाने, अपने को ज्ञानी माने, परिणामों में शान्ति और वैराग्य की भावना न होवे जिससे ज्ञान का मद बढ़े, विषय-कषायों की पुष्टि करे, उसी रूप आचरण होवे ऐसा शास्त्र स्वाध्याय, अशुद्ध स्वाध्याय है जो संसार का ही कारण है। शास्त्र स्वाध्याय कर पंडित बनकर आजीविका कमावे, जिनवाणी के नाम पर धन संग्रह करे, यह सब अशुद्ध स्वाध्याय का परिणाम है जो दुर्गति का पात्र बनाता है।

आगे अशुद्ध संयम का स्वरूप बताते हैं-

संजमं असुद्धं जेन, हिंसा जीव विरोधनं।

संजम सुद्ध न पस्यन्ते, ते संजम मिथ्या संजमं ॥ ३१५ ॥

अन्वयार्थ- (संजमं असुद्धं जेन) अशुद्ध संयम वह है जिससे (हिंसा जीव

विरोधनं) हिंसा हो प्राणियों का घात हो (संजम सुद्ध न पस्यन्ते) जो शुद्ध संयम, आत्म संयम को नहीं देखते जानते (ते संजम मिथ्या संजमं) वह व्यवहार से बाहर में संयम पालते हैं परन्तु वह सब मिथ्या संयम है।

विशेषार्थ- अशुद्ध संयम वह है जिससे जीवों की हिंसा, प्राणियों का घात हो। संयम दो प्रकार का होता है- एक प्राणी संयम दूसरा इन्द्रिय संयम। पांचस्थावर, छठे त्रस इन छहकाय के जीवों का घात न हो, प्रमाद से या जान बूझकर कोई हिंसा न हो वह प्राणी संयम है और पांच इन्द्रिय और मन को वश में करना इन्द्रिय संयम है। मूल में अपने आत्म स्वरूप की साधना करना, अपने स्वरूप की सुरत रखना ही शुद्ध संयम है परन्तु जिसे न प्राणी संयम हो और न आत्म संयम हो और अगर वह व्यवहार से इन्द्रियों का संयम पालते हैं, कुछ त्याग वैराग्य करते हैं पर जिन्हें अपना होश ही नहीं है वह सब मिथ्या संयम है। जैसे कोई रात्रि को न खावे, अभक्ष्य न खावे, कंदमूल न खावे, उपवास करे और भी अनेक प्रकार के नियम पाले परन्तु पापों से विषय-कषायों से विरत न हो, आरंभ परिग्रह करे, जीवों की दया न पाले और अपने आत्म स्वरूप का कोई श्रद्धान ज्ञान न हो, आत्म संयम का लक्ष्य ही न हो तो वह संयम मिथ्या, अशुद्ध संयम ही है। केवल कुछ पुण्य बंध का संसार का ही कारण है, मोक्ष का कारण नहीं है।

आगे अशुद्ध तप का स्वरूप बताते हैं-

असुद्ध तप तप्तं च, तीव्र उपसर्ग सहं।

सुद्ध तत्त्वं न पस्यन्ते, मिथ्या माया तपं कृतं ॥ ३१६ ॥

अन्वयार्थ- (असुद्ध तप तप्तं च) जो अशुद्ध तप तपते हैं अर्थात् व्रत उपवास आदि करते हैं और (तीव्र उपसर्ग सहं) तीव्र उपसर्ग सहते हैं अर्थात् कठिन से कठिन शरीर के कष्टों को सहन करते हैं परन्तु (सुद्ध तत्त्वं न पस्यन्ते) शुद्ध आत्म तत्त्व को नहीं देखते जानते (मिथ्या माया तपं कृतं) मिथ्यात्व मायाचारी सहित तप करते हैं वह मिथ्या तप है।

विशेषार्थ- अशुद्ध तप वह है जहाँ शुद्ध तत्त्व आत्मा का ज्ञान व अनुभव न हो किंतु नाना प्रकार से शरीर को कष्ट दिया जावे, क्षुधा-तृषा दंशमशकादि का परीषह तथा देव, मनुष्य, पशु व अचेतन कृत उपसर्ग सहन किये जावें। अनशन, ऊनोदर आदि बारह प्रकार के तप करे, नग्न रहे, शुद्ध आहार ग्रहण करे परन्तु यदि आत्म

ध्यान रूप अग्नि में तपनरूप तप न हो, आत्म स्वभाव की स्थिरता न हो, मिथ्यात्व सहित मायाचारी हो, किसी प्रकार की सांसारिक कामना वासना हो, ऋद्धि सिद्धि का अभिप्राय मान आदि कषाय सहित हो वह सब तप अशुद्ध तप है और संसार का कारण है। जो व्रत नियम धारण करे, शील पाले तथा तप करे परन्तु शुद्धात्मा के अनुभव स्वरूप परमार्थ से शून्य हो तो वह आज्ञानी ही है। सम्यक्त्व रहित द्रव्यलिङ्गी मुनि का तप अशुद्ध तप है, इसी बात को आचार्य कुन्दकुन्द समयसार में कहते हैं -

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुर्वता ।

परमदु बाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदंति ॥१५३॥

व्रत और नियमों को धारण करते हुए भी तथा शील और तप करते हुए भी जो परमार्थ से बाह्य हैं अर्थात् परम पदार्थ रूप ज्ञान स्वरूप आत्मा का जिसको श्रद्धान ज्ञान नहीं है वह निर्वाण को प्राप्त नहीं होते।

इसलिये जो तप शरीर कष्ट रूप है हिंसा रूप है व किसी मायाचार के अभिप्राय को लिये हुए है, वह सब मिथ्या तप है।

आगे अशुद्ध दान का स्वरूप बताते हैं-

दानं असुद्ध दानस्य, कुपात्रं दीयते सदा ।

व्रत भंगं कृतं मूढा, दानं संसार कारनं ॥ ३१७ ॥

अन्वयार्थ- (दानं असुद्ध दानस्य) अशुद्ध दान वह है जो (कुपात्रं दीयते सदा) हमेशा कुपात्रों को दिया जावे (व्रत भंगं कृतं मूढा) व्रत भंग करने वाले मूढ़ों को (दानं संसार कारनं) दान देना संसार का कारण है।

विशेषार्थ- अशुद्ध दान वह है, जो कुपात्रों को दिया जावे, जो लोग व्रत लेकर भंग करते हैं ऐसे मूढ़ मिथ्यादृष्टियों को दान देना संसार का कारण है, जिस दान से पाप, विषय-कषाय, मिथ्यात्व की वृद्धि व पुष्टि हो वह सब दान अशुद्ध दान है, जिससे दाता और पात्र दोनों को संसार में रूलना पड़ता है, श्रद्धा भक्ति से सत्पात्रों को ही दान देना चाहिये।

करुणा भाव से प्राणीमात्र को दान दिया जा सकता है जो पुण्य बंध का कारण है। विवेक पूर्वक आवश्यकतानुसार सत्पात्रों को उपयोगी वस्तु शुद्ध भावों सहित दान में देना शुद्ध दान है। इसके विपरीत कषायाधीन दान देना अशुद्ध दान है जो संसार का ही कारण है।

ये षट् कर्म पालंते, मिथ्या अन्यान दिस्टते ।

ते नरा मिथ्या दिस्टी च, संसारे भ्रमनं सदा ॥ ३१८ ॥

ये षट् कर्म जानंते, अनेय विभ्रम क्रीयते ।

मिथ्यात गुरु पस्यंते, दुर्गति भाजन ते नरा ॥ ३१९ ॥

अन्वयार्थ- (ये षट् कर्म पालंते) जो कोई इन अशुद्ध छह कर्मों को पालते हैं (मिथ्या अन्यान दिस्टते) तथा मिथ्यात्व अज्ञान ही देखते रहते हैं (ते नरा मिथ्या दिस्टी च) वे मनुष्य मिथ्यादृष्टि ही हैं (संसारे भ्रमनं सदा) और हमेशा संसार में ही परिभ्रमण करेंगे।

(ये षट् कर्म जानंते) जो इन अशुद्ध षट् कर्मों को जानते हैं (अनेय विभ्रम क्रीयते) इसके बाद भी अनेक विभ्रम, मिथ्यात्व मायाचार करते हैं (मिथ्यात गुरु पस्यंते) वे मिथ्यात्वी कुगुरु देखे जाने जाते हैं (दुर्गति भाजन ते नरा) ऐसे मनुष्य दुर्गति के पात्र होते हैं।

विशेषार्थ- जो कोई कुदेव-अदेव की पूजा करते हैं, कुगुरु सेवा करते हैं, मिथ्यात्व वर्द्धक शास्त्रों का पठन करते हैं, हिंसा कारक संयम पालते हैं, कायक्लेशादि आत्मज्ञान रहित तप करते हैं तथा कुपात्रों को दान देते हैं इस तरह इन छह अशुद्ध कर्मों को पालते हैं वे मिथ्याज्ञानी मिथ्या श्रद्धानी मिथ्या फल ही पाते हैं, पाप ही बांधते हैं व दुर्गति में जाकर कष्ट पाते हैं। वह हमेशा संसार में ही परिभ्रमण करते रहते हैं तथा जो इन अशुद्ध षट्कर्मों को जानते हैं कि यह गलत है इसके बाद भी अनेक विभ्रम मिथ्यात्व-मायाचार करते हैं, नाना प्रपंच फैलाते चमत्कार आदि बताते हैं, धन-पुत्र आदि का लोभ बताते हैं, स्वर्गादि का सुख बताते हैं ऐसे मिथ्यात्व को फैलाने वाले कुगुरु देखे जाते हैं, जो जीव इनके चक्कर में फँसते हैं वे सब दुर्गति के पात्र बनते हैं।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि हम जो कुछ जानते- मानते हैं जो हमारी कुल परम्परा में मान्यतायें चली आ रही हैं और हम अपनी भक्ति भावना से अपने देवगुरु की पूजा भक्ति करते हैं, संयम आदि का पालन करते और दान देते हैं तो क्या यह सब क्रियायें अशुद्ध हैं, पाप बन्ध और दुर्गति की कारण हैं तो फिर हम यह सब कुछ न करें, क्या सब बंद कर दें ?

इसका समाधान करते हैं कि भाई ! प्रत्येक सद्गृहस्थ को यह छह कर्म

करना तो आवश्यक हैं इनको तो प्रतिदिन करना ही चाहिये परन्तु इनमें विवेक से काम लेना आवश्यक है क्योंकि अनादि से प्रत्येक जीव के संसार परिभ्रमण का कारण अपने स्वरूप का विस्मरण और यह मिथ्या मान्यतायें ही हैं, जिनके कारण चारगति चौरासी लाख योनियों में भटकना पड़ रहा है।

मिथ्या मान्यता और कुगुरु कुदेव आदि का सेवन ही संसार का कारण है, संयम तप दानादि तो बाहरी अनुकूलता-प्रतिकूलता मिलाते हैं। पूर्व में हमने यह शुभ कर्म किये होंगे इसलिये यह मनुष्य भव और सारे शुभ योग मिल गये परन्तु अब यदि सत्य वस्तु स्वरूप को न जानें और ऐसे ही अज्ञान मिथ्यात्व सहित यह परम्परागत मान्यतायें करते रहें तो इससे क्या लाभ होगा ? पुनः संसार में ही भ्रमण करना पड़ेगा; जबकि यह मनुष्य भव तो भव का अभाव करने, संसार के जन्म-मरण के चक्र से छूटने, मुक्ति को प्राप्त करने, आत्मा से परमात्मा बनने के लिये मिला है इसमें हम धर्म के यथार्थ स्वरूप को समझें और हमारे शुद्ध षट्कर्म क्या हैं इन्हें समझें और उनका सही पालन करें तो हमारा यह मानव जीवन सफल होगा और तभी अपना आत्महित होगा।

तो वह शुद्ध षट्कर्म क्या हैं, उनका स्वरूप क्या है, जिनका पालन करने से हमारा भला और मुक्ति की प्राप्ति होगी ? ऐसा प्रश्न करने पर सद्गुरु तारण स्वामी शुद्ध षट्कर्म का स्वरूप जो जैनागम में जिनेन्द्र परमात्मा ने कहा है उसे बताते हैं -

शुद्ध षट् कर्म का स्वरूप-

षट् कर्म सुद्ध उक्तं च, सुद्ध समय सुद्धं ध्रुवं।

जिन उक्तं षट् कर्म च, केवलि दिस्टि संजुतं ॥ ३२० ॥

अन्वयार्थ- (षट् कर्म सुद्ध उक्तं च) अब शुद्ध षट् कर्मों को कहा जाता है (सुद्ध समय सुद्धं ध्रुवं) जिसमें अपना शुद्धात्म स्वरूप जो शुद्ध ध्रुव है उसका लक्ष्य रहे (जिन उक्तं षट् कर्म च) जिनवाणी में जो षट्कर्मों का स्वरूप बताया है (केवलि दिस्टि संजुतं) जो केवलज्ञानी सर्वज्ञ परमात्मा की परम्परा से जिनागम में प्रमाणित कहे गये हैं।

विशेषार्थ- शुद्ध षट्कर्म वे ही हैं, जहाँ आत्मा की शुद्धता का अभिप्राय हो, देवपूजादि प्रत्येक कार्य को करते हुए लक्ष्य परिणामों की शुद्धि का हो, शुद्धोपयोग की प्राप्ति का हो, अन्य कोई सांसारिक प्रयोजन जहाँ न हो। सम्यक्दृष्टि ज्ञानी जीव

को यह निश्चय हो जाता है कि उसका आत्मा वास्तव में शुद्ध है ध्रुव है, मात्र कर्म कलंक से मलिन हो रहा है, इस कर्ममल को धोने का उपाय निश्चय रत्नत्रय धर्म की साधना ही है, जहाँ अपने शुद्धात्म स्वरूप का श्रद्धान ज्ञान है, उसको ही आत्मानुभव कहते हैं और ऐसे अपने शुद्धात्म स्वरूप की साधना करने को ही सम्यक्चारित्र कहते हैं जिससे समस्त रागादि दोष एवं कर्मों का क्षय होता है। श्री जिनेन्द्र भगवान की कही हुई वे ही छह क्रियायें यथार्थ हैं जो शुद्धात्मा की तरफ ले जावें। जिन आगम परम पूज्य आचार्य ऋषियों के द्वारा निर्मापित है, जिसका मूल स्रोत तीर्थंकर केवलज्ञानी परमात्मा का उपदेश है। उस जिनवाणी में जिन शुद्ध षट्कर्मों के पालन करने की आज्ञा है उन्हें हर एक श्रद्धावान गृहस्थ श्रावक को पालना चाहिये। उनमें यही अभिप्राय है कि राग-द्वेष, मोह जो बंध के कारण भाव हैं उनको दूर किया जावे और वीतराग विज्ञान मय शुद्ध आत्मीक भाव को झलकाया जावे। जहाँ रंचमात्र भी सांसारिक सुख की भावना न हो, ख्याति लाभ पूजादि की चाह न हो वहीं शुद्ध षट्कर्म हैं। पद्मनंदि मुनि ने रत्नत्रय को मोक्षमार्ग कहकर शुद्ध षट्कर्म बताये हैं-

सम्यग्दृग्बोध चारित्र त्रितयं धर्म उच्यते।

मुक्तेः पंथा स एव स्थान प्रमाण परिनिष्ठितः ॥ ६-२ ॥

देवपूजा गुरुपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।

दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने ॥ ६-७ ॥

प्रमाण से निश्चय किया गया सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र ही धर्म कहा गया है यही मोक्षमार्ग है इसलिये गृहस्थों को नित्यप्रति देवपूजा, गुरु भक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन छहकर्मों का पालन करना चाहिये।

यह शुद्ध षट्कर्म क्या हैं इनका संक्षेप में स्वरूप बताते हैं -

देव देवाधिदेवं च, गुरु ग्रंथं मुक्तं सदा।

स्वाध्याय सुद्ध ध्यायंते, संजमं संजमं श्रुतं ॥ ३२१ ॥

तपं च अप्य सद्भावं, दानं पात्रस्य चिंतनं।

षट् कर्म जिनं उक्तं, सार्धं सुद्ध दिस्टितं ॥ ३२२ ॥

अन्वयार्थ- (देव देवाधिदेवं च) देव, जो देवों के देव अरिहंत सिद्ध परमात्मा हैं (गुरु ग्रंथं मुक्तं सदा) गुरु, जो समस्त पाप परिग्रह के बंधन से मुक्त हैं (स्वाध्याय सुद्ध ध्यायंते) स्वाध्याय, अपने शुद्धात्म स्वरूप को ध्याना (संजमं संजमं श्रुतं)

संयम, जिसमें प्राणी संयम और इन्द्रिय संयम सहित अपने अपने स्वरूप की सुरत रहे।

(तपं च अप्प सद्भावं) तप, अपने स्वभाव में रहना (दानं पात्रस्य चिंतनं) दान, सत्पात्र को दान देने का सदैव प्रयास करना (षट् कर्म जिनं उक्तं) यह शुद्ध षट्कर्म जिनेन्द्र के कहे अनुसार हैं (सार्धं सुद्ध दिस्टितं) इनकी साधना इनका पालन शुद्ध दृष्टि करता है।

विशेषार्थ- शुद्ध षट्कर्म क्या हैं ? इनका स्वरूप संक्षेप में बताया जा रहा है, विशद वर्णन आगे गथाओं में करेंगे। यहाँ तो जो जिनेन्द्र परमात्मा ने कहा है, जैनागम का सार है वह वस्तु स्वरूप बताया जा रहा है - **१. देव** - जो देवों के अधिपति इन्द्रों के भी देव हैं वह अरिहंत सर्वज्ञ परमात्मा जो वीतरागी हितोपदेशी हैं, उनके समान ही जो आत्मा का शुद्ध स्वरूप है ऐसा निज शुद्धात्म तत्व ही सच्चा देव है जो इष्ट और पूज्यनीय है। **२. गुरु** - जो समस्त पाप-परिग्रह के बन्धनों से मुक्त अपनी आत्म साधना में लीन रहते हैं ऐसे निर्ग्रन्थ दिगम्बर वीतरागी साधु ही सच्चे गुरु हैं जिनकी भक्ति और सत्संग करना चाहिये। **३. स्वाध्याय** - सत्शास्त्रों को पढ़ते हुए अपने शुद्ध स्वरूप को ध्याना, अपना अध्ययन करना ही शुद्ध स्वाध्याय है। **४. संयम** - बाह्य में प्राणी संयम और इन्द्रिय संयम होते हुए अपने आत्म स्वरूप की सुरत रखना, आत्म संयम ही शुद्ध संयम है। **५. तप** - अपने आत्म स्वभाव में रहना ही तप है, बाह्य में इच्छाओं का निरोध करना और अपने स्वरूप में रत रहना शुद्ध तप है। **६. दान** - सत्पात्रों को दान देना, अपनी कषायों को गलाना, धर्म प्रभावना में द्रव्य का सदुपयोग करना सच्चा दान है, जो अव्रत सम्यक्दृष्टि को निरन्तर करना चाहिये। यह छह आवश्यक कर्म गृहस्थ श्रावक को अपने आत्मस्वरूप की साधना में आगे बढ़ाने में सहयोगी कारण हैं। इस प्रकार इन षट्कर्मों को जैनागम में जिनेन्द्र परमात्मा ने कहा है। इनके साथ शुद्ध सम्यक्दर्शन का होना अत्यन्त आवश्यक है। सम्यक्त्व सहित यह षट्कर्म गृहस्थ श्रावक को परम्परा से मोक्ष के कारण हैं व उसी भव से स्वर्ग गति के देने वाले हैं। शुद्धात्मा की भावना सहित ही यह षट्कर्म एक जिनभक्त के लिये आवश्यक हैं इससे ही परम कल्याण है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि वर्तमान में अरिहंत सर्वज्ञ परमात्मा हैं ही नहीं, सिद्ध परमात्मा सिद्धालय में विराजमान हैं फिर उनकी पूजा भक्ति कैसे करें ?

इसका समाधान करते हैं कि देवपूजा करने का अभिप्राय, वैसे ही अपने को

होना है, हमें भी देवत्वपद पाना है, जिससे इस संसार के चक्र जन्म-मरण से छूट कर परमानन्द मय हो जायें, यही इष्ट प्रयोजनीय है; इसलिये देव के गुणों का आराधन करना और वैसे गुण अपने में प्रगट करना क्योंकि स्वभाव से हम भी आत्मा-परमात्म स्वरूप हैं, अपने स्वरूप को भूलने के कारण संसारी बने हैं तथा जैनागम जिन सिद्धांत जैन दर्शन में कोई परमात्मा किसी का कुछ भी करता नहीं है, जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं करता, अपनी एक पर्याय दूसरी पर्याय का कुछ नहीं कर सकती, ऐसा अपूर्व निर्णय जिनवाणी में आया है इसको स्वीकार करें तभी सच्चे श्रावक सम्यक्दृष्टि हैं और सच्चे देव का स्वभाव और उनके गुणों का आराधन कर अपने में उन गुणों को प्रकट करना ही सच्ची देव पूजा है। **पूजा पूज्य समाचरेत्** पूज्य के समान आचरण करना ही पूजा है। कोई रूप आदि बनाकर किसी कामना को लेकर किसी प्रकार का आडंबर पूजा आदि करना तो जैन धर्म में मिथ्यात्व कहा है।

सच्चे देव का स्वरूप क्या है और उनके वह कौन से गुण हैं जो हम अपने में प्रगट कर देवत्व पद पा सकते हैं, आत्मा से परमात्मा बन सकते हैं ? ऐसा प्रश्न करने पर श्री जिन तारण स्वामी, देव का स्वरूप और उनके वह गुण जो प्रत्येक जीव आत्मा में हैं जिन्हें प्रगट कर प्रत्येक आत्मा-परमात्मा बन सकता है, इसका विस्तृत विवेचन गाथा ३२३ से ३६६ तक करते हैं, जिसमें ७५ गुणों का वर्णन है।

देव का स्वरूप-

देवं च जिनं उक्त, न्यान मयं अप्प सद्भावं ।

नंत चतुस्तय जुत्तो, चौदस प्रान संजदो होई ॥ ३२३ ॥

देवो परमिस्ती मइयो, लोकालोक लोकिंतं जेन ।

परमप्पा ज्ञानं मइयो, तं अप्पा देह मज्झंमि ॥ ३२४ ॥

देह देवलि देवं च, उवइद्दो जिनबरेदेहि ।

परमिस्ती च संजुत्तो, पूजं च सुद्ध संमत्तं ॥ ३२५ ॥

अन्वयार्थ- (देवं च जिनं उक्तं) जिनवाणी में देव उसको कहा है जो (न्यान मयं अप्प सद्भावं) ज्ञानमयी अपने आत्म स्वभाव में लीन हो (नंत चतुस्तय जुत्तो) अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य इन चार अनंत चतुष्टय सहित हो तथा (चौदस प्रान संजदो होई) चौदह प्राणों सहित है।

(देवो परमिस्टी मइयो) देव जो परमेष्ठीमयी परमपद में स्थित हैं (लोकालोक लोकिंतं जेन) जो लोकालोक के स्वरूप को देखते जानते हैं (परमप्पा ज्ञानं मइयो) जो ज्ञानमयी परमात्मा हैं (तं अप्पा देह मज्झंमि) वही आत्मा इस देह में विराजमान है।

(देह देवलि देवं च) इस देह देवालय में आत्मा ही देव है (उवइट्ठो जिनबरेदेहि) इस सत्य को जिनेन्द्र देव ने उपदिष्ट किया, बताया है (परमिस्टी च संजुत्तो) वही पंचपरमेष्ठी के गुणों सहित है (पूजं च सुद्ध संमत्तं) और उसकी पूजा ही शुद्ध सम्यक्त्व है जो सम्यक्दृष्टि करता है।

विशेषार्थ- यहाँ सच्चे देव के स्वरूप को बताया जा रहा है, जो निश्चय व्यवहार के समन्वय पूर्वक है, जिनवाणी में देव उसको कहा है, जो आत्मा अपने ज्ञान स्वभाव में स्थित हो, जो अनन्त चतुष्टय (अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख, अनंत वीर्य) इन चार चतुष्टय सहित हो तथा चौदह प्राणों से संयुक्त हो अर्थात् जिसके पाँच इन्द्रिय, तीन बल (मन-वचन-काय) श्वासोच्छ्वास और आयु यह दस प्राण जो शरीर के कारण होते हैं तथा सुख, सत्ता, बोध, चेतना जो आत्मा के निज गुण हैं, इन सहित हैं, वही परमात्मा देव हैं। जो अरिहंत परमात्मा अपने स्वरूप में तिष्ठते हुए लोकालोक के स्वरूप को जानते हैं अर्थात् जिनके ज्ञान में तीन लोक, तीन काल के समस्त द्रव्य और उनकी पर्यायें झलकती हैं- ऐसा केवलज्ञानमयी परमात्मा, इस देह के मध्य में स्थित आत्मा है। अरिहंत देव जो शरीर सहित परमात्मा हैं तथा सिद्ध, जो अशरीरी अपने ज्ञान स्वभाव में हैं, आठ कर्मों से रहित ज्ञानाकार परमात्मा हैं, जिनके ज्ञान में लोकालोक दर्पण में प्रतिबिम्ब की तरह झलक रहा है। वे सर्व रागादि दोष, आठ कर्म मल व शरीरादि से रहित केवल आत्मा मात्र ही हैं; ऐसा ही अरिहंत और सिद्ध के समान ममल स्वभाव का धारी इस शरीर के भीतर आत्मा है जो निश्चयनय से स्वयं परमात्मा है, इस आत्मा में और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है। दोनों के गुण और स्वभाव समान हैं। जो अपने आत्मा को भेदविज्ञान के द्वारा सर्व अनात्म पदार्थों से निराला व सर्व कर्म जनित विकारी भावों से भिन्न अनुभव करता है, वही देव के स्वरूप को जानता है। इस शरीर रूपी मन्दिर में आत्मा रूपी देव है ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है, जो परमेष्ठी के गुणों सहित है, ऐसे निज शुद्धात्म स्वरूप की साधना-आराधना सम्यक्दृष्टि करता है, यही सच्ची देवपूजा है।

इस देह देवालय में अपना शुद्धात्म स्वरूप ही अपना सच्चा देव विराजमान है, जिसके दर्शन ज्ञान और उसी मय स्थित होने से सिद्ध परम पद प्रगट होता है,

इसी देह देवालय में स्थित देव की सम्यक्दृष्टि पूजा करता है। शरीर के भीतर यदि शुद्ध द्रव्य दृष्टि से देखा जावे तो आत्मा आत्मारूप सिद्ध सम शुद्ध विराजमान है, उसको जब परमात्मा के समान देखा जाता है, तो वही पूज्यनीय देव दिखलाई पड़ता है। तब उस देव स्वरूप आत्मा के तिष्ठने का मंदिर यह शरीर ही हुआ; अतएव निश्चल मन से अपने शरीर को देव स्थान मानो और अपने आत्मा को परमात्मा मानो तथा उपयोग को उसी में स्थिर करो अर्थात् उसी का एकाग्रता से अनुभव करो। अपने ही आत्मा का स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा अनुभव करना यही शुद्ध सम्यक्दर्शन का अनुभव ही सिद्ध पूजा व सच्ची देव पूजा है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

इसी बात को पं. दानतराय जी ने कहा है -

निज घट में परमात्मा, चिन्मूरति भय्या।

ताहि विलोकि सुदृष्टिधर, पंडित परखैय्या ॥

जो शुद्धात्मानुभवी हैं वे ही सच्चे निज आत्मदेव के आराधक हैं, वे ही यथार्थ उपासक हैं। व्यवहारनय से अरिहंत, सिद्ध के गुणों का स्तवन भी इसी हेतु से किया जाता है कि निज आत्मा में परिणति थमे। जब उपयोग सर्व विकल्पों को तजकर आत्मस्थ होता है, तब ही सच्ची देवपूजा है यही वास्वतिक मोक्षमार्ग है।

इसी बात को आचार्य योगीन्दुदेव परमात्म प्रकाश में कहते हैं-

जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहिं णिवसइ देउ।

तेहउ णिवसइ बंभु परु देहहं मं करि भेउ ॥ २६ ॥

जैसा निर्मल ज्ञानमयी परमात्मा मुक्ति में निवास करता है, वैसा ही आत्मा परमात्मा इस देह में जान। जो देह रूपी देवालय में रहता है वही शुद्ध निश्चय नय से परमात्मा है।

देहा देवलि जो वसइ देउ अणाइ अणंतु।

केवल णाण फुरंत तणु सो परमप्पु णिभंतु ॥ ३३ ॥

जो व्यवहार नय कर देह रूपी देवालय में बसता है, निश्चय नय कर देह से भिन्न है, देह की तरह मूर्तीक तथा अशुचिमय नहीं है, महा पवित्र है, आराधने योग्य है, पूज्य है। देह आराधने योग्य नहीं है, जो परमात्मा अनादि अनंत है, केवलज्ञान स्वरूप है, वही आत्मा परमात्मा है ऐसा निःसंदेह जान।

देहे वसंतु वि णवि छिवइ णियमे देहु वि जो जि।

देहे छिप्पइ जो वि णवि मुणि परमप्पउ सो जि ॥ ३४ ॥

जो देह में रहता हुआ भी निश्चय नय कर शरीर को स्पर्श नहीं करता है, देह से वह भी नहीं छुआ जाता, उसी को परमात्मा जान अर्थात् अपना स्वरूप ही परमात्मा है। आगे योगसार ग्रंथ में जैन सिद्धांत का सार दिखाते हैं -

जो जिणु सो अप्पा मुणहु इहु सिद्धंतहैं सारु ।

इउ जाणे विण जोइयहो छंडहु मायाचारु ॥ २१ ॥

जो जिन भगवान हैं वही आत्मा है, यही सिद्धांत का सार है, इसे समझकर हे योगीजनो ! मायाचार को छोड़ो।

जो परमप्पा सो जि हउँ जो हउँ सो परमप्पु ।

इउ जाणेविणु जोइया अण्णु म करहु वियप्पु ॥ २२ ॥

जो परमात्मा है वही मैं हूँ तथा जो मैं हूँ वही परमात्मा है, यह समझकर हे योगीजनो ! अन्य कुछ भी विकल्प मत करो।

सुद्ध सचेयणु बुद्ध जिणु केवल णाण सहाउ ।

सो अप्पा अणुदिणु मुणहु जइ चाहहु सिव लाहु ॥ २६ ॥

यदि मोक्ष पाने की इच्छा करते हो तो निरन्तर ही आत्मा को शुद्ध जिन सचेतन बुद्ध और केवलज्ञान स्वभाव मय समझो।

मूढा देवलि देउ णवि णवि सिलि लिप्पइ चित्ति ।

देहा देवलि देउ जिणु सो बुज्झहि सम चित्ति ॥ ४४ ॥

हे मूढ़ ! देव किसी देवालय में विराजमान नहीं है, इसी तरह किसी पत्थर, लेप अथवा चित्र में भी देव विराजमान नहीं है, जिनदेव तो देह देवालय में रहते हैं, इस बात को तू समचित्त से समझ।

अप्प सरुवहैं जो रमइ छंडिवि सहु ववहारु ।

सो सम्माइटी हवइ लहु पावइ भव पारु ॥ ८९ ॥

जो सर्व व्यवहार को छोड़कर आत्मस्वरूप में रमण करता है, वह सम्यक्दृष्टि जीव है और वह शीघ्र ही संसार से पार हो जाता है।

इसी बात को श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्षपाहुड में कहते हैं-

णाणमयं अप्पाणं उवलद्धं जेण झडिय कम्मेण ।

चइऊण य पर दव्वं णमो णमो तस्स देवस्स ॥ १ ॥

पर द्रव्य को त्यागकर जिसने अपने ज्ञानमयी आत्मा को जान लिया प्राप्त कर लिया, जिससे सारे कर्म क्षय होते हैं, जो सब पर द्रव्यों से भिन्न है ऐसे आत्मदेव को

हमारा नमस्कार हो, नमस्कार हो।

इसी बात को अध्यात्म आराधना में ब्र. बसन्त जी ने कहा है -

है देव निज शुद्धात्मा, जो बस रहा इस देह में ।

मन्दिर मठों में वह कभी, मिलता नहीं पर गेह में ॥

जिनवर प्रभु कहते स्वयं, निज आत्मा ही देव है ।

जो है अनन्त चतुष्टयी, आनंद घन स्वयमेव है ॥ १ ॥

जैसे प्रभु अरिहन्त अरु सब, सिद्ध नित ही शुद्ध हैं ।

वैसे स्वयं शुद्धात्मा, चैतन्य मय सुविशुद्ध है ॥

दिव्य ध्वनि में पुष्प बिखरे, देव निज शुद्धात्मा ।

यह शुद्ध ज्ञान विज्ञान धारी, आत्मा परमात्मा ॥ २ ॥

सतदेव परमेष्ठी मयी, जिसका कि ज्ञान महान है ।

जिसमें झलकता है स्वयं, यह आत्मा भगवान है ॥

ऐसा परम परमात्मा, निश्चय निजातम रूप है ।

जो देह देवालय बसा, शुद्धात्मा चिद्रूप है ॥ ३ ॥

जो शुद्ध समकित से हुए, वे करें पूजा देव की ।

पर से हटाकर दृष्टि, अनुभूति करें स्वयमेव की ॥

निज आत्मा का अनुभवन, परमार्थ पूजा है यही ।

जिनराज शासन में इसे, कल्याणकारी है कही ॥ ४ ॥

इस प्रकार सच्चे देव के स्वरूप को निश्चय- व्यवहार से बताते हुए उस देवत्व पद को पाने के लिये उन गुणों का आराधन करना, जिनके द्वारा अनन्त आत्मा परमात्मा हुए हैं, हो रहे हैं और होंगे, यही सच्ची देवपूजा है।

वह गुण कौन से हैं और क्या हैं ? यह प्रश्न करने पर सद्गुरु तारण स्वामी उन गुणों का वर्णन करते हैं, जो निम्न प्रकार हैं - १. पाँच परमेष्ठी पद, २. रत्नत्रय, ३. सोलहकारण भावना, ४. सिद्ध के आठ गुण, ५. धर्म के दश लक्षण, ६. दर्शन के आठ अंग, ७. ज्ञान के आठ अंग, ८. चार अनुयोगों का ज्ञान, ९. तेरह प्रकार का चारित्र इस प्रकार पचहत्तर गुणों का वर्णन किया है, जिनका आराधन करने से देवत्व पद प्राप्त होता है, यही सच्ची देवपूजा है जो सम्यक्दृष्टि करता है।

देवं गुनं विसुद्धं, अरहंतं सिद्ध आचार्यं जेन ।

उवज्झाय साधु गुनं, पंच गुनं पंच परमिस्ती ॥ ३२६ ॥

अरहंतं ह्रियंकारं, न्यान मयी तिलोय भुवनस्य ।
 नंत चतुस्त्य सहियं, ह्रियंकारं जानि अरहंतं ॥ ३२७ ॥
 सिद्धं सिद्ध ध्रुवं चिंते, उवंकारं च विंदते ।
 मुक्तिं च ऊर्ध्वं सद्भावं, ऊर्ध्वं च सास्वतं पदं ॥ ३२८ ॥
 आचार्यं आचरणं सुद्धं, तिअर्थं सुद्ध भावना ।
 सर्वन्यं सुद्ध ध्यानस्य, मिथ्या तिक्तं त्रि भेदयं ॥ ३२९ ॥
 उपाय देव उपयोगं जेन, उपाय लब्धनं ध्रुवं ।
 अंग पूर्व उक्तं च, सार्धं न्यान मयं ध्रुवं ॥ ३३० ॥
 साधुस्च सर्व सार्धं च, लोकालोकं च सुद्धये ।
 रत्नत्रयं मयं सुद्धं, ति अर्थं साधु जोइतं ॥ ३३१ ॥
 देवं पंच गुनं सुद्धं, पदवी पंचामि संजुदो सुद्धो ।
 देवं जिन पण्णत्तं, साधु सुद्ध दिस्ति समयेन ॥ ३३२ ॥

अन्वयार्थ- (देवं गुनं विसुद्धं) देवत्व पद पाने के विशुद्ध गुण (अरहंतं सिद्ध आचार्य जेन) जो अरिहन्त सिद्ध आचार्य (उवज्झाय साधु गुनं) उपाध्याय और साधु के गुण (पंच गुनं पंच परमिस्ती) यह पाँच गुणों का आराधन ही परम इष्ट है, यह देव के पाँच गुण परमेष्ठी पद कहलाते हैं। यही पाँच पद परम इष्ट हैं जिनसे देवत्व पद मिलता है।

(अरहंतं ह्रियंकारं) अरिहंत तीर्थंकर केवलज्ञानी को कहते हैं, हीं में चौबीस तीर्थंकर गर्भित हैं (न्यान मयी तिलोय भुवनस्य) जिनके ज्ञान में तीन लोक झलकते हैं (नंत चतुस्त्य सहियं) जो अनंत चतुष्टय सहित हैं (ह्रियंकारं जानि अरहंतं) ऐसे तीर्थंकर केवलज्ञानी परमात्माओं को अरिहंत जानो।

(सिद्धं सिद्ध ध्रुवं चिंते) सिद्ध को ऐसा विचारे कि वे सिद्ध हैं ध्रुव हैं (उवंकारं च विंदते) जो अपने ब्रह्म स्वरूप में लीन परमानंद का पान करते हैं (मुक्तिं च ऊर्ध्वं सद्भावं) जो मुक्ति में तीन लोक के ऊपर अग्र भाग में विराजमान हैं (ऊर्ध्वं च सास्वतं पदं) और जो श्रेष्ठ शाश्वत पद के धारी हैं।

(आचार्य आचरणं सुद्धं) आचार्य वह हैं जिनका आचरण शुद्ध है (तिअर्थं सुद्ध

भावना) रत्नत्रय स्वरूप की शुद्ध भावना करते हैं (सर्वन्यं सुद्ध ध्यानस्य) सर्वज्ञ स्वरूप केवलज्ञानमयी शुद्ध स्वभाव का ध्यान करते हैं (मिथ्या तिक्तं त्रि भेदयं) तीनों प्रकार के मिथ्यात्व से रहित हैं।

(उपाय देव उपयोगं जेन) उपाध्याय जो ज्ञानोपयोग में रत रहते हैं (उपाय लब्धनं ध्रुवं) उपयोग ही जीव का लक्षण है (अंग पूर्व उक्तं च) जो ग्यारह अंग चौदह पूर्व को कहते हैं (सार्धं न्यान मयं ध्रुवं) और अपने ज्ञानमयी ध्रुव स्वभाव की साधना में रत रहते हैं।

(साधुस्च सर्व सार्धं च) साधु जो सब प्रकार की साधना करते हैं (लोकालोकं च सुद्धये) और लोकालोक के स्वरूप को जानते हैं (रत्नत्रयं मयं सुद्धं) अपने रत्नत्रयरूपी शुद्ध स्वभाव को साधते हैं (ति अर्थं साधु जोइतं) द्रव्य, गुण, पर्याय सहित अपने स्वरूप को देखते जानते हैं।

(देवं पंच गुनं सुद्धं) देव इन पांच गुणों से शुद्ध होते हैं (पदवी पंचामि संजुदो सुद्धो) पाँचवीं पदवी पर पहुँचने पर परिपूर्ण शुद्ध होते हैं और अपने स्वभाव मय रहते हैं (देवं जिन पण्णत्तं) यह जिन प्रणीत देव हैं, इनको ही जैनदर्शन में देव कहा गया है (साधु सुद्ध दिस्ति समयेन) जो सम्यक्दृष्टि से साधु बनकर अपने समय पर सिद्ध होते हैं।

विशेषार्थ- यहाँ सच्ची देवपूजा में सबसे पहले पंच परमेष्ठी के गुणों का आराधन किया गया है, इन पदों की साधना कर इस रूप होना ही सच्ची देवपूजा है। जैसे वर्तमान में किसी को प्रधानमंत्री पद इष्ट है, तो वह उस रूप प्रयास पुरुषार्थ करता है और स्वयं उस रूप होता है तभी उसकी इष्टता सार्थक है, प्रधानमंत्री की कुर्सी या प्रधानमंत्री की कोई पूजा नमस्कार करे तो उसे क्या मिलेगा? क्या वह प्रधानमंत्री बन सकता है? नहीं। इसी प्रकार जिसे देव पद इष्ट है अर्थात् जो अनादिकालीन संसार के जन्म-मरण के चक्र से छूटना चाहता है, शाश्वत सुख परमानंद मय होना चाहता है, उसे उस रूप प्रयास पुरुषार्थ करना आवश्यक है क्योंकि यह अरिहंत और सिद्ध परमात्मा इसके प्रमाण हैं कि यह भी संसार में हमारी तरह ही जन्म-मरण के चक्र में फँसे थे, कर्मों से बंधे थे, इन्होंने भी धर्म के सत्य स्वरूप को समझा, धर्म साधना कर मुक्तिमार्ग पर चले तो आत्मा से परमात्मा बन गये। इसी तरह हम भी इस मार्ग पर चलें, इन गुणों को अपने में प्रगट करें तो हम भी आत्मा से परमात्मा अरिहंत सिद्ध हो सकते हैं। इस बात को बताने वाले हमारे मार्गदर्शक साक्षात् प्रमाण हैं,

अब हम उनके अनुसार न चलें, उन गुणों को अपने में प्रगट न करें और उनकी पूजा वन्दना भक्ति करें, तो इससे कोई लाभ होने वाला नहीं है; क्योंकि जैनदर्शन तो द्रव्य की स्वतंत्रता की घोषणा करता है, यहाँ परवलम्बता पराधीनता तो है ही नहीं। जैनदर्शन में कोई परमात्मा जगत का नियन्ता सुख-दुःख दाता कल्याण कर्ता नहीं है, प्रत्येक जीव अपने में स्वतंत्र है। स्वयं के पुरुषार्थ से जो चाहे कर सकता है, जैसा चाहे बन सकता है इसमें किसी का हस्तक्षेप नहीं है।

जो अत्रत सम्यक्दृष्टि हैं वह शुद्ध षट्कर्म में देवपूजा अर्थात् **पूजा पूज्य समाचरेत्** पूज्य के समान आचरण ही सच्ची पूजा है, जो निश्चय-व्यवहार से शाश्वत है, ऐसी देवपूजा अर्थात् उनके गुणों का आराधन और किस प्रकार वह देव बने, उसका सारा विधि-विधान समझकर उस मार्ग पर चलने का पुरुषार्थ करता है। परमेष्ठी के गुणों का आराधन करता है, यह पाँच परम इष्ट पद-अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु पद हैं, जो जीव को संसार से उठाकर आत्मा से परमात्मा बनाते हैं। सर्वप्रथम भेदज्ञान पूर्वक स्व-पर का यथार्थ निर्णय करना और अपने शुद्धात्म स्वरूप की प्रतीति अनुभूति होना, यही सम्यक्दर्शन आवश्यक है। जिसे भेदज्ञान पूर्वक निज शुद्धात्मानुभूति हो जाती है, वह सम्यक्दृष्टि कहलाता है और वर्तमान में कर्म संयोग पाप-परिग्रह में रहने से अत्रती कहलाता है; परंतु जिसे संसार भय और दुःख रूप लगने लगा है, जो इससे छूटने के लिये छटपटा रहा है। वह मार्ग की खोज करता है और उस मार्ग पर चलने का पुरुषार्थ करता है।

जब वह समस्त आरम्भ-परिग्रह, पाप, विषयादि को छोड़ देता है, महाव्रती बनता है, अन्तर में अपने आत्मस्वरूप शुद्धात्मा की साधना करता है, अट्टाईस मूलगुणों का पालन करता है, निर्ग्रन्थ दिगम्बर वीतरागी होता है यही साधु पद है। व्रत, तप, संयम यह सब मनुष्य की वैषयिक प्रवृत्ति को नियन्त्रित करने के लिये हैं, इनके बिना आत्म साधना सम्भव नहीं है, जबकि आत्म साधना करने का नाम ही साधुता है। जैनधर्म के उपदेष्टा या प्रवर्तक सभी तीर्थंकर संसार त्यागी तपस्वी वीतरागी थे, उनके द्वारा धर्म के दो मुख्य भेद बताये गये हैं, मुनिधर्म और श्रावक धर्म। मुनिधर्म ही उत्सर्ग धर्म माना गया है, मुनिधर्म के बिना मोक्ष प्राप्ति नहीं हो सकती।

१. साधुपद- साधु पद की मुख्यता मोक्ष की सिद्धि करने में है। वे निरन्तर व्यवहार रत्नत्रय के द्वारा निश्चय रत्नत्रयमयी निज शुद्धात्मा की साधना करते हैं। उनका ध्येय केवलज्ञान प्राप्ति है, छठे गुणस्थान प्रमत्तविरत से बारहवें क्षीणमोह

गुणस्थान तक सर्व मुनि साधु होते हैं। यही साधु तेरहवें गुणस्थान में जाकर अरहंत केवली हो जाते हैं। साधु नित्य आत्मध्यान में वैराग्य की भावना में तथा बारह प्रकार के तप के साधन में लगे रहते हैं, कठिन से कठिन तपस्या करते हैं, उपसर्ग परीषह सहते हैं, एकांतवास कर धर्म ध्यान की शक्ति बढ़ाते हैं, फिर उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी पर शक्ति के अनुसार आरुढ़ होते हैं, कर्मों के क्षय का निरन्तर उद्यम करते रहते हैं। समस्त परिग्रहों के बंधनों से मुक्त होते हैं वही निर्ग्रन्थ वीतरागी मुनि साधु कहलाते हैं।

२. उपाध्याय पद- जो साधु निरन्तर ज्ञानोपयोग में लगे रहते हैं, पठन पाठन में दत्त चित्त हैं, द्वादशांग वाणी को भले प्रकार जानकर दूसरों को पढ़ाते हैं तथा जिनवाणी का सार जो शुद्धात्म तत्व है उसको भी बताते हैं, यह उपाध्याय पद का स्वरूप है। द्वादशांग (बारह अंगों का) जिनवाणी का स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार है-

१. आचारांग - इसमें मुनियों का आचरण बताया है।
२. सूत्रकृतांग - इसमें सूत्ररूप संक्षेप में ज्ञान का, विनय आदि धर्म क्रिया का वर्णन है।
३. स्थानांग - इसमें नय अपेक्षा स्थानों का कथन है।
४. व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग - इसमें गणधर के साठ हजार प्रश्नों के उत्तर हैं।
६. ज्ञातृधर्मकथांग - इसमें त्रेसठ शलाका पुरुषों के धर्म की कथा है।
७. उपासकाध्ययन - इसमें श्रावकों की ग्यारह प्रतिमा, क्रिया मंत्रादि का वर्णन है।
८. अंतःकृतदशांग - इसमें हर एक तीर्थंकर के समय दश-दश मुनि घोर उपसर्ग सहकर मोक्ष गये, उनका कथन है।
९. अनुत्तरोपपादिक दशांग - इसमें हर एक तीर्थंकर के समय में दशमुनि उपसर्ग सहकर समधिमरण करके विजयादिक अनुत्तरो में जन्मे उनका कथन है।
१०. प्रश्न व्याकरणांग - इसमें अतीत, अनागत, वर्तमान काल संबंधी लाभ-अलाभ आदि प्रश्नों के उत्तर, कहने की विधि तथा चार प्रकार की कथाओं का वर्णन है।

चार प्रकार की कथा- १. **आक्षेपिणी-** धर्म में दृढ़ करने वाली कथा। २. **विक्षेपिणी** - एकांत मत का खंडन करने वाली कथा। ३. **संवेजिनी-** धर्मानुराग कराने वाली कथा। ४. **निर्वेजिनी-** संसार शरीर भोगों से वैराग्य कराने वाली कथा। ११. **विपाक सूत्रांग-** इसमें कर्मों के उदय, बंध, सत्ता आदि का वर्णन है। १२. **दृष्टि प्रवादांग-** इसके पाँच अधिकार हैं - १. परिकर्म, २. सूत्र, ३. प्रथमानुयोग,

४. पूर्वगत, ५. चूलिका।

१. परिकर्म- इसमें गणित आदि के सूत्र हैं, चंद्र प्रज्ञप्ति, सूर्य प्रज्ञप्ति, जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति, द्वीप सागर प्रज्ञप्ति, व्याख्या प्रज्ञप्ति आदि सहित इसमें जीवादि पदार्थों का भी स्वरूप है।

२. सूत्र- इसमें क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद, विनयवाद मतों के ३६३ भेदों का वर्णन है।

३. प्रथमानुयोग- इसमें त्रैषट शलाका पुरुषों का जीवन चरित्र है।

४. पूर्वगत- इसके चौदह भेद हैं, जो चौदह पूर्व कहलाते हैं। चौदह पूर्व का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है-

१. उत्पाद पूर्व- पदार्थों का उत्पाद व्यय ध्रौव्य कथन है।
 २. अग्रायणीय पूर्व- इसमें ७०० सुनय-कुनय व सात तत्वादि का वर्णन है।
 ३. वीर्यानुवाद पूर्व- इसमें जीवादि के क्षेत्र, काल, भाव, तप तथा छह द्रव्यों की शक्ति रूप वीर्यादि का कथन है।
 ४. अस्तिनास्ति पूर्व- इसमें अस्ति-नास्ति आदि सात भंगों का स्वरूप है।
 ५. ज्ञान प्रवाद पूर्व- इसमें आठ प्रकार के ज्ञान का वर्णन है।
 ६. आत्मप्रवाद पूर्व- इसमें आत्मा के स्वरूप की महिमा का कथन है।
 ७. सत्यप्रवाद पूर्व- इसमें दस प्रकार भेद रूप सत्य आदि का वर्णन है।
 ८. कर्म प्रवाद पूर्व- इसमें कर्मों के बंध आदि का विशद विश्लेषण है।
 ९. प्रत्याख्यान पूर्व- इसमें त्याग के विधान का वर्णन है।
 १०. विद्यानुवाद पूर्व- इसमें ७०० अल्प विद्या, ५०० महा विद्या साधने के मंत्र-यंत्र और अष्टांग निमित्त ज्ञान का कथन है।
 ११. कल्याण वाद पूर्व- इसमें महापुरुषों के कल्याणकों का वर्णन है।
 १२. प्राणवाद पूर्व - इसमें वैद्यक का कथन है।
 १३. क्रियाविशाल पूर्व- इसमें संगीत, छंद, अलंकार तथा पुरुष की ७२ एवं स्त्री की ६४ कला आदि का वर्णन है।
 १४. त्रिलोक बिंदुसार - इसमें तीन लोक का स्वरूप, बीजगणित आदि का कथन है।
- ५. चूलिका-** इसके पाँच भेद हैं- जलगता, थलगता, मायागता, रूपगता, आकाशगता। इसमें जल-थल, आकाश में चलने के, रूप बदलने के मंत्र आदि हैं। उपाध्याय परमेष्ठी शास्त्र के विशेष ज्ञाता होते हैं, इन साधुओं का कर्तव्य पढ़ना और

पढ़ाना है।

३. आचार्य पद- जो निर्ग्रन्थ पाँच महाव्रत, पाँच समिति व तीन गुप्ति ऐसे १३ प्रकार चारित्र का तथा दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार इन पाँच प्रकार आचार का निर्दोष पालन स्वयं करते हैं व दूसरों से पालन कराते हैं। जो सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्रमयी निजशुद्धात्म तत्व का अनुभव शुद्धोपयोग रूप करते हैं क्योंकि शुद्धोपयोग में ही निश्चय रत्नत्रय का लाभ होता है तथा वीतरागता होती है। आचार्य महाराज के प्रमत्त व अप्रमत्त दो गुणस्थान ही होते हैं। जब ध्यान मग्न निश्चल होते हैं तब सांतवां और जब दीक्षा-शिक्षा, आहार-विहार कार्यों में निरत होते हैं तब छटा प्रमत्त गुणस्थान होता है, इन दोनों का काल अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं है; इसलिये उन आचार्यों का आत्मा पुनः-पुनः ध्यानमग्न होता हुआ आत्मानंद का विलास करता रहता है। वे वचन व काय से बाहरी कार्य को करते हुए भी मन से आत्म कार्य में लवलीन रहते हैं, जो क्षायिक सम्यक्त्वी या उपशम सम्यक्त्वी होते हैं, ऐसे परममुनि वीतरागी परमोपकारी आचार्य पद में होते हैं।

४. अरिहंत पद- जो भव्य आत्मा साधु पद से शुद्धोपयोग की साधना द्वारा श्रेणी मांडते हैं अर्थात् निर्विकल्प ध्यान समाधि में लीन होते हैं उन्हें अड़तालीस मिनिट (एक मुहूर्त) में केवलज्ञान प्रगट हो जाता है, केवलज्ञान होते ही अनन्त चतुष्टय (अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य) प्रगट हो जाता है। उनके ज्ञान में तीनकाल, तीन लोक के समस्त पदार्थ झलकने लगते हैं और वह आत्म स्वरूप परमानंद में निमग्न रहते हैं, उन्हें ही सर्वज्ञ परमात्मा, केवलज्ञानी, अरिहंत तीर्थकर कहते हैं। तीर्थकर के समवशरण होते हैं, दिव्यध्वनि खिरती है जो जगत के समस्त जीवों को धर्म का सत्य स्वरूप बताते हैं। जिनके चरणों में १०० इन्द्र नमस्कार करते हैं-भवनवासी देवों के ४० इन्द्र, व्यन्तर देवों के ३२ इन्द्र, कल्पवासी देवों के २४ इन्द्र, ज्योतिषी देवों के दो इन्द्र- सूर्य, चन्द्रमा, मनुष्यों में एक चक्रवर्ती राजा, तिर्यच में एक अष्टापद पशु। जिनके समवशरण में बारह कोठे (सभायें) होती हैं, जिनमें- १. भवनवासी देवी, २. व्यन्तरों की देवी, ३. ज्योतिषियों की देवी, ४. कल्पवासी देवी, ५. भवनवासी देव, ६. व्यन्तर देव, ७. ज्योतिषी देव, ८. कल्पवासी (स्वर्ग के) देव, ९. मुनिगण, १०. आर्यिका गण, ११. मानव, १२. पशु बैठते हैं। जिनका उपदेश हर एक मानव व सैनी पंचेन्द्रिय पशु व हर प्रकार का देव सुन सकता है। जिनकी वाणी को सुनकर अनेक गृहस्थ, मुनि हो जाते

हैं, अनेक श्रावक व्रतधारी और अनेक देव मनुष्य तथा पशु सम्यक्दृष्टि हो जाते हैं, सुख शान्ति का परम लाभ कर लेते हैं। ऐसा वीतरागी सर्वज्ञ हितोपदेशी अरिहंत पद होता है।

५. सिद्ध पद- जो आत्मा पूर्ण शुद्ध सर्व रागादि विकार, कर्म संयोग, शरीर से रहित, संसार के आवागमन जन्म-मरण से मुक्त अपने परमानंद मयी स्वचतुष्टय में स्थित हो जाते हैं, वे सिद्ध पद धारी परमात्मा कहलाते हैं। जो लोक के अग्र भाग में स्थित अपने उर्वकार स्वरूप में प्रतिष्ठित रहते हैं, जो शाश्वत पद है। अरिहंत आदि अन्य चार पद अनित्य हैं, नाशवन्त हैं और शरीर सहित होने से विनाशीक हैं; परन्तु सिद्ध पद सर्व कर्म व सर्व शरीर रहित होने से सदा ही रहने वाला अविनाशी पद है।

इस प्रकार अरिहंत और सिद्ध पद वीतराग देव परमात्मा कहलाते हैं और आचार्य उपाध्याय साधु पद वीतरागी गुरु कहलाते हैं। यह पाँच परम इष्ट पद इसलिये महान कहे जाते हैं कि इनके माध्यम से ही यह आत्मा परमात्मा बनता है। व्यवहार नय से यह पाँच पद कहे जाते हैं, निश्चय नय से इन सबमें एक ही शुद्धात्म स्वरूप विराजमान है, यह देवत्व पद पाने के शुद्ध गुण हैं। जो आत्मा इनकी साधना करके पाँचवीं पदवी से संयुक्त हो जाता है, उसे जैन आगम में जिनेन्द्र देव कहा गया है। सम्यक्दृष्टि इन पदों की साधना करता है यही उसकी सच्ची देव पूजा है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि इन पदों की साधना करना सच्ची देवपूजा है तो जो इन पदों पर विराजमान हैं, उनकी पूजा वन्दना भक्ति करना चाहिये या नहीं?

उसका समाधान करते हैं कि जो इन पदों पर विराजमान हैं, वह अपने से आगे हैं, बड़े हैं, उनको नमस्कार करना उनका गुणानुवाद करना तो व्यवहार विनय है, यह तो करना ही चाहिये, णमोकार मंत्र में यह स्पष्ट ही है; परन्तु इनकी पूजा करना, इनमें अटक जाना और जो हैं ही नहीं, उनको भी किसी रूप में पूजना यह तो प्रत्यक्ष ही मूढ़ता है क्योंकि जैसे हम किसी स्थान पर जाना चाहते हैं और कोई अपने को उस स्थान का पता और मार्ग बता देता है, तो हम उसका उपकार मानते हैं परन्तु उसको ही इष्ट मानकर पूजने लगे तो बताओ कभी ठिकाने लग सकते हैं? नहीं। विवेक से काम लेना ही मनुष्यता की निशानी है, जिनधर्म का मर्म, सम्यक्दृष्टि का लक्षण है।

अब यहाँ प्रश्न होता है कि णमोकार मंत्र में पंच परमेष्ठी पद में सबसे पहले अरिहंत पद आया है तो यह तीर्थकर बनने का मार्ग क्या है?

इसका उत्तर सदगुरु तारण स्वामी अगली गाथाओं में देते हैं -

अरहंत भावनं जेन, षोडस भावेन भावितं।

तिअर्थ तीर्थकरं जेन, प्रति पूर्ण पंच दीप्तयं ॥ ३३३ ॥

तस्यास्ति षोडसं भावं, तिअर्थ तीर्थकरं कृतं।

षोडस भावनं भावं, अरहंतं गुण सास्वतं ॥ ३३४ ॥

अन्वयार्थ- (अरहंत भावनं जेन) जो अरिहंत पद की भावना करता है (षोडस भावेन भावितं) उसे सोलह कारण भावना भाना चाहिये (तिअर्थ तीर्थकरं जेन) जिससे जैसा द्रव्य गुण पर्याय तीर्थकर का होता है (प्रति पूर्ण पंच दीप्तयं) वैसा ही पंच ज्ञानमयी निज स्वरूप परिपूर्ण होता है।

(तस्यास्ति षोडसं भावं) इसलिये यह सोलह कारण भावना ही (तिअर्थ तीर्थकरं कृतं) तीर्थकर प्रकृति का बंध कराती हैं (षोडस भावनं भावं) सोलह कारण भावना भाना ही (अरहंतं गुण सास्वतं) अरिहंत पद स्वरूप अपने अविनाशी आत्मगुणों को प्रकट करना है।

विशेषार्थ- जो अरिहंत पद की भावना करता है अर्थात् आत्मा से परमात्मा होना चाहता है, उसे अपने परिणामों की विशुद्धि के लिये सोलह कारण भावना भाना चाहिये, जिससे जैसा द्रव्य गुण पर्याय तीर्थकर अरिहंत का होता है, वैसा ही पंच ज्ञानमयी निज स्वरूप परिपूर्ण शुद्ध है, ऐसा बोध हो जाता है। इसलिये यह सोलह कारण भावना ही तीर्थकर प्रकृति का बंध कराती हैं, सोलह कारण भावना भाना ही अरिहंत पद स्वरूप अपने अविनाशी आत्म गुणों को प्रकट करना है। यह सोलह कारण भावना परम उपकारी हैं, इनके भाने या इन पर चलने से यदि तीर्थकर प्रकृति का बंध न भी हो तो भी महान पुण्य बंध होता है तथा आत्म गुणों का विकास होता है।

सोलह कारण भावना निम्न प्रकार हैं-

१. दर्शन विशुद्धि भावना- सम्यक्दर्शन शुद्ध रहे, उसमें पच्चीस दोष में से कोई सा भी दोष न लगे तथा जगत के समस्त जीव अपने सत्स्वरूप का श्रद्धान कर सम्यक्दृष्टि बनकर मुक्ति के मार्ग पर चलें, आत्मा से परमात्मा बनें ऐसी भावना होना।

२. विनय सम्पन्नता- रत्नत्रय धर्म तथा उनके धारकों के प्रति विनय होना।

३. शीलव्रतेष्वनतीचार- शील स्वभाव व व्रतों के पालने में कोई दोष न लगे।

४. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग - निरन्तर आत्मज्ञान व शास्त्र आगमज्ञान में उपयोग

लगाना ।

५. संवेग- संसार शरीर भोगों से वैराग्य व धर्म में अनुराग बढ़ता रहे ।
६. शक्ति: त्याग- शक्ति अनुसार त्याग मार्ग पर चलना तथा चारदान देना ।
७. शक्ति: तप - शक्ति अनुसार बारह तपों का पालन करना ।
८. साधु समाधि - कब जीवन में साधु बनूँ और निर्विकल्प ध्यान समाधि करूँ ऐसी भावना होना तथा रत्नत्रय धारक साधुओं की समाधि में बाधक कारणों, उपसर्गों को दूर करना ।
९. वैयावृत्यकरण - दीन दुःखी जीवों व धर्मात्माओं की सेवा सुश्रुषा करना ।
१०. अर्हंत भक्ति- वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा के गुणों का स्मरण करना ।
११. आचार्य भक्ति- वीतराग निर्ग्रन्थ साधु सद्गुरु आचार्यों की भक्ति करना ।
१२. बहुश्रुत भक्ति- बहुश्रुत के ज्ञाता उपाध्याय की भक्ति करना ।
१३. प्रवचन भक्ति - जिनवाणी (शास्त्र) व धर्म की महिमा बहुमान भक्ति करना ।
१४. आवश्यक अपरिहाणि - नित्य आवश्यक धर्म क्रियाओं को न छोड़ना ।
१५. मार्ग प्रभावना- वीतराग जिन धर्म की प्रभावना करना ।
१६. प्रवचन वत्सलत्व-साधर्मियों से प्रेम, वात्सल्य भाव होना ।

इन सोलह कारण भावनाओं का पालन करना, इस रूप चलने की भावना होना, जगत के समस्त जीवों के प्रति मैत्री प्रमोदभाव होना तथा सब जीव सत्यधर्म को समझें, स्वीकार करें, आनंद परमानंद मय रहें, ऐसी भावना तीर्थकर प्रकृति का बंध कराती है । तीर्थकर के समान जगत में और कोई श्रेष्ठ पद नहीं होता, अरिहंत पद सर्व श्रेष्ठ होता है, जिसकी सौ इन्द्र पूजा भक्ति आराधना करते हैं । तीर्थकर के पाँच कल्याणक होते हैं- गर्भ, जन्म, दीक्षा (तप), ज्ञान, निर्वाण । अविनाशी आत्मा का स्वभाव जब झलक जाता है अर्थात् घातिया कर्मों के क्षय होने पर केवलज्ञान प्रगट होता है, तब तीर्थकर देव की दिव्यध्वनि खिरती है, जिससे अनेक भव्य जीव धर्म के यथार्थ स्वरूप को समझकर आत्माभिमुख होते हैं । जिससे संसार के जन्म-मरण के चक्र से छूटकर आत्मा से परमात्मा हो जाते हैं ।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि अरिहंत पद से सिद्ध पद बड़ा और श्रेष्ठ है शाश्वत पद है, फिर पहले अरिहंत पद क्यों रखा है तथा णमोकार मंत्र में सिद्धों से पहिले अरिहंतों को क्यों नमस्कार किया है ?

इसका समाधान करते हैं कि आत्मा अनादि से शरीरादि कर्म संयोग में बहिरात्मा

बना रूल रहा है, जब इसे अपने आत्म स्वरूप का बोध होता है तब यह अन्तरात्मा होता है तथा रत्नत्रय की साधना करके सबसे पहले साधु, उपाध्याय, आचार्य होता हुआ सर्वज्ञ केवलज्ञानी अरिहंत परमात्मा होता है, जो शरीर सहित अपने स्वभाव में लीन रहते हैं, यह संसार में प्रत्यक्ष दिखने वाला अरिहंत पद है तथा इसी पद से धर्म का यथार्थ स्वरूप बताया जाता है, यह पूर्ण वीतरागी सर्वज्ञ हितोपदेशी परमात्मा होते हैं, जिनकी वाणी पर सम्पूर्ण विश्व श्रद्धान विश्वास करता है, यही जब सब कर्मों से मुक्त शरीर रहित परिपूर्ण शुद्ध अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप मय हो जाते हैं तब सिद्ध परमात्मा कहलाते हैं ।

यह पद शाश्वत पद है; परन्तु संसार की अपेक्षा अगोचर है अतः अरिहंत पद को पहले नमस्कार किया है, अरिहंत सर्वज्ञ ही धर्मोपदेश के दाता परमगुरु होते हैं । जो आत्मा के शाश्वत अविनाशी सिद्ध पद का स्वरूप बताते हैं और संसार से तरने का उपाय बताते हैं ।

सिद्ध पद की विशेषता और उनके गुण क्या हैं, यह पद कैसे प्राप्त होता है ? यह प्रश्न पूछने पर सद्गुरु तारण स्वामी आगे गाथाओं में स्पष्ट करते हैं -

सिद्धं च सुद्ध संमत्तं, न्यानं दरसन दरसितं ।

वीर्जं सुहं समं हेतुं, अवगाहन अगुरुलघुस्तथा ॥ ३३५ ॥

संमत्तं आदि गुणं सार्धं, मिथ्या मल विमुक्तयं ।

सिद्धं गुणस्य संजुत्तं, सार्धं भव्य लोकयं ॥ ३३६ ॥

अन्वयार्थ- (सिद्धं च सुद्ध संमत्तं) सिद्ध भगवान के शुद्ध सम्यक्त्व होता है (न्यानं दरसन दरसितं) अनन्तज्ञान व अनन्तदर्शन प्रत्यक्ष दिखता है (वीर्जं सुहं समं हेतुं) अनन्त वीर्य, सूक्ष्मपना, अव्याबाधपना तथा (अवगाहन अगुरुलघुस्तथा) अवगाहनत्व और अगुरुलघुपना यह आठ गुण प्रगट हो जाते हैं ।

(संमत्तं आदि गुणं सार्धं) सम्यक्दर्शन आदि गुणों के धारी (मिथ्या मल विमुक्तयं) मिथ्यादर्शन रूपी मल से रहित (सिद्धं गुणस्य संजुत्तं) सर्व आत्मीक गुणों से पूर्ण सिद्ध परमात्मा होते हैं (सार्धं भव्य लोकयं) जो भव्य जीवों के द्वारा श्रद्धेय साधने योग्य हैं ।

विशेषार्थ- सिद्ध परमात्मा पूर्ण शुद्ध आत्मा होते हैं, तीनों कर्म- द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नो कर्म का अभाव हो जाने से आत्मा की पूर्ण शक्तियाँ प्रकाशमान हो

जाती हैं, नो कर्म के अभाव से शरीर रहित अशरीरी होते हैं, भावकर्म के अभाव से मोह, राग-द्वेषादि से रहित अपने पूर्ण शुद्ध स्वभाव में रहते हैं, द्रव्य कर्म का अभाव होने से सम्पूर्ण अनन्त गुण पूर्ण शुद्धपने प्रगट हो जाते हैं; परन्तु यहाँ आठ कर्मों के नाश से जो आठ गुण प्रकाशमान होते हैं, उनका कथन किया है, जो सिद्ध के विशेष गुण हैं ।

१. मोहनीय कर्म के नाश से शुद्ध सम्यक्दर्शन, शुद्धोपयोग स्वरूपाचरण यथाख्यात चारित्र प्रगट हो जाता है ।
२. ज्ञानावरणीय कर्म के नाश से अनन्तज्ञान केवलज्ञान सूर्य प्रगट रहता है ।
३. दर्शनावरणीय कर्म के नाश से अनन्तदर्शन प्रगट हो जाता है, जिसमें सर्व द्रव्य, गुण पर्यायों सहित दिखते हैं ।
४. अन्तराय कर्म के नाश से अनन्त वीर्य (बल) प्रगट हो जाता है ।
५. नाम कर्म के अभाव से सूक्ष्मत्व गुण प्रगट हो जाता है, शरीरादि संयोग नहीं रहता ।
६. गोत्र कर्म के अभाव से अगुरुलघुत्व गुण प्रगट हो जाता है, समदर्शी साम्यभाव भेद रहित अभेद दशा होती है ।
७. आयु कर्म के अभाव से अवगाहनत्व गुण प्रगट हो जाता है, सबको समाहित करने की शक्ति प्रगट हो जाती है ।
८. वेदनीय कर्म के अभाव से अव्याबाधत्व गुण प्रगट हो जाता है ।

इस प्रकार सिद्ध परमात्मा सर्व गुणों से संयुक्त पूर्ण शुद्ध परमानन्दमयी परमात्मा होते हैं, सिद्धों में कर्म जनित कोई भी विभाव मल मिथ्यात्व आदि नहीं होता क्योंकि सर्व कर्मों से रहित आत्मा को ही सिद्ध परमात्मा कहते हैं । उनके सम्यक्दर्शन आदि अनन्त गुण पूर्णपने विकाश को प्राप्त हो जाते हैं, वे निरन्तर आत्मानन्द में लीन रहते हैं । इनको ईश्वर, भगवान, परब्रह्म, परमेश्वर, निरंजन, ब्रह्म, परमात्मा, चिदानन्द, प्रभु आदि नामों से भव्य जीव ध्याते हैं । अपने आत्मा का सिद्ध स्वरूप शुद्ध स्वभाव ही साधने योग्य है । सम्यक्दृष्टि श्रावक, साधु, अरिहंत भी अपने ऐसे सिद्ध स्वरूप का ध्यान करते हैं । सब भव्य जीवों को ऐसे सिद्ध स्वरूप का स्मरण करके अपने आत्मा को सिद्ध समान ध्याना चाहिये ।

सम्यक्दर्शन सहित शुद्ध आत्मा का ध्यान ही सिद्ध बनने की विधि है और यही सच्ची देवपूजा है । यह आठ गुण सब जीवों में होते हैं परन्तु संसारी जीवों के कर्मावरण होने से यह गुण अप्रगट अव्यक्त रहते हैं । सिद्ध जीवों को कर्मावरण न

होने से यह पूर्णपने प्रगट हो जाते हैं, ऐसा जानकर अपनी स्वसत्ता शक्ति जाग्रतकर हम भी अपने में यह गुण प्रगट कर सकते हैं, ऐसा बोध और पुरुषार्थ का जागना ही सिद्धों के आठ गुणों की पूजा है । सम्यक्दृष्टि ज्ञानी ऐसी ही देवपूजा करता है ।

धर्म का सच्चा आचरण करने वाले आचार्य, उपाध्याय होते हैं, जो दश धर्मों का यथाविधि पालन करते हैं, जिससे देवत्व पद पाते हैं, इन दश धर्मों का आचरण करना ही सच्ची देवपूजा है, इसी बात को आगे गाथाओं में कहते हैं -

आचार्य आचरनं धर्मं, तिअर्थं सुद्ध दरसनं ।

उपाय देव उवदेसन कृत्वा, दस लप्पन धर्मं धुवं ॥ ३३७ ॥

सार्धं चेतना भावं, आत्म धर्मं च एकयं ।

आचार्य उपाय देवेन, धर्म सुद्धं च धारिना ॥ ३३८ ॥

ते धर्म सुद्ध दिस्ती च, पूजितं च सदा बुधै ।

उक्तं च जिनदेवं च, श्रूयते भव्य लोकयं ॥ ३३९ ॥

अन्वयार्थ- (आचार्य आचरनं धर्मं) आचार्य धर्म का आचरण करते हैं (तिअर्थं सुद्ध दरसनं) रत्नत्रयमयी शुद्ध आत्मा का दर्शन करते और कराते हैं (उपाय देव उवदेसन कृत्वा) उपाध्याय उपदेश करते हैं (दस लप्पन धर्मं धुवं) दशलक्षण मयी धर्म ही शाश्वत है ।

(सार्धं चेतना भावं) अपने शुद्ध चैतन्य भाव का श्रद्धान और साधना करना ही (आत्म धर्मं च एकयं) एकमात्र आत्म धर्म है (आचार्य उपाय देवेन) आचार्य उपाध्याय (धर्म सुद्धं च धारिना) इसी शुद्ध धर्म को धारण करते और कराते हैं ।

(ते धर्म सुद्ध दिस्ती च) वह धर्म शुद्ध आत्मा का दर्शन ही शुद्ध दृष्टि और (पूजितं च सदा बुधै) ज्ञानियों द्वारा हमेशा आदरणीय और पूज्यनीय है (उक्तं च जिनदेवं च) इसी बात को जिनदेव अरिहंत सर्वज्ञ परमात्मा ने कहा है (श्रूयते भव्य लोकयं) हे भव्य जीवो ! इसे सुनो समझो और पालन करो ।

विशेषार्थ- जो सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मयी निज शुद्धात्मा का दर्शन स्वयं करते हैं और इसी धर्म का आचरण अन्य साधुओं से कराते हैं उनको आचार्य परमेष्ठी कहते हैं, मुख्यता से निश्चय रत्नत्रय की एकता रूप मोक्ष का मार्ग है, निज शुद्धात्मानुभूति करना और कराना ही आचार्य का कार्य है । उपाध्याय परमेष्ठी

उत्तमक्षमा आदि दशधर्मों का स्वयं पालन करते हुए उन्हीं की शिक्षा अन्य साधुओं को देते हैं, उनका काम पढ़ाने शिक्षा देने का है।

दस लक्षण धर्म निम्न प्रकार हैं -

१. उत्तम क्षमा- उत्कृष्ट क्षमा, क्रोध कषाय का अभाव। दूसरों के द्वारा पीड़ित, बध-बन्धन आक्रोशित किये जाने पर किंचित् भी क्रोध का विकार पैदा न होना, पूर्ण शान्त, साम्यभाव में रहना उत्तम क्षमा है। अपने पूर्व कर्म बन्धोदय का विचार करना, पूर्ण शान्त भाव में रहकर कर्मों की निर्जरा करना क्षमा धर्म है। उत्तम क्षमा का प्रमाण श्री यशोधर मुनिराज हैं। आत्मा अरस अरूपी अस्पृशी अविनाशी है, मुझे कोई छू नहीं सकता, मार नहीं सकता इसी भावना से अपने आत्म स्वरूप में लीन रहना उत्तम क्षमा धर्म है।

२. उत्तम मार्दव- उत्कृष्ट सरलता, मान कषाय का अभाव। सर्व साधन सर्वगुण सम्पन्न होते हुए दूसरों द्वारा अपमानित, पीड़ित किये जाने पर भी किंचित् मात्र भी मान कषाय का न आना, सरल साम्यभाव में रहना, मान-अपमान में समता भाव रखना, अपने से श्रेष्ठ गुणीजनों धर्मात्माओं की विनय भक्ति करना उत्तम मार्दव धर्म है। उत्तम मार्दव धर्म का प्रमाण श्री पार्श्वनाथ मुनिराज हैं। आत्मा का न कोई शत्रु होता है, न मित्र होता है, न कोई मान-अपमान होता है। मैं एक अखंड अविनाशी चैतन्य तत्व मात्र ज्ञाता दृष्टा हूँ इस भावना से अपने में विनीत रहना उत्तम मार्दव धर्म है।

३. उत्तम आर्जव- उत्कृष्ट सहजता, माया कषाय का अभाव। अनेक कष्ट पड़ने, भोजन आदि का अलाभ होने पर या कोई उपसर्ग आने पर भी चलायमान न होना, कोई मायाचारी का भाव न आना, अपने दोषों का गुरु से प्रायश्चित लेना, मायाचार रहित शुद्ध आचरण पालना, कुटिलता रूप मन वचन काय की प्रवृत्ति न होना उत्तम आर्जव है। उत्तम आर्जव धर्म का प्रमाण सती शिरोमणि श्री सीताजी हैं। माया (कर्म) संसार है, ब्रह्म (आत्मा) पूर्ण शुद्ध मुक्त है, इस भावना से अपने ब्रह्म स्वरूप में रमण करना उत्तम आर्जव धर्म है।

४. उत्तम शौच- उत्कृष्ट शुचिता, पवित्रता, लोभ कषाय का अभाव। किसी भी प्रकार की कामना वासना का न रहना, समस्त पाप-परिग्रह से विरक्त अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप में स्थित रहना उत्तम शौच है। उत्तम शौच धर्म का प्रमाण श्री सुकुमाल स्वामी हैं। आत्मा अपने में पूर्ण पवित्र है, इसका पर से कोई सम्बन्ध है ही

नहीं इस भावना से अपने में स्वस्थ स्थिर रहना उत्तम शौच धर्म है।

५. उत्तम सत्य- वस्तु स्वरूप का यथार्थ निर्णय होना, अपने में निर्विकारी न्यारे ज्ञायक रहना। अपना सत् स्वरूप ही सत्य है, शेष जगत का परिणमन असत्, परिवर्तनशील, नाशवान है इस प्रकार सत्य का पूर्ण श्रद्धान होना उत्तम सत्य है। उत्तम सत्य धर्म का प्रमाण श्री सनतकुमार चक्रवर्ती हैं। आत्मा सत् स्वरूप ही है, ऐसे अपने सत् स्वरूप में स्थित रहना उत्तम सत्य धर्म है।

६. उत्तम संयम- हमेशा अपने में स्वस्थ सावधान होश में रहना, अपनी सुरत रखना। पाँचों इन्द्रिय और मन के चक्कर में नहीं फँसना, विषयों से विरक्त रहना, छहों काय के जीवों के प्रति दया करुणा भाव होना, उनकी रक्षा करना और अपने में आत्मस्थ प्रसन्न रहना उत्तम संयम है। उत्तम संयम धर्म का प्रमाण श्री वर्द्धमान महावीर स्वामी हैं। अपनी आत्मा की विषय विकारों से रक्षा करना, अपने आत्म स्वरूप में स्वस्थ सावधान रहना ही उत्तम संयम धर्म है।

७. उत्तम तप- अपने आत्म स्वभाव में लीन रहना, उत्तम तप है। बारह प्रकार के तपों का पालन करते हुए उपसर्ग परीषहों को जीतना, कभी भी किसी दशा में आकुल-व्याकुल, दुःखी न होना, विकल्पों में न उलझना, निर्विकल्प रहना ही उत्तम तप है। उत्तम तप धर्म का प्रमाण श्री कुन्दकुन्दाचार्य हैं। स्वरूप विश्रान्ति का नाम ही उत्तम तप धर्म है।

८. उत्तम त्याग- मोह, राग-द्वेष को छोड़ देना ही उत्तम त्याग है। अपनी आत्मा को सम्यक्ज्ञानी बनाना ज्ञानदान है। अतृप्त तृषित आत्मा को धर्माभूत पान कराना आहारदान है। अनादि अज्ञान मिथ्यात्व महारोग से छुड़ाना सम्यक्दर्शन रूपी औषधि देना औषधि दान है। भयभीत कर्मों से व्याकुल आत्मा को परमात्म स्वरूप बताकर अभय बनाना अभय दान है। संयोगी पदार्थों का सत्पात्रों की आवश्यकता पूर्ति हेतु दान देना व्यवहार दान है। उत्तम त्याग धर्म का प्रमाण श्री बाहुबली स्वामी हैं। समस्त संकल्प-विकल्पों का त्यागकर निर्विकल्प निजानंद में रहना उत्तम त्याग धर्म है।

९. उत्तम आकिंचन्य- इस जगत में परमाणु भी अपना नहीं है, एक समय की चलने वाली पर्याय भी मेरी नहीं है। मैं ध्रुव तत्व मात्र हूँ, ऐसी भावना भाते हुए अन्तरंग रागादि, बहिरंग क्षेत्रादि परिग्रह से निर्ममत्व रहना, केवल अपने शुद्धात्म स्वरूप को ध्याना, निज स्वभाव में लीन रहना ही उत्तम आकिंचन्य धर्म है। उत्तम

आकिंचन्य धर्म का प्रमाण श्री नमिनाथ स्वामी हैं।

१०. उत्तम ब्रह्मचर्य – समस्त अब्रह्म से विरक्त होकर अपने ब्रह्म स्वरूप में रमण करना उत्तम ब्रह्मचर्य है। उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म का प्रमाण श्री जम्बूस्वामी हैं।

यह दश धर्म व्यवहार से दश भेद रूप हैं, निश्चय से सर्व एक आत्मा रूप ही हैं। जहाँ आत्मा की स्थिरता अपने स्वभाव में हुई, वहाँ क्रोधादि कषायों का विकार न होने से क्षमा मार्दव आर्जव शौच आदि स्वयं हो जाते हैं। सत्य पदार्थ एक आत्मा ही है, उसमें स्थिरता ही उत्तम सत्य है। आत्मा में संयम रूप रहना संयम, उसी में तपना तप है। स्वयं अतीन्द्रिय आनंद में रहना त्याग है। पर से ममत्व न होना आकिंचन्य तथा अपने ब्रह्मस्वरूप में रमना जमना ही ब्रह्मचर्य है। इन दश धर्मों का एकदेश पालन गृहस्थ श्रावक भी करते हैं। पूर्ण साधन साधु ही कर सकते हैं। इस प्रकार व्यवहार नय से भेदरूप धर्म का पालन संसारी सभी जीव करते हैं परन्तु निश्चय से आचार्य और उपाध्याय शुद्ध ज्ञान चेतनामयी एक आत्मधर्म का ही आराधन करते हैं व कराते हैं। यदि किसी आचार्य और उपाध्याय का ध्यान मात्र व्यवहार धर्म के प्रवर्तने पर हो, निश्चय धर्म के चलने पर न हो तो वे यथार्थ आचार्य उपाध्याय परमेष्ठी नहीं हो सकते। ज्ञानी जानते हैं कि साध्य के अनुसार ही साधन होना चाहिये। साध्य निज शद्धात्म तत्व है, इसके अतिरिक्त जो अन्य भेद रूप धर्माचरण है, वह आत्मध्यान के लिये निमित्त मात्र है। इस तत्व को सामने रखते हुए आचार्य उपाध्याय जिस तरह साध्य की सिद्धि हो उसी का स्वयं पालन आचरण करते हैं तथा अन्य शिष्यों से कराते हैं, अन्तरंग धर्म की दृष्टि करने पर ही इन दोनों परमेष्ठियों का ध्यान रहता है क्योंकि कर्म की निर्जरा का मुख्य कारण शुद्धात्मा का ध्यान है। आचार्य उपाध्याय जब तक अपने पदों पर हैं तब तक धर्म ध्यान ही होता है। शुक्ल ध्यान श्रेणी माड़ने के लिये इन पदों को त्यागकर साधु पद में आना पड़ता है तभी आगे बढ़ सकते हैं।

ज्ञानी सम्यक्दृष्टि इस बात को जानते हैं और हमेशा अपने आत्म स्वरूप की साधना- आराधना में रत रहते हैं। यही सत्य धर्म है जो पूज्यनीय है, इसी बात को जिनेन्द्र परमात्मा ने कहा है, जो भव्य जीव ऐसे धर्म के स्वरूप को सुनते समझते जानते मानते हैं वही सच्ची पूजा करते हैं, जो देवत्व पद प्रदान करती है।

निश्चय धर्म निज शुद्धात्मा का अनुभव वही है जो वचन व मन से अगोचर है। आत्मा का आत्मा में ही स्थिर होना यही सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र

है, इसी धर्म की जगत में गणधरादि संतों द्वारा पूजा की जाती है, उन्होंने इसी रत्नत्रय धर्म का उपदेश दिया है, इसको सुनकर भव्य जीव आनंद मगन हो जाता है।

जब तक आत्मज्ञान न होगा, तब तक शास्त्रों का ज्ञान उपकारी नहीं होगा। सर्व शास्त्रों का सार अध्यात्म है, सब विद्याओं में श्रेष्ठ अध्यात्म विद्या है। सर्व कलाओं में उत्तम आत्मानुभव की कला है इसलिये जो इसकी साधना-आराधना करते हैं, वही सच्चे साधक पुजारी हैं।

आगे साधक और साधु रत्नत्रय की साधना-आराधना पूजा करते हैं क्योंकि रत्नत्रय ही देव है अर्थात् रत्नत्रयमयी आत्मा ही परमात्मा है और इसकी आराधना पूजा करने से देवत्व पद मिलता है, इसी बात को आगे गाथाओं में कहते हैं-

साधओ साधु लोकस्य, दर्शनं न्यान संजुतं।

चारित्रं आचरणं जेन, उदयं अवहिं संजुतं ॥ ३४० ॥

ऊर्ध्व आर्ध मध्यं च, दिष्टितं संमिक दरसनं।

न्यान मयं च सर्वन्यं, आचरणं संजुतं ध्रुवं ॥ ३४१ ॥

साधु गुणस्य संपूर्णं, रत्नत्रयं लंकृतं।

भव्य लोकस्य जीवस्य, रत्नत्रयं पूजितं ॥ ३४२ ॥

अन्वयार्थ- (साधओ साधु लोकस्य) लोक के साधक और साधु (दर्शनं न्यान संजुतं) सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान सहित (चारित्रं आचरणं जेन) जो सम्यक्त्वाचरण और संयमाचरण का पालन करते हैं (उदयं अवहिं संजुतं) उनको अवधिज्ञान का उदय हो जाता है, अवधिज्ञान सहित वे (ऊर्ध्व आर्ध मध्यं च) ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक तीनों लोक में (दिष्टितं संमिक दरसनं) एक आत्म स्वरूप सम्यक्दर्शन को ही देखते हैं (न्यान मयं च सर्वन्यं) और ज्ञान में अपने सर्वज्ञ स्वरूप को देखते हैं (आचरणं संजुतं ध्रुवं) और आचरण में अपने ध्रुव स्वभाव में लीन रहते हैं।

(साधु गुणस्य संपूर्णं) यही साधु के सम्पूर्ण गुण हैं (रत्नत्रयं लंकृतं) जो रत्नत्रय सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान सम्यक्चारित्र से अलंकृत शोभायमान रहते हैं (भव्य लोकस्य जीवस्य) इसलिये लोक के भव्य जीवों को (रत्नत्रयं पूजितं) रत्नत्रय ही पूजने योग्य है।

विशेषार्थ- यहाँ शुद्ध षट्कर्म में शुद्ध देवपूजा के स्वरूप का वर्णन चल रहा

है, देवत्व पद पाना ही पूजा का प्रयोजन है, इसके लिये जैनदर्शन में पाँच परम इष्ट पद बताये गये हैं, जिनके माध्यम से प्रत्येक भव्य जीव, आत्मा से परमात्मा बन सकता है, इसका प्रारंभ संसारी जीव की अपेक्षा साधु पद से उपाध्याय, आचार्य पद से अरिहंत सर्वज्ञ परमात्मा होते हुए परिपूर्ण शुद्ध सिद्ध परमात्मा होते हैं, जो शाश्वत पद है।

इस साधना में सोलह कारण भावना से अरिहंत तीर्थंकर पद मिलता है और आठों कर्मों का क्षय होने पर आत्मा के पूर्ण शुद्ध गुण प्रगट होते हैं, जो सिद्ध परमात्मा के शाश्वत गुण हैं, जिनके प्रगट होने पर सिद्ध पद होता है, इनका आराधन करना ही सिद्ध पद पाने की विधि है। धर्म का आचरण करने, कराने वाले आचार्य और उपाध्याय होते हैं, जो दश धर्मों का पालन करते और कराते हैं। जिससे आत्मा परम पवित्र होता है। इसका पूर्व में वर्णन किया गया है। यहाँ साधु के तीन गुण रत्नत्रय के स्वरूप का विवेचन किया जा रहा है, जिससे साधु पद होता है। इन गुणों को इष्ट उपादेय मानकर इनकी साधना-आराधना करने से यह पद स्वयं में प्रगट होते जाते हैं, यही सच्ची देवपूजा की विधि है क्योंकि पूज्य के समान आचरण करके स्वयं पूज्य बन जाना ही सच्ची पूजा है।

यहाँ साधक और साधु जो सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान से संयुक्त होते हैं अर्थात् जो सम्यक्दृष्टि सम्यक्ज्ञानी होते हैं और जो सम्यक्त्वाचरण चारित्र का पालन करते हैं, उनको अवधिज्ञान का उदय हो जाता है जिससे उन्हें अपने तथा पर के पूर्व भवों का ज्ञान हो जाता है और वह जान लेते हैं कि इस जीव ने चारों गतियों में कैसे-कैसे दुःख भोगे हैं। कैसे कर्मों का बंध किया और भोगा है। अब वह ज्ञानी निरन्तर अपने आत्म स्वरूप को ही देखते हैं। सम्यक्दर्शन का हमेशा आराधन करते हैं, सिद्ध समान अपने शुद्धात्मा को देखते हैं, सम्यक्ज्ञान में केवलज्ञानमयी सर्वज्ञ स्वरूप को जानते हैं और सम्यक्चारित्र में अपने ध्रुव स्वभाव में लीन रहते हैं। इस प्रकार रत्नत्रय की साधना-आराधना में रत रहना अर्थात् अपने शुद्धात्मा का श्रद्धान अनुभूति करना, शुद्धात्मा का ज्ञान करना और शुद्धात्मा में लीन रहना ही साधु के सच्चे सम्पूर्ण गुण हैं।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि साधु के तो अट्ठाईस मूलगुण होते हैं, उनका पालन करने वाला ही सच्चा साधु होता है। यहाँ यह तीन गुण रत्नत्रय ही, साधु के सच्चे सम्पूर्ण गुण कहना ठीक नहीं है ?

उसका समाधान करते हैं कि जो रत्नत्रय का साधन करे उसको साधु कहते हैं, इसमें मुख्यता सम्यक्दर्शन सहित सम्यक्ज्ञान सम्यक्चारित्र की है। पाँच महाव्रत, पाँच समिति तथा तीन गुप्ति रूप तेरह प्रकार या अट्ठाईस मूलगुण रूप चारित्र साधु जन भले भाव से पालते हैं किन्तु यदि कोई साधु मात्र व्यवहार रत्नत्रय पाले और निश्चय रत्नत्रयमयी शुद्धात्मानुभव न पावे तो वह साधु पूज्य नहीं है, वह मात्र द्रव्यलिंगी साधु मिथ्यादृष्टि है। भावलिंग सहित ही द्रव्यलिंग की शोभा है। भावलिंग बिना द्रव्यलिंग केवल पुण्य बंध का कारण है, मोक्ष का कारण नहीं है, अतः रत्नत्रय सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ही देवत्व पद, मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र कारण है। जिसमें यह तीन गुण सम्पूर्ण होते हैं, उसके अट्ठाईस मूलगुण तेरहविधि चारित्र तो स्वयं ही पलता है क्योंकि यह सब बाह्य क्रियायें हैं, जो शरीरादि मन के द्वारा की जाती हैं, इनसे आत्मा का भला नहीं होता क्योंकि -

मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।

पै निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो ॥

इसलिये क्रोध करना, मान, माया, लोभ के वश रहना, राग-द्वेष रूप परिणाम करना, इच्छाओं के आधीन होकर सांसारिक विषयों में, पापों में प्रवृत्ति करना, सच्चे साधु का स्वभाव नहीं हो सकता। क्षमा, दया, धैर्य, अन्तरंग की शुद्धि, प्रलोभनों का अभाव, तिल तुष मात्र परिग्रह से रहित, परमज्ञानी भेदविज्ञान के मर्मज्ञ ही सच्चे साधु हो सकते हैं।

चारों गतियों के जन्म-मरण का दुःख सम्यक्दर्शन की प्राप्ति के बिना दूर नहीं हो सकता। यह सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र ही सांसारिक दुःखों से छुड़ाकर मोक्षरूपी सुख दे सकता है।

आत्मिक दृढ़ आस्था के बिना कोई भी व्यक्ति निर्भय नहीं हो सकता, जैसे - वीरता बिना सैनिक, नाक के बिना सुन्दर मुख, मुद्रिका के बिना अंगुली, सुन्दर अंगुलियों के बिना हाथ, तेल बिना दीपक, अपना काम सुचारु रूप से नहीं कर सकते उसी प्रकार सम्यक्दर्शन धारण किये बिना धर्म का पालन नहीं हो सकता। जैसे- सामर्थ्य बिना सुंदर शरीर, दरवाजे बिना सुंदर महल तथा चहार दीवारी के बिना बगीचा या दुर्ग सुरक्षित और व्यवस्थित नहीं माना जा सकता। जैसे- भोजन बिना शरीर, वस्त्र बिना आभूषण, सौंदर्य बिना युवावस्था, कमल बिना तालाब, धान बिना खेत, सेना बिना राजा, अपनी स्थिति संसार में सम्यक् प्रकार कायम नहीं रख

सकते, उसी प्रकार रत्नत्रय सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र बिना साधु कायम नहीं रह सकता और रत्नत्रय के बिना आत्म कल्याण संभव नहीं है इसलिये भव्य जीवों को रत्नत्रय ही पूजने योग्य है, जो रत्नत्रय की पूजा अर्थात् अपने जीवन में रत्नत्रय धारण करते हैं, वही सच्ची देवपूजा करते हैं; क्योंकि रत्नत्रय, सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का नाम ही देव है अतः इन तीनों गुणों से विशिष्ट जो जीव हैं वह देव हैं इसलिये यह पाँच पद परम इष्ट माने गये हैं।

इन पाँच पदों की साधना करने और इन गुणों की उपासना करने का अधिकारी कौन जीव होता है, उसकी पात्रता और विशेषता क्या होती है ?

यह प्रश्न करने पर सद्गुरु तारण स्वामी आगे उस जीव की पात्रता और विशेषता का वर्णन करते हैं जिसमें सबसे पहले सम्यक्त्व के आठ अंग होते हैं, वही पात्र जीव इसकी साधना पूजा का अधिकारी होता है और उसकी विशेषता ज्ञान के आठ अंगों का पालन करना, चार अनुयोगों का सम्यक्श्रद्धान होना और तेरह प्रकार के चारित्र का पालन करना इसका विवेचन आगे की गाथाओं में किया जा रहा है-

देव गुणं पूज सार्धं च, अंगं संमिक्त सुद्धये ।

सार्धं न्यान मयं सुद्धं, संमिक्त दरसन उत्तमं ॥ ३४३ ॥

अन्वयार्थ- (देव गुणं पूज सार्धं च) देव के गुणों की पूजा और साधना करने वाले को (अंगं संमिक्त सुद्धये) सम्यक्त्व के आठ अंगों से शुद्ध होना चाहिये (सार्धं न्यान मयं सुद्धं) जो अपने ज्ञानमयी शुद्ध स्वभाव का श्रद्धानी है (संमिक्त दरसन उत्तमं) वही उत्तम अर्थात् निश्चय सम्यक्दर्शन वाला पात्र जीव है।

विशेषार्थ- यहाँ सच्ची देवपूजा अर्थात् देवत्व पद प्राप्ति के गुणों का आराधन धारण करने वाले जीव की पात्रता को बताया जा रहा है। देव के गुणों की पूजा और साधना करने वाले को सम्यक्त्व के आठ गुणों से शुद्ध होना चाहिये, जो अपने ज्ञानमयी शुद्ध स्वभाव का श्रद्धानी, शुद्धात्मानुभूति करने वाला है वही उत्तम सम्यक्दर्शन वाला पात्र जीव है।

सम्यक्दर्शन होने पर यह आठ अंग अपने आप प्रगट होते हैं।

१. निःशंकित, २. निःकांक्षित, ३. निर्विचिकित्सा, ४. अमूढ दृष्टि, ५. उपगूहन, ६. स्थितिकरण, ७. वात्सल्य, ८. प्रभावना।

१. निःशंकित अंग- आत्मा के त्रिकाली स्वभाव की श्रद्धा ही निःशंकित अंग

है। शंका से भय का जन्म होता है। सात भय मिथ्यादृष्टि को होते हैं- १. इहलोक भय, २. परलोक भय, ३. वेदना भय, ४. अरक्षा भय, ५. अगुप्ति भय (चोर भय), ६. मरण भय, ७. अकस्मात् भय। सम्यक्दृष्टि इन सात भयों से रहित होता है। शंका या भय रहित होकर दृढ़ता पूर्वक आत्म स्वरूप का श्रद्धान होना निःशंकित अंग है, ऐसी निर्भयता में हेतुभूत उसका जिनशासन (वस्तु की स्वतंत्रता) का दृढ़ श्रद्धान ही है। सच्चे देव गुरु शास्त्र का यथार्थ स्वरूप सहित दृढ़ श्रद्धान करना व्यवहार निःशंकित अंग है।

२. निःकांक्षित अंग - जिसे आत्मीय अमृत रस का स्वाद आ गया है, वह अन्य रस का आकांक्षी नहीं होता, अतः सम्यक्दृष्टि संपूर्ण सांसारिक आकांक्षाओं से रहित आत्मा के अतीन्द्रिय आनंद का भोक्ता है। यही परमार्थ से उसका निःकांक्षित अंग है। व्यवहार से आत्मभिन्न पदार्थों में उसका ऐसा विश्वास है कि उनका संयोग कर्माधीन है, नाशवान संयोग में सुख नहीं है, सुखाभास है। वह सुखाभास भी दुःखों से मिश्रित है, एकान्त सुख का भी आभास उसमें नहीं होता। उन सांसारिक सुख भोगों में रागादि कषायों का आलम्बन रहने से वे पाप बंध के कारण बनते हैं, जिनका फल अत्यन्त दुःख है, ऐसे दुःखान्त फल वाले सांसारिक सुख की उसे किंचित् भी वांछा नहीं होती, यह निःकांक्षित अंग का व्यवहारिक रूप है, यही उसके अनन्तानुबंधी राग का अभाव या वीतराग भाव है।

३. निर्विचिकित्सा अंग - जो वस्तु को उसके स्वरूप से देखता है उसे किसी से घृणा ग्लानि नहीं होती, उसे धर्म में प्रीति होती है, ज्ञानी को अपने स्वरूप प्रवर्तन में दृढ़ रुचि है, यही उसका निर्विचिकित्सा अंग है। वह अन्य धर्मात्माजनों की सेवा करता है, साधुओं की वैयावृत्ति करता है, यही उसका व्यवहारिक रूप है। उनकी सेवा में शारीरिक मलादि के कारण उसे घृणा नहीं होती, शरीर का स्वभाव सड़न-गलन रूप है, चाहे अपना हो या अन्य साधु का हो उससे घृणा कैसी ? अतः व्यवहारिक रूप में धर्मात्माओं से प्रीति करता हुआ सेवा करता है यह निर्विचिकित्सा अंग है, यही द्वेष का अभाव है।

४. अमूढ दृष्टि अंग- सम्यक्दृष्टि के निजात्म तत्व से भिन्न सभी पंचेन्द्रिय विषयों पर मोहभाव नहीं है, यही उसकी मोह, (मूढ़ता) रहित दृष्टि है, अपने निश्चय दर्शन ज्ञान चारित्र स्वभाव में रुचि है यही उसका पारमार्थिक रूप है। जहाँ श्रद्धान में समस्त पर पदार्थों में मोह का अभाव है यही अमूढ दृष्टि अंग है, मिथ्यामार्ग और

मिथ्यामार्गियों की सराहना मन, वचन, काय से न करना ही व्यवहार अमूढ दृष्टि अंग है। सम्यक्त्व के इन आठ अंगों में प्रथम निःशंकित अंग से आत्मा की अखंड श्रद्धा के रूप में जीव को अपना यथार्थ स्वरूप प्राप्त होता है। दूसरे निःकांक्षित अंग से विषयों के प्रति अनाकांक्षा हो जाने से तद्विषयक राग का अभाव होता है। तीसरे निर्विचिकित्सा अंग से अनिष्ट पदार्थों के प्रति घृणा या तिरस्कार का परिहार होने से तद्विषयक द्वेष का अभाव हो जाता है। चौथे अमूढ दृष्टि अंग के द्वारा गृहीत मिथ्यात्व के साधनों का परिहार हो जाने से उसमें मोह भाव का अभाव हो जाता है, इस प्रकार ज्ञानी के राग-द्वेष, मोह का अभाव इन अंगों से स्पष्ट लक्षित हो जाता है। इन चार अंगों की साधना से सम्यक्दृष्टि जीव का आंतरिक व्यक्तित्व संस्कारित हो जाता है। अन्य जीवों के प्रति उसका व्यवहार शेष चार अंगों के द्वारा परिष्कृत होता है।

५. उपगूहन अंग- जो अपने संपूर्ण गुणों को अपने भीतर सुरक्षित रखे। उपगूहन छिपाने को कहते हैं, ज्ञानी अपने गुणों को बाहरी विकारी भावों की हवा भी नहीं लगने देता, अपने भीतर अन्तर गर्भग्रह में ही छिपाकर रखता है यही परमार्थतः उपगूहन है। उपगूहन का दूसरा नाम उपवृंहण है, जिसका अर्थ बढ़ाना है, ज्ञानी अपने गुणों की निरन्तर वृद्धि करता है यही उसका उपवृंहण नाम का वास्तविक गुण है।

व्यवहारतः उपगूहन का अर्थ इस प्रकार है कि धर्मात्मा गुणी पुरुषों में यदि कदाचित् कोई दोष दिखाई दे जाये, तो उसका प्रचार-प्रसार नहीं करना, बल्कि उनमें वह दोष दूर हो तथा गुण बढ़े, ऐसी सहायता करना।

६. स्थितिकरण अंग - अपने स्वरूप में स्थित रहना ही स्थितिकरण अंग है। स्वाश्रय छोड़कर पराश्रय करना ही विचलित होना है, स्वयं अपने ज्ञायक स्वभाव से विचलित न होकर उसी में स्थिर रहना ही निश्चय से स्थितिकरण अंग है। धर्म, धर्मात्मा के आश्रय से ही चलता है, धर्मात्मा के अपवाद से धर्म का अपवाद हो जाता है अतः धर्म के मार्ग को पवित्र बनाये रखने के लिये धर्मात्मा का स्थितिकरण आवश्यक है। उपगूहन अंग की पूर्ति स्थितिकरण अंग से ही होती है, यह उसका व्यवहारिक रूप है।

७. वात्सल्य अंग- अपने सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र गुणों की प्राप्ति के प्रति अनुराग होना वात्सल्य अंग है। व्यवहार में वत्स बालक को कहते हैं। बालक के प्रति किसी को द्वेष नहीं होता, न उसका कोई अपवाद करता है, उसके गुण प्रगट हों इस

अभिप्राय से उसे बढ़ावा ही दिया जाता है। इसी प्रकार धर्मी धर्मात्मा के प्रति द्वेष न हो, उसका अपवाद न हो, उसमें गुण प्रगट हों, इसलिये सम्यक्त्वी उसे बढ़ावा ही देते हैं यही वात्सल्य अंग है।

८. प्रभावना अंग- अपनी आत्मा में दिन-दिन रत्नत्रय के तेज को बढ़ाते जाना, यह आत्म प्रभावना ही निश्चय से प्रभावना अंग है। बाह्य प्रभावना के रूप में दया, दान परोपकार करना, संयमित जीवन बनाना, धार्मिक कार्यों को उत्साहपूर्वक करना, प्रत्येक कार्य विवेकपूर्ण हो, धर्म की अभिवृद्धि कारक हो, स्वयं को प्रभावित करे तथा दूसरों को भी प्रभावित करे वह प्रभावना अंग है।

इस प्रकार शुद्ध सम्यक्त्व निज शुद्धात्मानुभूति सहित आठों अंगों का सही पालन करने वाला पात्र जीव होता है, जो क्रमशः ज्ञान का विकास करता हुआ सम्यक्त्वाचरण सहित संयमाचरण का पालन करता है, जिससे साधु पद से सिद्ध पद पाता है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि यह आठ अंग सम्यक्दर्शन होने पर होते हैं तो क्रमशः होते हैं या एक साथ होते हैं, कम-बढ़ या शुद्ध-अशुद्ध भी हो सकते हैं, और इनसे लाभ क्या है ?

उसका समाधान करते हैं कि जैसे काठ के आठ टुकड़ों के संयोग को खाट कहते हैं। इसी प्रकार इन आठ गुणों के समुदाय रूप में सामान्य संज्ञा सम्यक्त्व है ; अतएव यह सम्यक्दर्शन के आठ अंग हैं, ऐसा कहा जाता है। यह एक साथ होते हैं, निश्चय सम्यक्दर्शन पूर्वक जो अंग हैं, वह शुद्ध होते हैं, मात्र व्यवहार से पालन करना अशुद्ध कहलाते हैं। जिसे सम्यक्दर्शन प्रगट होने से अपने ज्ञानानंद स्वभाव पर दृष्टि आई है, वह जीव उक्त आठ अंगों से सम्पन्न होकर पर से दृष्टि हटाकर स्वयं ज्ञान के रसास्वाद में विभोर होकर नृत्य करता है, इससे उसे ज्ञानभाव के कारण नवीन कर्मों का संवर होता है तथा पूर्वबद्ध कर्म उदय में आकर निर्जरा को प्राप्त हो जाते हैं।

अब सम्यक्त्व के आठ अंगों सहित पात्र जीव ज्ञान के आठ अंगों की आराधना करता है, इससे ज्ञान की शुद्धि और विकाश होता है, इसी बात को आगे गाथाओं में कहते हैं-

न्यानं च न्यानं सुद्धं च, सुद्धं तत्त्व प्रकासकं ।

न्यानं मयं च संसुद्धं, न्यानं सर्वन्य लोकितां ॥ ३४४ ॥

न्यानं आराधते जेन, पूजा तत्र च विंदते ।

सुद्धस्य पूज्यते लोके, न्यानं मयं सार्धं ध्रुवं ॥ ३४५ ॥

अन्वयार्थ- (न्यानं च न्यानं सुद्धं च) ज्ञान का आठ अंगों सहित पालन करने से ज्ञान की शुद्धि होती है (सुद्ध तत्त्व प्रकासकं) जिससे शुद्धात्मा का प्रकाश होने लगता है (न्यानं मयं च संसुद्धं) ज्ञानमय रहने से परम शुद्ध (न्यानं सर्वन्य लोकितां) केवलज्ञान सर्वज्ञता प्रगट हो जाती है, जिससे एक समय में तीन लोक तीन काल के समस्त द्रव्य उनके गुण पर्याय सहित दिखाई देते हैं ।

(न्यानं आराधते जेन) जो ऐसे ज्ञान की आराधना करते हैं (पूजा तत्र च विंदते) वही सच्ची पूजा और अनुभूति करते हैं (सुद्धस्य पूज्यते लोके) यही शुद्ध ज्ञान की लोक में पूजा होती है (न्यानं मयं सार्धं ध्रुवं) इसलिये अपने ज्ञानमयी ध्रुव स्वभाव की साधना करो ।

विशेषार्थ- यहाँ बताया जा रहा है कि ज्ञान के आठ अंगों का पालन करने से ज्ञान की शुद्धि होती है । ज्ञान के आठ अंग- १. व्यंजनाचार, २. अर्थाचार, ३. उभयाचार, ४. कालाचार, ५. विनयाचार, ६. उपधानाचार, ७. बहुमानाचार, ८. अनिह्वाचार-जिनका स्वरूप निम्न प्रकार है -

१. व्यंजनाचार- शब्द शास्त्र (व्याकरण) के अनुसार अक्षर, पद, वाक्य का यत्न पूर्वक शुद्ध पठन-पाठन करने को व्यंजनाचार कहते हैं । व्यंजनाचार, श्रुताचार, अक्षराचार, ग्रन्थाचार आदि सब एकार्थवाची हैं । निश्चय से अपने आत्म स्वरूप को यथार्थ जानना ।

२. अर्थाचार- यथार्थ शुद्ध अर्थ के अवधारण को अर्थाचार कहते हैं । निश्चय से जैसा अपने आत्म स्वरूप को जाना है, वैसा ही अवधारण (स्वीकार) करना ।

३. उभयाचार- शब्द और अर्थ दोनों से शुद्ध पठन-पाठन करने को उभयाचार कहते हैं । निश्चय से जैसा अपना आत्म स्वरूप जाना है, वैसा ही मानना इसमें संशय नहीं होना ।

४. कालाचार- सामायिक ध्यान करने के समय संधिकाल में पठन-पाठन स्वाध्याय नहीं करना कालाचार है । निश्चय से हमेशा अपने स्वरूप का चिन्तन मनन ध्यान करना ।

५. विनयाचार- शुद्ध जल से हाथ पैर धोकर शुद्ध स्थान में पर्यकासन से

बैठकर विनय पूर्वक शास्त्राध्ययन करना । निश्चय से अपने स्वरूप का अध्ययन करना, शुद्ध भावों की संभाल रखना ।

६. उपधानाचार- उपधान सहित आराधन करना अर्थात् विस्मृत न होवे इसे उपधानाचार कहते हैं । निश्चय से अपने स्वरूप की निरन्तर स्मृति रखना, विस्मृत न होवे ।

७. बहुमानाचार- ज्ञान पुस्तक और शिक्षक का पूर्ण आदर करना बहुमानाचार है । निश्चय से अपने शुद्धात्म स्वरूप परमात्म पद का बहुमान करना ।

८. अनिह्वाचार- जिस गुरु से, जिस शास्त्र से ज्ञान मिला हो, उसको न छुपाना, अनिह्वाचार है । निश्चय से अपने ज्ञानभाव को न छिपाना, न दबाना, हमेशा ज्ञानभाव को जाग्रत रखना ।

इस प्रकार ज्ञान की शुद्धि होने से अपने शुद्धात्म तत्त्व का प्रकाश हो जाता है और हमेशा ज्ञानभाव में रहने से परम शुद्ध केवलज्ञान प्रगट हो जाता है । जिसमें तीनों लोक के त्रिकाली पदार्थ अपने द्रव्य गुण पर्याय सहित स्पष्ट झलकने लगते हैं ऐसी सर्वज्ञता प्रगट हो जाती है । जो ऐसे सम्यक्ज्ञान की आराधना तथा ज्ञान स्वभाव की साधना- आराधना और ज्ञानभाव में रहने का पुरुषार्थ करते हैं यही सच्ची देवपूजा की विधि है क्योंकि यह ज्ञान की शुद्धि, केवलज्ञान प्रगट कराती है, जो लोक में पूज्यनीय है । अपने ज्ञानमयी ध्रुवस्वभाव की साधना ही सच्ची देवपूजा है । यहाँ यह बताया है कि सम्यक्ज्ञान की आराधना परम कार्यकारी है, शुद्ध आत्मा के प्रकाश के लिये, कर्मों के आवरण को हटाने के लिये, शुद्ध आत्म ज्ञान का अनुभव मनन चिन्तन परम आवश्यक है ।

इसी बात को समयसार कलश में श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं -

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्न धारया ।

तावद्यावत्पराच्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥ १३० ॥

जब तक पर परिणति से छूटकर ज्ञान, ज्ञान में स्थिरता न पाले अर्थात् जब तक केवलज्ञान न हो तब तक बराबर भेदविज्ञान की भावना करते रहो अर्थात् अपने आत्मा को सर्व परभाव, पर द्रव्य व कर्म जनित नैमित्तिक भावों से जुदा अनुभव करते रहो । इस ज्ञानभाव की शुद्धि, दृढ़ता और स्थिरता के लिये जिनवाणी का अभ्यास परम आवश्यक निमित्त कारण है । सम्यक्ज्ञान की आराधना से सम्यक्ज्ञान का प्रकाश होता है और यही केवलज्ञान का कारण है । सर्वज्ञता सर्वदर्शीपना आत्मा का

मुख्य गुण है अतएव सम्यक्ज्ञान की आराधना नित्य करनी चाहिये। इसके लिये शास्त्रों का अभ्यास आवश्यक है। जिनवाणी चार अनुयोगमयी है, इन चार अनुयोगों का ज्ञान श्रद्धान ही सच्ची शास्त्र श्रुतपूजा है।

इन चार अनुयोगों के स्वरूप का वर्णन आगे की गाथाओं में करते हैं -

न्यानं गुनं च चत्वारि, श्रुतपूजा सदा बुधै ।

धर्म ध्यानं च संजुक्तं, श्रुतपूजा विधीयते ॥ ३४६ ॥

प्रथमानुयोग करनानं, चरनं द्रव्यानि विंदते ।

न्यानं तिअर्थ संपूर्णं, सार्धं पूजा सदा बुधै ॥ ३४७ ॥

अन्वयार्थ- (न्यानं गुनं च चत्वारि) ज्ञान गुण को बढ़ाने वाले चार अनुयोग हैं (श्रुतपूजा सदा बुधै) इन शास्त्रों की पूजा अर्थात् स्वाध्याय मनन हमेशा बुद्धिमानों को करना चाहिये (धर्म ध्यानं च संजुक्तं) धर्म ध्यान में लीन हो जाना ही (श्रुतपूजा विधीयते) श्रुतपूजा की विधि है।

(प्रथमानुयोग करनानं) प्रथमानुयोग, करणानुयोग (चरनं द्रव्यानि विंदते) चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग ऐसे चार प्रकार शास्त्र जानना (न्यानं तिअर्थ संपूर्णं) जिनमें अपने रत्नत्रयरूपी आत्मा का संपूर्ण ज्ञान भरा हुआ है (सार्धं पूजा सदा बुधै) इसका श्रद्धान करना ही ज्ञानी की शाश्वत पूजा है।

विशेषार्थ- ज्ञान गुण के विकाश के लिये चार अनुयोग जिनवाणी रूप हैं, इनका स्वाध्याय मनन कर अपने ज्ञानभाव को स्थिर करना ही शास्त्र पूजा है, जो ज्ञानी हमेशा करते हैं। इन शास्त्रों के पढ़ने से ज्ञान की वृद्धि होती है; अतएव किसी प्रकार की लौकिक कामना, वासना न रखकर मात्र आत्म कल्याण के हेतु इन शास्त्रों का पठन-पाठन करना और अपने आत्म स्वभाव में लीन हो जाना ही श्रुतपूजा की विधि है।

शास्त्र की पूजा अर्थात् श्रद्धा भक्ति पूर्वक स्वाध्याय करने से मन के कुभाव बंद हो जाते हैं, चिंतायें मिट जाती हैं, अज्ञान का नाश हो जाता है, ज्ञान का प्रकाश होता है, कर्मों की निर्जरा होती है। पाप, विषय-कषायों से बचाने वाला ही श्रुतज्ञान है। आत्मा-अनात्मा का भेदज्ञान कराने वाला शास्त्र का अभ्यास है। जिनवाणी के प्रति अटूट श्रद्धा भक्ति रखते हुए धर्म ध्यान में लीन होना सच्ची श्रुतपूजा है।

१. प्रथमानुयोग- इसमें २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९

प्रतिनारायण, ९ बलभद्र त्रैसठ शलाका के महापुरुषों का जीवन चरित्र बताया गया है। जिसमें जीव के संसार और कर्म बंधन की दशा का वर्णन किया है, मिथ्यात्व का सेवन करने से क्या दुर्दशा होती है और सम्यक्दर्शन होने से कैसा सुख सद्गति और मुक्ति की प्राप्ति होती है इसका प्रत्यक्ष प्रमाण बताया है।

२. करणानुयोग- इसमें तीन लोक की रचना, कहाँ-कहाँ, कौन-कौन जीव पैदा होते हैं, उनकी क्या व्यवस्था है, जीवों के परिणाम कितने प्रकार के होते हैं और उनसे कैसे-कैसे कर्मों का कैसा बन्ध होता है, उदय स्थिति अनुभाग कैसा भोगना पड़ता है। गुणस्थान मार्गणा आदि का स्वरूप बताया है।

३. चरणानुयोग- इसमें संसार के दुःखों से छूटने, पाप, विषय-कषायों से बचने के लिये, व्रत नियम संयम तप के पालन करने की विधि, श्रावक साधु की चर्या का वर्णन किया है।

४. द्रव्यानुयोग- इसमें सत्ताईस तत्वों का स्वरूप दिखलाते हुए आत्मा के शुद्ध स्वरूप की महिमा बताई है कि किस प्रकार यह आत्मा अपने स्वरूप की साधना करके परमात्मा बनता है। शुद्ध निश्चय नय से यह आत्मा ही त्रिकाल शुद्ध सिद्ध के समान परमात्मा है। ऐसे अपने शुद्ध द्रव्य की महिमा बताई है और इस प्रकार अपने रत्नत्रयमयी शुद्धात्मा का संपूर्ण ज्ञान कराया है। इसका सत्श्रद्धान करके अपने स्वरूप की साधना करना ही ज्ञानी की सच्ची शास्त्र पूजा है।

आगे प्रथमानुयोग का स्वरूप बताते हैं -

प्रथमानुयोग पद वेदंते, विंजनं पद सद्दयं ।

तिअर्थ पद सुद्धस्य, न्यानं आत्मा तुव गुनं ॥ ३४८ ॥

विंजनं च पदार्थं च, सास्वतं नाम सार्धयं ।

उवंकारस्य वेदंते, सार्धं न्यान मयं ध्रुवं ॥ ३४९ ॥

अन्वयार्थ- (प्रथमानुयोग पद वेदंते) प्रथमानुयोग से अपने शाश्वत सिद्ध पद की अनुभूति होती है (विंजनं पद सद्दयं) व्यंजन, पद, शब्द, अर्थ से (तिअर्थ पद सुद्धस्य) रत्नत्रयमयी शुद्ध पद का (न्यानं आत्मा तुव गुनं) ज्ञान होता है, जो आत्मा का अपना गुण है।

(विंजनं च पदार्थं च) व्यंजन और पदार्थ आदि के (सास्वतं नाम सार्धयं) नाम व उनकी सार्थकता श्रद्धान सदा से चले आ रहे हैं (उवंकारस्य वेदंते) पंच परमेष्ठी

मयी परमात्मा का अनुभव करना (सार्धं न्यान मयं ध्रुवं) और अपने ज्ञानमयी ध्रुव स्वभाव की साधना करना ही प्रथमानुयोग का अभिप्राय है।

विशेषार्थ- सम्यक्ज्ञानी ही प्रथमानुयोग के अभिप्राय को जानता है कि व्यंजन, पद, शब्द, अर्थ से अपने रत्नत्रयमयी शुद्धपद का ज्ञान करना और यही आत्मा का वास्तविक गुण है। संसार में अनादिकाल से यह जीव अपने स्वरूप को भूला किन-किन गतियों में कैसे-कैसे दुःख भोगता रुल रहा है। जिन्होंने अपने शाश्वत पद और स्वरूप को जान लिया वह आत्मा से परमात्मा बन गये, जिनके स्वरूप का वर्णन त्रेसठ शलाका पुरुषों के जीवन चरित्र के माध्यम से बताया गया है। मूल प्रयोजन यही है कि अपने ज्ञानमयी ध्रुव स्वभाव को जानें पहिचानें और उसकी साधना-आराधना कर हम भी परमात्मा बनें, इस संसार के जन्म-मरण के चक्र से छूटें, इसी से इस नाम और पद की सार्थकता है। प्रत्येक जीव का स्वभाव निश्चय से शुद्ध-बुद्ध अविनाशी परमानंदमयी परमात्म स्वरूप है, ऐसा समझकर हम भी अपने परमात्म स्वरूप की अनुभूति निश्चय श्रद्धान करें और धर्म मार्ग पर चलकर मुक्ति प्राप्त करें, यही प्रथमानुयोग की सिद्धि है।

आगे करणानुयोग का स्वरूप बताते हैं-

करनानुयोग संपूर्ण, स्वात्म चिंता सदा बुधै ।

स्व स्वरूपं च आराध्यं, करनानुयोग सास्वतं ॥ ३५० ॥

सुद्धात्मा चेतनं जेन, उवं हियं श्रियं पदं ।

पंच दीप्ति मयं सुद्धं, सुद्धात्मा सुद्धं गुनं ॥ ३५१ ॥

सल्यं मिथ्या मयं तिक्तं, कुन्यानं त्रि विमुक्तयं ।

ऊर्ध्वं च ऊर्ध्वं सद्भावं, उवंकारं च विंदते ॥ ३५२ ॥

दिव्य दिस्ती च संपूर्ण, सुद्धं संमिक दर्शनं ।

न्यान मयं सार्धं सुद्धं, करनानुयोग स्वात्म चिंतनं ॥ ३५३ ॥

अन्वयार्थ- (करणानुयोग संपूर्ण) सम्पूर्ण करणानुयोग का सार यह है कि (स्वात्म चिंता सदा बुधै) ज्ञानी हमेशा अपनी आत्मा की चिंता करे (स्व स्वरूपं च आराध्यं) अपने स्वरूप की आराधना करना ही (करणानुयोग सास्वतं) करणानुयोग का मूल अभिप्राय है।

(सुद्धात्मा चेतनं जेन) जैसे भी बने अपने शुद्धात्मा का अनुभव चिंता करो (उवं हियं श्रियं पदं) ॐ ह्रीं श्रीं पद वाला (पंच दीप्ति मयं सुद्धं) पंच ज्ञानमयी शुद्ध (सुद्धात्मा सुद्धं गुनं) निज शुद्धात्मा के शुद्ध गुणों का चिंतन करो।

(सल्यं मिथ्या मयं तिक्तं) मिथ्यात्वमयी शल्यों को छोड़ो (कुन्यानं त्रिविमुक्तयं) कुज्ञानों से भी हटकर बचकर रहो (ऊर्ध्वं च ऊर्ध्वं सद्भावं) ऊर्ध्वगामी जो अपना ऊर्ध्व स्वभाव है (उवंकारं च विंदते) ऐसे परमात्म स्वरूप की अनुभूति करो।

(दिव्य दिस्ती च संपूर्ण) द्रव्य दृष्टि या द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि संपूर्ण द्रव्य को देखने वाली है (सुद्धं संमिक दर्शनं) यही शुद्ध सम्यक्दर्शन है (न्यान मयं सार्धं सुद्धं) अपने ज्ञानमयी शुद्ध स्वभाव की साधना करो (करणानुयोग स्वात्म चिंतनं) अपने आत्मा का चिंतन करना ही करणानुयोग है।

विशेषार्थ- करणानुयोग लोक और अलोक के विभाग को, युग के परिवर्तन को, चार गति के जीवों के स्वरूप को, दर्पण के समान यथार्थ बतलाने वाला है। अवसर्पिणी- उत्सर्पिणी काल का परिवर्तन कहाँ होता है, किस तरह होता है, चार गति के जीवों के भाव किस तरह के होते हैं, उनकी क्या-क्या अवस्थाएँ होती हैं, उनके परिणाम कैसे बढ़ते-चढ़ते हैं, कौन गुणस्थान किस गति में होते हैं, किस गति में किसके कितने कर्मों का बन्ध उदय व सत्ता कैसे कितनी रहती है। जिन परिणामों से सम्यक्त्व होता है, उन अधःकरण, अपूर्व करण, अनिवृत्तिकरण भावों को बताता है। सम्यक्त्वी को बंधक क्यों कहते हैं, अबंधक क्यों कहते हैं? कषायों का उतार-चढ़ाव कैसे होता है? यह अनुयोग बाहरी क्रियाओं पर लक्ष्य न देता हुआ, भावों की तौल करना बताता है। एक मुनि यदि मोही संसाराशक्त है आत्मानुभूति रहित है तो करणानुयोग उसे मिथ्यादृष्टि कहता है तथा एक चांडाल यदि सम्यक्त्व से विभूषित है, तो यह उसको सम्यक्दृष्टि ज्ञानी मोक्षमार्गी कहता है। करणानुयोग धर्म कांटा है, जो जीव की वर्तमान पात्रता को बताता है। इस तरह जानकर अपने आत्मा को इस अनादि संसार में कैसी-कैसी दुर्दशा हुई, उसको विचारना चाहिये। यह जीव किस तरह चतुर्गति में भ्रमण करके व किन-किन भावों से कैसे-कैसे कर्म बांधकर दुःख उठा चुका है, इस तरह विचार कर संसार से वैराग्य, आत्म कल्याण की भावना, मुक्ति पद की रुचि करके उसके उपाय रूप अपने निज शुद्ध स्वरूप को ध्याना चाहिये तभी करणानुयोग पढ़ने की सार्थकता है।

यहाँ तारण स्वामी इस बात को स्पष्ट करते हैं कि कोई करणानुयोग को पढ़कर तीन लोक का स्वरूप जान ले, गुणस्थान मार्गणा का स्वरूप जान ले व कर्मों के बंध उदय सत्ता का स्वरूप जान ले, व चार गति के जीवों का स्वरूप जान ले तथा काल चक्र के स्वरूप को समझ ले और विशेष पंडित होकर ज्ञान का मद करे, मात्र मान कषाय बढावे, अपना सच्चा हित न करे उसे करणानुयोग जानने से क्या लाभ है ?

करणानुयोग का संपूर्ण सार तो यह है कि हम अपनी आत्मा की चिंता करें, उसे संसार के दुःख और दुर्गतियों से बचायें, हमेशा अपने स्वरूप की आराधना करें, जैसे भी बने अपने शुद्धात्म स्वरूप का अनुभव चिंतन करें, जो ॐ हीं श्रीं स्वरूप परमात्मा तीर्थकर सिद्ध पद वाला पंच ज्ञान मयी निजशुद्धात्मा है, उसके शुद्ध गुणों का स्मरण करें तथा वर्तमान में उन पर कौन-कौन कर्मों का कैसा आवरण पड़ा है उसे जानें, उन कर्मों के क्षय करने का एक मात्र उपाय निज शुद्धात्मानुभूति है, ऐसा समझकर निरन्तर शुद्धात्मा का अनुभव व चेतना का ध्यान करना योग्य है।

मिथ्यात्वमयी शक्तियों और तीनों कुज्ञानों को छोड़कर सम्यक्ज्ञान का प्रकाश करें, अपना जो ऊर्ध्वगामी सिद्ध के समान शुद्ध स्वरूप है, उस परमात्म स्वरूप की अनुभूति करें, द्रव्य दृष्टि से अपने संपूर्ण शुद्ध स्वरूप को देखें यही शुद्ध सम्यक्दर्शन है। अपने ज्ञानमयी शुद्ध स्वभाव की साधना करना, संसार के चक्र से अपनी आत्मा को छुड़ाकर मुक्ति मार्ग में लगा देना यही करणानुयोग का सार है। ज्ञानी साधक ऐसे अपने स्वस्वरूप और कर्मों के स्वरूप को जानकर, सम्यक्ज्ञान द्वारा अपने आत्म स्वरूप का आराधन करते हैं यही करणानुयोग की सिद्धि है।

आगे चरणानुयोग का स्वरूप बताते हैं-

चरणानुयोग चारित्रं, चिद्रूपं रूप द्रिस्यते ।

ऊर्ध्व आर्ध्वं च मध्यं च, संपूर्णं न्यान मयं ध्रुवं ॥ ३५४ ॥

षट् कमलं त्रिलोकं च, सार्धं धर्म संजुतं ।

चिद्रूपं रूप दिस्टंते, चरनं पंच दीप्तयं ॥ ३५५ ॥

अन्वयार्थ- (चरणानुयोग चारित्रं) चरणानुयोग में चारित्र का वर्णन है (चिद्रूपं रूप द्रिस्यते) चिद्रूप अर्थात् सिद्ध के समान अपने शुद्धात्म स्वरूप को देखना (ऊर्ध्व आर्ध्वं च मध्यं च) ऊपर नीचे और मध्य में सब तरफ सब प्रकार से (संपूर्णं न्यान मयं ध्रुवं) अपना ज्ञानमयी ध्रुव स्वभाव परिपूर्ण है।

(षट् कमलं त्रिलोकं च) षट्कमल के द्वारा तीन लोक में (सार्धं धर्म संजुतं) साधना और धर्म ध्यान में लीन होना (चिद्रूपं रूप दिस्टंते) अपने चिद्रूप स्वरूप की अनुभूति होना, दिखाई देना ही (चरनं पंच दीप्तयं) सम्यक्चारित्र है, जो पंचज्ञानमयी परमेष्ठी पद का प्रकाशक है।

विशेषार्थ- चरणानुयोग में चारित्र का वर्णन है, जिसमें श्रावक और साधु का आचरण, उनकी समस्त क्रियाओं का स्वरूप बताया गया है, मन वचन काय की चंचलता ध्यान में बाधक है। जब तक पाँचों इन्द्रियों के विषयों की प्रवृत्ति रहेगी, तब तक उपयोग अपने स्वभाव में एकाग्र निश्चल नहीं हो सकता। पापों से विरक्त होकर, विषयों से निवृत्त होकर, मन को शान्त एकाग्र कर जो अपने आत्म स्वरूप की साधना करता है, ध्यान में स्थित होता है और जब अपना शुद्धात्म स्वरूप अनुभूति में आता है, उसमें लीनता होती है वह अतीन्द्रिय आनंद की अनुभूति परमानंद दशा ही सम्यक्चारित्र है। जो तीन लोक में सारभूत इष्ट उपादेय अपना ज्ञानमयी ध्रुव स्वभाव है उसमें संपूर्ण लीन हो जाना, एकमात्र अपने शुद्ध चिद्रूप को ही देखना सम्यक्चारित्र है और इसी से कर्म क्षय होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है।

चरणानुयोग में ध्यान का विशेषता से वर्णन किया गया है। चित्त की एकाग्रता पूर्वक उपयोग का अपने स्वभाव में स्थित हो जाना ही ध्यान है और इसके लिये साधक को विविध प्रकार से षट्कमलों के माध्यम से पदस्थ, पिंडस्थ आदि ध्यानों की साधना करना पड़ती है क्योंकि अनादि से उपयोग बहिर्मुखी रहा है, शरीरादि संयोग विषयादि में रत रहा है, इन सबसे हटाकर अपने स्वरूप में लगाना धर्म में लीन होना, शुद्ध चिद्रूप को देखना, अपने पंच ज्ञान मयी परमेष्ठी पद की साधना-आराधना करना ही सम्यक्चारित्र है, जो चरणानुयोग का विषय है।

सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान होना, पुरुषार्थ का जागना है, और सम्यक्चारित्र पुरुषार्थ करना है। दर्शनोपयोग का अपने स्वरूप को देखना और उस मय होना ही सम्यक्चारित्र है और यह व्यवहार चारित्र की शुद्धि होने पर ही होता है। द्रव्य संयम बगैर भाव संयम नहीं होता। श्रद्धान ज्ञान अलग बात है, चारित्र में निश्चय-व्यवहार का समन्वय आवश्यक है तभी सम्यक्चारित्र होता है।

आगे द्रव्यानुयोग का स्वरूप बताते हैं-

दिव्यानुयोग उत्पादंते, दिव्य दिस्टी च संजुतं ।

अनंतानंत दिस्टंते, स्वात्मानं विक्त रूपयं ॥ ३५६ ॥

दिव्यं दिव्य दिस्टी च, सर्वन्यं सास्वतं पदं ।

नंतानंत चतुस्टं च, केवलं पदमं ध्रुवं ॥ ३५७ ॥

अन्वयार्थ- (दिव्यानुयोग उत्पादंते) द्रव्यानुयोग उत्पन्न होता है (दिव्य दिस्टी च संजुतं) द्रव्य दृष्टि और उसमें लीन होना (अनंतानंत दिस्टंते) अनंतानंत संसार में उसे दिखाई देता है कि (स्वात्मानं विक्त रूपयं) अपना आत्मा ही अनुभूतियुत प्रत्यक्ष प्रगट स्वरूप है ।

(दिव्यं दिव्य दिस्टी च) इस द्रव्यानुयोग और द्रव्यदृष्टि की अपूर्व महिमा है (सर्वन्यं सास्वतं पदं) यह अपने सर्वज्ञ स्वरूप शाश्वत पद सिद्ध स्वरूप को बताती है (नंतानंत चतुस्टं च) जो अनंत चतुष्टय वाला (केवलं पदमं ध्रुवं) केवलज्ञानमयी ध्रुव पद है ।

विशेषार्थ- यह चौथा अनुयोग द्रव्यानुयोग है, जिसमें ६ द्रव्य, ५ अस्तिकाय, ७ तत्व, ९ पदार्थ का स्वरूप बताया है, जिसमें प्रमुख जीव द्रव्य से जीवतत्व होने का रहस्य स्पष्ट किया गया है । जगत में जीव अनन्त, पुद्गल अनन्तानंत, धर्म एक, अधर्म एक, आकाश एक और कालाणु असंख्यात हैं । जीव पुद्गल में स्वभाव-विभाव रूप परिणमन शक्ति होती है, शेष चारों द्रव्य अपने स्वभाव रूप ही परिणमन करते हैं । इनमें एक जीव चेतन शक्ति वाला और शेष पाँच अजीव अचेतन हैं । अनादि से मिले एकमेक होने के कारण संसार चल रहा है । जीव, तत्त्वदृष्टि से सिद्ध के समान शुद्ध परमात्म स्वरूप है । अपने स्वरूप को भूला है, इसलिये आस्रव बंध करता हुआ संसार में रूल रहा है । द्रव्यानुयोग में इसे अपने सत्स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है कि प्रत्येक जीव आत्मा अपने स्वभाव से त्रिकाल शुद्ध चैतन्यमयी अरिहन्त और सिद्ध परमात्मा के समान सर्वज्ञ स्वरूपी शाश्वत पद वाला अनन्तचतुष्टय- अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य वाला केवलज्ञान मयी ध्रुवतत्व है । अपने स्वरूप को भूला हुआ यह शरीर ही मैं हूँ, यह शरीरादि मेरे हैं और मैं इनका कर्ता हूँ ऐसी मान्यता कर संसार की चार गति और चौरासी लाख योनियों में रूल रहा है । द्रव्यानुयोग भेदविज्ञान द्वारा द्रव्य दृष्टि कराता है कि यह जड़ शरीरादि पुद्गल कर्म और जीव एकमेक मिले हुए होने पर भी

भिन्न-भिन्न हैं । जैसे तिल में तेल और खली अलग-अलग हैं, धान में चावल और छिलका भूसी अलग है, स्फटिक मणि में स्फटिक और लाल डाक अलग है, गहने में सोना और खार अलग है । इसी प्रकार इस शरीर में शरीर से भिन्न जीवात्मा है, जो सर्वज्ञ स्वरूपी परमात्मा है, जो जीव ऐसा भेदविज्ञान पूर्वक भिन्नता भासित करते हैं, वह सम्यक्दृष्टि ज्ञानी कहलाते हैं और अपने स्वरूप की साधना करके आत्मा से परमात्मा हो जाते हैं । संसार के जन्म-मरण के दुःखों से मुक्त होने का एकमात्र यही उपाय है । द्रव्यदृष्टि होने पर ही यह मुक्ति का मार्ग बनता है और यह आत्मा परमात्मा होता है ।

इस प्रकार यह चार अनुयोगों का स्वरूप बताया, इसको जानकर क्या करना चाहिये यह आगे की गाथा में कहते हैं-

चत्वारि गुण जानंते, पूजा वेदंति जं बुधै ।

संसार भ्रमण मुक्तस्य, सुद्धं मुक्ति गामिनो ॥ ३५८ ॥

अन्वयार्थ- (चत्वारि गुण जानंते) जो इन चारों अनुयोग के स्वरूप और गुणों को जानकर (पूजा वेदंति जं बुधै) जो ज्ञानीजन इसकी अनुभूति और आचरण रूप पूजा करते हैं (संसार भ्रमण मुक्तस्य) वह संसार के भ्रमण से मुक्त होकर (सुद्धं मुक्ति गामिनो) अपने शुद्ध स्वभाव की साधना करके मोक्षगामी परमात्मा हो जाते हैं ।

विशेषार्थ- जो ज्ञानी साधक पात्र जीव इन चारों अनुयोगों के द्वारा अपने स्वरूप और गुणों को जानकर इसकी अनुभूति और आचरण रूप पूजा करते हैं अर्थात् स्वाध्याय से सार वस्तु को ग्रहण कर उस मार्ग पर चलते हैं, वह संसार भ्रमण से मुक्त होकर अपने शुद्ध शाश्वत सिद्ध पद को पाते हैं । जैनदर्शन के मर्म और मुक्ति प्राप्त करने वाले जीव के लिये यह चार अनुयोग, पाँच समवाय (स्वभाव, निमित्त, पुरुषार्थ, काललब्धि, नियति) और दो नय (निश्चय नय-व्यवहार नय) का ज्ञान होना अति आवश्यक है क्योंकि इनको जाने बिना यह जीव संसार से छूटकर मुक्त नहीं हो सकता, एकान्त पक्ष से कहीं भी अटककर रह जावेगा ।

जो जिनागम की सदा अच्छी रीति से उपासना करता है, उसे सात गुणों की प्राप्ति होती है-

१. त्रिकालवर्ती अनन्त द्रव्य पर्यायों के स्वरूप का ज्ञान होता है ।

२. हित की प्राप्ति और अहित के परिहार का ज्ञान होता है ।

३. मिथ्यात्व आदि से होने वाले आस्रव का निरोधरूप भाव संवर होता है अर्थात् शुद्धात्मानुभूति रूप परिणाम होता है।
४. प्रतिसमय संसार से नये-नये प्रकार की भीरुता (वैराग्य) होता है।
५. व्यवहार और निश्चय रूप रत्नत्रय में अवस्थिति होती है, उससे चलन नहीं होता।
६. रागादि का निग्रह करने वाले उपायों में भावना होती है।

७. पर को उपदेश देने की योग्यता प्राप्त होती है; अतः शास्त्र स्वाध्याय से भेदज्ञान होता है, भेदविज्ञान से स्वानुभव सम्यक्दर्शन होता है, स्वानुभव से ही केवलज्ञान सर्वज्ञ परमपद होता है इसलिये प्रथमानुयोग के- पद्मपुराण, हरिवंश पुराण, पार्श्व पुराण, महावीर पुराण, जम्बूस्वामी चरित्र, धन्यकुमार चरित्र, सुकुमाल चरित्र आदि। करणानुयोग के- त्रिलोकसार, गोम्मटसार, लब्धिसार, जय धवल, महाधवल, त्रिलोक प्रज्ञप्ति आदि। चरणानुयोग के- मूलाचार, भगवती आराधना, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, धर्माभूत आदि। द्रव्यानुयोग के- द्रव्य संग्रह, तत्त्वार्थ सूत्र, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, निमयसार, परमात्म प्रकाश आदि ग्रंथों का स्वाध्याय करना चाहिये। शास्त्र स्वाध्याय करना ही श्रुत की द्रव्यपूजा है और तद्रूप आचरण करना श्रुत की भावपूजा है, जो संसार से पार करने वाली है।

आगे पात्र जीव की विशेषता में रत्नत्रय धारण कर तेरह विधि चारित्र का पालन करना, जो सच्ची देवपूजा का एक अंग है, इसका स्वरूप आगे गाथाओं में कहते हैं-

श्रियं संमिक दर्शनं च, संमिक दर्शनमुद्यमं।

संमिक्तं संपूर्ण सुद्धं च, तिअर्थं पंच दीप्तयं ॥ ३५९ ॥

श्रियं संमिक दर्शनं सुद्धं, श्रियंकारेन उत्पादते।

सर्वन्यं च मयं सुद्धं, श्रियं संमिक दर्शनं ॥ ३६० ॥

अन्वयार्थ- (श्रियं संमिक दर्शनं च) सम्यक्दर्शन ही श्रेयस्कर श्रेष्ठ है, श्री कहिये शोभनीक, मंगलीक, जय जयवंत, कल्याणकारी, महासुखकारी है (संमिक दर्शनमुद्यमं) सम्यक्दर्शन का उद्यम करना ही हितकारी है (संमिक्तं संपूर्ण सुद्धं च) जहाँ सम्यक्त्व संपूर्ण शुद्ध हुआ अर्थात् भेदज्ञान पूर्वक निज शुद्धात्मानुभूति और उसकी दृढ़ प्रतीति हुई कि (तिअर्थं पंच दीप्तयं) रत्नत्रय, पंचज्ञान और परमेष्ठी पद

का प्रकाश होने लगता है।

(श्रियं संमिक दर्शनं सुद्धं) इसलिये शुद्ध सम्यक्दर्शन ही श्रेयस्कर श्रेष्ठ है (श्रियंकारेन उत्पादते) इसी से मुक्ति का मार्ग उत्पन्न होता है अर्थात् पाप, विषय-कषायों से विरक्ति होती है (सर्वन्यं च मयं सुद्धं) सर्वज्ञ अर्थात् अरिहन्त परमात्मा समान मैं भी शुद्ध आत्मा परमात्मा हूँ ऐसा दृढ़ निश्चय श्रद्धान ही (श्रियं संमिक दर्शनं) श्रेष्ठ सम्यक्दर्शन है, जिससे पांच महाव्रत पालने की भावना पैदा होती है।

विशेषार्थ- अष्टांग सम्यक्दर्शन, अष्टांग सम्यक्ज्ञान और मुनियों के पंच महाव्रत रूप आचरण को व्यवहार रत्नत्रय कहते हैं तथा अपने आत्मतत्त्व का परिज्ञान और आत्मतत्त्व में ही निश्चल होने को निश्चय रत्नत्रय कहते हैं। यहाँ सम्यक्दर्शन को श्रेष्ठ श्रेयस्कर इसलिये कहा है कि इसके बगैर कभी भी मुक्ति हो ही नहीं सकती। सम्यक्दर्शन की शुद्धि होने पर ही रत्नत्रय, पंच ज्ञान परमेष्ठी पद की शोभा है। शरीरादि से भिन्न निज शुद्धात्मानुभूति दृढ़ श्रद्धान होना ही शुद्ध सम्यक्दर्शन है। सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान होने पर विवेक जाग्रत हो जाता है, पुरुषार्थ काम करने लगता है, तब संसार बंधन के कारण पाप, विषय-कषायों से जीव स्वयं हटने बचने लगता है। पापों का एकदेश त्याग अणुव्रत और सर्वदेश त्याग महाव्रत कहलाता है। सम्यक्दृष्टि के जीवन में यह सहजता से पलने लगता है क्योंकि उसे अपने सर्वज्ञ स्वरूपी परमात्मपद का बोध जाग गया है अतः वह पंच महाव्रत रूप साधु पद की साधना करता है, इससे ही अरिहंत, सिद्ध पद होता है।

पांच महाव्रत - १. अहिंसा महाव्रत, २. सत्य महाव्रत, ३. अचौर्य महाव्रत, ४. ब्रह्मचर्य महाव्रत, ५. अपरिग्रह महाव्रत।

१. अहिंसा महाव्रत- छह काय के जीवों की रक्षा करना और राग-द्वेष, मोह को मन से हटाना अहिंसा महाव्रत है। वीतराग दशा ही अहिंसा महाव्रत है।

२. सत्य महाव्रत- कभी किंचित् भी झूठ न बोलना सत्य महाव्रत है, अपने सत्स्वरूप में निमग्न रहना ही सत्य महाव्रत है।

३. अचौर्य महाव्रत - बिना दिया जल मिट्टी और तृण तक न लेना अचौर्य महाव्रत है। पर द्रव्य, पर भाव और अशुद्ध पर्याय को ग्रहण न करना अचौर्य महाव्रत है।

४. ब्रह्मचर्य महाव्रत- शील के अठारह हजार भेदों का पालन करते हुए स्त्री मात्र का त्याग करना ब्रह्मचर्य महाव्रत है। अब्रह्म अर्थात् अनात्म वस्तु में रमण न

करना अपने ब्रह्म स्वरूप आत्मा में ही लीन रहना ब्रह्मचर्य महाव्रत है।

५. अपरिग्रह महाव्रत – चौदह प्रकार के अन्तरंग और दश प्रकार के बाह्य परिग्रह से सर्वथा रहित होना परिग्रह त्याग महाव्रत है। पर के प्रति ममत्व और मूर्च्छा भाव का अभाव हो जाना अपरिग्रह महाव्रत है। इस प्रकार सम्यक्दर्शन की महिमा से यह पांच महाव्रत स्वयं पलने लगते हैं।

सम्यक्ज्ञान की महिमा से पाँच समितियों का पालन होता है इसको आगे की गाथाओं में कहते हैं –

न्यानं च संमिक्तं सुद्धं, संपूरनं त्रिलोकमुद्यमं।

सर्वन्यं पंच मयं सुद्धं, पद विंदं केवलं ध्रुवं ॥ ३६१ ॥

श्रियं संमिक न्यानं च, श्रियं सर्वन्य सास्वतं।

लोकालोकं च मयं सुद्धं, श्रियं संमिक न्यान उच्यते ॥ ३६२ ॥

अन्वयार्थ- (न्यानं च संमिक्तं सुद्धं) सम्यक्दर्शन सहित जो ज्ञान है वही शुद्ध है (संपूरनं त्रिलोकमुद्यमं) इसी से तीन लोक में संपूर्ण केवलज्ञान का उद्यम होता है (सर्वन्यं पंच मयं सुद्धं) जो पंच ज्ञानमयी शुद्ध सर्वज्ञत्व को प्रगट करता है, जिससे (पद विंदं केवलं ध्रुवं) अपने केवल ध्रुव पद की अनुभूति होती है।

(श्रियं संमिक न्यानं च) परम ऐश्वर्यशाली श्रेष्ठ सम्यक्ज्ञान (श्रियं सर्वन्य सास्वतं) अतिशय रूप सर्व पदार्थों का ज्ञाता और अविनाशी है (लोकालोकं च मयं सुद्धं) लोकालोक को प्रकाशित करने वाला शुद्ध ज्ञानमयी सूर्य है (श्रियं संमिक न्यान उच्यते) इसलिये सम्यक्ज्ञान को सबसे श्रेष्ठ कहते हैं।

विशेषार्थ- सम्यक्ज्ञान में केवलज्ञान की नोंध है अर्थात् जो केवलज्ञान में लोकालोक का स्वरूप प्रत्यक्ष जाना जाता है, वह सम्यक्ज्ञान में परोक्ष में जाना जाता है, इसमें और उसमें कोई भेद नहीं पड़ता। ज्ञान सम्यक्दर्शन के बगैर शुद्ध नहीं होता अर्थात् सम्यक्ज्ञान नाम नहीं पाता। वैसे क्षयोपशम ज्ञान में संपूर्ण आगम और तीन लोक का ज्ञान हो जावे यहाँ तक कि साधु बनकर ग्यारह अंग नौ पूर्व का ज्ञान भी हो जावे परन्तु आत्मप्रतीति सम्यक्दर्शन के बिना वह मिथ्यात्व सहित होने से मिथ्याज्ञान कहलाता है, जहाँ आत्मानुभूति जाग्रत हो जाती है, उसी ज्ञान को सम्यक्ज्ञान कहते हैं, यह सम्यक्ज्ञान दूज के चन्द्रमा समान होता है, इसी ज्ञान के द्वारा जितना-जितना शुद्धात्मा का अनुभव किया जाता है, उतना ज्ञानावरण कर्म

का क्षयोपशम होता जाता है। जिससे अवधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान प्रगट हो जाते हैं, श्रुतकेवली हो जाते हैं। जिसमें संपूर्ण त्रिलोक का ज्ञान हो जाता है, यदि किसी को पूर्ण श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान या मनः पर्ययज्ञान न भी होवें तो भी शुद्धात्मानुभव में वह शक्ति है कि एक मुहूर्त के ध्यान से सर्वघातिया कर्मों का क्षय होकर केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। केवलज्ञान के होते ही सर्वज्ञ अरिहंत परमात्म पद हो जाता है, जिसमें अपने शुद्धात्मा का प्रत्यक्ष दर्शन परमानंद ही परमानंद हो जाता है।

सम्यक्ज्ञान की शुद्धि होने के बाद इसका कभी अभाव नहीं होता, यह बिलाता नहीं है, यह शाश्वत रहता है, वृद्धिगत होता हुआ केवलज्ञान रूप प्रगट होता है इसलिये सम्यक्ज्ञान को सबसे श्रेष्ठ कहते हैं। इसके होने पर स्व-पर का यथार्थ ज्ञान होता है और यही सम्यक्चारित्र का कारण है। सम्यक्ज्ञान होने से वस्तु का स्वरूप स्पष्ट दिखने लगता है। अपने आत्म कल्याण की भावना से पापों से विरत होकर पाँच समिति का पालन होने लगता है, जिससे उसके जीवन में साधुता समता शान्ति आ जाती है।

पाँच समिति निम्न प्रकार हैं-

१. ईर्या समिति, २. भाषा समिति, ३. ऐषणा समिति, ४. आदान निक्षेपण समिति, ५. प्रतिष्ठापन या उत्सर्ग समिति।

प्राणियों को पीड़ा पहुँचे, इस भावना से देखभाल कर प्रवृत्ति करने को समिति कहते हैं। अहिंसा परमो धर्मः की साधना और संभाल का नाम समिति है।

१. ईर्या समिति- प्रासुक स्थान से सूर्य के प्रकाश में चार हाथ जमीन देखकर धीरे-धीरे चलना ईर्या समिति है। अपने आत्म स्वभाव में रमना ईर्या समिति है।

२. भाषा समिति- दस प्रकार की दुर्भाषाओं को छोड़कर हित-मित और संशय में न डालने वाले वचन बोलना भाषा समिति है।

दस प्रकार की दुर्भाषा निम्न प्रकार हैं- १. कर्कराभाषा – तू मूर्ख है आदि कहना। २. मर्म को छेदने वाली भाषा। ३. कटुभाषा – तू अधर्मी है आदि कहना। ४. निष्ठुर भाषा – मारने काटने आदि शब्द कहना। ५. परकोपिनी – तू निर्लज्ज है आदि कहना। ६. छेदंकरा – झूठा दोष लगाना। ७. अतिमानिनी – अपना बड़प्पन बघारना, दूसरों की निंदा करना। ८. द्वेष उत्पन्न कराने वाले वचन कहना। ९. प्राणियों की हिंसा कराने वाले वचन कहना। १०. अत्यन्त गर्हित और अति गर्व से भरे वचन बोलना। अपने निःशब्द स्वरूप में स्थित रहना भाषा समिति है।

३. ऐषणा समिति- वीरचर्या द्वारा, श्रावकों के द्वारा भक्ति पूर्वक दिये गये निर्दोष आहार को योग्य समय पर उचित मात्रा में विधि पूर्वक ग्रहण करना ऐषणा समिति है। अपने आत्म स्वभाव को भक्ति बहुमान पूर्वक ग्रहण करना ऐषणा समिति है।

४. आदान निक्षेपण समिति- अच्छी तरह से देखभाल कर पुस्तक आदि को उठाना और रखना आदान निक्षेपण समिति है। अपने आत्मा को विभावों से बचाकर स्वभाव में स्वच्छ पवित्र रखना आदान निक्षेपण समिति है।

५. प्रतिष्ठापन या उत्सर्ग समिति - जीव-जंतु रहित एकान्त स्थान को देख भालकर मल मूत्रादि त्यागना उत्सर्ग समिति है। राग-द्वेषादि मलों से बचकर अपने शुद्ध स्वभाव में रहना, उत्सर्ग समिति है।

इस प्रकार सम्यक्ज्ञान के प्रकाश में निश्चय-व्यवहार के समन्वय पूर्वक इन समितियों का पालन होता है, तभी साधक देवपूजा का अधिकारी होता है।

आगे सम्यक्चारित्र की श्रेष्ठता, तीन गुप्तियों का पालन होना बताते हैं-

श्रियं संमिक चारित्रं, संमिक उत्पन्न सास्वतं ।

अप्पा परमप्पयं सुद्धं, श्रियं संमिक चरनं भवेत् ॥ ३६३ ॥

श्रियं सर्वन्य सार्धं च, स्वरूपं विक्त रूपयं ।

श्रियं संमिक्त ध्रुवं सुद्धं, श्री संमिक चरनं बुधै ॥ ३६४ ॥

अन्वयार्थ- (श्रियं संमिक चारित्रं) श्रेष्ठ सम्यक्चारित्र (संमिक उत्पन्न सास्वतं) सम्यक्दर्शन सहित पैदा होता है जो अविनाशी होता है, जिससे (अप्पा परमप्पयं सुद्धं) आत्मा परमात्मा के समान शुद्ध हो जाता है (श्रियं संमिक चरनं भवेत्) यही श्रेष्ठ सम्यक्चारित्र की विशेषता होती है।

(श्रियं सर्वन्य सार्धं च) अपने श्रेष्ठ सर्वज्ञ स्वरूप की साधना करो और (स्वरूपं विक्त रूपयं) अपने स्वरूप को प्रत्यक्ष प्रगट करो (श्रियं संमिक्त ध्रुवं सुद्धं) यह श्रेष्ठ सम्यक्त्व ही निश्चय से शुद्ध होने पर (श्री संमिक चरनं बुधै) हे ज्ञानीजनो ! यही श्री सम्यक्चारित्र है, जो मुक्ति श्री का वरण कराता है, जिसके होने पर तीन गुप्तियाँ- मनगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति स्वयमेव हो जाती है।

विशेषार्थ- सम्यक्दर्शन के उत्पन्न होते ही जो स्वरूपाचरण चारित्र होता है, वही सम्यक्चारित्र है। जैसा-जैसा स्वरूपाचरण चारित्र बढ़ता है, वैसा ही कषायों का

परिवर्तन होता जाता है, चौथा गुणस्थान होते ही अनन्तानुबंधी कषाय चली जाती है। एकदेश संयम अणुव्रती पंचम गुणस्थान होने पर अप्रत्याख्यान कषाय चली जाती है। सकल संयम महाव्रत साधुपद छठा गुणस्थान होने पर प्रत्याख्यान कषाय चली जाती है, स्वरूप की स्थिरता से संज्वलन कषाय भी मंद होती जाती है। जिससे सातवें गुणस्थान में श्रेणी माड़कर क्षपक श्रेणी से यथाख्यात चारित्र होते ही अरिहन्त सर्वज्ञ पद प्रगट हो जाता है। केवलज्ञानी परमात्मा अपने शुद्ध स्वभाव मय हो जाते हैं। यह सम्यक्चारित्र की ही विशेषता श्रेष्ठता है।

सम्यक्चारित्र का स्पष्ट प्रत्यक्षपना वीतरागी निर्ग्रन्थ साधु होने पर ही होता है। जहाँ रत्नत्रय की शुद्धि पूर्वक स्वरूपाचरण का पुरुषार्थ जागा और स्वरूप में लीनता हुई कि आत्मा का प्रत्यक्षपना सर्वज्ञ स्वरूप प्रगट हो जाता है। बुद्धिमान साधक पात्र जीव इस सम्यक्चारित्र की श्रेष्ठता, तीन गुप्तियों का पालन करता हुआ, अपने सर्वज्ञ स्वभावी देवत्व पद को पाता है और आत्मा से शुद्ध परमात्मा हो जाता है।

गुप्ति के तीन भेद हैं - १. मनगुप्ति, २. वचनगुप्ति, ३. कायगुप्ति।

गुप्ति- लोगों के द्वारा की जाने वाली पूजा, लाभ और ख्याति की इच्छा न करने वाले साधु को सम्यक्दर्शन आदि रत्नत्रय स्वरूप अपनी आत्मा को मिथ्यादर्शन आदि से रक्षा करने के लिये सावद्य योगों का निग्रह करना चाहिये।

जिससे संसार के कारणों से आत्मा की रक्षा होती है उसे गुप्ति कहते हैं। मन वचन काय से उत्पन्न अनेक पाप सहित प्रवृत्तियों का प्रतिषेध करने वाली अथवा तीनों योगों की रोधक तीन गुप्तियाँ मानी गई हैं। (धर्माभूत अनगार)

१. मन गुप्ति- राग-द्वेष और मोह के त्याग रूप अथवा आगम का विनय पूर्वक अभ्यास और धर्म तथा शुक्ल ध्यान रूप मनोगुप्ति है। मन की रागादि से निवृत्ति को मनोगुप्ति कहते हैं। मन, इन्द्रियों के द्वारा रूपादि विषयों को ग्रहण करता है तो आत्मा में राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। यहाँ मन शब्द से नो इन्द्रिय मति ली गई है, वह आत्मा में रागादि परिणामों के साथ एक काल में होती है क्योंकि विषयों के अवग्रह आदि ज्ञान के बिना राग-द्वेष में प्रवृत्ति नहीं होती; किन्तु वस्तु तत्व के अनुरूप मानस ज्ञान के साथ राग-द्वेष नहीं रहते अतः तत्व को जानने वाले मन का रागादि के साथ नहीं होना ही मनोगुप्ति है। यहाँ मन का ग्रहण ज्ञान का उपलक्षण है अतः राग-द्वेष के कलंक से रहित सभी ज्ञान मनोगुप्ति हैं, यदि ऐसा न माना जायेगा तो इन्द्रिय जन्य मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान अथवा मनः पर्ययज्ञान रूप परिणत

आत्मा के मनोगुप्ति नहीं हो सकेगी।

मनोगुप्ति का स्वरूप तीन प्रकार से कहा है - १. रागादि की निवृत्ति, २. आगम का अभ्यास, ३. सम्यक्ध्यान।

मनोगुप्ति के अतिचार- आत्मा की राग-द्वेष, मोह रूप परिणति, शब्द विपरीतता, अर्थ विपरीतता और ज्ञान विपरीतता तथा दुष्प्रणिधान अर्थात् आर्त-रौद्र रूप ध्यान या ध्यान में मन न लगाना, यह मनोगुप्ति के यथायोग्य अतिचार हैं।

२. वचन गुप्ति- कठोर आदि वचनों का त्याग अथवा मौन रूप रहना वचन गुप्ति है। पाप के हेतु स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा, और भोजनकथा न करने को तथा अलीक (विपरीत अर्थ या दूसरों के दुःख के हेतु शब्द) आदि वचनों की निवृत्ति वचनगुप्ति है।

वचन गुप्ति के अतिचार- कर्कश आदि वचन, मोह और संताप का कारण होने से विष के तुल्य हैं। उसका श्रोताओं के प्रति बोलना और स्त्री, राजा, चोर और भोजन विषयक विकथाओं में, मार्ग विरुद्ध कथाओं में आदरभाव तथा हुंकार आदि क्रिया अर्थात् हूँ हूँ करना, खखारना, हाथ से या भौंह के चालन से इशारा करना यह वचन गुप्ति के यथायोग्य अतिचार हैं।

३. काय गुप्ति- शरीर से ममत्व के त्याग रूप स्वभाव वाली अथवा हिंसा, मैथुन और चोरी से निवृत्ति रूप स्वभाव वाली अथवा सर्व चेष्टाओं से निवृत्ति रूप वाली कायगुप्ति है। औदारिक आदि शरीर की जो क्रिया है, उससे निवृत्ति शरीर गुप्ति है। काय शब्द से काय संबंधी क्रिया ली जाती है, उसकी कारणभूत आत्मा की क्रिया को काय क्रिया कहते हैं उसकी निवृत्ति कायगुप्ति है; अथवा कायोत्सर्ग अर्थात् शरीर को अपवित्रता, असारता और विपत्ति का मूल कारण जानकर उससे ममत्व न करना कायगुप्ति है। बांधना, छेदन, मारण, हाथ-पैर का संकोच विस्तार आदि काय क्रिया की निवृत्ति व्यवहार से कायगुप्ति है। काय क्रिया निवृत्ति या कायोत्सर्ग कायगुप्ति है।

कायगुप्ति के तीन लक्षण कहे हैं -

१. कायोत्सर्ग, २. हिंसादि का त्याग, ३. अचेष्टा।

काय गुप्ति के अतिचार- कायोत्सर्ग संबंधी बत्तीस दोष हैं, यह शरीर मेरा है इस प्रकार की प्रवृत्ति, जनसमूह के बीच एक पैर से खड़े होकर कायोत्सर्ग आदि करना तथा जहाँ जीव जंतु की बहुतायत हो, स्त्रियों आदि का बाहुल्य हो, धनादि की विशेषता हो, ऐसे स्थान पर रहना तथा अपध्यान सहित शरीरादि परीषह से दूर

रहना अर्थात् मच्छर, मख्खी आदि को भगाना या उनको दूर करने का चिन्तन करना, यह कायगुप्ति के अतिचार हैं।

पापों का सर्वदेश त्याग - महाव्रत, जीवन जीने के लिये - सम्यक्प्रवृत्ति पाँच समिति ; और कर्मों के आने के द्वार को बंद करने के लिये यह तीन गुप्तियाँ हैं।

इस प्रकार तेरह विधि चारित्र का पालन करता हुआ साधक पात्र जीव सच्चे देव निज शुद्धात्मा के ध्यान में लीन होता है यही सच्ची देवपूजा, देवत्व पद का साधन है।

पचहत्तर गुण वेदंते, सार्धं च सुद्धं ध्रुवं।

पूजतं स्तुतं जेन, भव्यजन सुद्ध दिस्तिंतं ॥ ३६५ ॥

एतत् गुण सार्धं च, स्वात्म चिंता सदा बुधै।

देवं तस्य पूजस्य, मुक्ति गमनं न संसयः ॥ ३६६ ॥

अन्वयार्थ- (पचहत्तर गुण वेदंते) जो इन पचहत्तर गुणों का अनुभवन, चिन्तन - मनन करते हैं (सार्धं च सुद्धं ध्रुवं) अपने शुद्ध और ध्रुव स्वभाव की साधना करते हैं (पूजतं स्तुतं जेन) जो इन पचहत्तर गुणों का आराधन आचरण रूप पूजन और स्तुति करते हैं (भव्यजन सुद्ध दिस्तिंतं) वह भव्यजन शुद्ध दृष्टि होते हैं।

(एतत् गुण सार्धं च) इस प्रकार इन पचहत्तर गुणों की साधना और (स्वात्म चिंता सदा बुधै) स्वात्मा की चिंता अर्थात् अपने आत्म कल्याण की भावना ज्ञानीजन हमेशा करते हैं (देवं तस्य पूजस्य) वही देव की सच्ची पूजा करते हैं (मुक्ति गमनं न संसयः) वह मोक्षगामी हैं अर्थात् वे स्वयं अरिहंत, सिद्ध परमात्मा बनेंगे, इसमें कोई संशय नहीं है।

विशेषार्थ- यहाँ शुद्ध षट्कर्म में सच्ची देवपूजा का स्वरूप क्या है ? इसके अन्तर्गत पचहत्तर गुणों का वर्णन किया गया है। ७५ गुण इस प्रकार हैं - ५ परमेष्ठी, १६ कारण भावना, ८ सिद्ध के गुण, १० धर्म, ३ रत्नत्रय, ८ सम्यक्दर्शन के अंग, ८ सम्यक्ज्ञान के अंग, ४ अनुयोग और १३ प्रकार चारित्र इन पचहत्तर गुणों के आराधन रूप स्तुति मनन आचरण रूप पूजन करते हैं, वह भव्यजीव शुद्ध सम्यक्दृष्टि होते हैं, जो निश्चय ही मोक्षगामी हैं अर्थात् इन गुणों का पालन कर स्वयं परमात्मा देवाधिदेव अरिहंत सिद्ध परमात्मा होंगे, यही देव की सच्ची पूजा है। जो सम्यक्दृष्टि अव्रत दशा में इस लक्ष्य और भावना से इन गुणों का आराधन और आचरण रूप

पालन करते हैं, इनको ही इष्ट कल्याणकारी मानते हैं, यही सच्ची देवपूजा है, जो देवत्व पद प्रदान कराती है, इसमें कोई संशय नहीं है। यह जैनदर्शन का मूल आधार है कि प्रत्येक जीव अपने पुरुषार्थ से परमात्मा बन सकता है। कोई पर परमात्मा किसी जीव का कुछ नहीं कर सकता, प्रत्येक जीव अपनी भावना लक्ष्य और पुरुषार्थ में पूर्ण स्वतंत्र है, द्रव्य की स्वतंत्रता का यही प्रयोजन है।

शुद्ध षट्कर्म में सर्वप्रथम देवपूजा का पचहत्तर गुण सहित वर्णन किया, आगे शुद्ध गुरु उपासना का स्वरूप कहते हैं-

गुरस्य ग्रंथ मुक्तस्य, राग दोषं न चिंतए ।

रत्नत्रयं मयं सुद्धं, मिथ्या माया विमुक्तयं ॥ ३६७ ॥

गुरं त्रिलोक वेदंते, ध्यानं धर्मं च संजुतं ।

तद्गुरं सार्धं नित्यं, रत्नत्रयं लंकृतं ॥ ३६८ ॥

अन्वयार्थ- (गुरस्य ग्रंथ मुक्तस्य) यहां गुरु का स्वरूप बताया जा रहा है कि जो समस्त पाप-परिग्रह बंधनों से मुक्त, रहित होते हैं (राग दोषं न चिंतए) राग-द्वेषादि का चिंतन नहीं करते अर्थात् जो राग-द्वेष रहित निर्ग्रंथ वीतरागी हैं (रत्नत्रयं मयं सुद्धं) जो रत्नत्रय के धारी हैं, जिनका सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र शुद्ध है (मिथ्या माया विमुक्तयं) जो मिथ्यात्व माया आदि शल्यों से रहित हैं।

(गुरं त्रिलोक वेदंते) जो तीन लोक के यथार्थ स्वरूप को जानते हैं (ध्यानं धर्मं च संजुतं) आत्म ध्यान में लीन और धर्म से संयुक्त होते हैं (तद्गुरं सार्धं नित्यं) ऐसे गुरु का हमेशा सत्संग और श्रद्धा सहित उपासना करना चाहिये (रत्नत्रयं लंकृतं) जो रत्नत्रय से परिपूर्ण होते हैं।

विशेषार्थ- शुद्ध षट्कर्म में देवपूजा के बाद गुरु उपासना का स्वरूप बताया जा रहा है, सच्चे गुरु कैसे होते हैं? उनका स्वरूप जानकर ही गुरु उपासना, सत्संग सेवा भक्ति करना चाहिये। सच्चे गुरु का स्वरूप यह है कि जो समस्त पाप एवं चौबीस प्रकार के परिग्रह से रहित निर्ग्रंथ हों।

२४ परिग्रह- क्षेत्र, मकान, सोना, चांदी, धन, धान्य, दासी, दास, कपड़े, बर्तन आदि दस प्रकार के बाह्य परिग्रह तथा मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद इन चौदह

अंतरंग परिग्रह के पूर्ण त्यागी हों, राग-द्वेष रहित वीतरागी हों। जो मिथ्यात्व, माया आदि शल्यों से रहित हों, रत्नत्रय से शुद्ध हों अर्थात् जिनका निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय शुद्ध हो, जो जीव मात्र के प्रति समभावी, समदृष्टि हों। जो जाति-पांति, नीच-ऊँच, छोटे-बड़े, गरीब-अमीर के भेदभाव से ऊपर उठ गये हों अर्थात् साम्प्रदायिक बंधनों से मुक्त हों, हमेशा आत्मध्यान की साधना में लीन, धर्म ध्यान में रत, आर्त-रौद्र ध्यान से रहित, ज्ञान-ध्यान में युक्त रहने वाले रत्नत्रय से परिपूर्ण गुरु का सत्संग सेवा भक्ति करना चाहिये जिससे अपने भावों में ज्ञान वैराग्य का जागरण होता है। जो गुरु स्वयं तरते हैं और संसार से तरने का मार्ग बताते हैं वही सद्गुरु तारण तरण हैं। ऐसे सद्गुरु की संगति, सेवा भक्ति ही सच्ची गुरु उपासना है, जिससे अपनी अंतरात्मा का जागरण हो, वीतराग मार्ग पर चलने की प्रेरणा मिले और शुद्ध रत्नत्रय की प्राप्ति हो, अत्रत सम्यक्दृष्टि ऐसे गुरु की ही हमेशा श्रद्धा भक्ति करता है।

आगे शुद्ध स्वाध्याय का स्वरूप कहते हैं-

स्वाध्याय सुद्ध ध्रुवं चिंते, सुद्ध तत्त्व प्रकासकं ।

सुद्ध संपूर्ण दिस्टं च, न्यानं मयं सार्धं ध्रुवं ॥ ३६९ ॥

स्वाध्याय सुद्ध चिंतस्य, मन वचन काय निरोधनं ।

त्रिलोकं तिअर्थं सुद्धं, स्थिरं सास्वतं ध्रुवं ॥ ३७० ॥

अन्वयार्थ- (स्वाध्याय सुद्ध ध्रुवं चिंते) शुद्ध स्वाध्याय अपने ध्रुव स्वभाव का चिंतवन करना है (सुद्ध तत्त्व प्रकासकं) शुद्ध तत्त्व का प्रकाश करने वाले, बताने वाले सत्शास्त्रों का स्वाध्याय करना जिससे (सुद्ध संपूर्ण दिस्टं च) अपनी दृष्टि सम्पूर्ण शुद्ध हो जाये और (न्यानं मयं सार्धं ध्रुवं) ज्ञानमयी ध्रुव स्वभाव का श्रद्धान हो जाये।

(स्वाध्याय सुद्ध चिंतस्य) शुद्ध स्वाध्याय का चिंतवन करने से (मन वचन काय निरोधनं) मन, वचन, काय का निरोध हो जाता है (त्रिलोकं तिअर्थं सुद्धं) तीन लोक में जो द्रव्य, गुण, पर्याय अथवा सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र से शुद्ध (स्थिरं सास्वतं ध्रुवं) शाश्वत ध्रुव स्वभाव है उसमें स्थिर हो जाता है।

विशेषार्थ- शुद्ध स्वाध्याय अपने ध्रुव स्वभाव का चिंतवन करना है तथा शुद्ध तत्त्व का प्रकाश करने वाले सत्शास्त्रों को पढ़ना व्यवहार से स्वाध्याय है, जिससे अपनी दृष्टि सम्पूर्ण शुद्ध हो जाये, अपने ज्ञानमयी ध्रुव स्वभाव का सच्चा श्रद्धान हो

जाये वही शुद्ध स्वाध्याय है। अपने शुद्धात्म स्वरूप ज्ञानानन्द स्वभाव का अनुभव करना ही शुद्ध स्वाध्याय है। स्वाध्याय का प्रयोजन संसार से वैराग्य तथा निज स्वरूप की प्राप्ति का उत्साह है।

स्वाध्याय के पांच भेद हैं- १. **वाचना-** सत्शास्त्रों को पढ़ना, २. **पृच्छना-** विशेष ज्ञानियों से पूछना, तत्वचर्चा करना, ३. **अनुप्रेक्षा-** तत्व निर्णय का बार-बार विचार कर हृदय में धारण करना, ४. **आम्नाय-** शुद्ध शब्द और अर्थ को कंठस्थ करना, ५. **धर्मोपदेश-** अन्य जीवों को धर्म का यथार्थ स्वरूप बताना। **स्वाध्याय का प्रत्यक्ष लाभ-** चित्त में शांति, मन से शोक, भय, क्रोध, मान आदि कषायों का शांत हो जाना, संसार का स्वरूप जानकर वैराग्य भाव होना, समस्त जीवों के प्रति क्षमा, करुणा मैत्री भाव का होना है। वही शुद्ध स्वाध्याय है जिससे आत्म कल्याण करने की भावना बलवती होवे तथा मन, वचन, काय एकाग्र हो जायें। मन, वचन, काय का निरोध अर्थात् हलन-चलन बंद होने से उपयोग अपने शाश्वत ध्रुव स्वभाव में स्थिर होता है। स्वाध्याय परम तप है तथा अंतः करण के क्लेश और कुभावों को दूर करने के लिये स्वाध्याय परम आवश्यक है।

आगे शुद्ध संयम का स्वरूप कहते हैं-

संजमं संजमं कृत्वा, संजमं द्विविधं भवेत् ।

इन्द्रियानां मनोनाथा, रष्यनं त्रस थावरं ॥ ३७१ ॥

संजमं संजमं सुद्धं, सुद्ध तत्त्व प्रकासकं ।

तिअर्थं न्यान जलं सुद्धं, स्नानं संजमं ध्रुवं ॥ ३७२ ॥

अन्वयार्थ- (संजमं संजमं कृत्वा) संयम-यम नियम का पालन करने को कहते हैं (संजमं द्विविधं भवेत्) संयम दो प्रकार का होता है- १. **इन्द्रिय संयम**, २. **प्राणी संयम** (इन्द्रियानां मनोनाथा) पांच इन्द्रिय और इनके राजा मन को वश में रखना इन्द्रिय संयम है (रष्यनं त्रस थावरं) पांच स्थावर और दो इन्द्रिय से पांच इन्द्रिय तक त्रस जीवों की रक्षा करना प्राणी संयम है।

(संजमं संजमं सुद्धं) शुद्ध संयम अपने स्वरूप की सुरत रखना, ज्ञान भाव में रहना है (सुद्ध तत्त्व प्रकासकं) जो शुद्धात्म तत्व को प्रकाशित करने वाला है (तिअर्थं न्यान जलं सुद्धं) रत्नत्रयमयी ज्ञान के शुद्ध जल में (स्नानं संजमं ध्रुवं) स्नान करना ही निश्चय व निश्चल संयम है।

विशेषार्थ- शुद्ध षट्कर्म के अंतर्गत संयम का स्वरूप बताया जा रहा है। संयम-व्रत, यम-नियम के पालन को कहते हैं, जो कार्य अन्याय और पापमय है, जैसे- जुआं आदि सात व्यसन, हिंसादि पांच पाप, अभक्ष्य भोजन तथा अन्याय और अनीति पूर्वक विषय आदि का सेवन इनका आजीवन के लिये त्याग करना यम कहलाता है। समयावधि के लिये त्याग करना नियम कहलाता है। सदाचारी जीवन ही संयम है, जो भोग-उपभोग का प्रमाण कर लेता है वह संयमी है। निम्न १७ नियमों का नित्य ही प्रमाण करना चाहिये-

भोजने षट्सं पाने, कुंकुमादि विलेपने ।

पुष्प तांबूल गीतेषु, नृत्यादौ ब्रह्मचर्य के ॥

स्नान भूषण वस्त्रादौ, वाहने शयनासने ।

सचित्त वस्तु संख्यादौ, प्रमाणं भज प्रत्यहं ॥

१. भोजन, २. षट्सं- दूध, दही, घी, तेल, नमक, मीठा, ३. पानी पीना, ४. कुंकुमादि विलेपन, ५. पुष्प, ६. तांबूल, ७. गीत, ८. नृत्य, ९. ब्रह्मचर्य, १०. स्नान, ११. भूषण, १२. वस्त्र, १३. वाहन, १४. शयन, १५. आसन, १६. सचित्त वस्तु, १७. वस्तु संख्या। इनका प्रतिदिन, समयावधि या जीवन पर्यंत के लिये प्रमाण कर शेष का त्याग करना संयम कहलाता है।

संयम के दो भेद हैं- १. **इन्द्रिय संयम-** पांच इन्द्रिय और मन को अपने आधीन रखकर सदा ही उपयोगी कार्यों में लगाये रखना, व्यर्थ भोगोपभोग और संकल्प विकल्प नहीं करना, इनको सीमित संयमित रखना जिससे स्वस्थ रहें और धर्म साधना में सहयोगी सहायक हों यह इन्द्रिय संयम है। २. **प्राणी संयम-** पांच स्थावर मिट्टी, पानी, अग्नि, हवा और वनस्पति का उपयोग प्रयोजन से अधिक नहीं करना, हर एक कार्य देखभाल कर करना, नीचे देखकर चलना, किसी भी वस्तु को देखकर उठाना धरना जिससे जीवों की हिंसा न हो। पशुओं को सताना नहीं, किसी मनुष्य के हृदय को दुखाना नहीं, प्रमादचर्या, निष्प्रयोजन पाप नहीं करना, समय को व्यर्थ नहीं गंवाना, यह सब व्यवहार द्रव्य संयम कहलाता है। इसके साथ शुद्ध संयम अर्थात् अपने स्वरूप की सुरत रखना, ज्ञानभाव में रहना भाव संयम है। इससे शुद्धात्म तत्व का प्रकाश होता है, कर्म क्षय होते हैं। रत्नत्रयमयी ज्ञान के शुद्ध जल में स्नान करना ही निश्चय संयम है अर्थात् अपने शुद्धात्म स्वरूप के अनुभव में लीन रहना, बारम्बार अवगाहन करना, डुबकी लगाना ही शुद्ध संयम है यही परम हितकारी

सच्चा मोक्षमार्ग है, यही परम उपादेय है जिसका शुद्ध सम्यक्दृष्टि पालन करता है।
आगे शुद्ध तप के स्वरूप का वर्णन करते हैं-

तपं अप्य सद्भावं, सुद्ध तत्त्व सचिंतनं ।

सुद्ध न्यान मयं सुद्धं, तथाहि निर्मलं तपं ॥ ३७३ ॥

अन्वयार्थ- (तपं अप्य सद्भावं) शुद्ध तप अपने आत्म स्वभाव में रहना, ठहरना है (सुद्ध तत्त्व सचिंतनं) अपने शुद्धात्म तत्त्व का भले प्रकार चिन्तन करना (सुद्ध न्यान मयं सुद्धं) अपने शुद्ध ज्ञानमयी शुद्ध स्वभाव में ठहरना (तथाहि निर्मलं तपं) इसी को निर्मल शुद्ध तप कहते हैं।

विशेषार्थ- शुद्ध षट्कर्मों में यहाँ शुद्ध तप का स्वरूप बताया जा रहा है, अपने आत्म स्वभाव में लीन होना ही शुद्ध तप है। तप से कर्मों की निर्जरा होती है, अपने शुद्धात्म तत्त्व का भले प्रकार चिंतन करना ज्ञानमयी शुद्ध स्वभाव में ठहरना यही निर्मल शुद्ध तप है। इसके लिये बारह प्रकार का तप साधन करना भी आवश्यक है, जिससे इन्द्रियां प्रबल होकर मन को चंचल न करें। इसके लिये अन्तरंग में विषय-कषायों की निवृत्ति करना- **“इच्छा निरोधस्तपः”** इच्छाओं का निरोध करना तप है, तप के बारह भेद हैं- **छह बाह्य तप-**

१. अनशन- आत्मा का इन्द्रिय और मन की विषय वासनाओं से रहित होकर अपने आत्म स्वरूप में वास करना उपवास है। संयम की सिद्धि, राग के अभाव, कर्मों के नाश, ध्यान और स्वाध्याय में प्रवृत्ति के निमित्त इन्द्रियों को जीतना, इसलोक-परलोक संबंधी विषयों की वांछा न करना, मन को आत्म स्वरूप अथवा शास्त्र स्वाध्याय में लगाना, क्लेश उत्पन्न न हो उस प्रकार एक दिन की मर्यादा रूप चार प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन तप है।

२. अवमौदर्य- कीर्ति, माया, कपट, मिष्ट भोजन के लोभ रहित अल्प आहार लेना अवमौदर्य या ऊनोदर तप है।

३. वृत्ति परिसंख्यान- अपनी वृत्ति, भोजन की रुचि को घटाने के लिये अटपटी प्रतिज्ञा लेना। चटपटी छोड़ अटपटी खाना अर्थात् जो कुछ जैसा मिल जाये शांत भाव से ग्रहण करना।

४. रस परित्याग- इन्द्रियों का दमन करने के लिये छह रसों में से एक का या अधिक रसों का त्याग करना।

५. विविक्त शय्यासन- ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, ध्यान की सिद्धि के लिये एकांत में शयन करना, रहना।

६. काय क्लेश- जिस प्रकार चित्त में क्लेश, खेद न उपजे उस प्रकार अपनी शक्ति के अनुसार साम्य भाव पूर्वक खड़े होकर ध्यान सामायिक करना।

छह अंतरंग तप-

१. प्रायश्चित- प्रमाद जनित दोषों का प्रतिक्रमण आदि करना।

२. विनय- सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के प्रति श्रद्धा बहुमान होना तथा जो रत्नत्रय के धारी श्रावक साधु हों उनकी विनय भक्ति करना।

३. वैयावृत्य- अपने उपयोग की देखभाल सम्हाल करना तथा त्यागी साधु संयमी तपस्वियों की सेवा सम्हाल करना।

४. स्वाध्याय- अपने परिणाम, प्रवृत्ति-निवृत्ति का अध्ययन करना तथा ज्ञान भावना के सत्शास्त्रों का स्वाध्याय पठन-पाठन करना।

५. व्युत्सर्ग- अंतरंग तथा बाह्य परिग्रह के त्याग रूप बुद्धि रखना, अपने स्वरूप में लीन रहना।

६. ध्यान- समस्त चिंताओं को त्यागकर मंद कषाय रूप धर्म ध्यान करना। इसके लिये प्रातः सायं एकांत में बैठकर सामायिक करना आवश्यक है।

वास्तव में निर्मल व शुद्ध तप वही है जो आत्मा अपनी आत्मा में तपे, शुद्धात्मानुभव हो वही तप कर्म की अविपाक निर्जरा करने वाला है, परमानंद का देने वाला परमोपकारी है, ज्ञान स्वभाव में रमण करना ही सच्चा तप है।

आगे शुद्ध दान का स्वरूप कहते हैं-

दानं पात्र चिंतस्य, सुद्ध तत्त्व रतो सदा ।

सुद्ध धर्म रतो भावं, पात्र चिंता दान संजुतं ॥ ३७४ ॥

अन्वयार्थ- (दानं पात्र चिंतस्य) दान अर्थात् देना, पात्रों को भक्ति भाव से उनकी आवश्यकतानुसार चार दान देना (सुद्ध तत्त्व रतो सदा) शुद्ध तत्त्व में सदा रत रहना निश्चय दान है (सुद्ध धर्म रतो भावं) अपने शुद्ध धर्म, शुद्ध स्वभाव में रत रहने की भावना वाले (पात्र चिंता दान संजुतं) पात्र की विशेष व्यवस्था, सम्हाल करना, दान देना शुद्ध दान है।

विशेषार्थ- यहां श्री तारण स्वामी ने दान का स्वरूप कहा है कि दोनों प्रकार

का दान देना ही शुद्ध दान है। यह निश्चय-व्यवहार का समन्वय अध्यात्मवादी संतों के जीवन से प्रमाणित होता है। व्यवहार में पात्र जीवों को उनकी आवश्यकतानुसार चार प्रकार का दान देना और निश्चय से अपने शुद्धात्म स्वरूप में सदा रत रहना ही शुद्ध दान है। यह जीव अनादि काल से अपने आत्म स्वरूप को भूला हुआ भूखा, दीन-हीन, निर्बल हो रहा है। इसे अपने शुद्धात्म स्वरूप का बोध कराना आहार दान है। वस्तु स्वरूप बताना ज्ञान दान है। निरंतर सत्संग स्वाध्याय तत्त्वनिर्णय आदि करना औषधि दान है। अपने परमात्म स्वरूप का उत्साह बहुमान जगाना, अभय बनाना अभय दान है। ऐसे शुद्ध धर्म, अपने शुद्ध स्वभाव में रत रहने की भावना वाले पात्र जीवों की उचित अनुकूल व्यवस्था करना, देखभाल सम्हाल करना यही शुद्ध दान से संयुक्त होना है। सच्चा पात्र रत्नत्रय स्वरूप अपनी आत्मा है, उसको स्वात्मानन्दामृत का दान देना परम शुद्ध दान है। व्यवहार में प्रतिदिन चार प्रकार का दान जीव मात्र को उसकी आवश्यकतानुसार प्रेम भक्ति करुणा पूर्वक देना सद्ग्रहस्थ का परम कर्तव्य है। दान देने से इस भव में सम्मान मिलता है, प्रभावना होती है तथा जब तक संसार में रहना है तब तक दिया हुआ दान ही सहकारी होता है। घर ग्रहस्थी में रहते हुए प्रत्येक श्रावक का कर्तव्य है कि हमेशा दान देने की भावना प्रभावना करता रहे। सम्यक्दृष्टि श्रावक दोनों प्रकार का दान देता है तभी उसकी पात्रता बढ़ती है और धर्म की प्रभावना होती है।

इस प्रकार इन शुद्ध षट्कर्मों का पालन करने वालों की विशेषता बतलाते हैं-
ये षट् कर्म सुद्धं च, जे सार्धति सदा बुधै ।

मुक्ति मार्गं ध्रुवं सुद्धं, धर्म ध्यान रतो सदा ॥ ३७५ ॥

ये षट् कर्म च आराध्यं, अविरतं श्रावगं ध्रुवं ।

संसार सरनि मुक्तस्य, मोक्षगामी न संसयः ॥ ३७६ ॥

अन्वयार्थ- (ये षट् कर्म सुद्धं च) यह शुद्ध षट्कर्म शुद्ध हैं (जे सार्धति सदा बुधै) जो ज्ञानी सदा इन षट्कर्मों की साधना करते हैं (मुक्ति मार्गं ध्रुवं सुद्धं) वे निश्चय शुद्ध मुक्ति मार्ग के पथिक हैं (धर्म ध्यान रतो सदा) जो सदा धर्म ध्यान में रत रहते हैं।

(ये षट् कर्म च आराध्यं) यह शुद्ध षट्कर्मों का जो आराधन करते हैं (अविरतं श्रावगं ध्रुवं) वे अविरत श्रावक शुद्ध दृष्टि हैं (संसार सरनि मुक्तस्य) वह संसार के

परिभ्रमण से मुक्त होकर (मोक्षगामी न संसयः) मोक्षगामी होंगे इसमें कोई संशय नहीं है।

विशेषार्थ- इस प्रकार शुद्ध षट्कर्मों का वर्णन किया, जो ज्ञानी सम्यक्दृष्टि श्रावक इनका पालन करते हैं वे सच्चे मोक्षमार्ग के पथिक हैं, जो धर्म ध्यान में रत रहते हुए अपनी पात्रतानुसार धर्म साधना करते हुए संसार परिभ्रमण से मुक्त होकर मोक्षगामी होंगे इसमें कोई संशय नहीं है। यहां सद्गुरु श्री तारण स्वामी ने शुद्ध षट्कर्मों का जो निश्चय-व्यवहार के समन्वय पूर्वक वर्णन किया है यह अपने आपमें अपूर्व है, वास्तव में जिसे अपना आत्म कल्याण करना हो वह इसका चिंतन-मनन आराधन करे और तद्रूप पालन आचरण करे वह शुद्ध सम्यक्दृष्टि निश्चित मोक्षगामी है इसमें कोई संशय नहीं है। सच्ची देवपूजा शुद्ध सम्यक्दर्शन सहित अर्थात् निज आत्मानुभूति पूर्वक जो पंचपरमेष्ठी पद की साधना करता है, पचहत्तर गुणों को अपने जीवन में उतारता है वह निश्चित देवत्व पद को प्राप्त करेगा। यही अध्यात्म में सच्ची देवपूजा है, परावलम्बन किसी नाम, रूप, साकारमूर्ति आदि के माध्यम से कभी मुक्ति नहीं हो सकती।

निर्ग्रन्थ वीतरागी साधु की भक्ति सत्संग द्वारा निज अंतरात्मा का जागरण होना और वीतराग मार्ग पर चलना ही सच्ची गुरु उपासना है। सत्शास्त्रों को पढ़कर ज्ञान प्राप्त करना व्यवहार स्वाध्याय है तथा अपने आत्मा के शुद्ध स्वभाव का आराधन करना निश्चय स्वाध्याय है। पांच इन्द्रिय और मन का दमन करना तथा छह काय के प्राणियों की रक्षा हेतु-यम, नियम रूप संयम पालन करना व्यवहार संयम है। निश्चल शुद्धात्मा में रमण करना, अपने शुद्धात्म स्वरूप की निरंतर सुरत रहना निश्चय संयम है। अनशन आदि बारह प्रकार का तप शक्ति अनुसार पालन करना व्यवहार तप है। अपने शुद्धात्म स्वरूप में लीन रहना निश्चय तप है। पात्रों को भक्ति पूर्वक तथा दुखियों को दया पूर्वक दान देना व्यवहार दान है और अपने ही आत्मा का अनुभव करके ज्ञानामृत का दान करना निश्चय दान है। इन षट्कर्मों का अग्रती ग्रहस्थ श्रावक को हमेशा पालन करना चाहिये, यह मोक्षमार्ग में सहकारी कारण हैं। इनका निरंतर पालन करते हुए धर्म ध्यान में रत रहना योग्य है। अपने लौकिक कार्यों की बहुतायत होने पर भी, बहुत आरंभ काम धंधा होने पर भी जो इनके लिये समय निकालता है वही सच्चा धर्म प्रेमी है। जिस तरफ की रुचि भावना होती है, उधर ही पुरुषार्थ काम करता है। जिसे अपने शुद्धात्म स्वरूप की अनुभूति, भेदज्ञान

पूर्वक वस्तु स्वरूप का ज्ञान हो गया है वह अव्रती होता हुआ भी मोक्षमार्गी है और अपने समय पर भविष्य में मुक्त होगा इसमें कोई संशय नहीं है।

इस प्रकार अव्रती सम्यक्दृष्टि जघन्य पात्र के स्वरूप का वर्णन पूर्ण करते हैं-

एतत् भावनं कृत्वा, श्रावगं संमिक दिस्टितं।

अविरतं सुद्ध दिस्टी च, सार्धं न्यान मयं ध्रुवं ॥ ३७७ ॥

अन्वयार्थ- (एतत् भावनं कृत्वा) इस प्रकार की भावना करने वाला (श्रावगं संमिक दिस्टितं) श्रावक सम्यक्दृष्टि होता है (अविरतं सुद्ध दिस्टी च) वह अविरत शुद्धदृष्टि है जो (सार्धं न्यान मयं ध्रुवं) अपने ज्ञानमयी ध्रुवस्वभाव की श्रद्धा और साधना करता है।

विशेषार्थ- इस प्रकार सात व्यसन, विकथा आदि का त्याग करता हुआ, जो सम्यक्त्व, अष्ट मूल गुण, चार दान, तीन रत्नत्रय, रात्रि भोजन त्याग, पानी छानकर पीना इन अठारह क्रियाओं का पालन करता हुआ शुद्ध षट्कर्मों का पालन करता है वह सम्यक्दृष्टि श्रावक है। अभी अव्रती दशा में संसार घर ग्रहस्थी में फंसा है परंतु जिसे अपने ज्ञानमयी ध्रुव स्वभाव का श्रद्धान है और उसी की साधना करता है तथा उसी का उत्साह है, आत्म कल्याण आत्मोन्नति की भावना उसकी वेगवती चलती है। अभी अप्रत्याख्यानावरण कषाय की विशेषता से अव्रती है, जैसे ही अप्रत्याख्यान कषाय का उपशम, क्षयोपशम हुआ प्रत्याख्यानावरण का सद्भाव आया, वह पांचवां गुणस्थानवर्ती व्रती श्रावक हो जाता है। ग्यारह प्रतिमाओं का पालन करने लगता है। चारित्र का बहुमान और आत्म कल्याण की भावना तीव्र होने से उसके परिणाम निर्मल, विवेकपूर्ण, धर्मयुक्त, न्यायमार्गी, दया और धर्म से गर्भित होते हैं। व्रती न होने पर भी व्रती के समान आचरण करता है। धर्म ध्यान का प्रारंभ चौथे गुणस्थान से हो जाता है, वह सदा संसार शरीर भोगों से वैराग्य युक्त होकर आत्मा के शुद्ध स्वरूप की भावना और साधना करता है। जगत के सुख-दुःख की प्राप्ति में नाटक के दृष्टा के समान न उन्मत्त होता है, न विषाद करता है, अंतर में समता भाव का प्रेमी है। यह स्थिति उसकी पात्रता बढ़ाती है और वह व्रती श्रावक हो जाता है।

श्रावक धर्म, ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप -

आचार्य पदवी धारी व्रती श्रावक मध्यम पात्र की ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप वर्णन करते हैं-

श्रावग धर्म उत्पादंते, आचरणं उत्कृष्टं सदा।

प्रतिमा एकादसं प्रोक्तं, पंच अनुव्रत सुद्धये ॥ ३७८ ॥

अन्वयार्थ- (श्रावग धर्म उत्पादंते) श्रावक धर्म प्रगट होता है (आचरणं उत्कृष्टं सदा) जिसका आचरण हमेशा उत्कृष्ट होता जाता है (प्रतिमा एकादसं प्रोक्तं) इसके लिये ग्यारह प्रतिमायें कही गई हैं (पंच अनुव्रत सुद्धये) जिससे पंच अनुव्रत शुद्ध होते हैं।

विशेषार्थ- यद्यपि प्रथमानुयोग के ग्रंथों में सामान्य रीति से छोटी-छोटी प्रतिज्ञा लेने वाले जैनी ग्रहस्थ को भी कई जगह श्रावक कहा है तथापि चरणानुयोग की पद्धति से यथार्थ में पाक्षिक, नैष्ठिक तथा साधक तीनों की ही श्रावक संज्ञा है क्योंकि श्रावक को अष्ट मूलगुण धारण और सप्त व्यसनों का त्याग ही मुख्य रूप से होता है तथा अहिंसा आदि बारह व्रत उत्तरगुण हैं, इन्हीं के अंतर्गत श्रावक की त्रेपन क्रियायें होती हैं। इन क्रियाओं को धारण एवं पालन करने के कारण ही श्रावकों को त्रेपन क्रिया प्रतिपालक विशेषण दिया जाता है। इन क्रियाओं की शुद्धि क्रमशः प्रथम आदि प्रतिमाओं में होती हुई पूर्णता ग्यारहवीं प्रतिमा में होती है।

पाक्षिक श्रावक -

जिनको जैन धर्म के देव, गुरु, शास्त्रों द्वारा आत्मा का स्वरूप तथा आत्म कल्याण का मार्ग भली भांति ज्ञात और निश्चित हो जाने से पवित्र जिन धर्म का, श्रावक धर्म का तथा अहिंसा आदि का पक्ष हो जाता है, जिनके मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ भावनायें दिन-प्रतिदिन वृद्धि रूप होती जाती हैं, जो स्थूल-त्रस हिंसा के त्यागी हैं, ऐसे चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यक्दृष्टि पाक्षिक श्रावक कहलाते हैं। जो कैसी ही विपत्ति आने पर भी सच्चे देव, गुरु, शास्त्र, पंचपरमेष्ठी के अतिरिक्त किसी देवी देवता, कुदेव, अदेव आदि की पूजा वंदना भक्ति नहीं करते। वे इन सत्रह नियमों का पालन करते हैं-

कुगुरु कुदेव कुवृष की सेवा, अनर्थदण्ड अघमय व्यापार।

घृत मांस मधु वेश्या चोरी, परतिय हिंसा दान शिकार ॥

त्रस की हिंसा थूल असत्यरु, बिन छान्यो जल निशिआहार।

यह सत्रह अनर्थ जग मांहीं, यावज्जिओ करो परिहार ॥

कुगुरु, कुदेव, कुधर्म की सेवा, अनर्थ दण्ड, हिंसा पाप मय व्यापार, जुआं,

मांस, मधु, वेश्या, चोरी, परस्त्री, हिंसादान, शिकार, त्रस की हिंसा, स्थूल झूठ, बिना छना पानी, रात्रि भोजन इनका आजीवन त्याग होता है।

नैष्ठिक श्रावक-

जो धर्मात्मा पाक्षिक श्रावक की क्रियाओं का साधन करके शास्त्रों के अध्ययन द्वारा तत्त्वों का विशेष विवेचन करता हुआ पंचाणुव्रतों का आरम्भ कर अभ्यास बढ़ाने अर्थात् देशचारित्र धारण करने में तत्पर हो वह नैष्ठिक श्रावक कहलाता है अथवा जो सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र और उत्तम क्षमादि दश धर्म का पालन करने की निष्ठा (श्रद्धा) युक्त पंचम गुणस्थानवर्ती हो वह नैष्ठिक श्रावक कहलाता है। नैष्ठिक श्रावक के अप्रत्याख्यानावरण कषायों का उपशम होने से और प्रत्याख्यानावरण कषायों का क्षयोपशम, मंद उदय के क्रमशः बढ़ने से ग्यारहवीं प्रतिमा तक बारह व्रत पूर्णता को प्राप्त हो जाते हैं, इसी कारण श्रावक को सागार (अणुव्रती) कहा है, यह श्रावक की ग्यारह प्रतिमायें (पाप त्याग की प्रतिज्ञायें) ही अणुव्रतों को महाव्रतों की अवस्था तक पहुंचाने वाली नसैनी के समान हैं। इनको धारण करने का पात्र यथार्थ में वही पुरुष है जो मुनिव्रत (महाव्रत) धारण करने का अभिलाषी हो। यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि जितने त्याग, व्रत के योग्य अपने शरीर की शक्ति, द्रव्य, क्षेत्र, काल की योग्यता, परिणामों का उत्साह हो और जिससे धर्म ध्यान में उत्साह तथा वृद्धि होती रहे, उतनी ही प्रतिज्ञा धारण करना चाहिये; अतएव इन प्रतिमाओं के स्वरूप तथा इनके द्वारा होने वाले लौकिक-पारलौकिक लाभों को यथावत जानकर जितना सधता दिखे और विषय कषाय मंद होते दिखें, उतना ही व्रत-नियम धारण करना कल्याणकारी है। कहा है-

संयम अंश जग्यो जहां, भोग अरुचि परिणाम।

उदय प्रतिज्ञा को भयो, प्रतिमा ताको नाम ॥ (पं. बनारसीदास जी)

जब संयम धारण करने का भाव उत्पन्न हो, विषय भोगों से अंतरंग में उदासीनता उत्पन्न हो तब जो त्याग की प्रतिज्ञा की जाये वह प्रतिज्ञा प्रतिमा कहलाती है।

श्री गुरु तारण तरण मण्डलाचार्य जी महाराज आगे ग्यारह प्रतिमाओं के नाम कहते हैं-

दंसन वय सामाड़, पोसह सचित्त चिंतनं।

अनुरागं बंधचर्यं च, आरंभं परिग्रहस्तथा ॥ ३७९ ॥

अनुमतं उदिष्ट देसं च, प्रतिमा एकादसानि च।

व्रतानि पंच उत्पादंते, श्रूयते जिनागमं ॥ ३८० ॥

अन्वयार्थ- (दंसन वय सामाड़) दर्शन प्रतिमा, व्रत प्रतिमा, सामायिक प्रतिमा (पोसह सचित्त चिंतनं) प्रोषधोपवास प्रतिमा, सचित्त प्रतिमा (अनुरागं बंधचर्यं च) अनुराग प्रतिमा, ब्रह्मचर्य प्रतिमा (आरंभं परिग्रहस्तथा) आरंभ प्रतिमा, परिग्रह त्याग प्रतिमा (अनुमतं उदिष्ट देसं च) अनुमति त्याग प्रतिमा, उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा, यहां तक देशव्रत हैं (प्रतिमा एकादसानि च) यह ग्यारह प्रतिमायें हैं (व्रतानि पंच उत्पादंते) इससे पांच अणुव्रत प्रगट होते हैं अर्थात् शुद्ध होते हैं (श्रूयते जिनागमं) ऐसा जिनागम में कहा है।

विशेषार्थ- १. दर्शन प्रतिमा, २. व्रत प्रतिमा, ३. सामायिक प्रतिमा, ४. प्रोषधोपवास प्रतिमा, ५. सचित्त प्रतिमा, ६. अनुराग भक्ति प्रतिमा, ७. ब्रह्मचर्य प्रतिमा, ८. आरंभ त्याग प्रतिमा, ९. परिग्रह त्याग प्रतिमा, १०. अनुमति त्याग प्रतिमा, ११. उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा।

यह ग्यारह प्रतिमा जैनागम में श्रावक के लिये कही गई हैं, यहां तक देशव्रत होता है, इन प्रतिमाओं के पालन से अणुव्रत शुद्ध होते हैं। जिस प्रतिमा में जिस व्रत के पालन या पाप त्याग की प्रतिज्ञा की जाती है वह यथावत पालन करने तथा अतिचार न लगाने से ही प्रतिमा कहलाती है। जिस किसी प्रतिमा में अतिचार लगता हो तो नीचे की प्रतिमा जानना चाहिये, यदि नीचे की प्रतिमाओं का चारित्र बिल्कुल पालन न कर या अधूरा ही रखकर ऊपर की प्रतिमा का चारित्र धारण कर लिया जाये तो वह जिनमत से बाह्य कौतुक मात्र है उसका कुछ भी फल नहीं मिलता; क्योंकि नीचे से क्रम पूर्वक यथावत साधन करते हुए ऊपर चढ़ते जाने से, क्रम पूर्वक चारित्र बढ़ाने से ही विषय कषाय मंद होने से आत्मीक सच्चे सुख की प्राप्ति हो सकती है, जो कि प्रतिज्ञा और प्रतिमाओं के धारण करने का मुख्य उद्देश्य है।

इन ग्यारह प्रतिमाओं में छटवीं प्रतिमा तक जघन्य श्रावक (ग्रहस्थ), नवमीं प्रतिमा तक मध्यम श्रावक (ब्रह्मचारी) और दसवीं ग्यारहवीं प्रतिमा वाले उत्कृष्ट श्रावक (भिक्षुक) कहलाते हैं।

यहां जो ग्यारह प्रतिमाओं के नाम आये हैं, इनमें छटवीं प्रतिमा का नाम अनुराग भक्ति जबकि रत्नकरण्ड श्रावकाचार में इसका नाम रात्रि भुक्ति त्याग है और

अमित गति श्रावकाचार में दिवा मैथुन त्याग है। श्री तारण स्वामी ने छटवीं प्रतिमाधारी को अपनी आत्मा में विशेष अनुराग भक्ति होने से इसका नाम अनुराग भक्ति रखा, यह उनकी अपनी अनुभूतियुत बात है, इसी के बाद ब्रह्मचर्य प्रतिमा होती है। अन्य आचार्यों का व्यवहारिक दृष्टिकोण है; जबकि श्री तारण स्वामी ने शुद्ध अध्यात्म के आधार से निश्चय नय प्रधान प्रतिमाओं का स्वरूप वर्णन किया है जो यथार्थ में अनुभव प्रमाण है। वर्तमान में प्रतिमाओं और साधु पद की दीक्षा ली और दी जाती है, वे व्यवहार प्रधान क्रियाओं में ही संलग्न रहते हैं जबकि यह अंतरंग जागरण होने पर स्वयमेव स्थिति बनती है वही यथार्थ सत्य है। जैसे- खेत में बोये गये बीज में स्वयं अंकुरण, पत्ती, फूल, फल लगते हैं वही यथार्थ होते हैं और जो कागज या नाईलोन के बनाकर लगाये जाते हैं वह देखने मात्र के हैं, इसी प्रकार प्रतिमाओं का आचरण मात्र औपचारिक नहीं है बल्कि आत्मानुभूति पूर्वक होने वाला आचरण ही यथार्थ होता है, धर्म मार्ग में यही प्रतिमाओं का स्वरूप है।

आगे पांच अणुव्रतों के नाम जिनकी शुद्धि द्वारा आत्म स्वरूप में रमणता होती है, उनका वर्णन करते हैं-

अहिंसा नृतं जेन, स्तेयं बंध परिग्रहं।

सुद्ध तत्त्व हृदयं चिंतं, सार्धं न्यान मयं ध्रुवं ॥ ३८१ ॥

अन्वयार्थ- (अहिंसा नृतं जेन) जो अहिंसा, सत्य (स्तेयं बंध परिग्रहं) अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग कहे गये हैं (सुद्ध तत्त्व हृदयं चिंतं) इससे हृदय में शुद्ध तत्व का चिंतवन और (सार्धं न्यान मयं ध्रुवं) ज्ञानमयी ध्रुव स्वभाव की साधना होती है।

विशेषार्थ- अव्रत सम्यक्दृष्टि, जिसकी आत्म कल्याण की भावना प्रबल हो गई, बाह्य में कर्मों की अनुकूलता, कषाय की मंदता, प्रत्याख्यान कषाय होने से पापों के त्याग रूप अणुव्रत और विषयों से हटने के लिये प्रतिज्ञा (प्रतिमा) धारण करता है, जिससे उसके हृदय में हमेशा अपने शुद्धात्म तत्व का चिंतवन चलता है। ज्ञानमयी ध्रुव स्वभाव का लक्ष्य और साधना चलती है, अभी तक कर्मोदयजन्य पापादि विषयों में लगे रहने से अपने आत्म स्वरूप की सुरत भी नहीं रहती थी, निज शुद्धात्मानुभूति होने से यह सब रुचिकर नहीं लगते थे परंतु कर्मों की बलवत्ता जोर होने से उस दशा में रहता है। अब पुरुषार्थ जागा, संयम की भावना जागी और एकदेश पापों का त्यागकर प्रतिमाओं के माध्यम से आगे बढ़ने का पुरुषार्थ करता है। अपने ज्ञानमयी

ध्रुव स्वभाव की साधना और हृदय में उसी का चिंतवन करता है जिससे पापादि विषयों के भाव अपने आप क्षय होने लगते हैं। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग व्रतों का पालन होने लगता है। प्रतिमाओं के माध्यम से अणु रूप पालन होता हुआ जब पूर्ण शुद्धि हो जाती है तब महाव्रत साधु पद हो जाता है। इसी लक्ष्य और भावना को लेकर सम्यक्दृष्टि इन प्रतिमाओं के माध्यम से आगे बढ़ता है जिससे अपने आत्म स्वरूप में निरंतर निमग्न रहे।

१. दर्शन प्रतिमा

पहली दर्शन प्रतिमा का स्वरूप वर्णन करते हैं-

प्रतिमा उत्पादंते जेन, दर्सनं सुद्ध दर्सनं।

उवंकारं च वेदंते, मल पच्चीस विमुक्तयं ॥ ३८२ ॥

अन्वयार्थ- (प्रतिमा उत्पादंते जेन) यहां प्रतिमा के स्वरूप को प्रगट करते हैं (दर्सनं सुद्ध दर्सनं) शुद्ध सम्यक्दर्शन होना ही दर्शन प्रतिमा है (उवंकारं च वेदंते) जिसे परमात्म स्वरूप का अनुभव हो गया (मल पच्चीस विमुक्तयं) जो पच्चीस मलों से विमुक्त है।

विशेषार्थ- श्रावक की पहली दर्शन प्रतिमा का स्वरूप कहते हैं- निज शुद्धात्मानुभूति पूर्वक अपने परमात्म स्वरूप का दर्शन होना ही दर्शन प्रतिमा है। जो ८ शंकादि दोष, ८ मद, ६ अनायतन, ३ मूढ़ता इन पच्चीस दोषों से रहित शुद्ध सम्यक्दृष्टि है वही दर्शन प्रतिमाधारी है। सम्यक्दर्शन धर्म का मूल है। अपने शुद्धात्म स्वरूप का सच्चा श्रद्धान ही धर्म या सम्यक्दर्शन है और प्रतिमा अर्थात् मूर्ति, जो धर्म या सम्यक्त्व की मूर्ति हो, जिसके बाह्य आचरणों से ही ज्ञात हो कि यह पवित्र जिन धर्म का श्रद्धानी है वह दर्शन प्रतिमाधारी है। जिसके जीवन में अन्याय, अभक्ष्य, अनीति का नियम पूर्वक त्याग है; क्योंकि जो विकार तीव्र कषाय रूप महापाप के कारण हैं एवं अत्यन्त अनर्थ रूप हैं, ऐसा जानकर हर्ष पूर्वक त्यागता है। इस भांति से त्याग करने वाला ही व्रतादि प्रतिमा धारण करने का पात्र या अधिकारी होता है। जिसने अव्रत सम्यक्दृष्टि सम्बन्धी आचार आदि का पालन करके सम्यक्दर्शन को शुद्ध कर लिया है, जो संसार शरीर और भोगों से चित्त में विरक्त है, मूलगुणों के आचार दोषों का सर्वथा अभाव करके आगे की प्रतिमाओं को धारण करने का इच्छुक तथा न्याय पूर्वक आजीविका करने वाला है, जो पच्चीस मलों से विमुक्त है वह दर्शन

प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है।

आगे पच्चीस दोषों में तीन मूढ़ता का वर्णन करते हैं-

मूढ़त्रयं उत्पादंते, लोक मूढ़ं न दिस्टते।

जेतानि मूढ़ दिस्टी च, तेतानि दिस्टि न दीयते ॥ ३८३ ॥

लोक मूढ़ं देव मूढ़ं च, अनृतं अचेत दिस्टते।

तिक्तते सुद्ध दिस्टी च, सुद्ध संमिक्त रतो सदा ॥ ३८४ ॥

पाषंडी मूढ़ उक्तं च, असास्वतं असत्य उच्यते।

अधर्मं च प्रोक्तं जेन, कुलिंगी पाषंड तिक्तयं ॥ ३८५ ॥

अन्वयार्थ- (मूढ़त्रयं उत्पादंते) तीन मूढ़ता का स्वरूप प्रगट करते हैं (लोक मूढ़ं न दिस्टते) लोक मूढ़ता को नहीं देखता (जेतानि मूढ़ दिस्टी च) जितनी जगत में लोक मूढ़ता की मान्यतायें श्रद्धान हैं (तेतानि दिस्टि न दीयते) उन पर दर्शन प्रतिमाधारी श्रद्धान नहीं करता, उन पर दृष्टि नहीं देता (लोक मूढ़ं देव मूढ़ं च) लोक मूढ़ता और देव मूढ़ता को (अनृतं अचेत दिस्टते) मिथ्या रूप, अज्ञान रूप, नाशवान जड़ देखता है (तिक्तते सुद्ध दिस्टी च) इसलिये शुद्ध सम्यक्दृष्टि इन मूढ़ताओं को छोड़ देता है (सुद्ध संमिक्त रतो सदा) वह सदा ही शुद्ध आत्मानुभव रूप सम्यक्दर्शन में तन्मय रहता है।

(पाषंडी मूढ़ उक्तं च) अब पाखंडी मूढ़ता अर्थात् गुरु मूढ़ता को कहते हैं (असास्वतं असत्य उच्यते) जो क्षणभंगुर नाशवान पदार्थों को शाश्वत बताकर झूठ बोलते हैं (अधर्मं च प्रोक्तं जेन) जो अधर्म की चर्चा करते हैं और उसी रूप आचरण करते हैं (कुलिंगी पाषंड तिक्तयं) जो कुलिंगधारी झूठे भेषधारी साधु हैं, सम्यक्त्वी ऐसे पाखंडियों की सेवा भक्ति नहीं करते।

विशेषार्थ- यद्यपि पच्चीस मल दोष का कथन पहले कर चुके हैं तथापि दर्शन प्रतिमा का मूल आधार होने से विशेषता से यहां बताया जा रहा है।

तीन मूढ़ता- १. लोक मूढ़ता, २. देव मूढ़ता, ३. पाषंड मूढ़ता (गुरु मूढ़ता)। मूढ़ता अर्थात् मूढ़ मान्यता, रूढ़िगत मान्यतायें, विवेकहीन आचरण। इसमें पहली लोकमूढ़ता- लोगों की देखादेखी-करने न करने योग्य मान्यतायें करना, इसमें लौकिक कामनाओं के वशीभूत क्रियायें करना, उसे धर्म मानना और उनसे अपना भला होना

मानना। जैसे-नदी आदि में स्नान करने से धर्म पुण्य होना, थैली आदि धन पूजने से धन आयेगा, कलम दवात पूजने से खूब व्यापार चलेगा, दुकान की दहली पूजने से बहुत व्यापारी आयेंगे, दीपावली में जुआं खेलने से अपार धन मिलेगा, इस प्रकार की अनेकों लोक मूढ़तायें हैं। इन सबको विचारवान दर्शन प्रतिमाधारी नहीं मानता, इन पर कभी श्रद्धान, विश्वास नहीं करता। इसी प्रकार लोक मूढ़ता जैसी देव मूढ़ता भी होती है। जैसे लोक मूढ़ता मिथ्यात्व अज्ञान है, वैसे ही देव मूढ़ता भी मिथ्यात्व अज्ञान है। रागी-द्वेषी देव तो स्वयं संसाराशक्त हैं, उनकी पूजा करके अपना कल्याण भला मानना ही देव मूढ़ता है। किसी लौकिक प्रयोजनवश देव जाति के किन्हीं भी देवों की पूजा भक्ति करना देव मूढ़ता है तथा जिनमें देवत्वपना ही नहीं है, ऐसे अदेव वृक्ष, पाषाण आदि में कल्पित देवी देवता को पूजना देव मूढ़ता है। किसी चित्र, मूर्ति पाषाण प्रतिमा आदि में देव की स्थापना करके सच्चे देव मानकर पूजा भक्ति करना देव मूढ़ता है। सम्यक्दृष्टि सम्यक्ज्ञानी होता है, वह अपने आत्मानुभव में ही तन्मय रहता है। आत्मानन्द का विलासी है, संसार शरीर भोगों से उदास रहता है, सम्यक्दृष्टि ज्ञानी कभी भी मिथ्या श्रद्धान और मिथ्या ज्ञान के वश होकर मूढ़ता से देखादेखी किसी कुदेव या अदेव को पूज्यनीय नहीं मानता, इसी प्रकार पाखंडी मूढ़ता अर्थात् आरंभ परिग्रह और हिंसादि दोष युक्त पाखंडी भेषधारी कुगुरुओं का आदर, सत्कार, पुरस्कार करना पाखंडी (गुरु) मूढ़ता है। जो निर्ग्रंथ, आरंभ-परिग्रह रहित वीतरागी तत्त्वज्ञानी साधु हैं वे मोक्षमार्गी हैं, उनकी भक्ति मोक्षमार्ग में प्रेरक है; परंतु जो साधु भेष धारण करके आरंभ-परिग्रह में लीन हैं, हिंसा होते हुए अहिंसा मानते हैं, अधर्म को धर्म कहते हैं, संसार के प्रपंच में फंसे हुए हैं, ऐसे साधुओं की कोई बाहरी महिमा या उनका चमत्कार देखकर अथवा जानकर उन पर मोहित होना, उनकी सेवा भक्ति करने लग जाना वह पाखंड या गुरु मूढ़ता है। सम्यक्दृष्टि कभी भी आगम के विरुद्ध चलने वाले लौकिक साम्प्रदायिक बंधनों में बंधे पाखंडी साधुओं की मान्यता, सेवा भक्ति नहीं करता। इस प्रकार इन तीन मूढ़ताओं से रहित दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक होता है।

आगे छह अनायतन का स्वरूप कहते हैं-

अनायतन षट्कस्चैव, तिक्तते जे विचष्यना।

कुदेवं कुदेव धारी च, कुलिंगी कुलिंग मानते ॥ ३८६ ॥

कुसास्त्रं विकहा रागं च, तिक्तते सुद्ध दिस्टितं ।

कुसास्त्रं राग त्रिधंते, अभव्यं च नरयं पतं ॥ ३८७ ॥

अन्वयार्थ- (अनायतन षट्करचैव) अनायतन छह कहे गये हैं (तिक्तते जे विचष्यना) जो विचक्षण ज्ञानी पुरुष हैं, वे इन्हें त्याग देते हैं (कुदेवं कुदेव धारी च) कुदेव और कुदेवों को मानने वाले उनके भक्त (कुलिंगी कुलिंग मानते) कुभेषी साधु और उनके मानने वाले (कुसास्त्रं विकहा रागं च) खोटे शास्त्र जिनमें राग वर्धक विकथायें हों और उनको पढ़ने वाले (तिक्तते सुद्ध दिस्टितं) इन छह की संगति सम्यक्दृष्टि छोड़ देते हैं (कुसास्त्रं राग त्रिधंते) खोटे शास्त्र राग बढ़ाने वाले होते हैं (अभव्यं च नरयं पतं) जो इनको पढ़ते हैं, अनुसरण करते हैं वे अभव्य हैं और उनका नरक में पतन होता है ।

विशेषार्थ- दर्शन प्रतिमा धारण करने वाले को तीन मूढ़ता और छह अनायतन से बचना चाहिये । कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र तथा इनके सेवकों, भक्तों को धर्म के स्थान समझकर उनकी स्तुति, प्रशंसा करना षट् अनायतन है ; क्योंकि यह छहों धर्म के स्थान नहीं हैं । संगति का बहुत भारी असर बुद्धि पर पड़ता है; इसलिये सम्यक्दर्शन की रक्षा के हेतु यह सम्हाल बताई है कि वह ऐसी संगति न रखे जिससे व्यवहार और निश्चय सम्यक्त्व में कोई प्रकार की बाधा होवे ।

धर्म की वृद्धि के स्थानों को आयतन कहते हैं, जो इनके प्रतिकूल हों वे अनायतन हैं । रागी-द्वेषी देव, कुलिंगी भेषधारी साधु, विकथा और राग को बढ़ाने वाले कुशास्त्र और इनके मानने वालों की संगति से बचकर रहना आवश्यक है । परिणामों में शुद्ध सम्यक्दर्शन बना रहे, श्रद्धान ज्ञान चारित्र में दृढ़ता हो इसके लिये सम्यक्दृष्टि ज्ञानी कुसंग से बचकर रहता है । विशेष बात यह है कि जो शास्त्र के नाम पर कुशास्त्र रचे गये हैं, जिनमें कुछ शास्त्र पूर्व के आचार्यों के नाम पर लिखे हैं, जिनमें राग की वृद्धि, मिथ्यात्व का पोषण, पवित्र जैन धर्म में शुद्ध आम्नाय के स्थान पर क्रिया कांड मिथ्या आडंबर का पोषण किया गया है ऐसे कुशास्त्र लिखने वाले अभव्य होते हैं जो दुर्गति जाते हैं । इसलिये-

अन्यानी मिथ्या संजुक्तं, तिक्तते सुद्ध दिस्टितं ।

सुद्धात्मा चेतना रूपं, सार्धं न्यान मयं ध्रुवं ॥ ३८८ ॥

अन्वयार्थ- (अन्यानी मिथ्या संजुक्तं) जो अज्ञानी मिथ्यात्व में लिप्त हैं

(तिक्तते सुद्ध दिस्टितं) ज्ञानी शुद्ध दृष्टि, ऐसे अज्ञानी जीवों की संगति छोड़ देता है (सुद्धात्मा चेतना रूपं) शुद्धात्मा जो चैतन्य स्वरूप है (सार्धं न्यान मयं ध्रुवं) उस ज्ञानमयी ध्रुव स्वभाव की साधना करता है ।

विशेषार्थ- दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक ऐसी तीन मूढ़ता और छह अनायतन को छोड़कर जो अज्ञानी मिथ्यात्व में लिप्त हैं उनसे भी हटकर उनकी संगति त्यागकर अपने चैतन्य स्वरूप शुद्धात्मा जो ज्ञानमयी ध्रुव स्वभाव है उसकी साधना करता है ।

आगे आठ मद और शंकादि आठ दोषों का वर्णन करते हैं-

मद अस्टं ससंक अस्टं च, तिक्तते भव्यात्मनं ।

सुद्ध पदं ध्रुवं सार्धं, दर्शनं मल विमुक्तयं ॥ ३८९ ॥

जे केवि मल संपूर्णं, कुन्यानं त्रि रतो सदा ।

ते तानि संग तिक्तंते, न किंचिदपि चिंतए ॥ ३९० ॥

अन्वयार्थ- (मद अस्टं ससंक अस्टं च) आठ मद और आठ शंकादि दोष (तिक्तते भव्यात्मनं) भव्यात्मा इनको छोड़ देता है (सुद्ध पदं ध्रुवं सार्धं) शुद्ध पद ध्रुव स्वभाव की साधना करता है (दर्शनं मल विमुक्तयं) इन पच्चीस मलों से रहित ही दर्शन प्रतिमा होती है ।

(जे केवि मल संपूर्णं) जो कोई इन पच्चीस दोषों से संयुक्त होता है (कुन्यानं त्रि रतो सदा) तीन कुज्ञान में सदा रत रहता है (ते तानि संग तिक्तंते) उनका संग त्याग देना चाहिये (न किंचिदपि चिंतए) उनका कभी भी कोई विचार नहीं करना चाहिये ।

विशेषार्थ- सम्यक्दृष्टि को तीन मूढ़ता, छह अनायतन के त्याग के साथ आठ प्रकार का मद भी नहीं होता । आठ मद- जाति मद, कुल मद, धन मद, अधिकार मद, रूप मद, बल मद, विद्या मद और तप मद । इन बातों की उत्तमता व अधिकता होने पर भी सम्यक्त्वी इनका संबंध क्षणिक और कर्म जनित जानकर इनके संयोग से अभिमान नहीं करता । इन आठ मदों से बचकर मार्दव भाव, विनम्रता का व्यवहार करता है तथा आठ शंकादि दोषों से भी मुक्त होता है, जो इस प्रकार है-

१. सच्चे देव, गुरु, धर्म का सच्चा श्रद्धान, निज शुद्धात्मानुभूति होती है इसमें किसी प्रकार की शंका नहीं करता तथा संसार के सप्त भयों से मुक्त होता है ।

२. किसी प्रकार की संसारी कामना-वासना हेतु धर्म साधना नहीं करता,

अपने आत्म कल्याण की भावना से ही धर्म साधना करता है।

३. किसी को दुःखी रोगी दरिद्री देखकर उसके प्रति करुणा होती है, उसकी सेवा करके दुःख दूर करने का उपाय करता है, किसी के प्रति ग्लानि घृणा भाव नहीं रखता।

४. मूढ़ता सहित कोई धार्मिक क्रिया नहीं करता, विवेक पूर्वक धर्माचरण करता है।

५. दूसरों के दोषों को प्रगट करने की आदत नहीं होती, धर्म और धर्मात्मा बदनाम न होवे इस बात का विशेष ध्यान रखता है।

६. धर्म में अपने को और दूसरों को दृढ़ स्थित रखता है।

७. साधर्म्य भाइयों से गौ वत्स सम वात्सल्य भाव रखता है।

८. धर्म की प्रभावना तन, मन, धन से करता है, हर धार्मिक आयोजन में उत्साह पूर्वक संलग्न रहता है।

अपने शुद्ध पद, ध्रुव स्वभाव की साधना करता है, सम्यक्त्व के इन पच्चीस दोषों को भले प्रकार टालकर सम्यक्त्व को निर्मल रखता है तथा जो इन पच्चीस दोषों से संयुक्त होता है, तीन कुज्ञानों में रत रहता है ऐसे जीवों का संग छोड़ देता है, उनसे कोई धर्म चर्चा वार्ता भी नहीं करता ; क्योंकि विपरीत मार्ग वालों का संग और चर्चा वार्ता भी राग-द्वेष, कषाय बढ़ाने वाली होती है। त्यागी, संयमी, पंडित या साधु जो विपरीत मार्ग, विपरीत दृष्टि वाले होते हैं, साधक को इनसे बचकर हटकर ही रहना चाहिये। अपने परिणामों की सम्हाल और साधना होती रहे इसलिये जिन निमित्तों से सम्यक्त्व भाव दृढ़ होवे उन्हीं प्रसंगों में रहना चाहिये तथा सम्यक्त्व के बाधक कारण, साधना में विघ्न डालने वाले, राग-द्वेष को बढ़ाने वाले निमित्तों से दूर रहना आवश्यक है। सम्यक्दर्शन की निर्मलता और अपने स्वरूप की साधना का लक्ष्य सम्यक्दृष्टि पहली दर्शन प्रतिमाधारी को निरंतर रहता है।

इस प्रकार इन पच्चीस मलों से मुक्त दर्शन प्रतिमाधारी अपने सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की शुद्धि कर अपने में दृढ़ स्थित रहता है।

इसी बात को आगे कहते हैं-

मल मुक्तं दर्शनं सुद्धं, आराधते बुधै जनै ।

संमिक दर्शन सुद्धं च, न्यानं चारित्र संजुतं ॥ ३९१ ॥

अन्वयार्थ- (मल मुक्तं दर्शनं सुद्धं) मलों से मुक्त होने पर ही दर्शन प्रतिमा शुद्ध होती है (आराधते बुधै जनै) ज्ञानीजन इसकी ही आराधना करते हैं (संमिक

दर्शन सुद्धं च) जहां सम्यक्दर्शन शुद्ध होता है वहां (न्यानं चारित्र संजुतं) ज्ञान और चारित्र भी शुद्ध होता है।

विशेषार्थ- पच्चीस मलों से अतिचार रहित मुक्त होने पर ही दर्शन प्रतिमा शुद्ध होती है, ज्ञानीजन इसकी आराधना करते हैं। जहां सम्यक्दर्शन शुद्ध होता है वहां ज्ञान और चारित्र भी शुद्ध होता है, यदि सम्यक्दर्शन शुद्ध नहीं है अंतरंग में मिथ्यात्व की वासना है, विषयाकांक्षा है, ख्याति लाभ पूजादि की चाह है वहां सामान्य ज्ञान तो क्या ! ग्यारह अंग नौ पूर्व तक का ज्ञान भी मिथ्या ज्ञान है तथा सम्यक्दर्शन की शुद्धि के बिना श्रावक का समस्त आचरण, ग्यारह प्रतिमा आदि व मुनियों का आचरण अट्टाईस मूलगुण का निरतिचार पालन करना भी मिथ्याचारित्र है। इससे कभी भी आत्म कल्याण मुक्ति होने वाली नहीं है इसलिये मूल में सम्यक्दर्शन की शुद्धि अर्थात् शुद्ध सम्यक्दर्शन निज शुद्धात्मानुभूति होना अनिवार्य है।

सम्यक्दृष्टि ज्ञानी हमेशा शुद्ध तत्व की आराधना करता है तथा यह भावना भाता है कि जब तक मोक्ष न हो, मैं हर जन्म में इन सात बातों का अभ्यास करता रहूँ-

१. नित्य प्रति सम्यक्त्व वर्द्धक वीतरागता पोषक सत्शास्त्रों को पढता रहूँ।

२. जिनेन्द्र भगवान के मार्ग का ही हमेशा अनुसरण करता रहूँ।

३. निर्ग्रथ वीतरागी साधु और सत्पुरुषों की हमेशा संगति करता रहूँ।

४. उत्तम चारित्रवान महापुरुषों के गुणानुवाद गाता रहूँ।

५. पर के दोषों को कहने में मौन रहूँ।

६. सर्व प्रिय, हितकारी-जीवों के कल्याणकारी वचन ही बोलूँ।

७. निरंतर अपने आत्म स्वरूप की भावना, स्मरण, ध्यान करता रहूँ।

इस प्रकार सम्यक्दर्शन की शुद्धता को दृढ़ रखता हुआ दर्शन प्रतिमा की साधना करता है।

आगे शुद्ध सम्यक्दर्शन की महिमा का वर्णन करते हैं-

दर्शनं जस्य हृदयं सार्धं, दोषं तस्य न पस्यते ।

विनासं सकल जानंते, स्वप्नं तस्य न दिश्यते ॥ ३९२ ॥

संमिक दर्शनं सुद्धं, मिथ्या कुन्यान विलीयते ।

सुद्ध समयं च उत्पादंते, रजनी उदय भास्करं ॥ ३९३ ॥

दर्शनं तत्त्व सार्धं च, तत्त्व नित्य प्रकासकं ।
 न्यानं तत्त्वानि वेदंते, दर्शनं तत्त्व सार्धयं ॥ ३९४ ॥
 संमिक दर्शनं सुद्धं, उवंकारं च विंदते ।
 धर्म ध्यानं च उत्पाद्यंते, हियंकारेण दिस्टते ॥ ३९५ ॥
 उवंकारं हींकारं च, श्रींकारं प्रति पूर्णयं ।
 ध्यायंति सुद्ध ध्यानस्य, अनुव्रतं सार्धं ध्रुवं ॥ ३९६ ॥

अन्वयार्थ- (दर्शनं जस्य हृदयं सार्धं) जिसके हृदय में दर्शन, निज शुद्धात्मानुभूति का श्रद्धान होता है (दोषं तस्य न पश्यते) वहां कोई दोष दिखाई नहीं देते (विनासं सकल जानंते) वह जगत के समस्त पदार्थों को विनाशीक जानता है (स्वप्नं तस्य न दिश्यते) उसे स्वप्न में भी नाशवान पदार्थों का राग पैदा नहीं होता ।

(संमिक दर्शनं सुद्धं) जहां शुद्ध सम्यक्दर्शन होता है (मिथ्या कुन्यान विलीयते) वहां मिथ्या कुज्ञान का विलय हो जाता है (सुद्ध समयं च उत्पादंते) शुद्धात्म स्वरूप प्रगट हो जाता है (रजनी उदय भास्करं) जैसे रात्रि के बाद सूर्य का उदय होता है ।

(दर्शनं तत्त्व सार्धं च) तत्वों का श्रद्धान करना सम्यक्दर्शन है (तत्त्व नित्य प्रकासकं) अविनाशी शुद्ध तत्व का प्रकाश करने वाला है (न्यानं तत्त्वानि वेदंते) तत्वों का अनुभव करना जानना ही ज्ञान है (दर्शनं तत्त्व सार्धयं) दर्शन द्वारा तत्व की साधना करना ही चारित्र है ।

(संमिक दर्शनं सुद्धं) जब शुद्ध सम्यक्दर्शन निश्चय निज शुद्धात्मानुभूति हो जाती है तब ही (उवंकारं च विंदते) परमात्म स्वरूप का अनुभव होता है (धर्म ध्यानं च उत्पाद्यंते) और धर्म ध्यान भी प्रगट हो जाता है (हियंकारेण दिस्टते) जिससे केवलज्ञान स्वरूप में ठहरने लगता है ।

(उवंकारं हींकारं च) पंच परमेष्ठी मयी सिद्ध स्वरूप और केवलज्ञामयी परमात्म स्वरूप (श्रींकारं प्रति पूर्णयं) पूर्ण शुद्ध मोक्ष लक्ष्मी स्वरूप निज शुद्धात्म तत्व के प्रति पूर्ण श्रद्धान होता है (ध्यायंति सुद्ध ध्यानस्य) तब शुद्ध ध्यान के द्वारा ध्याया जाता है (अनुव्रतं सार्धं ध्रुवं) जिससे अणुव्रतों की निश्चय साधना होती है ।

विशेषार्थ- जहां शुद्धता होगी वहां मैल नहीं और जहां मैल होगा वहां शुद्धता नहीं, इसी प्रकार जिसके हृदय में शुद्ध सम्यक्दर्शन है वहां पच्चीस मलों में से कोई

भी मल नहीं रहेगा । सम्यक्दृष्टि सदा ही मूढ़ता से बचता है, किसी भी प्रकार का अभिमान नहीं करता, परम दृढ़ता से शुद्धात्मा की भावना भाता है । धर्मात्माओं से प्रेम रखता है, धर्म की वृद्धि का यथाशक्ति उपाय करता है । उसके भीतर कोई दोष प्रवेश नहीं कर सकते । संसार की जितनी पर संयोग जनित अवस्थाएँ हैं उनको नाशवान जानता रहता है ; इसीलिये उनमें राग-द्वेष, मोह नहीं करता । वह जानता है कि शरीर, धन, यौवन, बल, विद्या, कुटुम्ब, सेवकों का समागम तथा यह जीवन आदि समस्त संयोग जल के बुदबुदवत् क्षणभंगुर नाशवान हैं । देखते ही देखते नष्ट हो जाते हैं ; इस कारण इन क्षणिक पदार्थों से सदा ही उदासीन रहता है । सम्यक्दृष्टि किसी भी परिस्थिति में हो सदा समता भाव में रहता है, बाह्य में छह खंड का राज्य करता चक्रवर्ती दिखलाई पड़ता है ; परंतु अंतरंग में मात्र अपने ही आत्मीक राज्य को संभालता है । परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है, मैं ध्रुव तत्व सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा हूं ऐसी दृढ़ भावना सम्यक्त्वी के अंतरंग में होती है । जैसे कोई ज्ञानवान विवेकशील गृहस्थ दूसरे की वस्तु को कभी भी अपनी नहीं मानता, उसी तरह सम्यक्त्वी शरीरादि पर वस्तुओं को कभी भी अपनी नहीं मानता, कभी स्वप्न में भी उनका विचार नहीं करता । शुद्ध सम्यक्दर्शन के प्रकाश के सामने मिथ्याज्ञान उसी तरह नहीं ठहर सकता, जैसे- सूर्य के उदय होने से रात्रि नहीं ठहर सकती है । सम्यक्त्वी के अंतर में कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ज्ञान कभी नहीं होते ।

सम्यक्दर्शन के होते ही स्वरूपाचरण चारित्र का उदय हो जाता है तथा शुद्धात्मा का अनुभव प्रगट हो जाता है । आत्मज्ञान रूपी सूर्य के प्रकाश में फिर संसार का मोहतम अज्ञान कैसे रह सकता है ? ज्ञानी हमेशा शरीरादि से भिन्न अपने चैतन्य स्वरूप का विचार रखता है । जैसे- किसान धान के ढेर में चावल और भूसी को अलग देखता है, तेली तिलों के ढेर में तेल और खली को भिन्न देखता है, स्वर्णकार सोने और किट्टिका को भिन्न देखता है, धोबी वस्त्र में वस्त्र और मैल को अलग देखता है, वैसे ही सम्यक्दृष्टि दर्शन प्रतिमाधारी आत्मा से अनात्मा को भिन्न देखता है । यद्यपि व्यवहारनय से जीव आदि सात तत्वों का श्रद्धान करना सम्यक्दर्शन है परंतु निश्चय नय से शुद्धात्मा का श्रद्धान करना सम्यक्दर्शन है । शुद्धात्म तत्व का वेदन करना सम्यक्ज्ञान है । शुद्धात्म स्वरूप में स्थिर रहना ही सम्यक्चारित्र है । जब तक शुद्धात्मा में स्थिरता न हो तब तक मुक्त नहीं हो सकते । मिथ्यात्व के उपशम से शुद्ध स्वरूप की सच्ची रुचि होती है और अनंतानुबंधी कषाय के उपशम

से स्वरूपाचरण चारित्र का प्रकाश होता है।

नित्य तत्त्व का विचार करना परम उपयोगी है। आत्मा, रागादि से आठ कर्मों से शरीरादि नो कर्मों से भिन्न है। जब शुद्ध सम्यक्दर्शन निज शुद्धात्मानुभूति हो जाती है तब ही परमात्म स्वरूप का अनुभव होता है, तब ही धर्म ध्यान प्रगट होता है जिससे केवलज्ञान सर्वज्ञ स्वरूप में ठहरने लगता है। ॐ मंत्र में अरिहंत आदि पांच परमेष्ठी गर्भित हैं। ह्रीं मंत्र में चौबीस तीर्थंकर गर्भित हैं, उनका स्थूलपने विचार तो मिथ्यादृष्टि को भी हो सकता है; परंतु शुद्धात्मा को पहिचान कर उसके अनुभव की शक्ति शुद्ध सम्यक्दर्शन के द्वारा ही हो सकती है। यद्यपि ग्रहस्थ श्रावक, त्यागी व्रती तथा मुनिगण भी ध्यान लगाते हैं, मंत्र जप करते हैं बाह्य संयम पालते हैं तथापि सम्यक्दर्शन के बिना वह यथार्थ धर्म ध्यान नहीं होता। जहां शुद्धात्मानुभव सहित धर्म साधन होता है, वहीं धर्म ध्यान कहा जाता है। ॐ ह्रीं श्रीं मंत्रों के द्वारा ध्यान करना चाहिये।

शुद्धात्मा के ध्यान में लीन होना ही इष्ट प्रयोजनीय है। ॐकार से सिद्ध स्वरूप, ह्रींकार से केवलज्ञान अरिहन्त स्वरूप, श्रींकार से पूर्ण शुद्ध मुक्त शुद्धात्म स्वरूप का ध्यान करते हुए अपने शुद्धात्म स्वरूप में लीन हो जाना ही शुद्ध ध्यान है। प्रातःकाल, सायं काल एकांत में बैठकर सामायिक करना चाहिये, शांत चित्त के लिये मंत्रों द्वारा पदस्थ पिंडस्थ ध्यान, पार्थिवी आदि पांच धारणाओं के द्वारा शुद्धात्मा का अनुभव ही यथार्थ में सच्चा धर्म ध्यान है, इसी के अभ्यास से अणुव्रतों की सही साधना होती है।

जिसका मन शांत न हो, चित्त चंचल हो वह व्रत नियम आदि का सही पालन नहीं कर सकता; अतः दर्शन प्रतिमाधारी ध्यान सामायिक के द्वारा अपने स्वरूप की साधना और अणुव्रतों का पालन करता है।

आगे दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक का महत्व बताते हैं-

अन्या वेदकस्चैव, पदवी दुतिय आचार्य ।

न्यानं मति श्रुतस्चैव, धर्म ध्यानं रतो सदा ॥ ३९७ ॥

अन्वयार्थ- (अन्या वेदकस्चैव) आज्ञा सम्यक्त्व तथा वेदक सम्यक्त्व सहित (पदवी दुतिय आचार्य) दूसरी आचार्य पदवी का धारी (न्यानं मति श्रुतस्चैव) मतिज्ञान श्रुतज्ञान सहित (धर्म ध्यानं रतो सदा) हमेशा धर्म ध्यान में रत रहता है।

विशेषार्थ- पहली उपाध्याय पदवी, अविरत सम्यक्दृष्टि की होती है। दूसरी

आचार्य पदवी दर्शन प्रतिमाधारी से प्रारंभ हो जाती है। यहां आज्ञा सम्यक्त्व तथा वेदक सम्यक्त्व सहित यह साधक अपने आत्म स्वरूप की साधना करता है। यहां आज्ञा सम्यक्त्व और वेदक सम्यक्त्व का प्रयोजन यह है कि जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा प्रमाण सच्चे देव, गुरु, शास्त्र तथा जीवादि सात तत्त्वों का श्रद्धान रखना आज्ञा सम्यक्त्व है। क्षयोपशम सम्यक्त्व को ही वेदक सम्यक्त्व कहते हैं, जो निज शुद्धात्मानुभूति पूर्वक होता है, यहां अनंतानुबंधी चार कषाय तथा मिथ्यात्व और सम्यक् मिथ्यात्व का तो उदय नहीं रहता है; किंतु सम्यक् प्रकृति का उदय रहता है, जिसके उदय से सम्यक्त्व में मलिनता चल, मल, अगाढ़ दोष होते रहते हैं। इस सम्यक्त्व का काल ६६ सागर प्रमाण है। उपशम सम्यक्त्व की स्थिति अंतर्मुहूर्त है। क्षायिक सम्यक्त्व शाश्वत होता है और किसी विरले जीव को होता है; इसलिये दर्शन प्रतिमाधारी आज्ञा सम्यक्त्व और वेदक सम्यक्त्व की दृढ़ता रखते हुए मतिज्ञान श्रुतज्ञान के द्वारा अपने स्वरूप का मनन चिंतन करते हुए हमेशा धर्म ध्यान में रत रहता है, यह मोक्ष का अभिलाषी मुमुक्षु साधक आचार्य पदवी का धारी कहलाता है।

सम्यक्दर्शन रहित व्रत प्रतिमा आदि का पालन वृथा है-

अनेय व्रत कर्तव्यं, तप संजमं च धारनं ।

दर्सन सुद्धि न जानंते, त्रिथा सकल विभ्रमः ॥ ३९८ ॥

अनेय पाठ पठनं च, अनेय क्रिया संजुतं ।

दर्सन सुद्धि न जानंते, त्रिथा दान अनेकधा ॥ ३९९ ॥

अन्वयार्थ- (अनेय व्रत कर्तव्यं) अनेक व्रतों का पालन करना (तप संजमं च धारनं) तप और संयम को धारण करना (दर्सन सुद्धि न जानंते) शुद्ध सम्यक्दर्शन निज शुद्धात्मानुभव न जाने (त्रिथा सकल विभ्रमः) उनका सारा प्रयास वृथा, विपरीत भ्रम मात्र है ऐसे आचरण से कभी मोक्ष नहीं होगा।

(अनेय पाठ पठनं च) अनेक पाठों शास्त्रों को पढ़ना उनका ज्ञान होना और (अनेय क्रिया संजुतं) अनेक क्रियाओं से संयुक्त होकर व्यवहार चारित्र पालना (दर्सन सुद्धि न जानंते) शुद्ध सम्यक्दर्शन निज शुद्धात्मानुभूति नहीं जानते (त्रिथा दान अनेकधा) तो अनेक प्रकार का दान आदि करना सब निरर्थक व्यर्थ है, यह कोई भी मोक्षमार्ग में सहकारी नहीं है।

विशेषार्थ- यहां यह जोर देकर कहा है कि शुद्धात्मा के अनुभवन रूप शुद्ध

सम्यक्त्व न हो तो सर्व ही चारित्र मिथ्या व संसार वर्धक है, मोक्ष का मार्ग नहीं है। कोई श्रावक अपने को व्यवहार में श्रद्धावान समझकर कुदेव, कुगुरु, कुधर्म का सेवन न कर जैन तत्वों का मनन करे, जिनेन्द्र की आज्ञा पाले, भक्ति करे, व्यवहार में पांच अणुव्रतों को पाले, उपवास, ऊनोदर, रस त्याग आदि नाना प्रकार तप करे तथा इन्द्रिय संयम और प्राणी संयम पाले, व्यवहार चारित्र में कोई कमी न करे तो भी यदि उसके निश्चय सम्यक्त्व निज शुद्धात्मानुभूति नहीं है तो उसका यह सब आचरण मोक्षमार्ग की अपेक्षा मिथ्या है, विपरीत है, कुचारित्र है। सम्यक्दृष्टि ज्ञानी की दृष्टि सदा शुद्धात्मा पर ही रहती है। केवल परिणामों की शुद्धि के लिये कषायों को घटाने, कर्मों को क्षय करने के लिये शास्त्र स्वाध्याय, व्रत, तप, संयम करता है, दान देता है तब यह सब बाहरी साधन उसके लिये शुद्धात्म स्वरूप की साधना करने, मोक्षमार्ग में आगे बढ़ने में सहकारी निमित्त हो जाते हैं।

सम्यक्दर्शन से रहित बाह्य चारित्र पालन किया जावे, दानादि दिया जावे, अनेक शास्त्रों का पठन पाठन किया जावे तो वह पुण्य बंध का कारण तो होगा ; परंतु मोक्षमार्ग न होगा इस अपेक्षा से यह सब व्यर्थ निरर्थक है।

मोक्षमार्ग तो निश्चय से एक अभेद शुद्धात्मा के अनुभव स्वरूप है यही परमानंद देने वाला शुद्ध सम्यक्त्व है।

आगे सम्यक्त्व की महिमा का कथन करते हैं-

दर्शनं जस्य हृदयं दिस्टा, सुयं न्यानं उत्पादते ।

कमठी दिस्टि जथा डिंभं, सुयं त्रिधन्ति जं बुधैः ॥ ४०० ॥

दर्शनं जस्य हिदं श्रुतं, सुयं न्यानं च संभवे ।

मच्छिका अंड जथा रेतं, सुयं त्रिधन्ति जं बुधैः ॥ ४०१ ॥

अन्वयार्थ- (दर्शनं जस्य हृदयं दिस्टा) जिसके हृदय में सम्यक्दर्शन विद्यमान है (सुयं न्यानं उत्पादते) वहां ज्ञान स्वयं प्रगट होता है (कमठी दिस्टि जथा डिंभं) जैसे कछवी की दृष्टि से अंडा स्वयं ही बढ़ता है (सुयं त्रिधन्ति जं बुधैः) इसी प्रकार सम्यक्दृष्टि का ज्ञान स्वयं बढ़ता है।

(दर्शनं जस्य हिदं श्रुतं) जिसके हृदय में सम्यक्दर्शन की सुरत रहती है (सुयं न्यानं च संभवे) वहां ज्ञान अवश्य रहता है (मच्छिका अंड जथा रेतं) जैसे- मछली नदी की रेत में अंडे देती है और पानी में यहां-वहां आती जाती है परंतु अंडों की सुरत

रखने से अंडे स्वयं बढ़ते हैं (सुयं त्रिधन्ति जं बुधैः) इसी प्रकार अपने आत्म स्वरूप की सुरत रहने से ज्ञान स्वयं बढ़ता है।

विशेषार्थ- जिसके हृदय में सम्यक्दर्शन विद्यमान है वहां ज्ञान स्वयं प्रगट होता है, शुद्धात्मा के अनुभव के प्रताप से श्रुतज्ञान दिन पर दिन बढ़ता जाता है। इसके लिये दृष्टांत दिया है, जैसे- कछवी का अंडा कछवी की दृष्टि से ही बढ़ता है, कछवी अंडा सेती नहीं है देखती रहती है, उसका ध्यान उस पर लगा रहता है इससे वह अंडा बढ़ता है, इसी प्रकार सम्यक्त्वी का ध्यान शुद्धात्म स्वरूप पर रहता है इससे उसका शास्त्रज्ञान, मति श्रुतज्ञान बढ़ते जाते हैं, उसकी गाढ़ रुचि आत्मीक चर्चा पर रहती है इससे ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम हो जाता है। सम्यक्दृष्टि वीतरागी साधु बिना अभ्यास के ही द्वादशांग का पाठी हो जाता है। यह सब सम्यक्त्व की महिमा है, जिसके हृदय में निज स्वरूप की सुरत रहती है वहां ज्ञान अवश्य होता है और वह निरंतर वृद्धिगत होता जाता है। यहां दूसरा दृष्टांत दिया है जैसे- मछली अपने अंडे नदी की रेत में देती है, अंडे देकर पानी में चली जाती है परंतु उनकी सुरत रखती है जिससे अंडे बढ़ते हैं, यदि मछली अंडों की सुरत भूल जाये तो अंडे गल जाते हैं, इसी प्रकार जिसके हृदय में अपने शुद्धात्म स्वरूप की सुरत निरंतर बनी रहती है उसके ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम हो जाता है और मति, श्रुत, अवधिज्ञान प्रगट होते जाते हैं। सम्यक्दर्शन की महिमा और उसके प्रभाव से चारों घातिया कर्म क्षय होकर केवलज्ञान प्रगट हो जाता है अतएव शुद्ध सम्यक्दर्शन ही कल्याणकारी मोक्षमार्ग का सोपान है।

आगे कहते हैं कि सम्यक्दर्शन से हीन जीव संसार में ही परिभ्रमण करता है-

दर्शन हीन तपं कृत्वा, व्रत संजम पठं क्रिया ।

चपलता हिंडि संसारे, जह जल सरनि ताल कीटऊ ॥ ४०२ ॥

अन्वयार्थ- (दर्शन हीन तपं कृत्वा) जो जीव सम्यक्दर्शन से हीन तप करते हैं (व्रत संजम पठं क्रिया) व्रत संयम पालते हैं, पठन पाठन करते हैं (चपलता हिंडि संसारे) तथा चपलता अर्थात् कषाय भाव का विकार अंतरंग में रखने से संसार में ही भ्रमण करते हैं (जह जल सरनि ताल कीटऊ) जैसे- तालाब के जल में कीटाणु बिलबिलाते चारों तरफ उसी में घूमते रहते हैं।

विशेषार्थ- जो जीव सम्यक्दर्शन से हीन निज शुद्धात्मानुभूति रहित हैं, जिन्हें स्व-पर का यथार्थ भेदज्ञान नहीं हुआ, व्यवहार श्रद्धान से तप करते हैं, व्यवहार संयम पालते हैं, शास्त्र स्वाध्याय पठन-पाठन करते हैं, मुनि या श्रावक का चारित्र पालते हैं; परंतु अंतरंग में चपल मिथ्या, माया, निदान शल्य सहित, आत्मानुभव से रहित होने से संसार में ही परिभ्रमण करते हैं, बाहरी चारित्र या ज्ञान कोई मोक्ष का कारण नहीं है। वह जीव मंद कषाय से पुण्य कर्म बांध लेगा, देव गति चला जायेगा वहां विषयों में लीन हो जायेगा, वहां से चयकर दूसरे स्वर्ग तक का देव, एकेन्द्रिय स्थावर व बारहवें स्वर्ग तक का देव पशु और आगे का मनुष्य होकर अन्य-अन्य गतियों में जा-जाकर कष्ट ही भोगेगा। जन्म जरा मरण से रहित नहीं हो सकता, जैसे- तालाब के जल के कीटाणु वहीं बिलबिलाते घूमते रहते हैं, इसी प्रकार सम्यक्दर्शन से हीन जीव संसार में ही परिभ्रमण करते हैं।

आगे सम्यक्दर्शन की महिमा बताते हैं-

दर्शनं स्थिरं जेन, न्यानं चरनं च स्थिरं।

संसारे तिक्त मोहंधं, मुक्ति स्थिरं सदा भवेत् ॥ ४०३ ॥

अन्वयार्थ- (दर्शनं स्थिरं जेन) जो सम्यक्दर्शन में भले प्रकार स्थिर है (न्यानं चरनं च स्थिरं) जिसका ज्ञान और चारित्र भले प्रकार स्थिर है (संसारे तिक्त मोहंधं) जिसने संसार के मोह और अज्ञान अंधकार को छोड़ दिया है (मुक्ति स्थिरं सदा भवेत्) वह हमेशा मुक्ति में स्थिर रहेगा।

विशेषार्थ- मोक्ष का साधन निश्चय रत्नत्रयमयी आत्मा का अनुभव है। जिसके शुद्धात्मा की रुचि दृढ़ है उसका ज्ञान और उसमें स्थिरता दृढ़ है वह अवश्य मोक्षमार्गी है। जो सम्यक्दर्शन में स्थिर है, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में स्थिर है, जिसने संसार के अज्ञान अंधकार मोहादि को छोड़ दिया है वह मोक्षमार्गी है और हमेशा मोक्ष में स्थिर रहेगा अर्थात् सिद्ध परमात्मा होगा।

शुद्ध सम्यक्दृष्टि ही मोक्षमार्गी है-

एतत् दर्शनं दिस्टा, न्यानं चरन सुद्धए।

उत्कृष्टं व्रतं सुद्धं, मोष्यगामी न संसयः ॥ ४०४ ॥

अन्वयार्थ- (एतत् दर्शनं दिस्टा) इस तरह जो अपने शुद्धात्म स्वरूप को देखता है (न्यानं चरन सुद्धए) ज्ञान और चारित्र से शुद्ध होता है (उत्कृष्टं व्रतं सुद्धं)

उसके व्रत उत्कृष्ट और शुद्ध होते हैं (मोष्यगामी न संसयः) ऐसा दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक मोक्षगामी है इसमें कोई संशय नहीं है।

विशेषार्थ- इस तरह दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक अपने शुद्धात्म स्वरूप को देखता है, ज्ञान और चारित्र से शुद्ध होता है। सप्त व्यसन का त्यागी, अष्ट मूलगुणों का पालन करने वाला, पच्चीस दोषों से रहित शुद्ध सम्यक्दर्शन का धारी होता है। जिसके मिथ्यात्व, अन्याय, अभक्ष्य का सर्वथा अभाव होकर धर्म की निकटता अर्थात् व्रत धारण करने की शक्ति और पात्रता होती है वह दर्शन प्रतिमाधारी आगे की प्रतिमाओं का पालन करता हुआ साधु पद में उत्कृष्ट महाव्रतों को पालता है, वह अवश्य ही मोक्षगामी है इसमें कोई संशय नहीं है।

दर्शन प्रतिमाधारी साधक की नित्य चर्या-

१. एक घण्टा रात्रि शेष रहे तब उठकर पवित्र हो आत्म चिंतन सामायिक करे।
२. प्रातः स्नान आदि दैनिक क्रिया से निवृत्त होकर चैत्यालय जावे, शुद्ध षट्कर्मों में यथाशक्ति प्रवर्ते।
३. धर्म कार्यों से निवृत्त होने के पश्चात् शुद्ध भोजन करे।
४. भोजन की पवित्रता रखे, शूद्र को छोड़कर शेष तीन वर्णों के (जिसका मद्य मांस का त्याग हो) हाथ से भरा ठीक प्रकार दोहरे छन्ने से छना हुआ पानी, मर्यादित आटा, चर्म स्पर्श रहित शुद्ध घी, ताजा छना और प्रासुक किया हुआ दूध, ताजा मसाला, रसोई में चंदोवा, बिना बींधा दाल चावल आदि अन्न ग्रहण करे, कन्द मूल आदि अभक्ष्य पदार्थों का त्याग करे।
५. चार बजे तक आजीविका संबंधी कार्य अपनी योग्यतानुसार विवेक पूर्वक करे पश्चात् दुबारा भोजन करना हो तो करे। संध्या समय पुनः आत्म चिंतन सामायिक करे पश्चात् शास्त्र सभा में जाकर शास्त्र पढ़े या सुने, समय बचे तो स्वाध्याय करे। रात्रि दस बजे विश्राम करे, इस प्रकार आहार-विहार शयन आदि तथा धर्म कार्यों को नियम पूर्वक करता रहे।

दर्शन प्रतिमा में अन्याय, अभक्ष्य जनित स्थूल हिंसा के कारणों को सर्वथा त्यागकर आरंभ संबंधी मोटे-मोटे हिंसादि पापों के त्याग का क्रम रहित अभ्यास करता हुआ दार्शनिक श्रावक व्रत धारण करने की भावना भाता है।

२. व्रत प्रतिमा

व्रत प्रतिमा का स्वरूप कहते हैं-

दर्शनं सार्धनं जस्य, व्रत तपस्य उच्यते ।

व्रत तप नेम संजुक्तं, सार्धं स्वात्म दर्शनं ॥ ४०५ ॥

अन्वयार्थ- (दर्शनं सार्धनं जस्य) जिसके सम्यक्दर्शन का श्रद्धान है (व्रत तपस्य उच्यते) उसी के व्रत तप सही कहे जाते हैं (व्रत तप नेम संजुक्तं) जो व्रत तप नियम से संयुक्त है (सार्धं स्वात्म दर्शनं) और स्वात्म दर्शन की साधना करता है वह व्रत प्रतिमाधारी है ।

विशेषार्थ- जो अखंड सम्यक्दर्शन और अष्ट मूलगुणों का धारक है । मिथ्या, माया, निदान शक्तियों से रहित राग-द्वेष के अभाव और साम्य भाव की प्राप्ति के लिये अतिचार रहित व्रत तप नियम का पालन करता है वह व्रती श्रावक है । यहां श्री तारण स्वामी ने बहुत संक्षेप में, मात्र एक गाथा में ही व्रत प्रतिमा का स्वरूप बताया है परंतु पूरा सार भर दिया है । मूल आधार स्वात्म दर्शन, शुद्धोपयोग की साधना का ही लक्ष्य है और इसी के लिये यह व्यवहार में व्रत, नियम, संयम, तप का पालन करता है । यह बात जगत प्रसिद्ध है और धर्म शास्त्र भी ऐसा ही कहते हैं कि हिंसा के समान पाप और अहिंसा के समान पुण्य नहीं है । यद्यपि भेद विवक्षा से अनेक प्रकार के पाप कहे जाते हैं तो भी यथार्थ में सब पापों का मूल एक हिंसा ही है, इसी के विशेष भेद झूठ, चोरी, कुशील और अति तृष्णा आदि हैं । इसी कारण शास्त्रों में आचार्यों ने जहां-तहां इन पांचों पापों के निवारण का उपदेश दिया है । श्री आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थ सूत्र में इन पापों के त्यागरूप पांच ही व्रत कहकर उनके अणुव्रत-महाव्रत दो भेद किये हैं । पाँच पापों का एकदेश त्याग करना अणुव्रत और सर्वदेश त्याग करना महाव्रत कहलाता है ।

पांच पापों का त्याग जब बुद्धि पूर्वक अर्थात् भेदज्ञान (सम्यक्त्व) पूर्वक होता है तभी उसे व्रत संज्ञा प्राप्त होती है । इन व्रतों को अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि अंतरंग या बाह्य सामग्री की योग्यता देख धारण करके भले प्रकार निर्दोष पालना चाहिये, कदाचित् किसी प्रबल कारणवश व्रत भंग हो जाये तो प्रायश्चित्त लेकर पुनः स्थापना करना चाहिये । ग्रहस्थ श्रावक प्रत्याख्यानवरण कषाय के क्षयोपशम के अनुसार अणुव्रत धारण कर सकता है, इसके महाव्रत धारण करने योग्य कषाय नहीं घटी इसलिये सर्वथा आरंभ विषयक कषाय त्यागने को असमर्थ है ।

व्रत प्रतिमा में पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत मिलकर बारह व्रत

कहलाते हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं-

पांच अणुव्रत- हिंसा, झूठ, चोरी और कुशील का त्याग, परिग्रह प्रमाण ।

तीन गुणव्रत- दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्ड (त्याग) व्रत ।

चार शिक्षाव्रत- सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण, अतिथि संविभाग ।

व्रत प्रतिमा में पंचाणुव्रत तो निरतिचार पलते हैं, तीन गुणव्रत गुणों की वृद्धि करते हैं और चार शिक्षाव्रत इन्हें महाव्रतों की हद तक पहुंचाते हैं । यद्यपि व्रती जहां तक संभव हो इनको भी दोषों से बचाता है तथापि यह सप्तशील व्रत प्रतिमा में निरतिचार नहीं होते ।

यहां कोई प्रश्न करे कि व्रत प्रतिमा में ही यह बारह व्रत एक साथ निरतिचार होना चाहिये क्योंकि बारह व्रतों के अतिचारों का वर्णन तत्त्वार्थसूत्र में एक ही जगह व्रतों के प्रकरण में किया है ?

उसका समाधान करते हैं कि एक ही स्थान पर वर्णन करना तो प्रकरणवश होता है, यहां केवल वस्तु स्वरूप बताना था, प्रतिमाओं का वर्णन नहीं करना था, यदि बारह व्रत दूसरी प्रतिमा में ही निरतिचार हो जावें तो आगे की सामायिक आदि प्रतिमा व्यर्थ ठहरें ; क्योंकि तीसरी से ग्यारहवीं प्रतिमा तक इन सप्तशीलों के निरतिचार पालन करने का ही उपदेश है । यही बात सर्वार्थ सिद्धि तथा कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कही है ।

व्रत प्रतिमा में पंचाणुव्रत निरतिचार होते हैं, तीसरी प्रतिमा में सामायिक और चौथी में प्रोषधोपवास निरतिचार होते हैं, पांचवीं में भोगोपभोग के अतिचार दूर होते हैं और ग्यारहवीं प्रतिमा तक क्रमशः भोगोपभोग घटाकर त्याग कर दिये जाते हैं । अष्टम प्रतिमा में आरंभ का सर्वथा त्याग होने से पंचाणुव्रत की पूरी-पूरी दृढ़ता होती है तथा दिग्व्रत, देशव्रत निरतिचार पलता है । दसवीं अनुमति त्याग में अनर्थदण्ड (त्याग) व्रत निरतिचार हो जाता है । इस तरह सप्तशील निरतिचार होने से अणुव्रत-महाव्रत की परिणति को प्राप्त हो जाते हैं इसीलिये श्री तारण स्वामी ने पंचाणुव्रत की शुद्धि ग्यारह प्रतिमाओं के बाद कही है ।

व्रतों को धारण करने वाला पुरुष मिथ्या, माया, निदान तीनों शक्तियों से रहित होना चाहिये ।

तीन शक्तियों का स्वरूप-

१. मिथ्या शक्त्य- जो धर्म के स्वरूप का ज्ञाता नहीं अर्थात् संसार और

संसार के कारणों तथा मोक्ष के कारणों को नहीं जानता अथवा विपरीत जानता है या संदेह युक्त जानता है इन पर जिनका दृढ़ विश्वास नहीं है और न व्रत धारण करने का अभिप्राय समझता है, ऐसा मिथ्यात्वी पुरुष दूसरों की देखादेखी या और किसी अभिप्राय के वश व्रतों का पालन करने वाला अव्रती ही है। जो पुरुष तत्त्वश्रद्धानी होकर आत्मकल्याण के अभिप्राय से व्रत धारण करता है, वही मोक्षमार्गी पापों का त्यागी सच्चा व्रती कहलाता है।

जिसको यह मिथ्या शल्य लगी हो कि 'ऐसा न हो जाये' उसे न धर्म का श्रद्धान है और न कर्म का विश्वास, वह मिथ्यादृष्टि ही है।

२. माया शल्य- जिसके मन के विचार, वचन की प्रवृत्ति और काय की चेष्टा भिन्न-भिन्न हो, ऐसे पापों को गुप्त रखने वाले मायाचारी पुरुष का दूसरों को दिखाने अथवा मान बड़ाई लोभ आदि के अभिप्राय से व्रत धारण करना निष्फल है। वह ऊपर से व्रती है परंतु अंतरंग में उसे पापों से घृणा नहीं है, आत्म कल्याण की भावना नहीं है इस कारण ढोंग वृत्ति होने से उसे उल्टा पाप का बंध होता है तथा तिर्यच आदि नीच गति की प्राप्ति होती है।

जिसको यह माया शल्य लगी हो कि 'ऐसा नहीं ऐसा होता' वह कभी भी निराकुल आनंद में नहीं रहता, जहां माया का पक्ष है वहां ब्रह्म के दर्शन नहीं हो सकते।

३. निदान शल्य- जो पुरुष आगामी सांसारिक विषय भोगों की वांछा के अभिप्राय से व्रत धारण करता है, वह यथार्थ में व्रती नहीं है ; क्योंकि व्रत धारण करने का प्रयोजन तो सांसारिक विषय भोगों अथवा आरम्भ-परिग्रह से विरक्त होकर आत्म स्वरूप में उपयोग स्थिर करने का है ; परन्तु निदान बन्ध करने वाला उल्टा पापों के मूल विषय-भोगों की तीव्र इच्छा करके उनकी पूर्ति के लिये ही व्रत धारण करता है अतएव ऐसे पुरुष के बाह्य व्रत होते हुए भी अंतरंग तीव्र लोभ कषाय होने के कारण पाप का ही बंध होता है।

जिसको यह निदान शल्य लगी हो कि 'ऐसा करता ऐसा करूंगा' वह संसारासक्त अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है यथार्थ में उपर्युक्त तीनों शल्यों के त्याग होने पर ही व्रत धारण हो सकते हैं अन्यथा नहीं।

शल्य रहित होने पर ही स्वात्म दर्शन की साधना हो सकती है इसके लिये दसधर्म और बारह भावनाओं का अपने में सद्भाव समावेश होना आवश्यक है। व्रत

प्रतिमा तभी सही और सार्थक होगी जब यह सारी बातें जीवन में होंगी।

दसलक्षण धर्म- दसलक्षण धर्म आत्मा के स्वभाव हैं। इन लक्षणों से आत्मा के एक भाव की पहिचान होती है, प्रत्येक धर्म में जो उत्तम विशेषण लगा हुआ है वह ख्याति, लाभ, पूजा आदि की निवृत्ति के हेतु है तथा सम्यक्दर्शन का प्रतीक, सम्यक्दृष्टि ज्ञानी के लिये है।

१. उत्तम क्षमा- सम्यक्ज्ञान पूर्वक दूसरों के अपराध को अपने में दण्ड देने की शक्ति होते हुए भी क्षमा करना, क्रोधित न होना उत्तम क्षमा है।

२. उत्तम मार्दव- सम्यक्ज्ञान पूर्वक अपने पास ज्ञान, धन, ऐश्वर्य आदि अभिमान के कारण होते हुए भी अभिमान न करना, विनय रूप सहज स्वभाव सहजानंद में रहना उत्तम मार्दव है।

३. उत्तम आर्जव- सम्यक्ज्ञान पूर्वक मन, वचन, काय की कुटिलता को त्यागना नाम, दाम, काम की चाह न होना, सरल स्वभाव में रहना उत्तम आर्जव है।

४. उत्तम सत्य- पदार्थों का स्वरूप ज्यों का त्यों जानना तथा सम्यक्ज्ञान पूर्वक वस्तु के स्वरूप का ज्यों का त्यों वर्णन करना, धर्मानुकूल प्रिय, मधुर वचन बोलना, धर्म को हानि या कलंक लगाने वाला वचन न बोलना उत्तम सत्य है।

५. उत्तम शौच- सम्यक्ज्ञान पूर्वक आत्मा को कषायों द्वारा मलिन न होने देना, सदा निर्मल रखना तथा लोभ का त्याग कर संतोष रूप रहना उत्तम शौच है।

६. उत्तम संयम- सम्यक्ज्ञान पूर्वक इन्द्रियों और मन को विषयों से रोकना और षट्काय के जीवों की रक्षा करना, समदृष्टि होकर हमेशा अपने स्वरूप की सुरत रखना उत्तम संयम है।

७. उत्तम तप- सांसारिक विषयों में इच्छा रहित होकर शरीर से निर्ममत्व होने के लिये अनशन (उपवास), ऊनोदर (अल्प आहार), व्रत परिसंख्यान (अटपटी आंकड़ी लेना), रस परित्याग (दूध, दही, घी, तेल, नमक, मीठा इन रसों में से एक या अधिक छोड़ना), विविक्त शय्यासन (एकांत स्थान में सोना बैठना), काय क्लेश (शरीर से शीत ऊष्ण आदि परीषह सहना) यह छह बाह्य तप हैं।

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग (शरीर से ममत्व का त्याग) और ध्यान यह छह अंतरंग तप हैं। यह बारह प्रकार का तप करना अर्थात् इनके द्वारा आत्मा को तपाकर निर्मल करना, कर्म रहित करना, अपने स्वरूप में स्थित होना,

स्वरूपानंद में रहना उत्तम तप है।

८. उत्तम त्याग- अपने न्याय पूर्वक उपार्जन किये हुए धन को मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका के निमित्त औषधि दान, शास्त्र दान (ज्ञान दान), आहार दान और अभय दान में व्यय करना वह व्यवहार त्याग है और राग-द्वेष को छोड़ना वह अंतरंग त्याग है यही उत्तम त्याग है।

९. उत्तम आर्किंचन्य- सम्यक्ज्ञान पूर्वक चौबीस प्रकार के परिग्रह का त्याग करना उत्तम आर्किंचन्य है। बाह्य परिग्रह के दस भेद- खेत, मकान, सोना, चांदी, अनाज, पशु, दासी, दास, बर्तन, वस्त्र। अंतरंग परिग्रह के चौदह भेद- मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद इन चौबीस प्रकार के परिग्रह के त्याग सहित अहंकार विसर्जन करना। मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञान दर्शन चेतना वाला सदा अरूपी हूँ, परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है।

१०. उत्तम ब्रह्मचर्य- बाह्य व्यवहार ब्रह्मचर्य तो संभोग स्त्री विषय का त्याग करना है, निश्चय से अपने आत्म स्वरूप में उपयोग को स्थिर करना, ब्रह्म स्वरूप में रमण करना उत्तम ब्रह्मचर्य है।

द्वादशानुप्रेक्षा (बारह भावना)- जो वैराग्य उत्पन्न करने में माता के समान हैं और बारम्बार चिंतन योग्य हैं वे अनुप्रेक्षा या भावना कहलाती हैं, यह बारह हैं।

१. अनित्य भावना- सांसारिक सर्व पदार्थों का संयोग जो जीवन से हो रहा है उसे अनित्य जानकर उनसे राग भाव तजना अनित्य भावना है।

२. अशरण भावना- जीव को अपने ही शुभाशुभ कर्म सुख-दुःख देने वाले हैं, संसार में कोई किसी का सहाई रक्षक नहीं है। धर्म, अपना आत्म स्वरूप ही अपने को आप ही शरणरूप है। उदय में आये हुए कर्मों को रोकने में कोई समर्थ नहीं है तथा मरण काल में जीव को बचाने में कोई सहायक नहीं है, इस तरह निरंतर चिंतन करके अपने आत्म हित की रुचि करना अशरण भावना है।

३. संसार भावना- यह संसार जन्म-मरण रूप है, इसमें कोई भी सुखी नहीं है, प्रत्येक जीव को कोई न कोई दुःख लगा हुआ है, इस प्रकार संसार को दुःख स्वरूप चिंतन करके उसमें रुचि नहीं करना, विरक्त रहना संसार भावना है।

४. एकत्व भावना- यह जीव अकेला आप ही जन्म जरा मरण, सुख-दुःख, संसार, मोक्ष भोगता है, दूसरा कोई भी इसका साथी नहीं है। ऐसा विचार कर किसी

के आश्रय की इच्छा न करना, स्वयं आत्म हित में पुरुषार्थ करना एकत्व भावना है।

५. अन्यत्व भावना- इस आत्मा से अन्य सर्व पदार्थ और अन्य सभी जीव अलग हैं ऐसा चिंतन करते हुए किसी से संबंध नहीं मानना अन्यत्व भावना है।

६. अशुचि भावना- यह शरीर हाड़-मांस, रक्त, पित्त, कफ, मल-मूत्र आदि अपवित्र वस्तुओं का घर है ऐसा विचारते हुए शरीर से राग भाव घटाना और सदा आत्मा को शुद्ध करने का विचार करना कि पर्याय में जो रागादि की अशुचिता है वह भी दूर हो ऐसा चिंतन करना अशुचि भावना है।

७. आस्रव भावना- जब मन, वचन, काय रूप योगों की प्रवृत्ति कषाय रूप होती है तब कर्मों का आस्रव होता है और उससे कर्म बंध होकर जीव को सुख-दुःख की प्राप्ति तथा सांसारिक चतुर्गति का भ्रमण होता है, इस तरह विचार करते हुए आस्रव के मुख्य कारण योग और कषायों को रोकना आस्रव भावना है।

८. संवर भावना- कषायों की मंदता तथा मन, वचन, काय योगों की निवृत्ति जितनी-जितनी होती जाती है, उतना-उतना ही कर्मों का आस्रव होना भी घटता जाता है तथा आत्म स्वरूप में उपयोग लगना संवर कहलाता है, इससे कर्मास्रव रुकता है, बंध का अभाव होता है जिससे संसार छूट जाता है और मोक्ष की प्राप्ति होती है।

९. निर्जरा भावना- शुभाशुभ कर्मों के उदयानुसार सुख-दुःख की सामग्री के समागम होने पर समता भाव धारण करने से तथा तप से सत्ता में स्थित कर्मों की स्थिति और अनुभाग घटता है तथा बिना रस दिये ही कार्माण वर्गणायें कर्मत्व शक्ति रहित होकर निर्जरती हैं, इस प्रकार संवर पूर्वक एकदेश निर्जरा और कर्मों का सर्वदेश अभाव मोक्ष कहलाता है।

१०. लोक भावना- यह लोक ३४३ राजू घनाकार है, जिसके ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक, अधोलोक तीन भेद हैं, जिसमें संसारी जीव अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मों के कारण चार गति चौरासी लाख योनियों में भ्रमण कर रहे हैं। जीवों के सिवाय पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल यह पांच द्रव्य और भी इस लोक में स्थित हैं, इन सबको अपनी आत्मा से अलग चिंतन करके सबसे राग-द्वेष छोड़कर आत्म स्वभाव में लीन होना ही जीव का मुख्य कर्तव्य है ऐसा विचार करना लोक भावना है।

११. बोधिदुर्लभ भावना- यद्यपि अनादि काल से कर्मों से आच्छादित होने के कारण आत्म ज्ञान की प्राप्ति दुर्लभ हो रही है तथापि यह उत्तम मनुष्य पर्याय,

उच्च कुल, दीर्घायु, इन्द्रियों की परिपूर्णता, आत्मज्ञान होने योग्य क्षयोपशम, पवित्र जिन धर्म की प्राप्ति, साधर्मियों का सत्संग आदि उत्तरोत्तर दुर्लभ समागम प्राप्त हुआ ; इसलिये जैसे बने तैसे आत्मज्ञान की उपलब्धि में यत्न करना चाहिये ऐसा चिंतवन करना बोधिदुर्लभ भावना है।

१२. धर्म भावना- दस लक्षण रूप दया अहिंसा मयी अथवा शुद्ध रत्नत्रय मयी शुद्धात्म स्वरूप धर्म, जो जिनेन्द्र देव ने कहा है उसकी प्राप्ति के बिना जीव अनादि काल से संसार में भ्रमण कर रहा है। धर्म अर्थात् निज शुद्ध स्वभाव के श्रद्धान से ही सच्चा सुख और मुक्ति की प्राप्ति होती है, धर्म की शरण ही जीव को कल्याणकारी है ऐसा चिंतवन करना धर्म भावना है।

बारह व्रतों का वर्णन- अब यहां पंचाणुव्रत तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का विशेष वर्णन किया जाता है तथा हर एक व्रत के पांच-पांच अतिचार और पांच-पांच भावनायें कही जाती हैं। यह भावनायें जिनके चिंतवन से व्रत दृढ़ होते हैं और निर्दोष पलते हैं। सर्वदेश महाव्रतों को और एकदेश अणुव्रतों को भावनायें लाभ पहुंचाती हैं। सूत्रकारों ने जहां व्रतों के अणुव्रत और महाव्रत दो भेद बताये हैं, वहीं यह पांच-पांच भावनायें भी कही हैं इसलिये इन भावनाओं का देशव्रत और महाव्रत दोनों से यथा संभव संबंध जानना चाहिये।

(१) अहिंसाणुव्रत- 'प्रमत्त योगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा' प्रमत्तयोग अर्थात् कषायों के वश होकर प्राणों का नाश करना हिंसा है। मिथ्यात्व, असंयम, कषायरूप परिणाम होना भाव हिंसा है और इन्द्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छ्वास, आयु प्राणों का घात करना द्रव्य हिंसा करना है। जिस प्रकार जीव को स्वयं अपनी भाव हिंसा के फल से चतुर्गति में भ्रमण करते हुए नाना प्रकार दुःख भोगने पड़ते हैं और द्रव्य हिंसा होने से अति कष्ट सहन करना पड़ता है, उसी प्रकार दूसरों के द्रव्य और भाव प्राणों की हिंसा करने से भी तीव्र कषाय और तीव्र बैर उत्पन्न होता है, जिससे जन्म-जन्मांतरों में महान दुःख की प्राप्ति होती है, यह जन्म तो दुःख रूप हो ही जाता है। जो जीव संसार परिभ्रमण से अपनी रक्षा करना चाहते हैं, उन्हें सदा स्व और पर जीवों पर दया दृष्टि रखना चाहिये। इस प्रकार हिंसा को महापाप तथा जीव का परम दुःखदाई बैरी जानकर त्यागने का दृढ़ संकल्प करना अहिंसाणुव्रत है।

हिंसा के चार भेद हैं- १. संकल्पी, २. आरम्भी, ३. उद्योगी, ४. विरोधी। व्रती श्रावक संकल्पी हिंसा का पूर्णतया त्यागी होता है।

अहिंसाणुव्रत के पांच अतिचार- १. वध- किसी को लाठी, मुक्का, कोड़ा आदि से मारना। २. बंध- बांधना, रोकना, कैद करना। ३. छेद- नाक छेदना, पांव तोड़ना, अंग भंग करना। ४. अतिभारारोपण- गाड़ी-घोड़ा, बैल आदि पर प्रमाण से अधिक बोझा लादना। ५. अन्न पान निरोध- किसी को भी समयानुसार खाने-पीने को न देना।

इन पांच अतिचारों को छोड़ने से अहिंसाणुव्रत निर्दोष पलता है अतएव अतिचार दोष भी नहीं लगने देना चाहिये।

अहिंसाणुव्रत की पांच भावनायें- १. मनोगुप्ति- मन में अन्याय पूर्वक दुष्ट संकल्प-विकल्प नहीं करना। २. वचन गुप्ति- हास्य, कलह, विवाद आदि हिंसाकारी वचन न बोलना। ३. ईर्या समिति- त्रस जीवों की विराधना न हो इसके लिये हर कार्य विवेक पूर्वक देखभाल कर करना। ४. आदान निक्षेपण समिति- हर एक वस्तु पात्र आदि देखकर उठाना धरना जिससे आपको व पर को कोई पीड़ा कष्ट न हो। ५. आलोकित पान भोजन- द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की योग्यता-अयोग्यता देखकर भली-भांति देख शोधकर आहार जल ग्रहण करना। इस प्रकार भली भांति अहिंसाणुव्रत के स्वरूप को जानकर अंतरंग कषाय भाव और बाह्य आरंभी त्रस हिंसा नहीं करते, वे ही सच्चे अहिंसाणुव्रत के पालक हैं।

(२) सत्याणुव्रत- 'प्रमत्तयोगादसदभिधानमनृतम्' कषाय भाव पूर्वक अयथार्थ भाषण करना असत्य कहलाता है ; पुनः ऐसे सत्य वचन को भी असत्य जानना जिसके बोलने से दूसरों का अपवाद, बिगाड़ या घात हो जाये अथवा पांच पापों में प्रवृत्ति हो जाये क्योंकि ऐसे भाषण करने वाले के सत्य वचन होते हुए भी चित्तवृत्ति पाप रूप ही रहती है। इस प्रकार सत्य-असत्य का स्वरूप भली-भांति जानकर उपर्युक्त प्रकार स्थूल असत्य का त्याग करना सत्याणुव्रत कहलाता है।

असत्य बोलने से लोक में निंदा होना, राज्य से दण्ड मिलना आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं और परलोक में दुर्गति होती है। सत्य बोलने से लोक में प्रामाणिकता, यश, बड़प्पन तथा लाभ होता है और परलोक में स्वर्गादि सुखों की प्राप्ति होती है।

सत्याणुव्रत के पांच अतिचार- १. मिथ्या उपदेश- शास्त्र विरुद्ध उपदेश देना। २. रहोभ्याख्यान- किसी की गुप्त बात को प्रगट करना। ३. कूटलेख क्रिया- झूठी बातें लिखना, झूठी गवाही देना। ४. न्यासापहार- किसी की धरोहर रखी हो उसको कम बढ़ करके देना। ५. साकार मंत्र भेद- किसी के अभिप्राय को

जानकर दूसरों पर प्रगट कर देना ।

सत्याणुव्रत की पांच भावनायें- १. क्रोध त्याग- क्रोध नहीं करना, मौन धारण करना । २. लोभ त्याग- जिससे असत्य में प्रवृत्ति होती हो ऐसे लोभ को छोड़ना । ३. भय त्याग- जिससे धर्म विरुद्ध, लोक विरुद्ध वचन में प्रवृत्ति हो जाये ऐसा धन बिगड़ने और शरीर बिगड़ने का भय नहीं करना । ४. हास्य त्याग- किसी की हंसी-मसखरी नहीं करना, हास्य वचन नहीं कहना । ५. अनुवीचि भाषण- जिन सूत्र से विरुद्ध वचन न बोलना । इन पांच भावनाओं की सदा स्मृति रखने से असत्य भाषण से रक्षा होती है और सत्याणुव्रत निर्मल होता है ।

(३) अचौर्याणुव्रत- 'प्रमत्त योगाददत्तादानं स्तेयम्' कषाय भाव युक्त होकर दूसरों की वस्तु उसके दिये बिना या आज्ञा बिना ले लेना चोरी कहलाती है । किसी के रखे हुए, गिरे हुए, भूले हुए तथा धरोहर रखे हुए द्रव्य का हरण नहीं करना, इस प्रकार स्थूल चोरी का त्याग करना अचौर्याणुव्रत कहलाता है ।

संसार में धन ग्यारहवां प्राण है इसलिये जो पराया धन हरण करता है वह स्वयं पाप बंध करके अपने आत्मीक ज्ञान दर्शन प्राणों का घात करता है । चोरी से इस भव में राजदण्ड, जातिदण्ड मिलता है, निंदा होती है और परभव में नीच गतियों के दुःख भोगना पड़ते हैं अतएव प्रत्येक ग्रहस्थ को- 'जल मृत्तिका बिन और नाहि कछु गहै अदत्ता' इस वाक्य के अनुसार अचौर्य व्रत का पालन करना आवश्यक है ।

अचौर्याणुव्रत के पांच अतिचार- (१) चौर प्रयोग- चोरी करने के उपाय बताना, चोरी करने वालों की सहायता करना (२) चौरार्थादान- चोरी किया हुआ पदार्थ ग्रहण करना, मोल लेना (३) विरुद्ध राज्यातिक्रम- राज्य के विरुद्ध कार्य करना, नियम तोड़ना, कर (टेक्स) की चोरी करना, रिश्वत खोरी, कालाबाजारी करना (४) हीनाधिक मानोन्मान- नापने तौलने के गज, बांट, तराजू कम-बढ़ रखना (५) प्रतिरूपक व्यवहार- बहुत मूल्य की चीज में अल्प मूल्य की चीज मिलाकर बहुत मूल्य के भाव में बेचना, मिलावट करना अपराध है । व्यापार में राज्य का कर (टेक्स) न चुकाना, उसमें चोरी करना, लेन-देन में कम बढ़ तौलना, दूध में पानी, घी में तेल डाला आदि खोटा खरा मिलाकर बेचना, कुछ बताना और कुछ माल देना यह सब चोरी का ही रूपांतर है ; अतएव इन पांच अतिचारों को अचौर्याणुव्रत में दोष उत्पन्न करने वाले जानकर त्यागना योग्य है ।

अचौर्याणुव्रत की पांच भावनायें- १. शून्यागारवास- व्यसनी, दुष्ट,

तीव्र कषायी, कलह विसंवाद करने वाले पुरुषों से रहित स्थान में रहना । २. विमोचितावास- जिस मकान या स्थान में दूसरे का झगड़ा न हो ऐसे किसी के द्वारा छोड़े गए स्थान में निराकुलता पूर्वक रहना । ३. परोपरोधाकरण- अन्य के स्थान में बल पूर्वक प्रवेश नहीं करना, किसी को अपने स्थान में आते हुए नहीं रोकना । ४. भैक्ष्यशुद्धि- अन्याय द्वारा प्राप्त किया हुआ तथा अभक्ष्य भोजन का त्याग करना, अपने कर्मानुसार प्राप्त शुद्ध भोजन को लालसा रहित संतोष सहित ग्रहण करना । ५. सधर्माविसंवाद- साधर्मी पुरुषों से कलह, विसंवाद नहीं करना । इन पांच भावनाओं को सदा स्मरण रखकर अचौर्याणुव्रत दृढ़ रखना आवश्यक है ।

(४) ब्रह्मचर्याणुव्रत- 'प्रमत्त योगान्मैथुनमब्रह्म' प्रमत्त योग अर्थात् वेदकषाय जनित भाव युक्त स्त्री-पुरुषों की रमण क्रिया को कुशील कहते हैं, इस कुशील के त्याग को ब्रह्मचर्य व्रत कहते हैं । यथार्थ में ब्रह्म जो आत्मा उसमें ही आत्मा के उपयोग (चैतन्य भाव) की चर्या, रमण करना सच्चा ब्रह्मचर्य है । उस सच्चे ब्रह्मचर्य अर्थात् आत्मा में उपयोग के स्थिर होने में बाधक कारण मुख्यपने स्त्री है ; इसलिये जब सम्यक्ज्ञान पूर्वक स्त्री से विरक्त होकर कोई पुरुष मुनिव्रत धारण करता है तभी आत्म स्वरूप में रमने वाला साधु आत्म स्वरूप का साधक कहलाता है । इसी कारण स्त्री सेवन का सर्वथा त्याग करना ब्रह्मचर्य कहा गया है ।

ग्रहस्थ के इतनी अधिक वेदकषाय की मंदता न होने से वह सर्वथा स्त्री त्याग करने को असमर्थ है, ऐसी स्थिति में स्वदार संतोष व्रत धारण करना अर्थात् देव, गुरु, शास्त्र एवं पंचों की साक्षी पूर्वक स्व स्त्री के सिवाय और समस्त पर स्त्रियों का त्याग करना ही ग्रहस्थ का ब्रह्मचर्याणुव्रत है । इस व्रत के विषय में पुरुषों की तरह स्त्रियों को भी स्वप्न में पर पुरुष की वांछा नहीं करना चाहिये । विधवाओं को ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर आत्म कल्याण में प्रवर्तन करना चाहिये ।

ब्रह्मचर्य अणुव्रत के पांच अतिचार- १. परविवाहकरण- अपने पुत्र-पुत्री के सिवाय दूसरों के पुत्र-पुत्री की शादी का मेल मिलाना, शादी कराना । २. इत्वरिका परिग्रहीता गमन- व्यभिचारिणी स्त्री जिसका स्वामी हो उसके घर आना-जाना या उससे बोलने, उठने-बैठने, लेन-देन का व्यवहार करना । ३. इत्वरिका अपरिग्रहीता गमन- स्वामी रहित व्यभिचारिणी स्त्री के घर आना-जाना, या उससे बोलने, उठने-बैठने, लेन-देन का व्यवहार करना । ४. अनंग क्रीड़ा- काम सेवन के अंगों को छोड़कर अन्य अंगों द्वारा क्रीड़ा करना या अन्य क्रियाओं द्वारा काम की

शांति करना। ५. काम तीव्राभिनिवेश- स्व स्त्री में भी काम सेवन की अति लंपटता रखना। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का विचार किये बिना काम सेवन करना।

इन पांच अतिचारों के लगने से ब्रह्मचर्य अणुव्रत मलिन होता है तथा बार-बार लगने से क्रमशः नष्ट हो जाता है।

ब्रह्मचर्य अणुव्रत की पांच भावनायें- १. स्त्री राग कथा श्रवण त्याग- अन्य की स्त्रियों में राग उत्पन्न करने वाली कथा, वार्ता, गीत सुनने पढ़ने कहने का त्याग करना। २. तन्मनोहरांग निरीक्षण त्याग- अन्य की स्त्री के मनोहर अंगों को राग भाव पूर्वक न देखना। ३. पूर्वस्तानु स्मरण- अणुव्रत धारण करने के पहले अव्रत अवस्था में भोगे हुए भोगों का स्मरण नहीं करना। ४. वृष्येष्ट रस त्याग- कामोद्दीपक पुष्ट एवं भरपेट तथा गरिष्ठ भोजन न करना। ५. स्व शरीर संस्कार त्याग- कामी पुरुषों जैसे कामोद्दीपन करने योग्य शरीर को नहलाने, तेल, उबटन आदि लगाने, वस्त्रादि पहिनने, श्रृंगार करने का त्याग करना, सादा पहनावा रखना।

इन पांच भावनाओं का ब्रह्मचर्याणुव्रती को हमेशा चिंतन करना चाहिये।

(५) परिग्रह परिमाण अणुव्रत- 'प्रमत्तयोगान्मूर्च्छा परिग्रहः' आत्मा के सिवाय जितने मात्र राग-द्वेषादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, औदारिक आदि नोकर्म तथा शरीर संबंधी स्त्री-पुत्र, धन-धान्य, गृह-क्षेत्र, वस्त्र-वर्तन आदि चेतन-अचेतन पदार्थ हैं वे सभी पर हैं, इन्हें ग्रहण करना और इनमें ममत्व भाव रखना परिग्रह है। इस परिग्रह का आवश्यकतानुसार परिमाण करना परिग्रह परिमाण अथवा इच्छा परिमाण अणुव्रत है।

यद्यपि अंतरंग मूर्च्छा घटाने के लिये बाह्य परिग्रह घटाया जाता है तथापि बाह्य परिग्रह घटाने पर भी जो मूर्च्छा न घटाई जाये तो प्रमत्त योग के सद्भाव से यथार्थ परिग्रह परिमाण व्रत नहीं हो सकता।

बाह्य परिग्रह के दस भेद इस प्रकार हैं- खेत, मकान, सोना, चांदी, अनाज, पशु, दासी, दास, वर्तन, वस्त्र।

परिग्रह परिमाण अणुव्रत के पांच अतिचार- इन दस परिग्रह के पांच जोड़ में से किसी को बढ़ा लेना, किसी को घटा देना। १. प्रयोजन से अधिक सवारी रखना। २. आवश्यकीय वस्तुओं का अति संग्रह करना। ३. दूसरों का वैभव देखकर आश्चर्य अथवा इच्छा करना। ४. अति लोभ करना। ५. मर्यादा से अधिक कार्य करना।

परिग्रह परिमाण अणुव्रत की पांच भावनायें- बहुत पाप बंध के कारणभूत

अन्याय, अभक्ष्य रूप पांचों इन्द्रियों के विषयों का जीवन पर्यन्त के लिये त्याग करना। कर्मयोग से मिले हुए मनोज्ञ विषयों में अतिराग व असक्तता नहीं करना तथा अमनोज्ञ विषयों में द्वेष, घृणा नहीं करना।

इन भावनाओं के सदा स्मरण रखने से परिग्रह परिमाण व्रत में दोष लगाने रूप प्रमाद उत्पन्न नहीं होता तथा व्रत में दृढ़ता रहती है। सम्यक्त्वी ग्रहस्थ हिंसादि पांचों पापों को मोक्षमार्ग के साधनों का विरोधी एवं विघ्नकर्ता जानता है; परन्तु ग्रहस्थाश्रम में फंसे रहने के कारण विवश होकर इनको सर्वथा त्याग नहीं सकता, केवल एकदेश त्याग कर सकता है, इस त्याग से लौकिक-पारलौकिक दोनों प्रकार के लाभ होते हैं।

सर्वजन ऐसे पुरुष को धर्मात्मा प्रामाणिक पुरुष समझते हैं, उसकी इज्जत करते हैं, सर्व प्रकार सेवा सहायता करते और आज्ञा मानते हैं। उसका लोक में यश होता है, न्याय प्रवृत्ति के कारण उसका धन्धा अच्छा चलता है, जिससे धन-सम्पदा आदि सुखों की प्राप्ति होती है। कषाय जनित आकुलता-व्याकुलतायें घट जाती हैं, पाप बंध नहीं होता और शुभ कार्यों में विशेष प्रवृत्ति होने से सातिशय पुण्य का बंध होता है जिससे आगामी स्वर्गादि सुखों की और परम्परा से शीघ्र ही मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है।

सप्त शील का वर्णन-

सप्त शीलों में तीन गुणव्रत तो अणुव्रतों को दृढ़ करते हैं, उनकी रक्षा करते हैं और चार शिक्षाव्रत मुनिव्रत की शिक्षा देते अर्थात् अणुव्रतों को महाव्रतों की सीमा तक पहुंचाते हैं।

तीन गुणव्रत-

(१) दिग्व्रत- पाप, सावद्ययोग की निवृत्ति हेतु चारों दिशा-पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण। चार विदिशा- आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ईशान। ऊपर और नीचे। इस प्रकार दसों दिशाओं में गमनागमन का प्रमाण- वन, पर्वत, नगर, नदी, देश आदि चिन्हों द्वारा करके उसके बाहर सांसारिक विषय-कषाय संबंधी कार्यों के लिये न जाने की यावज्जीवन प्रतिज्ञा करना दिग्व्रत है।

दिग्व्रत के पांच अतिचार- १. प्रमादवश मर्यादा से अधिक ऊंचाई पर चढ़ जाना। २. प्रमादवश मर्यादा से अधिक नीचे उतर जाना। ३. प्रमादवश समान भूमि में दिशा-विदिशाओं की मर्यादा के बाहर चले जाना। ४. प्रमादवश क्षेत्र की मर्यादा

बढ़ा लेना । ५. प्रमादवश, की हुई मर्यादा को भूल जाना ।

दिग्व्रत धारण करने से अणुव्रती को यह विशेष लाभ होता है कि अपने आने-जाने आदि वर्ताव के क्षेत्र का जितना प्रमाण किया है उससे बाहर के क्षेत्र की तृष्णा घट जाती है । मन में उस क्षेत्र संबंधी किसी प्रकार के विकल्प भी उत्पन्न नहीं होते तथा उस त्यागे हुए क्षेत्र संबंधी सर्व प्रकार त्रस-स्थावर हिंसा के आश्रव का अभाव होने से वह पुरुष उस क्षेत्र की अपेक्षा महाव्रती के समान हो जाता है ।

(२) देशव्रत- दिग्व्रत द्वारा यावज्जीवन प्रमाण किये हुए क्षेत्र को काल के विभाग से घटा-घटा कर त्याग करना देशव्रत कहलाता है । जितने क्षेत्र का जीवन पर्यन्त के लिये प्रमाण किया है, उतने में नित्य गमनागमन का काम तो पड़ता ही नहीं; अतएव जितने क्षेत्र में व्यवहार करने से अपना आवश्यकीय कार्य सधे, उतने क्षेत्र का प्रमाण दिन-दो दिन, सप्ताह, पक्ष, मास के लिये स्पष्ट रूप से कर लेवे, शेष का त्याग करे जिससे बाहर के क्षेत्र में इच्छा का निरोध होकर द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा से रक्षा हो ।

देशव्रत के पांच अतिचार- १. मर्यादा के क्षेत्र से बाहर किसी मनुष्य या पदार्थ को भेजना । २. मर्यादा से बाहर के पुरुष को शब्द द्वारा सूचना देना । ३. मर्यादा से बाहर का माल मंगाना । ४. मर्यादा से बाहर के पुरुष को अपना रूप दिखाकर या इशारे से सूचना देना । ५. मर्यादा से बाहर के पुरुष को कंकर-पत्थर आदि फेंककर चेतावनी कराना ।

दिग्व्रत के प्रमाण में से जितना क्षेत्र देशव्रत में घटाया जाता है उतने क्षेत्र संबंधी गमनागमन का संकल्प-विकल्प तथा आरंभ संबंधी हिंसादि पापों का अभाव हो जाता है, जिससे देशव्रती की त्यागे हुए क्षेत्र में उपचार से महाव्रती के समान प्रवृत्ति रहती है ।

(३) अनर्थदण्ड त्याग व्रत- दिशा विदिशाओं की मर्यादा पूर्वक जितने क्षेत्र का प्रमाण किया हो उसमें भी प्रयोजन रहित पाप के कारणों से अथवा प्रयोजन सहित महापाप के कारणों से विरक्त होना अनर्थदण्ड त्याग व्रत है ।

अनर्थदण्ड के पांच भेद हैं-

१. पापोपदेश- पाप में प्रवृत्ति कराने वाला तथा जीवों को क्लेश पहुंचाने वाला उपदेश देना या वाणिज्य, हिंसा, ठगाई आदि की कथा कहना, जिससे दूसरों की पाप में प्रवृत्ति हो जाये । जैसे-किसी से कहना की धान्य खरीद लो, घोड़ा गाय

भैंस आदि रख लो, कल कारखाने लगाओ, बाग लगाओ, खेती कराओ, अग्नि जलाओ आदि ।

२. हिंसादान- हिंसा के उपकरण कुल्हाड़ी, तलवार, चाकू आदि हिंसा के लिये देना, भाड़े से देना, दान देना तथा इनका व्यापार करना ।

३. अपध्यान- राग-द्वेष से दूसरों के वध-बंधन, हानि, नाश होने या करने संबंधी खोटे विचार करना, परस्पर का बैर याद करना आदि ।

४. दुःश्रुति श्रवण- चित्त में राग-द्वेष के बढ़ाने वाले, क्लेश उत्पन्न कराने वाले, काम जाग्रत कराने वाले, मिथ्याभाव बढ़ाने वाले, आरंभ परिग्रह बढ़ाने वाले, पाप में प्रवृत्ति कराने वाले तथा क्रोधादि उत्पादक शास्त्रों, पुस्तकों, पत्रादि का पठन-पाठन करना, सुनना अथवा इसी प्रकार की कथा कहानी कहना ।

५. प्रमाद चर्या- बिना प्रयोजन घूमना फिरना या दूसरों को घुमाना फिराना । पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि को निष्प्रयोजन छेदना-भेदना, घात करना आदि ।

अनर्थदण्ड त्याग व्रत के पांच अतिचार- १. नीच पुरुषों जैसे भंड वचन बोलना, काम पूर्ण हंसी मसखरी के वचन कहना । २. काय की भंड रूप खोटी चेष्टा करना, हाथ-पांव मटकाना, मुंह बनाना आदि । ३. व्यर्थ बकवाद करना या छोटी सी बात को बहुत आडंबर बढ़ाकर कहना । ४. बिना विचारे मन, वचन, काय की प्रवृत्ति करना । ५. अनावश्यक भोगोपभोग की सामग्री एकत्रित करना या उसका व्यर्थ व्यवहार करना ।

अनर्थदण्ड त्याग करने से प्रयोजन रहित अथवा अल्प प्रयोजन सहित होने वाले पापों से बचाव होता है अतः अतिचार रहित निर्दोष पालन करना चाहिये ।

चार शिक्षाव्रत-

(१) सामायिक शिक्षाव्रत- मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना से मर्यादा तथा मर्यादा से बाहर के क्षेत्र में नियत समय तक हिंसादि पांच पापों का सर्वथा त्याग करना, राग-द्वेष रहित होना, सर्व जीवों के प्रति समता भाव रखना, संयम मय शुभ भाव करना, आर्त-रौद्र भाव का त्याग करना सामायिक शिक्षाव्रत है । सम अर्थात् राग-द्वेष रहित, आय अर्थात् आत्मा में उपयोग की प्रवृत्ति सामायिक है । साम्य भाव होने पर ही आत्म स्वरूप में चित्त मग्न होता है ।

सामायिक करने में विशेष ध्यान देने योग्य नौ बातें- १. योग्य द्रव्य (पात्र),

२. योग्य क्षेत्र, ३. योग्य काल, ४. योग्य भाव, ५. योग्य आसन, ६. योग्य विनय, ७. मन शुद्धि, ८. वचन शुद्धि, ९. काय शुद्धि पूर्वक सामायिक करने से परिणाम में शांति सुख का अनुभव होता है।

सामायिक पाठ के छह अंग हैं- १. प्रतिक्रमण, २. प्रत्याख्यान, ३. सामायिक कर्म, ४. स्तुति, ५. वंदना, ६. कायोत्सर्ग। इस प्रकार समभाव पूर्वक आत्म स्वरूप का चिंतन करने के लिये आवर्त, शिरोनति तथा नमस्कार पूर्वक सामायिक करना।

सामायिक के पांच अतिचार- १. २. ३. मन-वचन-काय को अशुभरूप प्रवर्तना। ४. सामायिक करने में अनादर भाव करना। ५. सामायिक का समय और पाठ भूल जाना। अतिचार लगने से सामायिक दूषित होती है अतएव ऐसी सावधानी रखना चाहिये जिससे अतिचार दोष न लगे।

विशेष- सामायिक के समय क्षेत्र तथा काल का परिमाण करके गृह, व्यापार आदि सर्व पाप योगों का त्याग कर देने से सामायिक करने वाले गृहस्थ के सर्व प्रकार पापाश्रव रुककर सातिशय पुण्य का बंध होता है। उस समय वह उपसर्ग में ओढ़े हुए कपड़ों से युक्त मुनि के समान होता है। विशेष क्या कहा जाये, अभव्य भी द्रव्य सामायिक के प्रभाव से नवमे ग्रैवेयक पर्यन्त जाकर अहमिन्द्र हो सकता है। सामायिक को भाव पूर्वक धारण करने से शांति सुख की प्राप्ति होती है। यह आत्म तत्व की प्राप्ति अर्थात् परमात्मा होने के लिये मूल कारण है, इसकी पूर्णता ही जीव को निष्कर्म अवस्था प्राप्त कराती है।

(२) प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत- अष्टमी, चतुर्दशी के दिन सर्व काल धर्म साधन की सुवांछा से संपूर्ण पापारंभों से रहित होकर, चार प्रकार आहार का त्याग करना प्रोषधोपवास कहलाता है।

१. उत्तम प्रोषधोपवास- सोलह प्रहर तक निराहार रहना। २. मध्यम प्रोषधोपवास- जल सिवाय तीन प्रकार के आहार का त्याग। ३. जघन्य प्रोषधोपवास- एक बार अन्न जल ग्रहण करना।

इस शिक्षाव्रत, व्रत प्रतिमा में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार अपनी शक्ति देखकर उत्कृष्ट, मध्यम या जघन्य जैसा योग्य हो- प्रोषध व्रत करे।

प्रोषधोपवास के पांच अतिचार- १. बिना देखे बिना शोधे पूजा के उपकरण शास्त्र, संस्तर आदि ग्रहण करना। २. बिना देखे बिना शोधे मल-मूत्रादि मोचन करना। ३. बिना देखे बिना शोधे बिस्तर चटाई आदि बिछाना। ४. भूख प्यास के

क्लेश से उत्साह हीन होकर उपवास में निरादर रूप परिणाम करना। ५. उपवास योग्य क्रियाओं को भूल जाना।

प्रोषधोपवास के दिन भोगोपभोग एवं आरम्भ का त्याग करने से हिंसा लेश भी नहीं होती। वचन गुप्ति होने (मौनावलम्बी रहने) अथवा आवश्यकतानुसार धर्म रूप अल्प भाषण करने से असत्य का दूषण नहीं आता। अदत्तादान के सर्वथा त्याग से चोरी का दोष नहीं आता। मैथुन के सर्वथा त्याग से ब्रह्मचर्य व्रत पलता है और शरीर आदि परिग्रह से निर्ममत्व होने से परिग्रह रहितपना होता है; इसलिये प्रोषधोपवास करने वाला ग्रहस्थ उस दिन सर्व सावद्य योग के त्याग होने से उपचार महाव्रती है। प्रोषधोपवास के धारण करने से शरीर निरोग रहता है और शरीर की शक्ति बढ़ती है। सातिशय पुण्य का बंध होकर उत्कृष्ट सांसारिक सुखों की प्राप्ति पूर्वक पारमार्थिक मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है।

(३) भोगोपभोग परिमाण व्रत- रागादि भावों को मंद करने के लिये परिग्रह परिमाण व्रत की मर्यादा में भी काल के प्रमाण से भोग-उपभोग का परिमाण करना, अधिक सेवन की इच्छा न करना भोगोपभोग परिमाण व्रत है।

जो वस्तु एक बार भोगने के बाद पुनः दूसरी बार भोगने योग्य न हो उसे भोग कहते हैं। जैसे- भोजन, पान, सुगंध आदि।

जो वस्तु बार-बार भोगने योग्य हो उसे उपभोग कहते हैं। जैसे- स्त्री, आसन, शय्या, वस्त्र, वाहन, मकान आदि।

भोगोपभोग का परिमाण यम-नियम रूप दो प्रकार से होता है। यावज्जीवन त्याग करना यम कहलाता है और दिन, रात्रि, मास, ऋतु, वर्ष, काल आदि की मर्यादा रूप त्याग करना नियम कहलाता है। प्रकृति विरुद्ध अर्थात् जिन चीजों के खाने से रागादि क्लेश होता है, उनका सेवन करना छोड़े। अनुपसेव्य, उत्तम जाति, कुल, धर्म के विरुद्ध भोगोपभोग का त्याग करे। बुद्धि को विकार करने रूप- बीड़ी, तम्बाकू, भांग, गांजा आदि नशीली वस्तुएं छोड़ें। धर्म, चारित्र को हानि पहुंचाने वाली विदेशी अज्ञात और अपवित्र औषधि आदि पदार्थों का भक्षण तजे, हिंसा का व्यापार छोड़े।

श्रावक को यह सत्रह नियम नित्य प्रातः काल सामायिक के बाद लेना चाहिये-

भोजने षट्सं पाने कुमकुमादि विलेपने।

पुष्प ताम्बूल गीतेषु नृत्यादौ ब्रह्मचर्यके॥

स्नान भूषण वस्त्रादौ वाहने शयनासने । सचित्तवस्तु संख्यादे प्रमाणं भज प्रत्यहं ॥

भोगोपभोग परिमाण व्रत के पांच अतिचार- १. विषय भोगों में प्रीति करना, हर्ष मानना । २. पूर्व काल में भोगे हुए भोगों का स्मरण करना । ३. वर्तमान भोग भोगने में अति लम्पटता रखना । ४. भविष्य में भोग प्राप्ति की अति तृष्णा करना । ५. विषय न भोगने पर भी विषय भोगने जैसा अनुभव करना ।

भोगोपभोगों के यम-नियम रूप परिमाण करने से विषयों की अति लम्पटता तथा वांछा घट जाती है, जिससे चित्त की चंचलता कम होती है और स्थिरता बढ़ने से धर्म ध्यान में चित्त अच्छी तरह लगता है ।

(४) अतिथि संविभाग शिक्षाव्रत- दाता और पात्र दोनों के रत्नत्रय धर्म की वृद्धि के निमित्त, सम्यक्त्व आदि गुणों से युक्त गृह रहित साधु, मुनि आदि पात्रों की योग्य वैयावृत्ति करना अतिथि संविभाग या सत्पात्र दान कहलाता है ।

जो सत्पुरुष पूर्ण ज्ञान की सिद्धि के निमित्तभूत शरीर की स्थिति के लिये बिना बुलाये ईर्यापथ शोधन करते हुए, बिना तिथि निश्चित किये श्रावकों के घर भोजन के निमित्त आवें वे अतिथि कहलाते हैं । यह वृत्ति निर्ग्रन्थ वीतरागी साधु तथा उत्कृष्ट प्रतिमाधारी ऐलक-क्षुल्लकों में पाई जाती है; क्योंकि इनकी स्थिति एवं बिहार करने की तिथि निश्चित नहीं रहती । ऐसे उत्तम पात्रों को द्वारापेक्षण आदि यथायोग्य नवधाभक्ति पूर्वक अपने भोजन में से विभाग कर आहार, औषधि, पात्रादि दान देना, यदि उपर्युक्त प्रकार से अतिथि का संयोग न मिले तो मध्यम तथा जघन्य पात्रों एवं साधर्मियों की यथा योग्य आदर पूर्वक चार प्रकार दान द्वारा वैयावृत्ति करना या दुःखितों व भूखों को करुणा बुद्धि पूर्वक दान देना यह सब अतिथि संविभाग है ।

योग्य पात्र को आहार दान, औषधि दान, ज्ञान दान (शास्त्र दान) तथा अभय दान में से जिस समय जिसकी आवश्यकता हो, उस समय उसी प्रकार का दान देना योग्य है । इससे दातार तथा पात्र दोनों को रत्नत्रय की प्राप्ति, वृद्धि और रक्षा होती है । पात्र, दातार, द्रव्य तथा दान देने की विधि के भेद से दान के फल में विशेषता होती है ।

दान की प्रवृत्ति करने योग्य पात्र (स्थान) सात प्रकार के हैं- १. धर्मायतन, चैत्यालय आदि में धर्म साधना के लिये शास्त्र आदि उपकरण दान देना । २. धार्मिक आयोजन कर विशेष धर्म प्रभावना, प्रतिष्ठा, जिनवाणी पालकी जी आदि निकलवाना,

पात्र भावना करना । ३. तीर्थ यात्रा करना, सत्संग आदि के द्वारा अपने द्रव्य का सदुपयोग करना । ४. पात्रदत्ति- सत्पात्रों को श्रद्धा भक्ति पूर्वक आहार दान आदि कराना । ५. समदत्ति- जो साधु या अन्य गृहस्थ गरीब असहाय हों, रोगी दीन दुःखी हों उनकी धन, वस्त्र आदि से यथायोग्य सहायता करना । ६. दयादत्ति- सभी दुःखी व भूखे जीवों को अन्न, वस्त्र आदि से सहायता करना । ७. सकल दत्ति- अपनी सारी सम्पत्ति अपने पुत्र आदि कुटुम्बी जन को या धर्मायतन में देकर सर्व परिग्रह से निर्ममत्व होकर उत्तम श्रावक के व्रत या मुनिव्रत धारण करना ।

सम्यक्दृष्टि चारित्रवान दातार ही सच्चा दान देने का पात्र होता है ।

दातार के पांच भूषण- १. आनंद पूर्वक दान देना, २. आदर पूर्वक दान देना, ३. प्रिय वचन पूर्वक दान देना, ४. निर्मल भाव पूर्वक दान देना, ५. दान देकर अपना धन्य भाग्य मानना । ज्ञानी तथा श्रद्धावान दातारों में यह गुण अवश्य पाये जाते हैं ।

पात्र के तीन भेद- १. उत्तम पात्र- सम्यक्दृष्टि निर्ग्रन्थ वीतरागी साधु, मुनि, आर्यिका । २. मध्यम पात्र- श्रावक, श्राविका । ३. जघन्य पात्र- अविरत सम्यक्दृष्टि श्रावक ।

यहां कोई प्रश्न करे कि वर्तमान समय में उत्तम पात्र की प्राप्ति तो दुर्लभ हो गई है फिर हम किसकी वैयावृत्ति करें, किसको दान दें ?

उसका समाधान यह है कि यदि उत्तम पात्र न मिले तो मध्यम तथा जघन्य पात्रों की यथायोग्य सेवा, सहायता करो, उनके श्रद्धान ज्ञान चारित्र की वृद्धि का पूरा-पूरा यत्न करो जिससे वे उत्तम पात्र बनने के लिये उत्साहित हों ।

पात्र दान के पांच अतिचार- १. दान में दी जाने वाली वस्तु हरित पत्र में रखना । २. हरित पत्र से ढांकना । ३. अनादर से दान देना । ४. दान की विधि भूल जाना या दान देने की सुधि न रखना । ५. ईर्ष्या बुद्धि से दान देना ।

अतिथि संविभाग अर्थात् दान देने से लोभ आदि कषायों की मंदता होती है तथा धर्म और धर्मात्मा में अनुराग रूप परिणाम होने से तीव्र पुण्य का बंध होता है तथा पात्र के शरीर की स्थिरता होने से धर्म साधन होकर उसे भी स्वर्ग, मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

इस प्रकार बारह व्रतों का संक्षेप में वर्णन किया, व्रत प्रतिमाधारी इनका पालन करता है, जिससे उसके परिणामों में निर्मलता आती है और अपने आत्म स्वरूप के चिंतन-मनन में उपयोग लगता है ।

व्रती श्रावक के त्यागने योग्य विशेष क्रिया- विशेष हिंसा के निंद्य तथा निर्दयता के धंधे न आप करे, न औरों को करावे और न इनकी दलाली करे, जैसे- लाख, मोम, गोंद, लोहा, शीशा, हथियार, जूता बेचना आदि। खाद का ठेका लेना, वृक्ष काटना, घास काटना, तेल पेरना, वन कटी करना आदि। शराब, गांजा, अफीम आदि मादक पदार्थों का ठेका लेना, बेचना। गाड़ी घोड़ा आदि के किराये का धंधा करना। यद्यपि व्रत प्रतिमा में केवल संकल्पी त्रस हिंसा का त्याग होता है, आरंभी का नहीं; तथापि अयत्नाचार पूर्वक होने वाली आरंभी हिंसा भी संकल्पी के भाव को उत्पन्न करती है।

व्रती श्रावक को हिंसा तथा व्रत भंग से बचने के लिये निम्न बातों का पालन करना आवश्यक है- १. रात्रि का बनाया हुआ भोजन ग्रहण न करे। २. जाति बिरादरी के बड़े जेवनारों में भोजन न करे। ३. रसोई बनाते या भोजन करते समय शुद्ध धुले हुए वस्त्र पहिने। ४. नीच तथा निकृष्ट धंधे करने वालों से लेन-देन अथवा उठने-बैठने आदि का व्यवहार न रखे। ५. बाग-बगीचे में भोजन अथवा गोट न करे। ६. पशु, मनुष्य आदि का युद्ध न देखे। ७. फूल न तोड़े। ८. जल क्रीडा न करे। ९. रात्रि को खेलकूद तथा व्यर्थ भाग दौड़ न करे। १०. जहां बहुत स्त्रियां एकत्र होकर विषय-कषाय बढ़ाने वाले गीत-गान करती हों ऐसे मेले में न जावे और न विषय-कषाय वर्द्धक नाटक खेल आदि देखे, सिनेमा, टी. वी. आदि बिल्कुल न देखे। ११. होली न खेले। १२. गाली न देवे, हंसी मसखरी न करे। १३. चमड़े के जूते न पहिने। १४. ऊनी वस्त्र न पहिने। १५. हड्डी चमड़े की बनी वस्तुयें काम में न लावे। १६. धोबी से कपड़े न धुलावे। १७. पानी के नलों के डाटों में यदि चमड़े का पर्दा लगा रहता हो तो नल का पानी न पीवे। १८. दो घड़ी दिन रहे से दो घड़ी दिन चढ़े तक हिंसा की निवृत्ति के लिये आहार पानी न लेवे। १९. जिस देश या क्षेत्र में व्रत भंग होता हो वहां न जावे। २०. व्रती, मौन सहित अंतराय टालकर भोजन करे। २१. स्वाध्याय, सामायिक पाठ आदि के बाद ही भोजन करे। २२. रात को स्नान न करे इसमें विशेष त्रस हिंसा होती है। विवेक पूर्वक देख भालकर सब काम करना और नीचे सामने देखकर चलना विशेष आवश्यक है।

सिद्ध भक्ति किये पीछे अंतराय माना जाता है। व्रती श्रावक के लिये भोजन करते समय टालने योग्य अंतराय-

१. देखने के दस- गीला चर्म, हड्डी, मांस, चार अंगुल रक्त की धार, मदिरा, विष्टा, जीव हिंसा, गीली पीव, पंचेन्द्रिय मरा हुआ पशु, मूत्र।

२. सुनने के दस- मांस, मदिरा, अस्थि, अग्नि लगने आदि उत्पात का शब्द, अति कठोर शब्द मारो-काटो आदि, करुणा जनक रोने का शब्द, रोग की तीव्रता का शब्द, धर्मात्मा पुरुष के उपसर्ग का समाचार, मनुष्य के मरने का समाचार, धर्म या धर्मात्मा की अविनय का शब्द।

३. स्पर्श के दस- चर्मादि अपवित्र पदार्थ, पंचेन्द्रिय बड़ा पशु, दुष्ट पुरुष, रजस्वला स्त्री, रोम या केश, पंख, नख, छोटा या बड़ा त्रस जीव अचानक मर जाये या मरे हुए का स्पर्श हो जाये।

४. मन के संकल्प का- भोजन में किसी पदार्थ को देखकर ग्लानि होना या मल मूत्र की शंका होना।

५. त्यागे हुए पदार्थ का- त्यागा हुआ पदार्थ भोजन करने में आ जाये तो भोजन तजे। भोजन करते समय कोई चीज लेने के लिये इशारा नहीं करना चाहिये, मौन रखकर भोजन करना चाहिये। अंतराय पालने से रसना इन्द्रिय वश में होती है, संतोष भावना पलती है, वैराग्य भाव दृढ़ होता है, संयम पलता है, एषणा समिति पलती है जिससे वचन की सिद्धि आदि अनेक अतिशय उत्पन्न होते हैं।

व्रती श्रावक सात जगह मौन रखे- १. भोजन करते और पानी पीते समय, २. स्नान, ३. मलमोचन, ४. मैथुन, ५. वमन, ६. विसंवाद, ७. सामायिक के समय। सदा उठते-बैठते, चलते-फिरते कोई भी कार्य करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि मेरे समान ही सब जीव आत्मा परमात्म स्वरूप हैं। निष्प्रयोजन कोई कार्य नहीं करना, जिससे किसी जीव के प्राणों का घात हो, अपने लिये भी विकल्प के कारण बनें ऐसा कोई कार्य नहीं करना। इस प्रकार व्रत प्रतिमाधारी श्रावक बारह व्रतों की साधना करते हुए अपने शुद्धात्म स्वरूप की साधना करता है; क्योंकि द्रव्य संयम के बिना भाव संयम नहीं होता। इसका विवेक रखते हुए मोक्षमार्गी सम्यक्दृष्टि साधक अपने स्वरूप की साधना करता है। व्रत का अर्थ है सीमा में आ जाना और अव्रती अर्थात् जिसकी कोई सीमा नहीं है।

३. सामायिक प्रतिमा

सम्यक्दर्शन सहित व्रत प्रतिमा का निरतिचार पालन करने वाला तीसरी सामायिक प्रतिमा धारण करता है-

सामायिकं नृतं जेन, सम संपूर्ण सार्धयं।

ऊर्ध्व आर्ध मध्यं च, मन रोधो स्वात्म चिंतनं ॥ ४०६ ॥

आलापं भोजनं गच्छं, श्रुतं सोकं च विभ्रमं ।

मनो वय काय हिदं सुद्धं, सामाई स्वात्म चिंतनं ॥ ४०७ ॥

अन्वयार्थ- (सामायिकं नृतं जेन) जो शाश्वत सामायिक करता है (सम संपूर्ण सार्धयं) वह हमेशा परिपूर्ण समता भाव में रहने की साधना करता है (ऊर्ध आर्ध मध्यं च) प्रातः, मध्यान्ह, सायंकाल अथवा ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक से (मन रोधो स्वात्म चिंतनं) मन का निरोध कर स्वात्म चिंतन करता है ।

(आलापं भोजनं गच्छं) वार्तालाप में, भोजन में, गमन करने में (श्रुतं सोकं च विभ्रमं) श्रवण शोक और विभ्रम अर्थात् शंका संदेह रहित होकर (मनो वय काय हिदं सुद्धं) मन, वचन, काय और हृदय से शुद्धता पूर्वक (सामाई स्वात्म चिंतनं) अपने शुद्धात्म स्वरूप का चिंतन करना सामायिक प्रतिमा है ।

विशेषार्थ- सामायिक शिक्षाव्रत में बतला आये हैं कि राग-द्वेष रहित होकर शुद्धात्म स्वरूप में उपयोग को स्थिर करना यथार्थ सामायिक है । इस सामायिक की सिद्धि के लिये श्रावक अवस्था में बारह भावना, पंच परमेष्ठी का स्वरूप, आत्मा के स्वभाव-विभाव का चिंतन एवं आत्म स्वरूप में उपयोग को स्थिर करने का अभ्यास करना, पूर्ण समता भाव में रहने की साधना करना, त्रिकाल-प्रातः, मध्यान्ह, सायं तीन लोक के भावों से मन को रोककर स्वात्मा का चिंतन करना स्थायी शाश्वत सामायिक प्रतिमा है ।

समय आत्मा को कहते हैं इसलिये सामायिक के समय शांत चित्त होकर मात्र एक अपने आत्मा का ही चिंतन करे, कोई चिंता न करे, न किसी से बातचीत का विचार करे और न बात करे, न भोजन की चिंता करे, न कहीं आने-जाने का विचार करे, न किसी की बात सुनने में उपयुक्त हो, न शोक करे, न कोई संदेह की बात मन में लावे । मन, वचन, काय को निश्चल रखकर हृदय से शुद्ध होकर अपने आत्म स्वरूप का चिंतन ध्यान करना सामायिक है ।

यहां तीसरी सामायिक प्रतिमा का स्वरूप बताया जा रहा है, सामायिक दूसरी प्रतिमा में भी थी परन्तु वहां अभ्यास रूप थी, कभी कोई कारण वश नहीं भी करे; किन्तु यहां नियम से प्रातः, मध्यान्ह व सायंकाल कम से कम ४८ मिनट अर्थात् दो घड़ी सामायिक करना आवश्यक है । सामायिक प्रतिमा वाला निर्दोष सामायिक करे, उपसर्ग आने पर भी प्रतिज्ञा से न टले और राग-द्वेष रहित सहन करे, उस समय

अपने को शरीर आदि से रहित परम शुद्ध निर्विकार, निरंजन, ब्रह्मस्वरूप, सच्चिदानन्द घन परमात्म स्वरूप अनुभव करे । जैसे- नदी में स्नान करते हैं, गोता लगाते हैं, वैसे ही अपने आत्मा के यथार्थ स्वरूप को ध्यान में लेकर बारम्बार गोता लगावे, उसी में मग्न रहे । सच्ची सुख-शांति और मुक्ति पाने का एकमात्र उपाय ध्यान सामायिक है । जिसको सर्व जगत की और अन्य कामों की चिंता छोड़कर करना आवश्यक है ।

सामायिक प्रतिमाधारी सामायिक संबंधी बत्तीस दोष न लगावे- १. अनादर से सामायिक न करे । २. गर्व से सामायिक न करे । ३. मान बड़ाई के लिये सामायिक न करे । ४. दूसरे जीवों को पीड़ा उपजाता हुआ सामायिक न करे । ५. हिलता हुआ सामायिक न करे । ६. शरीर को टेढ़ा रखता हुआ सामायिक न करे । ७. कछुए की तरह शरीर को संकोचता हुआ सामायिक न करे । ८. सामायिक के समय मछली की तरह ऊँचा-नीचा न हो । ९. मन में दुष्टता न रखे । १०. जैनमत की आम्नाय के विरुद्ध सामायिक न करे । ११. भय युक्त होकर सामायिक न करे । १२. ग्लानि सहित सामायिक न करे । १३. मन में ऋद्धि गौरव रखता हुआ सामायिक न करे । १४. जाति-कुल का गर्व रखता हुआ सामायिक न करे । १५. चोर की तरह छिपता हुआ सामायिक की क्रिया न करे । १६. सामायिक के काल में ही सामायिक करे । १७. दुष्टता युक्त होकर सामायिक न करे । १८. दूसरों को भय उपजाता हुआ सामायिक न करे । १९. सामायिक के समय सावद्य वचन न बोले । २०. दूसरों की निंदा न करे । २१. भौंह चढ़ाकर सामायिक न करे । २२. मन में सकुचाता हुआ सामायिक न करे । २३. दसों दिशाओं में इधर-उधर अवलोकन करता हुआ सामायिक न करे । २४. स्थान के देखे-शोधे बिना सामायिक को न बैठे । २५. जिस-तिस प्रकार सामायिक का काल पूरा न करे । २६. सामायिक की सामग्री में बाधा पड़ने पर सामायिक में नागा न करे । २७. बांछा युक्त होकर सामायिक न करे । २८. सामायिक का पाठ हीन न पढ़े तथा काल पूरा हुए बिना न उठे । २९. खण्डित पाठ न पढ़े । ३०. गूंगे की तरह न बोले । ३१. मेंढक की तरह ऊँचे स्वर से टर्-टर् न बोले । ३२. चित्त चलायमान न करे ।

इस प्रकार निर्दोष सामायिक करने वाला श्रावक हमेशा समता भाव में रहने वाला तथा अपने आत्म स्वरूप की साधना में रत मुक्ति मार्ग का पथिक सामायिक प्रतिमाधारी होता है ।

४. प्रोषधोपवास प्रतिमा

प्रोषध शिक्षाव्रत में प्रोषधोपवास की विधि वर्णन की गई, वही क्रिया यहां समझना चाहिये; परन्तु उपवास क्या है और उसकी सार्थकता, विशेषता क्या है? वह यहां कहते हैं-

पोसह प्रोषधश्चैव, उववासं जेन क्रीयते ।
 संमिक्तं जस्य हृदयं सुद्धं, उववासं तस्य उच्यते ॥ ४०८ ॥
 संसारं विरतिते जेन, सुद्ध तत्त्वं च सार्धयं ।
 सुद्ध दिस्ती स्थिरी भूतं, उववासं तस्य उच्यते ॥ ४०९ ॥
 उववासं इच्छनं कृत्वा, जिन उक्तं इच्छनं जथा ।
 भक्ति पूर्वं च इच्छंते, तस्य हृदय समाचरेत् ॥ ४१० ॥
 उववासं व्रतं सुद्धं, सेसं संसार तिक्तयं ।
 पछितो तिक्त आहारं, अनसन उववास उच्यते ॥ ४११ ॥

अन्वयार्थ- (पोसह प्रोषधश्चैव) जो पर्व के दिन पोषह रूप प्रोषध एकासन या (उववासं जेन क्रीयते) उपवास करते हैं (संमिक्तं जस्य हृदयं सुद्धं) जिसके हृदय में शुद्ध सम्यक्दर्शन होता है (उववासं तस्य उच्यते) उसको ही उपवास कहते हैं।

(संसारं विरतिते जेन) जिसने संसार से राग छोड़ दिया है (सुद्ध तत्त्वं च सार्धयं) जो अपने शुद्धात्म तत्व की साधना करता है (सुद्ध दिस्ती स्थिरी भूतं) जिसकी दृष्टि अपने शुद्धात्म स्वरूप में स्थिर हो गई है (उववासं तस्य उच्यते) उसको ही उपवास कहते हैं।

(उववासं इच्छनं कृत्वा) उपवास रखने की इच्छा करना (जिन उक्तं इच्छनं जथा) जैसा जिनेन्द्र ने कहा है वैसा ही अपने स्वरूप में रहने की इच्छा करना (भक्ति पूर्वं च इच्छंते) क्योंकि भक्ति पूर्वक जिस ओर की रुचि होती है (तस्य हृदय समाचरेत्) उसी ओर का पुरुषार्थ काम करता है, वैसा ही हृदय से आचरण होता है।

(उववासं व्रतं सुद्धं) उपवास में पांच पापों के त्याग रूप व्रत शुद्ध होना (सेसं संसार तिक्तयं) शेष संसार का ममत्व भाव भी छोड़ना (पछितो तिक्त आहारं) इसके पश्चात् आहार का त्याग करना (अनसन उववास उच्यते) इसको अनशन उपवास कहा जाता है, इसी का नाम प्रोषधोपवास प्रतिमा है।

विशेषार्थ- दूसरी प्रतिमा में प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत में अष्टमी, चतुर्दशी को उपवास करने का अभ्यास था, कभी कोई कारण से नहीं भी करता था, एकासन करता था और अतिचार भी नहीं बचाता था तथा पापारंभ भी नहीं छोड़ता था। यहां चौथी प्रोषधोपवास प्रतिमा में माह में दो अष्टमी, दो चतुर्दशी को सोलह प्रहर का उत्कृष्ट उपवास करता है। जिसके हृदय में शुद्ध सम्यक्दर्शन होता है जो अपने आत्मा में वास करता है उसी को उपवास कहते हैं। जहां संसार, शरीर और भोगों से उदासीन होकर अपने आत्मा के अनुभव में तल्लीन रहा जावे, अपने शुद्धात्म स्वरूप में लीन रहे उसको ही उपवास कहते हैं। रुचि अनुगामी पुरुषार्थ होता है, रुचि इच्छा पूर्वक उपवास करना तथा जैसा जिनेन्द्र परमात्मा ने कहा है वैसे ही भक्ति पूर्वक अपने शुद्धात्म स्वरूप में स्थित रहना और बाह्य में समस्त आरंभ परिग्रह के त्याग पूर्वक आहार जल का त्याग करना, यही सच्चे हृदय से प्रोषधोपवास का आचरण है। उपवास करने वाला पहले अपने मन में यह दृढ़ संकल्प करे कि आज मुझे पांचों पापों के त्याग रूप शुद्ध व्रतों का पालन करना है तथा शेष संसार का ममत्व भाव भी छोड़कर अपने आत्म स्वरूप में लीन रहना है इसी के लिये समस्त आहार का त्याग करना है, यही अनशन रूप उपवास प्रोषधोपवास प्रतिमा कहलाती है। सम्यक्दृष्टि ज्ञानी तो निरंतर साधु रूप में रहने की भावना रखता है परन्तु कषाय के शमन न होने से गृह का त्याग नहीं कर सकता तब वह प्रोषधोपवास धारण कर नियमित काल के लिये साधु समान आचरण करता है, परमानन्द के लाभ में आसक्त रहता है, मोक्षमार्ग में चलकर अपने समय और जन्म को सफल बनाता है।

शुद्ध प्रोषधोपवास का फल मोक्ष है परन्तु बिना सम्यक्त्व के कितने ही व्रत तप किये जायें, सब संसार के कारण हैं, सम्यक्दर्शन सहित व्रताचरण मोक्षमार्ग है इसी को कहते हैं-

उववासं फलं प्रोक्तं, मुक्ति मार्गं च निश्चयं ।
 संसारे दुष नासंति, उववासं सुद्धं फलं ॥ ४१२ ॥
 संमिक्त बिना व्रतं जेन, तपं अनादि कालयं ।
 उववासं मास पाषं च, संसारे दुष दारुनं ॥ ४१३ ॥
 उववासं एक सुद्धं च, मन सुद्धं तत्त्व सार्धयं ।
 मुक्ति श्रियं पंथं सुद्धं, प्राप्तं तत्र न संसया ॥ ४१४ ॥

अन्वयार्थ- (उपवासं फलं प्रोक्तं) उपवास का फल कहा जाता है (मुक्ति मार्गं च निश्चयं) निश्चित मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है (संसारं दुःख नासंति) संसार के दुःख नष्ट हो जाते हैं (उपवासं सुद्धं फलं) शुद्ध उपवास अर्थात् निश्चय से आत्मा में वास करना और व्यवहार में पापों का त्याग करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

(संमिक्त बिना व्रतं जेन) सम्यक्दर्शन के बिना जो व्रत करते हैं (तपं अनादि कालयं) तथा अनादि काल तक तप करे (उपवासं मास पाषं च) महीना-महीना, पन्द्रह-पन्द्रह दिन का उपवास करे (संसारं दुःख दारुणं) वह सब संसार के दारुण दुःख का ही कारण है।

(उपवासं एक सुद्धं च) यदि एक भी उपवास शुद्ध किया जाये (मन सुद्धं तत्त्व सार्धयं) जिसमें मन पवित्र हो, आत्म तत्त्व की साधना सहित हो (मुक्ति श्रियं पंथं सुद्धं) वह श्रेष्ठ मुक्ति का शुद्ध मार्ग है (प्राप्तं तत्र न संसया) ऐसा साधक अवश्य ही मुक्ति को प्राप्त होगा, इसमें कोई संशय नहीं है।

विशेषार्थ- यद्यपि उपवास करना, आहार न करना, आरम्भ न करना, पापों को छोड़ना, एकांत में रहना यह सब व्यवहार चारित्र है, इसकी सार्थकता तभी है जब निश्चय रत्नत्रय स्वरूप निज शुद्धात्मा के श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र रूप निश्चय मोक्ष मार्ग का लाभ हो। शुद्ध भावों की प्राप्ति से कर्मों की विशेष निर्जरा होती है जिससे संसार के दुःखों का नाश होता है।

उपवास करना बड़ा भारी तप है; परंतु सम्यक्दर्शन के बिना जिसमें आर्त ध्यान होवे, अनादर रहे, आत्म स्वरूप का बोध न हो वह सब मिथ्या चारित्र संसार का ही कारण है। किसी कषाय वश व्रत तप किये जायें। महीना-महीना, पन्द्रह-पन्द्रह दिन के उपवास किये जायें; परन्तु मिथ्यात्व सहित होने से बिना जड़ के वृक्ष समान हैं। कषाय की मंदता हो तो पुण्य बन्ध होता है, कषाय की तीव्रता हो तो पाप बन्ध ही होता है जो संसार के दारुण दुःख का कारण है।

यदि एक उपवास भी शुद्ध हो जाये अर्थात् आत्मा में वास हो जाये तो यह बाहर का पाप-परिग्रह और आहार जल का त्याग मन को पवित्र बनाकर आत्म स्वरूप में स्थित करा देता है जिससे निश्चित ही मोक्ष की प्राप्ति होती है इसमें कोई संशय नहीं है। बाह्य का उपवास आत्म ध्यान की साधना में सहकारी होता है, चतुर्थ प्रोषध प्रतिमाधारी सम्यक्दृष्टि ज्ञानी अपने आत्म स्वरूप की साधना ध्यान की सिद्धि के लिये व्रत और तप की साधना करता है इसलिये परीषह उपसर्ग आने पर भी शक्ति

को न छिपाकर प्रत्येक अष्टमी चतुर्दशी को यथाशक्य उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य प्रोषधोपवास कर सामायिक वत सोलह प्रहर तक आहार, आरंभ, विषय-कषाय रहित होकर उत्कृष्ट प्रवृत्ति करना अर्थात् अपने आत्म स्वरूप की साधना में रत रहना ही प्रोषधोपवास प्रतिमा है।

५. सचित्त प्रतिमा

आत्मा में वास करने वाला साधक अचेत अर्थात् असावधानी का त्याग कर हमेशा सावचेत रहने के लिये सचित्त प्रतिमा धारण करता है उसका स्वरूप कहते हैं-

सचित्त चिंतनं कृत्वा, चेतयंति सदा बुधैः।

अचेतं असत्य तिक्तं च, सचित्त प्रतिमा उच्यते ॥ ४१५ ॥

सचित्तं हरितं जेन, तिक्तंते न विरोधनं।

चेत वस्तु संमूर्च्छनं च, तिक्तंते सदा बुधैः ॥ ४१६ ॥

सचित्त हरित तिक्तं च, अचेत सार्धं च तिक्तयं।

सचित्त चेतना भावं, सचित्त प्रतिमा सदा बुधैः ॥ ४१७ ॥

अन्वयार्थ- (सचित्त चिंतनं कृत्वा) सावचेत होकर अपने स्वरूप का चिंतन करते हुए (चेतयंति सदा बुधैः) ज्ञानी हमेशा चैतन्य अर्थात् होश में रहते हैं (अचेतं असत्य तिक्तं च) अचेतपना और असत्य को छोड़ देते हैं (सचित्त प्रतिमा उच्यते) इसे सचित्त प्रतिमा कहते हैं।

(सचित्तं हरितं जेन) जो हरित सचित्त वनस्पति का (तिक्तंते न विरोधनं) त्याग करते हैं वे उसे छूते और तोड़ते भी नहीं हैं (चेत वस्तु संमूर्च्छनं च) सचित्त वस्तु तथा जिसमें संमूर्च्छन जीव होते हैं (तिक्तंते सदा बुधैः) ज्ञानी उसे हमेशा के लिये छोड़ देते हैं।

(सचित्त हरित तिक्तं च) सचित्त वनस्पति का त्याग करने वाला (अचेत सार्धं च तिक्तयं) अचित्त अर्थात् अचेतन का श्रद्धान भी नहीं करता है, उसे भी छोड़ देता है (सचित्त चेतना भावं) अपने चैतन्य भाव में सचेत सावधान रहना ही (सचित्त प्रतिमा सदा बुधैः) सचित्त प्रतिमा है जिसका ज्ञानी हमेशा पालन करते हैं।

विशेषार्थ- पांचवीं सचित्त प्रतिमा है, अन्य श्रावकाचारों में इसको सचित्त त्याग

प्रतिमा कही गई है, यहां श्री तारण स्वामी ने निश्चय नय के साथ व्यवहार का समन्वय करते हुए इसे सचित्त प्रतिमा कही है। इसका अभिप्राय है कि सम्यक्दृष्टि ज्ञानी प्रतिमाधारी सावचेत अर्थात् होश में रहकर हमेशा अपने शुद्धात्मा के गुणों का चिन्तन करता है, उसी का अनुभव करता है, किसी मूढ़ भक्ति वश अचेतन का श्रद्धान नहीं करता, जो असत्य है उसे छोड़ देता है और स्वयं भी अज्ञान स्वरूप पुद्गल आदि का चिन्तन नहीं करता, नाशवन्त असत्य जगत की क्षणभंगुर पर्यायों का भी चिन्तन नहीं करता है। आर्त रौद्र ध्यानों को छोड़कर धर्म ध्यान में सचेत रहता हुआ अपने आत्म स्वरूप का चिन्तन करता है वह सचित्त प्रतिमाधारी है। व्यवहार में हरी सचित्त वनस्पति आदि का भी त्याग कर देता है, जिनमें सम्मूर्च्छन जीव होते हैं ऐसे जल आदि को भी प्रासुक करके सेवन करता है। यहां साधना का मूल उद्देश्य रसना इन्द्रिय की लोलुपता से बचकर अपने आत्म स्वरूप की साधना करने का है। वह कच्चे या अप्रासुक मूल, फल, शाक, शाखा, कन्द, बीज आदि नहीं खाता, अचित्त और प्रासुक की हुई वस्तुओं का सेवन करता है। रसना इन्द्रिय के स्वादवश अनन्त काय साधारण वनस्पति का घात नहीं करता है। जैसे— यह स्वयं सचित्त खाता—पीता नहीं है, वैसे यह दूसरों को भी नहीं देता। एकेन्द्रिय सम्मूर्च्छन जीवों की भी दया पालता है, जिह्वा इन्द्रिय के स्वाद से विरक्त है तथा अपने आत्म स्वरूप की साधना में हमेशा सावचेत रहता है वही सम्यक्दृष्टि ज्ञानी सचित्त प्रतिमाधारी है।

सचित्त त्याग करने से रसना इन्द्रिय वश में होती है और दया पलती है। वात, पित्त, कफ का प्रकोप न होने से शरीर निरोग रहता है, शरीर की शक्ति बढ़ती है, काम वासना मंद पड़ती है जिससे चित्त की चंचलता घटती है। पुण्य बन्ध होता है तथा धर्म ध्यान में सहकारी होने से आत्म ध्यान द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है इसलिये इसे सचित्त प्रतिमा कहते हैं।

६. अनुराग भक्ति प्रतिमा

इस प्रतिमा को अन्य ग्रन्थों में रात्रि भुक्ति त्याग प्रतिमा तथा दिवा मैथुन त्याग प्रतिमा कहा है जबकि श्री तारण स्वामी ने अनुराग भक्ति प्रतिमा कहा है, जो साधक की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण और यथार्थतया सत्य है इसका स्वरूप कहते हैं—

अनुराग भक्ति दिष्टं च, राग दोषं न दिष्टते।

मिथ्या कुन्यान तिक्तं च, अनुरागं तत्र उच्यते ॥ ४१८ ॥

सुद्ध तत्त्वं च आराध्यं, असत्यं तस्य तिक्तये।

मिथ्या सत्य तिक्तं च, अनुराग भक्ति सार्धयं ॥ ४१९ ॥

अन्वयार्थ- (अनुराग भक्ति दिष्टं च) अपने आत्म स्वरूप की मग्नता और शुद्धात्म स्वरूप ध्रुव तत्त्व को देखना ही अनुराग भक्ति है (राग दोषं न दिष्टते) जहां राग-द्वेष दिखाई नहीं देते (मिथ्या कुन्यान तिक्तं च) जहां मिथ्यात्व और कुज्ञान छूट गये हों (अनुरागं तत्र उच्यते) उसे ही अनुराग कहते हैं।

(सुद्ध तत्त्वं च आराध्यं) जो अपने शुद्धात्म तत्त्व की आराधना करता है (असत्यं तस्य तिक्तये) उसके असत्य अर्थात् पर के विकल्प छूट जाते हैं (मिथ्या सत्य तिक्तं च) मिथ्यात्व और शल्य के त्याग होने अर्थात् छूटने से (अनुराग भक्ति सार्धयं) अपने आत्म स्वरूप की साधना शुद्धात्मा की ही अनुराग भक्ति होने लगती है यही अनुराग भक्ति प्रतिमा है।

विशेषार्थ- यह सम्यक्दृष्टि श्रावक की छटवीं प्रतिमा है, जो आत्मानुभूति सहित मुक्ति के मार्ग पर चल रहा है उसका अपने शुद्धात्म स्वरूप के प्रति उत्साह बहुमान तथा आत्म ध्यान की साधना के लिये जो पाप परिग्रह, विषय-कषायों से छूटता हुआ आगे बढ़ रहा है उसका अपने सिद्ध स्वरूप के प्रति जो अनुराग भक्ति है वही वास्तव में अनुराग भक्ति प्रतिमा है, जिससे आगे बढ़कर यह साधक अपने ब्रह्म स्वरूप में रमण करेगा। अन्य ग्रन्थों में जो दिवा मैथुन त्याग और रात्रि भुक्ति त्याग नाम दिया है वह व्यवहार अपेक्षा सामान्य कथन है। वास्तविक सत्यता तो इस अनुराग भक्ति में ही है, जहां अपने आत्म स्वरूप की मग्नता है, जो अपने ध्रुव तत्त्व को देख रहा है, जिसे अब बाहर राग-द्वेष आदि दिखाई नहीं देते, मिथ्यात्व कुज्ञान छूट गये हैं, शल्य विकल्प भी छूट गये हैं, जो अपने ध्रुव तत्त्व की साधना आराधना में संलग्न है, इसी को इष्ट उपादेय मानता है, पर के प्रति अनुराग और पर की भक्ति छूट गई है, जिसे अपने आत्म स्वरूप का अनुराग और परमात्म पद की भक्ति जाग्रत हो गई है वह अनुराग भक्ति प्रतिमाधारी है।

७. ब्रह्मचर्य प्रतिमा

जो ज्ञानी पुरुष स्त्री के शरीर को मल का बीजभूत, कर्म मल को उत्पन्न करने वाला मल प्रवाही दुर्गन्ध युक्त, लज्जा जनक निश्चय करता हुआ सर्व प्रकार की स्त्रियों में मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना से काम सेवन तथा तत्सम्बंधी

अतिचारों का त्याग करता है और अपने ब्रह्म स्वरूप में रमण करने के लिये ब्रह्मचर्य की दीक्षा में आरुढ़ होता है वह ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी है, इसी बात को आगे कहते हैं-

बंभ अबंभं तिक्तं च, सुद्ध दिस्टि रतो सदा ।

सुद्ध दर्शन समं सुद्धं, अबंभं तिक्त निश्चयं ॥ ४२० ॥

जस्य चित्तं ध्रुवं निश्चय, ऊर्ध्व आर्ध्वं च मध्ययं ।

जस्य चित्तं न रागादि, प्रपंचं तस्य न पस्यते ॥ ४२१ ॥

अन्वयार्थ- (बंभ अबंभं तिक्तं च) ब्रह्मचर्य-अब्रह्म अर्थात् कुशील का त्याग करना है अथवा पर पर्याय की ओर नहीं देखना (सुद्ध दिस्टि रतो सदा) हमेशा अपने शुद्धात्म स्वरूप को देखना उसी में रत रहना (सुद्ध दर्शन समं सुद्धं) शुद्ध सम्यक्दर्शन के समान शुद्ध भाव में रहना (अबंभं तिक्त निश्चयं) अब्रह्म भाव, पर्याय दृष्टि छोड़ना ही निश्चय से ब्रह्मचर्य प्रतिमा है ।

(जस्य चित्तं ध्रुवं निश्चय) जिसके चित्त में अपने ध्रुव स्वभाव का निश्चय श्रद्धान है (ऊर्ध्व आर्ध्वं च मध्ययं) जो तीनों काल और तीनों लोक में अपने ब्रह्मस्वरूप को देखता है (जस्य चित्तं न रागादि) जिसके चित्त में कोई राग-द्वेष मोह नहीं होते (प्रपंचं तस्य न पस्यते) और उसको कोई प्रपंच भी दिखलाई नहीं देते अर्थात् वह किसी प्रपंच में नहीं रहता वह ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी है ।

विशेषार्थ- ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी श्रावक पूर्णतः अब्रह्म का त्यागी अर्थात् स्व स्त्री और समस्त पर स्त्रियों से संबंध छोड़ देता है तथा हमेशा अपने शुद्धात्म स्वरूप में रत रहता है । अपने भावों की सम्हाल रखता है, शुद्ध भाव में रहता है, जिसके चित्त में अपने ध्रुव स्वभाव का निश्चय श्रद्धान है, जो तीनों काल, तीनों लोक में अपने ब्रह्म स्वरूप को देखता है, जिसके चित्त में कोई राग-द्वेष, मोह आदि विकारी भाव नहीं होते तथा किसी प्रपंच में भी नहीं रहता । शरीर संभोग संबंध तो पूर्णतया छोड़ ही देता है, जिसके भावों में मलिनता विकारी भाव भी नहीं रहता वह ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी है । सप्तम ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी सम्यक्दृष्टि श्रावक हमेशा अपने ब्रह्मस्वरूप में रत रहता है, जिसका पर पर्याय, शरीरादि से राग छूट गया है और वह अपने ध्रुव स्वभाव का निश्चय श्रद्धानी पर्याय दृष्टि से विमुख, संसारी प्रपंचों से मुक्त ब्रह्म स्वरूप की साधना करता है ।

यदि विकथा, व्यसन आदि में रत रहता है, रागादि भावों में बहता है तो वह

बाहर से ब्रह्मचारी बना हुआ भी ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी नहीं है इसी बात को कहते हैं-

विकहा विसन उक्तं च, चक्र धरनेन्द्र इन्द्रयं ।

नरेन्द्रं विभ्रमं रूपं, वर्नते विकहा उच्यते ॥ ४२२ ॥

व्रत भंगं राग चिंतंते, विकहा मिथ्यात रंजितं ।

अबंभं तिक्त बंभं च, बंभ प्रतिमा स उच्यते ॥ ४२३ ॥

जदि बंभचारिनो जीवो, भाव सुद्धं न दिस्टते ।

विकहा राग रंजंते, प्रतिमा बंभ गतं पुनः ॥ ४२४ ॥

अन्वयार्थ- (विकहा विसन उक्तं च) सात व्यसनों के सम्बन्ध में राग वर्द्धक चर्चा करना विकथा है (चक्र धरनेन्द्र इन्द्रयं) चक्रवर्ती धरणेन्द्र इन्द्रों के (नरेन्द्रं विभ्रमं रूपं) राजा महाराजाओं के वैभव, रूप आदि मोह राग को बढ़ाने वाले भोग आदि की (वर्नते विकहा उच्यते) चर्चा करना, सुनना विकथा कहलाती है ।

(व्रत भंगं राग चिंतंते) राग भाव का चिंतन करने से ब्रह्मचर्य व्रत भंग हो जाता है (विकहा मिथ्यात रंजितं) चारों विकथाओं को, मिथ्यात्व में रंजायमान होने को (अबंभं तिक्त बंभं च) और अब्रह्म को छोड़कर जो ब्रह्मचर्य का पालन करता है (बंभ प्रतिमा स उच्यते) उसे ब्रह्मचर्य प्रतिमा कहते हैं ।

(जदि बंभचारिनो जीवो) यदि ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी जीव के (भाव सुद्धं न दिस्टते) शुद्ध भाव दिखाई नहीं देते (विकहा राग रंजंते) विकथा और राग में रंजायमान रहता है (प्रतिमा बंभ गतं पुनः) तो उसकी ब्रह्मचर्य प्रतिमा भंग हो गई ऐसा समझना चाहिये ।

विशेषार्थ- ब्रह्मचारी खोटी कथाओं से विरक्त रहता है । जुआं खेलना, मांस भक्षण, मदिरा सेवन, वेश्या गमन, चोरी करना, शिकार खेलना, पर स्त्री सेवन करना इन सात व्यसनों में राग बढ़ाने वाली कथाओं को यह न तो करता है, न सुनता है तथा इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती, नारायण, राजा-महाराजा आदि की मोह वर्द्धक राग को बढ़ाने वाली कथाओं को न कहता है, न सुनता है, यदि इन विकथाओं को करता है और उनके राग का चिंतन करता है तो व्रत भंग हो जाता है और मिथ्यात्व में लिप्त हो जाता है इसलिये अब्रह्म की चर्चा छोड़कर जो अपने ब्रह्म स्वरूप में रहता है वह ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी है; परन्तु यदि ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी के भाव शुद्ध नहीं

दिखते वह विकथा और राग में रंजायमान रहता है, परिणामों में इन्द्रिय विषयों का राग रखता है, यदि वह राग सहित बात कहे, राग की बातें सुने, जगत के प्रपंच में अपने को उलझाए, स्त्रियों से राग वर्द्धक वार्तालाप करे, एकांत में स्त्रियों से बोले, आत्मा की शुद्धि का, शुद्ध भावों का ध्यान न रखे तो वह ब्रह्मचर्य प्रतिमा का खण्डन करने वाला है, यह निश्चित समझना कि उसका व्रत चला जायेगा।

इन सब निमित्तों से हटकर, चित्त को एकाग्र कर शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है वहीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा है इसी बात को यहां कहते हैं-

चितं निरोधतं जेन, सुद्ध तत्वं च सार्धयं ।

तस्य ध्यान स्थिरीभूतं, बंध प्रतिमा स उच्यते ॥ ४२५ ॥

अन्वयार्थ- (चितं निरोधतं जेन) जो अपने चित्त को एकाग्र करके (सुद्ध तत्वं च सार्धयं) शुद्धात्म तत्व की साधना करता है (तस्य ध्यान स्थिरीभूतं) उसके ध्यान में स्थिर हो जाता है (बंध प्रतिमा स उच्यते) उसे ब्रह्मचर्य प्रतिमा कहते हैं।

विशेषार्थ- ब्रह्मचर्य प्रतिमा का मूल अभिप्राय यह है कि जो अपने चित्त का निरोध कर अर्थात् समस्त संकल्प-विकल्पों से हटकर एकाग्र होकर अपने शुद्धात्म स्वरूप की साधना करता है, ब्रह्म स्वरूप में लीन रहता है वही सम्यक्दृष्टि ज्ञानी ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी है। उसका व्यवहारिक आचरण तो स्वयमेव शुद्ध और सात्विक होता है, शारीरिक विषय भोगों से विरक्त, मन-वचन-काय से शील धर्म पालता है। ब्रह्मचर्य व्रत की पांचों भावनाओं का पूरा ध्यान रखता है, अतिचार रहित ब्रह्मचर्य का पालन करता है, जिसकी दृष्टि में अपने ब्रह्म स्वरूप का सदैव स्मरण ध्यान रहता है, अब्रह्म अर्थात् शरीर आदि पर्यायों की तरफ जिसका लक्ष्य नहीं रहता, खान-पान, रहन-सहन में साधारण सामान्य स्थिति में उदासीन रहता है। एकान्त में रहता है, यदि घर में रहे तो अपनी रहने और शयन आदि की व्यवस्था गृहस्थी के प्रपंच से अलग रखता है। सादा शुद्ध भोजन और जहां तक संभव हो एक समय ही करता है। इस प्रतिमा में अभी आरंभ का त्याग नहीं है, सातवीं प्रतिमाधारी श्रावक पहले के सभी नियमों को पालता हुआ आस-पास के ग्रामों में बाहर जाकर भी धर्म प्रचार कर सकता है। इसे जीवधारी सवारी को छोड़कर अन्य वाहनों का त्याग नहीं है, यह मध्यम पात्र में भी मध्यम पात्र है।

मूर्च्छा पूर्वक मन-वचन-काय की कुशील सेवन रूप प्रवृत्ति होने से कुशील

का दोष आता है अतः ब्रह्मचर्य व्रत का निर्दोष पालन करने के लिये शील की नव बाड़ का पालन करना आवश्यक है। शील व्रत की नौ बाड़- १. स्त्रियों के सहवास में न रहना, २. स्त्रियों को प्रेम रुचि से न देखना, ३. स्त्रियों से रीझ कर मीठे-मीठे वचन न बोलना, ४. पूर्व काल में भोगे हुए भोगों का चिंतन न करना, ५. गरिष्ठ आहार नहीं करना, ६. श्रृंगार विलेपन आदि कर शरीर सुंदर नहीं बनाना, ७. स्त्रियों की सेज पर नहीं सोना, बैठना, ८. काम कथा नहीं करना, ९. भरपेट भोजन नहीं करना।

कुशील के दस दोष टालना- १. शरीर श्रृंगार करना, २. पुष्ट रस सेवन करना, ३. गीत नृत्य वादित्र सुनना देखना बजाना, ४. स्त्रियों की संगति करना, ५. स्त्रियों में किसी प्रकार काम भोग सम्बंधी संकल्प करना, ६. स्त्रियों के मनोहर अंगों को देखना, ७. स्त्रियों के अंगों को देखने का संस्कार हृदय में रखना, ८. पूर्व में भोगे हुए भोगों का स्मरण करना, ९. आगामी काल में काम भोगों की वांछा करना, १०. वीर्य पतन करना, होना। इन दोषों को टालने वाला ही ब्रह्मचारी होता है।

स्त्रियों के वशवर्तीपना होने से अंतरंग में दाह और पाप की वृद्धि होती है, सुख शांति का नाश होता है; अतएव जो धार्मिक पुरुष, स्त्री सम्बंधी पराधीनता छोड़कर दुर्जय काम को जीतकर ब्रह्मचर्य पालते हैं वही सच्चे साहसी सुभट हैं। युद्ध में प्राण विसर्जन करने वाले शूर उनके सामने तुच्छ हैं; क्योंकि ऐसे योद्धा शूर काम द्वारा जीते हुए हैं अतएव इस जगज्जयी काम सुभट को जिन ब्रह्मचारियों ने जीता, वे ही मोक्षमार्गी महासुभट धन्य हैं। इस ब्रह्मचर्य के प्रभाव से वीर्यान्तराय कर्म का विशेष क्षयोपशम होकर आत्मशक्ति बढ़ती है, तप उपवास आदि परीषह सहज ही जीती जाती हैं। गृहस्थ आश्रम सम्बंधी आकुलता घटती है, परिग्रह की तृष्णा घटती है, इन्द्रियां वश में होती हैं; यहां तक कि वाक् शक्ति स्फुरायमान हो जाती है। ध्यान करने में अडिग चित्त लगता है और अतिशय पुण्य बन्ध के साथ-साथ कर्मों की निर्जरा विशेष होती है जिससे मोक्ष नगर निकट हो जाता है।

ब्रह्म स्वरूप में रमण करने वाला ही सच्चा ब्रह्मचारी है, जिसकी वचन व काय की चेष्टा से भी ब्रह्म रस टपकता हो, जो पांचों इन्द्रियों का विजयी होकर वैराग्यवान हो, रस नीरस जो आहार प्राप्त हो उसमें संतोषी हो, अल्पाहारी हो, आरंभ यद्यपि कुछ करता है परन्तु त्याग के सन्मुख हो, निरन्तर मोक्ष की भावना में वर्तता हो, प्राणी मात्र का हितैषी हो, परोपकार में लीन हो, आत्मधर्म व शील संयम धर्म की प्रभावना करने वाला हो, वैराग्यमय वस्त्रों का धारी हो, अल्प से अल्प वस्त्र धारण

करता हो वही ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी श्रावक कहा जाता है।

८. आरंभ त्याग प्रतिमा

जो श्रावक हिंसा से अति भयभीत होकर आरम्भ अर्थात् जिन क्रियाओं में षट्काय के जीवों की हिंसा हो, परिणामों में विकलता उत्पन्न करने वाला जानकर गृह सम्बंधी सम्पूर्ण आरंभ स्वयं नहीं करता और न दूसरों से कराता वह आरंभ त्याग प्रतिमाधारी है; परन्तु धर्म के नाम पर मठ मंदिर बनवाता है और आरंभ की धार्मिक क्रियायें करता, कराता है तो वह ज्ञानहीन दुर्गति का पात्र है, इस बात को पहले बताते हैं—

आरंभं मन पसरस्य, दिष्टं अदिष्ट संजुतं ।
निरोधनं च कृतं तस्य, सुद्ध भावं च संजुतं ॥ ४२६ ॥
अनृत अचेत असत्यं, आरंभं जेन क्रीयते ।
जिन उक्तं न दिष्टंते, जिनद्रोही मिथ्या तत्परा ॥ ४२७ ॥
अदेवं अगुरुं जस्य, अधर्मं क्रियते सदा ।
विस्वासं जेन जीवस्य, दुर्गतिं दुष भाजनं ॥ ४२८ ॥
आरंभं परिग्रहं दिष्टा, अनंतानंत चिंतये ।
ते नरा न्यान हीनस्य, दुर्गति पतितं न संसयः ॥ ४२९ ॥

अन्वयार्थ- (आरंभं मन पसरस्य) आरंभ-मन का फैलाव होता है (दिष्टं अदिष्ट संजुतं) जो देखे हुए और बिना देखे हुए दुनियां भर के कार्यों में लगा रहता है (निरोधनं च कृतं तस्य) जो उसके कार्य, बाहर की क्रिया और अंतर के विचारों का निरोध कर देता है (सुद्ध भावं च संजुतं) और शुद्ध भाव में लीन रहता है वह आरंभ त्याग प्रतिमाधारी है।

(अनृत अचेत असत्यं) नाशवान अचेतन-धन, वैभव, मकान, मंदिर, मठ आदि झूठे (आरंभं जेन क्रीयते) आरंभ को जो करता कराता है (जिन उक्तं न दिष्टंते) जिनवाणी में क्या कहा है इसे नहीं देखता (जिनद्रोही मिथ्या तत्परा) वह जिनेन्द्र का द्रोही, जिनवाणी की विराधना करने वाला मिथ्यात्व में तत्पर रहता है।

(अदेवं अगुरुं जस्य) जो अदेव अगुरु (अधर्म क्रियते सदा) अधर्म की क्रियायें हमेशा करते रहते हैं (विस्वासं जेन जीवस्य) जो जीव ऐसे जीवों का विश्वास करते हैं

(दुर्गतिं दुष भाजनं) वह दुःख भोगते हैं और दुर्गति के पात्र बनते हैं।

(आरंभं परिग्रहं दिष्टा) जो आरंभ और परिग्रह को ही देखते रहते हैं (अनंतानंत चिंतये) और उसकी अनंतानंत चिंतायें किया करते हैं (ते नरा न्यान हीनस्य) वे मनुष्य ज्ञान से हीन होते हैं (दुर्गति पतितं न संसयः) और दुर्गति में जाते हैं इसमें कोई संशय नहीं है।

विशेषार्थ- यहां आठवीं आरम्भ त्याग प्रतिमा का स्वरूप कहते हैं। आरंभ, मन के पसरने को कहते हैं। सातवीं प्रतिमा तक पांचों इन्द्रियों का संयम हुआ, अब जिसके मन का संयम हो जाता है और जो शुद्ध भाव का धारी होता है वह आरम्भ त्याग प्रतिमाधारी होता है; क्योंकि मन, देखे-अनदेखे नाना प्रकार के कार्यों का विचार करता रहता है और नये-नये प्रपंचों में उलझाता है। घर-परिवार का पापारम्भ छोड़ दिया, पांचों इन्द्रियों का संयम कर लिया; परंतु यदि मन का संयम न हुआ तो यह शुभ राग के चक्कर में उलझाता है। धर्म के नाम पर मंदिर, तीर्थ, धर्मशालायें बनवाना, पूजा-पाठ, प्रतिष्ठा करवाना, धन-वैभव इकट्ठा करना, सामाजिक कार्यों में आगे आना, समाज की सेवा धर्म प्रचार के नाम पर अपनी मनमानी करना, पाप करते हुए पुण्य और धर्म मानता है, जिनवाणी को नहीं देखता, मनमानी करता है वह जिनद्रोही मिथ्यात्व में तत्पर रहता है। जो साम्प्रदायिक बन्धनों में बंधकर अदेव, अगुरु, अधर्म का सेवन करता है, नाना प्रकार के क्रिया कांडों में लगा रहता है तथा अन्य सामाजिक प्राणियों को उनमें उलझाता है, जो जीव ऐसे त्यागी प्रतिमाधारियों का विश्वास करते हैं वह दुःख भोगते और दुर्गति के पात्र बनते हैं। जो जीव अपने घर को छोड़कर आरंभ त्याग कर त्यागी हो जाते हैं परन्तु मन का संयम न होने तथा ज्ञानहीन होने से धर्म और समाज के नाम पर विशेष आरम्भ और परिग्रह का फैलाव फैलाते हैं तथा उसकी ही अनन्त चिंताओं में लगे रहते हैं ऐसे ज्ञानहीन अज्ञानी त्यागी व्रती दुर्गति में जाते हैं इसमें कोई संशय नहीं है।

मन के वश में न होने से मन के फैलाव द्वारा जो जीव धर्म के नाम पर आरम्भ-परिग्रह में आसक्त हो जाता है, धन का लोलुपी हो जाता है वह सच्चे देव, गुरु, धर्म की श्रद्धा नहीं करता। वह रागी-द्वेषी कुदेव और चमत्कारिक प्रतिमायें अदेव आदि तथा परिग्रहधारी और प्रपंची कुगुरु, अगुरु जो जिन धर्म के विपरीत मिथ्यात्व का पोषण करते हैं व हिंसामयी क्रियाकांड को धर्म मानने लगते हैं तथा अन्य जीवों को उपदेश देते हैं कि अमुक देव, देवी की पूजा करने से धनलाभ,

पुत्रलाभ, राज्यलाभ होगा। अमुक साधु की सेवा भक्ति करने से धन, पुत्र, राज्य का संरक्षण रहेगा। अमुक पूजा-पाठ, जप-तप, व्रत, यात्रा करने से धन, पुत्रादि का समागम होगा। इस प्रकार जो मिथ्यात्व के पोषक, जिनधर्म के द्रोही, विपरीत आचरण करने वाले कुगुरु अगुरु की सेवा भक्ति करते हैं, बात मानते हैं वह दुर्गति के पात्र बनते हैं; क्योंकि वह तो ज्ञानहीन अज्ञानी स्वयं दुर्गति जायेंगे ही परन्तु 'आप डुबन्ते पांडे ले डूबे जिजमान'। अतः आत्म कल्याणार्थी जीव को इन सारी बातों का विवेक करते हुए अपनी पात्रता को देखते हुए आगे बढ़ना चाहिये।

जिसको अपनी शुद्ध दृष्टि का आरम्भ हो जाये, जो रत्नत्रय से शुद्ध अपने शाश्वत ध्रुव स्वभाव की साधना में रत हो वही सच्चा आरम्भ प्रतिमाधारी है जो शाश्वत पद को प्राप्त करेगा इसी बात को आगे कहते हैं-

आरंभं सुद्ध दिस्टी च, संमिक्तं सुद्धं ध्रुवं ।

दर्शनं न्यान चारित्रं, आरंभं सुद्ध सास्वतं ॥ ४३० ॥

आरंभं सुद्ध तत्त्वं , संसार दुष तिक्तयं ।

मोष्यमार्गं च दिस्टंते, प्राप्तं सास्वतं पदं ॥ ४३१ ॥

अन्वयार्थ- (आरंभं सुद्ध दिस्टी च) जिसकी शुद्ध दृष्टि की शुरुआत हो गई (संमिक्तं सुद्धं ध्रुवं) जो निश्चय शुद्ध सम्यक्दृष्टि है (दर्शनं न्यान चारित्रं) जिसके दर्शन ज्ञान चारित्र की शुद्धि हो गई (आरंभं सुद्ध सास्वतं) वही शुद्ध शाश्वत आरम्भ त्याग प्रतिमा धारी है।

(आरंभं सुद्ध तत्त्वं) शुद्ध तत्त्व का आरंभ, विचार, ध्यान साधना करना (संसार दुष तिक्तयं) संसार के दुःख से छुड़ाने वाला है (मोष्यमार्गं च दिस्टंते) मोक्षमार्ग को दिखाने वाला है (प्राप्तं सास्वतं पदं) अविनाशी पद को प्राप्त कराने वाला है।

विशेषार्थ- आरम्भ त्यागी श्रावक सम्यक्दृष्टि होता है, जो सर्व लौकिक आरंभ पूर्ण क्रियाओं को महापाप का कारण समझकर छोड़ देता है। अपने शुद्धात्म भावों की प्राप्ति का आरंभ अर्थात् धर्म ध्यान का आरंभ करता है, अपने निश्चय शुद्ध सम्यक्दर्शन के द्वारा वह रत्नत्रय की शुद्धि का यत्न करता रहता है, वह जानता है कि निश्चय रत्नत्रय, निज स्वभाव शुद्धात्मानुभूति में निमग्न रहना ही है, उसके निरंतर स्वात्मानुभव का अभ्यास रहता है, शुद्धात्मा के अनुभव में उपयोग को लगाने का मुख्य आरम्भ करता है। हिंसामयी आरम्भ से बचता है, अहिंसा रूप आरम्भ में

प्रवर्तता है। संसारी कार्यों का आरम्भ करना संसार के भ्रमण का कारण है और आत्म कार्य का आरम्भ अर्थात् धर्म ध्यान संसार के दुःखों से छुड़ाने वाला है, मोक्ष प्राप्त कराने वाला है। अविनाशी निर्वाण पद का साधन आत्म ध्यान है, जहां शुद्धात्मा का अनुभव है वहीं रत्नत्रय स्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग है।

आरम्भ त्यागी श्रावक सर्व संकल्प-विकल्प और उनके कारणभूत संसारी कार्यों को छोड़कर निश्चित होकर अपने आत्म कल्याण में दत्त-चित्त रहता है। न स्वयं कोई पापारम्भ करता है, न कराता है, धर्म के नाम पर क्रियाकांड या सामाजिक व्यवस्थाओं में नहीं उलझता। जिसे भेदज्ञान तत्त्वनिर्णय हो गया है, अपने ब्रह्मस्वरूप में रमण करने लगा है वही उदासीन वीतराग मार्ग का पथिक, आत्म ध्यान की साधना में रत मोक्षमार्गी आरम्भ त्याग प्रतिमाधारी है। इसके मन-वचन-काय, कृत-कारित से गृह सम्बंधी पापारंभ का त्याग होता है, अनुमोदना (अनुमति) का त्याग नहीं होता। यदि पुत्रादि व कुटुम्बी घर के काम काज की अथवा व्यापार सम्बंधी सलाह पूछें तो सम्मति रूप उसके हानि-लाभ बता देवे परन्तु किसी काम को करने की प्रेरणा न करे।

आरम्भ त्यागी, हिंसा से भयभीत हो, संतोष धारण कर धन-संपदा से ममत्व घटाता हुआ सर्व प्रकार के व्यापार धंधे करना छोड़ देता है, यह तीन प्रकार की हिंसा का त्यागी होता है- संकल्पी, उद्योगी, आरम्भी। अतः धर्म के नाम पर भी कोई क्रिया कांड नहीं करता। मात्र शरीर की आवश्यकताओं का विवेक पूर्वक उदासीनता से पालन करता हुआ अपने आत्म ध्यान की साधना में संलग्न रहता है।

विशेष- अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की योग्यता देखकर ही व्रत प्रतिज्ञा, धारण करना चाहिये; क्योंकि बिना अपनी पात्रता, योग्यता के त्यागी या प्रतिमाधारी होने से कुछ भी कल्याण नहीं होता। कषाय, ममत्व भाव तथा इनके बाह्य आलम्बनों को छोड़ने और विरागता के साधक कारणों को मिलाने से ही प्रतिमा धारण करने का यथार्थ फल मिल सकता है। जिसकी दृष्टि और मार्ग बदल गया वह आरम्भ प्रतिमाधारी है।

९. परिग्रह त्याग प्रतिमा

'मूर्च्छा परिग्रहः' मूर्च्छा भाव परिग्रह है, पर के प्रति मूर्च्छा, पुद्गल आदि का संग्रह विकल्प का कारण है। जो संकल्प-विकल्प रहित होकर अपने आत्म स्वरूप की साधना करता है वह परिग्रह त्याग प्रतिमाधारी है इसी बात को कहते हैं-

परिग्रहं पर पुद्गलार्थं च, परिग्रहं नवि चिंतए ।

ग्रहणं दर्शनं सुद्धं, परिग्रहं नवि दिस्टते ॥ ४३२ ॥

अन्वयार्थ- (परिग्रहं पर पुद्गलार्थं च) परिग्रह-धन, धान्य आदि पुद्गल शरीर आदि के लिये होता है (परिग्रहं नवि चिंतए) परिग्रह त्याग प्रतिमाधारी इन परिग्रह की चिंता नहीं करता है (ग्रहणं दर्शनं सुद्धं) अपने शुद्धात्म स्वरूप को देखता है उसी को ग्रहण करता है (परिग्रहं नवि दिस्टते) परिग्रह को नहीं देखता है ।

विशेषार्थ- आठवीं प्रतिमा तक सम्यक्दृष्टि ज्ञानी अपने ब्रह्म स्वरूप में रमण करने से बाह्य क्रिया का कर्तृत्व छोड़ देता है । नवमीं प्रतिमा में पर का स्वामित्वपना, पर को ग्रहण करने की भावना भी समाप्त हो जाती है, मूर्च्छा-ममत्व भाव छूट जाता है फिर वह बाह्य परिग्रह धन-धान्य आदि पुद्गल शरीरादि के लिये होता है, उसकी चिंता नहीं करता । उसका दृढ़ श्रद्धान होता है कि मुझे कुछ नहीं चाहिये मैं अपने में स्वयं परिपूर्ण परमब्रह्म परमात्मा हूँ, अपने शुद्धात्म स्वरूप को ही देखता है और ग्रहण करता है फिर इन बाहरी शारीरिक व्यवस्थाओं की न चिंता करता है, न देखता है, न प्रयोजन रखता है; क्योंकि उसके निर्णय में होता है कि पूर्व कर्मोदय जन्य शरीरादि का जैसा परिणामन होना है, हो रहा है और होगा, मुझे अपने लिये कुछ नहीं चाहिये । इस श्रेणी में आकर वह अपने पास की सर्व संपत्ति जिसे देना होता है उसे दे देता है । शरीर से ममत्व भाव, मूर्च्छा छूट जाने से सामान्य आवश्यकतानुसार वस्त्र आदि रखता है ।

राग-द्वेष आदि आभ्यंतर परिग्रह की मंदता पूर्वक क्षेत्र, वास्तु (मकान) आदि दस प्रकार के बाह्य परिग्रह में से आवश्यक वस्त्र पात्र आदि के सिवाय शेष सब परिग्रह को त्याग देता है, संतोष वृत्ति धारण करता है ।

बाह्य परिग्रह के दस भेद इस प्रकार हैं- १. क्षेत्र (खेत, जमीन), २. वास्तु (घर, मकान), ३. चांदी रुपया पैसा, ४. सोना रकम आदि, ५. धन (गाय, भैंस), ६. धान्य (गेहूँ आदि अनाज), ७. दासी, ८. दास, ९. वस्त्र, १०. बर्तन ।

इन दस प्रकार के बाह्य परिग्रह का त्याग करने से मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद यह चौदह प्रकार के अंतरंग परिग्रह भी क्रमशः छूटने लगते हैं ।

बाह्याभ्यंतर दोनों प्रकार का परिग्रह पापोत्पत्ति तथा आकुलता का मूल है

ऐसा निश्चय कर बाह्य परिग्रह को छोड़ते हुए अपने मन में अति आनंद मानता है । ऐसा विचार करता है कि आज का दिन धन्य है जब मैं आकुलता और बन्धनों से छूटा, अब निराकुलता से अपने शुद्धात्म स्वरूप की साधना करूंगा ।

परिग्रह से आरम्भ, चिंता, शोक, मद आदि पाप उपजते हैं जो मूर्च्छा, चित्त की मलिनता के कारण हैं; अतएव संतोष निमित्त मूर्च्छा को घटाना और परिग्रह का त्याग करना आवश्यक है । परिग्रह त्याग प्रतिमा के धारण करने से गृहस्थाश्रम सम्बंधी सर्व भार उतर जाता है जिससे निराकुलता का सुखानुभव होने लगता है ।

बाह्य परिग्रह का त्याग अंतरंग मूर्च्छा के अभाव के लिये किया जाता है । यदि किसी के पास बाह्य परिग्रह कुछ भी न हो और अंतरंग में मूर्च्छा विशेष हो तो वह परिग्रही है; क्योंकि यथार्थ में मूर्च्छा ही परिग्रह है अतएव भेदविज्ञान के बल से अंतरंग मूर्च्छा को मंद करते हुए बाह्य परिग्रह छोड़ना चाहिये तभी परिग्रह त्याग जनित निराकुल सुख की प्राप्ति होती है ।

परिग्रह त्यागी को इन बातों पर भी ध्यान देना चाहिये-

१. परिवार जन औषधि, आहार जल आदि देवें, वस्त्रादि धोवें, व्यवस्था करें शारीरिक सेवा टहल करें तो ठीक और यदि न करें तो आप उन पर दबाव न डालें और न अप्रसन्न हो । २. यह गृह त्यागी या गृहवासी दोनों रूप में रह सकता है । ३. रागादि पूर्ण वातावरण और स्थान से दूर रहे, ऐसे मकान-मठ आदि में भी न रहे जहां विकल्प हों । ४. निमंत्रण पूर्वक सदग्रहस्थ के यहां आहार करने जावे । ५. बिना दिये कोई भी वस्तु जल, मिट्टी भी न लेवे ।

१०. अनुमति त्याग प्रतिमा

जो आरम्भ परिग्रह की अर्थात् सांसारिक सावद्य कर्म विवाह, गृह बनवाने, बनिज, सेवा आदि कार्यों के करने की सम्मति उपदेश नहीं देता, अनुमोदना नहीं करता, समबुद्धि है, ऐसा अपने आत्म स्वरूप में रत रहने वाला श्रावक अनुमति त्याग प्रतिमाधारी कहलाता है ।

इसी बात को आगे कहते हैं-

अनुमतं न दातव्यं, मिथ्या रागादि देसनं ।

अहिंसा भाव सुद्धस्य, अनुमतं न चिंतए ॥ ४३३ ॥

अन्वयार्थ- (अनुमतं न दातव्यं) आरम्भ परिग्रह सम्बंधी पाप कार्य की

अनुमति नहीं देता (मिथ्या रागादि देसनं) मिथ्यात्व, राग-द्वेष सम्बंधी उपदेश भी नहीं देता (अहिंसा भाव सुद्धस्य) अहिंसा और भावों की शुद्धि का ध्यान रखता है (अनुमतं न चिंतए) अनुमति देने का चिंतवन भी नहीं करता वह अनुमति त्याग प्रतिमाधारी है।

विशेषार्थ- दसवीं प्रतिमा अनुमति त्याग है। इस श्रेणी में श्रावक, धर्म सम्बंधी चर्चा के सिवाय और कोई लौकिक चर्चा नहीं करता है। कोई लौकिक सम्मति गृहस्थ के क्षणभंगुर मिथ्या कार्य सम्बंधी, व्यापार सम्बंधी या विवाह आदि सम्बंधी पूछे तो कुछ नहीं कहता है और न मन में ही उस सम्बंध में अच्छा या बुरा चिंतवन करता है। आत्म कल्याण सम्बंधी धर्म की चर्चा करता है। हमेशा राग-द्वेष से रहित अहिंसामयी शुद्ध भावों का लक्ष्य रखता है, इसके परिणामों में अहिंसा भाव बहुत अधिक रहता है। अपने निमित्त से किंचित् भी हिंसा हो यह इसे रुचिकर नहीं है इसलिये यह पहले से निमंत्रण नहीं मानता, भोजन के समय कोई बुलावे तो चला जाता है, सदा शुद्ध आत्मा के ध्यान का लक्ष्य रहता है।

उदासीनता पूर्वक परिवार से अलग एकांत स्थान चैत्यालय, धर्मशाला आदि में रहकर धर्म ध्यान करना, कुटुम्बी अथवा अन्य श्रावकों के घर जीमने के समय बुलाने पर भोजन कर आना, सदा संतोषी रहना, किसी से बुरा-भला न कहना, न राग-द्वेष करना, संसारी शुभ-अशुभ कार्यों में हर्ष-शोक नहीं मानना और न किसी प्रकार का सांसारिक चिंतवन करना, ईर्या समिति पूर्वक गमन करना और भाषा समिति सहित वचन बोलना, यह दसवीं प्रतिमाधारी श्रावक का व्यवहार आचरण है।

गृहस्थ संसार सम्बंधी आरम्भ की अनुमति का त्याग होने से पांच पाप का नव कोटिपूर्वक त्याग होकर पापाश्रव क्रियायें सर्वथा रुक जाती हैं, आकुलता का अभाव होने से चित्त की विकलता दूर होती है जिससे मन वश में होकर इच्छानुसार धर्म ध्यान में शीघ्र स्थिर होने लगता है।

११. उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा

जो अनुमति त्यागी श्रावक चारित्र मोह के मंद हो जाने से उत्कृष्ट चारित्र अर्थात् दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार इन पंच आचारों की प्राप्ति एवं रत्नत्रय की शुद्धता और पूर्णता के निमित्त शुद्ध भावों का आराधन करता है, संसार से पूर्ण विरक्त होकर अपने समस्त उद्देश्य का त्याग करता है वह उद्दिष्ट त्याग प्रतिमाधारी है, इसी बात को कहते हैं-

उद्दिष्टं उत्कृष्ट भावेन, दर्सनं न्यान संजुतं ।

चरनं सुद्ध भावस्य, उद्दिष्टं आहार सुद्धये ॥ ४३४ ॥

अंतराय मनं कृत्वा , वचनं काय उच्यते ।

मन सुद्धं वच सुद्धं च, उद्दिष्टं आहार सुद्धये ॥ ४३५ ॥

अन्वयार्थ- (उद्दिष्टं उत्कृष्ट भावेन) उद्देश्य, श्रेष्ठ भावों के साथ (दर्सनं न्यान संजुतं) सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान सहित (चरनं सुद्ध भावस्य) सम्यक्चारित्र पालने का जिसका उद्देश्य हो, वह शुद्ध भाव का धारी (उद्दिष्टं आहार सुद्धये) उद्देश्य रहित शुद्ध आहार को ग्रहण करने वाला उद्दिष्ट त्याग प्रतिमाधारी है।

(अंतराय मनं कृत्वा) अंतराय मन के (वचनं काय उच्यते) वचन के और काय सम्बंधी कहे गये हैं उनको बचाकर (मन सुद्धं वच सुद्धं च) शुद्ध मन और शुद्ध वचन सहित (उद्दिष्टं आहार सुद्धये) आहार की शुद्धि होना उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा है।

विशेषार्थ- ग्यारहवीं प्रतिमा, साधु पद धारण करने के लिये अंतिम सीढ़ी है। जिसके सारे संसारी उद्देश्य समाप्त हो गये, किसी प्रकार की कामना-वासना नहीं रही, जो शरीर से निर्ममत्व हो गया, जिसके उत्कृष्ट भाव रत्नत्रय मयी निज शुद्धात्मा के ध्यान में लीन रहने के हो गये, जिसे अब किसी से कोई प्रयोजन रहा ही नहीं, जिसके भोजन करने के भाव भी समाप्त हो गये, खाने का राग छूट गया, मन-वचन-काय सम्बंधी अंतराय का दृढ़ता से पालन करने वाला, मन की शुद्धि, वचन की शुद्धि रखने वाला, काय की स्थिरता के लिये भिक्षा द्वारा शुद्ध आहार ग्रहण करता है वह उद्दिष्ट त्याग प्रतिमाधारी है।

यह उत्कृष्ट श्रावक अभी वीतरागी नहीं हुआ है, शरीर से राग का सद्भाव है; परंतु वीतरागी होने रत्नत्रय स्वरूप की साधना करने के लिये दृढ़ संकल्पित है इसलिये घर परिवार से सम्बंध तोड़कर साधुओं के सत्संग में वन आदि में जाकर रहता है। शरीर पर मात्र लंगोटी चादर रखता है, भिक्षा द्वारा भोजन ग्रहण करता है। इस प्रतिमा वाले साधक के दो भेद होते हैं- १. क्षुल्लक, २. ऐलक।

अनुमति त्याग प्रतिमा तक धर्मशाला में व एकांत घर में अथवा क्षेत्र आदि में रहकर धर्म साधन कर सकता था। ग्यारहवीं प्रतिमा वाला मुनिराज की संगति में रहेगा क्योंकि यह मुनि धर्म पालन करने का अभ्यास करने वाला हो जाता है। जैसे- मुनि वर्षाकाल के चार माह सिवाय बिहार करते हैं, नगर के पास पांच दिन, ग्राम के पास

एक दिन ही ठहरते हैं तथा पैदल बिहार करते हैं वैसे ही यह श्रावक करेगा।

१. क्षुल्लक- क्षुल्लक एक खंड वस्त्र जिससे पूरा शरीर न ढके तथा एक लंगोट रखता है। सर्दी-गर्मी, दंशमसक आदि की बाधा सहने का अभ्यास करता है। जीव दया के लिये मोरपिच्छी व कमंडल में शौच आदि के लिये जल रखता है, भिक्षा लेने के लिये एक पात्र भी रखता है। एक घर अथवा पांच सात घर से भिक्षा भोजन एकत्र कर अंतिम घर में बैठकर भोजन पान करके अपने स्थान पर चला जाता है। चौबीस घंटे में एक ही बार भोजन पान करता है, केशों को कतराता है अथवा लौंच भी कर सकता है।

२. ऐलक- ऐलक एक लंगोट मात्र रखते हैं, वे मुनि के समान केशों का लौंच करते हैं, काष्ठ का कमंडल रखते हैं। भिक्षा से एक घर में बैठकर अपने हाथ में ही भोजन ग्रास रूप लेकर करते हैं, मुनि धर्म का अभ्यास करते हैं।

यह दोनों क्षुल्लक-ऐलक ग्यारह प्रतिमाओं के नियमों को जो उत्कृष्ट चारित्र में बाधक नहीं है यथावत् पालन करते हैं। साधु होने की भावना भाते हैं, आत्म ध्यान का विशेष अनुराग रखते हैं। ऐलक विशेष विरक्त हैं, रात्रि को मौन रखकर ध्यान करते हैं। उद्दिष्ट आहार के त्यागी इसलिये होते हैं कि उनके आशय से श्रावक कोई आरम्भ न करे, स्वयं के लिये जो बनावे उसी में से दान रूप जो देवे उसी में संतोष करते हैं।

उद्दिष्ट आहार त्यागी मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना सम्बंधी दोष रहित भिक्षाचरण पूर्वक आहार ग्रहण करते हैं। जाति-संप्रदाय के बन्धनों से रहित सद्ग्रहस्थ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जो सप्त व्यसन के त्यागी, अष्ट मूलगुण का पालन करते हों, उनके यहां से अपने नियमानुसार शुद्ध आहार ग्रहण कर सकते हैं। उद्दिष्ट त्याग करने से पांचों पाप तथा परतंत्रता का सर्वथा अभाव हो जाता है। इस प्रतिमा के अंत में अणुव्रत, महाव्रतों को स्पर्शने लगते हैं। यहां तक प्रत्याख्यानारण कषाय का जितना-जितना मंद उदय होता जाता है, उतना बाहरी व अंतरंग चारित्र बढ़ता जाता है। अपने शुद्धात्म स्वरूप की साधना और ध्यान की स्थिति बढ़ने लगती है, भावों में विशुद्धता बढ़ती जाती है, भावों की उत्कृष्टता होने से मुनि व्रत धारण कर मोक्ष को प्राप्त होता है।

विशेष- बहुधा देखा जाता है कि कितने भाई-बहिन अंतरंग में आत्म कल्याण की इच्छा रखते हुए भी बिना तत्त्वज्ञान प्राप्त किये सम्यक्दर्शन से रहित दूसरों की

देखादेखी श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं में कही हुई प्रतिज्ञाओं में से कोई दो-चार प्रतिज्ञायें अपनी इच्छानुसार नीची-ऊँची, यद्वा-तद्वा धारण कर त्यागी बन बैठते हैं और मनमानी स्वच्छंद प्रवृत्ति करते हैं जिससे स्व-पर कल्याण की बात तो दूर, उल्टी धर्म की बड़ी भारी हंसी व हानि होती है। ऐसे लोग 'आप डुबंते पांडे ले डूबे जिजमान' की कहावत के अनुसार स्वतः धर्म विरुद्ध प्रवृत्ति कर अपना अकल्याण करते हैं और दूसरों को भी ऐसा उपदेश देकर उनका अकल्याण करते हैं; अतएव आत्मकल्याणार्थी भव्यों को उचित है कि पहले धर्म का वास्तविक स्वरूप समझें, मुक्ति के मार्ग को जानें, तत्त्वों का सही ज्ञान करें, अपने आत्मा के स्वभाव-विभाव को जानें। विभाव तजने और स्वभाव की प्राप्ति के लिये कारणरूप श्रावक तथा मुनिव्रत की साधक बाह्य-अंतरंग क्रियायें व उनके फल को जानें तत्पश्चात् यथाशक्ति चारित्र अंगीकार करें। श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का अभ्यास करके पीछे मुनिव्रत धारण कर कर्मों का नाश करें और परमात्मा बन स्वरूपानन्द में मगन रहें।

इस प्रकार ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप कहा, जो भव्य इनका सम्यक् प्रकार पालन करते हैं वह मोक्षगामी हैं-

प्रतिमा एकादसं जेन, जिन उक्तं जिनागमं।

पालंति भव्य जीवस्य, मन सुद्धं स्वात्म चिंतनं ॥ ४३६ ॥

अन्वयार्थ- (प्रतिमा एकादसं जेन) जो यह ग्यारह प्रतिमा हैं (जिन उक्तं जिनागमं) जिनेन्द्र परमात्मा के कहे अनुसार जिनवाणी में कही हैं (पालंति भव्य जीवस्य) जो भव्य जीव इनका पालन करते हैं (मन सुद्धं स्वात्म चिंतनं) मन को शुद्ध करके आत्मा का ध्यान करते हैं वह मोक्षगामी हैं।

विशेषार्थ- इन ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप जैसा जिनेन्द्र परमात्मा द्वारा उपदिष्ट जिनागम में कहा गया है, वैसा ही अपने शुद्ध भावों से आत्म चिंतन, ध्यान करने हेतु निज आत्म कल्याणार्थ लिखा गया है, जो भव्य जीव इनका पालन करेंगे, करते हैं वे मोक्षमार्गी सच्चे श्रावक हैं।

व्रती श्रावक सदा सल्लेखना (समाधि) मरण करने के उत्साही व अभिलाषी रहते हैं इसलिये विषयों की मूर्च्छा तथा कषायों की वासना मन्द करते हुए यथासंभव पूर्ण रीति से भलीभांति व्रत पालन करते हैं- वहाँ जो श्रावक संसार, शरीर, भोगों से विरक्त होते हुए इन्द्रियों के विषय तथा कषाय तजकर मन-वचन-काय से निज

स्वरूप को साधते हुए मरण करते हैं वे साधक श्रावक कहलाते हैं। श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं में से कोई भी प्रतिमाधारी समाधि मरण कर सकता है।

जो आत्महितैषी रत्नत्रय धर्म की रक्षा के लिये शरीर की कुछ परवाह नहीं करते उनका समाधिमरण स्तुति योग्य है; क्योंकि जो फल बड़े-बड़े कठिन व्रत-तप करने से प्राप्त होता है वही समाधिमरण करने से सहज में प्राप्त हो जाता है। बारह भावना वैराग्य की माता संवेग-निर्वेद की उत्पादक है, इनके चिन्तन करने से संसार से विरक्तता होकर दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप भावनाओं में गाढ़ रुचि उत्पन्न होती है; अतएव समाधिमरण करने वाला इन भावनाओं, आराधनाओं युक्त पंच परमेष्ठी के गुणों का तथा आत्म गुणों का चिन्तन करे। निकटवर्ती साधर्मि भाईयों को भी चाहिये कि समाधिमरण करने वाले का उत्साह हर समय बढ़ाते रहें, धर्म ध्यान में सावधान करते रहें। वैयावृत्ति करते हुए सदुपदेश देवें और रत्नत्रय में उपयोग स्थिर करावें।

यह बात ध्यान में रहे कि समाधिमरण करने वाले के पास कुटुम्बी या कोई दूसरे आदमी सांसारिक वार्तालाप न करें, रोवें नहीं, कोलाहल न करें; क्योंकि ऐसा होने से समाधिमरण करने वाले का मन उद्वेग रूप हो जाता है अतएव हर एक सज्जन को यही उचित है कि उसके निकट संसार शरीर भोगों से विरक्त करने वाली चर्चा वार्ता करें तथा आगे जो बड़े भारी परीषह, उपसर्ग सहकर सम भावों पूर्वक समाधिमरण जिन्होंने साधा है उन सुकुमाल आदि सत्पुरुषों की कथा कहें जिससे समाधिमरण करने वाले के चित्त में उत्साह और स्थिरता उत्पन्न हो। इस प्रकार समता सहित, ममता रहित शरीर का त्याग करना समाधिमरण कहलाता है।

समाधिमरण के पांच अतिचार त्यागने योग्य हैं- १. कुछ काल और जीने की आशा, २. शीघ्र मर जाने की इच्छा, ३. मित्रानुराग-पर का स्मरण मिलने की इच्छा, ४. पूर्व में भोगे हुए भोगों का स्मरण करना, ५. पर भव में विषय भोगों की वांछा करना।

जो अणुव्रती सत्पुरुष अतिचार रहित सन्यास मरण करते हैं वे अपने किये हुए व्रत रूपी मंदिर पर मानों कलश चढ़ाते हुए स्वर्ग में महर्द्धिक देव होते हैं। दो-चार भव में ही सच्चे आत्मीक निराकुलित स्वरूपानन्द को प्राप्त होते हैं; क्योंकि समाधिमरण के भले प्रकार साधने से अगले जन्म में वासना चली जाती है जिससे वह जीव वहां विराग रुचि होकर निर्ग्रन्थपना धारण करने को उत्साहित होता है और

शीघ्र ही मुनिव्रत धारण कर शुद्ध स्वरूप को साधकर मोक्ष प्राप्त करता है।

ग्यारह प्रतिमाओं का पालन करने से पांच अणुव्रत शुद्ध हो जाते हैं जिससे महाव्रत और साधु पद प्रगट होता है, इसका वर्णन करते हैं-

अनुव्रतं पंच उत्पादंते, अहिंसा नृत उच्यते।

अस्तेयं बंध व्रतं सुद्धं, अपरिग्रहं स उच्यते ॥ ४३७ ॥

अन्वयार्थ- (अनुव्रतं पंच उत्पादंते) ग्यारह प्रतिमा पालन करने वाले के पांच अणुव्रत प्रगट, शुद्ध होते हैं (अहिंसा नृत उच्यते) जिन्हें अहिंसा, सत्य कहते हैं (अस्तेयं बंध व्रतं सुद्धं) अचौर्य और ब्रह्मचर्य व्रत शुद्ध होते हैं (अपरिग्रहं स उच्यते) अपरिग्रह, इस प्रकार पांच अणुव्रत कहे जाते हैं।

विशेषार्थ- व्रत प्रतिमा से बारह व्रतों का पालन होता है, ग्यारह प्रतिमा तक पंचाणुव्रत की पूर्ण शुद्धि हो जाती है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यह जो पांच अणुव्रत रूप में श्रावक दशा में पालन करता था, यहां से यह महाव्रत रूप हो जाते हैं जिससे साधु पद प्रगट हो जाता है।

अणुव्रत की शुद्धि होने से महाव्रत का क्या स्वरूप होता है, उसका वर्णन करते हैं, प्रथम अहिंसा महाव्रत का स्वरूप कहते हैं-

हिंसा असत्य सहितस्य, राग दोष पापादिकं।

थावरं त्रस आरंभं, तिक्तंते जे विचष्यना ॥ ४३८ ॥

अन्वयार्थ- (हिंसा असत्य सहितस्य) हिंसा और असत्य इन प्रयोजनों को लेकर (राग दोष पापादिकं) राग-द्वेष, पाप आदि को (थावरं त्रस आरंभं) स्थावर व त्रस के आरम्भ को (तिक्तंते जे विचष्यना) जो विज्ञान हैं वे छोड़ देते हैं।

विशेषार्थ- अणुव्रत में त्रस जीवों की हिंसा और निष्प्रयोजन पापों का त्याग होता है। महाव्रत रूप होने पर हिंसा और असत्य सहित राग-द्वेष परिणाम, समस्त पाप, विषय-कषाय और त्रस-स्थावर की आरम्भी हिंसा का त्याग भी हो जाता है। जो ज्ञानी विज्ञान हैं, जिन्हें अब संसार शरीर भोगों से कोई प्रयोजन नहीं रहा, वह स्व-पर द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा से बचते हुए सावधानी पूर्वक अहिंसा महाव्रत का पालन करते हैं। अंतरंग में वीतराग भाव और बाहर में समस्त आरम्भ पाप आदि का त्याग ही अहिंसा धर्म है।

दूसरे, सत्य महाव्रत का स्वरूप कहते हैं-

अनृतं अनृतं वाक्यं, अनृत अचेत दिस्टते ।

असास्वतं वचन प्रोक्तं च, अनृतं तस्य उच्यते ॥ ४३९ ॥

अन्वयार्थ- (अनृतं अनृतं वाक्यं) झूठ बोलना असत्य वचन कहलाता है (अनृत अचेत दिस्टते) क्षणभंगुर नाशवान अचेतन पदार्थों को देखना (असास्वतं वचन प्रोक्तं च) झूठे मिथ्या वचन कहना (अनृतं तस्य उच्यते) यह सब असत्य कहे जाते हैं इनका त्याग ही सत्य महाव्रत है ।

विशेषार्थ- असत्य का त्याग ही सत्य महाव्रत है । असत्य वाक्य बोलना, मिथ्यात्व पोषक वचन कहना, क्षणभंगुर नाशवान अचेतन पदार्थों को देखना, यह सब असत् कहे जाते हैं इनका त्याग ही सत्य महाव्रत है । जगत की समस्त क्रियायें नाशवान हैं, एक समय की पर्याय भी क्षणभंगुर नाशवान है, इनको स्थिर कहना असत्य है । कर्मोदय जन्य भाव भी अनित्य है, इन्हें नित्य मानना ही असत् है । जिनवाणी के प्रतिकूल वचन कहना भी असत्य है । हर एक वचन जिनसूत्र की दृढ़ता कराने वाला बोलना ही सत्य महाव्रत है । शांत और मौन हो जाने वाला ही सत्य महाव्रती है ।

तीसरे, अचौर्य महाव्रत का स्वरूप कहते हैं-

अस्तेयं स्तेय कर्मस्य, चौर भावं न क्रीयते ।

जिन उक्तं वचन सुद्धं च, अस्तेयं लोपनं कृतं ॥ ४४० ॥

अन्वयार्थ- (अस्तेयं स्तेय कर्मस्य) अचौर्य व्रत-जिसमें चोरी के कर्म (चौर भावं न क्रीयते) और चोरी के भाव भी न किये जायें (जिन उक्तं वचन सुद्धं च) जिनेन्द्र द्वारा कथित उपदेश को शुद्धता से पालन करना (अस्तेयं लोपनं कृतं) उनका लोप न करना ही अचौर्य महाव्रत है ।

विशेषार्थ- तीसरा अचौर्य व्रत यह है कि चोरी के कर्म और चोरी के भाव भी न किये जायें । असत्य वचन बोलना भी चोरी है, जो पद धारण किया जावे उसके विपरीत आचरण करना, व्रत, नियम, संयम लेकर भंग करना भी चोरी है । जिनेन्द्र की आज्ञा प्रमाण वस्तु का स्वरूप विचारना चाहिये, वैसा ही कहना चाहिये और वैसा ही पालन करना चाहिये । जो जैनागम में निरूपित जिनेन्द्र की देशना के विपरीत आचरण करते हैं, कहते हैं, सोचते हैं, बताते हैं, वे जिनाज्ञा लोपी चोरी के दोष के

भागी होते हैं । व्यवहार में चौर कर्म व चौर भाव का त्याग तथा जिनेन्द्र की आज्ञा के अनुसार वस्तु स्वरूप का यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान तथा तद्रूप आचरण करना ही अचौर्य महाव्रत है । साधक धर्म साधन के निमित्त शास्त्र और आहार के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु दी हुई भी न लेवे क्योंकि सर्व प्रकार के परिग्रह का त्यागी कुछ भी ग्रहण करता है तो अचौर्य व्रत का धारक नहीं है ।

चौथे, ब्रह्मचर्य महाव्रत का स्वरूप कहते हैं-

ब्रह्मचर्यं च सुद्धं च, अबंभं भाव तिक्तयं ।

विकहा राग मिथ्यात्वं, तिक्तं बंभ व्रतं धुवं ॥ ४४१ ॥

मन वयन काय हृदयं सुद्धं, सुद्ध समय जिनागमं ।

विकहा काम सद्भावं, तिक्तं ते ब्रह्मचारिना ॥ ४४२ ॥

अन्वयार्थ- (ब्रह्मचर्यं च सुद्धं च) ब्रह्मचर्य की शुद्धि वह है (अबंभं भाव तिक्तयं) जहां अब्रह्म भाव छूट गये (विकहा राग मिथ्यात्वं) विकथा, राग और मिथ्यात्व के (तिक्तं बंभ व्रतं धुवं) छूटने पर ही ब्रह्मचर्य महाव्रत सही होता है ।

(मन वयन काय हृदयं सुद्धं) मन, वचन, काय और हृदय के शुद्ध होने से (सुद्ध समय जिनागमं) जिनागम के अनुसार शुद्धात्म स्वरूप में रमण होता है (विकहा काम सद्भावं) जब विकथा और काम का सद्भाव (तिक्तं ते ब्रह्मचारिना) छूट जाता है, तब ही अपने ब्रह्म स्वरूप में रमण होता है और वही ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य महाव्रतधारी है ।

विशेषार्थ- ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्म स्वरूप में रमण करना, सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा से यह स्थिति बनने लगती है । अपने ब्रह्म स्वरूप के अतिरिक्त शरीरादि सब अब्रह्म है इस ओर का भाव भी छूट जाता है वहां ब्रह्मचर्य की शुद्धि है । विकथा, राग और मिथ्यात्व भाव का छूट जाना निश्चय से ब्रह्मचर्य व्रत है । जहां कुशील के भाव छूट जाते हैं, स्पर्शन इन्द्रिय के विषय का राग छूट जाता है, विकथा की ओर मन जाता ही नहीं है । हमेशा अपने ब्रह्म स्वरूप आत्मा का मनन चिंतन ध्यान रहता है ।

मन में कोई कामभाव - रागभाव का न होना, वचन से हास्य जनक रागवर्द्धक, कामोत्पादक चर्चा भी नहीं करना, शरीर की कोई कुचेष्टा न होना, हृदय से शुद्ध होकर जिनागम में कहे अनुसार अपने शुद्धात्म स्वरूप का ध्यान करना ही ब्रह्मचर्य

महाव्रत है।

जब हृदय से काम भाव और विकथाओं का सद्भाव भी छूट जाता है वही ब्रह्मचारी है। वेद के उदय जनित मैथुन सम्बंधी सम्पूर्ण क्रियाओं का सर्वथा त्याग तथा सर्व प्रकार की स्त्रियों में विकार भाव का अभाव वह द्रव्य ब्रह्मचर्य और स्वात्म स्वरूप में स्थिति होना निश्चय ब्रह्मचर्य है, दोनों का होना ही ब्रह्मचर्य महाव्रत है।

पांचवें, अपरिग्रह महाव्रत का स्वरूप कहते हैं—

परिग्रह प्रमानं कृत्वा, पर द्रव्यं न वि दिस्टते।

अनृत असत्य तिक्तं च, परिग्रह प्रमानस्तथा ॥ ४४३ ॥

अन्वयार्थ- (परिग्रह प्रमानं कृत्वा) परिग्रह का प्रमाण करके (पर द्रव्यं न वि दिस्टते) जो पर द्रव्य की तरफ भी नहीं देखता (अनृत असत्य तिक्तं च) क्षणभंगुर नाशवान असत् पदार्थों का संयोग छूट गया (परिग्रह प्रमानस्तथा) इस प्रकार परिग्रह त्याग से अपरिग्रह होता है।

विशेषार्थ- नवमीं प्रतिमा में परिग्रह त्याग अणुव्रत रूप था, यहां जब समस्त संयोग सम्बंध ही छूट गये, जिसकी दृष्टि अपने ब्रह्म स्वरूप पर लगी है, जो पर द्रव्य को देख ही नहीं रहा, क्षणभंगुर नाशवान असत् पदार्थों से जिसका सम्बंध छूट गया, मात्र शरीर का ही संयोग है परन्तु उससे भी कोई ममत्व मूर्च्छा भाव नहीं है, अपने ब्रह्म स्वरूप में रमण और आत्म ध्यान की साधना में निरन्तर संलग्न हैं इसे अपरिग्रह महाव्रत कहते हैं।

इस प्रकार की साधना करके उत्कृष्ट श्रावक साधु पद धारण करता है, आगे साधु पद के स्वरूप का वर्णन करते हैं—

एतत् क्रिया संजुक्तं, सुद्ध संमिक्त सार्धयं।

ध्यानं सुद्ध समयं च, उत्कृष्टं स्रावगं ध्रुवं ॥ ४४४ ॥

साधक साधु लोकेन, रत्नत्रयं च संजुतं।

ध्यानं तिअर्थ सुद्धं च, अवधिं तेन दिस्टते ॥ ४४५ ॥

अन्वयार्थ- (एतत् क्रिया संजुक्तं) इस प्रकार ऊपर कही हुई क्रियाओं से संयुक्त साधक (सुद्ध संमिक्त सार्धयं) शुद्ध सम्यक्त्व की साधना करता है (ध्यानं सुद्ध समयं च) और शुद्ध आत्मा के ध्यान में लीन रहता है (उत्कृष्टं स्रावगं ध्रुवं)

वही निश्चय से उत्कृष्ट श्रावक साधक है।

(साधक साधु लोकेन) वही साधक सच्चा साधु लोक में पूज्य है (रत्नत्रयं च संजुतं) जो निश्चय रत्नत्रय— सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से संयुक्त होता है (ध्यानं तिअर्थ सुद्धं च) जो रत्नत्रय से शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है (अवधिं तेन दिस्टते) उसके अवधि ज्ञान दिखाई देने लगता है।

विशेषार्थ- जो सम्यक्दृष्टि ज्ञानी अव्रत भाव से ऊपर उठकर व्रत धारण करता है, ग्यारह प्रतिमाओं का पालन करता है वह उत्कृष्ट श्रावक (साधक) अपने में परिपूर्ण शुद्धात्मा की ध्यान साधना में रत रहता है। बाहर से समस्त आरम्भ, पाप—परिग्रह, विषयादि कषायों से मुक्त हो जाता है, जिसको संज्वलन कषाय का उदय होता है, वह साधक साधु पद धारण करता है, जो लोक में पूज्य होता है। निश्चय—व्यवहार से समन्वित रत्नत्रय— सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का धारी रत्नत्रय से शुद्ध, आत्मा का ध्यान करने वाला होता है जिसे अवधिज्ञान प्रगट हो जाता है।

जो पंचेन्द्रिय के विषयों से विरक्त, आरम्भ परिग्रह से रहित और ज्ञान, ध्यान, तप में लवलीन हो वही साधु है।

जिसे लोक स्थित जीव पुद्गलादि षट्द्रव्यों के यथार्थ स्वरूप पूर्वक शुद्ध आत्म द्रव्य की स्वाभाविक पर्यायों के और पुद्गल जनित वैभाविक पर्यायों के जानने से मिथ्याबुद्धि दूर होकर तत्त्व का सही निर्णय, सत्श्रद्धान और सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तब वह अपने शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति के लिये उसके साधक कारणों को मिलाता है और बाधक कारणों को दूर करता है, इसी क्रिया को सम्यक्चारित्र कहते हैं।

चारित्र की आरंभिक श्रेणी में हिंसादि पांच पापों का स्थूलपने त्याग होता है जिसे श्रावक धर्म या अणुव्रत कहते हैं इनके रक्षणार्थ तथा महाव्रतों की आरम्भिक क्रियाओं के शिक्षणार्थ दिग्व्रत आदि सप्त शीलों का पालन किया जाता है, जिसका फल यह होता है कि अणुव्रत, महाव्रतों को स्पर्शने लगते हैं और इनका पालक पुरुष महाव्रत धारण करने का अधिकारी हो जाता है।

चारित्र की उत्तर श्रेणी में हिंसादि पांच पापों का सम्पूर्णपने त्याग होता है इसे मुनि धर्म या महाव्रत कहते हैं। इसके निर्वाहन तथा रक्षणार्थ पांच समिति, तीन गुप्ति भी पालन की जाती हैं। जिसका फल यह होता है कि महाव्रत यथाख्यात

चारित्र को प्राप्त हो जाते हैं।

मुनियों के उत्सर्ग-अपवाद दो मार्ग कहे गए हैं- १. उत्सर्ग मार्ग- जहां शुद्धोपयोग परम वीतराग संयम होता है वह उत्सर्ग मार्ग है। २. अपवाद मार्ग- जहां शुद्धोपयोग से बाह्य साधन आहार, बिहार, निहार, कमण्डल, पीछी आदि के ग्रहण त्याग युक्त शुभोपयोग रूप सराग संयम होता है उसे अपवाद मार्ग कहते हैं। इनमें अपवाद मार्ग, उत्सर्ग मार्ग का साधक होता है।

आत्म ज्ञान पूर्वक ध्यान में लवलीन रहना ही साधु का कर्तव्य है। अब साधु का आचरण क्रियाओं का पालन करना बतलाते हैं-

न्यानं चारित्र संपूर्ण, क्रिया त्रेपन संजुतं।

तपं च व्रत समिदि च, गुप्ति त्रय प्रतिपालये ॥ ४४६ ॥

चारित्रं चरनं सुद्धं, समय सुद्धं च उच्यते।

संपूर्ण ध्यान जोगेन, साधओ साधु लोकयं ॥ ४४७ ॥

अन्वयार्थ- (न्यानं चारित्र संपूर्ण) साधु सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से परिपूर्ण होते हैं (क्रिया त्रेपन संजुतं) श्रावक की त्रेपन क्रियाओं सहित होते हैं (तपं च व्रत समिदि च) तप और महाव्रत, पांच समिति तथा (गुप्ति त्रय प्रतिपालये) तीन गुप्ति का पालन करते हैं।

(चारित्रं चरनं सुद्धं) इस व्यवहार चारित्र से निश्चय सम्यक्चारित्र शुद्ध होता है (समय सुद्धं च उच्यते) उसे ही शुद्धोपयोग रूप कहा जाता है (संपूर्ण ध्यान जोगेन) जो योग से ध्यान समाधि की (साधओ साधु लोकयं) साधना करते हैं वही साधु लोक में पूज्य होते हैं।

विशेषार्थ- निर्ग्रन्थ जैन साधु शास्त्र ज्ञाता व आत्मज्ञानी होते हैं, पूर्ण चारित्र के अभ्यासी होते हैं, श्रावक की त्रेपन क्रिया (सम्यक्त्व, अष्ट मूलगुण, चार दान, रत्नत्रय की साधना, रात्रि भोजन त्याग, पानी छानकर पीना, ग्यारह प्रतिमा, बारह व्रत, बारह तप) सहित पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति का पालन करते हैं। बारह तप (छह बाह्य, छह अंतरंग) इनका वर्णन पूर्व में किया जा चुका है, पांच महाव्रत का स्वरूप भी वर्णन किया जा चुका है, यहां संक्षेप में कहते हैं।

पांच महाव्रत- अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह जिनका आचरण पूर्ण रूपेण सावद्य की निवृत्ति और मोक्ष की प्राप्ति के लिये किया जाये वही महाव्रत

है। जिनका आचरण महाशक्तिवान, पुण्यवान पुरुष ही कर सकते हैं। महाव्रत धारण करने वाला महान होता है और परमात्मा बनता है।

पांच समिति- सम अर्थात् भले प्रकार शास्त्रोक्त, इति अर्थात् गमन आदि में प्रवृत्ति करना समिति है। इसमें समीचीन चेष्टा सहित आचरण होता है इसलिये यह व्रतों की रक्षक और पोषक हैं। इनका स्वरूप इस प्रकार है-

१. ईर्या समिति- चार हाथ भूमि निरखकर, दिन में रौंदे हुए मार्ग में सम भाव से गमन करना ईर्या समिति है। अतिचार- गमन करते समय भूमि का भली-भांति अवलोकन नहीं करना, इधर-उधर देखते हुए चलना।

२. भाषा समिति- शुद्ध, मिष्ट, अल्प वचन बोलना भाषा समिति है। अतिचार- देश काल के योग्य-अयोग्य विचार किये बिना बोलना, बिना पूछे बोलना, पूरा सुने जाने बिना बोलना।

३. एषणा समिति- आहार ग्रहण की प्रवृत्ति को एषणा समिति कहते हैं। शुद्ध भोजन, अनुद्दिष्ट अर्थात् जो अपने निमित्त से न बनाया हो, श्रावक ने अपने लिये बनाया हो, भिक्षा पूर्वक त्रिकुल अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के घर, तप चारित्र बढ़ाने के लिये संतोष पूर्वक दिन में एक बार हाथ में ही रखकर भोजन करना एषणा समिति है। अतिचार- दोष सहित भोजन करना, अति रस की लंपटता से प्रमाणाधिक भोजन करना।

४. आदान निक्षेपण समिति- रखी हुई वस्तु को उठाना आदान और ग्रहण की हुई वस्तु को रखना निक्षेपण कहलाता है। जिससे किसी जीव को बाधा न पहुंचे उस प्रकार शास्त्र, पीछी, कमण्डल आदि उठाना रखना आदान निक्षेपण समिति है। अतिचार- भूमि पर शरीर तथा उपकरणों को शीघ्रता से उठाना-धरना, उतावली में प्रतिलेखन करना।

५. प्रतिष्ठापना समिति- जीव-जंतु रहित, बाधा रहित निर्दोष स्थान पर देख-शोध कर मल-मूत्र, कफ आदि क्षेपण करना प्रतिष्ठापना समिति है। अतिचार- अशुद्ध बिना देखे-शोधे भूमि पर मल-मूत्र आदि क्षेपण करना।

बारह तप, पांच महाव्रत, पांच समिति का पालन करने से इन्द्रिय निरोध होता है, स्पर्शन आदि पंचेन्द्रियों के विषयों में लोलुपता होने से असंयम तथा कषायों की वृद्धि होकर चित्त में मलिनता और चंचलता होती है; इसलिये जिनको चित्त निर्मल तथा आत्म स्वरूप में स्थिर करना है, आत्म स्वरूप को साधना है, ऐसे साधु मुनियों

को कषायों के उत्पन्न न होने देने के लिये पांच इन्द्रियों के विषयों से सर्वथा विरक्त होना चाहिये। इसी प्रकार इन पांच इन्द्रियों को कुमार्ग में गमन कराने वाले चंचल मन को भी वश में करना आवश्यक है। यद्यपि मन किसी रस आदि विषय को ग्रहण नहीं करता तथापि इन्द्रियों को विषयों की तरफ झुकाता है। इस तरह इन्द्रियों तथा मन के विषयों में राग-द्वेष रहित होना इन्द्रिय निरोध कहलाता है। इन्द्रिय निरोध होने पर ही तीन गुप्ति का पालन होता है।

गुप्ति— जिसके द्वारा सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र गोपित अर्थात् रक्षित होता है उसे गुप्ति कहते हैं। जैसे— कोट द्वारा नगर की रक्षा होती है, उसी प्रकार गुप्ति द्वारा मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम अथवा शुभाशुभ कर्मों से आत्मा की रक्षा की जाती है। गुप्ति के तीन भेद हैं, जिनका स्वरूप इस प्रकार है—

१. मनोगुप्ति— मन से राग-द्वेष आदि का परिहार करना, सांसारिक चिंतन से मन को बचाना मनोगुप्ति है। अतिचार— रागादि सहित स्वाध्याय में प्रवृत्ति, अंतरंग में अशुभ परिणामों का होना।

२. वचन गुप्ति— असत् अभिप्राय से वचन की निवृत्ति कर मौन पूर्वक ध्यान, अध्ययन, आत्म चिंतन आदि करना वचन गुप्ति है। अतिचार— राग तथा गर्व से बोलना अथवा मौन धारण करना।

३. काय गुप्ति— शरीर को निश्चल रखना, देख-शोध कर आसन बदलना, आलस्य रूप न रहना, दो घड़ी से अधिक लगातार न सोना काय गुप्ति है। अतिचार— असावधानी पूर्वक काय की क्रिया (मल-मूत्र, भोजन-पान, शयन) करना, सचित्त भूमि में बैठना चलना।

मुनिराज मन-वचन-काय का निरोध करके आत्म ध्यान में ऐसे लवलीन रहते हैं कि उनकी वीतरागी स्थिर मुद्रा को देखकर वन के मृग आदि पशु पाषाण या दूँठ जानकर उनसे खाज खुजाते हैं, ऐसा होते हुए भी वे आत्म ध्यान में ऐसे निमग्न रहते हैं कि उन्हें इसका कुछ भी भान नहीं होता। निर्ग्रन्थ साधुगण तेरह प्रकार चारित्र को निर्दोष पालते हुए मुख्य लक्ष्य शुद्धात्मा के अनुभव रूप स्वरूपाचरण या निश्चय चारित्र शुद्धोपयोग पर ध्यान रखते हैं। पदस्थ, पिंडस्थ, रूपस्थ, रूपातीत ध्यान के अभ्यास से नाना प्रकार के कठिन स्थानों में तिष्ठकर परम वैराग्य के साथ निज आत्मा का अनुभव करते हैं। उपसर्ग, परीषहों को शांत भाव से सहन करते हैं। ध्यान के द्वारा निश्चय चारित्र की पूर्णता करते हैं अर्थात् श्रेणी माड़कर शुक्ल ध्यान का

अभ्यास करते हैं, अरिहंत पद पर जाकर सिद्ध होने की भावना साधुगण सदा रखते हैं, ऐसे साधु ही जगत पूज्य होते हैं।

बाईस परीषह जय—

असाता वेदनीय आदि कर्मजनित अनेक दुःखों के कारण प्राप्त होने पर भी खिन्न न होना तथा उन्हें पूर्व संचित कर्मों का फल जानकर निर्जरा के निमित्त समता, शांति भाव पूर्वक सहना परीषह जय है। यह बाईस प्रकार की होती हैं जिनका स्वरूप इस प्रकार है—

१. क्षुधा परीषह— भूख की वेदना को शांति पूर्वक खेद रहित सहना।
२. तृषा परीषह— प्यास की वेदना को शांति पूर्वक खेद रहित सहना।
३. शीत परीषह— ठंड की वेदना को शांति पूर्वक खेद रहित सहना।
४. ऊष्ण परीषह— गर्मी की बाधा को शांति पूर्वक खेद रहित सहना।
५. दंशमसक परीषह— डांस, मच्छर आदि अनेक जीव-जंतुओं जनित दुःख को समभाव से सहना।
६. नग्न परीषह— उपस्थ (काम) इन्द्रिय को वश में करना, नग्न रूप रहने की लोकलाज को जीतना।
७. अरति परीषह— द्वेष के कारण आने पर खेद रहित शांत चित्त रहना।
८. स्त्री परीषह— स्त्रियों में व काम विकार में चित्त नहीं जाने देना।
९. चर्या परीषह— पैदल चलते हुए कांटे, कंकड़ आदि से खेद-खिन्न न होना।
१०. निषद्या परीषह— उपसर्ग आने पर खेद-खिन्न न होना तथा उपसर्ग दूर होने तक अपने स्थान से न हटना।
११. शयन परीषह— कठोर, कंकरीली भूमि पर खेद न मानते हुए एक आसन से अल्प निद्रा लेना।
१२. आक्रोश परीषह— क्रोध के कारण आने पर क्षमा तथा शांति ग्रहण करना।
१३. वध बंधन परीषह— कोई बांधे या मारे तो खेद न मानते हुए शांति पूर्वक सहना।
१४. याचना परीषह— औषधि, भोजन पानी आदि किसी से नहीं मांगना।
१५. अलाभ परीषह— भोजन आदि न मिलने पर उससे कर्म निर्जरा जानकर शांत भाव रखना।
१६. रोग परीषह— शरीर में किसी प्रकार का रोग आने पर कातर न होना,

खेद न मानना, शांत रहना ।

१७. तृण स्पर्श परीषह- पांव में कठिन कंकड़ों, नुकीले तृणों के चुभने पर भी शांत रहना ।

१८. मल परीषह- शरीर पर धूल आदि मल लगने पर ग्लानि, घृणा न होना ।

१९. सत्कार पुरस्कार परीषह- आप आदर सत्कार योग्य होते हुए भी कोई आदर सत्कार न करे, निंदा करे तो भी शांत रहना ।

२०. प्रज्ञा परीषह- विशेष ज्ञान होते हुए भी उसका अभिमान न करना ।

२१. अज्ञान परीषह- बहुत तपश्चरण आदि करने पर भी ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती इसका खेद नहीं करना ।

२२. अदर्शन परीषह- तप बल से अनेक ऋद्धियां उत्पन्न होती हैं, मुझे अभी तक कुछ नहीं हुआ ऐसा जानकर धर्म श्रद्धान में संशय नहीं करना ।

इस प्रकार साधु सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और संयम से शुद्ध होकर शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से अपने शुद्धात्मा को ही सर्वत्र देखते हैं-

संमिक दर्शनं न्यानं, चारित्रं सुद्ध संजमं ।

जिन रूवी सुद्ध दर्वार्थ, साधओ साधु उच्यते ॥ ४४८ ॥

ऊर्ध्व आर्ध मध्यं च, लोकालोक विलोकितं ।

आत्मनं सुद्धात्मनं, महात्मं च महाव्रतं ॥ ४४९ ॥

अन्वयार्थ- (संमिक दर्शनं न्यानं) जो सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान (चारित्रं सुद्ध संजमं) सम्यक्चारित्र पूर्वक शुद्ध संयम का पालन करते हैं (जिन रूवी सुद्ध दर्वार्थ) व्यवहार में जैसा जिनेन्द्र का रूप है अर्थात् निर्ग्रन्थ दिगम्बर वीतरागी मुद्रा धारण कर जो शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय ध्रुव तत्व, शुद्धात्म स्वरूप की (साधओ साधु उच्यते) साधना करते हैं वे साधु कहलाते हैं ।

(ऊर्ध्व आर्ध मध्यं च) जो तीन लोक और तीन काल में तथा (लोकालोक विलोकितं) लोकालोक में देखते हैं कि (आत्मनं सुद्धात्मनं) आत्मा ही शुद्धात्मा है (महात्मं च महाव्रतं) वही महात्मा और महाव्रतधारी साधु हैं ।

विशेषार्थ- जो सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र पूर्वक शुद्ध संयम का पालन करते हैं, व्यवहार में जिनेन्द्र का रूप अर्थात् निर्ग्रन्थ दिगम्बर वीतरागी मुद्रा धारण कर जो शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय- ध्रुव तत्व शुद्धात्म स्वरूप की

साधना करते हैं वे साधु कहलाते हैं । तीन लोक और तीन काल में व लोकालोक में आत्मा ही शुद्धात्मा हैं, एक अखण्ड अभेद अविनाशी सच्चिदानन्द घन स्वरूप को ही देखते हैं वही महात्मा और महाव्रतधारी साधु हैं । जो सर्वज्ञ वीतराग प्रभु हैं उस रूप अपने आत्मा को द्रव्य दृष्टि से जानकर शुद्धात्म स्वरूप का एकाग्र होकर ध्यान करना, तीन लोक में भरे हुए सर्व आत्माओं को शुद्ध नय के बल से शुद्धात्मा देखना, सर्व जीवों को एक आत्मा मय देखना, परम समता भाव में लय हो जाना, सारे भेद विकल्प मिट जाना, यही निश्चय सामायिक है और यही निश्चय महाव्रत है । यदि यह महाव्रत न हुआ और मात्र बाहरी पांच महाव्रत पाले गये तो वह मोक्ष का साधन नहीं होता । वास्तव में शुद्धात्मा के अनुभव को ही मोक्ष का साधन कहते हैं यही साधु का चारित्र है, इसको जो साधे वही महात्मा महाव्रती साधु है ।

जो निकट भव्य सम्यक्ज्ञान द्वारा हेय, उपादेय को भली भांति जानकर महाव्रत धारण करके संवर-निर्जरा पूर्वक उसी पर्याय में मोक्ष प्राप्ति करना चाहते हैं वे तीन गुप्ति, पांच समिति, पंचाचार, दस धर्म, द्वादस तप का पालन और बाईस परीषह सहन करते हुए धर्म ध्यान, शुक्ल ध्यान रूप आचरण भी करते हैं; क्योंकि बिना साधन के साध्य की सिद्धि नहीं होती, इसी बात को आगे गाथा में कहते हैं-

धर्म ध्यानं च संजुतं, प्रकासनं धर्म सुद्धयं ।

जिन उक्तं जस्य सर्वन्यं, वचनं तस्य प्रकासनं ॥ ४५० ॥

मिथ्यातं त्रिति सल्यं च, कुन्यानं त्रिति उच्यते ।

राग दोषं च जेतानि, तिक्तंते सुद्ध साधवा ॥ ४५१ ॥

अन्वयार्थ- (धर्म ध्यानं च संजुतं) वे साधु धर्म ध्यान में संयुक्त रहते हैं (प्रकासनं धर्म सुद्धयं) अपने शुद्ध स्वभाव रूप शुद्ध धर्म का प्रकाश करते हैं (जिन उक्तं जस्य सर्वन्यं) जिनवाणी में जैसा सर्वज्ञ परमात्मा ने कहा है (वचनं तस्य प्रकासनं) उसी अनुसार अपने वचनों से धर्म का सत्य स्वरूप बतलाते हैं ।

(मिथ्यातं त्रिति सल्यं च) जो मिथ्यात्व और तीन शल्य (कुन्यानं त्रिति उच्यते) तथा तीन कुज्ञान कहे गये हैं (राग दोषं च जेतानि) और जितने भी राग-द्वेषादि विभाव हैं उनको (तिक्तंते सुद्ध साधवा) छोड़ देते हैं वही सच्चे शुद्ध साधु हैं ।

विशेषार्थ- चित्त वृत्ति को अन्य चिंताओं से रोककर एक ज्ञेय पर स्थिर करना ध्यान कहलाता है । ध्यान का उत्कृष्ट काल उत्तम संहनन के धारक पुरुषों के लिये

अन्तर्मुहूर्त कहा है अर्थात् वज्रर्षभ नाराच, वज्रनाराच, नाराच संहनन के धारक पुरुषों का अधिक से अधिक एक समय कम दो घड़ी (अड़तालीस मिनट) तक एक ज्ञेय पर उपयोग स्थिर रह सकता है, पीछे दूसरे ज्ञेय पर ध्यान चला जाता है। इस प्रकार बदलता हुआ बहुत काल तक भी ध्यान हो सकता है। यह ध्यान अप्रशस्त और प्रशस्त के भेद से दो प्रकार का है। आर्त और रौद्र यह दो ध्यान अप्रशस्त हैं, इनका फल निकृष्ट है, यह संसार परिभ्रमण के कारण नरक, तिर्यच गति के दुःखों के मूल हैं और अनादि काल से स्वयं ही संसारी जीवों को हो रहे हैं इसलिये इनकी वासना ऐसी दृढ़ हो रही है कि रोकते-रोकते भी उपयोग इनकी तरफ चला जाता है। सम्यक्ज्ञानी पुरुष ही इनसे चित्त को निवृत्त कर सकते हैं। धर्म और शुक्ल यह दो ध्यान प्रशस्त हैं, इनका फल उत्तम है, यह स्वर्ग मोक्ष के सुख के मूल हैं। यह ध्यान जीवों के कभी भी नहीं हुए। यदि हुए होते तो फिर संसार भ्रमण न करना पड़ता; इसलिये इनकी वासना न होने से इनमें चित्त का लगना सहज नहीं है किंतु बहुत ही कठिन है अतएव जिस प्रकार भी प्रयत्न करके इन ध्यानों का अभ्यास बढ़ाना चाहिये और तत्त्व चिंतवन, आत्म चिंतवन में चित्त को स्थिर करना चाहिये।

यहां पर चारों ध्यान के सोलह भेदों का स्पष्ट रूप से वर्णन किया जाता है जिससे इनका स्वरूप भली-भांति जानकर अप्रशस्त ध्यानों से निवृत्ति और प्रशस्त ध्यानों में प्रवृत्ति हो।

आर्त ध्यान— दुःख मय परिणामों का होना आर्त ध्यान है। इसके चार भेद हैं—

१. इष्ट वियोगज— इष्ट, प्रिय स्त्री, पुत्र, धन-धान्य आदि तथा धर्मात्मा पुरुषों के वियोग से संक्लेश रूप परिणाम होना इष्ट वियोगज आर्त ध्यान है।

२. अनिष्ट संयोगज— दुःखदाई अप्रिय स्त्री, पुत्र, भाई, पड़ौसी, पशु आदि तथा पापी दुष्ट पुरुषों के संयोग से संक्लेश रूप परिणाम होना अनिष्ट संयोगज आर्त ध्यान है।

३. पीड़ा चिंतवन— रोग के प्रकोप की पीड़ा से संक्लेश रूप परिणाम होना व रोग के अभाव का चिंतवन करना पीड़ा चिंतवन आर्त ध्यान है।

४. निदान बंध— आगामी काल में विषय भोगों की वांछा रूप संक्लेश परिणाम होना निदान बंध आर्त ध्यान है।

आर्त ध्यान संसार की परिपाटी से उत्पन्न और संसार का मूल कारण है। मुख्यतया यह ध्यान तिर्यच गति ले जाने वाला है। पांचवें गुणस्थान तक चारों और

छटे गुणस्थान में निदान बंध को छोड़कर शेष तीन आर्त ध्यान होते हैं; परंतु सम्यक्त्व अवस्था में मंद होने से तिर्यच गति के कारण नहीं होते।

रौद्र ध्यान— क्रूर निर्दय परिणामों का होना रौद्र ध्यान है। यह चार प्रकार का है—

१. हिंसानन्दी— जीवों को अपने तथा पर के द्वारा वध पीड़ित, ध्वंस घात होते हुए हर्ष मानना व पीड़ित करने, कराने का चिंतवन करना हिंसानन्दी रौद्र ध्यान है।

२. मृषानन्दी— आप असत्य झूठी कल्पनायें करके अथवा दूसरों के द्वारा ऐसा होते हुए जानकर आनन्द मानना व असत्य भाषण करने, कराने का चिंतवन करना मृषानन्दी रौद्र ध्यान है।

३. चौर्यानन्दी— चोरी करने, कराने का चिंतवन तथा दूसरों के द्वारा इन कार्यों के होते हुए आनन्द मानना चौर्यानन्दी रौद्र ध्यान है।

४. परिग्रहानन्दी— क्रूर चित्त होकर बहुत आरम्भ, बहुत परिग्रह रूप संकल्प व चिंतवन करना या अपने-पराये परिग्रह को बढ़ने, बढ़ाने में आनन्द मानना परिग्रहानन्दी रौद्र ध्यान है।

रौद्र ध्यान नरक गति के कारण हैं। यह पंचम गुणस्थान तक होते हैं; सम्यक्त्व अवस्था में मंद होने से नरक गति के कारण नहीं होते।

धर्म ध्यान— सातिशय पुण्य बंध का कारण, शुद्धोपयोग का उत्पादक, शुभ परिणाम धर्म ध्यान कहलाता है। इसके मुख्य चार भेद हैं—

१. आज्ञा विचय— इस धर्म ध्यान में जैन सिद्धांत में प्रसिद्ध वस्तु स्वरूप को सर्वज्ञ भगवान की आज्ञा की प्रधानता से यथा संभव परीक्षा पूर्वक चिंतवन करना और सूक्ष्म परमाणु आदि, अंतरित राम-रावण आदि, दूरवर्ती मेरु पर्वत आदि, ऐसे छद्मस्थ के प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणों के अगोचर पदार्थों को सर्वज्ञ वीतराग की आज्ञा प्रमाण ही सिद्ध मानकर तद्रूप चिंतवन करना आज्ञा विचय धर्म ध्यान है।

२. अपाय विचय— कर्मों का नाश, मोक्ष की प्राप्ति किन उपायों से हो इस प्रकार आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष आदि तत्त्वों का चिंतवन करना अपाय विचय धर्म ध्यान है।

३. विपाक विचय— द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के निमित्त से अष्ट कर्मों के विपाक द्वारा आत्मा की क्या-क्या सुख-दुःख आदि रूप अवस्था होती है उसका चिंतवन करना विपाक विचय धर्म ध्यान है।

४. संस्थान विचय- लोक तथा उसके ऊर्ध्व, मध्य, तिर्यक् लोक संबंधी विभागों तथा उसमें स्थित पदार्थों का, पंच परमेष्ठी का, अपने आत्मा का चिंतन करते हुए इनके स्वरूप में उपयोग स्थिर करना संस्थान विचय धर्म ध्यान है। इस ध्यान के चार भेद हैं- पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत।

यद्यपि यह धर्म ध्यान चौथे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक अर्थात् अव्रती श्रावक से मुनियों तक होता है तथापि श्रावक अवस्था में आर्त-रौद्र ध्यान के सद्भाव से धर्म ध्यान पूर्ण विकास को प्राप्त नहीं होता; इसलिये इसकी मुख्यता मुनियों के ही होती है। विशेषकर अप्रमत्त अवस्था में इसका साक्षात् फल स्वर्ग और परम्परा से शुद्धोपयोग पूर्वक मोक्ष की प्राप्ति होती है।

साधु स्वयं निर्दोष धर्म निज शुद्धात्म स्वरूप का साधन करते हैं वैसे ही वे जगत के प्राणियों को शुद्ध धर्म का प्रकाश करते हैं, जिन वचनों पर उनका विश्वास है कि यह श्री सर्वज्ञ वीतराग अरिहन्त भगवान की परम्परा से कहा हुआ यथार्थ वस्तु स्वरूप है, उसी का वे उपदेश देते हैं। परम साम्य भाव से व मायाचार न करके जो जिनेन्द्र की आज्ञा है उसी के अनुसार कथन करते हैं वे ही जैन साधु हैं।

निर्दोष साधु का चारित्र पालन करने वाले के भीतर बहिरंग और अंतरंग मिथ्यात्व नहीं होता है, न वहां कोई मायाचार और न ही निदान का भाव होता है, वह कपट रहित व भोगों की इच्छा रहित होकर साधु धर्म पालते हैं। उनको कुमति, कुश्रुत, कुअवधि तीन कुज्ञान नहीं होते हैं। सम्यक्त्व के प्रभाव से उनका सम्पूर्ण ज्ञान सुज्ञान रूप होता है। वे राग-द्वेषादि भावों को जीतते हुए अपने आत्म ध्यान की साधना में रत रहते हैं वही सच्चे शुद्ध साधु हैं।

जो स्वयं तरते हैं और भव्य जीवों के तारणहार हैं, शुद्ध सम्यक्दर्शन, ज्ञान और ध्यान रूप चारित्र में लीन रहते हैं, वे निर्ग्रन्थ साधु तारण तरण होते हैं, इसी बात को आगे कहते हैं-

अप्यं च तारनं सुद्धं, भव्य लोकैक तारकं ।

सुद्धं लोकलोकांतं, ध्यानारूढं च साधवा ॥ ४५२ ॥

मनं च सुद्ध भावं च, सुद्ध तत्त्वं च दिस्टते ।

संमिक दर्सनं सुद्धं, सुद्धं तिअर्थं संजुतं ॥ ४५३ ॥

अन्वयार्थ- (अप्यं च तारनं सुद्धं) जो निश्चय से अपने आपको तारते हैं और

(भव्य लोकैक तारकं) भव्य जीवों को तारने वाले हैं (सुद्धं लोकलोकांतं) जो लोक में और लोक के अंत में सिद्ध परमात्मा हैं ऐसा ही शुद्ध मैं हूँ (ध्यानारूढं च साधवा) ऐसे शुद्धात्म स्वरूप के ध्यान में जो आरूढ रहते हैं वही साधु हैं।

(मनं च सुद्ध भावं च) मन से और भावों से शुद्ध (सुद्ध तत्त्वं च दिस्टते) शुद्धात्म स्वरूप को देखते हैं और (संमिक दर्सनं सुद्धं) शुद्ध सम्यक्दर्शन के धारी हैं (सुद्धं तिअर्थं संजुतं) शुद्ध रत्नत्रय से संयुक्त अर्थात् निश्चय सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र में लीन रहते हैं वे ही तारण तरण सद्गुरु सच्चे साधु हैं।

विशेषार्थ- निर्ग्रन्थ वीतरागी साधु तारण तरण होते हैं। जैसे- नौका आप तो तैरती है उसमें बैठने वालों को भी तार देती है, इसी प्रकार जो अपने आपको तो तारते ही हैं और अपने उपदेश व शिक्षा से अनेक भव्य जीवों को शुद्ध धर्म मोक्ष के मार्ग में लगा देते हैं, इस प्रकार साधु तारण तरण कहलाते हैं।

सच्चे साधु अपने आत्मा का ध्यान करते हैं। जैसे लोक के अंत में सिद्ध परमात्मा विराजमान हैं और लोक में केवलज्ञानी सर्वज्ञ परमात्मा हैं, वैसे ही मेरा शुद्ध स्वरूप है, इसके ध्यान में सदा लवलीन रहते हैं और ऐसे ही शुद्धात्म तत्त्व का उपदेश समस्त भव्य जीवों को देते हैं। मन से और भावों से शुद्ध होकर शुद्धात्म स्वरूप को देखते हैं, शुद्ध सम्यक्दर्शन के धारी रत्नत्रय से विभूषित साधु ही तारण तरण सद्गुरु कहलाते हैं।

रत्नत्रय से शुद्ध अपने शुद्धात्म स्वरूप के ध्यान में साधु लीन रहते हैं, जिससे मनः पर्यय ज्ञान प्रगट हो जाता है। जो संसार को तृण के समान समझकर आत्म ध्यान में लीन रहते हैं वही सच्चे साधु हैं इसी बात को कहते हैं-

रत्नत्रयं सुद्ध संपूर्णं, संपूर्णं ध्यानारूढयं ।

रिजु विपुलं च उत्पादंते, मनपर्जय न्यानं ध्रुवं ॥ ४५४ ॥

वैराग्यं त्रितियं सुद्धं, संसारे तजंति तृनं ।

भूषण रयनत्तयं सुद्धं, ध्यानारूढ स्वात्म दर्सनं ॥ ४५५ ॥

अन्वयार्थ- (रत्नत्रयं सुद्ध संपूर्णं) जो साधु शुद्ध रत्नत्रय से परिपूर्ण हैं (संपूर्ण ध्यानारूढयं) परिपूर्ण ध्यान में आरूढ हैं (रिजु विपुलं च उत्पादंते) उनके रिजुमति अथवा विपुलमति मनः पर्यय ज्ञान प्रगट हो जाता है (मनपर्जय न्यानं ध्रुवं) इनमें विपुलमति मनः पर्यय ज्ञान शाश्वत होता है।

(वैराग्यं त्रितियं सुद्धं) जिन साधुओं को संसार, शरीर, भोग तीनों से पूर्ण वैराग्य हो गया, जिन्होंने (संसारं तजंति तृणं) संसार का मोह तृण के समान जानकर छोड़ दिया है (भूषण रयनत्तयं सुद्धं) शुद्ध रत्नत्रय ही जिनके आभूषण हैं (ध्यानारूढ स्वात्म दर्शनं) ऐसे साधु ध्यान में आरूढ़ रहते हुए अपने आत्मा का अनुभव करते हैं।

विशेषार्थ- सम्यक्दर्शन से रहित बाह्य आचरण रूप जो मुनिव्रत साधुपद धारण करते हैं ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवों के बहुधा अशुभ उपयोग रहता है, कदाचित् किसी के मन्द कषाय से शुभोपयोग भी हो तो सम्यक्त्व के बिना निरतिशय पुण्य बंध का कारण होता है, जो किंचित् सांसारिक (इन्द्रिय जनित) देवगति की सुख संपदा का नाटक दिखाकर अंत में फिर अधोगति का पात्र बना देता है, ऐसा निरतिशय पुण्य मोक्षमार्ग में सहकारी नहीं होता।

जिस जीव के काललब्धि की निकटता से तत्त्व विचार पूर्वक आत्मानुभव या सम्यक्दर्शन हो जाता है, उसी के सातिशय पुण्य बंध का कारण सच्चा शुभोपयोग होता है। इस सम्यक्त्व सहित शुभोपयोग के अभ्यंतर ही दही में मक्खन की तरह शुद्धोपयोग की छटा झलकती है। ज्यों-ज्यों संयम बढ़ता जाता है त्यों-त्यों उपयोग निर्मल होता जाता है अर्थात् शुद्धोपयोग की मात्रा बढ़ती जाती है। यह शुद्धोपयोग का अंकुर चौथे गुणस्थान से शुभोपयोग की छाया में अव्यक्त बढ़ता हुआ सातवें गुणस्थान में व्यक्त हो जाता है। यहां पर अव्यक्त मंद कषायों के उदय से किंचित् मलिन होने पर भी यद्यपि इसे द्रव्यानुयोग की अपेक्षा शुद्धोपयोग कहा है क्योंकि छद्मस्थ के अनुभव में उस मलिनता का भान नहीं होता तथापि यथार्थ में दसवें गुणस्थान के अनन्तर ही कषायों के उदय के सर्वथा अभाव होने से यथाख्यात चारित्र रूप सच्चा शुद्धोपयोग होता है।

यह स्पष्ट ही है कि अशुभोपयोग पाप बंध का कारण, शुभोपयोग पुण्य बंध का कारण और शुद्धोपयोग बंध रहित (संवर पूर्वक) निर्जरा एवं मोक्ष का कारण है। इस शुद्धोपयोग की पूर्णता निर्ग्रन्थ साधु पद धारण करने से ही होती है; इसलिये मुनिव्रत मोक्ष का असाधारण कारण है। जिस प्रकार श्रावक को बारह व्रत निर्दोष पालने से उसके कर्तव्य की पूर्णता होती है, उसी प्रकार मुनि को पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति रूप तेरह प्रकार का चारित्र निर्दोष पालन करने से साधु के कर्तव्य की सिद्धि अर्थात् शुद्धोपयोग की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार तेरह प्रकार के चारित्र में से यथार्थ में तीन गुप्ति का पालन करना साधु का मुख्य कर्तव्य है, यह गुप्ति ही मोक्ष की दाता, मोक्ष स्वरूप है। जब तक इनकी पूर्णता न हो, तब तक निष्कर्म अवस्था

प्राप्त नहीं होती। इस प्रकार साधु का सकल संयम यथाख्यात चारित्र अर्थात् रत्नत्रय की पूर्णता को प्राप्त कराता है। यद्यपि अष्टकर्मों की नाशक रत्नत्रय की एकता एकदेश श्रावक को भी होती है तथापि पूर्णता मुनि अवस्था में ही होती है। यह रत्नत्रय की पूर्णता मोक्ष की कारण मोक्ष स्वरूप है, संसार परिभ्रमण की नाशक है।

जो जीव मोक्ष को प्राप्त हुए, वर्तमान में हो रहे हैं अथवा आगामी काल में होवेंगे यह सब इसी सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की एकता का महात्म्य है। रत्नत्रय ही आत्मा का स्वभाव है, यही तीन लोक में पूज्य है। रत्नत्रय की एकता के बिना कोटि यत्न करने पर भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। जितना कुछ क्रिया आचरण है वह सब इसी रत्नत्रय के सहकारी होने से धर्म कहलाता है। यह रत्नत्रय की एकता ही अद्भुत रसायन है जो जीव को अजर-अमर परमात्मा बना देती है। इस पूज्य रत्नत्रय की एकता को हमारा बारम्बार नमस्कार है और यह हमारे हृदय में सदा विकासमान रहे ऐसी पवित्र भावना सहित साधु ध्यान में आरूढ़ रहते हैं, जिससे रिजुमति और विपुलमति मनः पर्यय ज्ञान प्रगट हो जाता है जो केवलज्ञान को उत्पन्न करता है। विपुलमति मनः पर्यय ज्ञान तद्भव मोक्षगामी जीव को ही होता है, यह दूसरे के मन में तिष्ठे हुए वर्तमान काल के, भूत व भविष्य काल के पदार्थों को भी जान सकता है। संसार असार है, दुःखों का घर है, जन्म-जरा, रोग से पीड़ित है। शरीर अशुचि है, नाशवान है। भोग, रोग के समान आताप को बढ़ाने वाले हैं इस प्रकार समझकर संसार, शरीर, भोगों से जो पूर्ण वैराग्यवान हुए, जिन्होंने संसार को तृण के समान जानकर छोड़ दिया, शुद्ध रत्नत्रय को आत्मा का आभूषण बनाया और अपने आत्मा के दर्शन ज्ञान ध्यान में लीन रहते हैं वही सच्चे साधु हैं, जो संसार से पार होकर अरिहन्त और सिद्ध पद को प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार शुद्ध रत्नत्रय से परिपूर्ण साधु अनंत चतुष्टयमयी केवलज्ञान प्रगट करने की भावना के साथ श्रेणी का आरोहण करते हैं उन्हें आठवें गुणस्थान से चौथी अरिहन्त पदवी प्रगट हो जाती है, इसी बात को आगे कहते हैं-

केवलं भावनं कृत्वा, पदवी अर्हन्त सार्धयं।

चरनं सुद्ध समयं च, नंत चतुष्टय संजुतं ॥ ४५६ ॥

साधओ साधु लोकेन, तव व्रत क्रिया संजुतं।

साधओ सुद्ध ध्यानस्य, साधओ मुक्ति गामिनो ॥ ४५७ ॥

अन्वयार्थ- (केवलं भावनं कृत्वा) साधु केवलज्ञान प्राप्ति की भावना भाते हैं

(पदवी अर्हन्त सार्धयं) चौथी अरिहन्त पदवी की साधना करते हैं अर्थात् आठवें गुणस्थान से श्रेणी का आरोहण करते हैं (चरनं सुद्ध समयं च) शुद्धात्म स्वरूप में आचरण करते हैं (नंत चतुष्टय संजुतं) अनन्त चतुष्टय स्वरूप आत्मा में लीन रहते हैं।

(साधओ साधु लोकेन) ऐसे साधु ही जगत पूज्य होते हैं जो शुद्धात्मा की साधना करते हैं और (तव व्रत क्रिया संजुतं) तप व्रत क्रिया सहित (साधओ सुद्ध ध्यानस्य) शुक्ल ध्यान की साधना करते हैं (साधओ मुक्ति गामिनो) वही साधु मोक्षगामी हैं।

विशेषार्थ- शुद्ध रत्नत्रय से परिपूर्ण साधु अनन्त चतुष्टयमयी केवलज्ञान स्वरूप की भावना और साधना करते हैं, श्रेणी का आरोहण कर शुक्ल ध्यान रूप होते हैं, यही साधक की चौथी अरिहन्त पदवी है। व्रत, तप, क्रिया से संयुक्त साधु ही जगत पूज्य होते हैं ऐसे साधु ही मोक्षगामी होते हैं।

शुक्ल ध्यान- शुक्ल ध्यान क्रिया रहित, इन्द्रियों से अतीत, ध्यान की धारणा से रहित अर्थात् मैं ध्यान करूँ या ध्यान कर रहा हूँ ऐसे विकल्प से रहित होता है, जिसमें चित्त वृत्ति अपने स्वरूप के सन्मुख होती है। इसके चार भेद हैं, उनमें प्रथम पाया तीन शुभ संहननों में और शेष तीन पाये वज्रऋषभ नाराच संहनन में ही होते हैं। आदि के दो भेद तो अंग पूर्व के पाठी छद्मस्थों के तथा शेष दो केवलियों के होते हैं। यह चारों शुद्धोपयोग रूप हैं-

१. पृथक्त्व वितर्क वीचार- यह ध्यान श्रुत के आधार से वितर्क सहित होता है। मन, वचन, काय तीनों योगों में बदलता रहता है, अलग-अलग ध्येय भी श्रुतज्ञान के आश्रय बदलते रहते हैं अर्थात् एक द्रव्य, गुण, पर्याय से दूसरे द्रव्य, गुण, पर्याय पर चला जाता है। यह आठवें गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है। इसके फल से मोहनीय कर्म शांत होकर एकत्व वितर्क ध्यान की योग्यता होती है।

२. एकत्व वितर्क वीचार- यह ध्यान भी श्रुत के आधार से होता है। तीनों योगों में से किसी एक योग द्वारा चिंतवन होता है, इसमें श्रुत ज्ञान बदलता नहीं अर्थात् एक द्रव्य, एक गुण या एक पर्याय का, एक योग द्वारा चिंतवन होता है। यह ध्यान बारहवें गुणस्थान में होता है। इससे घातिया कर्मों का अभाव होकर अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य की प्राप्ति होती है।

३. सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति- यह ध्यान तेरहवें गुणस्थान के अंत में होता

है। इसमें उपयोग की क्रिया नहीं है; क्योंकि यहां क्षयोपशम ज्ञान नहीं रहा, श्रुत के आश्रय की आवश्यकता नहीं रही कारण कि केवलज्ञान हो गया है। ध्यान का फल जो उपयोग की स्थिरता है वह भी हो चुकी है। यहां वचन, मन योग और बादर काय योग का निरोध होकर सूक्ष्म काय योग का अवलंबन होता है, अंत में काय योग का भी अभाव हो जाता है; अतएव इस कार्य के होने की अपेक्षा उपचार रूप से यहां सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति ध्यान कहा है।

४. व्युपरत क्रिया निवृत्ति- इसमें श्वासोच्छ्वास की भी क्रिया नहीं रहती, यह चौदहवें गुणस्थान में योगों के अभाव की अपेक्षा कहा गया है।

इस प्रकार साधु पूर्ण शुद्ध मुक्त अरिहन्त, सिद्ध पद प्रगट कर जन्म-मरण से रहित परमानन्दमयी परमात्मा पूर्ण मुक्त हो जाता है।

साधु पद से श्रेणी माड़कर शुक्ल ध्यान द्वारा घातिया कर्मों का अभाव होकर अनन्त चतुष्टयमयी केवलज्ञान स्वरूप अरिहन्त सर्वज्ञ पद प्रगट होता है, इसी बात को आगे कहते हैं-

अर्हन्तं अरहो देवं, सर्वन्यं केवलं ध्रुवं ।

अनंतानंत दिस्टं च, केवलं दर्शन दर्शनं ॥ ४५८ ॥

अन्वयार्थ- (अर्हन्तं अरहो देवं) अरिहन्त ही सच्चे देव हैं (सर्वन्यं केवलं ध्रुवं) जो सर्वज्ञ हैं, केवलज्ञानी हैं, शाश्वत हैं (अनंतानंत दिस्टं च) लोकालोक के सर्व पदार्थों को देखने जानने वाले हैं (केवलं दर्शन दर्शनं) जहां केवलदर्शन ही दर्शन मात्र है।

विशेषार्थ- साधु जिस पद की भावना भाते हैं वह शरीर सहित जीवन्मुक्त परमात्मा का पद अरिहन्त पद है, अरिहन्त ही सच्चे देव हैं जो सर्वज्ञ, केवलज्ञानी, वीतरागी, हितोपदेशी होते हैं। जिनके दर्शन ज्ञान में तीन लोक, तीन काल के समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायें एक समय में एक साथ झलकती हैं। जिनकी तीन लोक और सौ इन्द्र वन्दना, पूजा, भक्ति करते हैं। जिनके अनन्त चतुष्टय प्रगट हो गया है, जिनकी दिव्य ध्वनि में धर्म का सत्य स्वरूप प्रगट होता है, जो जगत के भव्य जीवों के लिये कल्याणकारी हैं। अभी चार अघातिया कर्म शेष हैं, आयु पूर्ण होने तक शरीर सहित रहते हैं, आयु पूर्ण होने पर सिद्ध परमात्मा हो जाते हैं।

सिद्ध पद ही शाश्वत अविनाशी ध्रुव पद है, जहां से पुनः संसार में आवागमन

नहीं होता, पूर्ण मुक्त शुद्ध सिद्ध परमात्मा ही सच्चे देव हैं, इसी बात को आगे कहते हैं—
सिद्धं सिद्धि संजुक्तं, अस्तु गुणं च संजुतं ।

अनाहतं विक्त रूपेण, सिद्धं सास्वतं ध्रुवं ॥ ४५९ ॥

अन्वयार्थ- (सिद्धं सिद्धि संजुक्तं) सिद्ध भगवान् आत्मा की सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं (अस्तु गुणं च संजुतं) और आठ गुणों से विभूषित हैं (अनाहतं विक्त रूपेण) अनाहत, अव्याबाध स्वरूप प्रगट हो गया (सिद्धं सास्वतं ध्रुवं) वे सिद्ध परमात्मा शाश्वत ध्रुव हैं ।

विशेषार्थ- जो जीव आठों कर्मों से रहित अशरीरी पूर्ण शुद्ध मुक्त हो जाते हैं वे सिद्ध परमात्मा होते हैं जो शाश्वत पद है । चतुर्थ शुक्ल ध्यान के पूर्ण होते ही आत्मा चारों अघातिया कर्मों का अभाव करके ऊर्ध्व गमन स्वभाव के कारण एक ही समय में लोक के अग्र भाग अर्थात् अंत में जाकर सुस्थिर, सुप्रसिद्ध, सिद्ध, निकल परमात्मा हो जाता है । इसके एक-एक गुण की मुख्यता से परब्रह्म, परमेश्वर, मुक्तात्मा, स्वयं भू आदि अनंत नाम हैं । इस शुद्धात्मा का आकार चरम (अंतिम) शरीर से किंचित् न्यून पुरुषाकार रहता है । इस निष्कर्म आत्मा के ज्ञानावरणीय कर्म के अभाव से अनन्तज्ञान और दर्शनावरणीय कर्म के अभाव से अनन्त दर्शन की प्राप्ति होती है । अन्तराय कर्म के अभाव से ऐसी अनन्त वीर्य शक्ति उत्पन्न होती है जिससे खेद रहित परमानन्द मय रहता है । मोहनीय कर्म के अभाव होने से क्षायिक सम्यक्त्व प्रगट हो जाता है । आयु कर्म के अभाव से अवगाहनत्व गुण उत्पन्न होता है जिससे इस मुक्त आत्मा के अनन्त काल स्थायीपने की शक्ति प्रगट हो जाती है । गोत्र कर्म के अभाव से अगुरुलघुत्व गुण उत्पन्न होता है जिससे सिद्ध परमात्मा हल्के-भारीपन से रहित हो जाते हैं । नामकर्म के अभाव से शरीर रहितपना अर्थात् सूक्ष्मत्व गुण की प्राप्ति होती है तथा वेदनीय कर्म के अभाव से अव्याबाधत्व गुण उत्पन्न हो जाता है ।

इस प्रकार मुक्त जीव यद्यपि व्यवहार नय की अपेक्षा अष्ट कर्मों के अभाव से अष्ट गुणमय कहा जाता है तथापि निश्चय नय से एक शुद्ध चैतन्य घन पिंड है । यह संसारी आत्मा पुरुषार्थ करके इस प्रकार निष्कर्म परमात्मा, परमेश्वर्य अवस्था को प्राप्त हो सदा स्वाभाविक शांति रस पूर्ण स्वाधीन आनन्द मय, सदा के लिये अजर-अमर हो जाता है, फिर जन्म-मरण नहीं करता । यह शुद्धात्मा सकल संयम (मुनिव्रत) के धारण करने के फलस्वरूप निज गुणों के अति विकास रूप पूर्ण शुद्ध रूप सिद्ध परमात्मा हो जाता है ।

सद्गुरु श्रीमद् जिन तारण स्वामी यहां यही भावना करते हैं कि हे जगत के भव्य जीवो ! शुद्ध सम्यक्त्व को धारण कर पंच परमेष्ठी पद की साधना करो इसी में इस जीवन की सार्थकता है—

परमिस्टी साधनं कृत्वा, सुद्ध संमिक्त धारणा ।

ते नरा कर्म षिपनं च, मुक्ति गामी न संसयः ॥ ४६० ॥

त्रिविध ग्रंथं प्रोक्तं च, सार्धं न्यान मयं ध्रुवं ।

धर्मार्थ काम मोष्यं च, प्राप्तं परमेस्टी नमः ॥ ४६१ ॥

अन्वयार्थ- (परमिस्टी साधनं कृत्वा) जो पंच परम इष्ट पद की साधना करते हैं (सुद्ध संमिक्त धारणा) शुद्ध सम्यक्त्व के धारी हैं (ते नरा कर्म षिपनं च) वे मनुष्य कर्मों का क्षय करके (मुक्ति गामी न संसयः) मोक्षगामी होते हैं इसमें कोई संशय नहीं है ।

(त्रिविध ग्रंथं प्रोक्तं च) तीन प्रकार के पात्रों का इस ग्रंथ में स्वरूप कहा गया है— उत्तम, मध्यम, जघन्य (सार्धं न्यान मयं ध्रुवं) जो अपने ज्ञानमयी ध्रुव स्वभाव की श्रद्धा और साधना करते हैं (धर्मार्थ काम मोष्यं च) इससे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं और (प्राप्तं परमेस्टी नमः) शाश्वत परमेष्ठी सिद्ध पद प्राप्त होता है जिसे सभी भव्य जीव नमन करते हैं ।

विशेषार्थ- मोक्ष प्राप्ति का मूल साधन— ‘सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः’ है । भेदज्ञान पूर्वक शरीरादि से भिन्न जो जीव अपने शुद्धात्म स्वरूप की अनुभूति करते हैं वे शुद्ध सम्यक्दृष्टि हैं तथा वस्तु स्वरूप का ज्ञान करके जो आत्म स्वरूप की साधना के लिये समस्त पाप-परिग्रह, विषय-कषाय का त्याग करके साधु पद धारण कर परमेष्ठी पद और आत्म ध्यान की साधना करते हैं उनके सम्पूर्ण कर्म क्षय हो जाते हैं वे निश्चय मोक्षगामी होते हैं इसमें कोई संशय नहीं है ।

यह संसारी आत्मा अनादिकाल से अपने स्वरूप को भूला पुद्गलों को ही अपना स्वरूप मानकर बहिरात्मा हो रहा है । जब काललब्धि तथा योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का संयोग पाकर इसे अपना तथा पर का भेदविज्ञान होकर सम्यक्त्व रूप आत्म स्वभाव का दृढ विश्वास, आत्मानुभूति होती है तब वह अन्तरात्मा होकर, पर पदार्थों से उपयोग हटाकर निजात्म स्वरूप में स्थित होने की उत्कट इच्छा रूप स्वरूपाचरण चारित्र का आरम्भी तथा स्वात्मानुभवी हो जाता है पश्चात्

बारह व्रत रूप देश चारित्र अंगीकार कर एकदेश आरम्भ परिग्रह का त्यागी अणुव्रती होता है, जिसके फल से इसका उपयोग अपने स्वरूप में किंचित् स्थिर होने लगता है पुनः मुनिव्रत धारण कर तेरह विधि चारित्र रूप सकल संयम पालन करने से सर्वथा आरम्भ परिग्रह का त्यागी हो जाता है जिससे आत्मा का उपयोग पूर्ण रूप से निज स्वरूप में लीन होकर सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की एकता पूर्वक ध्यान, ध्याता, ध्येय, ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय के भेद रहित हो जाता है, यही स्वरूपाचरण चारित्र की पूर्णता है। आत्मा इसी अद्भुत रसायन के बल से निर्बन्ध अवस्था को प्राप्त होकर उस वचनातीत आत्मीक स्वाधीन सुख को प्राप्त करता है, जो इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती को भी दुर्लभ है; क्योंकि इन इन्द्रादिकों का सुख लोक में सर्वोपरि प्रसिद्ध होते हुए भी आकुलतामय, परिमित तथा पराधीन है और सिद्ध अवस्था का सुख निराकुलित, स्वाधीन तथा अनन्त काल तक रहने वाला स्थायी है। धन्य हैं वे महान पुरुष जिन्होंने इस मनुष्य पर्याय को पाकर जन्म-मरण रोग का नाश कर सदा के लिये अजर-अमर, अविनाशी मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त किया। ऐसे सम्पूर्ण जगत के शिरोमणी सिद्ध परमेष्ठी जयवंत हों, मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ।

हे मोक्ष सुख के इच्छुक, संसार भ्रमण से भयभीत भव्य जीवो ! इस सुअवसर को हाथ से न गंवाओ, सांसारिक राग-द्वेष रूप अग्नि से तप्तायमान इस आत्मा को समता, शांति रसरूप अमृत से सिंचन कर अजर-अमर बनाओ, यही सच्चा पुरुषार्थ है, यही प्रयोजन और यही सर्वोत्कृष्ट इष्ट, परम इष्ट है।

कर्म बंधन के विनाश के बिना मुक्ति प्राप्त नहीं होती और कर्म बंधन का विनाश कर्म बंधनों के कारणों से बचाव हुए बिना नहीं होता, इसीलिये मुक्ति के लिये कठोर मार्ग अपनाना होता है। व्रत, तप, संयम यह सब मनुष्य के वैषयिक प्रवृत्ति को नियंत्रित करने के लिये हैं, इनके बिना आत्म साधना संभव नहीं है; जबकि आत्म साधना करने का नाम ही साधुता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि शरीर को कष्ट देने से ही मुक्ति मिलती है। सच तो यह है कि आत्मज्ञान के बिना बाह्य साधनों की कोई उपयोगिता नहीं है, आत्म रति होने पर शारीरिक कष्ट का अनुभव ही नहीं होता।

हम जो मानव प्राणी हैं, जिन्होंने मनुष्य जाति में जन्म लिया है और अपनी आयु पूरी करके अवश्य ही बिदा हो जायेंगे, क्या हम जड़ से भी गये गुजरे हैं ? हमारा जड़ शरीर तो आग में राख होकर यहीं वर्तमान रहेगा और उस जड़ शरीर में रहने वाला चैतन्य क्या शून्य में विलीन हो जायेगा ? अनेक प्रकार के आविष्कारों का

आविष्कर्ता, समस्त जड़ तत्वों को गति प्रदान करने वाला, सूक्ष्म से सूक्ष्म विचार का प्रवर्तक क्या इतना तुच्छ है ? कभी इस पर विचार किया ?

यह गर्भ द्वारा आने वाला और यहां आकर अपने बुद्धि वैभव और चातुर्य द्वारा विश्व में सनसनी पैदा करने वाला, मरने के बाद क्या पुनर्जन्म लेकर हमारे मध्य में नहीं आता ? ऐसा क्या कुछ विचार किया है ? धर्म भी उसी की उपज है और वस्तुतः उसी का नाम धर्म है। उसी का श्रद्धान सम्यक्दर्शन है, उसी का ज्ञान सम्यक्ज्ञान और उसी का आचरण सम्यक्चारित्र है यही सच्चा धर्म है।

धर्म, मनुष्य समाज के लिये वरदान बनकर अमृतत्व की ओर ले जाने में समर्थ होता है। आज विश्व में जितना कष्ट और अशांति है वह इसी के अभाव से है। आज का मनुष्य अपने भारतीय चारित्र को भुलाकर विलासिता, धनलिप्सा, भोग तृष्णा के चक्र में पड़कर क्या नहीं करता ? और धर्म से विमुख होकर धर्म की हंसी उड़ाता है, धर्म को ढकोसला बतलाता है। क्यों न बतलाये ? जब वह धर्म का बाना धारण करने वालों को भी अपने ही समकक्ष पाता है तो उसकी आस्था धर्म से डिगना स्वाभाविक है, इसमें किसका दोष है ? दोष है धर्म का यथार्थ रूप दृष्टि से ओझल हो जाने का। जब धर्म भी वही रूप धारण कर लेता है जो धन का है, तब धन और धर्म में गठबन्धन हो जाने से धन, धर्म को ही आच्छादित कर देता है। आज धर्म भी धन का दास बन गया है। धर्म का कार्य आज धन के बिना नहीं चलता फलतः धर्म पर आस्था हो तो कैसे हो ? धन-भोग का प्रतिरूप है और धर्म-त्याग का प्रतिरूप है; अतः दोनों में तीन और छह जैसा सम्बन्ध है इस तथ्य को हृदयंगम करना आवश्यक है।

जैन धर्म के उपदेष्टा या प्रवर्तक सभी तीर्थंकर संसारी त्यागी तपस्वी महात्मा हैं, उनके द्वारा धर्म के दो मुख्य भेद प्रकाश में आते हैं- मुनिधर्म और श्रावक धर्म। मुनिधर्म ही उत्सर्ग धर्म माना गया है, मुनिधर्म के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। जो मुनिधर्म धारण करने में असमर्थ होते हैं वह श्रावक धर्म अंगीकार करते हैं, इसी उद्देश्य को लेकर यह श्रावकाचार ग्रंथ कहा गया है-

परमानंद आनंदं, जिन उक्तं सास्वतं पदं।

एकोदेस उवदेसं च, जिन तारण मुक्ति पंथं श्रुतं॥ ४६२॥

अन्वयार्थ- (परमानंद आनंदं) आनन्द ही आनन्द परमानन्दमयी (जिन उक्तं सास्वतं पदं) जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित शाश्वत सिद्ध पद है (एकोदेस उवदेसं च)

सम्पूर्ण उपदेश का एक ही उद्देश्य है कि (जिन तारण मुक्ति पंथं श्रुतं) यह अंतरात्मा [जिन तारण] जिनागम के अनुसार मुक्ति मार्ग पर चले।

विशेषार्थ- वीतराग, सर्वज्ञ, हितोपदेशी जिनेन्द्र परमात्मा द्वारा कथित प्रत्येक जीव आत्मा का अपना शाश्वत सिद्ध पद आनन्द परमानन्दमयी है। उसको प्राप्त करने के लिये ही बहिरात्मपने को छोड़कर अंतरात्मा बनकर परमात्म पद प्रगट किया जाता है। इसी उद्देश्य को लेकर यह श्रावकाचार का कथन किया है। इसका भी मुख्य उद्देश्य यह है कि मुक्ति के मार्ग पर चलकर जिन तारण को सिद्ध परम पद की प्राप्ति हो।

ग्रंथ के कहने का उद्देश्य यही है कि भव्य जीवों को सिद्ध पद की प्राप्ति हो। जिनेन्द्र भगवान द्वारा उपदिष्ट ही सत्य धर्म मार्ग है जो प्रत्येक द्रव्य और प्रत्येक जीव की स्वतंत्रता का उद्घोषक है। संसार का प्रत्येक जीव आत्मा स्वभाव से सिद्ध परमात्मा के समान शुद्ध परमानन्दमयी पद वाला है। अपने ही अज्ञान से अपने स्वरूप को भूलकर मोह, मिथ्यात्व के कारण संसारी बना है। भेदज्ञान और सद्गुरु द्वारा अपने स्वरूप का बोध प्राप्त करके अपने पुरुषार्थ से सिद्ध पद प्राप्त कर सकता है। इसी सत्य मार्ग पर चलने के उद्देश्य से यह श्रावकाचार ग्रंथ की रचना की है, जो अव्रत सम्यक्दृष्टि के लिये जिनागम के अनुसार मोक्ष प्राप्ति में साधन है।

श्री जिन तारण तरण स्वामी द्वारा रचित यह श्रावकाचार ग्रंथ है, इसमें मोक्ष प्राप्ति का यथार्थ मार्ग बताया गया है। जो कोई भव्य जीव इस धर्म ग्रंथ को पढ़ेंगे, चिंतन-मनन करेंगे उनको संसार से उद्धारक मोक्षमार्ग का यथार्थ ज्ञान होगा। इस ग्रंथ में मुख्यता से श्रावक के आचार का कथन है इसी कारण इसमें अव्रत सम्यक्दृष्टि एवं एकदेश अणुव्रती श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का विशेष रूप से कथन किया गया है। मोक्ष का पूर्ण साधक साधु मार्ग का उपदेश है उसकी इसमें गौणता है।

श्रीमद् जिन तारण तरण मण्डलाचार्य जी महाराज विरचित श्री श्रावकाचार नाम ग्रंथ की हिन्दी टीका मिती भाद्र पद कृष्ण २ विक्रम संवत् २०४७ गुरुवार, दिनांक ९-८-१९९० को पिपरिया वर्षादास में पूर्ण हुई।

ज्ञानानन्द

□ **ध्रुव तत्त्व वंदना और सम्यक्दृष्टि का विवेक** □

ध्रुव तत्त्व शुद्धातम तुमको लाखों प्रणाम [I]

ध्रुव धाम के तुम हो वासी ।
तुम हो अजर अमर अविनाशी ॥
परम ब्रह्म परमातम, तुमको लाखों प्रणाम.....
अनंत चतुष्टय के तुम धारी ।
तीन लोक से महिमा न्यारी ॥
सर्वज्ञ पूर्ण परमातम, तुमको लाखों प्रणाम.....
रत्नत्रयमयी अरस अरूपी ।
एक अखंड हो सिद्ध स्वरूपी ॥
ब्रह्मानन्द परमातम, तुमको लाखों प्रणाम.....
ज्ञानानन्द स्वभाव तुम्हारा ।
भाव क्रिया पर्याय से न्यारा ॥
चिदानन्द ध्रुव आतम, तुमको लाखों प्रणाम.....
अशरीरी अविकार निरंजन ।
सब कर्मों से भिन्न भव भंजन ॥
सहजानन्द शुद्धातम, तुमको लाखों प्रणाम.....

सम्यक्दृष्टि ज्ञानी निरंतर निर्विकल्प अनुभव में नहीं रह सकते इसलिये उन्हें भी भक्ति आदि का राग आता है। ज्ञानी को हेय-उपादेय, इष्ट-अनिष्ट का विवेक वर्तता है तथा जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य होता है। कारण अपना शुद्धात्म स्वरूप है, उसका ही लक्ष्य उसी की आराधना, स्तुति की जा रही है, तो कार्य भी शुद्धात्म स्वरूप परमात्मा होगा; यदि पर का लक्ष्य जड़ की पूजा स्तुति होगी तो वह शुभ भावों की अपेक्षा पुण्य बंध का कारण हो सकती है; परंतु मूल में पर का आलंबन मिथ्यात्व और जड़ का आलंबन गृहीत मिथ्यात्व घोर संसार के कारण हैं। इस बात का विवेक सम्यक्दृष्टि ज्ञानी को होता है।

□

व्रत परिचय

व्रत

पापों के त्याग को व्रत कहते हैं।

अणुव्रत			महाव्रत		
पाँच अणुव्रत	तीन गुणव्रत	चार शिक्षाव्रत	पाँच महाव्रत	पाँच समिति	तीन गुप्ति
अहिंसाणुव्रत	दिग्व्रत	सामायिक	अहिंसा महाव्रत	ईर्या समिति	मन गुप्ति
सत्याणुव्रत	देशव्रत	प्राषधोपवास	सत्य महाव्रत	भाषा समिति	वचन गुप्ति
अचौर्याणुव्रत	अनर्थदण्ड व्रत	भोगोपभोग परिमाण	अचौर्य महाव्रत	ऐषणा समिति	काय गुप्ति
ब्रह्मचर्याणुव्रत		अतिथि संविभाग	ब्रह्मचर्य महाव्रत	आदान निक्षेपण समिति	
परिग्रह प्रमाण अणुव्रत			अपरिग्रह महाव्रत	प्रतिष्ठापन समिति	

- पापों का एकदेश (आंशिक , निष्प्रयोजनीय पापों का)त्याग अणुव्रत कहलाता है।
- जो अणुव्रतों में गुणाकार रूप से वृद्धि करें उन्हें गुणव्रत कहते हैं।
- जो साधु पद की शिक्षा दें उन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं।
- चतुर्थ गुणस्थानवर्ती श्रावक अव्रती और पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक देशव्रती होता है।
- आत्म श्रद्धान पूर्वक संयम तप व्रतादि का पालन करना, निश्चय-व्यवहार से समन्वित मोक्षमार्ग पर चलना, आत्म कल्याण के लक्ष्य पूर्वक धर्म की साधना आराधना करना ही अपने लिये कल्याण कारी है।

- पापों का सर्वदेश पूर्णतः त्याग करने को महाव्रत कहते हैं।
- सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति करते हुए जीवों की रक्षा करना समिति है।
- निश्चय से अपने स्वरूप में गमन परिणमन करना समिति है।
- जिसके बल से संसार के कारणों से आत्मा का गोपन अर्थात् रक्षा होती है वह है। अपने आत्म स्वरूप में गुप्त रहना ही गुप्ति है।
- छठवें गुणस्थान तथा उससे ऊपर सभी महाव्रती साधु होते हैं।
- इन्द्रियों में रसना, कर्मा में मोहनीय कर्म, व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत और गुप्तियों में मन गुप्तियह चारों ही बड़े पुरुषार्थ से सिद्ध होते हैं। इन्द्रिय और कषायों को जीतने वाला ही सच्चावीर पुरुष होता है।

हिंसानृतस्तेयाब्रह्म परिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् - हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह से विरत होना ही व्रत है।

पदवी सतक्षरी

तारण पंथ अर्थात् मोक्ष मार्ग की आध्यात्मिक साधना पद्धति का विधान

क्र. पदवी	ज्ञान	आचार	सम्यक्त्व	रंज	रमण	नन्द
१. उपाध्याय पदवी (उपादेय)	मति ज्ञान	दर्शनाचार	आज्ञा सम्यक्त्व	उत्पन्न रंज	भय शिपक रमण	नन्द
२. आचार्य पदवी	श्रुत ज्ञान	ज्ञानाचार	वेदक सम्यक्त्व	हितकार रंज	अमिय रमण	आनन्द
३. साधु पदवी	अवधि ज्ञान	वीर्याचार	उपशम सम्यक्त्व	सहकार रंज	वैदिप्ति रमण	चिदानन्द
४. अरिहन्त पदवी	मनः पर्यय ज्ञान	तपाचार	क्षायिक सम्यक्त्व	विन्यान रंज	जिन रमण	सहजानन्द
५. सिद्ध पदवी	केवल ज्ञान	चारित्राचार	शुद्ध सम्यक्त्व	जिन जिनय रंज	जिननाथ रमण	परमानन्द

विशेष - श्री गुरु तारण तरण मंडलाचार्य जी महाराज द्वारा विरचित श्री भय शिपनिक ममलपाहुड़ जी ग्रंथ के ६७ वें पदवी फूलना के आधार पर यह पदवी सतक्षरी प्रस्तुत की गई है। श्री ठिकानेसार में भी इसका उल्लेख है। यह तारण पंथ अर्थात् मोक्ष मार्ग की आध्यात्मिक साधना पद्धति का विधान है, जो श्री गुरु तारण स्वामी ने दिया है। यहां विशेष बात यह है कि अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु यह पांच पद परम इस्ट हैं। यह देव के गुण पांच पद हैं जो पूज्यता की अपेक्षा हैं तथा यह उपरोक्त पांच पदवी साधना की अपेक्षा से हैं। श्री गुरुदेव स्वयं आत्म साधक थे, उन्होंने इस पदवी सतक्षरी के अनुसार आध्यात्मिक आत्म साधना का वर्णन श्री ममलपाहुड़ ग्रंथ के अनेक फूलनाओं में तथा श्री श्रावकाचार जी, श्री ज्ञानसमुच्चयसार जी ग्रंथ में विशेष रूप से किया है, जो सुधीजनों द्वारा चिंतन-मनन योग्य विषय है। यह अपूर्व साधना पद्धति है जो हमें अपने आत्म कल्याण के मार्ग में दृढ़ करते हुए सिद्धि और मुक्ति को प्राप्त करने में साधन है। इसकी विशेष शोध-खोज हमें अपने मार्ग का बोध कराने के साथ-साथ सभी अर्थों में हितकारी होगी।

व्रतों का धारण, समितियों का पालन, कषायों का निग्रह, मन वचन काय की प्रवृत्ति का त्याग और पांचों इन्द्रियों पर विजय करना इसे संयम कहते हैं। सम्यक्चरित्र ही वस्तुतः धर्म है, यही मोक्ष महल में प्रवेश करने के लिये द्वार है। सम्यक्दर्शन ज्ञान सहित जो सम भाव होता है वह चारित्र है। सम्यक्चारित्र छाया वृक्ष तुल्य है, जो संसार रूपी मार्ग में भ्रमण करने से उत्पन्न हुई थकान को दूर करता है।

क्षणभंगुर संयोग के लक्ष्य से होने वाले परिणाम क्षण में पलट जाते हैं, क्षय हो जाते हैं, विला जाते हैं; परंतु जब शाश्वत आत्मा का लक्ष्य करें तब परिणाम शुद्ध होते हैं और यह शुद्ध परिणाम शुद्ध रूप से शाश्वत बने रहते हैं। आनंद स्वरूप भगवान आत्मा का अद्विभुत आश्चर्यकारी और गहन स्वभाव है। इस स्वभाव का लक्ष्य करना और इस मय ही रहना मुक्ति का मार्ग है।

साधक की स्थिति

परमात्म तत्व की ओर दृष्टि होते ही जीव आत्मा, कर्म प्रकृति से विमुख हो जाता है ; अर्थात् उसके पौद्गलिक जगत और कर्म प्रकृति के साथ माने हुए संबंध का विच्छेद हो जाता है और तब वह अपने परमात्म स्वरूप में अपनी वास्तविक अभिन्न स्थिति का अनुभव करता है।

जिस प्रकार खेत में बोये हुए बीजों के अनुरूप उनके फल समय पर प्रगट होते हैं वैसे ही इस मानव शरीर से अहंकार पूर्वक किये हुए कर्मों के संस्कार रूप बीजों के फल अन्य शरीरों में अथवा इसी शरीर में समय पर प्रगट होते हैं। शरीर, कर्म प्रकृति का कार्य है वह यहां प्राप्त होता है और यहीं नष्ट हो जाता है, जबकि जीव आत्मा, स्वयं इस जन्म से पहले भी था तथा जन्म-जन्मान्तर में भी ज्यों का त्यों रहता है।

शरीर आदि से अपने को पृथक् जान लेने पर शरीर आदि का कोई नाश नहीं होता एवं जानने वाले को कोई हानि नहीं होती क्योंकि दोनों पहले से ही पृथक्-पृथक् हैं। नाश होता है मात्र अज्ञान का, वस्तु स्थिति ज्यों की त्यों रहती है। ज्ञान केवल अज्ञान का विरोधी है न कि क्रिया के अनुष्ठान का। अज्ञान मिथ्यात्व के कारण शरीरादि के साथ एकता करके जीव दुःखों को भोग रहा था। ज्ञान हो जाने से अज्ञान के कार्य रूप संपूर्ण दुःख मिट जाते हैं, कर्मों के बंधन छूट जाते हैं। सम्यक्दृष्टि ज्ञानी हो जाने से संपूर्ण दुःख रूप कर्मों का अभाव होने लगता है, कोई शारीरिक और व्यवहारिक क्रियाओं का अभाव नहीं होता।

मनुष्य शरीर आत्म कल्याण करने, परमात्म तत्व की प्राप्ति के लिये मिला है। इस जन्म से पहले के जन्मों में मैंने जो शुभ-अशुभ कर्म किये थे, उन्हीं का फल अब भोगना पड़ रहा है और अभी जो शुभ-अशुभ कर्म कर रहा हूँ उसे भोगने के लिये इस शरीर का नाश होने के पश्चात् भी मेरी सत्ता रहेगी अर्थात् मैं स्वर्गादि चार गति चौरासी लाख योनियों में कहीं न कहीं रहूंगा और इन कर्मों के फलों को भोगना पड़ेगा, ऐसा जानकर ज्ञानी इन कर्म फलों से छूटता है।

यह नियम है कि प्रकृति के जिस कार्य, दृश्य वर्ग में राग होता है उसके विपरीत या विरोधी पदार्थों से द्वेष उत्पन्न हो जाता है। वैसे ही चैतन्य चिन्मय स्वरूप होने से जितने अंश में आत्मा का पर्याय, संसार में राग होता है, उतना ही कर्म बंध होता है तथा उतने ही अंश में वह अपने चिन्मय स्वरूप से विमुख रहता है ; अतः द्वेष के सर्वथा अभाव के लिये संसार में कहीं भी राग नहीं करना चाहिये, जिसके राग-द्वेष का पूर्ण अभाव हो जाता है वही वीतरागी परमात्मा

होता है। कर्म बंधनों से सर्वथा मुक्त होना हो तो एक ही उद्देश्य हो- तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति करना और इसके लिये सांसारिक संग्रह में भोग बुद्धि, सुख बुद्धि और रस बुद्धि नहीं होना तथा निषिद्ध आचरण, पाप, अन्याय, झूठ, कपट आदि का हृदय से त्याग कर देना तभी अपने स्वरूप में तन्मयता होती है, जिससे समस्त कर्म बंध क्षय होते हैं।

उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का होना भी जिस ज्ञान के प्रकाश में प्रकाशित होते हैं वह ज्ञान नित्य निरंतर अखंड एक रस रहता है, उसी को अपना स्वरूप समझकर अभिन्न भाव से नित्य निरंतर स्थित रहना तत्त्व ज्ञान है।

परमात्म तत्व कभी बदलता नहीं है, वह अटल ध्रुव नित्य शाश्वत है। साधक का लक्ष्य यदि पल-पल बदलते हुए पर पर्याय संसार से हटकर केवल इस अटल ध्रुव तत्व पर केन्द्रित हो जाये तो उसे अविलम्ब परमात्म तत्व से अभिन्नता का बोध हो सकता है क्यों कि तत्व से तो पहले से ही अभिन्न है, केवल भूल से परिवर्तनशील और अनित्य की अर्थात् संसार की ओर अभिमुख हो वह अपने आपको चलायमान संसारी मानने लगा, ध्रुव अचल तत्व में स्वाभाविक स्थिति होने से यह भूल दूर हो सकती है।

यश प्रतिष्ठा आदि की कामना, दम्भ, हिंसा, क्रोध, कुटिलता, द्रोह, अपवित्रता, अस्थिरता, इन्द्रियों की लोलुपता, राग, अहंकार, आसक्ति, ममता, विषमता, अश्रद्धा और कुसंग आदि दोष जीवन का पतन करने वाले हैं, इनके रहते हुए विशुद्ध तत्व का ज्ञान नहीं हो सकता।

क्रिया मात्र बंध का कारण नहीं है और समस्त क्रियायें कर्मोदय जन्य कर्म प्रकृति द्वारा पुद्गल में ही हो रही हैं। इनमें जो जीव अपने को इनका कर्ता मानता है वह कर्म से बंधता है और भेदज्ञान पूर्वक जो जीव भिन्न अकर्ता रहता है वह कर्म बंध से छूटता है और जो अपने स्वभाव में लीन हो जाता है वह पूर्ण मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार जीव के अज्ञान मिथ्यात्व के कारण से कर्मादि का निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान होने होने पर कर्तापन और निमित्त-नैमित्तिक संबंध छूट जाता है तथा सम्यक्चारित्र से मुक्त हो जाता है।

वर्तमान कर्म संयोग में अनुकूल या प्रतिकूल प्राणी, पदार्थ, परिस्थिति और घटना के संयोग-वियोग में, मन में हलचल न होना ही साधक की स्थिति है।

रत्नत्रय : सिद्धान्त सूत्र

□ राग-द्वेष का अभाव होने पर हिंसादि पांचों पापों की पूर्ण निवृत्ति अर्थात् अभाव हो जाता है, पांच पापों का अभाव होना ही चारित्र है।

□ किसी जीव को करणलब्धि आदि कारण मिलने पर दर्शन मोह के उपशम, क्षयोपशम, क्षय होने पर सम्यक्दर्शन होता है तब मिथ्यात्व का अभाव होने से ज्ञान भी सम्यक्ज्ञान हो जाता है, उस समय कोई सम्यक्ज्ञानी सज्जन पुरुष राग-द्वेष का पूर्ण अभाव करने के लिये चारित्र अंगीकार करता है।

□ समस्त अन्तर-बाह्य परिग्रह से विरक्त जो अनगार अर्थात् गृह, मठ आदि नियत स्थान रहित वनखण्डादि में परम दयालु होकर निरालम्बी विचरण करते हैं ऐसे ज्ञानी मुनीश्वरों को जो चारित्र होता है वह सकल चारित्र है।

□ गृह-कुटुम्ब आदि के त्यागी, अपने शरीर से निर्ममत्व रहने वाले साधुओं को सकल चारित्र होता है। गृह, कुटुम्ब, धनादि सहित गृहस्थों को विकल चारित्र होता है।

□ इस संसार में सम्यक्दर्शन ही दुर्लभ है। सम्यक्दर्शन ही ज्ञान और चारित्र का बीज है। सम्यक्दर्शन ही उत्तम पद है, उत्कृष्ट ज्योति है, श्रेष्ठ तप है, इष्ट पदार्थों की सिद्धि है, परम मनोरथ है, अतीन्द्रिय सुख है, कल्याणों की परम्परा है। सम्यक्दर्शन के बिना सर्वज्ञान मिथ्याज्ञान, चारित्र मिथ्याचारित्र और तप बाल तप कहलाता है। शुद्ध जीव का साक्षात् अनुभव होना वही यथार्थ सम्यक्दर्शन है।

□ सम्यक्त्व के गुण और मिथ्यात्व के दोषों को जानकर, सम्यक्त्व रूपी रत्न को भाव पूर्वक धारण कर। यह सम्यक्दर्शन गुण रूपी रत्न सब रत्नों में सार है और मोक्ष रूपी मन्दिर का पहला सोपान है।

□ सम्यक्त्व सब रत्नों में महारत्न है, सब योगों में उत्तम योग है, सब ऋद्धियों में महाऋद्धि है, अधिक क्या ? सम्यक्त्व ही सब ऋद्धियों को करने

वाला है।

□ स्वर्ग लोक में उत्पन्न हुए इन्द्र और अहमिन्द्रों के भी विषय भोगों को विष के समान दाह दुःख उत्पन्न करने वाले जानकर सम्यक्दृष्टि कभी स्वप्न में भी उनकी वांछा नहीं करता है।

□ इस दुःषम काल के जो मनुष्य हैं, वे अल्पायु और अल्पबुद्धि लिये हुए हैं। इस काल में कषायों की आधीनता, विषयों की गृद्धता, बुद्धि की मन्दता, रोगों की अधिकता, ईर्ष्या की बहुलता, दरिद्रता आदि लिये ही उत्पन्न होते हैं अतः सम्यक्ज्ञान प्राप्त करके कर्म को जीतने का उद्यम करना योग्य है।

□ बाह्य शरीर इन्द्रिय आदि को ही आत्मा जानने वाला बहिरात्मा है, वह विषयों की वेदना के इलाज को ही सुख मानता है। ऐसा मानना तो मोह कर्म जनित भ्रम है। सुख तो ऐसा है जहां दुःख उत्पन्न ही न हो, उसका लक्षण निराकुलता है। विषयों के आधीन सुख मानना मिथ्या श्रद्धान है।

□ जो सम्यक्त्व होता है, वह मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव होने पर होता है। अव्रत सम्यक्दृष्टि गृहस्थ के मिथ्यात्व का अभाव हुआ है और अनन्तानुबन्धी कषाय का भी अभाव हुआ है। मिथ्यात्व के अभाव से तो सच्चा आत्म तत्व और पर तत्व का श्रद्धान प्रगट हुआ है। अनन्तानुबन्धी कषाय के अभाव से विपरीत राग भाव का अभाव हुआ है ; और ज्ञान श्रद्धान की विपरीतता के अभाव से इसलोक भय, परलोक भय, मरण भय आदि सातों भय अव्रत सम्यक्दृष्टि के नहीं हैं इसी कारण उसे अपनी आत्मा का अखण्ड अविनाशी टंकोत्कीर्ण ज्ञान दर्शन स्वभाव का श्रद्धान होता है।

□ अनादिकाल का संसारी जीव सर्वज्ञ वीतराग द्वारा प्रकाशित धर्म को नहीं जानता है। इसी कारण से इसे यह भी ज्ञान नहीं है कि मैं कौन हूँ ? मेरा स्वरूप कैसा है ? मुझे करने योग्य क्या है ? मेरा हित क्या है ? आराधने योग्य कौन है ? मृत्यु-जीवन का क्या स्वरूप है ? भक्ष्य-अभक्ष्य का क्या स्वरूप है ? मेरा कौन है ? मैं किसका हूँ ? इत्यादि विचार रहित मोहनीय कर्म कृत अंधकार से आच्छादित हो रहे हैं। उनके अज्ञान रूप अंधकार को स्याद्वाद रूप

परमागम के प्रकाश से दूर कर स्वरूप और पर रूप का ज्ञान करना ही कल्याणकारी है।

□ निज ज्ञायक स्वभाव आत्म द्रव्य के आश्रय से प्रगट एक समय की निर्मल पर्याय (सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र) को रत्नत्रय कहा है, उसके फलस्वरूप केवलज्ञान पर्याय जो ज्ञान गुण की एक समय की पर्याय है वह महारत्न है; तो ऐसी अनन्त पर्यायों का धारक ज्ञान गुण भी महारत्न है। ऐसे ज्ञान आनन्द आदि अनन्त गुणों रूप महान-महान रत्नों का धारक आत्म द्रव्य तो महान रत्नों से भरा हुआ सागर है, उसकी महिमा का क्या कहना। अहो ! ज्ञायक स्वभाव की महिमा वचनातीत है, इसकी महिमा अपार-अपार अनुभव गम्य ही है।

□ स्व-पर के विवेक से मोह का नाश किया जा सकता है। यह स्व-पर का विवेक जिनागम के द्वारा स्व-पर के लक्षणों को यथार्थतया जानकर करना चाहिये।

□ स्व-पर के यथार्थ श्रद्धान रूप तत्त्वार्थ श्रद्धान हो तब जीव सम्यक्त्वी होता है ; इसलिये स्व-पर के श्रद्धान में शुद्धात्म श्रद्धान रूप निश्चय सम्यक्त्व गर्भित है।

□ द्रव्य के यथार्थ स्वरूप का श्रद्धान सम्यक्दर्शन का कारण है और सम्यक्दृष्टि जीव नियम से पंच परावर्तन का अभाव कर सादि अनन्त अविनाशी पंचम गति अर्थात् मोक्ष सुख को प्राप्त करता है।

□ इकतीस सागर से अधिक आयु के धारक नव अनुदिश और पांच अनुत्तर ऐसे चौदह विमानों में उत्पन्न होने वाले देवों के परावर्तन अर्थात् पंच परावर्तन नहीं होता क्योंकि वे सब सम्यक्दृष्टि हैं।

□ सम्यक्दृष्टि जीव कुगतियों में नहीं जाता है यदि कदाचित् वह जाता भी है तो इसमें सम्यक्त्व का दोष नहीं इससे वह पूर्व कृत कर्म का ही क्षय करता है।

□ जो सिद्ध हो चुके हैं, भविष्य में होंगे और वर्तमान में होते हैं वे सब निश्चय से आत्म दर्शन से ही सिद्ध हुए हैं यह भ्रान्ति रहित समझो।

□ तत्त्वों की सम्यक् अर्थात् सच्ची श्रद्धा का नाम अथवा विपरीत अभिनिवेश रहित प्रयोजनभूत जीवादि पदार्थों का श्रद्धान ही सम्यक्दर्शन है।

□ अतत्त्व में तत्त्व बुद्धि, अदेव में देव बुद्धि, अधर्म में धर्म बुद्धि इत्यादि विपरीत अभिनिवेश रहित ज्ञान की ही 'सम्यक्' विशेषण से कहने योग्य अवस्था विशेष को सम्यक्दर्शन कहा जाता है।

□ भूतार्थ नय के विषयभूत- शुद्ध समयसार शब्द से वाच्य, भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म आदि समस्त पर द्रव्यों से भिन्न परम चैतन्य विलास लक्षण स्व शुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसी रुचि ही सम्यक्दर्शन है।

□ द्रव्य, गुण, पर्याय के भेद का लक्ष्य छोड़कर, अभेद स्वभाव की ओर झुकने पर, कर्ता-कर्म-क्रिया के भेद का विभाग क्षय होता है और जीव निष्क्रिय चिन्मात्र भाव को प्राप्त होता है यही सम्यक्दर्शन है।

□ अपने में ही आत्म स्वरूप का परिचय पाता है, कभी संदेह नहीं उपजता और छल-कपट रहित वैराग्य भाव रहता है यही सम्यक्दर्शन का चिन्ह (लक्षण) है।

□ वास्तव में तो सम्यक्दर्शन पर्याय ही है; किन्तु जैसा गुण है वैसी ही उसकी पर्याय प्रगट हुई है, इस प्रकार गुण पर्याय की अभिन्नता बताने के लिये कहीं-कहीं उसे सम्यक्त्व गुण भी कहा जाता है किन्तु वास्तव में सम्यक्त्व पर्याय है, गुण नहीं। जो गुण होता है वह त्रिकाल रहता है, सम्यक्त्व त्रिकाल नहीं होता किन्तु उसे जीव जब अपने सत्पुरुषार्थ से प्रगट करता है तब होता है इसलिये वह पर्याय है।

□ पहले आत्मा का आगम ज्ञान से ज्ञान स्वरूप निश्चय करके; फिर इन्द्रिय बुद्धि रूप मतिज्ञान को ज्ञानमात्र में ही मिलाकर तथा श्रुतज्ञान रूपी नयों के विकल्पों को मिटाकर श्रुतज्ञान को भी निर्विकल्प करके एक अखण्ड प्रतिभास का अनुभव करना ही सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान के नाम को प्राप्त करता है। सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान कहीं अनुभव से भिन्न नहीं हैं।

□ पर का कर्ता आत्मा नहीं, राग का भी कर्ता नहीं, राग से भिन्न ज्ञायक

मूर्ति हूँ, ऐसी अन्तर में प्रतीति करना ही सम्यक्दर्शन प्राप्त करने की विधि है। ऐसा समय मिला है जिसमें आत्मा को राग से भिन्न कर देना ही कर्तव्य है, अवसर चूकना बुद्धिमानी नहीं।

□ सम्यक्दृष्टि अपने निज स्वरूप को ज्ञाता-दृष्टा, पर द्रव्यों से भिन्न, शाश्वत और अविनाशी जानता है। पर द्रव्य को तथा रागादिक को क्षणभंगुर, अशाश्वत, अपने स्वभाव से भली-भांति भिन्न जानता है इसलिये सम्यक्दृष्टि रागी नहीं होता।

□ तीन लोक तीन काल में सम्यक्दर्शन के समान सुखदायक अन्य कुछ नहीं है। यह सम्यक्दर्शन ही समस्त धर्मों का मूल है, इस सम्यक्दर्शन के बिना सभी क्रियायें दुःख दायक हैं।

□ सम्यक्दर्शन मोक्ष रूपी महल की प्रथम सीढ़ी है। सम्यक्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र सच्चाई प्राप्त नहीं करते; हे भव्य जीवो ! ऐसे पवित्र सम्यक्दर्शन को धारण करो।

□ जिनेश्वर देव का कहा हुआ दर्शन सम्यक्दर्शन है वह गुणों में और दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनों रत्नों में सार अर्थात् उत्तम है और मोक्ष मन्दिर में चढ़ने के लिये पहली सीढ़ी है।

□ सम्यक्दर्शन की प्राप्ति के बाद संसार परिभ्रमण का न्यूनतम काल अन्तर्मुहूर्त और अधिकतम अर्द्धपुद्गल परावर्तन मात्र है। सम्यक्त्व की प्राप्ति से सम्यक्दृष्टि जीव के सांसारिक दोषों का क्रमशः अभाव और आत्म गुणों की क्रमशः प्राप्ति अर्थात् शुद्धि का क्रम प्रारम्भ हो जाता है।

□ जो प्राणी कषाय के आताप से तप्त हैं, इन्द्रिय विषय रूपी रोग से मूर्च्छित हैं और इष्ट वियोग तथा अनिष्ट संयोग से खेद-खिन्न हैं उन सबके लिये सम्यक्त्व परम हितकारी औषधि है।

□ सम्यक्दर्शन सहित जीव का नरकवास भी श्रेष्ठ है परन्तु सम्यक्दर्शन रहित जीव का स्वर्ग में रहना भी शोभा नहीं देता; क्योंकि आत्मभान बिना स्वर्ग में भी वह दुःखी है, जहां आत्मज्ञान है वहीं सच्चा सुख है।

□ जिस प्रकार समुद्र में डूबा हुआ अमूल्य रत्न पुनः हाथ नहीं आता, इसी प्रकार मनुष्य शरीर, उत्तम श्रावक कुल और जिन वचनों का श्रवण आदि सुयोग भी बीत जाने के बाद पुनः प्राप्त नहीं होता।

□ संशय, विमोह और विभ्रम से रहित सहज शुद्ध केवलज्ञान दर्शन स्वभावी निजात्म स्वरूप का ग्रहण, परिच्छेदन, परिच्छित्ति और पर द्रव्य का स्वरूप अर्थात् भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म का स्वरूप, पुद्गल आदि पांचों द्रव्यों का स्वरूप तथा अन्य जीव का स्वरूप जानना वह सम्यक्ज्ञान है।

□ सम्यक्दर्शन सहित सम्यक्ज्ञान को दृढ़ करना चाहिये। जिस प्रकार सूर्य समस्त पदार्थों को तथा स्वयं अपने को यथावत् दर्शाता है, उसी प्रकार जो अनेक धर्मयुक्त स्वयं अपने को अर्थात् निज आत्मा को तथा पर पदार्थों को ज्यों का त्यों बतलाता है उसे सम्यक्ज्ञान कहते हैं।

□ निश्चय भाव श्रुतज्ञान शुद्धात्मा के सन्मुख होने से सुख संवित्ति अर्थात् ज्ञान स्वरूप है। यद्यपि वह केवलज्ञान की अपेक्षा परोक्ष है तथापि छद्मस्थों के क्षायिक ज्ञान की प्राप्ति न होने से क्षायोपशमिक होने पर भी उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है।

□ मनः पर्ययज्ञान उत्तम ऋद्धिधारी भावलिंगी मुनियों को ही होता है और अवधिज्ञान चारों गतियों के सैनी पंचेन्द्रिय जीवों को होता है, यह स्वामी की अपेक्षा से भेद है। उत्कृष्ट अवधिज्ञान का क्षेत्र असंख्यात लोक प्रमाण तक है और मनः पर्ययज्ञान का ढाई द्वीप मनुष्य क्षेत्र है, यह क्षेत्र अपेक्षा भेद है। स्वामी तथा विषय के भेद से विशुद्धि में अन्तर जाना जा सकता है। अवधिज्ञान का विषय परमाणु पर्यंत रूपी पदार्थ है और मनः पर्यय का विषय मनोगत विकल्प हैं।

□ जो एक ही साथ सर्वतः सर्व आत्म प्रदेशों से तात्कालिक या अतात्कालिक विचित्र अर्थात् अनेक प्रकार के और विषम (मूर्त-अमूर्त आदि असमान जाति के) समस्त पदार्थों को जानता है उस ज्ञान को क्षायिक अर्थात् केवलज्ञान कहा है।

□ निज शुद्धात्म तत्त्व का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र जिसका लक्षण

है, ऐसे एकाग्र ध्यान द्वारा केवलज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों का नाश होने पर जो उत्पन्न होता है, वह एक समय में समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को ग्रहण करने वाला सर्व प्रकार से उपादेयभूत केवलज्ञान है।

□ सम्यक्दर्शन होने के बाद ही ज्ञान सम्यक्ज्ञान कहलाता है। सम्यक्दर्शन के बिना कितना भी क्षयोपशम रूप ज्ञान हो, मिथ्याज्ञान ही नाम पाता है; अतः सम्यक्दर्शन कारण है और सम्यक्ज्ञान कार्य है।

□ पूर्व काल में जो जीव मोक्ष में गये हैं, वर्तमान में जा रहे हैं और भविष्य में जायेंगे वह सब सम्यक्ज्ञान की महिमा है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है। पांच इन्द्रियों के विषयों की इच्छा रूपी भयंकर दावानल संसारी जीवों रूपी अरण्य को जला रहा है। उसकी शांति का उपाय दूसरा नहीं है, मात्र ज्ञानरूपी वर्षा का समूह शांत करता है।

□ जिनागम में चारित्र के रूप में शुद्धि के साथ भूमिकानुसार वर्तने वाले शुभ भाव रूप व्यवहार चारित्र का ही मुख्यता से वर्णन है। उसमें भी पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक को होने वाले अणुव्रतादि रूप देश व्यवहार चारित्र का संक्षिप्त और भावलिंगी मुनिराज को होने वाले महाव्रतादि रूप सकल व्यवहार चारित्र का प्रधानता से कथन है।

□ वास्तव में सम्यक्चारित्र का प्रारम्भ निज स्वरूप में चरण अर्थात् रमण रूप स्वरूपाचरण चारित्र से चतुर्थ गुणस्थान से प्रथम निर्विकल्प दशा से होता है और यही स्वरूपाचरण क्रमशः बढ़ती हुई शुद्धि के साथ-साथ देशचारित्र या सकलचारित्र नाम पाता हुआ बारहवें गुणस्थान में पूर्णता को प्राप्त होता है।

□ सम्यक्ज्ञान से निज को और पर को जानकर और सम्यक्दर्शन से स्व और पर की प्रतीति करके जो पर भाव को छोड़ता है, वह आत्मा का निज शुद्ध भाव ज्ञानी पुरुषों का चारित्र होता है।

□ जो विशुद्धता का उत्कृष्ट धाम है तथा योगीश्वरों का जीवन है और समस्त प्रकार की पाप रूप प्रवृत्तियों से दूर रहने का लक्षण है उसको सम्यक्चारित्र कहते हैं।

□ चारित्र को दो प्रकार का कहा है- प्रथम तो सम्यक्त्व का आचरण कहा। वह जो सर्वज्ञ के आगम में तत्त्वार्थ का स्वरूप कहा उसको यथार्थ जानकर श्रद्धान करना और उसके शंकादि अतिचार मल दोष कहे, उनका परिहार करके शुद्ध करना उसके निःशंकितादि गुणों का प्रगट होना वह सम्यक्त्वाचरण चारित्र है और जो महाव्रतादि अंगीकार करके सर्वज्ञ के आगम में कहे अनुसार संयम का आचरण करना तथा उसके अतिचार आदि दोषों को दूर करना संयमाचरण चारित्र है।

□ निज ज्ञायक भगवान आत्मा में सम्यक्दर्शन ज्ञान सहित स्थिरता पूर्वक प्रगट शुद्धि को निश्चय सम्यक्चारित्र कहते हैं।

□ संसार के कारणों का नाश करने के लिये ज्ञानी को जो बाह्य और अंतर्ग क्रियाओं का निरोध है, श्री जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित वह परम अर्थात् निश्चय सम्यक्चारित्र है।

□ जीव जब अनादि मोहनीय के उदय का अनुसरण करने वाली परिणति करना छोड़कर अत्यन्त शुद्ध उपयोग वाला होता है तब भाव का एकरूपपना ग्रहण किया होने के कारण उसे जो नियत (निश्चित, एकरूप) गुण पर्यायपना होता है वह स्व समय अर्थात् स्व चारित्र है।

□ जिस चारित्र के अर्थात् स्वरूपाचरण चारित्र के होने से समस्त पर पदार्थों से वृत्ति हट जाती है, वर्णादि तथा रागादि से चैतन्य भाव को पृथक् कर लिया जाता है, अपने आत्मा में, आत्मा के लिये, आत्मा द्वारा, अपने आत्मा का ही अनुभव होने लगता है; वहां नय, प्रमाण, निक्षेप, गुण-गुणी, ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय, ध्यान-ध्याता-ध्येय, कर्ता-कर्म और क्रिया आदि भेदों का किंचित् विकल्प नहीं रहता, शुद्ध उपयोग रूप अभेद रत्नत्रय द्वारा शुद्ध चैतन्य का ही अनुभव होने लगता है।

□ लज्जा, दया, मंदकषाय, श्रद्धा, दूसरों के दोष ढांकना, परोपकार, सौम्यदृष्टि, गुणग्राहकता, सहनशीलता, सर्वप्रियता, सत्यपक्ष, मिष्टवचन, अग्रसोची, विशेषज्ञानी, शास्त्रज्ञान की मर्मज्ञता, कृतज्ञता, तत्त्वज्ञानी, धर्मात्मा,

न दीन न अभिमानी, मध्यम व्यवहारी, स्वाभाविक विनयवान, पापाचरण से रहित, ऐसे इक्कीस पवित्र गुण श्रावकों को ग्रहण करना चाहिये। निश्चय मोक्षमार्ग साक्षात् मोक्षमार्ग का साधक है तथा व्यवहार मोक्षमार्ग परम्परा से मोक्षमार्ग का साधक है अथवा व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्ग का साधक है अथवा व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्ष मार्ग का कारण है।

□ दर्शन ज्ञान प्रधान चारित्र से यदि वह वीतराग हो तो मोक्ष प्राप्त होता है और उससे ही यदि वह सराग हो तो देवेन्द्र, असुरेन्द्र, नरेन्द्र के वैभव क्लेश रूप बन्ध की प्राप्ति होती है; इसलिये मुमुक्षुओं को इष्ट फल वाला होने से वीतराग चारित्र ग्रहण करने योग्य है और अनिष्ट फल वाला होने से सराग चारित्र त्यागने योग्य है।

□ सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र से विभूषित पुरुष यदि तप आदि गुणों में मन्द भी हो तो भी वह सिद्धि का पात्र है अर्थात् उसे सिद्धि की प्राप्ति होती है; किन्तु इसके विपरीत यदि रत्नत्रय से रहित पुरुष अन्य गुणों में महान भी हो तो भी वह कभी भी सिद्धि को प्राप्त नहीं हो सकता है।

□ वास्तव में कोई भी काल और क्षेत्र धर्म की प्राप्ति के लिये विघ्न कारक नहीं है अतः इस पंचम काल और भरत क्षेत्र में भी आत्म सन्मुखता अर्थात् सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र पूर्वक भावलिंगी मुनि इन्द्र आदि पद प्राप्त कर क्रम से मोक्ष की प्राप्ति कर सकते हैं।

□ अभी इस पंचम काल में भी जो मुनि सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की शुद्धता युक्त होते हैं, वे आत्मा का ध्यान कर इन्द्र पद अथवा लोकांतिक देव पद को प्राप्त करते हैं।

□ मुमुक्षु भव्य जीवों को प्रमाद का त्यागकर, शास्त्राभ्यास एवं ज्ञानी गुरु की देशना प्राप्त कर, पर द्रव्यों से भिन्न अपने आत्म स्वभाव का निर्णय कर, सर्वप्रथम सम्यक्दर्शन प्राप्त करना चाहिये; क्योंकि निश्चय सम्यक्दर्शन ज्ञान पूर्वक ही एकदेश चारित्र रूप श्रावक दशा और सकल चारित्र रूप मुनिदशा की प्राप्ति तथा क्रम से यथाख्यात रूप पूर्ण चारित्र की प्राप्ति होकर नियम से

मोक्ष गमन होता है।

□ आत्मा ज्ञाता दृष्टा ही है। आत्मा ज्ञाता दृष्टा के उपयोग को जब पर पदार्थ की ओर लक्ष्य रखकर पर भाव में यह 'मैं' ऐसा दृढ़ कर लेता है तब यही संसार कहलाता है और जब स्व की ओर लक्ष्य करके उपयोग को स्व यह 'मैं' ऐसा दृढ़ कर लेता है तब यही मोक्ष कहलाता है।

□ यह ऐहिक सुख वास्तविक सुख नहीं है। सुख वह है जहां दुःख नहीं है, धर्म वह है जहां अधर्म नहीं है, और शुभ वह है जहां अशुभ नहीं है। इन्द्रिय सुख पराधीन है, बाधाओं से घिरा हुआ है, सान्त है, बन्ध का कारण और विषम है इसलिये यह सुख वास्तव में दुःख ही है।

□ इन्द्रियों के विषय सेवन से जो सुख हुआ है, वह दुःख ही है; क्योंकि यह इन्द्रिय जनित सुख अनन्त संसार की संतति के क्लेशों को सम्पादन करने का कारण है और विद्वानों ने दुःख तथा दुःख के कारण को एक ही कहा है।

□ सुख और धर्म वास्तव में आत्मा का स्वभाव है और यह दोनों अविनाभावी रूप से एक साथ आत्मा के आश्रय से ही प्रगट होते हैं। सुख और धर्म का प्रारम्भ सम्यक्दर्शन अर्थात् चौथे गुणस्थान से होकर पूर्णता मोक्ष में होती है।

□ धर्म तो आत्मा का स्वभाव है, जो पर में आत्म बुद्धि छोड़कर अपने ज्ञाता दृष्टा रूप स्वभाव का श्रद्धान, अनुभव तथा ज्ञायक स्वभाव में ही प्रवर्तन रूप जो आचरण वही धर्म है।

□ जीव का पर द्रव्यों में अहंकार, ममकार रूप परिणाम होना मोह है। विपरीत मान्यता, तत्वों का अश्रद्धान, विपरीत अभिप्राय, पर पदार्थों में एकत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं सुख बुद्धि अर्थात् शरीर को अपना स्वरूप मानना, पंचेन्द्रिय के विषयों में सुख मानना, अनुकूल संयोगों में इष्ट और प्रतिकूल संयोगों में अनिष्ट बुद्धि रखना, स्वयं को पर का तथा पर को स्वयं का कर्ता-धर्ता मानना इत्यादि दर्शन मोहनीय (मिथ्यात्व) कर्म के उदय काल में निमित्त होने वाले जीव के श्रद्धा गुण के विकारी परिणामों को मोह कहते हैं।

□ जीव का किसी पर पदार्थ को इष्ट जानकर उसके प्रति प्रीति रूप परिणामों का होना राग है। माया, लोभ, हास्य, रति, तीन वेद- स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद रूप परिणाम और पर पदार्थों के प्रति आकर्षण, स्नेह, प्रेम, आसक्ति इत्यादि चारित्र मोहनीय कर्मोदय के समय निमित्त होने वाले जीव के चारित्र गुण के विकारी परिणामों को राग कहते हैं।

□ जीव का किसी पर पदार्थ को अनिष्ट जानकर उसके प्रति अप्रीति रूप परिणामों का होना द्वेष है। क्रोध, मान, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और पर पदार्थों के प्रति घृणा, ईर्ष्या, जलन इत्यादि चारित्र मोहनीय कर्मोदय के समय निमित्त होने वाले जीव के चारित्र गुण के कषाय रूप विकारी परिणामों को द्वेष कहते हैं।

□ मिथ्यादृष्टि की मर्यादा विकारी भावों तक है और ज्ञानी की मर्यादा शुद्ध भावों तक है लेकिन पर पदार्थों में ज्ञानी अथवा अज्ञानी कोई भी कुछ भी नहीं कर सकता। ऐसा जानकर अपनी आत्मा का आश्रय ले तो निज आत्मा की पहिचान हो।

□ तत्व के आदर में सिद्ध गति अर्थात् मोक्ष है और तत्व के अनादर में निगोद गति अर्थात् संसार है। सिद्ध गति में जाते हुए बीच में एक-दो भव हों, उनकी गिनती नहीं है और निगोद में जाते हुए बीच में अमुक भव हों उनकी गिनती नहीं है; क्योंकि त्रस का काल थोड़ा है और निगोद का काल अनन्त है। तत्व के निरादर का फल निगोद गति और आदर का फल सिद्ध गति है।

□ मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग यह चार बन्ध अर्थात् संसार के कारण हैं और सम्यक्दर्शन, संयम, अकषाय और अयोग यह चार मोक्ष के कारण हैं।

□ श्रुत देवता या जिनवाणी के प्रसाद से ही हमें यह ज्ञात होता है कि पूजने योग्य कौन हैं और क्यों हैं? तथा उनकी पूजा हमें किस प्रकार की करनी चाहिये इसलिये जिनवाणी भी पूज्य है। अगर शास्त्र न होते तो हम देव के स्वरूप को भी नहीं जान सकते थे, फिर जिनवाणी स्याद्वाद नय गर्भित है।

□ जो भक्ति पूर्वक श्रुत को पूजते हैं वे परमार्थ से जिनदेव को ही पूजते हैं क्योंकि सर्वज्ञ देव ने श्रुत और देव में थोड़ा सा भी भेद नहीं कहा है।

□ शुभ भाव पुण्य के लिये और अशुभ भाव पाप के लिये होता है इसलिये भावों में विकार होने पर धीर पुरुष को जिन शासन के अनुराग से रक्षा करना चाहिये।

□ तप का कारण होने से ज्ञान पूज्य है और ज्ञान के अतिशय का कारण होने से तप पूज्य है तथा मोक्ष का कारण होने से ज्ञान और तप दोनों पूज्य हैं।

□ जघन्य पात्र, मध्यम पात्र, उत्तम पात्र तथा कुपात्र को दान देने वाला मिथ्यादृष्टि जघन्य भोगभूमि, मध्यम भोगभूमि, उत्तम भोगभूमि में, भोगने से बाकी बचे पुण्य से यथायोग्य देव होता है।

□ सम्यक्दृष्टि सुपात्र दान से होने वाले पुण्य के उदय से उत्तम भोगभूमि, महाद्विक कल्पवासी देव और चक्रवर्ती आदि पदों को यथेष्ट भोगकर मोक्ष पद को पाता है।

□ मुनि को उत्तम पात्र, अणुव्रती श्रावक को मध्यम पात्र, सम्यक्दृष्टि को जघन्य पात्र, सम्यक्दर्शन से रहित व्रती को कुपात्र तथा सम्यक्दर्शन और व्रत से रहित को अपात्र कहते हैं।

□ जो रत्नत्रय से रहित है, मिथ्या धर्म में आसक्त है वह कितना भी घोर तप करे फिर भी वह कुपात्र है। जिसमें न तप है, न चारित्र है, न कोई उत्कृष्ट गुण है उसे अपात्र जानों उसको दान देना व्यर्थ है।

□ अपने कल्याण के इच्छुक गृहस्थ को अपनी तथा देश, काल, स्थान और सहायकों की अच्छी तरह समीक्षा करके व्रत ग्रहण करना चाहिये और ग्रहण किये हुए व्रत को प्रयत्न पूर्वक पालना चाहिये। प्रमाद से या मद में आकर यदि व्रत में दोष लग जाये तो तत्काल प्रायश्चित्त लेकर पुनः व्रत ग्रहण करना चाहिये।

□ दयालु श्रावकों को सदा सभी अनन्त काय वनस्पति त्यागनी चाहिये क्योंकि उनमें से जो एक भी संख्या वाली अनन्त काय वनस्पति को खाने

आदि के द्वारा मारने में प्रवृत्त होता है वह अनन्त जीवों का घात करता है।

□ दयालु श्रावक कच्चे अर्थात् जिसे आग पर नहीं पकाया गया है ऐसे दूध, दही और बिना पकाये दूध से तैयार हुए मठे के साथ मिले हुए द्विदल अर्थात् मूंग, उड़द आदि धान्य को न खावे तथा प्रायः करके पुराने द्विदल को न खावे तथा वर्षाऋतु में बिना दले हुए द्विदल को और पत्ते की शाक-भाजी को न खावे।

□ नित्य शुद्ध चिदानन्द रूप कारण परमात्म स्वरूप जीव को द्रव्यकर्म तथा भावकर्म के ग्रहण के योग्य विभाव परिणति का अभाव होने से जन्म, जरा, मरण, रोग और शोक नहीं है।

□ जिन्होंने वस्तु स्वरूप जान लिया है, जो सर्व सावद्य से दूर हैं, जिन्होंने स्व हित में चित्त को स्थापित किया है, जिनका सर्व प्रचार शांत हुआ है, जिनकी भाषा स्व-पर को हितरूप है, जो सर्व संकल्प रहित हैं, वे विमुक्त पुरुष इस लोक में अवश्य ही मोक्ष के पात्र हैं।

□ जो सम्यक्दृष्टि समस्त कर्म, नोकर्म के समूह को छोड़ता है, उस सम्यक्ज्ञान की मूर्ति को सदा प्रत्याख्यान है और पाप समूह का नाश करने वाला ऐसा सत्चारित्र उसे अतिशय रूप से है, भव-भव के क्लेश का नाश करने के लिये उसे मैं नित्य वन्दन करता हूँ।

□ स्वयं किये हुए कर्म के फलानुबन्ध को स्वयं भोगने के लिये तू अकेला जन्म में तथा मृत्यु में प्रवेश करता है, अन्य कोई स्त्री, पुत्र, मित्रादि सुख-दुःख के प्रकारों में बिल्कुल सहायभूत नहीं होता।

□ चरण द्रव्यानुसार होता है और द्रव्य चरणानुसार होता है, इस प्रकार वे दोनों परस्पर अपेक्षा सहित हैं; इसलिये या तो द्रव्य का आश्रय करके अथवा तो चरण का आश्रय करके मुमुक्षु मोक्षमार्ग में आरोहण करो।

□ क्रोध कषाय को क्षमा से, मान कषाय को मार्दव से, माया कषाय को आर्जव की प्राप्ति से और लोभ कषाय को शौच अर्थात् संतोष से जीतो।

□ जो तैरता है तथा जिससे तैरा जाता है उसको तीर्थ कहते हैं। यह जीव

सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र अर्थात् रत्नत्रय रूपी नाव के द्वारा तैरता है तथा दूसरों के तैरने को निमित्त है इसलिये यह जीव ही तीर्थ है।

□ मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व, सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सात मोहनीय कर्म की प्रकृतियों के उपशम होने से उपशम सम्यक्त्व होता है और इन सातों प्रकृतियों के क्षय होने से क्षायिक सम्यक्त्व होता है। यह क्षायिक सम्यक्त्व केवलज्ञानी तथा श्रुतकेवली के निकट कर्म भूमि के मनुष्य को ही उत्पन्न होता है।

□ क्षायिक सम्यक्त्व का प्रारम्भ तो केवली, श्रुतकेवली के निकट मनुष्य को ही होता है और निष्ठापन अन्य गति में भी होता है।

□ मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व के उदय का प्रभाव हो, सम्यक्त्व प्रकृति का उदय हो, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ के उदय का अभाव हो अथवा उनका विसंयोजन करके अप्रत्याख्यानावरण आदिक रूप से उदयमान हो तब क्षायोपशमिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

□ सम्यक्दृष्टि मरकर द्वितीयादिक नरकों में नहीं जाता है, ज्योतिषी व्यन्तर भवनवासी देव नहीं होता है, स्त्रियों में उत्पन्न नहीं होता, पाँच स्थावर, विकलत्रय, असैनी, निगोद, म्लेच्छ, कुभोगभूमि इन सबमें उत्पन्न नहीं होता है।

□ सम्यक्दर्शन के शंकादिक अतिचार रहित परिणाम सो दर्शन विनय है। ज्ञान का संशयादि रहित परिणाम से अष्टांग अभ्यास करना सो ज्ञानविनय है। चारित्र को अहिंसादिक परिणाम से अतिचार रहित पालना सो चारित्रविनय है। तप के भेदों का देखभालकर दोष रहित पालन करना सो तपविनय है।

□ जो पूजा महिमा आदि के लिये शास्त्र को पढ़ता है उसको शास्त्र का पढ़ना सुखकारी नहीं है। अपने कर्मक्षय के निमित्त जिन शास्त्रों को पढ़े उसको ही सुखकारी है।

□ ध्यान परमार्थ से ज्ञान का उपयोग ही है। जो ज्ञान का उपयोग एक ज्ञेय वस्तु में अन्तर्मुहूर्त मात्र एकाग्र ठहरता है सो ध्यान है वह शुभ भी है और अशुभ

भी है ऐसे दो प्रकार का है।

□ आर्त-रौद्र दोनों ही ध्यान अशुभ हैं तथा पाप से भरे हैं और दुःख ही की संतति इनसे चलती है इसलिये इनको छोड़कर धर्मध्यान करने का श्री गुरु का उपदेश है।

□ ध्यान का स्वरूप एक ज्ञेय में एकाग्र होना है। जो पुरुष धर्म में एकाग्र चित्त करता है, उस काल इन्द्रिय विषयों को नहीं वेदता है उसके धर्मध्यान होता है। इसका मूल कारण संसार, देह, भोग से वैराग्य है, बिना वैराग्य के धर्म में चित्त रुकता नहीं है।

□ ऐसा सत्य वचन भी नहीं कहे, जिससे अपना और दूसरों का बिगाड़ जो जाये, आपत्ति आ जाये, अनर्थ पैदा हो जाये, दुःख पैदा हो जाये, मर्म छिद जाये, राजा से दण्ड हो जाये, धन की हानि हो जाये, ऐसा सत्य वचन भी झूठ ही है।

□ समस्त पापों का मूल कारण परिग्रह है, समस्त खोटे ध्यान परिग्रह से ही होते हैं; इसीलिये भगवान ने मूर्च्छा को परिग्रह कहा है।

□ अहिंसा धर्म, मोक्ष का कारण तथा संसार के समस्त परिभ्रमण के दुःख रूप रोग को मिटाने के लिये अमृत के समान है। इसे प्राप्त करके, अज्ञानी मिथ्यादृष्टियों के अयोग्य आचरण व्यवहार देखकर अपने परिणामों में आकुल नहीं होना चाहिये।

□ क्रोध दोनों लोकों का नाश करने वाला है, महापाप बन्ध कराकर नरक पहुंचाता है, बुद्धि भ्रष्ट करता है, निर्दयी बनाता है, दूसरों के द्वारा किये गये उपकार को भुलाकर कृतघ्नी बना देता है अतः क्रोध के समान अन्य पाप नहीं है। इस लोक में क्रोधादि कषायों के समान अपना घात करने वाला दूसरा नहीं है।

□ कोमल परिणामों द्वारा दोनों लोकों की सिद्धि होती है- कोमल परिणामी का इस लोक में सुयश होता है, परलोक में देवगति में देवगति की प्राप्ति होती है। कोमल परिणामों से ही अंतरंग-बहिरंग तप शोभित होते हैं। अभिमानी का तप भी निन्दा योग्य है। कोमल परिणामी से तीनों लोकों के जीवों का मन प्रसन्न रहता है।

जिस समय मायाचार जान लिया जाता है, उसी समय प्रीति भंग हो जाती

है, जैसे- कांजी डालने से दूध फट जाता है। मायाचारी अपना कपट बहुत छिपाता है किन्तु वह प्रगट हुए बिना नहीं रहता है। दूसरे जीवों की चुगली करना व दोष बतलाना, वे स्वयं ही प्रगट हो जाते हैं। मायाचार करना तो अपनी प्रतीति बिगाड़ना है, धर्म का बिगाड़ना है। मायाचारी से समस्त हितैषी बिना किये ही बैरी हो जाते हैं।

□ सत्य के प्रभाव से देव भी सेवा करते हैं। सत्य सहित ही अणुव्रत, महाव्रत होते हैं। सत्य के बिना समस्त व्रत संयम नष्ट हो जाते हैं। सत्य से सभी आपत्तियों का नाश होता है अतः जो भी वचन बोलो वह अपने और पर के हित रूप कहो, प्रामाणिक कहो, किसी को दुःख उत्पन्न करने वाला वचन नहीं कहो।

□ जो पांच पापों में प्रवर्तने वाले हैं वे सदाकाल मलिन हैं। जो पर के उपकार का लोप करते हैं वे कृतघ्नी सदा ही मलिन हैं। जो गुरुद्रोही, धर्मद्रोही, स्वामीद्रोही, मित्रद्रोही उपकार को लोपने वाले हैं उनके पाप का संतान क्रम असंख्यात भवों तक करोड़ों तीर्थों में स्नान करने से, दान करने से भी दूर नहीं होता है। विश्वासघाती सदा ही मलिन है।

□ पांच समितियों का पालन करना, क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों का निग्रह करना, मन-वचन-काय की अशुभ प्रवृत्ति रूप तीन दण्डों का त्याग करना तथा विषयों में दौड़ने वाली पांच इन्द्रियों को वश में करना संयम है।

□ इच्छा का निरोध करना तप है। तप, चार आराधनाओं में प्रधान है। जैसे- स्वर्ण को तपाने से सोलह बार पूर्ण ऊष्णता (ताप) देने पर वह समस्त मैल छोड़कर शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी बारह प्रकार के तपों के प्रभाव से कर्ममल रहित होकर शुद्ध हो जाता है।

□ जगत में निर्मल कीर्ति दान से ही फैलती है। दान देने से बैरी भी बैर छोड़ देते हैं, चरणों में झुक जाते हैं, अपना अहित करने वाला भी मित्र हो जाता है। जगत में दान बड़ा है, सच्ची भक्ति से थोड़ा सा भी दान देने वाला जीव भोग भूमि के भोगों को तीन पल्य पर्यन्त भोग कर देव लोक में चला जाता है।

□ मिथ्यात्व नाम कर्म के उदय से अपने स्वरूप के ज्ञान से रहित होकर देह आदि पर द्रव्यों को अपना स्वरूप जानकर अनन्त काल से मैने परिभ्रमण किया है। अब कोई आवरण आदि के किंचित् दूर होने से श्री गुरुओं के द्वारा उपदेशित परमागम के प्रसाद से अपना तथा पर के स्वरूप का ज्ञान हुआ है।

□ ब्रह्मचर्य बिना व्रत, तप समस्त निस्सार हैं। ब्रह्मचर्य बिना सकल काय क्लेश निष्फल है। बाह्य स्पर्शन इन्द्रिय के सुख से विरक्त होकर, अंतरंग अपना परमात्म स्वरूप जो आत्मा है, उसकी उज्ज्वलता देखो। जैसे भी अपना आत्मा काम के राग से मलिन नहीं हो, वैसे ही यत्न करो। ब्रह्मचर्य से दोनों लोक विभूषित हो जाते हैं।

□ जो मनुष्य विद्वान हैं, संसार के संताप से रहित होना चाहते हैं, उन्हें चाहिये कि वे घड़े में पनिहारिन के समान शुद्ध चिद्रूप में अपना चित्त स्थिर कर वचन और शरीर की चेष्टा करें।

□ जो विद्वान पुरुष शुद्ध चिद्रूप के चिंतवन के साथ व्रतों का आचरण करता है, शास्त्रों का स्वाध्याय, तप का आराधन, निर्जन वन में निवास, बाह्य-आभ्यंतर परिग्रह का त्याग, मौन, क्षमा और आतापन योग धारण करता है, उसे ही मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति होती है।

□ जिस प्रकार उत्कृष्ट नाव को प्राप्त हुआ धीर बुद्धि साहसी मनुष्य समुद्र के अपरिमित जल से नहीं डरता है उसी प्रकार एकत्व को जानकर योगी बहुत से भी कर्मों से नहीं डरता है।

□ चैतन्य रूप एकत्व का ज्ञान दुर्लभ है, परन्तु मोक्ष को देने वाला वही है; यदि वह जिस किसी प्रकार से प्राप्त हो जाता है तो उसका बार-बार चिन्तन करना चाहिये।

□ वास्तविक सुख मोक्ष में है और वह मुमुक्षु जनों के द्वारा सिद्ध करने के योग्य है। यहां संसार में वह सुख नहीं है, यहां जो सुख है वह निश्चय से यथार्थ सुख नहीं है। अतीन्द्रिय सच्चा सुख तो मोक्ष में ही है।

□ जो निर्मल बुद्धि को धारण करने वाला मुनि इस लोक में निरन्तर शुद्ध ज्ञान स्वरूप आत्मा को लक्ष्य करके रहता है वह परलोक में संचार

करता हुआ भी उसी प्रकार से रहता है।

□ संसार संबंधी कोई भी वस्तु रमणीय नहीं है, इस प्रकार हमें गुरु के उपदेश से निश्चय हो गया है, इसी कारण हमको मोक्ष पद प्यारा है।

□ इस मनुष्य जन्म का फल धर्म प्राप्ति है, सो वह निर्मल धर्म यदि मेरे पास है तो फिर मुझे आपत्ति के विषय में भी क्या चिंता है, मृत्यु से भी क्या डर है? अर्थात् उस धर्म के होने पर न तो आपत्ति की चिंता रहती है और न ही मरण का डर रहता है।

□ एकत्व में स्थिति के लिये जो मेरी निरन्तर बुद्धि होती है उसके निमित्त से परमात्मा के समीपता को प्राप्त हुआ आनन्द कुछ थोड़ा सा प्रगट होता है। वही बुद्धि कुछ काल को प्राप्त होकर अर्थात् कुछ ही समय में समस्त शीलों और गुणों के आधार भूत एवं प्रगट हुए विपुल ज्ञान (केवलज्ञान) से संपन्न उस आनन्द की कला को उत्पन्न करेगी।

□ मुझे आश्रय में प्राप्त हुए किसी भी मित्र अथवा शत्रु से प्रयोजन नहीं है, मुझे इस शरीर में भी प्रेम नहीं रहा है, इस समय मैं अकेला ही सुखी हूँ। यहां संसार परिभ्रमण में चिरकाल से जो मुझे संयोग के निमित्त से कष्ट हुआ है उससे मैं विरक्त हुआ हूँ; इसलिये अब मुझे एकाकीपन (अद्वैत) अत्यन्त रुचता है।

□ जो जानता है वही देखता है और वह निरन्तर चैतन्य स्वरूप को नहीं छोड़ता है वही मैं हूँ, इससे भिन्न और मेरा कोई स्वरूप नहीं है। यह समीचीन उत्कृष्ट तत्व है। चैतन्य स्वरूप से भिन्न जो क्रोधादि विभाव भाव अथवा शरीरादि हैं वे सब अन्य अर्थात् कर्म से उत्पन्न हुए हैं। सैकड़ों शास्त्रों को श्रुति करके इस समय मेरे मन में यही एक शास्त्र अर्थात् अद्वैत तत्व वर्तमान है।

□ यद्यपि इस समय यह संहनन (हड्डियों का बंधन) परीषहों (क्षुधा तृषा आदि) को नहीं सह सकता है और दुःषमा नामक पंचमकाल में तीव्र तप भी संभव नहीं है; तो भी यह कोई खेद की बात नहीं है; क्योंकि यह अशुभ कर्मों की पीड़ा है। भीतर शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा में मन को सुरक्षित करने वाले मुझे उस कर्मकृत पीड़ा से क्या प्रयोजन है? अर्थात् कुछ भी नहीं है।

□ जो अज्ञानीजन न तो गुरु को मानते हैं, और न उसकी उपासना ही

करते हैं, उनके लिये सूर्य का उदय होने पर भी अंधकार जैसा ही है।

□ जिसके द्वारा अभय, आहार, औषधि और शास्त्र का दान करने पर मुनियों को सुख उत्पन्न होता है, वह ग्रहस्थ कैसे प्रशंसा के योग्य न होगा ?

□ जो मनुष्य दान देने के योग्य होकर भी पात्रों के लिये भक्ति पूर्वक दान नहीं देता है वह मूर्ख परलोक में अपने सुख को स्वयं ही नष्ट करता है। दान से रहित गृहस्थ आश्रम को पत्थर की नाव के समान समझना चाहिये। उस गृहस्थाश्रम रूपी पत्थर की नाव पर बैठा हुआ मनुष्य संसार रूपी समुद्र में डूबता ही है, इसमें संदेह नहीं है।

□ प्राणी दया धर्म रूपी वृक्ष की जड़ है, व्रतों में मुख्य है, संपत्तियों का स्थान है और गुणों का भंडार है; इसलिये उसे विवेकी जनों को अवश्य करना चाहिये। मनुष्य में सब ही गुण जीव दया के आश्रय से इस प्रकार रहते हैं जिस प्रकार कि पुष्पों की लड़ियाँ सूत के आश्रय से रहती हैं।

□ जो चैतन्य स्वरूप आत्मा कर्मों तथा उनके कार्यभूत रागादि विभावों और शरीरादि से भिन्न है उस शाश्वतिक आनन्दस्वरूप पद को अर्थात् मोक्ष को प्रदान करने वाली आत्मा का सदा विचार करना चाहिये।

□ जिस प्रकार बत्ती दीपक की सेवा करके उसके पद को प्राप्त कर लेती है; अर्थात् दीपक स्वरूप परिणम जाती है, उसी प्रकार अत्यन्त निर्मल ज्ञानरूप असाधारण मूर्ति स्वरूप सिद्ध ज्योति की आराधना करके योगी भी स्वयं उसके स्थिर पद अर्थात् सिद्ध पद को प्राप्त कर लेता है; अथवा वह सम्यक्ज्ञान के द्वारा विकल्प समूह से रहित होता हुआ सिद्ध स्वरूप को प्राप्त होकर ऐसा हो जाता है कि तीन लोक के चूड़ामणि रत्न के समान उसको देव भी नमस्कार करते हैं।

□ निर्मल बुद्धि को धारण करने वाले तत्त्वज्ञ पुरुष की दृष्टि निरन्तर शुद्धात्म स्वरूप में स्थित होकर एकमात्र शुद्धात्म पद अर्थात् मोक्ष पद को प्राप्त करती है; किंतु अज्ञानी पुरुष की दृष्टि अशुद्ध आत्म स्वरूप या पर पदार्थों में स्थित होकर संसार को बढ़ाती है।

□ यह सिद्धात्मा रूप तेज विश्व को देखता और जानता है, आत्मा मात्र

से उत्पन्न आत्यन्तिक सुख को प्राप्त करता है, नाश व उत्पाद से युक्त होकर भी निश्चल (ध्रुव) है, मुमुक्षु जनों के हृदय में एकत्रित होकर रहता है, संसार के भार से रहित है, शांत है, सघन आत्म प्रदेश स्वरूप तथा असाधारण है।

□ जो संयमी कर्म के क्षय अथवा उपशम के कारणवश तथा गुरु के सदुपदेश से आत्मा की एकता विषयक निर्मल ज्ञान का स्थान बन गया है, जिसने समस्त परिग्रह का परित्याग कर दिया है; तथा जिसका मन निरन्तर आत्मा की एकता की भावना के आश्रित रहता है, वह संयमी पुरुष लोक में रहता हुआ भी इस प्रकार पाप से लिप्त नहीं होता जिस प्रकार कि तालाब में स्थित कमल पत्र पानी से लिप्त नहीं होता है।

□ मोह के उदय से जो मोक्ष के विषय में भी अभिलाषा होती है वह सिद्धि मुक्ति को नष्ट करने वाली है; इसलिये सत्यार्थ अर्थात् निश्चय नय को ग्रहण करने वाला मुनि क्या किसी भी पदार्थ के विषय में इच्छा युक्त होता है? अर्थात् नहीं होता। इस प्रकार मन में उपयुक्त विचार करके शुद्धात्मा से संबंध रखते हुए साधु को परिग्रह से रहित होकर निरन्तर तत्त्व ज्ञान में तत्पर रहना चाहिये।

□ चैतन्य स्वरूप आत्मा के चिन्तन में मुमुक्षु जन के रस, नीरस हो जाते हैं। सम्मिलित होकर परस्पर चलने वाली कथाओं का कौतूहल नष्ट हो जाता है, इन्द्रिय विषय विलीन हो जाते हैं, शरीर के भी विषय में प्रेम का अन्त हो जाता है, एकान्त में मौन प्रतिभाषित होता है, तथा वैसी अवस्था में दोषों के साथ मन भी मरने की इच्छा करता है।

□ धर्म चर्चा का विषय नहीं, अनुभूति का विषय है। भेदज्ञान के द्वारा जानकर जो इसका ध्यान करता है उसको प्रत्यक्ष अनुभूति में आता है कि यह शरीर आदि पुद्गल भिन्न है और मैं चैतन्य लक्षण जीव आत्मा भिन्न हूँ तथा यह कर्म भी मुझसे भिन्न हैं, मैं तो सिद्ध स्वरूपी परम ब्रह्म परमात्मा हूँ।

□ निश्चय नय के अभिप्राय अनुसार आत्मा का आत्मा में आत्मा के लिये तन्मय होना ही निश्चय सम्यक्चारित्र है, ऐसे चारित्रशील योगी को ही निर्वाण की प्राप्ति होती है।

□ चारितं खलु धम्मो □

आध्यात्मिक भजन

मंगलाचरण

शुद्धात्म ममल ममलं, ध्रुव तत्त्व स्वयं रमणं ।

हे न्यानी लीन रहो ॥

१. शुद्ध बुद्ध स्वयं सिद्धं, जिन ब्रह्म स्वयं शुद्धं ... हे ...
२. परमात्म पदं पदमं, षट्कमल जिनं कमलं ... हे ...
३. रत्नत्रय मयं शुद्धं, पंच ज्ञान मयं बुद्धं ... हे ...
४. उव उवन उवन उवनं, जिन जिनय जिनय जिनयं ... हे ...
५. ज्ञानानंद मयं नन्दं, त्रयलोक्य पूज्य वन्दम् ... हे ...
६. है मुक्त सदा मुक्तं, तारण तरण जिनं उक्तं ... हे ...
७. ब्रह्मानंद स्वयं लषनं, सहजानंद स्वयं भवनं ... हे ...

भजन - १

हे भव्यो, श्रावक के व्रत धारो ॥

१. ग्यारह प्रतिमा पाँच अणुव्रत, हृदय से स्वीकारो ।
हिंसा झूठ कुशील परिग्रह, चोरी नरक द्वारो ... हे...
२. पंचेन्द्रिय के विषयों में फँस, जीवन होत दुधारो ।
हाथी मछली भ्रमर पतंगा, हिरण जात है मारो ... हे...
३. चार कषाय महा दुःखदाई, विकथा व्यसन निवारो ।
जन्म मरण से बचना चाहो, मोह राग को मारो ... हे...

अपने कल्याण के इच्छुक गृहस्थ को अपनी तथा देश, काल, स्थान और सहायकों की अच्छी तरह समीक्षा करके व्रत ग्रहण करना चाहिये और ग्रहण किये हुए व्रत को प्रयत्न पूर्वक पालना चाहिये । प्रमाद से या मद में आकर यदि व्रत में दोष लग जाये तो तत्काल प्रायश्चित्त लेकर पुनः व्रत ग्रहण करना चाहिये ।

भजन - २

हे भव्यो, संयम को लो धार ।

बिन संयम के दुर्गति होवे, जीवन है बेकार ॥

१. पंच स्थावर छटवें त्रस की, हिंसा नरक का द्वार ।
पंचेन्द्रिय के विषय भोग ही, देते दुःख अपार ... हे...
२. मन ही भव संसार घुमाता, करता बंटाढार ।
विषय कषाय में फँसा जीव ही, करता हा हा कार ... हे...
३. समय का संयम, इन्द्रिय संयम, अर्थ संयम लो धार ।
भाव संयम की करो साधना, होवे बेड़ा पार ... हे...
४. भेद ज्ञान सत्श्रद्धा कर लो, करो सत्य स्वीकार ।
ज्ञानानंद क्या देख रहे हो, करो आत्म उद्धार ... हे...
५. संयम तप को धारण कर लो, क्यों हो रहे लाचार ।
ब्रह्मानंद उठो अब जल्दी, मचेगी जय जयकार ... हे...

भजन - ३

साधु संत महान, जगत में ।

जिनकी सत्संगति से जीवों, का होता कल्याण ॥

१. पर उपकारी धर्म के धारी, धरें आत्म का ध्यान ।
वीतराग करुणा के सागर, तारण तरण सुजान
२. आप तरें औरों को तारें, करें भेद विज्ञान ।
ऐसे संतों के चरणों में, अर्पित तन मन प्राण
३. ब्रह्मानंद मगन नित रहते, करते अमृत पान ।
सभी जीव मुक्ति को पावे देते शुभ वरदान

भजन-४**चलो चलो रे सब मुक्ति को भाई, तरण जिन ले चल रहे ॥**

१. न कुछ करना न कुछ धरना, न कहीं आना जाना ।
ज्ञान स्वभाव में लीन रहो बस, जिनवाणी में बखाना
२. ममल स्वभावी अलख निरंजन, तुम हो सिद्ध स्वरूपी ।
शुद्ध बुद्ध अविनाशी चेतन, एक अखंड अरूपी
३. निज सत्ता शक्ति को देखो, पर से नाता तोड़ो ।
ब्रह्मानंद में लीन रहो नित, मोह राग को छोड़ो
४. ज्ञानानंद स्वभाव तुम्हारा, जग से क्या लेना देना ।
पाप परिग्रह छोड़ो अब तो, सद्गुरु का यह कहना
५. भेद ज्ञान सत्श्रद्धा कर लो, संयम तप को धारो ।
साधु पद की करो साधना, छोड़ो दुनियांदारो

भजन-५**निज शुद्धात्म ध्याओ, बावरे ।****देव गुरु और धर्म यही है, पर में मत भरमाओ ॥**

१. शुद्ध बुद्ध अविनाशी हो तुम, निज सत्ता प्रगटाओ ।
निज स्वभाव की साधना से ही, परमात्म पद पाओ
२. रत्नत्रय मयी निज शुद्धात्म, सद्गुरु ने बतलाओ ।
भूल स्वयं को भटक रहे हो, अब तो होश में आओ
३. पर को अपना मान मानकर, खुद ही दुःख उठाओ ।
अनंत चतुष्टय धारी होकर, नाना रूप धराओ
४. भेद पड़ा है यह अनादि से, तुम उपयोग कहाओ ।
जीव आत्मा तुम्हीं को कहते, निज स्वरूप विसराओ
५. ज्ञानानन्द स्वभावी होकर, जग में मत भरमाओ ।
तीन लोक के नाथ स्वयं तुम, सिद्ध परम पद पाओ

भजन-६**हे भवियन, तुम जिनवर भगवान ।****ममल भाव को जाग्रत कर लो, कर लो निज पहिचान ॥**

१. निज स्वभाव में लीन रहो तो, जीतो कर्म महान ।
मोह राग सब विला जायेंगे, करो भेद विज्ञान
२. दृढ़ता धारो निज में ठहरो, होय आत्म कल्याण ।
अंतर्मुहूर्त का खेल है सारा, प्रगटे केवलज्ञान
३. अशुद्ध पर्याय और समल भाव यह, हो रहे निज अज्ञान ।
ज्ञान स्वभाव में कुछ नहीं होते, ध्रुव सत्ता निज ध्यान
४. भूल स्वयं को भटक रहे हो, जागो हे भगवान ।
ज्ञानानंद निजानंद ठहरो, पाओ पद निर्वाण

भजन-७**आत्म राम ही ध्याओ बावरे, आत्म राम ही ध्याओ ॥**

१. कुछ भी साथ नहीं जाना है, कोई काम नहीं आओ ।
धर्म कर्म ही साथ जायेगा, क्यों जग में भरमाओ
२. आत्मराम अकेला आया, सब प्रत्यक्ष दिखाओ ।
कुटुम्ब कबीला छूट जायेगा, यह शरीर जल जाओ
३. जो कोइ जैसे कर्म करेगा, वैसा ही फल पाओ ।
पाप पुण्य के चक्कर में ही, चारों गति भरमाओ
४. आयु अंत इक दिन आना है, छोड़ यहीं सब जाओ ।
राम कृष्ण रावण से योद्धा, कोई न कोई बचाओ
५. चेतो जागो स्वयं देख लो, कैसो अवसर पाओ ।
ज्ञानानन्द भजो परमात्म, जीवन सफल बनाओ
६. निशदिन आत्म राम भजो, परमात्म ध्यान लगाओ ।
एक समय का पता नहीं है, समय न व्यर्थ गमाओ

भजन-८

मैं ही मेरी सिद्ध शिला हूँ, मैं ही तो ध्रुव धाम हूँ ।
मैं ही परम ब्रह्म परमेश्वर, मैं ही आत्मराम हूँ ॥

१. मैं ही अपना कर्ता धर्ता, मैं तो पूर्ण निष्काम हूँ ।
एक अखण्ड अविनाशी चेतन, मैं ही तो घनश्याम हूँ.....
२. मैं ही अनंत चतुष्टय धारी, वीतराग भगवान हूँ ।
रत्नत्रय स्वरूप है मेरा, मैं ही पूर्ण विराम हूँ.....
३. मैं ही ज्ञानानंद स्वभावी, निजानंद अभिराम हूँ ।
ब्रह्मानंद सहजानंद हूँ मैं, मैं ही सिद्ध भगवान हूँ.....

भजन-९

हे साधक, सत्पुरुषार्थ करो ।

निज सत्ता को जान लिया है, राग में काहे मरो ॥

१. ब्रह्म स्वरूपी चेतन लक्षण, दृढ़ता काये न धरो ।
ममल स्वभाव की करो साधना, मद मिथ्यात्व हरो....हे....
२. ढील ढाल से काम न चलता, क्यों प्रमाद परो ।
अपनी सुरत रखो निशिवासर, राग में आग धरो....हे....
३. भेदज्ञान का आश्रय राखो, तत्त्व निर्णय ही करो ।
तत्समय की योग्यता देखो, निर्भय निर्द्वंद रहो....हे....
४. निज स्वभाव का जोर लगाओ, अपने घर में रहो ।
पर पर्याय को अब मत देखो, मुक्ति श्री वरो....हे....
५. ज्ञानानन्द स्वभाव तुम्हारा, कर्मों से काये डरो ।
सत्पुरुषार्थ जगाओ अपना, भव संसार तरो....हे....

हमें बनाना लक्ष्य महान - करना है आत्म कल्याण ।
मानव जीवन का उद्देश्य - प्राणी सेवा साधु भेष ॥

भजन - १०

पुण्य के उदय में सब जगत दास है ।

पाप के उदय में न कोई भी पास है ॥

१. संसार का सब खेल, पाप पुण्य से चलता ।
इसमें फँसा यह जीव सदा, इसी में दलता ॥
२. हो पुण्य का उदय तो, सब काम सुलटते ।
हो पाप का उदय तो, सभी काम उलटते ॥
३. धन वैभव नाम लक्ष्मी, सभी पुण्य की दासी ।
हो पाप का उदय तो, लगती जीव की फाँसी ॥
४. जैसा भी हो जिसका उदय, वैसा ही मिलता ।
टाले से भी कुछ ना टले, हिलाये न हिलता ॥
५. जैसा भी पूर्व कर्म उदय, अपने साथ है ।
वैसा ही सब हो रहा, सब अपने हाथ है ॥
६. बेटा न भाई बन्धु, न धन काम में आता ।
जैसा हो पाप पुण्य उदय, वैसा दिखाता ॥
७. जैसा किया है बंध, सब वह भोगना होगा ।
रोने से नहीं काम चले, और न खोगा ॥
८. अब भी संभल जाओ, न कोई बंध तुम करो ।
धर्म की शरणा गहो, और समता को धरो ॥
९. ज्ञानानंद स्वभावी, स्वयं परम ब्रह्म हो ।
निज सत्ता शक्ति भूल गये, कर्म बंध हो ॥

जगत में निर्मल कीर्ति दान से ही फैलती है । दान देने से बैरी भी बैर छोड़ देते हैं, चरणों में झुक जाते हैं, अपना अहित करने वाला भी मित्र हो जाता है । जगत में दान बड़ा है, सच्ची भक्ति से थोड़ा सा भी दान देने वाला जीव भोग भूमि के भोगों को तीन पल्य पर्यन्त भोग कर देव लोक में चला जाता है ।

भजन-११**जगत में कुछ नहीं रहना है ।****जिस दिन तेरे प्राण निकल गये, धक्के सहना है ॥**

१. जिनके पीछे मरा जा रहा, कुछ नहीं बचना है ।
जिसको है तू अपना मानता, पुद्गल रचना है.....
२. नाम रहे न काम रहे, न दाम ही रहना है ।
रामनाम ही सत्य रहेगा, सद्गुरु कहना है.....
३. आयु तक का सब नाता है, श्वास गये छुट्टी ।
मुट्ठी बांधे आया जग में, चला खुली मुट्ठी.....

भजन-१२**हे साधक अपनी दशा सुधारो ।****पर पर्याय को अब मत देखो, निज स्वभाव उर धारो ॥**

१. तीन लोक के नाथ स्वयं तुम, मोह राग को मारो ।
निज सत्ता शक्ति को देखो, केवलज्ञान उजारो हे.....
२. शरीरादि यह जड़ पुद्गल हैं, कोई भी नहीं तुम्हारो ।
तुम तो हो सत् चित् आनंद घन, अपनी ओर निहारो हे.....
३. क्रमबद्ध पर्याय हैं सारी, जिनवाणी में उचारो ।
सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्म तुम, अब तो दृढ़ता धारो हे.....
४. अशुद्ध पर्याय भी कर्मोदायिक, जासे रहो न्यारे ।
ज्ञानानन्द में लीन रहो नित, ब्रह्मानन्द संभारो हे.....

अपने में ही आत्म स्वरूप का परिचय पाता है, कभी संदेह नहीं
उपजता और छल-कपट रहित वैराग्य भाव रहता है यही सम्यक्दर्शन
का चिन्ह (लक्षण) है ।

भजन-१३**आ गई बसंत की बहारे, जीवन में ।**

१. आत्म स्वरूप अनुभव में आ गओ, भेदज्ञान प्रत्यक्ष दिखा गओ ॥
मच रही जय जय कारें.....जीवन में.....
२. संयम धर्म प्रभावना हो रही, कर्म कषाय जे सब ही खो रही ॥
ब्रह्मचारियों की लग रही कतारें.....जीवन में.....
३. तारण तरण जगे निज घट में, सब ही काम हो रहे झटपट में ॥
सहजानन्द कपड़े उतारें.....जीवन में.....
४. ज्ञानानन्द अब नाच रहो है, निजानन्द भी माच रहो है ॥
ब्रह्मानन्द दीक्षा धारें.....जीवन में.....

भजन-१४**तप संयम ही जीवन का सार है, मिला मौका यह दुर्लभ अपार है ।****उठो जल्दी से दीक्षा धारो, वरना होगी ये दुर्गति अपार है ॥**

१. देख लो सब प्रत्यक्ष दिखा रहो, अपना नहीं है कोई ।
स्वारथ की सब दुनियाँदारी, कोई का कोई नहीं होई ॥
पड़ रही कर्मों की सब पर मार है.....मिला मौका.....
२. नरभव में यह मौका मिला है, सब शुभ योग है पाया ।
पुण्य उदय सद्गुरु का शरणा, अभी स्वस्थ है काया ॥
कर लो हिम्मत तो बेड़ा पार है.....मिला मौका.....
३. जरा चूक गये धोखा खा गये, सोच लो फिर क्या होगा ।
कुढ़ कुढ़ कर ही मरते रहोगे, वृथा जन्म यह खोगा ॥
घर में रहना तो अब बेकार है.....मिला मौका.....
४. ज्ञानानन्द स्वभावी हो तुम, ज्ञान ध्यान सब कर रहे ।
सबको ही सब बात बता रहे, खुद प्रमाद में मर रहे ॥
तारण गुरु की सुनो यह पुकार है.....मिला मौका.....

भजन-१५

ममल स्वभावी सिद्ध स्वरूपी, शुद्धातम अभिराम हो।
सहज सच्चिदानंद मयी हो, सदा पूर्ण निष्काम हो ॥

१. पर से अब क्या लेना देना, पर से अब क्या काम हो।
पर के पीछे भटक रहे हो, इससे ही बदनाम हो ॥
२. तुम हो अरस अरूपी चेतन, ज्ञानानंद सुख धाम हो।
जो होता सब क्रमबद्ध निश्चित, क्यों उलझे बेकाम हो ॥
३. अपने ब्रह्म स्वरूप को देखो, स्वसत्ता ध्रुव धाम हो।
सहजानंद स्वभाव तुम्हारा, कहाँ लगा रहे दाम हो ॥
४. निर्भय होकर दृढ़ता धारो, करो निज में ही मुकाम हो।
अशुद्ध पर्याय का पीछा छोड़ो, चलो अपने ध्रुव धाम हो ॥

भजन-१६

दर्शन ज्ञान चेतना वाला, अपने को पहिचान रे।
देह देवालय में बैठा है, तू ही तो भगवान रे ॥

१. निज सत्ता शक्ति को देखो, अनंत चतुष्टय धारी हो।
रत्नत्रय से हो आभूषित, सिद्ध परम पद वासी हो ॥
अपनी भूल से भटक रहा है, बना हुआ अनजान रे.....
२. अपनी महिमा नहीं आ रही, संसारी बन मरता है।
पर की तरफ ही देख रहा है, राग द्वेष ही करता है ॥
अब तो देख ले निज सत्ता को, सद्गुरु कहना मान रे.....
३. देख ले सब शुभ योग मिला है, शुभ संयोग यह पाया है।
वीतराग जिनधर्म मिला है, तारण पंथ में आया है ॥
धर्म की महिमा बरस रही है, कर ले दृढ़ श्रद्धान रे.....
४. चारों तरफ से मुक्त हो गया, कोई रहा न बंधन है।
दृढ़ता धर पुरुषार्थ जगा ले, महावीर जग वंदन है ॥
ज्ञानानंद स्वभावी है तू, जगा स्वयं बहुमान रे.....

भजन-१७

देव स्वरूपी निज आतम है, कहते सद्गुरु तार हैं।
सम्यक्दर्शन इससे होता, करो इसे स्वीकार है ॥

१. देव धर्म गुरु और कोई नहीं, निज आतम की सत्ता है।
भूल स्वयं को फँसे अनादि, कर्मों की बलवत्ता है ॥
२. देव धर्म गुरु पंच परमेष्ठी, यह सब हैं व्यवहार से।
साक्षी निज स्वरूप को जानो, कहते हैं उपकार से ॥
३. सिद्ध स्वरूपी शुद्धातम खुद, ध्रुव तत्व अभिराम हो।
समल पर्याय सब कर्मोदायिक, तुम तो पूर्ण निष्काम हो ॥
४. भेदज्ञान कर दृढ़ता धारो, पर पर्याय को मत देखो।
शरीरादि का पीछा छोड़ो, किसी को अपना मत लेखो ॥
५. ज्ञानानंद स्वभावी हो तुम, निज सत्ता स्वीकार करो।
ध्रुवधाम की धूम मचाओ, किसी से अब बिल्कुल न डरो ॥

भजन-१८

मौका मिला है महान रे, अपने में खो जा चेतनवा ॥

१. पर पर्याय में अब मत भटके, राग उदय में अब मत अटके।
तू तो है सिद्ध समान रे.....अपने में खो जा.....
२. क्रमबद्ध पर्याय सब निश्चित, टाले टले न कुछ भी किंचित्।
करले तू दृढ़ श्रद्धान रे.....अपने में खो जा.....
३. ध्रुव तत्व तू ममल स्वभावी, शुद्ध बुद्ध है शिवपुर वासी।
हो जावे केवलज्ञान रे.....अपने में खो जा.....
४. सिद्ध स्वरूपी शुद्धातम है, परम ब्रह्म तू परमातम है।
धर ले निजातम का ध्यान रे.....अपने में खो जा.....
५. ज्ञानानन्द परमानंद मयी है, अलख निरंजन अरूपी सही है।
पायेगा पद निर्वाण रे.....अपने में खो जा.....

भजन-१९

निज इष्ट है शुद्धात्मा, यह ध्यान धरो रे ।

शुद्धात्मा में लीन रह, संसार तरो रे ॥

१. देखो निज शुद्धात्मा रत्नत्रयमयी ।
चैतन्य लक्षण धर्म तारण गुरु ने कही ॥
निज सत्ता शक्ति देख लो, मत मोह मरो रे
२. ध्रुव धाम के वासी तुम, ध्रुव तत्व स्वयं हो ।
अनंत चतुष्टय धारी, सर्वज्ञ जयं हो ॥
साधु पद धारण करो, मुक्ति को वरो रे
३. तुम ही हो परमात्मा, जिनराज हो ज्ञानी ।
त्रिकाल शुद्ध बुद्ध हो, कहती है जिनवाणी ॥
वीतराग बन चलो, सब राग हरो रे
४. ज्ञानानंद स्वभावी हो, अब अपने में रहो ।
सद्गुरु की बात मान लो, अब किससे क्या कहो ॥
ब्रह्मानंद उठो चलो, पुरुषार्थ करो रे ...

भजन-२०

चलो चलो रे मुक्ति श्री पास, जगत में कहाँ फंसे ।

१. निज स्वभाव में मुक्ति श्री बैठी, मोह राग की लगी है कैची ।
दलो दलो रे मोह मिथ्यात्व जगत में
२. अतीन्द्रिय आनंद परमानंद देवे, सारे दुःख दारिद्र्य हर लेवे ।
करो करो रे कुछ तो पुरुषार्थ जगत में
३. जन्म मरण के दुःख से छुड़ावे, कर्म कषायों को मार भगावे ।
ढलो ढलो रे निज शुद्धात्म जगत में
४. ज्ञानानंद स्वभाव तुम्हारा, निजानंद काले लो सहारा ।
भलो भलो रे मुक्ति को वास जगत में

भजन-२१

निज स्वभाव में लीन रहो तो, मचती जय जयकार है ।

पर पर्याय को देख उलझना, यह तो सब बेकार है ॥

१. ध्रुव धाम की धूम मचाओ, निजानंद में लीन रहो ।
पर से अब क्या लेना देना, किसी से तुम अब कुछ न कहो ॥
रागादि भावों में भटकना, यह तो अपनी हार है
२. सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्म तुम, अजर अमर अविनाशी हो ।
शुद्ध बुद्ध हो ज्ञाता दृष्टा, शुद्ध शुद्ध प्रकाशी हो ॥
तुम हो तो भगवान् आत्मा, बाकी सब संसार है
३. निज सत्ता शक्ति को देखो, अनंत चतुष्टय धारी हो ।
केवलज्ञान स्वभाव तुम्हारा, शिवपुर के अधिकारी हो ॥
मुक्ति श्री में रमण करो, बस इसमें ही अब सार है
४. ज्ञानानंद स्वभावी हो तुम, जगत पूज्य भगवान् हो ।
दृढ़ता धर पुरुषार्थ जगाओ, कैसे महिमावान् हो ॥
सहजानंद साधु पद धारो, अब हो रही अवार है

भजन-२२

हे भवियन, ममल रमण अब कीजे ।

सिद्धि मुक्ति का आनंद लूटो, अमिय रसायन पीजे ॥

१. ममलह ममल स्वभाव है अपना, देख स्वयं ही लीजे ।
शुद्ध बुद्ध अविनाशी चेतन, अपने में बल दीजे...हे
२. चाह लगाव छोड़ दो पर का, मुक्ति श्री से मिलीजे ।
निजानंद में रहो निरंतर, जय जयकार मचीजे...हे
३. निज सत्ता शक्ति को देखो, अपने में ही रहीजे ।
पर पर्याय देखना छोड़ो, सहजानंद रमीजे...हे
४. ज्ञानानंद स्वभाव तुम्हारा, पर में कहा करीजे ।
सत्पुरुषार्थ जगाओ अपना, साधु पद धर लीजे...हे

भजन-२३**आयु का कुछ न ठिकाना , न कुछ साथ जाना ।****लगे क्यों पापों में ॥**

१. आयु अंत कभी आ जावे , काम में कोई कुछ न आवे ।
कौन है अपना भाई, यह पुत्र जमाई लगे क्यों पापों.....
२. यह शरीर भी जल जाता है, धन वैभव भी गल जाता है ।
साथ न जावे कौड़ी, यह मोड़ा मोड़ी.....लगे क्यों पापों.....
३. आंख मुंदे सब नाता छूटे , मोह राग का बंधन टूटे ।
साथ में कर्म ही जाई, करो जैसा भाई.....लगे क्यों पापों.....
४. तुम हो ज्ञानानन्दस्वभावी, हो रहे स्वयं ही भाव विभावी ।
अब तो चेतो सयाने, लगे कुछ ठिकाने.....लगे क्यों पापों.....
५. संयम तप की करो साधना, निज स्वभाव की हो आराधना ।
मुश्किल से मौका मिला है, सौभाग्य खिला.....लगे क्यों पापों.....

भजन-२४**धन्य घड़ी धन्य भाग्य हमारे, जिन जू के दर्शन पाये ।****नन्द आनन्दह चिदानन्द के, बाजन लगे बधाये ॥**

१. तरसत बीती उमरिया सारी, दुर्लभ बोधि कराये ।
ज्ञानानन्द के जन्म होत ही, सारे दुःख नशाये.....
२. बालपने में बहुत ही भटके, मोह ने खूब सताये ।
जैसे तैसे गाड़ी निकारी, संयम अंश धराये.....
३. मारकूट के भये सयाने, सम्यक् ज्ञानी कहाये ।
मुक्ति श्री से सगाई हो गई, भय के भूत भगाये.....
४. विवाह रचावे की करी तैयारी, राग ने आन फंसाये ।
अपनत्व कर्तृत्व मुश्किल से टूटे, सहजानन्द बरसाये.....
५. चाह रुचि भी बदल गई सब, निजानन्द अब आये ।
ब्रह्मानन्द मगन हो नाचे, जय जयकार मचाये.....

भजन-२५**मत देखो किसी की ओर, निजानंद में लीन रहो ।**

१. शुद्धं प्रकाशं शुद्धात्म तत्त्वं, समस्त संकल्प विकल्प मुक्तं ।
देखो अब अपनी ओर.....निजानंद में
२. अपना किससे क्या मतलब है, क्यों रहती अब यह गफलत है ।
सेना लगी चहुँ ओर.....निजानंद में
३. क्रमबद्ध पर्याय सब निश्चित है, अपना न कोई कुछ किंचित है ।
मच रही धर्म की शोर.....निजानंद में
४. ध्रुव तत्त्व तुम सिद्ध स्वरूपी, ममल स्वभावी अरस अरूपी ।
ज्ञानानन्द धनघोर.....निजानंद में
५. दृढ़ता धरकर करो पुरुषारथ, वीतराग बन चलो परमारथ ।
ब्रह्मानंद सब ठौर.....निजानंद में

भजन- २६**उठो उठो हे त्रिलोकीनाथ, तरन जिन जग जाओ ॥**

१. देख लो जय जयकार मची है, बज रही है शहनाई ।
मुक्ति श्री खुद लेने आई, घर घर बजे बधाई.....
२. ज्ञानानन्द सहजानन्द आ गये, निजानन्द भी आ रहे ।
स्वरूपानन्द मगन हो नाचे, ब्रह्मानन्द बुला रहे.....
३. विषय कषाय सब भाग गये हैं, चाह रुचि भी बदल गई ।
पाप परिग्रह छूट गयो सब, मोह माया भी गल गई.....
४. जनरंजन जो राग भी गल गओ, मनरंजन गार बिला गओ ।
कलरंजन जो दोष छूट गओ, मोह को अंध नशा गओ.....
५. धर्म कर्म बरदान बने हैं, सब शुभ योग मिलो है ।
देख लो सब प्रत्यक्ष दिखा रहो, ज्ञान को सूर्य खिलो है.....
६. दृढ़ता धरकर उठ बैठो अब, कोई से मती डराओ ।
निज सत्ता शक्ति को देखो, जय जयकार मचाओ.....

भजन-२७**इक दिन जाने है चेतनवा, काये उलझो ॥**

१. आयु अंत जिस दिन आयेगा, बचा सके नहीं कोई ।
घर परिवार सब छूट जायेगा, अपनी दुर्गति होई
२. कौन से तुम्हरो का मतलब है, फिर क्यों अंधा हो रहे ।
पर के पीछे मरे जा रहे, मुफ्त जिन्दगी खो रहे
३. देख रहे हो जान रहे हो, फिर भी उल्टे मर रहे ।
पर के बीच में बोल रहे हो, उठा पटक ही कर रहे
४. भेदज्ञान तत्व निर्णय कर रहे, फिर काहे भरमा रहे ।
त्रिकाली पर्याय क्रमबद्ध, कौन हे कहा बता रहे
५. खुद ही मान लो दृढ़ता धर लो, दुर्गति से बच जाओ ।
ध्रुव तत्व का ध्यान लगाओ, मोक्ष परम पद पाओ
६. अरस अरूपी ज्ञान चेतना, शुद्ध बुद्ध अविनाशी ।
ज्ञानानन्द स्वभावी हो तुम, सहजानन्द सुख राशी
७. कुछ दिन के मेहमान बचे हो, अपनी बात बना लो ।
वीतराग बन करो पुरुषार्थ, शुद्धातम को ध्यालो
८. इधर उधर बिल्कुल मत भटको, कोई की तरफ न देखो ।
ममल स्वभाव में लीन रहो नित, यह सब कपड़े फेंको

भजन-२८**जगत में स्वारथ का सब काम ॥**

१. बिन स्वारथ कोई बात न पूछे, लेय न कोई नाम...जगत.....
२. मात पिता भगिनी सुत नारी, इन्हें चाहिये दाम...जगत.....
३. सब संसार स्वार्थ से चलता, बिन स्वारथ क्या काम... जगत.....
४. यह शरीर भी तब तक अच्छा, जब तक इस पर चाम...जगत.....
५. कोई का कोई नहीं है जग में, भुगतो खुद अंजाम...जगत.....
६. अब भी चेत जाओ ज्ञानानन्द, बन जाओ निष्काम...जगत.....

भजन-२९**मच रही मच रही रे जा जय जयकार, चलो रे अब तो मुक्ति चलो ॥**

१. साधु पद की दीक्षा ले लो, पाप परिग्रह छोड़ो ।
संयम तप की करो साधना, अपने मन को मोड़ो.....
२. धर्म की महिमा देखो सामने, जय जयकार मची है ।
चारों तरफ से छुट्टी हो गई, एक ही राह बची है.....
३. वीतराग निर्ग्रथ बनो, शुद्धातम ध्यान लगाओ ।
रत्नत्रय को धारण करके, मोक्ष परम पद पाओ.....
४. ज्ञानानन्द स्वयं ही हो गये, सहजानन्द भी आ गये ।
ब्रह्मानन्द तो साथ है अपने, निजानन्द भी छा गये.....
५. धर्म कर्म वरदान बने हैं, सब शुभयोग मिला है ।
दृढ़ता धरकर दांव लगाओ, यह सौभाग्य खिला है.....
६. राग के बाग में आग लगाओ, सब ही बन्धन तोड़ो ।
ज्ञानानन्द चलो जल्दी से, समय रह गयो थोड़ो.....

भजन-३०**रहो रहो रे निराकुल निर्द्वंद, अब काये डर रहे हो ॥**

१. जोन समय पर जो होने है, सब क्रमबद्ध और निश्चित ।
पर से अपनो का मतलब है, तुम क्यों रहते चिंतित...रहो.....
२. अपनो स्मरण ध्यान रखो नित, रहो आनन्द परमानन्द ।
किसी का तुम कुछ कर नहीं सकते, छोड़ो सब ये द्वंद फंद...रहो.....
३. जिसका जैसा जब होना है, होगा सब वैसा ही ।
तुम तो आतम परमातम हो, करो न कुछ कैसा ही...रहो.....
४. ज्ञानानन्द स्वभावी हो तुम, ज्ञान चेतना वाले ।
जागो देखो निज स्वभाव को, क्यों हो रहे मतवाले...रहो.....
५. अरस अरूपी निराकार हो, शुद्ध बुद्ध अविनाशी ।
छोड़ो अब यह मोह राग को, हो शिवपुर के वासी...रहो.....

भजन- ३१

देखो देखो रे समता से आतमराम, जगत में का हो रहो ॥

१. तुम्हरो कोई से कछु नहीं मतलब, काये मरे तुम जा रहे।
अपने आप ही सब हो रहो है, तुम क्यों चक्कर खा रहे...देखो.....
२. शांत रहो अपनी सुधि राखो, इधर उधर मत भटको।
हिम्मत करलो दृढ़ता धर लो, जग में अब मत भटको...देखो.....
३. अपना क्या है क्या करना है, किससे क्या है नाता।
अपना तो कोई भी नहीं है, भाई पिता और माता...देखो.....
४. अपनी अपनी सबको पड़ी है, सब मनमानी कर रहे।
जे हे जैसो करने कर रहो, तुम काहे को मर रहे...देखो.....
५. किसी का कोई नहीं दुनियां में, स्वारथ प्रीत है सारी।
ज्ञानानन्द चेत जाओ अब, छोड़ो दुनियांदारी...देखो.....

भजन- ३२

चैतन्य प्रभु की सरकार, जो मन हमरो का कर है ॥

१. अन्तः करण में चारई जुड़े हैं, मन बुद्धि चित अहंकार...जो.....
२. भूल से अपनी हम ही फंसे थे, मान रहे थे परिवार...जो.....
३. भेदज्ञान से भिन्न जान लये, अपने अपने ही सब करतार...जो.....
४. कामना वासना ममता आसक्ति, सब ही हैं दुःख के द्वार...जो.....
५. कर्ता भोक्ता सब ये ही हैं, हम तो हैं जाननहार...जो.....
६. अपनी सत्ता शक्ति देख लई, रत्नत्रय भंडार...जो.....
७. ध्रुव धाम के हम हैं वासी, शुद्ध बुद्ध अविकार...जो.....
८. तत्व निर्णय अब पूरो हो गओ, कर लओ सब स्वीकार...जो.....
९. कोई की बातों में अब नहीं लगेंगे, राखेंगे अपनी सम्हार...जो.....
१०. ज्ञाता दृष्टा ज्ञायक रहेंगे, उर में दृढ़ता धार...जो.....
११. ज्ञानानन्द स्वभाव हमारा, करेंगे मुक्ति बिहार...जो.....
१२. निजानन्द में मस्त रहेंगे, मचायेंगे जय जयकार...जो.....

भजन- ३३

मुट्ठी बांधे आया जग में, हाथ पसार जायेगा।

तेरे साथ में कुछ नहीं जावे, तू यों ही भरमायेगा ॥

१. पर को तूने अपना माना, अपना ध्यान नहीं लाया।
मोह अज्ञान में लिप्त रहा तू, चारों गति का दुःख पाया ॥
चेत अभी भी सावधान हो, दुःखों से बच जायेगा...तेरे.....
२. तन धन जन सब कर्म उदय से, मिलते और बिछुड़ते हैं।
कोई साथ न आता जाता, अपने आप सिकुड़ते हैं ॥
तूने इनको अपना माना, इससे दुर्गति पायेगा...तेरे.....
३. देख सम्हल जा अभी चेत जा, यह सब दुनियांदारी है।
अपनी मूढ़ता से तू मरता, मोह ने मति यह मारी है ॥
भेदज्ञान तत्व निर्णय करले, वरना धोखा खायेगा...तेरे.....
४. अरस अरूपी निराकार तू, ज्ञानानन्द स्वभावी है।
शुद्ध बुद्ध है अलख निरंजन, सिद्ध परम पद वासी है ॥
अपना ही श्रद्धान तू करले, कर्मों से छूट जायेगा...तेरे.....

भजन- ३४

बंधन मुक्त बंधा माने, फिर उसको कौन छुड़ाये।

प्रभुजी कैसी मति भरमाये ॥

१. सब प्रकार स्वतंत्र स्वाश्रय, ज्ञान ध्यान श्रद्धान।
पात्रतानुसार सब पक्का पूरा, आगे की कर रहे चाह... प्रभु.....
२. पाप पुण्य का भोग कर रहे, अपना नहीं बहुमान।
कैसे आनंद में रह रहे हो, इसकी नहीं परवाह... प्रभु.....
३. कोई शल्य विकल्प नहीं है, भय चिंता न खेद।
फिर भी उल्टे पड़े रो रहे, तुमको कौन समझाये... प्रभु.....

भजन- ३५

तू ही आतम परमातम है, तू ही स्वयं भगवान है ।
चेत अरे ओ मूरख पगले, कहां फंसा हैरान है ॥

१. नरतन पाया है तूने यह, नहीं जरा कुछ ध्यान है ।
मोह राग फंसा हुआ तू, बना हुआ हैवान है ॥
अब भी सोच समझ ले भैया, तू तो वीर महान है.....
२. देख साथ में क्या आया है, साथ तेरे क्या जायेगा ।
जैसा करेगा वैसा भरेगा, फिर पीछे पछतायेगा ॥
तन धन जन कोई साथ न देवे, विपत पड़े नादान है.....
३. किसका तू क्या कर सकता है, जो होना वह होता है ।
कर्ता बना तू मरा जा रहा, व्यर्थ जिन्दगी खोता है ॥
शांत नहीं रहता है इक क्षण, यह तेरा अज्ञान है.....
४. ज्ञायक रहकर देख तमाशा, स्वयं जगत परिणाम है ।
ज्ञानानन्द स्वभावी है तू, क्यों होता बदनाम है ॥
अपनी दशा सुधारो जल्दी, करो भेदविज्ञान है.....

भजन- ३६

रे साधक, चलो मोक्ष की ओर ॥

१. अब संसार तरफ मत देखो, यहाँ सभी हैं चोर... रे
२. मोह का राज्य सबमें है फैला, माया का है दौर ... रे
३. काम क्रोध मद लोभ घूम रहे, खाली न कोई ठौर... रे
४. एक समय साता नहीं जग में, नाच रहा मन मोर... रे
५. रत्नत्रय मयी निज आतम है, यही मोक्ष का छोर... रे
६. आनंद परमानंद बरसता, सुख शांति चहुं ओर... रे
७. सिद्ध स्वरूपी शुद्धातम हो, ज्ञानानंद का शोर... रे

भजन- ३७

निज घर लौट आओ भैया, तुमको बुला रही मैया ॥

१. पर में ही तुम भटकत फिर रहे, निज की खबर न आई ।
तुम्हरी फिकर में सभी किलप रहे, बाप बहिन और भाई... निज.....
२. बहिन तुम्हारी ममल सुदृष्टि, शुद्ध स्वभाव है भाई ।
पिता तुम्हारे शुद्धातम हैं, मुक्ति श्री है आई... निज.....
३. सखा मित्र रत्नत्रय धारी, बेटा परम पदम हैं ।
कौन के जाल में कहां फंसे हो, बुला रहे सोहम हैं... निज.....
४. अप्पा परम्प्रा तुम खुद हो, अनन्त चतुष्टयधारी ।
धन शरीर में काये मर रहे, कैसी मति यह मारी... निज.....
५. ज्ञानानन्द कहाते हो तुम, निजानन्द के भैया ।
पिता तुम्हारे केवलज्ञानी, माँ जिनवाणी मैया... निज.....
६. तारण तरण से गुरुवर तुम्हरे, शुद्धातम बतलावे ।
नन्द आनन्द में रहो हमेशा, निर्भय निर्द्वंद बनावे... निज.....

भजन- ३८

आतम ज्ञानानन्द सुखरासी ॥

१. शुद्ध बुद्ध है अलख निरंजन, है शिवपुर की वासी.....
२. सिद्ध स्वरूपी शुद्धातम है, शुद्ध बुद्ध प्रकासी.....
३. खुद को भूलकर भटक रही है, योनि लख चौरासी.....
४. पर के मोह में फंसी हुई है, इससे रहत उदासी.....
५. निज सत्ता शक्ति को देखे, मिट जाये भव फांसी.....
६. अनन्त चतुष्टय रत्नत्रय से, है परिपूरण खासी.....
७. ब्रह्मानन्द इसका स्वरूप है, सहजानन्द निवासी.....
८. ज्ञानानन्द रहो अपने में, होओ मुक्ति विलासी.....

भजन- ३९

तुम्हें का करने राम ,काहे को पर में भटक रहे ॥

१. कौन से अब का लेने देने , कौन से है का मतलब ।
निज सत्ता शक्ति को देखो , क्यों रहते हो गफलत ॥
२. जो होने वह हो ही रहो है, क्रमबद्ध सब निश्चित ।
अपने चाहे से कुछ नहीं होवे , टाले टले न किंचित् ॥
३. शुद्ध बुद्ध अविनाशी चेतन , तुम तो सिद्ध स्वरूपी ।
पर पुद्गल पर्याय भिन्न सब , तुम तो अरस अरूपी ॥
४. ज्ञानानन्द स्वभावी हो तुम, ज्ञाता दृष्टा ज्ञानी ।
कर्मोदायिक परिणमन सारा , काये बने अज्ञानी ॥
५. जे को जब जैसो होने है, हो रहो है होवेगो ।
आवो जावो सब निश्चित है , खोने है खोवेगो ॥
६. भेदज्ञान तत्त्व निर्णय कर लओ, अब का कसर बची है ।
धर्म मार्ग पर चल ही रहे हो , जय जय कार मची है ॥
७. शांत रहो समता से देखो , निज बहुमान जगाओ ।
अपने में ही लीन रहो नित , कहीं न आओ जाओ ॥

भजन- ४०

लीजे रत्नत्रय धार, आतमा ॥

१. सम्यक्दर्शन रतन अमोलक, तीन लोक में सार.....
२. सम्यक्ज्ञान की अनुपम महिमा, सुख शांति दातार.....
३. सम्यक्चारित्र मुक्ति का दाता, परमानन्द भंडार.....
४. पर से भिन्न स्वयं को लख लो, छूटे यह संसार.....
५. स्व का बोध ही सम्यक्ज्ञान है, कर दे बेड़ा पार.....
६. अपने में ही लीन रहो नित, यही मोक्ष का द्वार.....
७. ज्ञानानन्द स्वभावी आतम, गुरु तारण रहे पुकार.....
८. संयम तप की करो साधना, करो साधु पद स्वीकार.....

भजन- ४१

वह भी पर्याय थी, यह भी पर्याय है ।

तू तो है परम ब्रह्म, काहे भरमाय है ॥

१. देखना और जानना, फकत तेरा काम है ।
विष्णु बुद्ध शंकर, महावीर तेरा नाम है ॥
पर को क्यों देखने में, व्यर्थ भटक जाय है...तू.....
२. अपने को देखो बस, अपने को जानो ।
पर को न देखो, न कुछ अपना मानो ॥
अपनी अज्ञानता से, व्यर्थ दुःख उठाय है...तू.....
३. जो कुछ भी होता जाता, पुद्गल पर्याय है ।
तेरी ही दृष्टि से, कर्म बंध जाय है ॥
अपने में लीन रहो तो, मुक्ति पाय है...तू.....
४. तत्समय की योग्यता से, सभी क्रम चल रहा ।
अपने उदयानुसार, सब कर्म गल रहा ॥
ज्ञानानन्द मय रह सदा, तू क्यों पछताय है...तू.....
५. द्रव्य दृष्टि रखो सदा, पर्याय मत देखो ।
जो कुछ भी होता है, अपना मत लेखो ॥
अपना तो कुछ भी नहीं, तू क्यों भय खाय है...तू.....

पर का कर्ता आत्मा नहीं, राग का भी कर्ता नहीं, राग से भिन्न ज्ञायक मूर्ति हूँ, ऐसी अन्तर में प्रतीति करना ही सम्यक्दर्शन प्राप्त करने की विधि है । ऐसा समय मिला है जिसमें आत्मा को राग से भिन्न कर देना ही कर्तव्य है, अवसर चूकना बुद्धिमानी नहीं ।

भजन- ४२

कर्मों का विश्वास करो, और धर्म का श्रद्धान करो ।
भेदज्ञान ही करो निरंतर, उर में समता शांति धरो ॥

१. मोह उदय जब आता है, सब ज्ञान ध्यान भग जाता है ।
शल्य विकल्प ही चलने लगते, भय का भूत दिखाता है ॥
होश नहीं रहता है बिल्कुल, कैसा होगा क्या करो...भेदज्ञान.....
२. मोह उदय अज्ञान में चलता, ज्ञान में कुछ नहीं होता है ।
इतनी दृढ़ता हो अपने में, सारा भय गम खोता है ॥
ज्ञान अज्ञान में यही भेद है, ज्ञान करो या यूँ ही मरो...भेदज्ञान.....
३. कर्म बंध सबका अपना है, अपने में ही चलता है ।
जैसा बोया है जिसने जब, वैसा उसका फलता है ॥
कैसा बो रहे हो अब भी तुम, इसका जरा विचार करो...भेदज्ञान.....
४. आत्म तो है अरस अरूपी, ज्ञानानन्द स्वभावी है ।
एक अखंड सदा अविनाशी, सब घट घट में वासी है ॥
ऐसी श्रद्धा होवे अपनी, तो नित ही आनन्द करो...भेदज्ञान.....

भजन- ४३

पुण्य पाप नहीं करने, निर्वाणनाथ ॥

१. जो होवे सो देखत रहने, मोह राग सब हरने... निर्वाण.....
२. पुण्य भाव से पाप पलत है, धर्म ध्यान से हरने...निर्वाण.....
३. पुण्य पाप हैं जग के कारण, इनमें अब नहीं मरने... निर्वाण.....
४. पुण्य की दृष्टि धर्म भुलावे, पाप से नरक में परने ... निर्वाण
५. पुण्य पाप को उदय चल रहो, हिम्मत करके लरने ...निर्वाण
६. निजानन्द में रहने को नित, ज्ञानानन्द संयम धरने ...निर्वाण.....

भजन- ४४

जिससे है सबकी कीमत, उसकी खबर नहीं है ।
जड़ मोह में है गाफिल, अपनी फिकर नहीं है ॥

१. जिसके सुखी रहने पर, सब ही जश्न मनाते ।
जिसके निकल जाने पर, सब ही रुदन मचाते ॥
वह कौन है वा कैसा, इसकी खबर नहीं है
२. धन की भी क्या है कीमत, जब जीव निकल जाता ।
ऊपर से फेंकते हैं, कोई नहीं उठाता ॥
यह जीव क्या बला है, इसकी खबर नहीं है
३. इस तन की भी क्या है कीमत, इसको भी जला देते ।
सब देखते रहते हैं, कोई भी कुछ न कहते ॥
बेटा व बाप भाई, कोई बसर नहीं है.....
४. घर द्वार पड़ा रहता, संग में न कुछ भी जाता ।
देखो यह दुनियादारी, माया में ही भरमाता ॥
जो ज्ञानानंद स्वभावी, उसकी खबर नहीं है
५. कब तक मरोगे यूँ ही, पर की फिकर में भैया ।
अब चेत जाओ जल्दी, कहती जिनवाणी मैया ॥
यह आखिरी समय है, इसकी खबर नहीं है

तीन लोक तीन काल में सम्यक्दर्शन के समान सुखदायक अन्य कुछ नहीं है । यह सम्यक्दर्शन ही समस्त धर्मों का मूल है, इस सम्यक्दर्शन के बिना सभी क्रियायें दुःख दायक हैं । जिनेश्वर देव का कहा हुआ दर्शन सम्यक्दर्शन है वह गुणों में और दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनों रत्नों में सार अर्थात् उत्तम है और मोक्ष मन्दिर में चढ़ने के लिये पहली सीढ़ी है ।

भजन- ४५**लगना नहीं चाहिये, जो कुछ भी जैसा भी होवे ॥**

१. लगती है छिदती है तुमको, तो तुम हो अज्ञानी ।
ज्ञान श्रद्धान नहीं हैं कुछ भी, कर रहे हो मनमानी ॥
२. जब अपना कुछ है ही नहीं हैं, फिर काहे को डरते ।
जब अपने को कुछ नहीं चाहिये, फिर काहे को मरते ॥
३. जब जैसा होने हो रहो है, टाल फेर नहीं सकते ।
समता शांति से सब देखो, फिर काहे को भगते ॥
४. पाप पुण्य से क्यों डरते हो, जो होना हो होवे ।
अपने को कुछ करना ही नहीं है, करने वाला रोवे ॥
५. कर्म उदय जब तक वैसा है, तुम में शक्ति नहीं है ।
समता मय ज्ञायक रह भोगो, यही निर्जरा सही है ॥
६. हिम्मत हो ज्ञानानंद तुममें, मुनि दीक्षा को धारो ।
सब कर्मों से छूट जाओगे, मोह राग को मारो ॥

भजन- ४६**हे भवियन अनुभव ज्ञान प्रमाण ।**

१. अनुभव हुआ विरक्तता आई, ज्ञान ही है प्रत्याख्यान ।
बातें करके मन समझाओ, लगे रहो तो अनजान ... हे
२. सामने कोई सांप देखकर, कदम रखे नादान ।
ज्ञान बूझकर जो उलझा है, उसका सब मिथ्याज्ञान... हे
३. आग में कोई हाथ न डाले, डाले वह मूढ़ अज्ञान ।
तुम भी अभी तक फंसे मोह में, हुआ न सम्यक्ज्ञान .. हे
४. अनुभव चिंतामणि रतन है, अनुभव मोक्ष विमान ।
ज्ञानानन्द करो निज अनुभव, हो जावे कल्याण... हे

भजन- ४७**तुम का चाहो नाथ, रत्नत्रय के धारी ॥**

१. सुख शांति तुम्हरे ही भीतर, आनंद भरो पड़ो है ।
अरस अरूपी ज्ञान चेतना, कर्मों को झगड़ो है ॥
तुम जग जाओ नाथ, कैसी मति तुम्हारी मारी
२. जड़ पुद्गल नश्वर शरीर है, मल और मांस भरा है ।
इसके विषयों में भरमा रहे, ढोल की पोल धरा है ॥
तुम हट जाओ नाथ, ज्ञान दर्श भंडारी
३. धन शरीर घर में क्या रक्खा, सब जड़ पुद्गल न्यारे ।
भूल स्वयं को भटक रहे हो, फिर रहे मारे मारे ॥
अब मत दाहो नाथ, भूल है अपनी ही सारी
४. तीन लोक के नाथ कहाते, अनंत चतुष्टय वाले ।
ब्रह्म स्वरूपी चेतन लक्षण, ज्ञानानंद मतवाले ॥
अब रम जाओ नाथ, मुक्तिश्री तुम्हारी नारी

भजन- ४८**हे साधक ममल भाव रहिये ॥**

१. पर पर्याय को अब मत देखो, पुद्गल को तजिये ।
ज्ञायक स्वरूप रहो अपने में, शुद्धात्म भजिये ... हे
२. निजानन्द में लीन रहो नित, समता को गहिये ।
इस शरीर का पीछा छोड़ो, पर में न बहिये ... हे
३. भाव विभाव जे अपने नाहीं, ॐ नमः जपिये ।
दृढ़ता से ही काम चलेगा, वीतराग बनिये ... हे
४. ज्ञानानन्द स्वभाव तुम्हारा, ब्रह्मानन्द रमिये ।
स्वरूपानन्द की करो साधना, अब कुछ न कहिये ... हे
५. सहजानन्द मगन नित रहिये, अब का है चाहिये ।
तारण तरण का शरणा पाया, मोह राग तजिये ... हे

भजन- ४९

पल में का होवे राम, पल को ठिकानो कुछ नहीं है ।
अपनी सुध राखो राम, देखो जा सद्गुरु ने कही है ॥

१. देहालय सोइ सिद्धालय है, इसमें भेद नहीं है ।
जो जन इसकी श्रद्धा करते, मुक्ति पाते वही हैं.....
२. एक समय पहले मृगराजा, मृगा हे थो खा रहो ।
उसी घड़ी में शुद्ध दृष्टि हो, शुद्धात्म को ध्या रहो.....
३. एक समय पहले श्रेणिक ने, नरक आयु थी बांधी ।
उन्हीं मुनि के चरणों में जा, ध्यान समाधि साथी.....
४. सुमेरु मुनि एक क्षण पहले, राजा से थे लड़ रहे ।
दूजे समय वे केवलज्ञानी, समवशरण में सज रहे.....
५. धर्म की महिमा बड़ी अपूर्व है, इसको कोई न जानी ।
जिनवाणी कबसे समझा रही, फिर भी एक न मानी.....
६. धर्म कर्म दोनों की गति को, कोई ने भी नहीं जानी ।
ज्ञानानंद चेत जाओ अब, बनो सत्य श्रद्धानी.....
७. अपनी सुरत रखो निशिवासर, अपना ध्यान लगाओ ।
कर्मों में वृथा मत उलझो, इधर उधर मत जाओ.....

वास्तव में तो सम्यक्दर्शन पर्याय ही है; किन्तु जैसा गुण है वैसी ही उसकी पर्याय प्रगट हुई है, इस प्रकार गुण पर्याय की अभिन्नता बताने के लिये कहीं-कहीं उसे सम्यक्त्व गुण भी कहा जाता है किन्तु वास्तव में सम्यक्त्व पर्याय है, गुण नहीं । जो गुण होता है वह त्रिकाल रहता है, सम्यक्त्व त्रिकाल नहीं होता किन्तु उसे जीव जब अपने सत्पुरुषार्थ से प्रगट करता है तब होता है इसलिये वह पर्याय है ।

भजन- ५०

दुनियां की क्यों चिंता करता, दुनियां से क्या काम रे ।
सिद्ध समान धौव्य अविनाशी, तू तो आतम राम रे ॥

१. घर परिवार नहीं है तेरा, अरस अरूपी चेतन है ।
धन शरीर सब जड़ पुद्गल हैं, रूपी द्रव्य अचेतन हैं ॥
मोह में इनके मरा जा रहा, भूल रहा निज धाम रे.....
२. पर का तू कुछ कर नहीं सकता, होना जाना निश्चित है ।
तेरे करे से कुछ नहीं होता, तू क्यों रहता चिंतित है ॥
अपना ध्यान लगा ले पगले, तू तो है शुद्धात्म रे.....
३. क्रमबद्ध पर्याय सब निश्चित, होना है वह हो ही रहा ।
तेरा किससे क्या मतलब है, तू काहे को रो ही रहा ॥
तेरा किससे क्या नाता है, तू तो है ध्रुव धाम रे.....
४. ज्ञानानंद स्वभावी आतम, पर का कुछ न करता है ।
मोह राग में फँसा हुआ खुद, इसका सुख दुःख भरता है ॥
पर की ओर देखता है तू, इससे है बदनाम रे.....

भजन-५१

अपने में खुद ही समा जइयो, आतम वीतरागी ।

१. पर से का मतलब स्वयं को देखो ।
निज सत्ता शक्ति को अपनी लेखो...अपने.....
२. सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्म कहाते ।
खुद ही जागो अब किसको जगाते...अपने.....
३. अरस अरूपी चतुष्टय के धारी ।
शुद्ध बुद्ध ज्ञायक हो मुक्ति बिहारी...अपने.....
४. ज्ञानानंद स्वभावी परमानन्द धारी ।
ब्रह्मानन्द सुनो विनती हमारी...अपने.....

भजन- ५२

करो करो रे धर्म को बहुमान, अब काये मर रहे हो ॥

१. अपनो जग में कोई नहीं है, कछु साथ नहीं जाने।
चेतन तत्व अकेलो आतम, वृथा ही भरमाने.....
२. भेदज्ञान से निर्णय कर लो, मैं हूँ सिद्ध स्वरूपी।
शुद्ध बुद्ध अविनाशी ज्ञायक, चेतन अरस अरूपी.....
३. आनन्द परमानन्द मयी हो, सुख स्वभाव के धारी।
मोह राग में मरे जा रहे, कैसी मति यह मारी.....
४. अपनी ही सत्श्रद्धा कर लो, पाप परिग्रह छोड़ो।
संयम तप की करो साधना, मोह का बंधन तोड़ो.....
५. ज्ञानानन्द स्वभावी होकर, कहां भटकते फिर रहे।
चार गति चौरासी योनि में, कैसे कैसे पिर रहे.....
६. देखो कैसा मौका मिला है, सब शुभ योग है पाया।
सत्गुरु तारण तरण का शरणा, इस नरभव में आया.....

भजन- ५३

आतम निज शक्ति जगइयो, धर्म की श्रद्धा बढ़इयो ॥

१. धर्म की महिमा अनुपम निराली, इससे कटती कर्म की जाली ॥
शुद्धातम ध्यान लगइयो.....धर्म की.....
२. धर्म प्रभावना निज में होती, भय चिंता सब ही है खोती ॥
निजानन्द बरसइयो.....धर्म की.....
३. सुख शांति समता नित बढ़ती, मद मिथ्यात्व कषायें झड़ती ॥
ब्रह्मानन्द रम जइयो.....धर्म की.....
४. एकै साथे सब सधता है, ज्ञान ध्यान खुद ही बढ़ता है ॥
जय जयकार मचइयो.....धर्म की.....
५. ज्ञानानन्द करो पुरुषार्थ, क्यों मर रहे हो जग में अकारथ ॥
मुक्ति श्री वर लइयो.....धर्म की.....

भजन- ५४

जागो चेतन निजहित कर लो, कर लो अब तैयारी हो।

न जाने इस मनुष जन्म की, होवे सोलहवीं वारी हो ॥

१. दो हजार सागर के लाने, त्रस पर्याय यह पाई है।
दो इन्द्रिय से पंचेन्द्रिय में, कितनी समय बिताई है ॥
अपना निर्णय खुद ही कर लो, वरना फिर लाचारी हो...न.....
२. नित्य निगोद से निकल आये हो, मुक्ति श्री को पाना है।
गर प्रमाद में रहे भटकते, इतर निगोद फिर जाना है ॥
कोई साथ न आवे जावे, स्वयं की दुर्गति भारी हो...न.....
३. सद्गुरु का शुभ योग मिला है, सब अनुकूलता पाई है।
पुण्य उदय भी साथ चल रहा, बज रही यह शहनाई है ॥
अपनी ओर स्वयं ही देखो, यह तो दुनियांदारी हो...न.....
४. निज बल पौरुष जगाओ अपना, माया मोह का त्याग करो।
राग द्वेष भी खत्म करो यह, साधु पद महाव्रत धरो ॥
ढील ढाल से काम न चलता, हिम्मत हो हुश्यारी हो...न.....
५. ज्ञानानन्द स्वभाव तुम्हारा, अनन्त चतुष्टय धारी हो।
आतम परमात्म कहलाते, हो रही क्यों दुश्चारी हो ॥
निर्भय होकर आओ सामने, जय जयकार तुम्हारी हो...न.....

सम्यक्दृष्टि अपने निज स्वरूप को ज्ञाता-दृष्टा, पर
द्रव्यों से भिन्न, शाश्वत और अविनाशी जानता है। पर
द्रव्य को तथा रागादिक को क्षणभंगुर, अशाश्वत, अपने
स्वभाव से भली-भांति भिन्न जानता है इसलिये सम्यक्दृष्टि
रागी नहीं होता।

भजन- ५५**जा रही जा रही रे जा मोक्षपुरी को रेल ।****चलो तो जामें बैठ चलो ॥**

१. चलने है तो करो तैयारी, छोड़ो मोह और ममता ।
धर्म ध्यान में चित्त लगाओ, मन में धारो समता...जा.....
२. ब्रह्मचर्य की दीक्षा ले लो, पाप परिग्रह छोड़ो ।
विषय कषाय से दूर हटो खुद, घर को बंधन तोड़ो...जा.....
३. खर्चा पानी कुछ नहीं चाहिये, आत्म जागरण होना ।
निर्भयता निर्मोहिता चाहिये, कुछ होय नहीं रोना...जा.....
४. चलने है तो नाम लिखाओ, करो तैयारी ऐसी ।
संयम तप की करो साधना, ढील ढाल फिर कैसी...जा.....
५. ज्ञानानन्द तो पास है अपने, निजानन्द जगा लो ।
सहजानन्द तो साथ चलेंगे, ब्रह्मानन्द सजा लो...जा.....

भजन- ५६**उलझो मत चेतन कही मानो, अपनी सत्ता को पहिचानो ॥**

१. तुम हो एक अखंड अविनाशी, ज्ञानानन्द शिवपुर के वासी ।
सहजानन्दी हो सुखदानो उलझो
२. ध्रुव तत्त्व हो सिद्ध स्वरूपी, ममलह ममल हो अरस अरूपी ।
ध्रुव धाम को आगओ परवानो उलझो
३. जड़ शरीर से न्यारे हो गये, कर्म कषायें भी सब खो गये ।
फिर क्यों इनको अपनो जानो उलझो
४. अशुद्ध पर्याय सब तुमसे न्यारी, फिर तुम्हरी कैसी मति मारी ।
दृढ़ता धर पुरुषार्थ ठानो उलझो
५. निर्भय मस्त रहो अपने में, बिल्कुल मत बहको सपने में ।
ब्रह्मानन्द बनो स्यानो उलझो

भजन- ५७**पीछे की न सोचो, न आगे की कुछ चाहो ।****वर्तमान को इन दोनों के चक्कर में मत दाहो ॥**

१. पीछे जो कुछ होना था, वह गुजर चुका ।
अच्छा बुरा पुण्य पाप, सब गुजर चुका ॥
वर्तमान में देखो, तुम कैसे हो और का हो
२. धन वैभव की मूर्च्छा है, तो बोलो तुम क्या करते हो ।
काम दाम और नाम के पीछे, कुढ़ कुढ़ कर ही मरते हो ॥
समता ही अब धर लो, तो सच्चो सुख तुम पा हो
३. जैसा तुम्हारा कर्म उदय था, वैसा ही सब पाया है ।
इष्ट अनिष्ट संयोग मिले सब, वैसा ही सब खाया है ॥
अब भी मूढ़ बने हो अंधा, दुरगति में ही जाहो
४. आगे जैसा होना होगा, वैसा ही सब होवेगा ।
कौन जानता है कैसा हो, व्यर्थ चाहकर रोवेगा ॥
ज्ञानानन्द मय रहो निरन्तर, जीवन सफल बनाओ
५. अरस अरूपी ज्ञान चेतना, तुम हो जीव अकेले ।
यह शरीर धन कुछ नहीं अपना, मान रहे हो भेले ॥
भेदज्ञान अब कर लो, तो जय जयकार मचाओ
६. ज्ञानानन्द स्वभावी हो तुम, ज्ञानानन्द में लीन रहो ।
पर की तरफ न देखो बिल्कुल, और किसी से कुछ न कहो ॥
निर्भय होकर अब तो, तुम अपने में रम जाओ

सम्यक्दर्शन सहित जीव का नरकवास भी श्रेष्ठ है परन्तु सम्यक्दर्शन रहित जीव का स्वर्ग में रहना भी शोभा नहीं देता; क्योंकि आत्मज्ञान बिना स्वर्ग में भी वह दुःखी है, जहां आत्मज्ञान है वहीं सच्चा सुख है ।

भजन- ५८

धन की कमी नहीं जग में, मिलना उतनई मिलेगा ।

पाप करो चाहे तृष्णा, मिलना उतनई मिलेगा ॥

१. जैसा किया था वैसा ही ढंग है ।
सबका भाग्य अपने ही संग है ॥
भूखो मरो करो कितना ... मिलना
२. कौन कहाँ से का कर रहो है ।
कौन हे कहाँ से का मिल रहो है ॥
देखो करो चाहे जितना ... मिलना
३. आना जाना सब निश्चित है ।
लोभ मोह से तू चिन्तित है ॥
कर्मों का अद्भुत करिश्मा ... मिलना
४. दान पुण्य से धन मिलता है ।
जैसा किया हो वह खिलता है ॥
करते रहो व्यर्थ भ्रमना ... मिलना
५. दान भोग और नाश है धन का ।
सुख दुःख होता है, सब मन का ॥
मन की ही सारी किलपना... मिलना

सम्यक्दर्शन की प्राप्ति के बाद संसार परिभ्रमण का न्यूनतम काल अन्तर्मुहूर्त और अधिकतम अर्द्धपुद्गल परावर्तन मात्र हैं । सम्यक्त्व की प्राप्ति से सम्यक्दृष्टि जीव के सांसारिक दोषों का क्रमशः अभाव और आत्म गुणों की क्रमशः प्राप्ति अर्थात् शुद्धि का क्रम प्रारम्भ हो जाता है ।

भजन- ५९

भगवान हो भगवान हो, तुम आत्मा भगवान हो ।

यह घर तुम्हारा है नहीं, यहाँ चार दिन मेहमान हो ॥

१. चक्कर लगाते फिर रहे, इस तन में तुम बंदी बने ।
अपने ही अज्ञान से, राग द्वेष में हो सने ॥
अपना नहीं है होश, बस इससे ही तुम हैरान हो
२. चेत जाओ जाग जाओ, धर्म की श्रद्धा करो ।
देख लो निज सत्ता शक्ति, मत मोह में अंधा बनो ॥
अनन्त चतुष्टयधारी हो, इसका तुम्हें बहुमान हो
३. रत्नत्रय स्वरूप तुम्हारा, सुख शांति आनन्द धाम हो ।
पर में मरे तुम जा रहे, इससे ही तुम बदनाम हो ॥
करना धरना कुछ नहीं, अपना ही बस स्वाभिमान हो
४. माया तुमको पेरती, राग द्वेष से हैरान हो ।
अपना आत्म बल नहीं, इससे ही तुम परेशान हो ॥
जाग्रत करो पुरुषार्थ अपना, तुम तो सिद्ध समान हो
५. ज्ञानानन्द स्वभावी हो, ब्रह्मानन्द के धाम हो ।
निजानन्द में लीन रहो, सहजानन्द सुखधाम हो ॥
स्वरूपानन्द की करो साधना, इससे ही निर्वाण हो

पहले आत्मा का आगम ज्ञान से ज्ञान स्वरूप निश्चय करके; फिर इन्द्रिय बुद्धि रूप मतिज्ञान को ज्ञानमात्र में ही मिलाकर तथा श्रुतज्ञान रूपी नयों के विकल्पों को मिटाकर श्रुतज्ञान को भी निर्विकल्प करके एक अखण्ड प्रतिभास का अनुभव करना ही सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान के नाम को प्राप्त करता है । सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान कहीं अनुभव से भिन्न नहीं हैं ।

भजन- ६०

**धन की कमी नहीं है, मिलना वही मिलेगा ।
जो कुछ भी तुमने बोया, वैसा ही सब खिलेगा ॥**

१. जैसे कर्म किये थे, वैसा ही पा रहे हो ।
जो कुछ लिया दिया था, वैसा ही खा रहे हो ॥
२. कैसा किया था हमने, यह प्रश्न उठता मन में ।
सब सामने है देखो, जिनराज के वचन में ॥
३. तृष्णा व लोभ से अब, जो पाप कर रहे हो ।
खुद भोगना पड़ेगा, जो कुछ भी धर रहे हो ॥
४. बाहर की यह विभूति, सब दान से है मिलती ।
अंतर की जो विभूति, सच्ची श्रद्धा से खिलती ॥
५. अब चाहते हो तुम क्या, खुद सोच लो यह मन में ।
जग में तो सुख नहीं है, सुख न मकान धन में ॥
६. सुख शांति यदि चाहिये, तो भेदज्ञान कर लो ।
सब लोभ मोह छोड़ो, संतोष मन में धर लो ॥
७. अपना नहीं है कुछ भी, तुम हो स्वयं अरुपी ।
क्यों व्यर्थ में भटकते, ज्ञानानन्द स्वरूपी ॥

भजन- ६१

अब मत नाव डुबड़यो रे भैया ॥

१. बड़ी मुश्किल से मौका मिलो है, अब मत धोखा खड़यो
२. श्रावक कुल मानुष भव पाया, धर्म शरण अब गहियो
३. बहुत फिरे चहुंगति दुःख पाये, अपनी बात बनड़यो
४. नाव किनारे आ ही गई है, भूल में मत भटकड़यो
५. तारण गुरु से सद्गुरु पाये, तारण तरण बन जड़यो
६. भेदज्ञान कर निजानन्द मय, ज्ञानानन्द कहड़यो

भजन- ६२

**देखो प्रभु परमात्मा, अपने में तुम रहो ।
मत देखो पर की ओर अब, मत व्यर्थ भ्रमो तुम ॥**

१. देखो जगत में कोई भी, कुछ भी नहीं अपना ।
सब द्रव्य भिन्न अपने से, संसार है सपना ... देखो
२. तुम हो अरस अरूपी, निराकार निरंजन ।
शुद्ध बुद्ध ज्ञायक, चैतन्य भव भंजन ... देखो
३. सब जीव आत्मायें, अपने में हैं स्वतंत्र ।
कोई किसी का कर्ता नहीं, कोई न परतंत्र ... देखो
४. पुद्गल का परिणामन भी, सब स्वतंत्र निराला ।
कर्मों का उदय बंध ही है, इसका रखवाला ... देखो
५. कर्मों का बंध नाश, प्रभु होता है तुमसे ।
जैसी तुम्हारी दृष्टि हो, और भावना उससे ... देखो
६. अपने में रहो शांत, हो कर्मों का सफाया ।
कुछ भी न रहे बाकी, रहे ज्ञानानन्द छाया ... देखो

श्रुत देवता या जिनवाणी के प्रसाद से ही हमें यह ज्ञात होता है कि पूजने योग्य कौन हैं और क्यों हैं ? तथा उनकी पूजा हमें किस प्रकार की करनी चाहिये इसलिये जिनवाणी भी पूज्य है । अगर शास्त्र न होते तो हम देव के स्वरूप को भी नहीं जान सकते थे, फिर जिनवाणी स्याद्वाद नय गर्भित है । जो भक्ति पूर्वक श्रुत को पूजते हैं वे परमार्थ से जिनदेव को ही पूजते हैं क्योंकि सर्वज्ञ देव ने श्रुत और देव में थोड़ा सा भी भेद नहीं कहा है ।

तारण की जीवन ज्योति : संक्षिप्त परिचय

भारतीय संस्कृति के इतिहास में इस देश के मानव समाज को आध्यात्मिक क्रान्ति द्वारा आत्महित की मंगलमयी दिशा देने वाले संतों की परम्परा में वीतरागी संत आचार्य श्री जिन तारण स्वामी का नाम अग्रणीय है।

भारत अध्यात्म प्रधान देश है। यहां समय-समय पर अध्यात्मवादी संतों ने जन्म लेकर धर्म के नाम पर क्रियाकाण्ड आडम्बर और पाखण्डवाद से शोषित विशाल जन समुदाय को सन्मार्ग दिखाया, मानवीयता का मूल आधारभूत अध्यात्ममय धर्म का स्वरूप जगत के जीवों को बताकर अनन्त-अनन्त उपकार किया है।

सन्त तारण स्वामी ऐसे ही महान व्यक्तित्व के धनी थे। जिनके जीवन में अध्यात्म और वीतरागता का अपूर्व सामंजस्य था। प्रचुर स्व संवेदन सहित जिनकी वीतराग दशा दिनों दिन बढ़ रही हो और जिनके जीवन से आध्यात्मिक महान क्रान्ति का इतिहास जुड़ा हो, ऐसे महान प्रतिभा सम्पन्न आचार्य तारण स्वामी अपने आप में विरले ही सन्त थे। उनका जन्म सोलहवीं शताब्दी में विक्रम संवत् १५०५ मिति अगहन सुदी सप्तमी को पुष्पावती नगरी (बिलहरी) में पिता श्री गढ़ाशाह जी, माता श्री वीरश्री देवी के यहाँ हुआ था।

बचपन से ही वैराग्य सम्पन्न साधुता के संस्कारों से ओतप्रोत श्री जिन तारण स्वामी ने अल्पवय में ही विशिष्ट ज्ञानार्जन कर वीतरागी धर्म मार्ग पर चलने का दृढ़ संकल्प करके स्वयं आत्म कल्याण के मार्ग पर चलते हुए भारतीय वसुन्धरा पर मानव मात्र के लिये हितकारी शुद्ध अध्यात्मवाद का शंखनाद किया और जन-जन को यह स्पष्ट रूप से बता दिया कि मानव का धर्म एक मात्र अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप की पहिचान कर अहिंसा, सत्य, मैत्री, दया और प्रेममय जीवन बनाना ही है।

सत्-असत् के पारखी, सत्य के अनुभवी सन्त कहलाते हैं। आत्म ज्ञानी वीतरागी सन्तों को जनरंजन राग, कलरंजन दोष, और मनरंजन गारव से कोई प्रयोजन नहीं रहता इसीलिये वे यश की चाह और लौकिक प्रभावना के राग

से दूर रहते हैं। यद्यपि सन्तों का लक्ष्य तो आत्म हितकारी वीतरागी मार्ग पर निरंतर चलते रहने और आत्म कल्याण करने का होता है, यही कारण है कि वे राग के निमित्तों से हटते बचते हुए स्वभाव की आराधना में रत रहते हैं फिर भी खिले हुए पुष्प की फैलती हुई सुगंध की भांति ज्ञानी महापुरुषों की आत्म आराधना और वीतरागता की महिमामय साधना की सुगंध चहुं ओर फैलती है, जिससे जगत के जीव सहज ही उनकी ओर आकर्षित होते हैं और उनसे वीतरागी तत्त्व ज्ञान प्राप्त कर आत्म कल्याण करते हैं।

श्री गुरु तारण तरण मंडलाचार्य जी महाराज का जन्म जैन कुल में अवश्य हुआ था; परन्तु वे जाति सम्प्रदाय आदि के सभी बन्धनों से दूर जन-जन के सन्त थे। संसार के समस्त जीवों के प्रति जिनके हृदय में करुणा का सागर हिलोरे ले रहा हो और प्राणी मात्र जिन्हें परमात्म स्वरूप दिखाई देता हो ऐसे संत के अन्तरंग में “अयं निजः परोवेत्ति” यह अपना है और यह पराया है, ऐसी निम्न भावना तो होती ही नहीं है अपितु “वसुधैव कुटुम्बकम्” का उदार चारित्र प्रगट होता है और यह विशेषता सन्त तारण स्वामी के जीवन में उनकी आत्मानुभूति तथा अध्यात्म साधना के द्वारा प्रगट हुई थी। उनका व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली था कि जो भी व्यक्ति उनका जन कल्याणकारी उपदेश सुनता, उनके दर्शन करता वह स्वयं ही उनके प्रति श्रद्धा सहित समर्पित होकर अध्यात्म का मार्ग ग्रहण कर लेता था।

ऐसे आध्यात्मिक क्रान्तिकारी संत श्री गुरु तारण स्वामी के जीवन परिचय को जानने की जिज्ञासा समस्त समाज बन्धुओं को रही है परन्तु उनके ही ग्रन्थों में अन्तर्निहित उनके जीवन्त परिचय को खोजने वाली दृष्टि का अभाव होने से समाज की इस जिज्ञासा की पूर्ति अभी तक न हो सकी थी। वर्षों से चली आ रही इस अपूर्ण जिज्ञासा की पूर्ति के लिये यह मात्र तारण तरण जैन समाज का ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण जैन समाज का सौभाग्य है कि वीतरागी महान संत सद्गुरु श्री जिन तारण स्वामी की परम्परा में अध्यात्म शिरोमणी पूज्य श्री ज्ञानानन्द जी महाराज विगत २५ वर्षों से अध्यात्म साधना में रत रहते हुए सम्पूर्ण

समाज को अध्यात्ममय जन जागरण की एक नई दिशा प्रदान कर रहे हैं। “**तारण की जीवन ज्योति**” पूज्य श्री के द्वारा लिखी गई अनमोल कृति है। इसकी रचना का इतिहास भी बहुत ही चित्ताकर्षक है। जिन-जिन ग्रन्थों के आधार पर यह सृजित हुई है, उन ग्रन्थों का समावेश इसकी रचना के इतिवृत्त में ही समाहित हो जाता है।

तारण की जीवन ज्योति की रचना के पूर्व पूज्य श्री ज्ञानानन्द जी महाराज ने अष्टान्हिका पर्वों के अवसर पर, दीपावली के अवसर पर, पर्यूषण पर्वों के समय में अनेकों बार श्री तारण तरण अध्यात्म वाणी जी चौदह ग्रन्थों का आद्योपांत स्वाध्याय मनन किया और साथ ही साथ ठिकानेसार, निर्वाण हुँडी, न्यानपिंड की पालहड़ी आदि ग्रन्थों का गहराई से चिन्तन किया। चौदह ग्रन्थों की कुछ प्राचीनतम हस्तलिखित पांडुलिपियों का भी बारीकी से अवलोकन किया, अन्त में श्री ममलपाहुड़, छद्मस्थवाणी जी और नाममाला आदि ग्रन्थों का सूक्ष्मता से अध्ययन कर साधना में संलग्न रहते हुए उपरोक्त ग्रन्थों के आधार पर ईस्वी सन् १९७७-७८ में तारण की जीवन ज्योति लिखने की पृष्ठ भूमि तैयार की; पश्चात् सन् १९७९ में बरेली में पूज्य श्री प्रतिज्ञा पूर्वक दो माह की मौन साधना रत रहे। इस मौन साधना के समय में ही जीवन ज्योति का लेखन कार्य प्रारंभ हुआ और उसके बाद जब-जब भी एक-एक, दो-दो, माह की मौन साधना की, “तारण की जीवन ज्योति” अनवरत रूप से लिखाती रही।

विशालता की दृष्टि से यह चार भागों में विभाजित है। संत तारण स्वामी की जीवनी सरलता से सबकी समझ में आ सके इस बात का ध्यान रखते हुए पूज्य श्री ने तारण की जीवन ज्योति को एकांकी के रूप में लिखा है। इसके चार भागों में परिच्छेदों की संख्यायें भिन्न-भिन्न हैं। पहले भाग में ३२ परिच्छेद हैं, इसमें माँ वीरश्री और तारण स्वामी की आपस में चर्चा हृदय को वैराग्य भावनाओं मय कर देने वाली है। तारण स्वामी ने २१ वर्ष की किशोरावस्था में बाल ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने का संकल्प किया इसके पश्चात् उनके वैराग्य भाव एवं धर्म मार्ग पर आगे बढ़ने की भावनाओं के कारण सब जीवों में प्रभावना होने लगी और मंदिर में दो बहिनों की वार्ता तथा दो मित्रों की चर्चा भी इस प्रथम

परिच्छेद में दी गई है। इसके आगे के परिच्छेदों और भागों में सद्गुरु के जीवन परिचय को स्पष्ट करने वाला विषय क्रमशः वृद्धिगत होता गया है।

प्रथम परिच्छेद में हुई चर्चा वार्ताओं के पश्चात् अन्य प्रकरणों में चंदेरी गादी पर स्थित तत्कालीन भट्टारक, गुप्तचर से समय-समय पर तारण स्वामी से संबंधित सब जानकारी करते रहते थे, वह इतिहास इसमें आया है। तारण स्वामी के अन्य साथियों की तत्व चर्चायें, भजन फूलनामय अध्यात्म भक्ति के कार्यक्रम, विरु ब्रह्मचारी की पंडितवर्ग, श्रेष्ठिवर्ग व अन्य बंधुओं से हुई चर्चायें, रुझा रमण, कमलावती, विरु, वैद्य, डालु, पाताले, मनसुख आदि प्रमुख शिष्यों व पंडित वर्ग के लोगों की समय-समय पर हुई बैठक और उनमें लिये गये सामाजिक धार्मिक अनुशासनपूर्ण निर्णय, इन सब चर्चा वार्ताओं के साथ ही सद्गुरु तारण स्वामी की अध्यात्म साधना और शुद्ध अध्यात्म के शंखनाद से हुई आध्यात्मिक क्रांति, तारण स्वामी का उपदेश, सद्गुरु द्वारा प्रारम्भ हुई वीतराग धर्म की प्रभावना, समाज में आध्यात्मिक क्रांति एवं जागरण, भट्टारकों और उनके ही पांडे पंडितों को यह सत्य धर्म की प्रभावना सहन न होना, फल स्वरूप अनेक प्रकार के प्रलोभनों में तारण स्वामी को फंसाने का उपक्रम.... षडयंत्र.... लेकिन सब निरर्थक ही रहे। संत तारण स्वामी को अपने छल प्रपंच के जाल में फंसा पाने में असमर्थ भट्टारकों द्वारा की गई गुप्त मंत्रणायें, जहर देने का षडयंत्र, धन का लोभ देकर एवं सामाजिक दबाव से भयभीत कर मामा श्री लक्ष्मण सिधई के द्वारा जहर दिलवाना, लोगों में क्रांति और तारण स्वामी का अपूर्व समता भाव, माँ वीरश्री का समाधिमरण, तारण स्वामी की सप्तम प्रतिमा की दीक्षा होना, विशेष साधना प्रभावना होना, पुनः असंतुष्ट पाण्डे पंडितों द्वारा षडयंत्र पूर्वक तारण स्वामी को नदी में डुबाने की योजना और तीन बार डुबाने पर तीन टापू बनना आदि सभी घटनायें अत्यंत मर्मस्पर्शी हैं। इतना सब होने के बाद भी तारण स्वामी का उत्तम क्षमा भाव महान आदर्श के रूप में प्रगट होता है। इन सभी घटनाओं को जीवन ज्योति में पढ़ने से हृदय रोमांचित हो उठता है।

तारण पंथ का निर्माण किन कारणों से हुआ, कब और कैसे हुआ,

इसमें किसकी भूमिका प्रमुख रही, तारण पंथ का मूल आचार क्या है और कैसे बना ? यह सभी तलस्पर्शी रहस्य क्रमानुसार चारों भागों में विशद विवेचन सहित स्पष्ट हुए हैं। समाज के बंधुओं की या जो जीव इन रहस्यों को समझना चाहते हैं उन सबकी समस्त जिज्ञासाओं का समाधान है - “**तारण की जीवन ज्योति**” जो संत तारण स्वामी के जीवन परिचय को विविध आयामों से स्पष्ट करती है। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि पूज्य श्री महाराज जी की लेखनी इतने गहरे तल में पहुंची है कि अनेक घटनाओं के घटते हुए भी सद्गुरु तारण स्वामी का वीतरागी व्यक्तित्व अलग ही झलकता है जो अपने आपमें परम सत्य है।

साठ वर्ष की उम्र में संत तारण स्वामी ने निर्ग्रंथ वीतरागी दिगम्बरी दीक्षा (मुनि दीक्षा) ग्रहण की यह प्रकरण भी आनंदप्रद होने के साथ-साथ हृदय को अनेक प्रकार की झांकियां दिखलाते हैं तथा तारण स्वामी के इस तरह दर्शन कराते हैं जैसे कि सब प्रत्यक्ष में ही हो रहा हो।

श्री जिन तारण स्वामी का मंडलाचार्य होना, उनके संघ में स्थित सात निर्ग्रंथ मुनिराजों द्वारा धर्म प्रभावना होना, आर्थिकाओं द्वारा वीतराग धर्म की महिमा होना, अनेक ग्रामों, नगरों से समूह रूप में जैन- अजैन बंधुओं एवं राजा-महाराजाओं का कुटुम्ब सहित आना और तारण पंथी होना, विशेष धर्म प्रभावना द्वारा लाखों लोगों में धर्म की रुचि और आध्यात्मिक जागरण, साधु दशा में भी श्री जिन तारण स्वामी के ऊपर उपसर्गों का होना, महान क्रांति का एक इतिहास बनना यह सब अलग-अलग प्रकरणों में वर्णन है।

अंत में विक्रम संवत् १५७२ में श्री निसई जी (मल्हारगढ़) के वन में वीतरागी संत श्री गुरु तारण तरण मंडलाचार्य जी महाराज ने समाधि पूर्वक भौतिक शरीर का त्याग कर सर्वार्थ सिद्धि गमन किया, इन सभी घटनाओं का विशद विवेचन तारण की जीवन ज्योति में आया है, जो सभी जीवों को प्रमुदित आनंदमय करने वाला और प्रत्यक्षवत् ही श्री गुरु का दर्शन कराने वाला है।

आचार्य प्रवर श्रीमद् जिन तारण स्वामी का जैसा आध्यात्मिक वीतरागी व्यक्तित्व था वैसा ही उनके द्वारा लिखा गया साहित्य अध्यात्म की अनुभूतियों सहित है, जो जीव मात्र के लिये कल्याणकारी है। तारण साहित्य

पांच मतों में विभाजित चौदह ग्रंथों का विशाल भंडार है।

पांच मतों में चौदह ग्रंथों की रचना इस प्रकार है -

विचार मत में	- श्री मालारोहण, पण्डितपूजा, कमलबत्तीसी जी।
आचार मत में	- श्री श्रावकाचार जी।
सार मत में	- श्री ज्ञान समुच्चय सार, उपदेश शुद्ध सार, त्रिभंगी सार जी।
ममलमत में	- श्री चौबीस ठाणा, ममल पाहुड़ जी।
केवल मत में	- श्री खातिका विशेष, सिद्ध स्वभाव, सुन्न स्वभाव, छद्मस्थवाणी तथा नाममाला ग्रंथ हैं।

इन पाँच मतों में विचार मत में-साध्य, आचार मत में-साधन, सार मत में-साधना, ममलमत में-सम्हाल (सावधानी) और केवल मत में-सिद्धि का मार्ग प्रशस्त किया है। इसके लिये आधार दिया है क्रमशः भेदज्ञान, तत्त्वनिर्णय, वस्तुस्वरूप, द्रव्य दृष्टि और ममलस्वभाव का, जिनसे उपरोक्त साध्य आदि की सिद्धि होती है।

इन ग्रंथों में आध्यात्मिक दृष्टिकोण से आगम और अध्यात्म के सैद्धांतिक विषय प्रतिपादित किये गये हैं। श्री गुरु तारण स्वामी की सभी रचनायें मौलिक और अपने आपमें विशेष महत्वपूर्ण होते हुए संसार के दुःखों से मुक्त होने तथा साधनामय जीवन बनाकर आनंद परमानंद मयी अविनाशी मुक्ति पद प्राप्त करने के लिये मानव मात्र को अमर संदेश दे रही हैं।

भारतीय संस्कृति के जीवन में अध्यात्म संजीवनी के द्वारा अंतर जागरण रूप प्राणों का संचार कर देने वाले महान क्रांतिकारी संत आचार्य श्री जिन तारण स्वामी जैसे वीतरागी सद्गुरु को पाकर यह भारतीय संत परम्परा धन्य है, कृत कृत्य है। जिसमें ऐसे महापुरुष ने जन्म लिया जिन्होंने वृक्ष की तरह स्वयं कष्ट सहकर भी फल देते रहने की भांति स्वयं उपसर्गों को सहन करते हुए भी आत्म कल्याण के लक्ष्य पर दृढ़ता से स्थिर रहकर देश के मानव समाज को हितकारी अध्यात्म संदेश दिया जिसके फलस्वरूप देश में निवास कर रहे सभी जातियों के लाखों लोग उनके बताये हुए मार्ग पर चले।

ईस्वी सन् १९८६ में धर्म दिवाकर स्व. पूज्य श्री गुलाबचन्द जी महाराज

के संरक्षण एवं अध्यात्म शिरोमणी पूज्य श्री ज्ञानानंद जी महाराज के निर्देशन में श्री निसई जी क्षेत्र पर चौदह ग्रंथों का शुद्ध मूलपाठ हुआ। जिसका प्रकाशन श्री तारण तरण जैन तीर्थ क्षेत्र निसई जी ट्रस्ट द्वारा हुआ। इस अध्यात्मवाणी जी ग्रंथ के पृष्ठ संख्या ४३० पर नाममाला ग्रंथ में शिष्य संख्या के बारे में इस प्रकार लिखा है “ जोड़ सर्व ४३४५३३१ ” इस कथन से यह सिद्ध होता है कि आचार्य तारण स्वामी के शिष्यों के नाम स्थान आदि का परिचय देने वाले नाममाला ग्रंथ में प्रारंभ से ही जो भिन्न - भिन्न संख्यायें आई हैं, उन सबका जोड़ उपरोक्त तिरतालिस लाख पैतालीस हजार तीन सौ इकतीस होता है। इतनी बड़ी संख्या में सभी जातियों के लोग उनके अनुयायी बने थे। समाज में जिज्ञासु जीव हमेशा यह प्रश्न करते हैं कि इतनी बड़ी संख्या में तारण पंथी थे फिर वर्तमान में उतनी संख्या क्यों नहीं है, इतनी बड़ी संख्या के लोग कहाँ गये ? इस जिज्ञासा का समाधान भी नाममाला में आया है और उसी के आधार पर तारण की जीवन ज्योति के चार भाग पूर्ण होने के बाद तारण समाज के पूर्ववर्ती इतिहास में पूज्य श्री ने ४३४५३३१ में कमी होने का रहस्य भी स्पष्ट किया है।

इतना बड़ा विशाल जनसमुदाय जिनका अनुयायी बना, जिनने संपूर्ण भारत वर्ष में अध्यात्म का शंखनाद किया। मानव मात्र को आत्म कल्याण का मार्ग बताया, जाति-पांति से दूर वास्तविक अध्यात्म धर्म का स्वरूप जगत के जीवों को बताकर मानवीय एकता और धार्मिक सद्भावना का सूत्रपात किया। ऐसे महान वीतरागी संत सद्गुरु श्री जिन तारण तरण मंडलाचार्य जी महाराज के जीवन परिचय की विशद विवेचना सहित चार भागों में विभाजित “ तारण की जीवन ज्योति ” का स्वाध्याय चिंतन-मनन कर सभी जीव लाभान्वित हों और उनके वीतरागी व्यक्तित्व को समझकर स्वयं के भी आत्म कल्याण का मार्ग प्रशस्त करें इसी मंगल भावना से प्रथम भाग के तीन परिच्छेद और संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है।

छिंदवाड़ा

दिनांक - ५.२.२००१

ब.बसन्त

श्री गुरु तारण तरण मंडलाचार्य जी महाराज का संक्षिप्त जीवन परिचय

जन्म	-	मिती अगहन शुक्ला सप्तमी विक्रम संवत् १५०५
जन्म स्थान	-	पुष्पावती (बिलहरी) म.प्र.
पिता का नाम	-	पूज्य श्री गढ़ाशाह जी
माता का नाम	-	पूज्या वीरश्री देवी
जाति	-	दिगम्बर जैन
जन्म का नाम	-	तारण

जीवन परिचय

पांच वर्ष की बाल्यावस्था तक पुष्पावती में रहना, बाद में मामा के यहाँ सेमरखेड़ी आना, यहीं पर शिक्षा - दीक्षा होना। ग्यारह वर्ष की अल्पवय में नाना जी के स्वर्गवास होने पर वैराग्य का जागरण होना। धर्म शिक्षा पढ़ने के लिये चंदेशी श्री भट्टारक जी के पास जाना। इक्कीस वर्ष की किशोरावस्था में ब्रह्मचर्य व्रत का नियम लेना। तीस वर्ष की आयु में ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण करना। आत्म साधना, धर्म प्रभावना होना। साठ वर्ष की उम्र में निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु होना। ६६ वर्ष ५ माह १५ दिन की आयु में मिती ज्येष्ठ वदी ६ विक्रम संवत् १५७२ में समाधिमरण और सर्वार्थसिद्धि गमन।

मंगलाचरण

देव देवं नमस्कृतं, लोकालोक प्रकासकं ।
त्रिलोकं भुवनार्थं जोति, उवंकारं च विन्दते ॥
अज्ञान तिमिरान्धानां, ज्ञानांजन शलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्री गुरवे नमः ॥
श्री परम गुरवे नमः, परम्पराचार्येभ्यो नमः ॥

प्रार्थना

गुरु तारण तरण, आये तेरी शरण ।
हम डूब रहे मझधार, नैया पार करो ॥
काल अनादि से डूब रहे हैं ।
चारों गति में घूम रहे हैं ॥
भोगे हैं दुःख अपार....नैया पार करो....गुरु
अपने स्वरूप को जाना नहीं है ।
तन धन को पर माना नहीं है ॥
करते हैं हा हा कार....नैया पार करो....गुरु
हमको आत्म ज्ञान करा दो ।
सच्चे सुख का भान करा दो ॥
श्रावक कर रहे पुकार....नैया पार करो....गुरु

शुद्धात्मा जिनका सुरत्नत्रय निधि का कोष था ।
रमण करते थे सदा निज में जिन्हें संतोष था ॥
तारण तरण गुरुवर्य के चरणार विंदों में सदा ।
हो नमन बारम्बार, निजगुण दीजिये शिव शर्मदा ॥

□

□ तारण की जीवन ज्योति □

(एक)

माँ वीरश्री और तारण की चर्चा

माँ- बेटा तारण ! तूने विवाह करने से मना कर दिया, क्या बात है बेटा ? पांडे जी की बच्ची बड़ी सुशील, सुंदर, पढ़ी-लिखी है, भक्तामर, तत्त्वार्थ सूत्र पढ़ती है, अच्छे भजन गाती है, मुझे बहुत पसंद है ।

तारण-माँ ! मुझे विवाह ही नहीं करना, इस संसार बंधन में नहीं फंसना, बच्ची से कोई प्रयोजन नहीं है ।

माँ- अरे ! तू इक्कीस वर्ष का पढ़ लिखकर इतना बड़ा हो गया, कहता है विवाह नहीं करना । बेटा मैंने इसी दिन की आस में तेरे पीछे कितनी मुसीबतें भोगी हैं । कहाँ - कहाँ भटकना पड़ा है ? बेटा बचपन से ही तेरे ऐसे लक्षण हैं, जब तू गर्भ में आया तब मुझे चार अद्भुत स्वप्न दिखे-(१) लहराता हुआ समुद्र, (२) परम दैदीप्यमान ऊगता हुआ सूर्य, (३) कमल पुष्प पर बैठी हुई लक्ष्मी का हाथियों द्वारा अभिषेक, (४) भयानक वन में सिंह गर्जना । बेटा तेरा जन्म होते ही तेरे पिताजी को यश और सम्मान मिला, पहले राज्य की साधारण लिखा-पढ़ी करते थे, फिर कोषाधीष पद दिया गया । तेरे जन्म पर राज्य भर में खुशियाँ मनायी गईं, बड़े उत्सव हुए, बड़े आनंद से लालन पालन हुआ । तेरी पाँच वर्ष की उम्र में राज्य में क्रांति हुई और लड़ाई - झगड़े होने लगे । अकस्मात् कोषालय में आग लगने से सब कागजात जल गये, तेरे पिताजी बड़ी चिंता में पड़ गए, तूने तेरे पिताजी को कमरे में बिठाकर उन्हीं के द्वारा रात भर में सब कागजात तैयार करवा दिये । राजा को इस बात का पता लगा और उन्होने तुझे दरबार में बुलाया । हम तेरे अनिष्ट की आशंका से तुझे लेकर रात में ही भगा दिये और गढ़ौला ग्राम में आकर एक जमींदार के यहाँ

मुकाम किया। वहाँ पर जमींदार कई दिन से बीमार था। तुझे देखकर उसने तुझे गोदी में लिया, तेरे स्पर्श करने मात्र से उसका रोग दूर हो गया। यह चर्चा गाँव भर में फैल गई और बहुत लोग आने लगे, तुझे भगवान का अवतार मानने लगे, हमको डर लगा और हम तुझे लेकर वहाँ से भी चल दिये। सूखा ग्राम में आये, वहाँ आस - पास पानी नहीं था। कुआँ खोदने पर वहाँ पानी नहीं निकलता था। सभी ग्रामवासी बड़े दुःखी थे, तूने एक स्थान बताया, वहाँ दस हाथ पर ही पानी निकल आया, सारे ग्राम में खुशियाँ मनायी गई। वहाँ भी सब तुझे भगवान मानने लगे। एक साधु वहीं बगीचे में मंत्र सिद्ध कर रहा था, पर मंत्र सिद्ध नहीं हो रहा था, तेरे दर्शन मात्र से उसका मंत्र सिद्ध हो गया, वह तुझे अपना गुरु मानने लगा। हमारी तो आफत होने लगी, वहाँ से भागकर यहाँ भैया के गाँव में आकर बसे, यहाँ भी तेरी करतूतों से रात - दिन झंझट ही रहती है। कोई गुरु मानता है, कोई भगवान कहता है, कोई तारण स्वामी; और तेरे मामा भी तेरे विरोध में रहते हैं, रात दिन उलाहना देते हैं। बेटा, जब तू ग्यारह वर्ष का था, तब तेरे नानाजी का स्वर्गवास हुआ था। हम सबके मना करने पर भी तू शव यात्रा में चला गया और वहाँ से लौटने पर तेरी विचित्र दशा हो गई, बिल्कुल विरक्त वैरागी हो गया। तेरे मामाजी ने तुझे इसीलिये चंदेरी भट्टारक जी के पास पढ़ने भेजा था; पर वहाँ से लौटकर भी तेरे वही हाल हैं। बेटा, यह कैसा होता जा रहा है? अब यह सब छोड़कर अपने पिताजी के व्यापार में हाथ बंटा और मेरी भी इतने दिनों की साध को पूरी करने दे। अच्छे आनंद उत्साह से विवाह करने दे।

तारण- माँ! जगत का परिणमन स्वतंत्र है, जिस समय जैसा होना है, सब होता है। जैसा होना होता है वैसे निमित्त मिल जाते हैं, कोई किसी का कुछ नहीं

कर सकता। सबका अपने-अपने कर्मानुसार परिणमन होता है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता, यह अटल सिद्धान्त है। हम अपनी मिथ्या मान्यता से मोह में फंसकर चाहे जैसा मान लें और चाहे जैसा करें परन्तु यथार्थ में हमारा अज्ञान भाव, मोह, राग-द्वेष ही हमारे दुःख का कारण है। अपनी पर द्रव्य में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना ही सुख-दुःख देती है और फिर यह सब संसार का ही कारण है। जीव तो अजर-अमर, अविनाशी, निराकार, शुद्ध, सिद्ध के समान परम ब्रह्म परमात्म स्वरूप है। यह शरीर अजीव जड़ पुद्गल है, इससे जीव सर्वथा भिन्न है। हम अपनी मिथ्या मान्यता से ही सबको अपना मान रहे हैं, माता-पिता, भाई-बहिन, स्त्री-पुरुष, परिवार, धन वैभव..... अरे! जब यह शरीर ही अपना नहीं है तो फिर कौन किसका है? यह सब तो स्पष्ट ही 'पर' हैं, यह व्यर्थ ही मिथ्या मोह में फंसकर यह जीव अपने अज्ञान से अनादि काल से चार गति चौरासी लाख योनियों में भटकता फिर रहा है। जन्म-मरण कर रहा है, सुख-दुःख भोग रहा है, इसका कोई साथी नहीं है, अकेला आता है और अकेला जाता है, इस प्रकार अनादि काल बीत गया। अब बड़े सौभाग्य से यह मनुष्य पर्याय, जैन धर्म, वीतराग सर्वज्ञ देव की वाणी का सुयोग प्राप्त हुआ है; तो क्या अब इसे भी विषय भोग में, मोह-राग में फंसकर व्यर्थ गंवाना है। माँ! अब तो अपनी आत्मा का कल्याण करना है, सुख-दुःख नहीं भोगना है, अब तो सच्ची मुक्ति श्री का वरण करना है, पूर्ण आनन्द अनन्त सुख को प्रगट करना है। अब तुम इस झूठे मोह में मत फंसो, अपना भी कल्याण करो, धर्म धारण करो।

नरतन पाया बड़े भाग्य से, अब तो सुन लो जिनवाणी।

काये मोह में पड़े हुए हो, बीत रही है जिन्दगानी ॥

अगर लगे रहे इन्हीं सब में, बृथा जिन्दगी खोओगे।

यह सब कुछ काम न देंगे, नरक निगोद में रोओगे ॥

करो मनन शुद्धात्म का अब, संयम तप और दान करो ।

सत्संगति से धर्म के द्वारा, अपना तुम कल्याण करो ॥

माँ- (दुःखित भाव से) बेटा ! यह माँ की ममता को तू क्या जाने ? यह धर्म की बातें यहाँ संसार में नहीं चलतीं । यहाँ तो अनादि से यही सब वंश परम्परा चलती चली आई है, इसी के लिये सब लालायित रहते हैं । बेटा, अपन तो संसारी हैं, इसी प्रकार सब करना और रहना पड़ता है, इन बातों में कोई सार नहीं है । बेटा, अब यह ऐसी बातें मत कर, तेरे पिताजी भी तेरे इन लक्षणों से दुःखी रहते हैं, देख बेटा, माता-पिता की आत्मा को मत दुखा, विवाह कर और यह सब काम-काज सम्हाल, हमें सुखी रहने दे, अब हमें और परेशान मत कर ।

तारण- (जोश में) माँ ! मेरे विवाह नहीं करने से या यह सब पापकार्य का भार नहीं सम्हालने से तुम्हारी आत्मा दुःखी रहती है या अपने मोह अज्ञान के कारण ? जरा विचार करो । क्या तुम यह चाहती हो कि तुम्हारा बेटा दुःख भोगे, नरक-निगोद में जाये, जन्म-मरण करता फिरे ?

अगणित जीव भये इस जग में, कर्म उदय सबके संग आयो ।

कर करके वे मर भी गये, उनको नहीं कोई पूछन आयो ॥

कर्म उदय में लिप्त भये, तिन जीवों ने कर्म ही कर्म कमायो ।

धर्म के मारग जो भी चले, तिन अपनो जीवन सफल बनायो ॥

धर्म को धारण जिनने कीनो, उनने ही मोक्ष परम पद पायो ।

खुद भी पुजे उन वंश पुजो, उन मात पिता भी अमर पद पायो ॥

माँ ! अब इस झूठे मोह में मत फंसी, विवेक से काम लो । विचार करो, स्वयं भी आत्म कल्याण करो और आत्म कल्याण करने वाले जीवों के सहायक बनो, बाधक मत बनो ।

माँ- (अंशुपूरित) नहीं बेटा, हम तो यह चाहते हैं कि तू खूब सुखी रहे, परम आनन्द में रहे, अच्छा धर्म का पालन करे, सदाचारी बने, सब जीवों का हितकारी हो । बेटा, हमारी आत्मा तो इससे प्रसन्न होती है, हमारा नाम बढ़ता है । अभी सब लोग तेरी कितनी प्रशंसा करते हैं, हमारा सम्मान करते हैं, हमारा धन्य भाग्य है ; परन्तु बेटा इसमें विवाह नहीं करने, ग्रहस्थी नहीं बसाने का क्या प्रश्न है ? इसी से तो सब सुखी होते हैं और यही सुख सब चाहते हैं कि हमारे पुत्र हो, परिवार हो, धन हो, वैभव हो, मान हो, सम्मान हो, नाम हो ; और क्या चाहिये ? इसी के लिये सब उठा-पटक झंझट करते हैं ।

तारण- माँ ! जरा विचार करो, क्या यह सच्चा सुख है ? क्या इससे किसी का कल्याण हुआ है ? यह सब तो दुःख कर्म बंध और आकुलता के ही कारण हैं और इन्हीं के कारण यह जीव अनादि काल से जन्म-मरण करता, दुःख भोगता हुआ चारों गतियों में भ्रमण करता फिर रहा है । अपने इस मिथ्या मोह के कारण इस जीव ने सच्चे सुख के स्वरूप को सुना समझा ही नहीं, देखा ही नहीं और इसी झूठी कल्पना में अपना जीवन गंवाता चला आ रहा है । माँ, जरा विचार करो, क्या किसी को इन संसारी कारणों से, धन-वैभव से, पुत्र, परिवार से सुखी होते देखा है ? क्या कोई सुखी हुआ है ? जिसके हैं वह भी दुःखी और जिसके नहीं हैं वह भी दुःखी । संसार में कोई सुखी है ही नहीं ।

जग मांहि जितने जीव हैं, दिखते न कोई भी सुखी ।

धनवान तृष्णावश दुःखी, बिन धन के निर्धन दुःखी ॥

है सर्व दुःख का मूल कारण, दृष्टि सदैव परोन्मुखी ।

बिन ज्ञान के जग में कभी, कोई न होता है सुखी ॥

माँ, जरा विचार करो, इस झूठी मान्यता को छोड़ो । सच्चा सुख कहां है ? कैसे मिलता है ? इसे परम गुरु श्री वीतराग सर्वज्ञ देव की वाणी में सुनो,

समझो और अपने इस मनुष्य जीवन को सफल बनाओ। उस शाश्वत सुख को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करो। स्वयं का कल्याण करो और सब जीवों के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करो।

इस नरभव की पात्रता, मिले मुक्ति का द्वार।

मोह राग में मर गये, कोई न पूछनहार ॥

कोई न पूछनहार, खुदई दुर्गति में जड़ है।

कोई न दै है साथ, दुःख तू खुद ही पड़ है ॥

माँ- बेटा ! हम यह बातें जानते ही नहीं हैं, हम तो जैसे रहे हैं, देखा है, किया है, वही कहते हैं, उसे ही सुख मानते हैं। तेरी बातें तो बड़ी अटपटी हैं। उस रोज मन्दिर जी में सब तेरी ओर टकटकी लगाए देख रहे थे। भट्टारक जी तो कितने क्रोधित हो रहे थे, जब तू समयसार, परमात्म प्रकाश की गाथाओं की विवेचना कर रहा था। बेटा ! अपने को क्या करना है ? अब तू ऐसी चर्चा मत किया कर।

तारण- (जोश में) माँ ! सत्य को सत्य न कहना महापाप है। जिनेन्द्र देव के वचनों का लोपन करना बड़ा अपराध चोरी है। आज तक इस जीव ने सत्य को सुना नहीं है इसलिये असत्य अज्ञान में भटक रहा है। कुगुरुओं, लोभी, लालची, ढोंगी त्यागियों के जाल में फंसकर मिथ्यात्व का सेवन कर रहा है, मिथ्या बाह्य आडंबर में उलझा है। धर्म का स्वरूप क्या है ? धर्म किसे कहते हैं ? इससे अनभिज्ञ मिथ्या मान्यताओं में, कुदेव आदि की पूजा मान्यता में फंसा अपना संसार बढ़ाता चला जा रहा है। इन कुगुरुओं ने धर्म को जटिल बना दिया है। माँ ! मैं यह सब असत्य अज्ञान नहीं देख सकता, स्वीकार नहीं कर सकता। मैं इन भूले भटके जीवों को सत्य मार्ग का दर्शन कराऊंगा, इन मिथ्या आडंबरों से छुड़ाऊंगा। इसके लिये मुझे कुछ भी त्याग बलिदान

करना पड़े मैं करूंगा। धर्म का सच्चा स्वरूप जगत के जीवों को बताऊंगा। माँ ! तू मेरे धर्म के मार्ग में इस मोह की बाधा मत डाल।

माँ- (अंशुपूरित) बेटा ! बेटा ! यह तू क्या कह रहा है, जरा विचार कर। कोई भी माँ-बाप अपने बेटे को कुंवारा नहीं देख सकते। सब कुछ सह सकते हैं लेकिन बेटे का कुंवारा रहना बर्दाश्त नहीं कर सकते। सभी चाहते हैं कि अपना नाम चले, वंश बढ़े ; और इसीलिये इतनी मुसीबतें तकलीफें भोगकर बच्चे का लालन-पालन करते हैं। बेटा ! माँ-बाप की आत्मा कितनी ममतामयी होती है, बेटे के लिये क्या नहीं करते, क्या नहीं भोगते ? इसी दिन के लिये कि विवाह करेगे, वंश बढ़ेगा, हमारा नाम अमर होगा। जरा विचार कर, बेटा ! ऐसी बातें मत कर, ऐसा कठोर ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण मत कर।

तारण- माँ ! क्या विवाह करने और बच्चे पैदा करने से नाम अमर होता है ? क्या बता सकती हो कि इस प्रकार कितने वंश बढ़े, कितनों के नाम अमर हुए ? क्या तुम अपने दादा के दादा का नाम बता सकती हो ? और तुम्हारे दादा, परदादा को कौन-कौन जानता है और वह कितने अमर हो गये ? माँ ! कितने मोह जाल में फंसी हो ? देखो श्री महावीर स्वामी कब हुए थे ?

माँ- बहुत समय हो गया, करीब दो हजार वर्ष हो गये हैं।

तारण- उनका नाम जानती हो, सारा संसार जानता है। उनके माता-पिता का नाम सभी जानते हैं। क्यों ? क्या उन्होंने विवाह किया था ? वंश बढ़ाया था, इसलिये ?

माँ- नहीं बेटा ! वह तो भगवान थे। उन्होंने तो समस्त जीवों को धर्म का उपदेश दिया, मुक्ति का मार्ग दिखाया, खुद जगे और हमें जगाया। वह तो हमारे परम पूज्य थे, उनका क्या वह तो अवतारी पुरुष थे, भगवान थे।

तारण- माँ ! बस यही तो भूल है, महावीर भी हमारी तरह ही संसारी जीव थे, मनुष्य

थे। उन्होंने धर्म को धारण किया, सत्य का साक्षात्कार किया, वस्तु स्वरूप को समझा और आत्मा से परमात्मा, नर से नारायण बन गये। माँ ! भगवान पैदा नहीं होते, यह जीव ही धर्म को धारण कर भगवान बनता है। यह जैन धर्म स्वतंत्रता का धर्म है। अपनी करनी, अपने आचरण, अपनी भावना से यह जीव चाहे स्वर्ग चला जाये, चाहे नरक चला जाये, चाहे तिर्यच गति में जाये, चाहे मनुष्य गति प्राप्त करके धर्म धारण कर इस नश्वर संसार से मुक्त होकर स्वयं आत्मा से परमात्मा बन जाये। जीव स्वतंत्र है, जीव की शक्ति स्वतंत्र है, जीव के परिणाम स्वतंत्र है, यह भगवान बन सकता है। यह भगवान महावीर की घोषणा है, जैन दर्शन की नींव है। अपने मिथ्या मोह और अज्ञान से हम अपनी शक्ति से अनभिज्ञ, पराश्रित हुए, परतंत्र होकर दुःखी हो रहे हैं और भटक रहे हैं। आज हमें वीतराग सर्वज्ञ देव की वाणी मिली, धर्म के स्वरूप को समझने का और जीवन में उतारने का यह मनुष्य भव में सौभाग्य प्राप्त हुआ है। क्या इसे भी अब पराधीन, पराश्रित होकर व्यर्थ गंवा दें ? माँ ! हमें अपनी शक्ति को जाग्रत करना है, आत्मा से परमात्मा बनना है, अब इस संसार के चक्र में नहीं फंसना है ; अगर अब भी इतना बुद्धि विवेक होते हुए भी हमने अपने कर्तव्य का विचार नहीं किया, अपना हित-अहित नहीं समझा तो मनुष्य होने का क्या लाभ ? यह विषय-भोग, यह कर्म फल तो तिर्यच, नारकी, देव सभी भोगते हैं ; तो फिर इस मनुष्य भव की सार्थकता क्या है ? माँ ! जो धर्म का आचरण करता है, सत्य को स्वीकार करता है, वही अमर होता है। यह विषय-भोगों में रचने-पचने वालों से नाम अमर नहीं होता है। वह स्वयं तो डूबता ही है औरों को भी डुबाता है। आज संसार में उन्हीं का नाम अमर है जो धर्म के लिये जिए धर्म के लिये मरे, वह अमर हो गए। जो देश और धर्म के लिए मरे वह अमर हो गए। जो धन के लिये, विषय भोगों के लिये जिये

मरे, वह हमेशा के लिये मर गये। माँ ! जो देश के लिये मरता है उसका ही नाम अमर होता है, पर जो धर्म के लिये मरता है, उसका और उसके माता पिता का नाम भी अमर होता है। त्रेसठ शलाका के पुरुषों का प्रत्यक्ष प्रमाण है। माँ, अब तुम किसी प्रकार का दुःख न मानते हुये मुझे आशीर्वाद दो, कि मैं सही मार्ग पर चलूँ। अपना कल्याण करूँ और भूले भटके मानवों को धर्म का सत्य स्वरूप बताकर, उनका मार्ग दर्शन करूँ।

माँ- बेटा ! मैं तेरी बातों से प्रभावित हूँ। तू सत्य कहता है। यह मोह-माया का जाल झूठा है। तू ज्ञानी है। पर माँ की ममता नहीं मानती और तेरे पिताजी भी.....।

तारण-माँ! तुम कह दोगी तो पिताजी भी मान जायेंगे। माँ की ममता बड़ी होती है, पिता का प्यार होता है। वह चाहता है कि बेटा सुपात्र हो, सदाचारी हो, धर्मज्ञ हो, उसका यश हो, सम्मान हो, कहीं भी रहे, कुछ भी करे सुखी रहे, उसका नाम होवे कि वह फलां का पुत्र है। वह अपने पुत्र को झूठे मोह में बांधकर नहीं रखता, कड़ी निगाह रखता है कि बिगड़े नहीं, दुश्चरित्र न हो, बदनाम न करे। बाकी और सबमें आवे-जावे, खूब कमावे खावे। पिता को इतना मोह नहीं होता, जितना माँ को माया मोह होता है। वह अपने पुत्र को अपनी आंखों के सामने रखना और देखना चाहती है, पुत्र कहीं भी आवे जावे बड़ा स्मरण रखती है, यह माँ की ममता है। माँ ! मैं गलत मार्ग पर नहीं जाऊंगा, आपकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करूंगा। आपका पूर्ण आशीर्वाद मिलने से मैं निश्चित होकर अपना कल्याण कर सकूंगा। आपकी और पिताजी की सेवा करूंगा। गुरु की सेवा करूंगा, अपने समाज की, धर्मात्माओं की, साधर्मि जीवों की सेवा करूंगा। दुःखी और भटके हुए जीवों को सन्मार्ग पर लगाऊंगा। आप आशीर्वाद दीजिये, यह विवाह करने

के झूठे मोह को छोड़िये ।

(माँ के चरणों में सिर झुकाना और चरण स्पर्श करना)

माँ- (गद्गद् हृदय से सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद देना) बेटा ! सत्य है, यह माया मोह सब झूठा है, इससे किसी का भला नहीं होगा । तू धन्य है, अपना कल्याण कर और हम सबके कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर । हमारा आशीर्वाद तेरे साथ है । बेटा ! तू अमर होवे ; पर बेटा ! हमें छोड़कर मत जाना ।

तारण- नहीं माँ ! आपकी सेवा करते हुए धर्म साधना करूंगा, वीतरागी बनूंगा, आपकी आज्ञा का पालन करूंगा ।

(दो)

मंदिर में दो बहिनों की चर्चा

कमलावती- बहिन ! सुना तुमने, तारण ने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया है ।

पद्मावती- हाँ बहिन ! मुझे तो उसकी बातों से पहले ही यह लगता था कि यह या संसार के जाल में फंसेगा । कैसा आत्म विभोर होकर प्रवचन करता है, आत्मासामने नाचती है ।

कमलावती- बहिन ! बड़े सौभाग्य से ऐसी बुद्धि उपजती है । लाखों करोड़ों जीवों में कोई एक धर्मधारी जीव होता है ; और सैकड़ों वर्ष बाद । बहिन ! अपना भी सौभाग्य है । देखो वीरश्री एवं गढ़ाशाह तो धन्य हो गये, अमर हो जायेंगे ।

पद्मावती- हाँ बहिन ! इसमें क्या संदेह है । अब अपने को भी पुरुषार्थ करके धर्म मार्ग पर लगना है ।

कमलावती- हाँ बहिन ! मैं तो जबसे तारण आया है, प्रवचन करता है, नित्य ही प्रवचन सुनती हूँ । सौ काम छूट जायें परन्तु प्रवचन नहीं छोड़ती, उससे आत्मा में बड़ी शांति रहती है ।

पद्मावती- देखो बहिन ! जिन्दगी हो गई भगवान का पूजन और दर्शन करते हुए;

पर कभी ऐसी समता शांति नहीं आई, जो अभी चार-छह महिने में ही तारण के प्रवचन सुनने से समता-शांति आई है । अब कोई घबराहट, चिंता, आकुलता, दुःख होता ही नहीं है और अब कुछ बुरा भी नहीं लगता है ।

कमलावती- बहिन ! यही तो महत्व है, वीतराग देव की वाणी का श्रवण मनन करो, चित्त में उतारो, वस्तु स्वरूप समझो तो चित्त में शांति होती है और ऐसा ही जीवन बना लो तो बेड़ा पार हो जाये ।

पद्मावती- बहिन ! तो अब और रखा ही क्या है ? यह जीव चार गति चौरासी लाख योनियों में अनन्त बार हो आया । सभी प्रकार के सुख-दुःख, विषय भोग भोगे, पर कहीं तृप्त नहीं हुआ । जब तक अपने को न जाने, अपने स्वरूप में लीन न होवे तब तक तृप्त हो ही नहीं सकता ।

कमलावती- बहिन ! संसार में तो कहीं सुख है ही नहीं । यह जीव तो अपने अज्ञान मोह में ही फंसा भ्रम रहा है । अब ऐसे सच्चे गुरु का योग बने, सच्चे वीतराग देव की वाणी सुने तो सुलटे । अभी तक इस जीव ने इस देह से भिन्न अपने को जाना ही कहाँ है ? अभी तक तो शरीर, धन-परिवार, विषय-भोग के ही चक्कर में भटकता फिर रहा है ।

पद्मावती- बहिन ! अभी तक कोई बताने वाला भी तो नहीं मिला । कैसे जानें, कैसे सुलटें ?

कमलावती- नहीं बहिन ! यह बात नहीं है । जिनवाणी तो अनाद्यनिधन है, पर हमने ही नहीं सुना और पहले जो खुद जाने, सम्यक् दृष्टि सम्यक् ज्ञानी होवे वही तो सत्य वस्तु स्वरूप को बता सकता है । सो ऐसा योग अभी तक मिला नहीं । मैं तो कहती हूँ कि तारण सम्यक् दृष्टि सम्यक् ज्ञानी वीतरागी ही है और शीघ्र ही परमात्मा बनेगा । बहिन ! अपना बड़ा सौभाग्य है जो ऐसा सुअवसर अपने को मिला । अब चूकना नहीं है, पूरा पुरुषार्थ करना है ।

सब मोह-राग छोड़कर वस्तु स्वरूप समझना है और वैसा ही अपना जीवन बनाना है। यह मनुष्य पर्याय बार-बार नहीं मिलती।

पद्मावती- बहिन ! तुम तो पहले से ही इस मार्ग पर चल रही हो।

कमलावती- अरे ! नहीं बहिन, यह बाह्य त्याग, पूजा-भक्ति इनसे क्या होता है। यह तो साधन हैं, पुण्य-बंध के कारण हैं। हाँ अब अवसर मिला है, अब जरूर धर्म पुरुषार्थ करना है।

अच्छा चले..... जय जिनेन्द्र..... जय जिनेन्द्र..... ॥

(तीन)

बाजार में दो साथियों की आपस में चर्चा

रामचन्द्र- अरे ! सुना तुमने, तारण ने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने की प्रतिज्ञा कर ली, अब वह शादी नहीं करायेगा। बाल ब्रह्मचारी ही रहेगा और धर्म प्रचार करेगा।

मनसुख- हाँ भैया ! पर तुम्हें क्या मालूम, मैं तो साथ पढ़ता था तभी से जानता हूँ, कि वह इस संसार के चक्कर में नहीं पड़ेगा। जब गुरुदेव भट्टारक जी महाराज से उसकी चर्चायें होती थीं, तब हम सब तो आंखें फाड़-फाड़ कर देखते थे, न मालूम कितने गूढ़ रहस्य शुद्धात्मा और जीव के परिणामों की चर्चा करता था कि भट्टारक जी महाराज भी घबरा जाते थे।

रामचन्द्र- क्यों ? हमने सुना है कि भट्टारक जी महाराज ने इसे नाराज होकर निकाल दिया, कह दिया तुम पढ़ चुके, अपने घर जाओ।

मनसुख- हाँ भैया ! एक दिन समयसार जी पर चर्चा चल रही थी। देखो, कौन सी गाथा थी ? हाँ, समयसार जी की गाथा ३०, उसमें आया कि साक्षात् भगवान केवलज्ञानी अरिहंत प्रभु के शरीर का गुणगान उनकी पूजन भक्ति वह भगवान की भक्ति नहीं है। बस, तारण पूछ बैठा, कि फिर यह क्या है ?

इस पर चर्चा छिड़ गई और इसने शास्त्रों के प्रमाण देकर यह सिद्ध कर दिया कि जैन धर्म में तो किसी की भक्ति पूजा का विधान ही नहीं है। अपना आत्मा ही परमात्मा है। जो अपने आत्म स्वरूप का श्रद्धान करता है वह सम्यक्दृष्टि, जो अपने आत्म स्वरूप को जानता है वह सम्यक्ज्ञानी और जो अपने आत्म स्वरूप में रमण करता है, लीन रहता है वह सम्यक्चारित्र है, यह मोक्ष का मार्ग है। इस विधि से यह आत्मा स्वयं परमात्मा हो जाता है। किसी के पराश्रित होना ही मिथ्यात्व है। यह बाह्य क्रियाकांड, पूजन, विधान तो भगवान महावीर ने जैन दर्शन में बताया ही नहीं। जैन धर्म तो स्वतंत्रता को बताने वाला अध्यात्मवादी धर्म है, और पूरी बातें तुम विरऊ से पूछना, उसे सब मालूम है। गाथा, शास्त्र प्रमाण सब वह बतायेगा। अपन तो भूल गये और इतना अपने को आता भी नहीं है। बस इस पर से भट्टारक जी महाराज नाराज हो गये और कह दिया घर जाओ।

रामचन्द्र- कुछ और कहा सुनी हुई ?

मनसुख- अरे नहीं, तारण तो बड़ा गुरुभक्त, सरल, शांत, विनम्र है, वह तो गुरुदेव के चरण छूकर आया है और आज भी मंदिर जाता है, प्रवचन करता है।

रामचन्द्र- सुना तो है, बड़े अच्छे प्रवचन करता है, अब कभी हम भी सुनने जायेंगे और भैया तुम क्या कह रहे हो, तुम भी तो पाठशाला पढ़कर आये हो।

मनसुख- भैया, मैं क्या करूँ ? मेरी तो अभी शादी कर दी और रोजगार से लगा दिया, सो अपना काम करता हूँ और इतनी बुद्धि भी नहीं है।

रामचन्द्र- अरे नहीं ! तुम भी स्वाध्याय किया करो, प्रवचन सुना करो, इससे ज्ञान बढ़ता है। अब अपन साथ चलेगे।

मनसुख- हाँ भैया ! आप ठीक कहते हैं, अब अपन साथ चला करेंगे। प्रवचन तो सुबह-शाम दोनों समय होते हैं।

अच्छा चले..... जय जिनेन्द्र..... जय जिनेन्द्र..... ॥

इस प्रकार जीवन ज्योति के चार भागों में- प्रथम भाग में १४ परिच्छेद हैं, द्वितीय भाग में २८ परिच्छेद, तृतीय भाग में ३४ और चतुर्थ भाग में ५३ परिच्छेद हैं। इन चारों भागों में श्री गुरु तारण स्वामी का संपूर्ण जीवन परिचय और तारण पंथ के अस्तित्व से संबंधित सभी रहस्य उद्घाटित हुए हैं, जो संक्षेप में इस प्रकार हैं-

श्री गुरु तारण स्वामी की शुद्ध अध्यात्म की चर्चा और तदनुरूप चर्चा से भट्टारकीय खेमे में खलवली मच गई और मात्र दर्शन पूजन करने वालों के अतिरिक्त सभी लोगों के लिये मंदिर में आना-जाना बंद कर दिया गया, एतदर्थ मिती वैशाख शुक्ल १५ संवत् १५३३ में मंदिर बंद की सूचना हेतु नोटिस लगाया गया। श्री गुरु तारण स्वामी का मंदिर में प्रवचन, चर्चा होना बंद हुई और वे तो वीतरागी मार्ग के पथिक थे उन्हें किसी से कोई प्रयोजन, स्वार्थ नहीं था, वे अपनी आत्म साधना में लीन रहने लगे। नगर के जिज्ञासु जीवों के विशेष आग्रह पर सप्ताह में एक दिन चौपाल पर प्रवचन प्रारम्भ हुआ और जैन-अजैन लोग उनके शिष्य बनने लगे। आध्यात्मिक क्रांति का सूत्रपात हो गया। दिनों-दिन वृद्धिगत होती हुई वीतरागता और धर्म प्रभावना से चिंतित होकर भट्टारकों ने षडयंत्र पूर्वक श्री तारण स्वामी के मामा श्री लक्ष्मण सिंघई से येन केन प्रकारेण जहर दिलवाया; परिणाम स्वरूप धर्म की महिमा प्रभावना अधिक होने लगी।

संवत् १५३५ में श्री तारण स्वामी की माँ वीरश्री देवी का समाधिमरण हुआ तत्पश्चात् श्री तारण स्वामी ने सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा की दीक्षा ग्रहण कर ली। धर्म का अतिशय बरसने लगा और वीतरागता की महिमा प्रभावना, चारों ओर जय-जयकार, जागरण होने लगा। भट्टारकों को यह सब रुचिकर नहीं लगा और पुनः षडयंत्र पूर्वक मिती कुंवार शुक्ल २ संवत् १५४६ में गहरी बेतवा नदी में डुबाया गया; फलतः तीन जगह डुबाया और तीनों जगह टापू बने, जो आज भी उनकी यशोगाथा की कहानी कह रहे हैं। इसके पश्चात् तीव्र गति से प्रभावना का योग बना और श्री तारण स्वामी दिनों-दिन वीतरागी होते गये, आत्म साधना में वृद्धि होती गई और हजारों लोग उमड़ने लगे, शिष्यता स्वीकार करने के लिये। यह सब देख समझकर उनके प्रमुख शिष्यों ने श्री तारण तरण श्रावकाचार गाथा १९९-२०० के आधार पर

तारण पंथी होने का विधान बनाया कि जो भी व्यक्ति सात व्यसन (जुआ खेलना, मांस भक्षण करना, मदिरा सेवन करना, वेश्या गमन, शिकार करना, चोरी करना और पर स्त्री रमण) का त्याग कर अठारह क्रियाओं का पालन करेगा वही तारण पंथी कहलायेगा। **अठारह क्रियायें-** धर्म की श्रद्धा अर्थात् सम्यक्त्व, अष्ट मूलगुणों का पालन करना, चार दान देना, रत्नत्रय की साधना करना, पानी छानकर पीना और रात्रि भोजन त्याग। इन अठारह क्रियाओं का पालन करने वाला तारण पंथी अर्थात् मोक्षमार्गी होगा। इस विधान के आधार पर मिती वैशाख शुक्ल ५ संवत् १५५२ को तारण पंथ की स्थापना हुई और श्री संघ बना इसके साथ ही श्री गुरु महाराज के प्रथम भ्रमण में ५ लाख शिष्य बने और दूसरे भ्रमण में यह संख्या ११ लाख हो गई।

६० वर्ष की आयु में मिती अगहन शुक्ल ७ संवत् १५६५ को श्री गुरु ने निर्ग्रन्थ दिगम्बरी जिन दीक्षा धारण की। उनके श्री संघ में ७ मुनिराज, ३६ आर्थिकायें, ६० व्रती श्रावक और २३१ ब्रह्मचारिणी बहिनें तथा लाखों की संख्या में अठारह क्रियाओं का पालन करने वाले आत्मारथी श्रावक थे। उनकी संपूर्ण शिष्य संख्या के १५१ मंडल बने जिससे साधना और प्रभावना व्यवस्थित रूप से होती रही। इस संपूर्ण चेतना और आध्यात्मिक क्रांति के जनक श्री गुरु तारण स्वामी को मिती माघ शुक्ल ५ संवत् १५६५ को मंडलाचार्य पद से अलंकृत किया गया और धूम धाम से प्रभावना पूर्वक दीक्षा महोत्सव मनाया गया।

श्री गुरु तारण तरण मंडलाचार्य जी महाराज ने अपनी आत्म साधना के अंतर्गत चौदह ग्रंथों की रचना की जिनमें अपने आत्म स्वरूप की अनुभूति पूर्ण साधना, जिनवाणी के आधार पर सैद्धांतिक और प्रायोगिक रूप से निरूपित की गई है। पूज्य गुरुदेव आत्म साधना के मार्ग में निरंतर अग्रणी रहे। अपने जीवन के अंतिम क्षणों में उन्होंने मिती ज्येष्ठ वदी ६, दिन शुक्रवार की रात्रि, संवत् १५७२ में समाधि धारण करके सर्वार्थ सिद्धि को प्राप्त हुए।

बख बखण बखण

□ इति □

भजन

दे दी हमें मुक्ति ये बिना पूजा बिना पाठ ।
तारण तरण ओ संत तेरी अजब ही है बात ॥
वन्दे श्री गुरु तारणम् ॥

१. जड़वाद क्रियाकांड को मिथ्यात्व बताया ।
आत्म की दिव्य ज्योति को तुमने लखाया ॥
बन गये अनुयायी तेरे, सभी सात जात...तारण...
२. भक्ति से नहीं मुक्ति है पढ़ने से नहीं ज्ञान ।
क्रिया से नहीं धर्म है ध्याने से नहीं ध्यान ॥
निज की ही अनुभूति करो, छोड़ कर मिथ्यात्व...तारण...
३. आत्म ही है परमात्मा शुद्धात्मा ज्ञानी ।
तुमने कहा और साख दी जिनवर की वाणी ॥
तोड़ी सभी कुरीतियां, तब मच गया उत्पात...तारण...
४. बाह्य क्रिया काण्ड से नहीं मुक्ति मिलेगी ।
देखोगे जब स्वयं को तब गांठ खुलेगी ॥
छोड़ो सभी दुराग्रह, तोड़ो यह जाति पांति...तारण...
५. ब्रह्मा व विष्णु शिव हरि, कृष्ण और राम ।
ओंकार बुद्ध और जिन, शुद्धात्मा के नाम ॥
भूले हो कहां मानव, क्यों करते आत्मघात...तारण...
६. अपना ही करो ध्यान तब भगवान बनोगे ।
ध्याओगे शुद्धात्मा, तब कर्म हनोगे ॥
मुक्ति का यही मार्ग, तारण पंथ है यह तात...तारण...

कर्म जन्य रागादि भावों से आत्मा की भिन्नता को जानकर, आत्मा के यथार्थ स्वरूप का श्रद्धान और ज्ञान तथा राग और द्वेष की निवृत्ति रूप साम्य भाव को धारण करना, यही सम्यक्चारित्र है। मोह और क्षोभ से रहित परिणाम ही साम्य भाव है, निश्चय से यही चारित्र धर्म है।

* इति *

ज्ञानदान स्वाध्याय हेतु उपलब्ध सत्साहित्य

□ श्री श्रावकाचार टीका	-	६० रुपया
□ श्री मालारोहण टीका (तृतीय संस्करण)-		३० रुपया
□ श्री पंडितपूजा टीका	-	२० रुपया
□ श्री कमलवत्तीसी टीका	-	२५ रुपया
□ श्री त्रिभंगीसार टीका	-	३० रुपया
□ अध्यात्म अमृत (जयमाल, भजन)	-	१५ रुपया
□ अध्यात्म किरण	-	१५ रुपया

(जैनागम १००८ प्रश्नोत्तर)

□ अध्यात्म भावना	-	१० रुपया
□ अध्यात्म आराधना (देव गुरु शास्त्र पूजा)		१० रुपया
□ ज्ञान दीपिका भाग- १, २, ३ (प्रत्येक)-		५ रुपया

प्राप्ति स्थल-

१. ब्रह्मानन्द आश्रम, संत तारण तरण मार्ग,
पिपरिया, जिला- होशंगाबाद (म. प्र.) ४६१७७५
२. श्री तारण तरण अध्यात्म प्रचार योजना केन्द्र,
६१ मंगलवारा, भोपाल (म. प्र.) ४६२००१
संपर्क सूत्र- फोन- पिपरिया (०७५७६) २२५३०
भोपाल- (०७५५) ७०५८०१, ७४१५८६

